पन्तजी का

नूतन काव्य और दर्शन

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय एम० ए०
(हिन्दी, संस्कृत)
प्राध्यापक—हिन्दी-विभाग, आगरा कालेज, आगरा।

प्रकाशक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार,

साहित्य-कुञ्ज, आगरा।

प्रथम संस्करण १०००

दिसम्बर सन् १९५६

मूल्य १२)

मुद्रक—साहित्य-प्रेस

साहित्य कुञ्ज, आगरा।

सुमित्रानन्दन पन्त के नूतन काव्य

एवम्

उसमे प्रतिबिम्बित अरविन्द-दर्शन

का

आलोचनात्मक अध्ययन

[A critical study of Sumitranandan Pant's new poetry and the philosophy of Shri Aurvindo, reflected therein]

अरविन्द दर्शन भारतीय व अभारतीय आदर्शवादी दर्शनों की आधुनिकतम उपज है। इस महत्त्वपूर्ण शृङ्खला का अध्ययन दूसरे अध्याय में किया गया है।

तृतीय अध्याय में पन्तजी के चिन्तन का क्रमिक विकास दिखाया गया है। इस सम्बन्ध मे सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पन्तजी सर्वदा, सब रचनाओं मे आदर्शवादी कवि रहे हैं। हिन्दी आलोचना मे यह भ्रम अब तक बना हुआ है कि पन्तजी युगवाणी युगान्त व ग्राम्या मे मार्क्सवाद के अनुगामी हैं। मैंने इस भ्रम का निराकरण आवश्यक प्रमाण देकर किया है। उपर्युक्त रचनाओं मे मार्क्सवाद को आंशिक स्वीकृति देकर कवि नूतन काव्य मे पुन. अपनी आस्था पर लौट आया है, और साथ ही कवि ने अरविन्द-दर्शन को सहायता लेकर, मार्क्सवाद को चेतना के निम्नतम् रूप मे स्वीकार कर और उसकी पर्याप्त भर्त्सना कर प्रायश्चित कर लिया है। कवि के चिन्तन की चरम परिणति अरविन्द-दर्शन मे हुई है, यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है।

पन्त–अरविन्द के समझौतावाद से मैं सहमत नहीं हो सका, अत अरविन्द दर्शन के अधिदर्शन व सामाजिक दर्शन दोनों पर विचार की आवश्यकता थी अत. 'अरविन्द-दर्शन'—समीक्षा १ तथा अरविन्द दर्शन—समीक्षा २, इन अध्यायों में मैंने अरविन्द की बुद्धि-विरोधी अन्तश्चेतना (intuition) पर आधारित अरविन्द-दर्शन पर विचार किया है। अरविन्द का अन्तश्चेतनावाद आध्यात्मिक सत्यों की सिद्धि में न तो शकराचार्य व बौद्ध दार्शनिकों की तरह तर्क की रक्षा कर सका है और न अपने सामाजिक-दर्शन में इतिहास के साथ न्याय कर सका है, यह मैंने विस्तार से दिखाया है।

अरविन्द ने जीव, जगत, ब्रह्म के साथ कला पर भी विचार प्रकट किए हैं, जिनका विवेचन "काव्य-कला और अरविन्द-दर्शन" नामक अध्याय मे किया गया है।

इतने विवेचन के पश्चात् पन्तजी की नूतन काव्यकला का विकास, उनकी प्राचीन रचनाओं की पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखकर किया गया है। अत नूतन काव्य-कला के पूर्व पन्तजी की काव्य-चेतना का क्रमिक विकास कैसे हुआ तथा उसकी परिणति नूतन काव्य-कला मे कैसे हुई, यह स्पष्ट करने का मैंने प्रयत्न किया है।

प्रस्तावना

"पन्तजी का नूतन काव्य और दर्शन" इस ग्रन्थ में कवि सुमित्रानन्दन पन्त के नूतन काव्य (स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि, युगान्तर, उत्तरा, अतिमा, रजत-शिखर, शिल्पी आदि) का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सौन्दर्य-शास्त्र, समाज-शास्त्र का ही एक अङ्ग है अतः साहित्य के किसी भी अङ्ग का अध्ययन उसे उसकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि से अलग रखकर नही किया जा सकता। रचना के पीछे रचयिता की चेतना के सभी आयामों की अभिज्ञता के लिए यह अनिवार्य है कि उसे उन परिस्थितियों में रखकर देखा जाय, जिनमें उसको यह विशिष्ट स्वरूप मिला है, तभी हम रचनाकार के प्रेरणा-स्रोत, उसकी विशिष्ट मनोवृत्ति, उसके लक्ष्य और उसकी उपलब्धि का उचित मूल्याङ्कन कर सकते हैं। अतएव मैंने कवि की रचना की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने के लिए उसके मुख्य प्रेरणा-स्रोत अरविन्द दर्शन का विस्तृत विवेचन किया है।

अरविन्द दर्शन एक समझौतावादी दर्शन है। परस्पर विरोधी विचार धाराओं को मिलाने (Reconciliation) में अरविन्द से अधिक प्रयत्न स्यात् भारत के किसी दार्शनिक ने नही किया।

अरविन्द जिन तथ्यों पर पहुँचे हैं, उनकी विस्तृत चर्चा इस ग्रन्थ में की गई है किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन तथ्यों की प्राप्ति के लिए जिस मानसिकता की अपेक्षा हुई, उसकी तैयारी में किन किन सामाजिक परिस्थितियों का हाथ रहा है, यह बताने की भी आवश्यकता थी, कवि और उसके प्रेरणा-स्रोत अरविन्द-दर्शन दोनों की सामाजिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। मैंने इस ग्रन्थ मे यह प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ का प्रथम अध्याय है "दार्शनिक निरपेक्षता का विकास"। दार्शनिक देश और विदेश मे किस प्रकार ज्ञात और अज्ञात रूप से सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित रहे है, किस प्रकार वैयक्तिक चिन्तन आत्यन्तिक प्रश्नों के उत्तर देने में संगति खोजने का असफल प्रयत्न करता रहा है, किस प्रकार वह पूर्वाग्रहों की पुष्टि के लिए अनेक उपयोगी-अनुपयोगी तर्क-पद्धतियों का आविष्कार करता रहा है तथा किस प्रकार इसी आदर्शवादी दर्शन के गर्भ से वैज्ञानिक चिन्तन का विकास हुआ है, यह दिखाने का प्रथम अध्याय मे प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तावना

"पन्तजी का नूतन काव्य और दर्शन" इस ग्रन्थ मे कवि सुमित्रानन्दन पन्त के नूतन काव्य (स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि, युगान्तर, उत्तरा, अतिमा, रजत-शिखर, शिल्पी आदि) का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सौन्दर्य-शास्त्र, समाज-शास्त्र का ही एक अङ्ग है अतः साहित्य के किसी भी अङ्ग का अध्ययन उसे उसकी सामाजिक पृष्ठ-भूमि से अलग रखकर नही किया जा सकता। रचना के पीछे रचयिता की चेतना के सभी आयामों की अभिज्ञता के लिए यह अनिवार्य है कि उसे उन परिस्थितियों मे रखकर देखा जाय, जिनमें उसको यह विशिष्ट स्वरूप मिला है, तभी हम रचनाकार के प्रेरणा-स्रोत, उसकी विशिष्ट मनोवृत्ति, उसके लक्ष्य और उसकी उपलब्धि का उचित मूल्याङ्कन कर सकते हैं। अतएव मैंने कवि की रचना की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने के लिए उसके मुख्य प्रेरणा-स्रोत अरविन्द दर्शन का विस्तृत विवेचन किया है।

अरविन्द दर्शन एक समझौतावादी दर्शन है। परस्पर विरोधी विचार धाराओं को मिलाने (Reconciliation) मे अरविन्द से अधिक प्रयत्न स्यात् भारत के किसी दार्शनिक ने नही किया।

अरविन्द जिन तथ्यों पर पहुँचे हैं, उनकी विस्तृत चर्चा इस ग्रन्थ में की गई है किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन तथ्यों की प्राप्ति के लिए जिस मानसिकता की अपेक्षा हुई, उसकी तैयारी में किन किन सामाजिक परिस्थितियों का हाथ रहा है, यह बताने की भी आवश्यकता थी, कवि और उसके प्रेरणा-स्रोत अरविन्द-दर्शन दोनों की सामाजिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। मैंने इस ग्रन्थ मे यह प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ का प्रथम अध्याय है "दार्शनिक निरपेक्षता का विकास"। दार्शनिक देश और विदेश मे किस प्रकार ज्ञात और अज्ञात रूप से सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित रहे है, किस प्रकार वैयक्तिक चिन्तन आत्यन्तिक प्रश्नों के उत्तर देने में संगति खोजने का असफल प्रयत्न करता रहा है, किस प्रकार वह पूर्वाग्रहों की पुष्टि के लिए अनेक उपयोगी-अनुपयोगी तर्क-पद्धतियों का आविष्कार करता रहा है तथा किस प्रकार इसी आदर्शवादी दर्शन के गर्भ से वैज्ञानिक चिन्तन का विकास हुआ है, यह दिखाने का प्रथम अध्याय में प्रयत्न किया गया है।

अरविन्द दर्शन भारतीय व अभारतीय आदर्शवादी दर्शनों की आधुनिकतम उपज है। इस महत्त्वपूर्ण शृङ्खला का अध्ययन दूसरे अध्याय में किया गया है।

तृतीय अध्याय में पन्तजी के चिन्तन का क्रमिक विकास दिखाया गया है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पन्तजी सर्वदा, सब रचनाओं में आदर्शवादी कवि रहे हैं। हिन्दी आलोचना मे यह भ्रम अब तक बना हुआ है कि पन्तजी युगवाणी युगान्त व ग्राम्या मे मार्क्सवाद के अनुगामी हैं। मैंने इस भ्रम का निराकरण आवश्यक प्रमाण देकर किया है। उपर्युक्त रचनाओं मे मार्क्सवाद को आंशिक स्वीकृति देकर कवि नूतन काव्य मे पुन. अपनी आस्था पर लौट आया है, और साथ ही कवि ने अरविन्द-दर्शन को सहायता लेकर, मार्क्सवाद को चेतना के निम्नतम् रूप मे स्वीकार कर और उसकी पर्याप्त भर्त्सना कर प्रायश्चित कर लिया है। कवि के चिन्तन की चरम परिणति अरविन्द-दर्शन मे हुई है, यह निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है।

पन्त-अरविन्द के समझौतावाद से मै सहमत नहीं हो सका, अत अरविन्द दर्शन के अधिदर्शन व सामाजिक दर्शन दोनों पर विचार की आवश्यकता थी अत 'अरविन्द-दर्शन'—समीक्षा १ तथा अरविन्द दर्शन—समीक्षा २, इन अध्यायों मे मैंने अरविन्द की बुद्धि-विरोधी अन्तश्चेतना (intuition) पर आधारित अरविन्द-दर्शन पर विचार किया है। अरविन्द का अन्तश्चेतनावाद आध्यात्मिक सत्यों की सिद्धि मे न तो शकराचार्य व बौद्ध दार्शनिकों की तरह तर्क की रक्षा कर सका है और न अपने सामाजिक-दर्शन में इतिहास के साथ न्याय कर सका है, यह मैंने विस्तार से दिखाया है।

अरविन्द ने जीव, जगत, ब्रह्म के साथ कला पर भी विचार प्रकट किए हैं, जिनका विवेचन "काव्य-कला और अरविन्द-दर्शन" नामक अध्याय मे किया गया है।

इतने विवेचन के पश्चात् पन्तजी की नूतन काव्यकला का विकास, उनकी प्राचीन रचनाओ की पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखकर किया गया है। अतः नूतन काव्य-कला के पूर्व पन्तजी की काव्य-चेतना का क्रमिक विकास कैसे हुआ तथा उसकी परिणति नूतन काव्य-कला मे कैसे हुई, यह स्पष्ट करने का मैंने प्रयत्न किया है।

इसके पश्चात् स्वर्णकिरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा, अतिमा आदि रचनाओं में से प्रत्येक का अलग अलग सौन्दर्य शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इन नूतन रचनाओं के भाव, रस, भाषा, छन्द, प्रकृति-वर्णन, प्रभाव आदि सभी विषयों की समीक्षा प्रस्तुत करने का प्रयत्न इस ग्रंथ के उत्तरार्ध मे मिलेगा।

काव्य एक सामाजिक, सांस्कृतिक प्रयत्न है अत' उपसहार मे मैंने पन्तजी के नूतन काव्य में प्राप्त सास्कृतिक तत्त्वों पर विचार किया है।

पन्तजी के दर्शन व काव्य पर विचार करते समय यथासम्भव मेरा प्रयत्न यह रहा है कि कवि का दृष्टिकोण स्पष्टतः पाठक के सम्मुख प्रस्तुत हो जाय और काव्य के सभी रमणीय और दुर्बल पक्ष उपस्थित हो जायँ। पन्तजी के नूनन-काव्य के पक्ष मे दो अतिवाद प्रचलित हैं —प्रथम यह कि यह काव्य सब प्रकार से हेय और उपेक्षा के योग्य है, कवि का इस काव्य में ह्रास ही नहीं, पूर्ण पतन दिखाई पड़ता है। द्वितीय यह कि कवि की काव्य-कला की चरम सीमा इस नूतन काव्य में ही दिखाई पड़ती है। प्रथम धारणा उन सङ्कीर्ण मार्क्सवादियों की है जिन्होंने कवि की विचारधारा से असन्तुष्ट होकर नूतन काव्य का उपहास और उपेक्षा की। निन्दा और आलोचना मे इसीलिए उनके लिए कोई अन्तर नहीं रह गया। मैं भी पन्तजी की विचारधारा से सहमत नही हूँ परन्तु नूतन काव्य में कवि की कला का ह्रास मानते हुए भी उसमें रमणीयता का अभाव नहीं है यह इस ग्रन्थ से स्पष्ट है मैंने नूतन काव्य के सौन्दर्य पर प्रकाश डालने का यथा शक्ति प्रयत्न किया है।

अतः नूतन काव्य में न तो मैं कवि की कला की चरम-सीमा खोज सका और न यही मान सका कि कवि की कला का पूर्ण पतन यहाँ मिलता है। अति बौद्धिकता से जहाँ यह नूतन काव्य आक्रान्त हुआ है, वहीं पन्तजी की भव्य कोमल कल्पना व शब्द शिल्प के अनेक मनोहर दृश्य भी यहाँ कम नहीं मिलते। मै पूर्णतया आश्वस्त हूँ कि यह नूतन काव्य प्रयोगवादी काव्य से कही उच्चकोटि का है।

मानसिक विकृति, बौद्धिक दिवांधता तथा प्रयोगों के प्रमाद ने प्रयोगवादी कवियों को दिग्भ्रान्त कर हिन्दी काव्य को पतनोन्मुख किया है वही पन्तजी के काव्य के पीछे कम से कम स्पष्ट विचारधारा होने से उनकी कल्पना को पुन. पङ्ख मारने का अवकाश मिल गया

है अत उड़ान मे अभ्यस्त कवि पन्त ने जिस नये मानसिक जगत की प्रदर्शिनी हमारे सम्मुख प्रस्तुत की है, उसमे वीणा की सरलता व पल्लव का वैभव भले ही न हो परन्तु कल्पना व विचार के अनन्त नभ के नवीन स्तरों का परिचय अवश्य मिलता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इतना विस्तृत न होता यदि इसे दो भागों में प्रकाशित किया जाता किन्तु ग्रन्थ के विस्तार का अनुमान लगाने में शीघ्रता व प्रमाद के कारण भूल हो ही गई। यदि इसके द्वितीय संस्करण का अवसर मिला तो इसे दो भागों में प्रकाशित किया जायगा।

इस ग्रन्थ में मुझे गुरुजनों व मित्रों से जो सहायता व सहयोग मिला है, उसका उल्लेख आवश्यक है। श्रद्धेय प्रो० कैलाशचन्द्र मिश्र, हिन्दी विभाग आगरा कालेज तो जैसे दार्शनिक यात्रा के सिद्धपीठ ही हैं, जहाँ पहुँच कर विगत-सन्देह होना किसी के लिए भी सहज है। श्रद्धेय पण्डित जगन्नाथ तिवारी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, आगरा कालेज के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नही हैं। आदरणीय डॉ० व्रजगोपाल तिवारी (अध्यक्ष, दर्शन विभाग, आगरा कालेज) ने समय-समय पर मुझे भूलों से बचाया है और प्रो० तारकनाथ बाली तथा प्रो० रामगोपालसिंह चौहान का सहयोग मेरे लिए अत्यधिक हितकर रहा है।

हिन्दी-विभाग आगरा कालेज के एम० ए० के विद्यार्थियों का भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिनके साथ पन्तजी के नूतन-काव्य पर कार्य करते हुए मुझे लिखने की प्रेरणा मिली। विशेषकर श्री मक्खनलाल शर्मा एम० ए० तथा श्री रामकुमार मिश्रा एम० ए० ने प्रेस की भूलों से युद्ध करने में बड़ी सहायता की है। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

श्री केशवदेव तिवारी एम० ए०, के द्वारा जो सहायता मुझे मिली है, उसके लिए धन्यवाद देने में उनके रूठ जाने का भय है अत मौन रहने मे ही कुशल समझता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे श्रीयुत महेन्द्रजी के सुपुत्र चि० भारतेन्दु भी धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि इस विपुलकाय ग्रन्थ को प्रकाशित कर उन्होंने जिस साहस का परिचय दिया है, वह सचमुच प्रशंसनीय है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

भारती एवम् भारत

की

सेवा में संलग्न

श्रीयुत् महेन्द्रजी

को

कतिपय सहायक ग्रन्थों की सूची

1. A Text Book of Marxist Philosophy—
2 A History of Modern Philosophy— W K. Wright
3. Marxism and the Irrationalists— John Lewis.
4 Science and Faith— John Baillie
5 Human Destiny— Locomtedo Nouy.
6. Indian Philosophy— Chandhar Sharma.
7. The Yogi and Commissar— Arthur Koestler.
8. India To-day— R. P. Dutta.
9. Uses and Abuses of Psychology— H. J, E Eysenck.
10 Maha Yogi— R. R. Diwakar.
11. Philosophy of Religion— John Caird.
12. Philosophical Essays— S N Das Gupta
13 Theory of Aesthetics— Benedetto Croce.
14. Principles of Literary Criticism— I A. Richards.
15. Vedic Age— Published by Bhartiya Itihas Samiti.
16. Buddhist Esoterism— B Bhattacharya
17. Shakti and Shakta— Arthur Avalon.
18 Principles of Tantra— ,, ,,
19. History of Sanskrit Literature— Winternitze
20. The Life Divine— Aurobindo.
21. The Synthesis of Yoga— ,,
22. Human Cycle— ,,
23 Future Poetry— ,,
24. Poems and Plays— ,,
25. Illusion and Reality— Christopher Caudwell.
27 Studies in a Dying Culture— ,,
27. Further Studies in a dying Culture— ,,
28 Art and Social Life— G. V Plekhanov.

29. 2500 Years of Buddhism—
Edited by P. V. Bapat.
30. Encyclopedia of Religion and Ethics—
Vol. II, Edited by J. Hastings.
31. Studies in Jain Philosophy— Nathmal Tatia
32. Ancient History of Western Asia, India.
and Crete—Bedrich Hrozny.

हिन्दी

१—छायावाद— शम्भूनाथसिंह
२—प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास—डा० रांगेय राघव
३—सन्त-सुधा-सार— वियोगी हरि
४—भागवत सम्प्रदाय— मुन्शी देवीप्रसाद
५—वयं-रक्षामः आचार्य चतुरसेन शास्त्री
६—भागवत धर्म— हरिभाऊ उपाध्याय
७—बौद्ध-दर्शन-मीमांसा— बलदेव उपाध्याय
८—सुमित्रानन्दन पन्त— शचीरानी गुर्टू
९—प्रगतिवाद— शिवदानसिंह चौहान
१०—हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
११—महाकवि निराला— " "
१२—हिन्दी के प्रमुखवाद— " "
१३—शेर-ओ-शायरी— अयोध्या प्रसाद गोयलीय
१४—भारतीय संस्कृति— डॉ० मंगलदेव शास्त्री
१५—कला और संस्कृति— डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

संस्कृत

१—ऋग्वेद— सायणभाष्य
२—अथर्ववेद— "
३—उपनिषदें— शांकरभाष्य
४—गीता— "
५—मत्स्यपुराण अनु०—रामप्रताप शास्त्री
६—श्रीमद्भागवत— गीता प्रेस
७—कुमारसम्भव— कालिदास
८—मेघदूत— "
९—तन्त्रालोक— अभिनवगुप्त

विषय-सूची



दार्शनिक निरपेक्षता का विकास

सुमित्रानन्दन पन्त विकास-शील कवि माने जाते हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है "लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न भिन्न समय पर अपने युग के स्पर्शों तथा संवेदनों से किस प्रकार आन्दोलित होता है, उन्हे किस रूपमे ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने मे अधिक उपयोगी सिद्ध होता है।"❀ इसका अर्थ यह है कि पन्तजी समय-समय पर युग के स्पर्शों से आन्दोलित होते रहे हैं किन्तु साथ ही उन युग-स्पर्शों को एक विशेष रूप में ग्रहण भी करते रहे है।

प्राय. यह मान लिया जाता है कि 'वीणा-पल्लव' काल में पन्तजी स्वच्छन्दतावाद के अनुगामी थे, प्रकृति में सौन्दर्य व स्रष्टा के दर्शक, 'ग्राम्या, युगवाणी, युगान्त' काल मे वे समाजवाद से प्रभावित रहे तथा स्वर्ण-किरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, रजतशिखिर आदि मे अध्यात्मवादी (अरविन्दवादी अध्यात्म के विश्वासी) हो गए। यह ठीक है, परन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि पन्तजी अपने मौलिक रूप में आस्था-शील कवि हैं, अध्यात्मवाद से निश्चित मान्यताओं में वे सदा विश्वास करते रहे हैं। इसीलिए समाजवादी प्रभाव को भी उन्होंने इस प्रकार ग्रहण किया है कि उससे उनके पूर्व की मान्यताओं पर कोई दुष्प्रभाव नही पड़ता है। और स्पष्टता से कहा जाय तो यह कि वे सदा ईश्वर और आत्मा मे विश्वास करते रहे है, अपने समाजवादी दौर में भी। युगवाणी व युगान्त की अनेक कविताएँ इसकी प्रमाण हैं। स्वयं पन्तजी ने अपने सारे काव्य की किसी मोड़ को पूर्व की स्थिति से पूर्णतया भिन्न स्वीकार नही किया।

❀ उत्तरा—भूमिका पृष्ठ २।

अरविन्द के दर्शन ने काल्पनिक समन्वय का जो अति साहस उनमें उत्पन्न करदिया है, जिससे घोर विरोधी वस्तुओं मे भी विना किसी वाधा केसमन्वय स्थापित किया जा सकता है, उसकी सहायता से पन्तजी ने अपने समाजवादी काव्य मे तथा अध्यात्मवादी काव्य मे समन्वय खोज निकाला है। अत पन्तजी को विकासशील कवि मानते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि उनका विकास परिस्थितियों के प्रवाह में डाल कर किसी अनिश्चित दिशा में उन्हे नही ले जाता, अपितु उनका विकास उनकी चेतना के अनुरूप ही हुआ है, उन्होंने कुछ ग्रहण किया है, कुछ छोड़ दिया है। इस प्रकार उनका विकास उन्ही के शब्दों मे इस प्रकार वर्णित हुआ है—"वाहरी दृष्टि से उन्हे (पाठकों को) 'युगवाणी' तथा 'स्वर्णकिरण' काल की रचनाओ मे शायद परस्पर-विरोधी विचार-भावनाओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। 'ज्योत्स्ना' मे मैंने जीवन की जिन वहिरन्तर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) मे उनके रूपान्तरित होने की ओर इङ्गित किया है, 'युगवाणी' व 'ग्राम्या' मे उन्ही के वहिर्मुखी (समतल) सञ्चरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है; किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समानरूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से इस प्रकार के अनेकों उद्धरण दिए जा सकते हैं।"❀

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि समाजवादी व अध्यात्मवादी कविताओं में अन्तर केवल धरातल की भिन्नता के कारण मानता है। एक ही चेतना अन्तर्मुखी होकर अध्यात्म-काव्य तथा वहिरङ्गमुखी होकर समाजवादी काव्य का निर्माण करती है। फिर भी पन्तजी के काव्य में आलोचक समझते हैं कि पन्तजी तो जैसी वायु चलती है वैसी ही अपनी गति बदल लेते हैं। ऐसे विचारक पन्तजी को नहीं समझ पाते। पन्तजी ने अरविन्द से तर्क को उधार ले कर कितने सुन्दर ढङ्ग से अपने काव्य मे आन्तरिक एकता का सूत्र खोज निकाला है। अत हमें यह मानना चाहिए कि पन्तजी सदा अध्यात्मवादी रहे हैं। केवल चेतना के वाह्य-धरातल पर ही स्थिर होकर विचार करने वाले

❀ उत्तरा—भूमिका पृष्ठ १-२

मार्क्स जैसे विचारकों से कुछ विचार उन्होंने अवश्य अपना लिए हैं सो भी उन विचारों को जो अध्यात्म-वाद में बाधक नही हैं। अत. पन्तजी का समन्वय एक अध्यात्मवादी विचारक का समन्वय है जिसका आधार बुद्धि नही विश्वास है। क्योंकि शुद्ध तर्क सर्वदा सापेक्ष रूप से चलता है, विश्वास व कल्पना पर आधारित तर्क-जाल अवश्य निरपेक्ष को भी सिद्ध कर सकता है, वह कही भी समन्वय खोज सकता है, भविष्य की कुछ भी कल्पना कर सकता है। ऐसे विचारक को कुछ भी दुर्लभ नही है, वह किसी भी निरपेक्ष वैयक्तिक साधना की स्थिति में प्राप्त या आभासित अनुभवों को वैज्ञानिक सिद्ध कर सकता है, वह इतिहास की महान से महान विजय को झुठला कर किसी भी काल्पनिक सत्य की विजय घोषित कर सकता है। चेतना के बाह्य-धरातल पर ही सही, जनता के जीवन-सघर्ष की विजय होने के पूर्व ही, वह उस सङ्घर्ष को अपूर्ण कह कर, कल्पित स्वप्नों व लक्ष्यों को निर्धारण कर, कल्पित सुख-शान्ति का वर्णन ऐसी भाषा में करने लगता है, जिसे कवि या कवि का विधाता ही समझ सकता है।

पंतजी ने नई कविता मे ऐसा ही भगीरथ-श्रम किया है। इस कविता में पंतजी कोरे कवि नही, दार्शनिक के रूप मे भी प्रस्तुत हुए है। उन्हें एक ओर तो शङ्कराचार्य का मायावाद मध्यकाल का अतिचार प्रतीत होता है और दूसरी ओर मार्क्स व एंगिल्स की पुकार झींगुरों की झनकार प्रतीत होती है। उनका मार्ग बीच का है—'मध्यमा-प्रतिपदा' का मार्ग। यह मार्ग कुछ पन्तजी का अपना नहीं है। जब पन्तजी अस्वस्थ थे तब उनकी अन्तर्चेतना मे भयानक ऊहापोह उत्पन्न हुआ था। अरविन्द के 'भागवत-जीवन' या 'दी डिवाइन लाइफ' को जब उन्होंने पढ़ा तो सहसा वैसी ही उन्हें अन्तर्चेतनात्मक स्फुरणा हुई थी जैसी बुद्ध को सुजाता की खीर-खाने के बाद हुई थी। उन्हें लगा—"जैसे मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिन्तन को अत्यन्त सुस्पष्ट, सुगठित एव पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है"। इसलिए पन्तजी को अपनी ओर से सोचने-विचारने का कष्ट नहीं उठाना पड़ा। अरविन्द के तर्कों पर 'उत्तर' की भूमिका लिख कर पन्तजी ने इस सक्रान्ति-काल में एक नूतन सस्कृति के प्रसार के लिए प्रचार प्रारम्भ कर दिया है और इस बढ़ती हुई मार्क्सवादी मूर्खता, जड़ता तथा संकीर्णता को समाप्त कर एक व्यापक, पूर्ण और अहिंसक सांस्कृतिक आन्दोलन के लिए विश्व के सभी विचारकों को ललकारा।

कवि के रूप मे पन्तजी सफल कवि है, यह सभी जानते हैं, भले ही कुछ हठधर्मी मानते न हों, परन्तु विचारक के रूप में पन्तजी की विचार-धारा निरपेक्षता की ओर बढ़ती गई है। वस्तुत इसके बीज प्रारम्भ की रचनाओं में ही सुरक्षित थे, जिनका विकास आगे चलकर हुआ है। जिस व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर पन्तजी के सारे तर्क आधारित हैं वह अनुभव प्रामाणिक नही, काल्पनिक है। उसे लेकर 'रहस्यवाद' की स्थापना हो सकती है और वस्तुत अरविन्द के दर्शन को 'रहस्यवाद' की सज्ञा ही मिलनी चाहिये। व्यक्तिगत निरपेक्ष-अनुभवों की स्थिति में जिन विचित्र रूपाभासों, चेतना के विभिन्न स्तरों आदि का ज्ञान अरविन्द को हुआ है उनको प्रामाणिक ही नहीं, वैज्ञानिक दर्शन का अङ्ग मानकर पन्तजी ने व्यापक समन्वय की बात कह कर स्वर्णिम चेतना के गीत नई कविता मे गाये है। विचार-दर्शन का सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस प्रकार की कल्पनायें बराबर वैज्ञानिक दर्शन के नाम पर हुई हैं और उनको सिद्ध करने के के लिये विस्तृत तर्क-जाल का प्रदर्शन होता आया है। बहुत से ईमानदार विचारकों ने मानवीय बुद्धि को सीमित मानकर, केवल लौकिक अनुभवों के विश्लेषण और प्रयोगों से सिद्ध विज्ञान की उन्नति में मन लगाया है, किन्तु बहुत से विचारक सर्वदा अपनी कल्पनाओं और मौलिक चिन्तनाओं के आविष्कार में ही लीन रहे है।

भारत मे निरपेक्ष वैयक्तिक अनुभवों को शास्त्र के रूप मे मान्यता देकर आगे के विचारक उन्ही शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित कल्पनाओं की रक्षा में सदा मग्न रहे हैं। शङ्कर, कुमारिल, उदयन जैसे विचारक इसके प्रमाण है। ये विचारक कभी भी सापेक्ष्य दृष्टि से—सामाजिक दृष्टि से—नहीं सोचते। इसके ऐतिहासिक कारण हैं जिनका विश्लेषण यहाँ सम्भव नही है। न केवल हिन्दू दार्शनिक अपितु, बौद्ध व जैन दार्शनिकों का भी यही हाल है। शून्यवाद, विज्ञानवाद, स्यात्‌वाद सभी सिद्धान्तो की उत्पत्ति के पीछे यही काल्पनिक उड़ान हैं परन्तु जैसा कहा कि किसी वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग रखकर सोचने पर—निरपेक्ष दृष्टि से सोचने पर कभी भी वैज्ञानिक चिन्तन सम्भव नही है।

योरोप के दार्शनिक इतिहास का विकास भी इसी तत्त्व की

ओर संकेत करता है। शास्त्र की मर्यादा चिन्तन पर आरोपित होने के कारण वहाँ पूर्व-निश्चित धारणाओं का मण्डन मात्र ही उद्देश्य नही रहा है अपितु अपेक्षाकृत स्वतन्त्र चिन्तन का भी विकास हुआ है किन्तु शुद्ध बुद्धि से सोचने पर भी समाज को छोड़कर स्वतन्त्र चिन्तन के क्षेत्र में योरोप के दार्शनिकों ने दिलचस्प कल्पनाएँ की है। यद्यपि उस चिन्तन के बीच में ससार के लिए भी बहुत सी उपयोगी बातें निकल आई हैं जिनका प्रयोग सामाजिक विचारकों—मार्क्स, एंगिल्स आदि ने अपनी विचार-धारा में किया है।*

योरोप के प्राचीन विचारकों को यदि हम प्राचीन भारतीय विचारकों की तरह विश्वासवादी मान लें, तो भी योरोप के मध्यकाल में मानवीय कल्पना चिन्तन के क्षेत्र में अपना अद्भुत इतिहास रखती

* कुत्सित भौतिकवादी, मार्क्स से पूर्व यह मानते थे कि सारा आदर्शवाद व्यर्थ है, मूर्खतापूर्ण है, परन्तु यह दृष्टिकोण गलत है। वस्तुतः वह एकाङ्गिता, निरपेक्षता से पीड़ित रहा है। कुत्सित भौतिकवादी मानते थे कि हमारी चेतना पर बाह्य प्रभाव पड़ते हैं यही ज्ञान का साधन है परन्तु काट जैसे आदर्शवादियों ने यह नहीं माना था कि हमारी चेतना क्रियाहीनता की स्थिति में चुपचाप, स्थिर रूप में, बाह्य प्रभावों को ग्रहण किया करती है। यह ठीक है कि चेतना बाह्य प्रभावों को ग्रहण करती है परन्तु वह क्रियाहीन (Passive) रह कर यदि यह कहे तो ज्ञान अधूरा या एकाङ्गी होगा। मार्क्सवाद भी यही मानता है कि—We gain our Knowledge, in other words, not by the passive reception of impressions but by altering our environment in accordance with our needs. काट केवल निरपेक्षता पर जोर देता था—केवल 'मानसिकता' पर, अतः वह एकाङ्गी था।

Philosophical idealism is nonsense only from the Stand point of a crude, simple and metaphysical materialism, on the contrary, from the stand point of dialectical materialism, philosophical idealism in one sided, exaggerated, swollen development of one of the characteristic aspects or limits of knowledge (Linin, on Dialectics).

हैं।† सैंट थॉमस आदि की मध्यकालीन विचारधारा तो स्पष्ट ही अर्द्ध-सभ्य विश्वासों पर आधारित है। इसे Scholasticism कहा जाता है। इसके बाद प्राकृतिक विज्ञान के युग मे भी हॉब्स, डेकर्ट, स्पिनोजा लिबनिज आदि की विचारधाराओ में जहाँ एक ओर ऐन्द्रिय-ज्ञान के ऊपर आधारित विज्ञानों की ओर रुचि दिखाई पड़ती है, वही दूसरी ओर अतीन्द्रिय तत्त्वों की रक्षा मे अनेक कल्पनाएँ भी की गई हैं। हॉब्स तो प्रत्यक्ष अनुभववादी था अत उसे हम छोड देते हैं। हॉब्स ने बताया था कि जगत् की वस्तुओं का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष ज्ञान—ऐन्द्रिक ज्ञान से होता है। सारे विज्ञान के प्रयोग प्रत्यक्ष ज्ञान पर ही आधारित है, परन्तु डेकर्ट ने इसे स्वीकार नही किया। वह किसी भी वस्तु के ज्ञान का मुख्य साधन अन्तर्चेतना को मानता है, प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय ज्ञान को वह महत्त्व नही देता। डेकर्ट ज्ञान की स्पष्टता पर तो बहुत जोर देता है, जो प्रशसनीय है परन्तु वह इस स्पष्ट ज्ञान का आधार अन्तर्चेतना को मानता है क्योंकि प्लेटो ने जो कह दिया था कि अतीन्द्रिय ज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान से महान् है। इसीलिए डेकर्ट ने प्लेटों के आधार पर अन्तर्चेतना की कल्पना की और प्रत्यक्ष-ज्ञान से उसे सन्तोष नही हुआ। परिणाम यह हुआ कि शङ्कराचार्य की तरह तर्क-पद्धति इस प्रकार चली—

Cogito ergo Sum (I think, therefore I am)
Dubito ergo Sum (I doubt, therefore I am.)

"मैं सोचता हूँ इसलिए मेरी सत्ता है" या "मैं सन्देह करता हूँ इसलिए मेरी सत्ता है।"

† योरोप के प्राचीन दार्शनिकों में प्लेटो जगत को नश्वर, व अचिंत्य-सत्ता की छाया मात्र मानता था। व्यक्ति के गुण आदि भी उसी अचिंत्य सत्ता के गुणों की छाया मात्र हैं इस प्रकार प्राचीन दार्शनिकों ने भी अचिंत्य सत्ता को ही महत्त्व दिया था, For plato, the changing and passing forms of this world, are but the tansitory and partial embodiments of ideal realties laid up in heaven in the same way our virtues are but pale reflections of the perfect virtues which exist in the Absolute (A text book of Marxist Philosophy, Page, 34.)

इस प्रकार के तर्कों से अचिन्त्य सत्ता की सिद्धि बहुत कठिन नही है। विश्व की विविधता को देखकर इसी प्रकार स्पिनोजा ने भी कल्पना की कि यह सब वैविध्य-पूर्ण ज़गत एक ही सत्ता से उत्पन्न हुआ है। क्योंकि सृष्टि के मूल में अनेक सत्ताओं की स्वीकृति से सृष्टि के विकास को नही समझाया जा सकता। स्पिनोजा के अनुसार चिरन्तन सत्ता की सिद्धि वैज्ञानिक तर्कों से होते ही हम ब्रह्म को मानने के लिए बाध्य हो जाते है किन्तु यदि यह मान भी लिया जाए कि सृष्टि के मूल मे एक चेतन सत्ता है तो उससे यह अनेकात्मक जगत कैसे उत्पन्न हुआ? इस प्रश्न के उत्तर मे स्पिनोजा ने उसी प्रकार की कल्पनाओं से कार्य लिया जैसे अन्य दार्शनिक बराबर लेते रहते हैं। दर्शन सृष्टि, ईश्वर और आत्मा की सिद्धि में बराबर मानवीय बुद्धि को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता रहा है, इस कार्य के लिए वह अनेक अनुमान लगाता है और उनसे एक व्यस्थित-कल्पना-शास्त्र खड़ा करता है जो दर्शन की पुस्तक बन जाती है। और आगे के दार्शनिक फिर उससे मत-भेद प्रकट करते हैं और फिर नए दर्शन की उपज होती है। मनुष्य की आस्था, विश्वास और श्रद्धा का उपयोग कर तर्क की दुर्बलता को छिपाने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार अनेक अन्ध-विश्वासों का सहज ही प्रवेश हो जाता है।

स्पिनोजा ने एक से अनेक के विकास को समझाने के लिए "मोड्स" के सिद्धान्त की कल्पना की। स्पिनोजा के अनुसार दो प्रकार के 'मोड्स' होते हैं।❀ (१) शाश्वत, (२) अस्थायी। ये दोनों प्रकार के 'मोड्स' ब्रह्म के ही रूप हैं। ब्रह्म मूल तत्त्व (Substance) है। गति व अगति (Motion and rest) मोड्स हैं जो उसी ब्रह्म के रूप हैं। स्पष्ट है कि 'मोड्स' की कल्पना का कुछ भी आधार नही है। मूल तत्त्व से ये 'मोड्स' क्यों विकसित होते हैं, इनके विभाजन का

❀ There are eternal modes and finite modes. Mode is modification of substance, which exists in, and is conceived through, something other itself God is the substance—(A History of modern Philosophy by W. K. Wright)

आधार क्या है ? आदि अनेक प्रश्न उत्पन्न होते है। परन्तु स्पिनोजा इसीलिए महान दार्शनिक है कि उसने नवीन कल्पना प्रस्तुत की और एक से अनेक के सिद्धान्त को समझाया।‡

स्पिनोजा की इस कल्पना से विचारक इतने अधिक प्रभावित हुए कि "लाइबनिज" ने मोड्स की जगह (Monads) का नाम दिया और उनके स्वरूप के विषय मे वैशेषिक दार्शनिकों की पद्धति अपनाई। यही नही इस दार्शनिक ने ईश्वर के नगर (The City of God) की भी कल्पना की। इस नगर मे पूर्ण सुख व शान्ति रहती हैं, इसमे संसार जैसे द्वन्द्व नहीं है। अरविन्द ने भी ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति का ही वर्णन किया है। सृष्टि के दु ख की खोज करके भी उसे दूर करने के प्रयत्न मे निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर विचारक आकाश की ओर देखने लगता है। बुद्ध, लाइबनिज, शङ्कर, हीगल आदि सबके सम्बन्ध मे यही सत्य दिखाई पड़ता है।

अध्यात्मवादी दार्शनिकों के बीच-बीच मे दूरारूढ कल्पनाओं और चेतना की उलझनों से बचने के लिए 'लॉक' जैसे दार्शनिक उत्पन्न हुए जिन्होंने प्रत्यक्ष इद्रिय-ज्ञान को ही मुख्य माना परन्तु 'विशप बर्कले' जैसे दार्शनिकों ने जिनका स्वार्थ चर्च की रक्षा में निहित था, संसार की बाह्य सत्ता मानने से ही इन्कार किया। नागार्जुन व शङ्कर ने भारत मे बाह्य पदार्थों की सत्ता की विचित्र व्याख्याएँ जिस प्रकार की, उसी प्रकार बर्कले ने मानसिक-प्रत्ययवाद के सिद्धान्त की कल्पना की। संसार के सारे पदार्थ हमारे अनुभव क्षेत्र के भीतर ही हैं। अनुभव के अतिरिक्त वस्तु की सत्ता क्या है ? तर्क आगे आया, "जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो एन्द्रिय ज्ञान तथा चेतना का अंश मिल जाता है। ऐसी कोई वस्तु नही है जिसमे प्रत्यक्ष-ज्ञान पहले से ही अवस्थित हो। हमारा एन्द्रिय-ज्ञान व हमारी चेतना मिलकर ही वस्तु की सत्ता सिद्ध करते है। अत॰ वस्तुऍ केवल मन मे स्थित है, बाहर

‡ स्पिनोजा के चिन्तन की यह असमर्थता है कि वह चेतना व मेटर के बीच की खाड़ी को नहीं पाट सका। अतः वह चेतना को स्वतन्त्र व निरपेक्ष मान बैठा और मैटर की गति (Motion) आदि को चेतना का ही रूप घोषित करता रहा।

उनकी सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। बर्कले का निर्दोष तर्क ❀ यदि स्वीकार कर लिया जाय तो आज का सारा ज्ञान-विज्ञान व्यर्थ हो जाय। मैंने पहले कहा कि शुद्ध मानसिकता भी बराबर भूल कर सकती है अत: लोक का अनुभव ही उसका सबसे बड़ा प्रमाण है। यदि लौकिक अनुभव से हमारी दार्शनिकता प्रामाणिक नही ठहरती तो वह गलत है परन्तु 'बर्कले' को तो 'चर्च' के प्रति भक्ति स्थापित करनी थी। लॉक की वैज्ञानिक प्रवृत्ति का यदि वह विरोध न करता तो उसकी तथा उस जैसे अनेक बिशपों की जीविका समाप्त हो जाती। इसीलिए प्रसिद्ध कवि बायरन ने 'बर्कले' के दर्शन का मजाक उड़ाया था।†

स्पष्ट है कि बर्कले की कल्पना व तर्क महान् थे परन्तु निरपेक्ष-मानसिक उड़ान महान से महान विचार को अनुपयोगी और बुद्धि के विरुद्ध बना देती है। 'बर्कले' का दर्शन भी ऐसा ही था और सभी उन दार्शनिकों का होता है जो सापेक्ष रूप से विचार न कर पहले से ही कल्पित मान्यताओं की रक्षा में तर्क देते हुए तृप्त नही होते। बर्कले ने बताया था कि जिसे आप ईंट (Brick) कहते हैं, उसकी कोई सत्ता नही है, आयताकार लाल वस्तु जिसमें कड़ापन है, ईंट कहलाती है। परन्तु ईंट कुछ विशेषताओं का संघात मात्र है और वे विशेषताएँ हमारे मन में हैं अतः बाहर ईंट का अस्तित्व है, यह असिद्ध है। ये विशेषताएँ—रंग, आकार आदि केवल मानसिक अनुभवों के रूपमें ही प्रतीत होती हैं। अतः ईंट एक मानसिक अनुभव मात्र है। अतः एक पदार्थ केवल अनुभूत विशेषताओं का संघात मात्र है। पदार्थ मन के बाहर हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार यदि ईंट केवल मानसिक अनुभव (idea) मात्र है तो वह सौन्दर्य, ईश्वर, आत्मा आदि के अनुभव (idea) से भिन्न नहीं है (आपने देखा किस प्रकार ईश्वर को सिद्ध करने के लिए वाह्य पदार्थों की सत्ता का निषेध कर दिया गया) परन्तु साधारण मानसिक स्थिति मे बर्कले जैसे अनु-

❀ To be is to be perceived (If to exist is to be perceived, then, did my father exist before I came to know him ? Marxism & Irrationalists.—By Lewis

† When Bishop Berkeley said, "There was no matter And proved it, it was no matter what he said,"

भव हमे नही होते। सभी पदार्थों के अनुभव (idea) एक से नहीं होते, कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट होते हैं। बर्कले इसे मानता है परन्तु वह यह नही मानता कि अनुभव (idea) के लिए किसी भौतिक पदार्थ की आवश्यकता है। भौतिक पदार्थों की विना सत्ता स्वीकार किए हुए भी उसके अनुसार अनुभव हो सकते हैं परन्तु प्रश्न यह है कि क्या भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त आपके मानसिक प्रत्ययों का कोई अन्य साधन भी है ? बर्कले कहेगा कि मानसिक प्रत्ययों का आधार कोई मानसिक (Mental) पदार्थ (ईश्वर) ही होगा, और है भी।

स्पष्ट है कि बर्कले केवल भौतिक जगत की सत्ता इसलिए अस्वीकृत करता है क्योंकि उसे अभौतिक पदार्थ सिद्ध करना है। परन्तु यह गलत पद्धति है, पूर्वाग्रह की सिद्धि के लिए तर्क का दुरुपयोग मात्र। किसी वस्तु को जानने का अर्थ उसके सम्बन्ध में किसी अनुभव (idea) को प्राप्त करना है, यह ठीक है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि आप उस पदार्थ को नही जानते केवल उस 'आइडिया' को ही जानते है। किसी वस्तु का ज्ञान करते समय उस वस्तु मे एक सम्बन्ध उत्पन्न होता है, वह सम्बन्ध है 'ज्ञेयता' का। परन्तु ज्ञेयता का सम्बन्ध उस मूल पदार्थ की सत्ता को कैसे समाप्त कर देगा जबकि सम्बन्ध उस वस्तु पर ही आधारित है। अत पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता है। वह केवल कुछ विशेषताओं का सङ्घातमात्र नही है जैसा कि बर्कले मानता है* क्योंकि पदार्थ में जो ज्ञेयता का सम्बन्ध उत्पन्न हुआ है, उसका भी आधार वही पदार्थ है, सम्बन्ध को महत्त्व देकर सम्बन्ध के आधार को न मानना गलत है। पदार्थ के सम्बन्ध मे जो विचार या अनुभव है वह मन मे होता है, परन्तु वह पदार्थ तो बाहर ही रहता है अत पदार्थ मानसिक नही है।× लौकिक अनुभव भी यही बताता है अत यदि लोक अनुभव के विरुद्ध यदि कोई सिद्धान्त पड़ता है तो उसे शीघ्र बदल देना चाहिए, पर बर्कले ऐसा नही करता।

---

* "A thing is nothing more then the sum of its experienced qualities"

× You can not be conscious of the material world without thinking about it, it does not follow that all you are conscious of, is your thinking. The

'वर्कले' ने पदार्थ (Matter) की सत्ता से ही इन्कार किया था अत: 'ह्यूम' ने जिसे चर्च की रक्षा का लोभ नही था; बड़ी ही मनोरञ्जक बात कही है जो दर्शन के मूल-आधार आत्मा की कल्पना को बुरी तरह झकझोरती है। ह्यूम कहता है कि जब मैं अपने 'स्व' की खोज करता हूँ तब वह मेरा 'स्व' कोई न कोई प्रत्यक्ष इंन्द्रिय-ज्ञान से आधारित पदार्थ ही होता है। मैं कभी भी अपने 'स्व' को नही पकड़ पाया अतः हमारी आत्मा केवल अनेक प्रत्यक्ष-ज्ञानों का संग्रह-मात्र है।" +

व्यक्तिगत विश्वास व्यक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न, रहस्यमय, और अनिश्चित होते हैं, उनकी प्राप्ति की प्रक्रिया सर्वथा अनिश्चित होने के कारण उनका समाजीकारण सम्भव नहीं है अतः मार्क्स इनसे बचने का उपदेश देता है। इस प्रकार की उपलब्धियों का सामा-

---

fact that a known thing must, as an element of knowledge, be classed as an idea, only means that when a thing is known, it occupies a new relationship—the relationship of being known But in thus assuming the status of an idea, as well as material object, it does not by any means become identified with that idea The object does not become an idea ... therefore whatever is Known is not itself of the nature of mind. the thought of a thing must be in the mind, but the thing of which we are aware is not in the mind, and is not therefore mental (Marxcism and the irrationalists—by John Lewis Page 12)

+ For my part, when I enter most intimately in to what I call my self, I always stumble on some particular perception I can never catch my self our "Selves" are so far as we can observe our experience, nothing but a bundle or collection of different perceptions.

जिक मूल्य बहुत कम या बिल्कुल नहीं होता, कभी-कभी विपरीत भी होता है। यद्यपि इन्हीं अलौकिक धारणाओं के माध्यम से अनेक विचारकों ने समाज में बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ की हैं परन्तु इन धारणाओं का अभ्यास कठिन कार्य है। कांट ने बार-बार कहा है कि प्रकृति के सौन्दर्य व व्यवस्था को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह सृष्टि किसी कलाकार ने बनाई है। परन्तु कांट कला (सृष्टि) व कलाकार (ब्रह्म) का यह सम्बन्ध सही मानता हो, यह बात नही, क्योंकि वह कहता है कि हमें यह आशा करनी चाहिये कि वह 'सत्ता' कलाकार की तरह की ही होगी, पर विश्वास नही।*

ह्यूम के अनुसार मस्तिष्क एक रङ्गमञ्च के समान है जिस पर शतशः प्रत्यक्ष इन्द्रियों से ग्राह्य अनुभव अभिनय किया करते हैं अत. हम कभी भी किसी अचिन्त्य वस्तु सत्ता को नही देखते। वस्तुओं की सत्ता स्वयं सिद्ध है। वस्तुयें हमारे अनुभव की अपेक्षा बिना किये हुए भी विद्यमान है।

स्पष्ट है कि ह्यूम की विचार-धारा लौकिक अनुभव से पुष्ट होती है। अत. वह अधिदर्शन या मैटाफिसिक्स के क्षेत्र मे मान्य आत्मा आदि की सत्ता के विषय में जो विचार रखता है वे ग्रहणीय है।

ह्यूम के सन्देहवाद से अनास्था फैलने का भय था, अतः कांट ने ईश्वरादि की सिद्धि मे अद्भुत तर्क-प्रणाली का अनुगमन किया। उसने मानवीय चेतना को तीन भागों में बाँट दिया, जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नही था। ज्ञान की शक्ति को तीन भागों मे बाँटा—I ऐन्द्रिय ज्ञान (Sensibility) जिससे वस्तु का ज्ञान होता है, II ज्ञानात्मक बोध (Understanding) जिससे वस्तुएँ जानी जाती हैं, III शुद्ध बुद्धि (Reason) जिससे विचार (idea) बनते है। स्पष्ट है कि यह विभाजन वैज्ञानिक नही है। प्रथम दो से सृष्टि की वस्तुओं का

* The beauty and sublimity of nature and the purposeness of organaism, indeed suggest to us that the world may be the production of an Infinite artist .... we may hope that this is true but we donot know.

ज्ञान होता है, देश, काल, वृक्ष, नदी आदि का। कांट ने बतलाया कि शुद्ध बुद्धि से हम ईश्वर, आत्मा आदि को सिद्ध नही कर सकते जो हमारे अनुभव के परे हैं। इन वस्तुओं की सिद्धि विश्वास व आस्था से हो सकती है। शुद्ध बुद्धि पर आधारित तर्क (Transcendental Dialectic) हमारे ज्ञान की सीमा बताते हैं। हम एक सीमा से आगे बढ़कर ब्रह्म, आत्मा आदि की सिद्धि नही कर सकते। परन्तु व्यावहारिक-बुद्धि से हम इन अचिन्त्य-सत्ताओं की सिद्ध कर सकते है। कांट महान् दार्शनिक था उसने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि हम शुद्ध बुद्धि से ब्रह्म को सिद्ध नही कर सकते। अनुभव के क्षणों मे भले ही हमें उनका आभास हो। क्योंकि जब हम 'आत्मा' के विषय मे को लौकिक अनुभवों से बाहर जाकर सोचते हैं, तो अन्तर्विरोधों में ग्रस्त हो जाते हैं।*

कांट ने बताया कि अनुभूति से भले ही हमें ब्रह्मादि का ज्ञान हो जाय, शुद्ध बुद्धि से उनकी सिद्धि असम्भव है परन्तु जब शुद्ध बुद्धि से ही लौकिक अनुभवों को एक ओर रखकर, दार्शनिक तर्क-शक्ति से ईश्वर को सिद्ध करने का हठ पकड़ता है तो अनेक अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। और जो वस्तु विश्वास से सिद्ध है वह अनिश्चित और प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आस्था के अनुसार है अतः श्रद्धा से सिद्ध इन अलौकिक सत्ताओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ भी कहना सम्भव नही है परन्तु फिर भी दार्शनिक लौकिक अनुभवों की समृद्धि तथा लोक की उन्नति का मार्ग छोड़कर अलौकिक कल्पित सत्ताओं की सिद्धि व प्राप्ति मे ही अपनी शक्तियों का प्रयोग करते है।

इस सम्बन्ध मे लोग 'मानसिक भूख' का तर्क देते हैं। जगत, जीव व आत्मा के सम्बन्ध में जानने की इच्छा प्रत्येक व्यक्ति मे स्वाभाविक होती है और उदर की भूख के समान इस भूख की तृप्ति भी अनिवार्य हो जाती है। ये आध्यात्मिक प्रश्न हठपूर्वक बार-बार हमारे सम्मुख आते हैं (Obstinate questions) और तभी यह आवश्यक है कि

* "We know the self only in Conjunction with the objects of experiences and when we try to think of it in isolation from them, we fall in the hopeless fallacies" —Kant

(A History of Modern philosophy)

इन प्रश्नों के उत्तर हमे मिले। इस मानसिक भूख की तृप्ति मे कल्पनात्मक समाधान की खोज ही दर्शन का विषय रही है परन्तु अब तक कोई दार्शनिक वैज्ञानिक विधि से उनका उत्तर नही दे सका। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने के लिए कुछ बातों को दार्शनिक पहले ही स्वीकर कर फिर आगे की समस्याओ का हल करते रहे हैं। यदि आप उन पूर्व स्वीकृत मान्यताओ को स्वीकार न करें, तो सारा दार्शनिक विवेचन समाप्त हो जाता है, बर्कले, कांट, शङ्कर, नागार्जुन सब का यही हाल है।

दार्शनिकों के निरपेक्ष्य चिन्तन की शाश्वतता का खोखलापन तथा उनकी सामयिकता तब प्रकट होती है जब वे दार्शनिक दृष्टि से आध्यात्मिक प्रश्नों को हल कर, जगत सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते हैं। जब तत्त्वदर्शी, त्रिकाल-द्रष्टा कहलाने वाले दार्शनिक सामयिक समस्याओं पर, समाज के सङ्गठन, सुधार आदि पर अपना मत देते हैं तब स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि उनकी घोर वैयक्तिक गरिमा ने अनेक नई कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं तथापि साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार उनकी चेतना पर वाह्य परिस्थितियाँ अपना प्रभाव डाल कर उसकी निरपेक्षता के स्वरूप को निश्चित किया करती है और तब मार्क्स की बात पुष्ट होती है कि प्रत्येक दर्शन विशिष्ट परिस्थितियों, समाज के उत्पादन सम्बन्धों आदि सामाजिक तत्त्वों से प्रभावित होकर ही अपना विशिष्ट रूप धारण करता है।

किसी भी दार्शनिक की विचार-धारा में उपर्युक्त दोनों दुर्बलताएँ देखी जा सकती हैं। १—पूर्वाग्रह, २—सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव। इन दोनों बातों के सिद्ध हो जाने पर दार्शनिकों के शाश्वत समाधानों का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। हीगल को लीजिए। योरोप के सारे अध्यात्मवादी दर्शन की अन्तिम परिणति जैसे हीगल के दर्शन मे दिखाई पड़ती है। परन्तु हीगल तक आते-आते विचार की निरपेक्षता भी अपनी पूर्णता तक पहुँच चुकी थी। अत उसकी रक्षा तभी सम्भव थी जब कि उसमे सापेक्ष्य चिन्तन का भी कुछ आभास प्रस्तुत किया जाता। हीगल के सापेक्षता के सिद्धान्त का यही रहस्य था। उसने अवयव का अवयवी से जो सम्बन्ध बताया वह सापेक्षतावाद के समर्थन में प्रयुक्त हो सकता

है।* यद्यपि उसका प्रयोग लॉक के सम्बन्धों के बाहरी रूप (Externality of Relations) के खण्डन के लिए किया गया था।

किसी तथ्य के निर्णय में पूर्ण ज्ञान के लिए उसका अन्य वस्तुओं से जो सम्बन्ध है उस पर भी विचार करने की आवश्यकता है, यह वैज्ञानिक विचार हम हीगल के पूर्णता (Organic Whole) के सिद्धान्त से पा सकते हैं। परन्तु हीगल पूर्ण सत्य (Absolute Reality) का विचार करते-करते ब्रह्म तक जा पहुँचता है और उसी को अन्तिम सत्य मानता है। किन्तु जहाँ वह इस सिद्धान्त का व्यावहारिक धरातल पर प्रयोग करता है, वहाँ उसका सिद्धांत वैज्ञानिक बन जाता है। यथा वह कहता है कि 'चित्रकार यदि सफल है तो प्रत्येक रेखा चित्र की पूर्णता के लिए देन बन जाती है परन्तु इन रेखाओं के मिलने से एक सर्वथा ही नवीन पूर्णता का उदय होता है और चित्र के दर्शन करते समय सहसा जो प्रभाव पड़ता है वह रेखा रूपी अवयवों के मिल जाने से अवयवी रूपी चित्र की एकता है।' यही नहीं हीगल इसी सिद्धान्त को किसी भी वस्तु के स्वरूप निर्णय के लिए पूर्ण समर्थ सिद्ध करता है। दोनों क्षेत्रों में—आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता भी इसी से सिद्ध हो जाती है और सामाजिक सत्यों का स्वरूप निर्णय भी इसी से हो जाता है। वह बताता है कि व्यक्तित्व के निर्णय के लिये समाज को देखना आवश्यक है क्योंकि उसका व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। यह ठीक है, पर हीगल इस सापेक्षता के समर्थन द्वारा यही नहीं रुक जाता। उसे तो ब्रह्म की सत्ता इसी तर्क से सिद्ध करनी है और वह कितने चातुर्य से अपना कार्य करता है यह द्रष्टव्य है—

Your life as a whole is conditioned by human society. Human society is interrelated with the earth The earth of us is an organic part of a universe which is made up of its constituents parts. These truths, are realised by you and me—a statement which can be reversed to mean that the

* Every truth or fact is dependent upon, and helps in its turn to determine, every other truth or fact.

universe or the Absolute has in us become conscious of itself and its eternal relationship for we are organic parts of it.*

अर्थात् तुम्हारा जीवन मानव-समाज से प्रभावित होता है। मानव-समाज पृथ्वी से सम्बन्धित है। पृथ्वी विश्व का एक भाग है। यह सत्य तुम्हारे और मेरे द्वारा जाना गया है। अब यदि इसी कथन को उलट दिया जाय तो कहा जायगा कि विश्व या शाश्वत (सत्ता) स्वयं अपने को तथा अपने सम्बन्धों को समझना चाहती है जिसके हम सब अवयव है।

तर्क क्या नहीं कर सकता ? वह कितना समर्थ होता है। जहाँ तक अवयवी व अवयव के परस्पर सम्बन्ध का प्रश्न था, वहाँ तक तो ठीक था। यह भी ठीक था कि पूर्ण चित्र रेखाओं से बन कर भी उन रेखाओं के मिलने से एक नवीन अवयवी का रूप पा जाता है। परन्तु जब हम इसे अनुभव करते हैं तो इसका यह तात्पर्य कैसे निकला कि शाश्वत सत्ता स्वय अपने अवयवों के सम्बन्ध में जागरुक हो गई है और हम सब उसी एक सत्ता के अवयव हैं जो अपने को अवयवों में विखराकर अपने आप अपने अवयवों के विषय मे जानना चाहती है। इसीलिए मैंने कहा कि निरपेक्षता की उड़ान को सीमा के पार होते देखकर हीगल ने सापेक्षतावाद का प्रयोग इसलिए किया ताकि निरपेक्ष सत्य की सिद्धि मे किसी को कोई एतराज न हो और विचारक यह स्वीकार करलें कि सापेक्षतावाद से भी ब्रह्म की सत्ता सिद्ध हो सकती है इसीलिए यह सापेक्षतावाद का आभास मात्र है, वास्तविक सापेक्षतावाद नहीं। दार्शनिकों की मेधा की प्रशंसा हमें करनी चाहिए परन्तु उनका पूर्वाग्रह तो यह है कि ब्रह्म की सिद्धि करनी है अतः उसके लिए ऐसे तर्क और खोजों को जो सापेक्षतावाद पर आधारित हों, बस सभी स्वीकार कर लेंगे। इससे यह लाभ भी हुआ कि आगे द्वन्द्वात्मक पद्धति × जो हीगल ने खोज निकाली उसी

* A History of Modern Philosophy.

× सूक्ष्म व मूर्त का सिद्धान्त भी हीगल ने ही खोज निकाला था। If you look at anything by itself, apart from its relationships, you are looking at it abstractly, if

को मार्क्स ने पहचान लिया और उसे इतिहास मे प्रयुक्त कर सिर के बल खड़े हीगेल को पैरों के बल खड़ा कर दिया।

काट ने जब यह कहा था कि सत्ता को आप कोरी बुद्धि से नही समझ सकते तो हीगल को चिंता थी कही इसे लोग वस्तुत स्वीकार न करले। अत उसने पूर्णसत्य (Absolute truth) का 'अवयवी-अवयव' आधार पर मंडन किया और बताया कि सीमित चेतना चूँकि पूर्ण चेतना का भाग है अतः वह पूर्ण-चेतना को समझ सकती है। इससे मनुष्य की बुद्धि पर तो हीगेल ने विश्वास किया जिसकी 'राइट' ने अपने आधुनिक दर्शन के इतिहास मे बडी प्रशंसा की है परन्तु इससे ब्रह्म को समझने का हौसला बढ़ गया और यह मान लिया गया कि कांट का ढङ्ग ब्रह्म की सत्ता के लिए खतरनाक प्रमाणित हो सकता था। हीगेल के नये आविष्कारों ने उस खतरे को मिटा दिया।

इसी प्रकार हीगल ने विषय, प्रतिविषय तथा समन्वय (Thesis, Antithesis तथा Synthesis) का सिद्धान्त खोज निकाला जो उसकी महान् मेधा का परिचायक था परन्तु उसका उपयोग ब्रह्म की सत्ता सिद्ध करने मे किया गया और उसके द्वारा ब्रह्म की सिद्धि सब से अधिक बुद्धिसंगत बतलाई गई। सारे विश्व को शाश्वत सत्ता मानने के कारण हीगेल को सर्वात्मवादी कहा गया और चूँकि विश्वास से नही, बुद्धि से, तर्क से उसे सिद्ध किया गया था अतः उसे 'बुद्धि-प्रधान सर्वात्मवादी' (Rationalistic pantheistic Idealist) कहा गया और यह भी कहा गया कि हीगेल के सर्वात्मवाद के आगे भारत का सर्ववाद अधकचरा सर्ववाद है।× हीगेल इसीलिए अपने दर्शन को 'स्वर्व-

on the contrary, you consider it in its organic relationships, yon view it concretely. मार्क्सवादी उसी चिंतन को वैज्ञानिक मानते हैं जो मूर्त concrete हो अर्थात जिसमें सारी बातों पर विचार किया गया हो। हीगेल को तो अपने 'शाश्वत सत्य' को मूर्त सिद्ध करना था, वह तो न हो सका, हो भी नहीं सकता, परन्तु आगे के चिंतन के लिए वह Abstract व concrete का आविष्कार हमें दे गया।

× The Absolute is, this world, in its organic unity, not the creator of it. This is purely panthe-

वाद' कहलाना नहीं चाहता था क्योंकि उससे कहीं भारतीय सर्ववाद न समझ लिया जाए इस बात की उसे आशङ्का थी। क्योंकि हीगेल मायावाद की तरह जगत को मिथ्या नही मानता था यह तो जगत के पदार्थों के आन्तरिक सम्बन्धो का पता लगाते-लगाते आश्वस्त हो चुका था कि विचारक इस पद्धति से अवश्य पूर्ण सत्ता (Absolute Truth) तक पहुँच जायगा अतः 'मायावादी' दर्शन अबौद्धिक है। (पता नहीं हीगेल को रामानुज का परिचय था या नही ?)

हीगल ने सापेक्षतावाद से किस प्रकार अपने पूर्वाग्रह को सिद्ध किया यह हम स्पष्ट कर चुके। द्वन्द्वात्मक पद्धति का आविष्कार उसने जगत की सत्ता सिद्ध करने के लिए किया। पूर्ण सत्ता अनेक त्रिगुणों के माध्यम से व्यक्त होती है। जिसमे प्रत्येक त्रिगुण (Triad) अपने भीतर विषय (Thesis) प्रति विषय (Antithesis) तथा Synthesis (समन्वय) को रखता है। एक विषय मे सत्ता का जब एक भाग व्यक्त होता है तो उसका प्रतिविषय उपस्थित हो जाता है और फिर इन दोनों का समन्वय एक उच्च सत्ता मे हो जाता है। यह समन्वय एक सृष्टि का जनक बनता है और उससे अनेक सृष्टियाँ इसी प्रकार बनती जाती हैं। एक 'त्रिगुण' को इस प्रकार रखा गया है—

विषय	प्रतिविषय	समन्वय
Thesis	Antithesis	Synthesis
'है'	'नही है'	'हो रहा है'
Being	Not being	becoming

परिवर्तनशील जगत (Becoming) सत् (Being) का परिवर्तित रूप है जो द्वन्द्वात्मक पद्धति से उपर्युक्त पद्धति से समझाया गया है। व्यावहारिक जगत् मे समाज के विकास में उपर्युक्त द्वन्द्वात्मक विकास प्रमाणित हो चुका है। किसी भी व्यवस्था का जब प्रारम्भ होता है तो उसमे विरोधी तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं और फिर नई व्यवस्था

ism. Although, Hegel disliked the word, which in his day was usually employed to designate the crude pantheism of India which regards the world as Maya, illusion, to which they oppose the Absolute.

का जन्म होता है। समाज के विकास का सारा इतिहास इस बात का गवाह है। परन्तु हीगेल को इसी पद्धति पर ब्रह्म से जगत् का विकास समझाना था। अत. उसने सूक्ष्म से स्थूल की, एक से अनेक की उत्पत्ति को भी उसी पद्धति से समझाया जो अनेक अन्तर्विरोधों से युक्त हो गयी। अतः मार्क्स ने उसे स्वीकार नही किया किन्तु उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार कर जगत के मूर्त तथ्यों के विश्लेषण में उसका प्रयोग किया। पूर्वाग्रह की सिद्धि के लिए हीगेल की पद्धति को मार्क्स ने स्वीकार नही किया।*

यह तो रही पूर्वाग्रह सम्बन्धी हीगेल की दुर्बलता। अब उसका सामाजिक सम्बन्धों के सम्बन्ध में विचार-दर्शन देखिए। हीगेल की स्वतन्त्रता की परिभाषा हमारे काम की है। एक डाक्टर सक्रामक रोग के आक्रमण पर अपने को शक्तिहीन अनुभव करता है। वह कुछ लोगों को स्वस्थ कर सकता है, पर वह यदि रोग का मूल नाश नहीं कर पाता तो अपने को निराश पाता है। परन्तु यदि वही डाक्टर संक्रामक रोग के नाश के लिए यदि किसी औषधि का आविष्कार कर लेता है और रोग का मूल नाश करने में समर्थ होता है तो वह अपने को स्वतन्त्र पाता है। दरअसल अब वह स्वतन्त्र हो गया। अतः स्वतन्त्रता अनावृत तथा ज्ञात आवश्यकता का नाम है।† पूर्ण सत्य से परिचित होना स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है।

परन्तु हीगेल ने विकासवाद के जिस स्वरूप का वर्णन किया है वह उसके सीमित ज्ञान का प्रतीक था। हीगेल, लेमार्क व डार्विन का पूर्ववर्ती विचारक था अतः उसका विकासवाद अमूर्त है। शुद्ध विचार के क्षेत्र में तो हीगेल अद्वितीय दृष्टिगोचर होता है, पर विकासवाद के क्षेत्र में महान् प्रतीत नहीं होता। यह दर्शन पर समय का

* By the expending, unfolding universe he meant, among other things, the development of Absolute spirit itself It was here that Hegel was a pure Idealist (A text book of Marxist Philosophy page 57.

† Freedom is necessity unveiled and under stood.

प्रभाव था। हीगेल यही कहता रहा कि प्रकृति मे विकास अमूर्त से मूर्त की ओर हुआ है पहले अमूर्त पदार्थ देश, काल उत्पन्न हुये तत्पश्चात् मूर्त पदार्थ—जड़ तत्त्व प्रधान पौधे, पशु आदि विकसित हुये, अगो के विकास मे मूर्तता (Concreteness)बराबर बढ़ती गई।

परिस्थितियों का प्रभाव यहाँ तक था कि हीगेल व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश की कल्पना भी नही कर सका।※ सामाजिक चिन्तन के अभाव में पूर्वी-पश्चिमी सभी दार्शनिक मनुष्य के दु खों के नाश के लिये राग-द्वेष पर अनुशासन के लिए ही जोर देते आये हैं जिससे नैतिकता का पूँजीवादी स्वरूप उपस्थित हो गया। यह सोचा ही नही जा सका, तब सोचा जा सकना सम्भव भी नही था, कि व्यक्ति के दु.खों का मुख्य कारण पूँजी की विषमता है, अन्य अमुख्य कारण भी हैं पर आर्थिक समस्या ही मुख्य समस्या है। इसीलिये तब व्यवस्था पर दार्शनिक प्रहार नही करते थे। वे मनुष्य के दु ख का अनुभव कर ब्रह्म की ओर चलने को ही एकमात्र उपाय मानते थे।

हीगेल ने लिखा है कि व्यक्ति को पूँजी रखने का अधिकार है, पूँजी की वृद्धि की प्रक्रिया में व्यक्ति के व्यक्तित्व की परीक्षा होती है। पूँजी बढ़ाकर अपने भविष्य की सुरक्षा का उसे पूरा अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को पूँजी बढ़ाने का अधिकार होना चाहिये। ससार में अन्याय व बेईमानी इतनी अधिक बढ़ गई है कि मनुष्य व्यक्तिगत सम्पत्ति बढ़ा ही नहीं सकता। दो पूँजीपतियों को अधिकार है कि वे एक दूसरे का आदर करें, सच्चाई वरतें। स्पष्ट है कि हीगेल का अध्यात्मवाद जिस व्यक्तिवादी सीमा पर पहुँच चुका था, उसे मानकर यह असम्भव था कि हीगेल सामाजिक सम्बन्धों को ठीक प्रकार से समझ पायेगा और यही हुआ भी। अध्यात्मवादी दार्शनिक जब समाज के सम्बन्ध मे हीगेल की तरह अपना मत देते हैं तो उनकी बुद्धि पर दया आती है। भारतीयों ने अच्छा किया कि उन्होंने इस दिशा मे विचार ही नही किया, योरोप के दार्शनिकों ने विचार किया

※ तत्त्वदर्शी हीगेल पर परिस्थितियों का यहाँ तक प्रभाव था कि वह प्रथम तो फ्रांस के विद्रोह का समर्थन करता रहा परन्तु पीछे से प्रुशियन निरंकुश राज्य का समर्थक बन गया।

है और उनका यह रूप कितना प्रतिक्रियावादी है यह स्पष्ट है। × हीगेल का सामाजिक चिन्तन इस बात का साक्षी है कि वह द्रष्टा न था, शुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में नई-नई कल्पनाओं के गढ़ने मे महान मेधा का प्रदर्शन करने वाले दार्शनिक सामाजिक चिन्तन मे पिछड़ी बुद्धि के सामान्य विचारक जैसे जान पडते हैं। यह असम्भव था कि विना सामाजिक सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन किये हुये, कोई वैज्ञानिक मत उनके द्वारा आविष्कृत हो सकता।

इसीलिए मैंने कहा था कि अध्यात्मवादी दार्शनिकों की विचार-प्रक्रिया अमूर्त, अधूरी, एकाङ्गी और परिस्थितियों को झुठलाने वाली होकर भी उन्ही से शासित रही है। परन्तु सत्य की खोज के प्रति उनकी सच्ची लगन के कारण उन्होंने तर्क की जिन अनेक प्रक्रियाओं का आविष्कार किया है उनमें बहुत सी हमारे लिए उपयोगी है जिनसे वे ब्रह्म, जीव की सत्ता सिद्ध भले ही न कर सके हों पर हम उनसे सामाजिक ज्ञान की निश्चित रूप से वृद्धि कर सकते है। हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति व उसका सापेक्षतावाद कितना उपयोगी है यह सभी जानते हैं।

यही नहीं उसने राज्य व व्यक्ति के सम्बन्ध से भी बहुत सी उपयोगी बातें खोज निकाली है यथा राज्य को व्यक्ति से अधिक महत्त्व दिया है। यद्यपि ऐतिहासिक सीमा के कारण उसने इङ्गलैण्ड की की राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया है। इससे भी उस पर परिस्थितियों

× हीगेल का सिद्धान्त जो सामाजिक चिन्तन की असमर्थता से घोर प्रतिक्रियावादी सिद्ध हुआ वह यह है The real is rational and the rational is real इसका अर्थ यह है कि सामाजिक सस्थाये तथा सिद्धांतों के सारे स्वरूप ब्रह्म द्वारा निश्चित होते हैं। ये सिद्धान्त व सस्थायें बुद्धि (Reason) की गति के ही सोपान हैं। बुद्धि का विकास 'सत्य' के विकास का है। हीगेल के इस तर्क से सामाजिक व्यवस्थाओं व सस्थाओं के सारे अत्याचार चूँकि सत्तावान हैं अतः वे बुद्धि सङ्गत ठहरते हैं। अतः उन्हें नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। जो भी सत्तावान है वह बुद्धि सङ्गत है। इस सिद्धान्त द्वारा प्रत्येक प्रकार के अत्याचार का समर्थन स्वय हीगेल के तर्क से ही हो जाता है। अतः उसका यह आदर्शवादी रूप घोर प्रतिक्रियावादी कहा जाता है।

का प्रभाव स्पष्ट है।

हीगेल की तरह ही नीत्से के दर्शन पर भी सामयिकता का प्रभाव था। वह उच्च वर्ग की सामन्तवादी प्रवृत्तियों का समर्थक था। उसने जनतन्त्र व साम्यवाद का विरोध किया और प्रभुत्ववादियों की विशेष जाति व संस्कृति की कल्पना की।

भाववादी (Postivists) दार्शनिक जहाँ एक ओर अनादि सत्ता की खोज असम्भव मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर मनुष्य के दुःख का मूलकारण समाज में न खोज कर उसे दूर करने का उपाय व्यक्तिगत ही मानते हैं। केवल विचार के क्षेत्र में (घटनाओं व व्यवस्थाओं के क्षेत्र में नहीं) विकास दिखा कर भाववादी दार्शनिक भाववाद (Postivism) को अन्तिम विकास-सोपान मानते हैं। इस स्थिति में समाज की व्यवस्था का भार बड़े-बड़े भूमिपतियों व बैंकरों पर होगा। वे समाज के अन्य सदस्यों को सभी सुविधाएँ देंगे। समाज का नेतृत्व पादरियो, पुरोहितों, वैज्ञानिकों व साहित्यिकों के हाथों में होगा जो भूस्वामियों व व्यापारियों आदि को घमण्डी व पथभ्रष्ट होने से रोकेंगे। पुरोहितों का शासन नैतिक होगा।* स्पष्ट है कि भाववादियों की यह कल्पना अवैज्ञानिक और अबुद्धिसङ्गत है क्योंकि निश्चित रूप से भूमिपति व व्यापारी, वैज्ञानिकों व साहित्यिकों को खरीदने की कोशिश करते हैं, जैसा कि पूँजीवाद में बराबर होता है अतः केवल नैतिक प्रभाव से समाज में सन्तुलन नहीं रह सकता। राज्य पर श्रमिक वर्ग का शासन होना चाहिए। भूमिपति व बैंकर कभी इतने

* In the positive stage business, industry and agriculture all the longer productive processes—will be run by the bankers, large landowners and the like, the patricians will recognise their responsibility and faithful servants of society. It will be their duty to provide employment and educational possibilities for all The intellectual and moral leadership will be in the hands of the priests, scientists, philosophers and men of letters the authority of the priests will be purely moral.

भले नही हो सकते कि वे समाज का इतना ध्यान रखेंगे कि सभी लोगों को सुविधाएँ मिलती रहेंगी। अत. भाववादियों को यह भ्रम इतिहास की अनभिज्ञता के कारण ही हुआ है।

१६ वी शताब्दी के अन्तिम भाग के दार्शनिकों में हेनरी बर्गसाँ अधिक मान्य समझा जाता है परन्तु उसका दर्शन भी कोरी कल्पनाओं पर आधारित है। सापेक्ष दृष्टि न रखने के कारण, इतिहास के प्रति अज्ञान के कारण बड़े ही कवित्वपूर्ण भ्रम बर्गसाँ को हुए हैं। वह सामान्य ईश्वरवाद का खण्डन करता है, वह नवीन डार्विनवाद को भी स्वीकार नहीं करता तथापि उसका विकास अद्वैतवाद पर आश्रित है। विभिन्नता का एक मात्र कारण Vital impulse है। स्पेंसर विभिन्नता को वातावरण की उपज मानता था। परन्तु बर्गसाँ के अनुसार एक जीवन-शक्ति विशेष (Vital impulse) ही सारे विश्व मे व्याप्त है। निम्न प्रकार के जीवों में वह सुप्त रूप से रहती है, पत्थरों में भी वह विद्यमान है। पशुओं में चेतना व गति दोनों आ जाती हैं। मस्तिष्क का विभाजन श्रम के कारण है। यहाँ मूल-जीवन-शक्ति (Vital impulse) के दो रूप हो जाते हैं—प्रवृत्ति व बुद्धि। यह सोचना गलत है कि जीव-विशेष ने वातावरण के अनुसार उनका विकास किया है। प्रवृत्ति से मनुष्य के स्वाभाविक व्यापार होते हैं परन्तु बुद्धि से वह जगत की क्रियाओं को करता है परन्तु वह आन्तरिक जगत को भी समझ सकता है पर बुद्धि से नही Intuition अन्तर्चेतना से। इसी अन्तर्चेना के बल पर मनुष्य भविष्य के सम्बन्ध में भी जान सकता है। मनुष्य बुद्धि से प्रकृति पर शासन कर सकता है और अन्तर्चेतना से आन्तरिक जगत को समझ सकता है। अत. विकास की दृष्टि से हमें बुद्धि की जगह अन्तर्चेतना का अभ्यास करना चाहिए। बुद्धि का प्रयोग साधारण व्यवहार के लिए है। ×

स्पष्ट है कि बर्गसाँ का दर्शन कल्पना पर जोर देता है। बुद्धि के

× Reason is tool for doing things with the world. Intuition is a direct apprehension of the entirely irrational world as it is in itself Life itself is apprehended not by reason or science but by intuition. (A text book of Marxist Philosophy–Page55)

पश्चात् वह अनिश्चित अन्तर्चेतना पर जोर देता है और उसे ही मुख्य मानता है। अरविन्द भी यही बात कहते हैं पर दूसरे ढङ्ग से।

वर्गसाँ का यह कहना सही है कि जीवन-शक्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती। हजारों परमाणु बम भी प्राणसत्ता का समूल विनाश नहीं कर करते। इस नक्षत्र का जीवन-स्रोत सूर्य है परन्तु उसके शीत हो जाने पर भी जीवन-सत्ता अन्य किसी नक्षत्र में विकसित होने लगेगी। परन्तु इस मूल जीवन-सत्ता को ही वह ईश्वर मानता है और परिणामतः दर्शन का फल जो निकलता रहा है वही यहाँ भी निकलता है अर्थात् वह मूल जीवन-सत्ता ही मुख्य है उसी की ओर हमारी गति होनी चाहिए।

वर्गसाँ का ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्यों में परोपकारादि की भावना स्वाभाविक रूप से रहती है। धर्म व्यक्तिवाद पर अनुशासन रखता है (परन्तु धर्म व्यक्ति के दृष्टिकोण को अवैज्ञानिक भी बनाता है इसे वर्गसाँ नहीं कहता) परन्तु जब धर्म में परम्परावादिता आगई तो अन्तर्चेतना ने उसमें सन्तुलन उत्पन्न कर दिया। अत. धर्म व अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। साधू-सन्तों के पास दोनों वस्तुएँ थी, अत' वे महान थे। वर्गसाँ के अनुसार मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

स्पष्ट है कि वर्गसाँ का दर्शन उन पूर्वाग्रहों से आगे नही बढ़ता जो पहले के दार्शनिकों में दिखाई पड़ते हैं।

आदर्शवादी दार्शनिकों के अतिरिक्त कुछ भौतिकवादी दार्शनिक भी अपने तर्क इस ढङ्ग से उपस्थित करते हैं कि उनके दर्शन का अन्त आदर्शवाद मे ही होता है। वर्टेण्ड रसेल ऐसे ही यथार्थवादी दार्शनिकों में से है—रसेल के अनुसार बाह्य भौतिक जगत की सत्ता का प्रमाण मानसिक संवेदनाएँ (Sensations) हैं। ये संवेदनाएँ मस्तिष्क मे निश्चित संस्थानों (Cells) मे स्नायु सम्बन्धी हलचलो (Nervous impulses) से उत्पन्न होती है। स्नायु सम्बन्धी हलचले विशुद्ध शारीरिक उत्तेजनाओं—ताप, दवाव, शीत आदि से हमारे मस्तिष्क के भीतर उत्पन्न होती हैं। बाह्य भौतिक अनुभव मस्तिष्क द्वारा ही अनुभूत होते है। प्रत्येक वह वस्तु, जिसे हम प्रत्यक्ष देखते या अनुभव करते हैं, हमारे मस्तिष्क मे अवस्थित रहती है तथा मानसिक उत्तेजनाओं को जन्म देती हैं अत इसी दृष्टिकोण के विकसित होने पर हम

कह सकते हैं कि मन व जड़ तत्त्व के बीच का भेद केवल भ्रमात्मक है।❀ रसेल के इस विचार-क्रम को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार उसका मत आदर्शवादी शिविर मे शामिल हो जाता है। जो दार्शनिक मन (Mind) व जड़तत्त्व (Matter) के भेद को भ्रमात्मक (illusory) मानता है, उसमें तथा अरविन्द जैसे दार्शनिकों में, केवल कथन-पद्धति को छोड़ कर क्या अन्तर है ? यही कि वे अपनी कल्पना से कही भी समन्वय दिखा सकते हैं। विरोधो में सामञ्जस्य खोजने की नीयत की प्रशंसा हम चाहे जितनी करे, परन्तु ऐसा सामञ्जस्य अन्तर्चेतना (intuition) मे भले ही सम्भव हो, कम से कम बुद्धि से सम्भव नही दिखता और बुद्धि को छोड़ कर अन्य कोई साधन हमें मान्य नही है।

❀ They (Physiological materialists) point out that our only evidence for the existence of an external world is given by certain sensations which are themselves the result of nervous impulses, activating certain cells in the brain. These nerve impulses are set up, by purely physical stimuli—heat, wave motion pressure, applied to certain nerve endings in the skin, eye, ear and so forth. Now we have no reason at all to assume that the mental end-effect produced in a brain cell at the end of a long chain of physical or physiological events is in any way like the original stimulus, any more than the explosion of a cartridge is like a finger which pressed the trigger. The physiology of the human body and the brain shuts us up with mental-end-effects Everything that we can directly observe of the physical world, happens inside our heads and consists of mental events" The development of the point of view will lead us to the conclusion that the distinction between mind and matter is illusory (Marxism and Irrationalists P. 30)

वस्तुस्थिति यह है कि रसेल का जड़-चेतन मे भेद न मानना और मानसिक जगत को अधिक महत्त्व देना हमें एक प्रकार के मानसिक प्रत्ययवाद के पास ले जाता है, जिसे वर्कले पहले प्रमाणित कर चुका था। रसेल उस मानसिक प्रत्ययवाद की सिद्धि के लिए शरीर-विज्ञान पर आधारित तर्कों का प्रयोग भर करता है। अतः वह भी आदर्शवादी दार्शनिकों की परम्परा में आजाता है, क्योंकि हम विचार के परिणाम को देखते हैं, जैसा कि हम हीगेल के विश्लेषण में देख चुके हैं। रसेल विशप वर्कले की तरह वस्तु के देखने की प्रक्रिया को उलझा देता है। वह यह नहीं समझ पाता कि हम वस्तुत वस्तुओं को देखते हैं, वस्तु को देखने की क्रिया को नही। ‡

मैंने योरोप के दार्शनिकों की विचार-धारा मे पूर्वाग्रहों के समर्थन का चाव व उन पर परिस्थितियों का प्रभाव दिखाया है। योरोप के दार्शनिक अधिक वैज्ञानिक माने जाते हैं पर उनमें वैज्ञानिकता नही है जैसा कि हमने ऊपर के विकास में देखा है कि किस प्रकार दार्शनिकों ने निरपेक्ष दृष्टि से सोचा है। विचार व समाज के सम्बन्ध को वे वरावर भूले रहे जिसे सवसे अधिक बुद्धि संगत रूप मे मार्क्स ने समझाया था। सारे दार्शनिकों का—देशी, विदेशी सभी दार्शनिकों का यह हाल था कि वे ईश्वर, आत्मा और जगत की सत्ता को पूर्वाग्रह के रूप में स्वीकार करते थे और उन्ही के समर्थन के लिए नाना पद्धतियों का आविष्कार करते थे। उन तर्क-प्रणालियों में से बहुत सी उपयोगी हैं, अत ग्रहणीय हैं परन्तु उनसे भी ईश्वर-आत्मा की सिद्धि का ही कार्य लिया गया। जो अपने को सवसे अधिक बुद्धि सङ्गत वनाने का प्रयत्न करता है उसी में सवसे अधिक अन्तर्विरोध दिखाई पडता है। भारत मे शून्यवाद, मायावाद, तथा योरोप में वर्कले, कांट, हीगेल आदि के उदाहरण हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं। योरोप में दर्शन के विकास को देखते समय हमने देखा कि किस प्रकार अंध-विश्वास की रक्षा के

‡ Russell, like Berkley confuses perceiving and the thing perceived He fails to understand that we do not perceive perceptions or even brain events, we perceive objects. (Marxism and Irrationalists, page 30)

लिये पूर्वाग्रहों को प्रमाणित करने का प्रयत्न वहाँ होता रहा।

हमने वार-वार यह कहा है कि दर्शन पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है।* एक विशेष व्यवस्था में ही एक विशेष प्रकार की विचारधारा दिखाई पड़ती है। तथा कथित दर्शन सर्वदा सुविधा भोगी वर्ग का ही कार्य रहा है। यद्यपि यह नियम सर्वत्र लागू नही होता क्योंकि असुविधा भोगी वर्ग से भी अध-विश्वास के कारण कल्पनाएँ की जाती रही है जिनका नाम दर्शन पड़ा है परन्तु समाज में सुविधा प्राप्त वर्ग की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् प्राय. दर्शन के विकास का कार्य द्रुति गति से होता दिखाई पड़ता है। क्यों ? 'दर्शन' की मुख्य पहचान यह है कि उसमें मानसिक क्रिया व व्यावहारिक क्रिया दो विपरीत दिशाओं मे चल पड़ती है। व्यवहार व विचार में अतर पड़ता जाता है। सुविधाभोगी वर्ग जितना ही निश्चित होगा, उसके दर्शन में उतनी ही घोर अव्यावहारिक मानसिकता दिखाई पड़ेगी और उतनी ही अधिक मात्रा में "वर्ग-सम्बन्ध" स्पष्ट होगा।+ चिंतन की असमर्थता से दर्शन मे कल्पना व बुद्धि की मनमानी दौड़ और बढ़ जाती है। योरोप के दर्शन से यह वात स्पष्ट है।

यद्यपि आदर्शवादी दार्शनिकों ने ही १७ वी शताब्दी में वैज्ञानिक दृष्टिकोण (बुद्धिवाद) के विकास पर जोर दिया था परन्तु उनके बुद्धिवाद (Rationalism) का लक्ष्य अंततोगत्वा 'ब्रह्म' की ही सिद्धि होती थी अतः योरोप में जव 'डेकर्ट' ने 'मैटर' की ओर ध्यान आकर्षित किया तो 'मन' व 'मैटर' के सम्बन्ध की समस्या उत्पन्न हुई। डेकर्ट ने द्वैत का समर्थन किया। मानसिक व भौतिक जगत सर्वथा स्वतन्त्र मान लिए गए। परिणाम यह हुआ कि आगे चल कर फ्रांस

---

* There is no philosophy that is not part of a Social system.

\+ Hence the more complete the separation between mental and physical work, and the great degree of exploitation of one class by another, the more is this class relationship reflected in an idealist philosophy. (A text of Marxist Philosophy page 35)

के भौतिकवादियों ने भौतिक जगत को ही सब कुछ मान कर मानसिक जगत की सत्ता को स्वीकार नही किया और दूसरी ओर "वर्कले" ने मानसिक जगत को स्वीकार कर भौतिक जगत का प्रतिषेध किया। "वर्कले" के आधार पर आगे के आदर्शवादी चलते रहे। और कभी भी आदर्शवादी मन व मैटर की समस्या को सन्तोषजनक ढङ्ग से न सुलझा सके। नाना कल्पनाएँ होती रही। स्पिनोजा ने एक ही ब्रह्म के दो तत्त्वों के रूप में मन व मैटर को स्वीकार किया जिससे द्वैतवाद तो मिटा परन्तु वह समाधान भी काल्पनिक रहा।

यांत्रिक भौतिकवादियों ने ७ वी शताब्दी से ईश्वर, चर्च और धर्म आदि पर सीधे प्रहार प्रारम्भ कर दिए तो वर्कले ने उन्ही के तर्कों से जगत की बाह्य सत्ता का ही निषेध किया। स्पिनोजा ने भी रहस्यवाद की ही शिक्षा दी। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था का धीरे-धीरे विकास होता गया, विज्ञान के नाना आविष्कार होते गए और बर्कले के तर्क फीके पडने लगे तो कांट, हीगेल और वर्गसाँ के दर्शन ईश्वर व धर्म की रक्षा के लिए आगे आए।

कांट ने बौद्धिक व व्यावहारिक अनुभवों के द्वन्द्वात्मक विकास का सिद्धान्त खोज निकाला जिसकी आदर्शवादी धूल झाड कर मार्क्स ने उसे स्वीकार किया। हीगेल ने कहा था कि जो कुछ भी सत्य है, वह बुद्धिसंगत है और जो कुछ भी बुद्धिसङ्गत है वह सत्य है। हीगेल का तात्पर्य यह था कि सामाजिक सस्थाएँ व सिद्धान्त ब्रह्म द्वारा निश्चित होते हैं और बुद्धि के विकास के सोपान हैं। बुद्धि का विकास ही सत्य का विकास है। इस सिद्धान्त से प्रत्येक प्रकार की व्यवस्था व सिद्धान्त की रक्षा हीगेल ने की। मार्क्स ने इसे स्वीकार नही किया क्योंकि वह समाज को बदलना चाहता था। अतः हीगेल के तर्क से दूसरा अर्थ लिया गया—यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि जो कुछ बुद्धिसङ्गत है वह सत्य है तो जो कुछ सत्य है यदि उसे 'असत्' प्रमाणित कर दिया जाय तो स्पष्ट है कि वह सत्य नही रहेगा और उसका विनाश अवश्य होगा। यथा निरंकुश राज्य-व्यवस्था बुद्धि-सङ्गत नही है अतः वह असत् है, ऐसा मानना चाहिए। निरंकुश राज्य-व्यवस्था का अस्तित्व है परन्तु जब वह अबुद्धिसङ्गत हो जाती है, जब वह आगामी सामाजिक विकास को रोकने लगती है, नवीन व्यवस्था का सामना नहीं कर पाती तो उसका विनाश निश्चित है।

इसी प्रकार ईसाइयत व धर्म भी अबुद्धिसङ्गत है अत: उसका विनाश अवश्यम्भावी है। इस प्रकार वामपक्षी हीगेलवादियों ने सिर के बल खड़े हीगेल को पैर के बल खड़ा कर दिया और इसी तर्क पर जारशाही, निरंकुशतावाद वा ईसाइयत का घोर विरोध किया। इस प्रकार विश्व को सर्वप्रथम सामाजिक दर्शन—इतिहास की आर्थिक व्याख्या, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि के रूप मे प्राप्त हुआ जिसने विज्ञान को अपना आधार बनाया।

हमने देखा है कि 'डेकर्ट' ने द्वैतवाद—मन व मैटर के द्वैत की समस्या खड़ी करदी थी और आगे के आदर्शवादी मन को ही सब कुछ मानते रहे थे परन्तु वामपक्षी हीगेलवादियों ने न तो यान्त्रिक भौतिकवादियों की तरह मानसिकता का निषेध किया न आदर्शवादियों की तरह जगत का निषेध किया। विश्वास द्वारा सिद्ध व साधारणीकृत 'मैटर' को मुख्य मानकर भी चेतना को गुणात्मक परिवर्तन के रूप मे स्वीकार किया और मैटर के विकास के दौरान मे ही चेतना के विकास को सम्भव माना, इससे चेतना व मैटर का झगड़ा समाप्त हो गया। वामपक्षी हीगेलवादियों की इन मान्यताओं ने विश्व की विचारधारा मे क्रान्ति उत्पन्न कर दी और मार्क्स व एङ्गिल्स के विवेचन व व्याख्याओं के आधार पर एक नवीन दर्शन (मार्क्सवादी दर्शन) का विकास हुआ। दक्षिणपन्थी हीगेलवादी आदर्शवादी थे। उनका प्रभाव घटता गया। ऐतिहासिक घटनाओं व व्याख्याओं ने यह बताया कि मार्क्सवादी सही थे। मार्क्सवादियों ने अपने विश्लेषणों का आधार कल्पित दर्शन नही, विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र आदि को बनाया। वामपक्षी हीगेल का प्रथम व्याख्याता फायरबाख हुआ, मार्क्स ने उसकी यांत्रिकिता को दूर कर मार्क्सवाद का प्रवर्तन किया। एङ्गिल्स, लेनिन, स्टालिन आदि ने उसे पुष्ट किया।

मार्क्सवादी व्यवस्था स्थापित हो जाने के पश्चात् इतिहास, विज्ञान, दर्शन आदि के क्षेत्रों में। मार्क्सवादी दृष्टि से कार्य प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् पूँजीवादी व्यवस्था ने उसका विरोध प्रारम्भ किया क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से पूँजीवाद का नाश निश्चित है, अत: अपने प्रतिक्रियावादी चरण में पूँजीवादी व्यवस्था का साम्राज्यवादी बर्बर रूप उपस्थित हुआ। विचार के क्षेत्र मे भी काल्पनिक आदर्शवाद को

पुनः जीवनदान दिया जाने लगा है।

इसका एकमात्र कारण यह है कि वर्गवादी व्यवस्था—पूँजीवादी व्यवस्था मे वर्ग-स्वार्थ के कारण काल्पनिक आदर्शवाद की रचना की जा रही है, विज्ञान के क्षेत्र में भी पूँजीवादी दृष्टिकोण जिन नियमों की खोज करता है उनमे मार्क्सवादी मान्यताओं का खण्डन करने का षडयन्त्र रहता है क्योंकि पूँजीवाद का वर्तमान स्वरूप अपना प्रगतिशील रूप समाप्त कर चुका है। लेनिन ने दिखाया है कि अ,ज का पूँजीवाद साम्राज्यवाद मे परिणत होता जा रहा है जबकि दूसरी ओर वर्ग-सङ्घर्ष तीव्र होता जा रहा है। इसी वर्ग-सङ्घर्ष को समाप्त करने के लिए काल्पनिक आदर्शवाद की सृष्टियाँ विभिन्न देशों में हो रही हैं।

दूसरी ओर पूँजीवादी व्यवस्था के साथ-साथ जिस व्यक्तिवादिता का विचार के क्षेत्र मे प्रवेश हुआ, उसकी चरम सीमा पूँजीवाद के इस पतित रूप में दिखाई पड़ रही है। स्पेंगलर, (Spengler) कांट, फिक्ते, शापेनहावर आदि सभी विचारक व्यक्ति को समाज से अलग कर उसके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करते रहे हैं। अत पूँजीवादी व्यवस्था मे घोर वैयक्तिकतावाद के कारण चिंतन के नाम पर अनर्गलतावाद का प्रचार होता है और उसके नीचे वर्ग-स्वार्थ की रक्षा का घृणित उद्देश्य छिपा रहता है।

पूँजीवादी वैयक्तिकतावाद व काल्पनिक आदर्शवाद का सुन्दर उदाहरण "प्रेगमैटिज्म" (Pragmatism) में दिखाई पड़ता है।

"प्रेगमैटिज्म" के प्रवर्तक विलियम जेम्स थे। उनके अनुसार जो उपयोगी है वह सत्य है। सत्य वह है जो हमें रुचिकर प्रतीत हो। ये दार्शनिक सत्य की अनेक व्याख्याएँ करते हैं। सत्य ऐसी आवश्यकता है, जिसका वस्तु के साथ सम्बन्ध हो। सत्य वह है जो स्वय प्रकाश हो, जो स्वय सिद्ध हो। इस प्रकार सत्य की परिभाषाएँ अनेक हो सकती हैं जिन्हे मनुष्य अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुकूल चुन लेता है अत सत्य वह है जो किसी व्यक्ति-विशेष को, किसी काल-विशेष मे, किसी परिस्थिति विशेष में रुचिकर प्रतीत होता है। सत्य सदा वैयक्तिक होता है, सामाजिक नही। हमारे लिए सत्य वही है जो हमें रुचिकर लगे, जिसे हम कठिनाइयों के आने पर भी अपने साथ रख सकें जितनी दूर तक और जब तक हम किसी सत्य को अपना बनाकर

रख पाते हैं उतनी दूर तक और तभी तक वह हमारे लिए 'सत्य' रहता है।"❀

मतलब यह कि सत्य वह है जो जिसे अच्छा लगे, कोई सामान्य सत्य, सत्य नही है जो एक के लिए सत्य है वह दूसरे के लिए झूठ है।

यह है पूँजीवादी व्यवस्था मे उत्पन्न होने वाले व्यक्तिवादी दर्शनों का स्वरूप। मार्क्सवाद इस असामाजिक चिंतन का विरोध करता है, क्योंकि इसमे सत्य की परिभाषा करते समय ध्यान केवल व्यक्ति पर रहता है, जैसे व्यक्ति समाज से विच्छिन्न इकाई का नाम हो। यदि सत्य वही है जो जिसे रुचिकर है तो एक पूँजीपति का सत्य जो शोषण करता है, देश व समाज को धोखा देता है, और कठिनाइयों के आने पर भी अपने शोषण-कार्य से विचलित नही होता, 'सत्य' के रूप में स्वीकार करना होगा। तब पाप क्या है ? झूठ क्या है, ? यह है 'प्रैगमैटिक' दर्शन का दिवालियापन। चोर चोरी मे विश्वास करता है, बार बार जेल जाने पर भी चोरी नहीं छोड़ता, महन्त दूसरों के अन्ध विश्वास से लाभ उठाता है, नेता जनता के नाम पर जेब भरता है तो चोर, महंत व नेता का सत्य क्या वस्तुत. 'सत्य' की परिभाषा पा सकता है ? उत्तर होगा, नही। सत्य वह नही है जो व्यक्ति विशेष को रुचिकर हो।

पिरैन्डेलो (Pirandello) ने एक नाटक लिखा है जिसका नाम है "आप सही हैं यदि आप समझते हैं कि आप सही हैं" (You are right if you think you are) इस नाम से ही स्पष्ट है कि सत्य वह है जो आप को प्रिय हो और आप जिसे कठिनाई आने पर निभा सकें। इसी 'प्रैगमिटिज्म' का उपदेश पैपिनी Papini ने इटली में दिया था जिसका प्रभाव मुसौलिनी पर बहुत अधिक था। नाजीवाद भी इस दर्शन के द्वारा सत्य था क्योंकि नाजी

❀ Truth is a working hypothesis, we construct a version that suits our desires and see whether we can maintain it in the face of the facts For so long as we can do so this version is truth (A text book of Marxist Philosophy, Page. 82)

नेता उसमे विश्वास करते थे, उनकी इच्छा शक्ति दृढ़ थी वे उस विश्वास की ओर दुनियाँ को बड़ी दूर तक ले जा सके। इस दर्शन के अनुसार जो आपके लिये मूल्यवान् है, लाभप्रद है वही सत्य है, पूँजीपति के लिये सबसे बड़ी लाभप्रद बात झूठ बोलना है अत' झूठ ही सत्य है क्योंकि उसमें पूँजीपति विश्वास करता है।❀

इस समय पूँजीवादी देशों मे कोई भी ऐसा देश नही है जिसमे वर्ग-स्वार्थ की रक्षा के लिये ऐसे ही भिन्न-भिन्न वैयक्तितावादी दर्शनों का प्रचार न किया जा रहा हो। अमेरिका व इङ्गलैंड मे ही नहीं, भारत में भी ऐसे दर्शनों का विकास हो रहा है जिनमें इधर 'अरविन्द दर्शन' का कोलाहल बहुत सुनाई पड़ रहा है। अरविन्द दर्शन पर बहुमूल्य पुस्तकें न्यूयार्क में छापी जाती हैं और वहाँ से ऋषियों की पवित्र भारतभूमि पर अध्यात्मवाद व भौतिकवाद के समन्वय के रूप में मार्क्सवाद के विरुद्ध प्रचार किया जा रहा है।

परन्तु सत्य और सत्य का ज्ञान आपकी रुचि और अरुचि से पृथक है। सत्य और सच्चा ज्ञान वह है जो भ्रमों का नाश करे, चाहे वह 'भ्रमवाद' कितना ही मनोहर व प्रेरणादायक क्यों न हो।

चूँकि मार्क्सवादी विज्ञान की खोजो को ही अपना आधार मानकर चलते हैं, इतिहास, समाजशास्त्र आदि के प्रामाणिक आधार पर अपने सिद्धान्त रखते हैं। अत. आज कल विज्ञान का विरोध बहुत बढ़ने लगा है इसके नीचे भी, जैसा कि हमने पहले देखा है वर्ग-स्वार्थ छिपा हुआ है। अत. विज्ञान के स्थान पर काल्पनिक अलौकिकतावाद का प्रचार तीव्र होता जा रहा है। कुछ दोनों का समन्वय आवश्यक मानते हैं। आर्थर कोइसलर जैसे मार्क्सवाद-विरोधी विद्वान रहस्यवादियों व योगियों को एक ओर तथा मार्क्सवादी क्रांतिकारियों को दूसरी ओर रखकर उनकी खूब खबर लेते हैं

❀ Truth, Pragmatisim claims, is what is valuable to the knower But what is most valuable to a capitalist knower is a successful lie, so, that lie is truth as long as he can get it believed (A text

परन्तु अन्त में दोनों के समन्वय की ही इच्छा प्रकट करते हैं।* इस प्रकार के समन्वयवादियों का एक मात्र पवित्र उद्देश्य मार्क्सवाद का विरोध है, अन्य कुछ नही। ज्ञान व भ्रम दोनों एक साथ नही रह सकते, अध-विश्वास व विज्ञान का समन्वय नहीं हो सकता। परन्तु वर्ग-स्वार्थ संसार में सबसे अधिक प्रवल आकर्षण होता है। जान कोइसलर की विचारधारा के पीछे भी समाजवादी शक्ति से उत्पन्न भय कार्य कर रहा है। इसी प्रकार का भय अरविन्द दर्शन के पीछे है अतः वहाँ भी समन्वय की पुकार बार-बार लगाई गई है। वस्तुतः यह समन्वयवाद एक छलना है, जनता की उद्‌बुद्ध चेतना के साथ विशुद्ध विद्रोह !

विज्ञान व अन्धविश्वास का समन्वय (Reconciliation) प्रस्तुत करने का चाव योरोप में भी वहुत बढ़ रहा है।× ऐसा माना जाता है कि विज्ञान तो केवल 'कैसे विकास होता है' इसे समझाता है। विज्ञान से 'क्यों विकास होता है' इसका उत्तर नहीं मिलता। इसका उत्तर केवल धर्म व दर्शन दे सकता है। विज्ञान का कोई उद्देश्य नही होता, धर्म जीवन का लक्ष्य निश्चित करता है, नैतिक उन्नति करता है, अतः दोनों का समन्वय आवश्यक है। दूसरे शब्दों मे भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का समन्वय अनिवार्य है। विज्ञान से नैतिकता का ह्रास हुआ है (जैसे नैतिकता के नाश का उत्तरदायित्व व्यवस्था पर विल्कुल नहीं है) अत दैवी सत्ताओं ईश्वर, आत्मा आदि में हमें विश्वास करना चाहिए, तभी युग को शान्ति व सुख मिल सकता है और ईश्वरादि का ज्ञान वुद्धि से नही, मस्तिष्क की विशेष शक्ति अन्तर्चेतना (Intuition) से ही सम्भव है।

वैज्ञानिक ही नही, साहित्यकारों मे भी वहुत से व्यक्ति भौतिकवाद व अध्यात्मवाद के समन्वय की चिन्ता करते हैं जैसे हमारे यहाँ दार्शनिकों में अरविन्द व कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त इस ओर अधिक प्रयत्नशील रहे हैं। टी० एस० इलियट, विले (Willey),

* Neither the Saint nor the revolutionary can save us, only the Synthesis of the two

× 'Science and faith'–John Baillie तथा Human Destiny–Lecomte du Nouy.

सी० एस० लेविस, डौरोथी सेयर्स आदि साहित्यिक इस दिशा मे उल्लेखनीय है। ये लोग कहते हैं कि १७वी शताब्दी में विज्ञान की उन्नति में बुद्धि व भावना में विरोध उत्पन्न हो गया, विज्ञान की उन्नति ने कविता व धर्म को समाप्त प्राय' करदिया। फलत' नैतिकता का नाश हो गया और संस्कृति सड़ने लगी। अत. वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ नैतिकता की उन्नति नहीं हो सकी। अत' बुद्धि के साथ-साथ मानव व अन्तर्चेतना (intuition) के विकास की भी आवश्यकता है, और इसके लिए धर्म व अध्यात्मवाद की आवश्यकता है।

परन्तु बुद्धि केवल विश्लेषण ही नही करती अपितु हमारे अनुभवों पर तटस्थ निर्णय भी देती है। भावनात्मक जगत की अन्धता पर बुद्धि ही अंकुश रखती है, विचार की निरपेक्षता पर बुद्धि ही रोक लगाती है अत उसे एक ओर रखकर, स्वतन्त्र भावना के जगत में ऊँची उड़ान भरने से ईश्वर-प्राप्ति शायद सम्भव हो जाए, पर साथ ही अन्धविश्वास का प्रवेश भी निश्चित रूप से हो जायगा और ऐसा हुआ भी है। बुद्धि व भावना के द्वन्द्व में विश्वास करने से अन्तत अन्धविश्वास की ही रक्षा होती है। अतः बुद्धि ही शुद्ध चिन्तन का आधार है इसी के बल पर हम शास्त्रों के पञ्चायती निर्णयों से बच सकते हैं। इसी के आधार पर आधुनिक मनोविज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, राजनीति, औषधि-विज्ञान आदि का विकास हुआ है। वस्तुत दु ख, अनैतिकता, अविश्वास का कारण विज्ञान नही, सच्ची वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव है। बुद्धि को एक ओर रख देने से, रहस्यवाद का ही सृजन होगा या असामाजिक विचारधाराओं का जन्म होगा यथा जीवनवाद (existencialism) जैसी विचारधाराओं में हुआ है। विज्ञान-विरोधी पादरीवाद को मानने वाले तथा धर्म, श्रद्धा, आस्था, प्रेम का प्रचार करने वालों ने ही हिरोशिमा पर परमाणु बम से मानवता का नाश किया था अत विज्ञान व बुद्धि को कोसना व्यर्थ है।

इलियट जैसे साहित्यिकों तथा बैली जैसे वैज्ञानिकों ने विज्ञान व आधुनिक भौतिकवाद को गलत रूप में उपस्थित किया है, उनके व्यापक क्षेत्र को, सीमित व सङ्कीर्ण रूप मे दिखाया है।

योरोप की तरह भारत में विज्ञान व धर्म, बुद्धि व भावना के द्वैत को मानने वाले आधुनिक विचारकों में अरविन्द का स्थान महत्त्वपूर्ण है और साहित्यिकों में पन्तजी का। ये विचारक, भौतिकवाद व अध्यात्म-

वाद का समन्वय प्रस्तुत करना चाहते हैं परन्तु जैसा ऊपर कहा गया कि यह दृष्टि ही गलत है। वस्तुतः भौतिकवाद सङ्कीर्ण नही है। १६ वीं शताब्दी के कुत्सित भौतिकवादियों की विचारधारा सङ्कीर्ण अवश्य थी, उसका स्वयं खण्डन हो चुका है परन्तु निरपेक्ष दृष्टि से समन्वय खोजने वालों को विराट व विस्मयकारी समन्वय की धुन लगी हुई है। हम नीयत की बात नही करते, वह अच्छी भी हो सकती है, परन्तु अनजाने ही विचारक किस प्रकार सामाजिक शक्तियों के विरोधी बन जाते हैं, अरविन्द व पन्त इसके उदाहरण हैं। जिन कल्पनाओं व अन्ध-विश्वासों पर उनके तर्क आधारित हैं, उनकी उपज विशेष परिस्थितियों में प्राचीन युगों में हो चुकी थी। युग-विशेष मे उत्पन्न शास्त्रों की मान्यताओं को ही प्रमाण मान कर अरविन्द व पन्त ने जिस रहस्यवाद का प्रचार किया है वह प्राचीन रहस्यवादी सम्प्रदायों का ही आधुनिक रूप है।

भारत में दार्शनिक धारणाओं का विकास भी इसी बात का साक्षी है कि दार्शनिकों की विभिन्न विचार-धाराओं पर सामाजिक परिस्थितियों का बराबर प्रभाव पड़ा है। जिन परिस्थितियों मे शंकर को होना चाहिये था, उन्ही परिस्थितियों में उन्होंने जन्म लिया है। उपनिषदों के ठीक पश्चात् शंकर का 'मायावाद' कभी उत्पन्न नही हो सकता था इसी प्रकार गौतम बुद्ध के ठीक पश्चात् शून्यवाद का जन्म असम्भव था, उसके लिए एक पृष्ठ भूमि की आवश्यकता थी, उसके प्रस्तुत हो जाने पर ही शून्यवाद का उदय हुआ और शून्यवाद के पश्चात् ही 'मायावाद' का उदय सम्भव हुआ। अत. दार्शनिकों का यह दृष्टिकोण कि विचार तो निरपेक्ष है, गलत है।*

हिन्दू दर्शनों में पूर्वागृह यह रहा है कि जो वेद-शास्त्रों ने कहा है, वही सही है। शास्त्र द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं की रक्षा के लिए ही सारी मेधा का व्यय किया गया है। जहाँ बुद्धि कार्य नही करती या उलझनें उत्पन्न होती है, वही वेद-शास्त्रों की साक्षी उपस्थित कर दी जाती है, इसीलिए तो शङ्कर जैसे दार्शनिक को भी योरोप के बहुत से विद्वान अधकचरा दार्शनिक मानते हैं। अत. दर्शन के दोनों दोष—

* विस्तृत विवेचन के लिए देखिए लेखक की "हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि"।

पूर्वाग्रह व सामयिकता भारतीय दर्शन मे भी सर्वत्र मिलते हैं।

भारतीय दर्शनों का स्रोत उपनिषद् है, षड्दर्शनों का भी वही स्रोत है। बौद्ध व जैन मतों पर भी उपनिषदों का प्रभाव मिलता है। उपनिषदे उस युग मे लिखी गई थी जब व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिद्धांत स्वीकृत हो गया था। श्रम-विभाजन हुए बहुत समय बीत चुका था। दास प्रथा का अस्तित्त्व था, उत्पादन के आधार निम्न वर्णों के लोग थे। जिनकी सख्या कम न थी। समाज का ढाँचा चरमरा कर टूट जाता यदि उपनिषदें समानता के सिद्धान्त की घोषणा न करती। पुरोहित वर्ग यज्ञ के विधि-विधान को अपनी जीविका का आधार बना कर उसी में डूब गया था। प्रवाहण जैवलि, अश्वपति कैकेय, जनक जैसे राजा यज्ञ के व्यय को व्यर्थ समझ कर स्वतन्त्र-दर्शन पद्धति का आविष्कार कर रहे थे। श्रम-विभाजन होने से जहाँ समाज का विकास हुआ वहाँ उत्पादक वर्ग के शोषण को शाश्वत बनाने के लिए 'कर्मवाद' जैसी विचारधारा की आवश्यकता थी। इस जन्म दु.ख किसी पूर्व जन्म के कुकर्मों का परिणाम है यह सिद्धांत समाज के उत्पादक वर्ग को सतोष देने के लिए आवश्यक था। उपनिषदों ने इनका आविष्कार किया और प्रथम क्षत्रिय दार्शनिकों तथा तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य, आरुणि, उद्दालक, श्वेतकेतु आदि ब्राह्मणों ने इसका प्रचार किया। परन्तु साथ ही समाज मे सतुलन के लिए तथा उसके अंतर्विरोधों को दबाने के लिए मौखिक समानता की घोषणा भी अनिवार्य थी। अत. उस युग के दार्शनिकों ने नासदीय सूक्त के सूक्ष्म ब्रह्म को पकड़ा जिसके सम्बन्ध मे वैदिक ऋषियों ने सकेत भर किये थे।* अत इसी सूक्ष्म आधारभूत एक चेतना के सम्बन्ध में खोज प्रारम्भ हुई और व्यक्तिगत जीवात्मा व विश्व मे व्याप्त महा चेतना की एकता घोषित की गई। दर्शन की उषा-वेला में उपनिषद् के विचारों की यह उड़ान उनकी महान मेधा की प्रतीक थी। उपनिषद्, का सारा जोर 'आत्मा' के अस्तित्व की सिद्धि तथा ब्रह्म व जीव की एकता पर है। जगत को कही मिथ्या तथा कहीं ब्रह्म का ही स्वरूप बताया गया। + आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। गीता कहती है कि वह श्रुति,

* एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिश्वान माहु.। ऋगवेद—१|१६४|४६

+ ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्या जगत। (ईश—१)

श्वपाक व ब्राह्मण सब में विद्यमान है। आत्मा की समानता का यह सिद्धान्त उस युग मे शोषित वर्गों की अस्तित्व-स्वीकृति का आधार था, उनमें भी ब्रह्म है यह मान लिया गया। समत्व बुद्धि भारत के सारे सामाजिक जीवन मे, विचार-क्षेत्र में ही सही, आज भी बराबर मिलती है। 'जब तक वर्ग-स्वार्थ पर कोई अँगुली नहीं रखता तब तक विचार क्षेत्र में समत्व का यह सिद्धान्त निश्चित रूप से समाज मे संतुलन लाता है। आज भी उपनिषत् के समत्व सिद्धान्त का यह रूप हमारे लिए सामाजिक बन सकता है।' विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि सुधारवादी विचारकों ने बराबर आत्मा की समानता पर जोर दिया है। जगत के मिथ्यात्व के सम्बन्ध मे उपनिषदों मे संकेत मिलते हैं परन्तु शङ्कर ने उसको दर्शन का मुख्य विषय बनाया। उपनिषद्, व शङ्कर के दर्शन में वस्तुतः आत्मा की समानता का सिद्धान्त अत्यधिक सामाजिक है परन्तु दास-प्रथा के ध्वंसावशेष के युग में समानता का सिद्धान्त जहाँ शूद्रों व कमकर वर्गों की मानसिक समानता को स्वीकार करता है वहाँ यह असम्भव था कि उन्हें व्यवहार के क्षेत्र में भी समानता मिल जाती फिर आत्मा के सिद्धान्त के साथ ही पुनर्जन्मवाद, कर्मवाद तथा परिष्कृत यज्ञवाद या पुरोहितों के स्थूल आचारवाद को अपना लिया गया। कर्म के न्यास में विश्वास करने वाले उपनिषद् के ऋषियों ने यज्ञ की स्थूलता की निन्दा करते हुये भी उसकी मानसिक व्याख्या की और इस प्रकार उपनिषद् का 'समत्व बुद्धि का सिद्धान्त' क्रांतिकारी न बनकर ब्राह्मणवादी आचारवाद के क्रोड़ मे ही परिसीमित कर दिया गया।

गीता में भी यज्ञ की निन्दा करते हुए मानसिक यज्ञ की प्रशंसा की गई और शूद्रों को भक्ति का अधिकार देते हुए भी अपने-अपने वर्णानुसार कार्य करने की ही प्रेरणा दी गई। उन परिस्थितियों में यही सम्भव था। यही कारण है कि बृहत्रयी का दर्शन अपने मूल स्वभाव की दृष्टि से यज्ञ-याग का घोर विरोधी बन कर भी, आत्मा की समानता की घोषणा करता हुआ भी, सन्तुलन न ला सका। एक ओर हिंसात्मक यज्ञ होते रहे, दूसरी ओर उपनिषद् के घुमक्कड़ सन्यासी आत्मा पर उपदेश देते रहे। व्यवहार से समता न आ सकने तथा उपनिषद् के ज्ञान का समाज की यथार्थ समस्याओं से कोई लगाव न देख कर समाज मे ब्राह्मण दर्शन के विरुद्ध बौद्ध व

जैन दर्शन उठ खड़े हुए जिन्होंने अपनी कल्पना की ऊँची उड़ानों को टालकर जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया और सभी वर्णों को धर्म-दीक्षा दी। हिंसा का विरोध किया, ब्राह्मणों की उच्चता को चुनौती दी। समाज में नये परिवर्तन प्रारम्भ हुए, गण व्यवस्था पुष्ट होती गई और ब्राह्मणवाद के समानान्तर क्षत्रियों का पौरोहित्य खड़ा हो गया। परन्तु इन दर्शनों ने भी उपनिषदों से तथा सांख्य दर्शन से प्रेरणा ली। संन्यास धर्म को स्वीकार किया जिसकी शरण लेने पर गणों के उच्चवर्गों के अत्याचारों से सामान्य जनता त्राण पाने लगी परन्तु उसमें भी वे ही लोग शामिल हो पाते थे जो कर्जदार नही थे, जो दास नहीं थे, जिनके ऊपर उच्चवर्ग का आर्थिक आभार न था। इसीलिए बौद्ध धर्म का नेतृत्व उच्च वर्ग के नेताओं के हाथ में रहा। संन्यास पर अधिक जोर देने के कारण भिक्षुओं के साथ भिक्षु-णियों के प्रवेश के कारण तथा राजाओं, श्रेष्ठियों आदि से गठबन्धन के के कारण यह धर्म भी एक पुरोहिती रूप धारण कर गया। एक ओर तन्त्र बढ़ा तो दूसरी ओर दार्शनिक उड़ानें प्रारम्भ हो गईं। सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारधारा विकसित हुई। जो दोष ब्राह्मणवादी चिन्तन में थे वे सब यहाँ भी आ गये और यह विचार यहाँ तक बढ़ा कि विज्ञान-वाद तथा शून्यवाद जैसे सम्प्रदाय स्थापित हुए जिनमे जगत की सत्ता का प्राय: निषेध कर दिया गया। जिस धर्म के प्रवर्तक ने व्यर्थ के वाद-विवाद से बचने के लिए उपदेश दिया था, सामाजिक दृष्टि से जीवन के सुधार पर जोर दिया था, जिसने मानवीय गुणों के विकास को ही मुख्य माना था, दार्शनिक वाद-विवाद को महत्त्व नही दिया था, उसी के अनुयायी नेताओं को चारों ओर 'शून्य' ही 'शून्य' दिखाई पड़ा और परिणाम यह हुआ कि सामाजिक दृष्टि से सोचने की अयोग्यता के कारण, ये सम्प्रदाय शून्य भित्ति पर चित्र बनाते रहे और व्यावहारिक जीवन में तन्त्र का प्रवेश हो गया। निरपेक्षतावाद का परिणाम वाममार्ग में दिखाई पड़ा।

मैंने कहा है कि जब विचारक विचार को निरपेक्ष समझ कर समाज से उसका सम्बन्ध न जोड़ कर स्वतन्त्र होकर सोचता है तो ऐसे ही सूक्ष्म, महान परन्तु अव्यावहारिक दर्शनों का उदय होता है। संसार के सारे प्रमुख दार्शनिक इस बात को मानते हैं कि संसार में दु:ख है, परन्तु उसके दूर करने के कारणों पर जब विचार करते है तो

सामाजिक दृष्टि से न सोच कर व्यक्तिगत चित्त-निरोध, तप, ध्यान, ईश्वर-भक्ति, पुनर्जन्मवाद, कर्मवाद आदि का उपदेश देने लगते हैं। व्यक्तिगत जीवन मे सन्तुलन लाने के लिए योगादि की आवश्यकता एक सीमा तक भले ही स्वीकृत हो, परन्तु सामाजिक दृष्टि से सोचने पर ही समाज का कल्याण सम्भव हो सकता है। भारतीय दार्शनिक ने इस दृष्टि से कभी नहीं सोचा और उसका कारण यह था कि एक बार सामन्तवादी व्यवस्था यहाँ आकर शताब्दियों के लिए स्थिर हो गई। त्रिकाल-द्रष्टा दार्शनिकों ने यह कभी नही सोचा कि मनुष्य के दु:ख का मुख्य कारण इस व्यवस्था के कारण है, अत' जब समाज की दुर्व्यवस्था के नाश की ओर उनका ध्यान न गया तो यही संभव था कि वे मनुष्य के भीतर ही उसके दुःखों का निदान खोजते। तब चिन्तन यों प्रारम्भ हुआ—'समाज में दुःख है, उस दु ख का कारण भी होगा, दुःख का कारण मनुष्य स्वयं है, उसके कार्यों का ही यह दण्ड हो सकता है, यदि वह अपने कर्म सुधार ले तो दुःख मिट जायगा, कर्म-सुधार के लिए साधना की आवश्यकता है और साधना के लिए ईश्वर की। यह सब ईश्वर की ही इच्छा है क्योंकि यहाँ कोई गरीब है कोई धनी, कोई मूर्ख है कोई विद्वान और कोई स्वस्थ है, कोई दुर्बल। यह विविधता उसी एक ब्रह्म की ही लीला है' आदि-आदि।

विचार की इस प्रक्रिया में दार्शनिक द्रष्टाओं का ध्यान समाज से हटता गया। अतः जहाँ वे व्यक्तिगत रूप से मानवीय सुधार के लिए अनेकों अच्छी बातें बताते हैं वही वे समाज में परिवर्तन के घोर विरोधी बन जाते हैं। व्यवस्था पर अँगुली न रख कर उस व्यवस्था को ही अधिक से अधिक उदार बनाने की अपील करते है जिस पर मदान्ध शासक वर्ग कभी ध्यान नही देता। यही नहीं अपने व्यक्तिगत तथा साम्प्रदायिक प्रभाव की वृद्धि के लिए उस शासक वर्ग से वे साँठ-गाँठ भी करते है और इसलिए सारे सम्प्रदायों मे एक द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। सामाजिक दु खों के निराकरण के लिए व्यक्तिगत उपायों की खोज में नये-नये विचारक आते जाते हैं और उसके पूर्ववर्ती सम्प्रदाय तो मिटते नही, नये-नये सम्प्रदाय और बनते जाते हैं। अत सत्य की पहचान और भी कठिन होती जाती है और समाज के दु:खों का वैज्ञानिक निदान न हो सकने के कारण उनके विनाश का तो प्रश्न ही नही उठता। व्यक्तिगत अमरता के लोभ में घोर वैयक्तिक साधनाओं

की भूलभुलैयों में पडकर देश की चेतना पर ये सम्प्रदाय भार बनते जाते हैं। भारतवर्ष में सम्प्रदायों के विकास की यही कहानी है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में ब्राह्मण चाणक्य ने गण-व्यवस्था का नाश कर, निरंकुश राज्य-सत्ता को पुन. स्थापित किया था। चन्द्रगुप्त ने बौद्धधर्म के विकास में बाधा तो नही डाली परन्तु ब्राह्मणवाद का राज्यसत्ता से सम्पर्क बढ़ता गया। अशोक-युग मे बौद्धिधर्म की चरम उन्नति हुई परन्तु उसके अन्तर्विरोध भी बराबर बढ रहे थे और विदेशी आक्रमणों के युग में प्रबल केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता का अनुभव ब्राह्मण बराबर कर रहे थे। परिणामतः शुङ्गवंश मे मौर्यों का पतन हुआ और शुङ्गों ने ब्राह्मणवादी यज्ञ-याग की प्रक्रिया को, जिसका अभिप्राय ही राज्य सत्ता का विस्तार था, स्वीकार किया और उसके पश्चात् विदेशी आक्रमणों का सामना करने वाले क्षत्रिय-वर्ग के साथ ब्राह्मणवाद ने समझौता कर साहित्य मे उसकी शक्ति, सुरक्षा के प्रति उसके उत्तरदायित्व, गो ब्राह्मण की रक्षा, उच्छृङ्खल-विलास के अधिकार तथा उसके निरंकुश शासन के गीत गाये।

ब्राह्मणवाद को विदेशी आक्रमणों के कारण संरक्षण मिलता रहा। हमें भूलना न चाहिए कि अपरिवर्तित सामन्तवादी व्यवस्था मे विदेशी आक्रमणों के समय सबल केन्द्रीय राज्य ही एक मात्र राजनैतिक समाधान था। अतः उस व्यवस्था के प्रति जनता की भावना में श्रद्धा उत्पन्न करना आवश्यक था। अवतारवाद का दर्शन ऐसे ही युगों में विकसित हो सकता था। बौद्धों व विदेशी आक्रमणों से ब्राह्मण-धर्म पर जो सङ्कट आते थे उसकी सुरक्षा का भार राजाओ पर था, यह ब्राह्मणों ने उन्हें बताया क्योंकि राजा जानते थे कि ब्राह्मण वर्ग उनकी सत्ता की दृढ़ता के लिए कितना आवश्यक था। जनता के भावनात्मक क्षेत्र का वही अधिपति था। अत अवतारवाद के दर्शन मे ब्रह्म अब निष्कल, निरीह न रह सकता था, वह धरा पर धर्म (ब्राह्मण-वाद) का विनाश देखकर राम का रूप धारण कर गो ब्राह्मण की रक्षार्थ शस्त्रधारण करता था और राजा (यथा गुप्त काल के सम्राट) उसी जगत के पालक विष्णु के ही अवतार थे।

औद्योगीकरण के अभाव मे स्थिर सामन्तवाद मे विदेशी आक्र-मणों के समय अवतारवादी दर्शन राष्ट्रीयता का स्वरूप पा गया था

जो हमें कालिदास के साहित्य में बराबर मिलता है साथ ही सबल राजा के सुशासन में विलासी साहित्य भी तैयार होता गया क्योंकि उसकी भी आवश्यकता थी। रक्षण व रंजन की भावनाएँ तब उच्च समाज के लिए आवश्यकताएँ थीं, ब्राह्मण इसे जानते थे। तीसरी ओर पुराणों ने जिस अवतारवाद का प्रचार किया उसमें एक ओर ब्राह्मण पौरोहित्य बौद्ध धर्म के समानान्तर अहिंसात्मक वैष्णवीय रूप में, जिसमे अहिंसात्मक यज्ञ होने लगे थे, पुनः प्रबल हो गया। अत जब वृहत्त्रयी के दर्शन को व पुराणों के अवतारवाद तथा पूजावाद को निरपेक्ष वैचारिक उपलब्धि मानकर आज किसी विचार-दर्शन में स्वीकार कर लिया जाता है तो विचारकों पर दया आती है।

ब्राह्मणों की बौद्धों पर विजय के पश्चात् बौद्धों ने अपने को परिस्थितियों के अनुसार बदलने का प्रयत्न किया। अवतारवाद उसमें भी आया, अवलोकतेश्वर की कल्पना हुई और तान्त्रिक साधना का विकास हुआ जो वाममार्ग और उसके पश्चात् अपने पवित्र रूप नाथ-पन्थ के रूप में तथा उसके भी बाद सन्तों के रूप मे ब्राह्मणवाद को सदा ललकारती रही, परन्तु घोर वैयक्तिक साधना में ही सीमित हो जाने के कारण उसका महत्त्व नगण्य हो गया। इसके साथ-साथ बौद्ध-धर्म में जो कुछ महान् था उसे प्रकारान्तर से अपना कर, उसे उपनिषदों की ही देन बताकर शङ्कर जैसे दार्शनिकों ने निरपेक्ष विचार-क्षेत्र में भी बौद्धों का दिवालियापन प्रकट कर दिया। वृहत्त्रयी की मायावादी व्याख्या में बौद्धधर्म की विचारधारा के सार को चुपचाप अपना कर शङ्कर ने बौद्धधर्म को निस्सार कर उखाड़ फेंका और अपनी सामयिक व नवीन व्याख्या का सम्बन्ध उपनिषदों से जोड़ा, इसके लिए उपनिषदों, गीता व वेदान्त सूत्रों की व्याख्या भी बदलनी थी। शङ्कर ने विद्वत्तापूर्वक यह कार्य किया और इस प्रकार उनका 'मायावाद' जोकि शून्यवाद से प्रभावित था, इस रूप मे स्वीकार कर लिया गया कि उपनिषदों, गीता व वेदान्तों में उसी की शिक्षा ऋषियों, कृष्ण तथा बादरायण ने दी है। इस प्रकार 'मायावाद' की विचारधारा ही सबसे अधिक सुसङ्गत, वैज्ञानिक व शास्त्रीय प्रतीत हुई और शुद्ध विचार के क्षेत्र में शङ्कर का स्थान अद्वितीय बन गया। उपनिषद् में जिस निरपेक्ष चिन्तन की परम्परा प्रारम्भ हुई, उसकी चरम परिणति नागार्जुन व शङ्कर मे दिखाई पड़ी। उसके पश्चात्

इस्लामी आक्रमणों के कारण आत्मरक्षा की प्रवृत्ति ने प्राचीन को ही सर्वश्रेष्ठ मान लिया। चिन्तन के क्षेत्र में या तो शङ्कर को दुहराया गया या उपनिषद् को आधार मान कर शङ्कर की आलोचना होती रही परन्तु उस मूल-प्रवृत्ति का खण्डन कभी नहीं किया गया कि उपनिषद् से आगे भी कोई सोच सकता है। अतः भारत में विचारक उपनिषदों के बाद विचार का पतन मानते हैं, विकास नही। जो ऋषियो ने कहा, वह अन्तिम था, उसके आगे कुछ कहना असम्भव है क्योंकि वे तत्त्वद्रष्टा थे। वे सर्वज्ञ थे, हमारा ज्ञान सीमित है, अत हमारी विचार-स्वतन्त्रता वही तक है जहाँ तक हम उनके विरुद्ध नही बोलते। यदि विरोध उपस्थित होता है तो श्रुति ही प्रमाण होगी। यह किसी ने नहीं सोचा कि उपनिषद् का चिन्तन भी एक विशेष परिस्थिति में उत्पन्न हुआ था, उसमें जहाँ समानता का सिद्धान्त श्रेष्ठ है, वही पुनर्जन्मवाद, ईश्वरवाद, कर्मवाद, सन्यासवाद आदि भी विचारणीय हैं।

बौद्धों से लड़ने के लिए विदेशी आक्रमणों के युग में अवतारवादी पुराणों का निर्माण होने लगा और प्राचीन भक्ति के सिद्धान्त का प्रचार चला, जिसमें निम्न जातियों को भी सुविधाएँ दे दी गई परन्तु मूल वर्ण-व्यवस्था की मान्यता अखण्ड रही। परिणाम यह हुआ कि रामानुज और बल्लभ जैसे महान दार्शनिकों ने पुराणों को भी अधिकारी ग्रन्थ मान लिया गया। वल्लभ तो स्पष्टत भागवत को बृहत्त्रयी के समान ही महान मानते थे। फलतः आत्मरक्षा के युगों में (११ वी शताब्दी से १६ वी शताब्दी तक) सभी प्राचीन ब्राह्मणवादी सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित कर लिया गया।

परस्पर विरोधी सम्प्रदाय-सिद्धांतों को पुराणों में भी मिला लिया गया था। ११ वी शताब्दी के पश्चात् तुलसी जैसे भक्तों ने उन्हें एक कर दिया। केवल उन्ही का विरोध किया गया जो इस समन्वित ब्राह्मणवाद का विरोध करते थे।

आत्म-रक्षण के युगों में प्राचीन के प्रति आस्था इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह भविष्य के लिए खतरनाक बन जाती है।

अँग्रेजों ने नयी सभ्यता का प्रसार किया अत अब आत्मरक्षण की भावना 'पुनरुत्थानवाद' के रूप मे आई। राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, रामकृष्ण, रामतीर्थ सभी पुनरुत्थानवादी थे। इन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि से प्राचीन की

व्याख्या की। पुराणों आदि की वैज्ञानिक युग में आलोचना भी हुई तथापि वेद व वेदान्त को अधिकारी ग्रन्थ माना गया और योरोप के महान् दार्शनिकों के सम्मुख उपनिषदों की धरोहर लेकर भारतीय लेखक उपस्थित होने लगे और अपनी प्राचीन संस्कृति के गीत गाने लगे। इससे राष्ट्रीयता पुष्ट हुई, स्वाभिमान जागा परन्तु साथ ही पुनरुत्थानवाद ने हमें प्राचीनतावादी बना दिया और प्राचीन से अलग हटकर हम सोचने में असमर्थ हो गये।

अँगरेजों के विरुद्ध देश में १८७५ ई० में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने Indian Association की स्थापना की थी। यही संस्था १८८३ में All India National Conference कहलाई। इसके भी नेता अपने दृष्टिकोण में पुनरुत्थानवादी थे। आगे कांग्रेस की स्थापना १८८५ ई० में हुई परन्तु उग्रवादियों का आन्दोलन भी साथ ही साथ चला। महाराष्ट्र में तिलक, बङ्गाल में विपिनचन्द्रपाल व अरविन्द तथा पञ्जाब में लाजपतराय इसके नेता थे। ये अराजकतावादी प्रवृत्तियों का पोषण और सञ्चालन करते थे। दार्शनिक दृष्टि से भारत की प्राचीन दार्शनिक धारा इनकी दृष्टि से महानतम थी, उसके आगे योरोप का दर्शन नगण्य था। अतः ये तिलक व अरविंद जैसे पुनरुत्थानवादी नेता केवल नेता ही नहीं अच्छे विचारक व लेखक भी थे।

आगे चल कर अरविन्द राष्ट्रीय संग्राम से कतरा कर व्यक्तिगत साधना में निमग्न हो गये। फलतः उपनिषदों की विचारधारा के क्रोड़ में ही उनका नूतन दर्शन विकसित हुआ। अरविन्द महान महत्त्वाकांक्षी विचारक थे। उन्होंने अपने जीवन में साम्यवादी विचार-धारा का अभ्युदय देखा था और उसकी बढ़ती हुई प्रगति का अध्ययन किया था। योरोप में पूँजीवाद से उत्पन्न वैभव व विलास के वातावरण में उत्पन्न सुखवाद से भी वे परिचित थे तथा योरोप के महान् दार्शनिकों के विचार तत्त्व का मंथन कर वे इस तत्त्व पर पहुँचे थे कि भारतीय वेदान्त ही अब तक विकसित विचारधारा में वैज्ञानिक है, अन्य सब दर्शन अपूर्ण व एकाङ्गी हैं।

मैंने ऐतिहासिक विकास को सक्षेप में स्पष्ट कर दिखाया है कि राजनैतिक कारणों से पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति के कारण अरविन्द का इस प्रकार सोचना ठीक ही था परन्तु अरविन्द ने बड़े ही अभिनिवेश से उपनिषदों के आधार पर अपने नूतन विचारों को इस

चातुर्य से रखा है कि मानों उनका दर्शन प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दे सकता है। वह सारे अन्तर्विरोधों को समाप्त कर देने में पूर्ण समर्थ है, वह जगत, जीव, ब्रह्म, व्यक्ति, समाज सभी की वैज्ञानिक विवेचना कर सकता है और अब तक के परस्पर विरोधी आदर्शवादी (अध्यात्मवादी) तथा भौतिकवादी विचारधाराओं का ऐसा समन्वय प्रस्तुत कर सकता है जो सन्तुलित, वैज्ञानिक ग्राह्य हो।

मैं संक्षेप में अरविन्द के दर्शन को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ क्योंकि हमारे विवेच्य कवि पंत जी ने उसी में विश्वास प्रकट कर मार्क्सवाद को सङ्कीर्ण बताया है और साथ ही मध्यकालीन अन्धविश्वास, मायावाद आदि की भी आलोचना की है।

अरविन्द समन्वय के समर्थक हैं, उनके समन्वय वेद व उपनिषद की विचारधारा को आधार मान कर चलता है। जहाँ वे प्रश्न का उत्तर नही दे पाते वहाँ वे शङ्कर की ही तरह श्रुतियों के उद्धरण देते हैं। वे शङ्कर के मायावाद व नागार्जुन के शून्यवाद तथा योरोप के आदर्शवाद, मनोविज्ञान तथा भौतिकवाद में से किसी को स्वीकार नही करते। मूलतः अरविन्द राष्ट्रीय सङ्घर्ष से विरत हो कर वैयक्तिक साधनाओं मे लीन रहने वाले रहस्यवादी योगी रहे हैं अतः उनके दर्शन मे भी, जैसा कि हम देखेंगे, घोर व्यक्तिवादी दृष्टि ही अन्त मे समर्थन पाती है। उनके दर्शन की नवीनताओं का आधार यौगिक प्रक्रिया से, उन्नत अन्तर्चेतना के धरातल पर स्वयं उदित होने वाला ज्ञान है, जिसके बल पर उन्होंने व्यापक समन्वय व नवीन चेतना का उपदेश दिया है और ऐसी भव्य मनोहर कल्पनाएँ की हैं जो प्राचीन रहस्यवादियों की ही परम्पराओं मे हैं। इतिहास गवाह है कि रहस्यवाद से व्यक्तिगत अमरत्व की प्राप्ति चाहे होती हो, या न होती हो परन्तु सामाजिक-मुक्ति कभी सम्भव नही हुई। विदेशी आक्रमणों के समय हमारे योगी, पुजारी, रहस्यवादी, पण्डे व पुरोहित एक ही पलायनवादी वर्ग में खड़े होने वाले साधक रहे हैं। उन्होंने सूक्ष्म व निरपेक्ष विचारधारा को ही प्रश्रय दिया है परन्तु उनमें जो सामाजिक दृष्टि से कुछ अधिक सचेष्ट रहे हैं उनमें बहुत कुछ उपयोगी तत्त्व भी हैं जिन पर हम अरविन्द के दर्शन को पाठकों के सम्मुख रखने के पश्चात् विचार करेंगे।

अरविन्द-दर्शन



वर्तमान सभ्यता ने बाह्य-प्रकृति पर अद्भुत विजय प्राप्त की है अतः वह केवल बाह्य-सङ्घर्ष को ही मुख्य मानती है। परन्तु प्राचीन-युग के तत्त्व-द्रष्टाओं ने अमरता प्राप्ति के लिए ईश्वर की ओर अपनी चेतना को मोड़ने लिए कहा था। नवीन सभ्यता इस अमरता को स्वीकार नही करती। वह बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बताती है। इसके लिए नवीन सभ्यता विकासवाद में विश्वास करती है। विकासवाद के अनुसार प्राण-सत्ता (Life) जड़तत्त्व के के माध्यम से विकसित होती है, निम्न प्रकार के जीव प्रथम उत्पन्न हुए, तत्पश्चात् वातावरण के प्रभाव के कारण अनेक उच्चतर जीवों ने विकास किया। परन्तु प्रश्न यह है कि अन्ततः प्राण-सत्ता कहाँ से आती है? वह जड़तत्त्व (Matter) में क्यों प्रवेश करती है? इसका उत्तर हमें विकासवाद से नहीं मिलता।

इसका उत्तर हमें तभी मिल सकता है जब हम भारतीय वेदान्त को स्वीकार कर लें कि प्राण-सत्ता में ही जड़ तत्त्व सम्मिलित है। प्राण सत्ता (Life) चेतना (Consciousness) का ही आवृत्त रूप है अर्थात् मूल-चेतना (ब्रह्म) ही प्राण-सत्ता (Life) का स्वरूप स्वेच्छा से धारण कर लेती है। यदि हम इसे स्वीकार कर ले तो हम यह स्वतः स्वीकार कर लेंगे कि मन (Mind) व बुद्धि के स्तर पर जो कार्य हमने किये हैं—यथा हमने बुद्धि से अनेक वैज्ञानिक आविष्कार कर लिए हैं, प्रकृति पर विजय प्राप्त कर मनुष्य ने उसे वश में कर लिया है, हवा, पानी, आकाश पर हमारा अधिकार हो गया है, हम कृत्रिम वर्षा करा सकते हैं, बादलों को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं, कम से कम समय में अधिक से अधिक काम मशीनों द्वारा कर सकते हैं, लड़ते समय कम से कम समय में अधिक से अधिक जन-

समूह का नाश कर सकते हैं आदि-आदि—वे सारे कार्य मूल चेतना द्वारा ही हो रहे हैं क्योंकि मूल चेतना ही स्वेच्छा से मन व बुद्धि का रूप धारण करती है।

तब हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि मन या मस्तिष्क से भी ऊपर चेतना के स्तर हैं। आन्तरिक शक्ति के बल पर हम उन स्तरों तक पहुँच सकते हैं। अत मन का धरातल निम्न धरातल के रूप में रह जाता है, और मन से ऊपर के स्तरों पर पहुँचकर हम आन्तरिक जगत में, बाह्य-जगत की तरह ही अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान, वशीकरण, तथा मिस्मेरेजम आदि ने इस ओर संकेत किये हैं परन्तु इस दिशा में बढ़ना अवैज्ञानिक माना जाता है, जहाँ वस्तुत. आनन्द के अखण्ड स्रोत छिपे हुए हैं। बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर के भी मनुष्य आज सुखी नही है, ईर्ष्या, द्वेष, गला-काट प्रतियोगिता, आर्थिक सङ्घर्ष, युद्ध, महामारी, अकाल, बेकारी, षड्‌यन्त्रों आदि में फँस कर आज का वैज्ञानिक जगत त्राहि-त्राहि कर रहा है। विज्ञान के आविष्कारों ने तो मनुष्य के सर्वथा विनाश की भी घोषणा की है, अत' मनुष्य का उद्देश्य केवल मन (Mind) तक ही रुक जाना नही है अपितु उससे उच्चस्तरों की ओर बढ़ना ही इसका उद्देश्य है, यही 'नवीन मानवतावाद' है। हमने मन (Mind) के धरातल पर रह कर बुद्धि से जो विजय की है वह निम्नकोटि की है, उसमें द्वन्द्व, पराभव, प्रतियोगिता, सङ्घर्ष आदि-आदि तत्त्व हैं परन्तु मन के ऊपर के स्तरों की खोज यदि हम करें तो हमें विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति हो सकती है जिसमें द्वन्द्व-रहित आनन्द मिल सकता है।

वाह्य भौतिक-विज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य की अन्त-रात्मा से जो आवाज जब-तब सुनाई पड़ती है, जो आध्यात्मिक भूख हम में पैदा होती है, उसको कुचल कर हम केवल रोजी, रोटी की प्राप्ति को ही सब कुछ समझ लेते हैं। यह इसलिए होता है कि हम मन के स्तर पर ही रुक जाना चाहते हैं, आगे नही बढ़ना चाहते। परि-णामत मन के वन्धन में बँधी हुई हमारी चेतना छटपटाती है और उससे मुक्ति की आवाज जब-तब निकलती है, ऐसे क्षणों में हमें अर्थ-काम के सभी साधनों के प्राप्त रहने पर भी सन्तोष नहीं होता, हम कुछ और भी उच्च वस्तु पाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में मानव की अन्तर्चेतना यदि मन तक न रुक कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करती

है, तो साधना करते-करते अज्ञान के पर्दे टूटने लगते हैं और चेतना के उच्चतर धरातलों तक पहुँच हो जाती है। परिणामत उस समय विशुद्ध आनन्द की प्राप्ति होने लगती है।

इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते मानवीय आत्मा स्वतन्त्र हो जाती है और वह उस आनन्द का साक्षात्कार करती है, जो इस विश्व में व्याप्त है, जिसे ब्रह्म कहते हैं।

परन्तु आज का भौतिकवादी युग इसे नहीं स्वीकार करता और यह उसकी जड़ता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय ज्ञान से इस तत्त्व को नहीं समझा जा सकता। आन्तरिक चेतना के उच्चतर स्तरों को हम अन्तर्चेतना (Intuition) से ही समझ सकते हैं और यह 'इन्टयूशन' हमारे भीतर अवस्थित है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता क्योंकि जब तब हम उसका अनुभव बराबर करते हैं। इसी शक्ति से हम ब्रह्म को पा सकते हैं, बन्धनों से छुटकारा पा सकते हैं। अज्ञात सत्ता की ओर बढ़ने की यह शाश्वत भूख ही हमारे सारे धर्मों की साधनाओं का आधार है। परन्तु इस आन्तरिक भूख के कारण जब मनुष्य जल्दबाजी में कोई समाधान खोजने का प्रयत्न करता है तो नये-नये धर्म, साधना-सम्प्रदाय, वाद-विवाद प्रस्तुत हो जाते हैं, परन्तु शीघ्रता में बने हुए ये सम्प्रदाय पुन. उस भूख को सन्तुष्ट नहीं कर पाते तो पुनः नये-नये सम्प्रदाय बनते जाते हैं और इस प्रकार अनेक तर्क-वितर्कों, सम्प्रदायों का समूह खड़ा हो जाता है और तब सामान्य मानव के लिए उन्हें एक ओर हटाकर, या उनसे ऊपर उठकर सत्य की ओर बढ़ना कठिन हो जाता है।

आन्तरिक जिज्ञासा तब तक सन्तुष्ट नहीं हो सकती, जब तक हम ऐसा समाधान नहीं पा जाते जिससे आन्तरिक व बाह्य सारी समस्याएँ हल नहीं हो जाती. जब ऐसी विचारधारा नहीं मिलती और जल्दबाज सम्प्रदाय संदेहवादी, अवैज्ञानिक विचार-प्रणाली अपना लेते हैं तो मूल समस्याओं को, जो हठ पूर्वक बार-बार सामने आती हैं, एक ओर फेंक देने की प्रवृत्ति जग जाती है। अतः या तो विचार ऐसा हो जो बुद्धि को सन्तुष्ट कर सभी शङ्काओं का का समाधान प्रस्तुत करदे, अन्यथा प्रतिक्रिया स्वरूप ऐसा विचार उत्पन्न होगा जिससे अनास्थावाद बढेगा तथा साथ ही जल्दबाजी

करने पर अनेक रहस्यवादी सम्प्रदायों की उत्पत्ति होगी और अन्ध-विश्वास बढ़ता जायगा। अनास्थावाद का सारा दोष उस विचारधारा पर है जो बुद्धि को सन्तुष्ट न कर सत्य की पहचान में जल्दबाजी करती है। मध्यकालीन विचारधारा का यही स्वभाव रहा है। यह कमी अरविन्द के दर्शन में नहीं है। केवल वही वैज्ञानिक दर्शन है।

अतिवादी प्रवृत्तियाँ—तैत्तरीय उपनिषद् में कहा गया है यह जड़ जगत ब्रह्म ही है†। यह वाह्य भौतिक जगत मूल चेतना का शरीर ही है। जड़ तत्त्व (Matter) तथा चेतना (Consciousness) इस लिए विरोधी तत्त्व जान पड़ते हैं क्योंकि हम मूल चेतना तथा अन्तिम जड़ तत्त्व (Matter) के बीच में अनेक स्तरों को नही मानते। मूल चेतना का नाम ही ब्रह्म है, उसने ही स्वेच्छा से जड़ तत्त्व के रूप में अपने आप को अभिव्यक्त किया है। अतः मूल चेतना व जड तत्त्व में विरोध नही हैं। जड-तत्त्व चेतना का ही एक रूप है। इन दोनों के बीच अनेक स्तर हैं यदि हम उन्हें स्वीकार नही करते तो चेतना व जड़ तत्त्व का द्वन्द्व हमारे सम्मुख खड़ा हो जाता है। अनेक प्रश्न पैदा होते हैं, तब हम या तो चेतना की ही सत्ता स्वीकार करते हैं, और जड़ का निषेध कर देते हैं जैसा कि शङ्कराचार्य ने किया था, या भौतिक वादियों की तरह, कहना चाहिए मार्क्सवादियों की तरह, जड़-तत्त्व को ही मुख्य मानने लगते हैं और चेतना (Consciousness) को उसी का गुणात्मक विकास मानने लगते हैं। प्रथम, चेतना पर ही बल देता है, जड जगत की सत्ता स्वीकार नही करता। दूसरा, जडतत्त्व को ही मुख्य मानता है, चेतना को गौण वस्तु बना देता है। ये अति-वादी प्रवृत्तियाँ हैं। न शङ्कर का 'मायावाद' सही है, न मार्क्सवादियों का जड़वाद। क्योंकि दोनों ही जड-चेतन की समस्या को वैज्ञानिक दृष्टि से नही सुलझा सके।

इसका समाधान यही है कि हम यह स्वीकार करलें जैसा उपनिषदों में कहा गया है कि जड़तत्त्व चेतना का ही विकसित रूप है और मूल चेतना व जड़तत्त्व के रूप मे अनेक सोपान हैं।

परन्तु यदि हम इसे स्वीकार नहीं करते तो अतिवादी प्रवृत्तियाँ बराबर बढ़ती जायेंगी, कभी कोई सर्वमान्य सिद्धांत विकसित न होगा।

† Matter is also Brahman,—तैत्तिरीय उपनिषद् ३–१–२

इस संघर्ष में मायावाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद जैसे घोर व्यक्तिवादी दर्शन उत्पन्न हुए हैं, दूसरी ओर मार्क्सवादियों ने बड़ी सुविधा से चेतना को गौण स्थान देकर उन सारे प्रश्नों से हमारा ध्यान अलग कर लिया है, जिनका उत्तर मिलना आवश्यक है। मार्क्सवादी आगे सोचने से इन्कार करता है, एक दृष्टि से वह भी अद्वैतवादी ही है क्योंकि वह ज्ञात जगत के विकास के मूल में एक ही अज्ञात तत्त्व 'मैटर' को उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार सांख्य या वेदान्त जगत के मूल में पुरुष या आत्मा को मानते हैं। मार्क्सवादी चेतना से इन्कार कर अपना कार्य सहज और सुविधा जनक कर लेते हैं परन्तु यह केवल सामयिक सफलता है। मार्क्सवाद मनुष्य की आंतरिक शाश्वत भूख को सदा के लिए नहीं मिटा सकता, वह कुछ समय के लिए खोज की प्रवृत्ति को भले ही सीमित करले पर अंततः उसका विकास अवश्य होगा, केवल एन्द्रिय-ज्ञान तक मनुष्य अपने को अधिक समय तक सीमित नहीं रख सकता*।

परन्तु इस प्रकार के प्रयत्नों से समाधान सम्भव नहीं है। जड़ व चेतन के विरोध को सच्चा विरोध समझ कर शङ्कर, नागार्जुन, मार्क्स आदि ने समस्या को उलझा दिया है। स्वयं शङ्कराचार्य ने उपनिषदों का अर्थ अपनी दृष्टि से अपने गलत सिद्धान्त के समर्थन में किया है। उपनिषद् स्पष्ट कहती है कि जड़त्व भी ब्रह्म ही है। अत

*The materialist has an easier field, it is possible for him by denying spirit to arrive at a more readily convincing simplicity of statement, a real Monism, the Monism of Matter or else of force. But in this regidity of statement, it is impossible for him to persist permanently He too ends by positing an unknowable as inert, as remote from the known universe, as the passive 'Purusha' or the silent 'Atman.' It serves no purpose but to put off by a vague concession the inexorable demands of thought or to stand as an excuse for refusing to extend the limits of enquiry

जड़ व चेतन का विरोध केवल प्रतीत होने वाला है, वह सच्चा विरोध नहीं है।

परन्तु प्रश्न यह है कि ये दोनों अतिवाद यदि अनावश्यक और हानिकर थे तो इनका उदय कैसे हुआ? इसका उत्तर अरविन्द इस प्रकार देते हैं कि चेतना जब अपने को भौतिक रूप में विकसित करती है तो उसका संतुलन नष्ट हो जाता है। भौतिक वन्धनों के लिये चेतना ऊर्ध्व दिशा की ओर मन (Mind) से ऊपर की दिशा में वढ़ती है। मार्क्सवादी मन के धरातल से ऊपर नही जाना चाहते जबकि मायावादी चेतना की अन्तिम पहुँच के प्रयत्न में वाह्य जगत का निषेध करने लगते है क्योंकि उन उच्च स्थितियों में जगत पीछे छूट जाता है। सन्तुलन के लिये ये दोनों अतिवाद आवश्यक थे क्योंकि सन्तुलन का प्रश्न तभी आता है जबकि चेतना परस्पर विरोधी तत्त्वों पर स्थिर हो जाती है।❀ जब तक व्यक्ति गलत दिशा में चलते-चलते अन्तिम छोर तक नही पहुँच जाता तव तक समन्वय की सच्ची प्यास नही जगती। अत मायावाद व मार्क्सवाद दोनों ही आवश्यक थे, दोनों में मनुष्य ने अनुभव किया कि ये अतिवाद हैं अत अब सन्तुलन व समन्वय की सच्ची प्यास उत्पन्न हो गई है। भविष्य मे इसी समन्वित चेतना का युग आयेगा। हमारी अन्तरात्मा ने इन दोनों अतिवादों को अस्वीकार कर दिया है।

भारत व योरोप दोनों स्थानो पर आध्यात्मवादी व भौतिकवादी अपने-अपने मतों को ही बुद्धि-सङ्गत बताने का प्रयत्न करते रहे हैं। भारत मे आध्यात्म पर इतना अधिक जोर दिया गया है कि सामान्य सामाजिक जीवन का पतन हुआ, सामाजिक उन्नति की ओर ध्यान ही नहीं गया और योरोप मे अर्थ व काम के प्रति इतनी अधिक प्यास वढ़ी कि रोजी व रोटी को ही सव कुछ मान लिया गया और आध्यात्मिक भूख को कुचल दिया गया।

इसलिए अब संसार की चेतना समन्वय की ओर मुड़ना

❀ Either spirit or matter can give it for a time some sense of ultimate reality, It must, therefore, go to the extremes before it can return faithfully upon the whole

चाहती है जिसमें न भौतिकता का निषेध होगा न आध्यात्मिक विकास की उपेक्षा होगी। भौतिकवादियों का सबसे बड़ा नारा यह है कि ज्ञान की साधन केवल इंद्रियाँ व मस्तिष्क है, उससे परे क्या है, यह ज्ञेय नही है और जो ज्ञेय नही है उसे जानने का प्रयत्न करना, व्यर्थ समय नष्ट करना है तथा अंध-विश्वास को प्रश्रय देना है परन्तु यह पक्षपाती मत है इसमें आंतरिक साक्षी का निषेध कर दिया जाता है जो अज्ञेय सत्ता की सिद्धि के लिए विकल रहता है परन्तु भौतिकवाद ने बड़ा काम किया है, उसने चिन्तन के क्षेत्र मे उन सब मध्यकालीन जल्दबाज रहस्यवादियों का खंडन कर दिया है जो अज्ञेय तत्त्व की खोज मे रत रहकर भौतिकता से इन्कार करते हैं, इसने अनेक नए आविष्कार किए हैं अत. इसकी देन को स्वीकार करना चाहिए। परन्तु साथ ही यह अनुभव को सीमित कर देता है, मस्तिष्क के ऊपर यह ऊर्ध्व-चेतना की ओर नही जाने देता, यह भूल है।

किन्तु प्रत्येक भूल में अर्द्धसत्य होता है।❀ यदि ब्रह्म बुद्धि से नहीं जाना जा सकता तो क्या किसी भी शक्ति से नही जाना जा सकता? अरविन्द के अनुसार ब्रह्म बुद्धि से अगम्य है, यह मार्क्सवादियों का मत सही है, परन्तु वह चेतना के उच्च प्रयत्न द्वारा जा सकता है, अंतर्चेतना उसके जानने का माध्यम है। अत. इन्द्रिय ज्ञान पर न रुककर जिस प्रकार बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान तक हम पहुँचते हैं, उसी प्रकार हम बुद्धि के आगे भी जा सकते हैं। और ऐसा करने पर हम उस एक चेतन तत्त्व तक पहुँच सकते हैं जो इस जगत के रूप में व्यक्त हो रहा है, जिस एकात्मक सत्ता का वर्णन उपनिषदों में किया गया है, जो अवाङ्‌-मनस्-गोचर है, जो अव्यक्त है, सर्व-व्यापक, अकल, अरूप, अज और नित्य सत्ता है।

अरविन्द उपनिषदों में विश्वास करते हैं। वे उपनिषदों के आधार पर विकसित वेदान्त की शाखाओं—मायावाद, विशिष्टाद्वैत-वाद अचिन्त्यभेदाभेदवाद, शुद्धाद्वैतवाद आदि में विश्वास नही करते। उनके अनुसार इनके प्रवर्तकों ने उपनिषदों के मनमाने अर्थ कर अपनी मनमानी धारणाओं का समर्थन किया है। शङ्कर ने जगत को

❀ "Error is realy a half truth, that stumbles because of its limitations.

मिथ्या बताया है, और उपनिषदों मे यह मिथ्यात्व खोज निकाला है, जो गलत है।

उपनिषदें जगत को सत्य मानती है, वह ब्रह्म का व्यक्त रूप है। अत. अरविन्द के अनुसार शङ्कराचार्य का मत अतिवाद से युक्त है।

'जड़-तत्त्व' किसी अज्ञात सत्ता की उपज है। अज्ञान के कारण प्राण-सत्ता (Life) व जड़-तत्त्व (Matter) में परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। हम मन, जीवन व जगत मे सामञ्जस्य नही बिठा पाते। वस्तुतः इनमें एक ही सत्ता ने अपने को इन तीन रूपों में व्यक्त किया है।❋ ब्रह्म का कार्य है आत्माभिव्यक्ति।

ब्रह्म ने अपने को जगत के रूप में विकसित किया है और वह जीवों के अन्तर मे स्वय साक्षी रूप मे स्थित है, इसीलिये हमारे हृदय में अमरता की सच्ची प्यास है। यही शक्ति मनुष्य को परिस्थितियों का शासक बनाने मे सक्षम बनाती है। चूँकि इस प्रकार की प्यास प्रत्येक व्यक्ति मे सुप्त या जागृत अवस्था मे रहती है अत इसे 'सामूहिक सकल्प' (Collective will of mankind) समझना चाहिये जो व्यक्ति के माध्यम से विश्व मे कार्य करता है। यही सामूहिक संकल्प नारायण के नाम से विश्व मे कार्य करता है। 'विश्वमानव' भी इसी का नाम है। यही इस विश्व की पृष्ठ भूमि मे कार्य करता है, इसके आगे विश्व एक लघु-चित्र के समान प्रतीत होता है।

चेतन व अचेतन का सम्बन्ध—आत्मा की एकता, अमरता व अवाङ्ग-मनस-गोचरता उपनिषदों मे वर्णित है। जब इस आत्मा की ओर मन बढ़ता है तो व्यक्ति आत्मोन्मुख हो जाता है और इस स्थिति मे जगत की अनित्यता दृष्टिगोचर होने लगती है। फलतः साधक जगत के मिथ्यात्व के प्रदर्शन मे लग जाता है। सहस्रों वर्षों से यही समझा जाता रहा है कि जगत माया है। माया न सत् है न असत्। सत् वह तत्त्व है जो त्रिकालाबाधित हो, ऐसा तत्त्व ब्रह्म ही हो सकता है। जगत ऐसा सत् तत्त्व नही है परन्तु वह असत् भी नही है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है अत वह न सत् है और न असत् (रज्जु

❋Mind, life and matter are one energy triply ormulated the triple world of vedic seers. (The Life fDivine)

में सर्प के समान) भ्रान्त-प्रतीति के समान उसकी सत्ता है, जिसे अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। यह दृष्टिकोण गलत है, इस पर बौद्ध प्रभाव है।

बौद्ध-धर्म के पूर्व जगत को माया नहीं माना जाता था। बौद्ध-धर्म ने ही संतुलन बिगाड़ दिया और तब से जगत को स्वप्नवत् माना जाने लगा। जगत के विरुद्ध आत्मवाद की प्रतिक्रिया ने जगत की सत्ता को चुनौती दी और तब से सब केवल आत्मा को ही सब कुछ मानने लगे, जगत का निषेध कर दिया गया।‡

प्राचीन आर्य दार्शनिक जगत को ब्रह्म का ही रूप मानते थे बौद्धधर्म के प्रभाव से इसे दुःखमय, भ्रान्तिमय माना गया। कहा गया कि यहाँ सुख नही मिल सकता, संन्यास अनिवार्य है, अन्यथा इस नर्क मे रह कर, संसार के सुख भोग कर, अमरता असम्भव है। न केवल शङ्कर ने अपितु शङ्कर के पश्चात् रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि दार्शनिकों तथा उनके अनुयायियों भक्त कवियों ने भी इस संसार से परे किसी गोलोक, वृन्दावन, ब्रह्मलोक आदि मे ही पूर्ण आनन्द की प्राप्ति सम्भव बताई। जगत की ओर ध्यान देना बन्द कर दिया गया। दूर वैकुण्ठ लोक में नारायण के साथ लीला करने के लिए भक्त विकल हो उठे। जगत का महत्त्व ही नही रहा।

किन्तु हम पूर्ण दृष्टि चाहते हैं। हम जानते हैं कि ब्रह्म व आत्मा की एकता के सिद्धान्त को, उपनिषदों के एक अन्य महान सिद्धान्त 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को साथ रख कर ठीक ढङ्ग से अध्ययन नहीं किया गया, इसीलिए शङ्कर आदि को भ्रान्तियाँ हुईं। आत्मा का ब्रह्म की ओर उन्नयन तो बहुत बताया गया परन्तु ब्रह्म किस प्रकार इस जगत के रूप मे व्यक्त हुआ यह न समझाकर सहसा जगत को असत् घोषित कर दिया गया।§

‡ In this revolt of spirit against matter that for two thousand years, since Buddhism, disturbed the ballance of the old Aryan world, has dominated increasingly the Idian mind.

§ We perceive that in the Indian ascetic ideal the great vedantic formula 'One without a

वस्तुतः जड़ व चेतन एक दूसरे के पूरक हैं। अभिव्यक्ति की पूर्णता तभी समझाई जा सकती है जब हम दोनों को एक सत्ता के दो रूप स्वीकार कर लें। तैत्तरीय उपनिषद कहती है कि असत् से सत् की उत्पत्ति हुई तो यहाँ शब्दों के प्रयोग मे सावधानी की आवश्यकता होगी। असत् का अर्थ सत्ता का अभाव नही है अपितु असत् से सत की उत्पत्ति का अर्थ यह है कि हम 'असत्' शब्द का प्रयोग कर उस काल के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं जब कि देश व काल की उत्पत्ति नहीं हुई थी। जिस प्रकार मौन की अवस्था से क्रिया उत्पन्न होती है उसी प्रकार असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। अतः जाग्रत आत्मा को एक ही समय में जड़ व चेतन दोनों अविरोधी रूप प्रतीत हो सकते हैं।

यदि हम इस समन्वय को स्वीकार कर ले तो हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि जब आत्मा, ब्रह्म में मिलने के लिए प्रयत्न करेगी तो प्रतीयमान विरोध शान्त हो जायेंगे। इसी स्थिति को जिसमें इच्छा, द्वन्द्व, विरोध आदि नही रहते, बुद्ध ने 'निर्वाण' नाम दिया था और हम इसे मुक्ति की अवस्था मानते हैं। अत' हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि जगत सत्य है। परन्तु मायावादी इसे नही मानते। अरविन्द कहते हैं कि यदि सुवर्ण सत्य है तो उससे निर्मित आभूषण असत्य कैसे होंगे ?

जिस प्रकार 'असत्' शब्द का अर्थ अभाव नही है उसी प्रकार स्वप्न, मृगतृष्णा आदि का जगत के सम्बन्ध में प्रयोग करने पर हमें इनके अर्थों के सम्बन्ध मे सावधान रहना चाहिए। सृष्टि केवल विवर्त मात्र नही है, वह ब्रह्म का ही एक रूप है। ब्रह्म की सत्ता सिद्ध करने के लिए जड़-जगत की सत्ता का निषेध आवश्यक नही है। समन्वित दृष्टि के अभाव में हम एकाङ्गी पक्ष स्वीकार कर लेते हैं और उसी के मण्डन मे सारी शक्ति लगा देते हैं।

जीव के पास कुछ शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा वह उस अज्ञात सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रुतियों ने इसीलिए अवाङ्ग-मनस-

---

Second' has not been read sufficiently in the light of that other formula equally imperative 'All that is Brahman'

गोचर ब्रह्म का वर्णन भावात्मक रूप में भी किया है और उसे 'सच्चिदानन्द' कहा है। वेद जानता था कि उस अज्ञात सत्ता के लिए "नेति-नेति" शब्द ही ठीक है, तथापि साधना की सुलभता के लिए उसने ब्रह्म को 'भावात्मक' रूप दिया।

परन्तु बौद्धों ने सत्ता के भावात्मक रूप को स्वीकार नही किया। उन्होंने अभावात्मक रूपमें उसका वर्णन किया। उपनिषदों ने सत् असत् को विरोधी नहीं माना। विद्या व अविद्या दोनों को ही स्वीकार किया। अन्धकार न होकर यदि प्रकाश ही हो तो हम प्रकाश को देख नही सकते, हमारे नेत्र चकाचौंध मे पड़कर प्रकाश-दर्शन में असमर्थ हो जाएँगे। अतः प्रकाश के साथ अन्धकार की भी आवश्यकता है, उसी की सहायता से हम प्रकाश का अनुभव प्रारम्भ करते हैं।

प्राचीन ऋषि ज्ञान की सीमाओं से परिचित थे। वे उन स्थानों से परिचित थे जहाँ से ऊर्ध्व-मुखता प्रारम्भ होती है। अधैर्य तो बाद के विचारकों मे आया, जिन्होंने जल्दी ही आदि सत्ता से मिलना चाहा और अनेकात्मक जगत का खण्डन कर दिया। अतः मनुष्य का उद्देश्य यह है कि वह जीवन में उसी देवत्व को उतारे जिसका वह अंश है।* जगत के माध्यम से ही ऐसा हो सकता है, उसके अनुभवों से बचकर, मिथ्या समझकर उसे त्याग कर, साधना असम्भव है। अतः जब असत् के माध्यम से सत् की प्राप्ति होगी तो जैसे ब्रह्म स्वयं अपने से परिचित हो जायगा, और यही ब्रह्म की इच्छा भी है। अरविन्द ने इसको स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि व्यक्तिगत आत्मा को विश्वात्मा से परिचित होना चाहिए क्योंकि यह भी ब्रह्म की ही इच्छा है, इस

* Life exists in Brahman in order to discover Brahman in itself. Therefore man's importance in the world is, that he gives to it that development of consciousness in which its transfiguration, by a perfect self-discovery, becomes possible. To fulfill god in life, is man's manhood. He starts from the animal vitality and its activities, but a divine existence is his objective (Divine Life)

क्रिया के द्वारा ब्रह्म स्वयं अपने आप से परिचित होता है।❀ यही वेदान्त का मुख्य विषय है।

विश्वात्मा जगत व आत्मा में उतरता है और इन्हीं के माध्यम से वह प्राप्त किया जाता है। ब्रह्म जब जगत व आत्मा के रूप में उतरता है तो इस गति को निम्नगति (Descent) कहते हैं। इसमें अनेक सोपान हैं जो विश्वात्मा पर आवरण बनते जाते हैं, साधना की स्थिति में ये सोपान या आवरण साधना के सहायक भी हो जाते हैं अन्यथा ये आवरण बनकर सत्ता को आवृत्त किये रहते हैं और व्यक्ति को सामान्य स्थिति मे सत्ता का ज्ञान नही रहता। यद्यपि उसमें मूल-सत्ता की सारी शक्तियाँ केन्द्रित रहती हैं। इसीलिये उसे 'मनु' का पुत्र' मनुज' या मनोमय पुरुष कहते हैं, क्योंकि उसमे मानसिकता प्रधान रहती है और उसके आवरण में सत्ता आवृत रहती है। मन के परे न जाने की प्रवृत्ति मनुज में स्वाभाविक व सामान्य है परन्तु जब वह उसके परे जाना चाहता है, तो वह मनुजत्व से ऊपर उठकर देवत्व की ओर अग्रसर होता है।

आज का युग समझता है कि हम पशुओं से ही विकसित एक बुद्धिशील पशु हैं, यह ठीक हो सकता है, परन्तु डार्विन के विकास-वाद ने यह तो समझाया कि किस प्रकार लघु जीवों से उच्च जीवों तक विकास की प्रक्रिया कार्य करती है, किन्तु उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वह विकास में विश्वास करते हुये भी बुद्धि को अन्तिम विकास-सोपान मानता है। यदि विकास सच्चा है तो वह इतना सीमित क्यों माना जाय कि वह बुद्धि तक ही रहेगा जबकि हम उच्चतर स्थितियों का अनुभव बराबर स्वय करते हैं, जिन्हे बुद्धि से नही स्पष्ट किया जा सकता। अत यह मानना विकास-वाद के अनुकूल ही होगा कि विकास निम्न-दशा से उच्चतर अवस्था की ओर होता है और बुद्धि के परे भी अनेक उच्चतर सोपानों तक वह विकास सर्वथा सम्भव है।

❀ Conscious manifestion of the transcendent in the individual is the means by which the collective, the universal is also to become conscious of itself . It (Brahman or Atman) becomes itself by becoming itself (The Divine Life)

क्योंकि बुद्धि गलती को दूर करने की शक्ति है, उससे मनुष्य के दुःख कम हो सकते हैं परन्तु उनका मूल विनाश बुद्धि से नहीं, अन्य उच्चतर स्थितियों पर जाने से ही होगा और दुःख का अभाव ही ध्येय नहीं है, आनन्द की प्राप्ति भी जीवन का उद्देश्य है वह बुद्धि से सम्भव नहीं अत. यह मानना चाहिये कि बुद्धि से परे चेतना के स्तरों तक पहुँचने का प्रयत्न करने पर न केवल दु.ख का विनाश होता है अपितु आनन्द की—अविनाशी आनन्द की भी प्राप्ति होती है। बुद्धि तक न रुककर आगे बढ़ना आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है, क्योंकि बुद्धि ने जहाँ अनेकों वस्तुयें, विज्ञान के आविष्कारों के रूप में बनाकर मनुष्य के जीवन को सुविधा-जनक बनाया है, वहाँ उसने अनेक नाशक तत्त्वों को भी उत्पन्न किया है। वह केवल इन्द्रिय-ज्ञान पर ही विश्वास करती है अतः इन्द्रियों व मन से परे जो अतुल, असीम ज्ञान का भण्डार है उससे वह अपरिचित है और वहाँ पहुँचने में असमर्थ है। अतः आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम बुद्धि से ऊपर के चेतना-स्तरों तक पहुँचने का प्रयत्न करे और अपनी बुद्धिवादी जड़ता को छोड़ें।

प्राचीन वेदान्त बुद्धि की सीमा से परिचित था, वह जानता था कि दु.खों का मूल विनाश बौद्धिक प्रयत्न से नहीं हो सकता। दु.ख का मूल अहं है। यह अहं ही पाप, कष्ट, भूल, अपराध, दु.ख, द्वन्द्व आदि का जन्मदाता है। अत पाप अहं का फल है। यदि इस अह को जो कि सब दु खों का मूल है हम बीच का सोपान मानलें, तो उससे उत्पन्न दु'खों का नाश हो सकता है।

विश्व का कारण है ब्रह्म। यह मानवीय सीमित अहं व जगत के बीच सोपान मात्र है और यही भौतिक विश्व में जीवन का आधार है। ब्रह्म जब जगत मे अपने को अभिव्यक्त करता है तो वह ऊर्ध्व-चेतन, मन, प्राण-सत्ता (life) के बीच का सोपान बनता है। ब्रह्म जब निम्न-गति को स्वीकार कर जगत के रूप में बदलता है तो सर्वप्रथम जो स्थिति आती है उसे ऊर्ध्व-चेतना या Super Mind कहते हैं। यह ब्रह्म की शक्ति की, पवित्र स्थिति है, यद्यपि ब्रह्म इससे एक सोपान ऊपर का पदार्थ है तथापि यह विशुद्ध स्थिति है, अभी सीमित अहं का संयोग इसमें नहीं हुआ। इसके पश्चात् जब ब्रह्म अपनी शक्ति से मन के रूप मे बदलता है, तो

उसमें व्यक्तिगत सीमित अहं का संयोग हो जाता है अर्थात् ब्रह्म सीमित अहं के आवरण में अपने को छिपा लेता है, मन में स्थित यही सीमित अहं सारे दुःखों का मूल है, इससे बिना ऊपर उठे ऊर्ध्व-चेतन की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। मन के पश्चात् ब्रह्म प्राण-सत्ता व जड़-तत्त्व के रूप में बदलता है। और इस प्रकार मूल-चेतना जड़-जगत के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। यही ब्रह्म का निम्न दिशा—जगत की ओर विकास है। यह ब्रह्म का विकास निम्न वृक्ष से स्पष्ट हो जायेगा—

ब्रह्म=मूल चेतना

|—निम्न-गति Descent or Involution
|—ऊर्ध्व-चेतन या Super Mind
|—(चेतम) मन (Mind)
|—प्राण-सत्ता Life
|—जड़-तत्त्व (Matter)

व्यक्ति का सीमित अहं ही उसके दुःखों का मूल है, अब यह स्पष्ट हो गया, अतः इसी को दूर करना है। जीवन का यही ध्येय होना चाहिए, परन्तु विज्ञान के इस युग में इस सीमित अहं का ही चारों ओर प्रसार है इसीलिए परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, युद्धादि की अग्नि धधक रही है परन्तु ब्रह्म इस सीमित अहं से ही अपने को आवृत करता है। अतः ब्रह्म के निम्न दिशा की ओर विकास के लिए यह सीमित अहं आवश्यक है। इसी के माध्यम से व्यक्तिगत चेतना को मूल-चेतना में बदलने की क्रिया का नाम साधना है।

साधना में वेदान्त-परक पद्धति—ऐन्द्रिय ज्ञान से हम परम-चेतना का साक्षात्कार नहीं कर सकते क्योंकि वह सीमित है। बुद्धि (Reason) व अन्तर्चेतना (Intuition) से यह कार्य सम्भव है। इनमें बुद्धि तो केवल थोड़ी दूर तक ही सहायता करती है परन्तु अन्तर्चेतना हमें परम-तत्त्व का साक्षात्कार करा सकती है। बुद्धि दो प्रकार की होती है—(१) शुद्ध तथा स्वतन्त्र, (२) मिश्रित, एवम् परतंत्र। जगत् के व्यावहारिक कार्यों में जिस बुद्धि का प्रयोग होता है, वह

शुद्ध बुद्धि नही है वह मिश्रित व परतन्त्र बुद्धि है। इस बुद्धि से जो प्रतीत होता है, केवल उसका ही ज्ञान होता है अर्थात केवल प्रतीयमान सत्ता का ही ज्ञान होता है, पारमार्थिक तत्त्व का नही। विज्ञान के क्षेत्र में यही मिश्रित व परतन्त्र बुद्धि कार्य करती है। किन्तु बुद्धि का एक उच्चतर रूप भी है जिसे शुद्ध बुद्धि मेधा या प्रज्ञा कहा गया है, यह यद्यपि इन्द्रिय-ज्ञान को साधन बना लेती है तथापि वह यह नही स्वीकार करती कि ज्ञान केवल इन्द्रियों तक ही सीमित है। इस शुद्ध बुद्धि का निर्णय इन्द्रिय-ज्ञान के विरुद्ध भी हो सकता है। इसी प्रज्ञा से हम आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हैं। तभी कहा गया है कि तत्त्व का साक्षात्कार इन्द्रियों से नही, बुद्धि से होता है—

"बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्" का यही अर्थ है। यही ज्ञान अप्राकृतिक ज्ञान (Supra-physical) है। जगत के पदार्थों के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है, उसका आधार इन्द्रियाँ होती हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान तब तक अपूर्ण रहता है, जब तक वह मन के लिये अनूदित नही हो जाता, मन उसे समझ नही लेता। मन छठो इन्द्रिय है। स्पर्श, रङ्ग, रूप, गधादि मन का विशेषोक्त ज्ञान है यद्यपि कहा यही जाता है कि यह केवल इन्द्रिय ज्ञान है। अतः दो प्रकार के ज्ञान हुए I मिश्रित II निरपेक्ष। मिश्रित ज्ञानों में मन का कार्य रहता है, परन्तु शुद्ध ज्ञान तब होता है जब जगत के सम्बन्ध मे न सोच कर कभी-कभी अपने विषय में हम सोचते हैं। इस स्व-ज्ञान की स्थिति मे मिश्रित ज्ञान (मन + इन्द्रिय) की प्रक्रिया सफल नही होती अपितु निरपेक्ष प्रक्रिया से ही यह कार्य सम्भव होता है। इसमें केवल अपने 'स्व' के संबन्ध मे विचार रहता है। इसी प्रक्रिया के द्वारा हम अपने भावों—क्रोध, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य, रति आदि से परिचित होते हैं। यह ज्ञान एक प्रकार की शुद्धि बुद्धि में अवस्थित परिचय-शक्ति (Identity) से ही होता है। इस प्रकार विचार करते समय हम बाह्य जगत के सबन्ध मे विचार नहीं करते केवल अपने 'स्व' को ही विषय बनाते हैं। इस प्रकार हमारा बाह्य वस्तुओं से विच्छेद हो जाता है और हमे अद्भुत आंतरिक अनुभव होते हैं। अत इन अनुभवों को स्वीकार न करना जड़ता है। क्योंकि यद्यपि मन को ये अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान के विरोधी लगते हैं परन्तु हैं ये वास्तविक और उच्चतर क्योंकि ये शुद्ध बुद्धि जो मन (Mind) की ही एक शक्ति है, से प्राप्त होते हैं। परन्तु बुद्धि के शुद्ध रूप में भी मान-

सिकता रहती है। उसमें परमोच्च सत्ता की पहचान करने की शक्ति नही होती। अत इन्द्रिय व बुद्धि दोनों के परे जाना पड़ता है और हम परम सत्ता को केवल अतर्चेतना (Intuition) से ही प्राप्त कर सकते हैं। इस अतर्चेतनात्मक ज्ञान के उदय होने से बुद्धि उसमे निमग्न हो जाती है और हम अंतर्चेतना से ऊर्ध्व-चेतन की अवस्था (Super mental state) को प्राप्त कर लेते हैं।

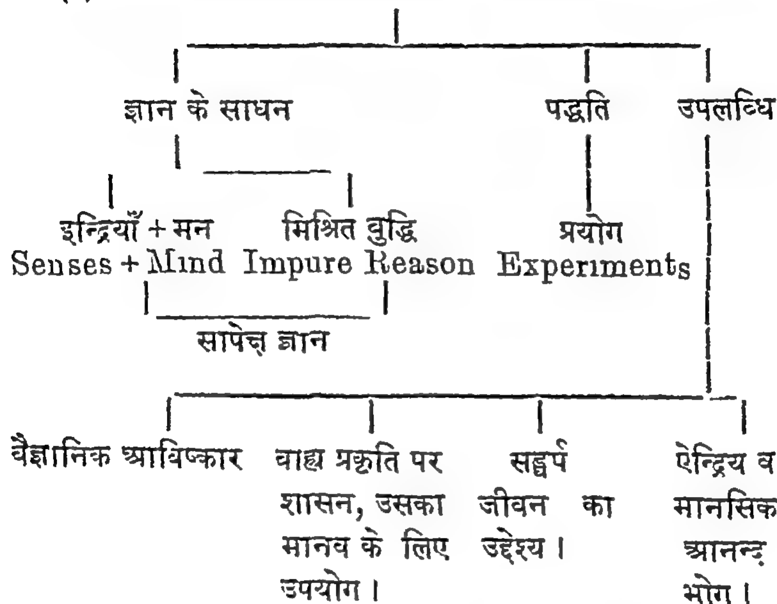
यह अतर्चेतना हमारी मानसिक शक्ति का एक उच्चतर रूप है, जो प्रायः वाह्य चेतन-मन से आवृत रहता है किन्तु शुद्ध बुद्धि जब 'स्व' के विषय मे जानना प्रारम्भ करती है तो इसके द्वार खुल जाते हैं, और शुद्ध बुद्धि जब अपनी सीमा से आगे नही बढ़ पाती तो यह अंतर्चेतना ऊर्ध्व-चेतन (Super-Mind) की अवस्था तक ले जाने मे सहायक बनती है। इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान स्वतन्त्र, निरपेक्ष व अतीन्द्रिय होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान की चिन्ता नही करता। प्रत्यक्ष-ज्ञानवादी इसे स्वीकार नही करते क्योंकि वे प्रत्यक्ष ज्ञान व मिश्रित बुद्धि से ही कार्य लेते है और इनकी सीमाओं से आगे जाना ही नही चाहते। प्राचीन ऋषियों ने, वेदों व उपनिषदों मे इसी अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान का साक्षात्कार कर, उसी स्थिति में इनकी रचना की थी। अतः जो अन्तर्चेतनात्मक स्थिति मे प्राप्त ज्ञान है उसे जब हम केवल मिश्रित बुद्धि से समझने का प्रयत्न करते है तो हमें विश्वास नही होता और हम ऐसे अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान को स्वीकार नही करते।

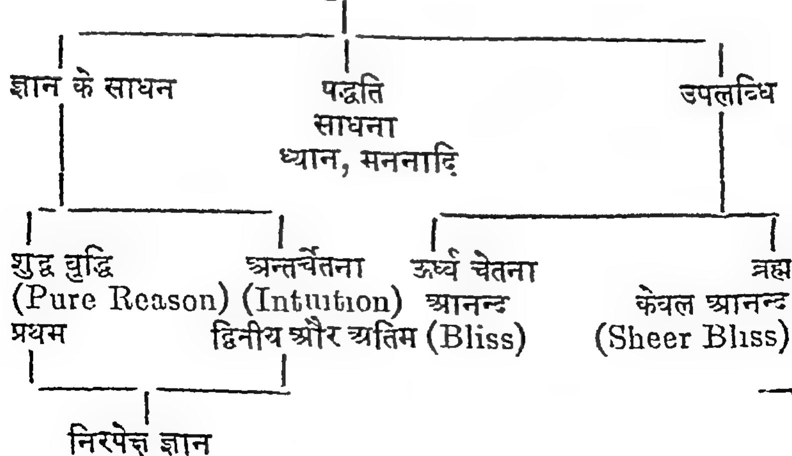
चूँकि यह युग बुद्धि (मिश्रित बुद्धि) प्रधान युग है, अतः भविष्य में अन्तर्चेतनात्मक युग अवश्य आएगा जिसमें ज्ञान का साधन अन्तर्चेतना होगी* और प्रयोगों के आधार पर प्राप्त ज्ञान की अपेक्षा

* जब अरविन्द कहते हैं कि बुद्धि का क्षेत्र विज्ञान है और उससे विभाजन व व्यावहारिक विश्लेषण ही सम्भव है, केवल अन्तर्चेतना द्वारा ही हम इस सत्ता को प्रत्यक्षतः जान सकते हैं तो वे वर्गसाँ के स्वर में ही बोलते हैं—

The reason is a tool for doing things with the world. Intuition is a direct apprehension of the entirely irrational world as it is in itself The scientist investigates part of the world and invastigates it for a special purpose . Life itself is apprehended not by reason or science but by intuition

आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त किया जायगा। तब उस युग में मिश्रित बुद्धि के स्थान पर, शुद्ध बुद्धि जागृत करने का प्रयत्न होगा जो हमें ब्रह्म की ओर उन्मुख करती है, जो हमें 'स्व' के विषय में सोचने के लिए विवश करती है। इस सारी स्थिति को हम यों रख सकते हैं—





पृष्ठ ६१ के रेखा-चित्रों से स्पष्ट है कि आज का युग संक्रान्ति का युग है। एक ओर मिश्रित बुद्धि के द्वारा उपलब्धियों को ही अन्तिम लक्ष्य समझा जा रहा है, भौतिकवादी विचारक (मार्क्सवादी) इससे आगे के चेतना के स्तरों को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं और दूसरी ओर ऐसे भी विचारक हैं जिनमें जागृत शुद्ध-बुद्धि नवीन चेतना की ओर उन्मुख हो रही है और वे अन्तर्चेतना के विकास के द्वारा ऊर्ध्व-चेतन तक पहुँचने को ही विकास का लक्ष्य स्वीकार करते हैं। अरविन्द के अनुसार आज इस द्वितीय श्रेणी के विचारक ही सच्चे विचारक हैं। ये द्वितीय श्रेणी के विचारक उस भारतीय परम्परा को मानते हैं, जिसमें प्राचीन ऋषियों ने अन्तर्चेतना का विकास कर लिया था और बाह्य-चेतना के बल पर प्राप्त उपलब्धियों की चिन्ता नहीं की थी, वे जानते थे कि केवल मिश्रित बुद्धि से आविष्कृत भौतिक वस्तुएँ नश्वर हैं, उनसे उच्च आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। शाश्वत आनन्द तो ऊर्ध्व-चेतनावस्था में ही मिल सकता है अत. उसी ओर चलने को वे जीवन का मुख्य उद्देश्य मानते थे। आधुनिक आविष्कारों से आज का युग अपने को प्राचीन ऋषियों से अधिक बुद्धिमान समझता है, यह भूल है क्योंकि आज के युग को केवल मिश्रित बुद्धि का ही ज्ञान है, वह उस से बढ़ना ही नहीं चाहता, आन्तरिक साक्षी की भी वह उपेक्षा करता है। वह केवल तर्क को ही मुख्य मानता है। स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान को महत्त्व ही नहीं देता जो बौद्धिक ज्ञान से महान है। अत. हमें विदेशों की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय आकाश के नीचे उत्पन्न प्राचीन ऋषियों ने योरोप से कहीं अधिक चिन्तन-क्षेत्र में कार्य किया था। उनके अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए, उनकी गवाही पर बुद्धि तक ही न रुक कर आगे के चेतना-स्तरों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि के साथ-साथ अन्तर्चेतना के विकास का अभ्यास करना चाहिए।

आज के विचारक तो उपनिषदों को समझ ही नहीं सके क्योंकि वे अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान को अशुद्ध बुद्धि से समझने का प्रयास प्रयास करते हैं। उपनिषदों के बाद के अनेक महान् कहलाये जाने वाले दार्शनिक भी दुहरी प्रवृत्ति ले कर चले। यथा, जब षड्दर्शनों का विकास उपनिषदों के बाद प्रारम्भ हुआ तो यहाँ के विचारक अन्तर्चेतनात्मक पद्धति पर न चल कर तर्क की पद्धति से प्राचीन शास्त्रों व

श्रुतियों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत करने लगे। स्पष्ट है कि यह ढङ्ग गलत था क्योंकि वे बौद्धिक स्तर पर प्राचीन अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान की परीक्षा करने लगे। शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व आदि ने यही किया और यह गलत था। क्योंकि बुद्धि से प्राचीन ज्ञान की परीक्षा व समर्थन असम्भव है। वह तो शुद्ध अनुभव की वस्तु है वह भी अन्तर्चेतना के धरातल पर, बुद्धि के धरातल पर नहीं। इसका प्रमाण यह है कि उपनिषदों में तर्क नहीं मिलता। अन्तर्चेतना (Intuition) की स्थिति में जो अनुभव उन ऋषियों को हुए थे, उन्हीं का सङ्कलन हमें उपनिषदों मे मिलता है। उपनिषदों की शब्दावली प्रतीकात्मक है, तथ्यात्मक नहीं। परन्तु इसे न समझ कर बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप वेद की दुहाई देने वालों, अपनी तर्क-पद्धति के अनुसार उपनिषदों की व्याख्या करने वालों के मायावाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद आदि अनेक सम्प्रदाय बन गये।

बुद्धि विश्लेषण पर सर्वदा जोर देती है और अन्तर्चेतना सर्वदा समन्वय की ओर उन्मुख होती है, यह बात उन दिग्गज दार्शनिकों ने भुलादी थी। बुद्धि के (Reason) के बल पर तर्कों का जाल खड़ा कर दिया गया परन्तु इससे सत्य की पहचान उलझन-युक्त हो गई और प्राचीन ग्रन्थों की मनमानी व्याख्यायें प्रस्तुत होती गईं। इसीलिये गीता, वेदान्तसूत्र व उपनिषदों के अनेक भाष्यों को शंकर, रामानुज जैसे दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया, जहाँ जो मन में आया वह अर्थ किया गया। वस्तुतः ये दार्शनिक बुद्धिवादी थे, अतः व्यक्तिगत रूप से उपनिषदादि के ज्ञान को अन्तर्चेतनात्मक मानते हुये भी उन्होंने उसकी बौद्धिक परीक्षा भी की, यह दुहरी प्रवृत्ति भयावह प्रमाणित हुई और इससे व्यर्थ ही उलझनों की वृद्धि हुई।❋

❋ When the age of rationalistic speculation began, Indian philosophers, respectful of the heritage of the past, adopted a double attitude towards the truth, they sought. They recognised in the Sruti, the earlier results of Intuition or, as they preferred to call it, of inspired Revelation, an authority superior to reason. But at the same time, they started

प्राचीन श्रुति-परक ज्ञान प्रतीकात्मक ज्ञान है, उसे तर्क से समझने पर अनेक उलझने खड़ी होती हैं जैसा कि षडदर्शनों के विकास में दिखाई पड़ता है। अत: अन्तर्चेतना से इसे अनुभव का विषय बनाना चाहिये। फिर जो विरोध हमें विभिन्न विचार-धाराओं में दिखाई पड़ता है, लुप्त हो जायगा और अनेक भेदों के होते हुये भी ज्ञान का समन्वित रूप स्पष्ट हो जायगा।

ब्रह्म—जब हम बुद्धि से जगत को समझाने का प्रयत्न करते हैं तो अनेक भेद खड़े हो जाते हैं, मानसिकता से ऊपर उठ कर शुद्ध चेतना से यदि हम तटस्थ होकर इसे समझने का प्रयत्न करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि असीमित सत्ता, असीमित गति, असीमित क्रिया स्वयमेव असीमित काल व देश में अपने को व्यक्त कर रही है। इस महाचेतना के सम्मुख ब्रह्माण्ड की बड़ी से बडी वस्तु तुच्छ अणु के समान है। यह सत्ता अपने आप, अपने आनन्द के लिये ही व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में एक ही समय मे स्थित है। यह सत्ता सर्वत्र व्याप्त है, एक ही गति सब में अवस्थित है। जो स्थिर वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं, उनमे भी बराबर गति रहती है, केवल अदृश्य रहती है।

विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मैटर एक 'शक्ति' का ही नाम है जिसे वैज्ञानिक (Force) कहते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह शक्ति ही अतिम तत्त्व है, इसके परे कोई स्थिर सत्ता नही है जो गति का, शक्ति का रूप धारण कर लेती है, यह सत्ता ब्रह्म है। देश व काल की कक्षाओं में बन्द होने के कारण हम उसे नही देख सकते,

with reason and tested the results, it gave them, holding only those conclusions to be valid which were supported by the supreme authority . nevertheless, the natural trend of Reason to assert its own supremacy triumphed in effect over the theory of its subordination Hence the rise of conflicting schools, each of which founded itself in theory on the Veda and used its texts as weapon against the others

अंतर्चेतना की स्थिति मे देश व काल से हम ऊपर उठ जाते हैं तव हम ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते है।* जैसे कदम अलग-अलग पड़ते है, परन्तु बार-बार रखे जाने पर वे दौड़ने में (गति) बदल जाते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक अणु, परमाणु अलग-अलग होने पर भी एक गति को जन्म देते हैं। यह गति जो सर्वत्र व्याप्त है, आदि सत्ता या ब्रह्म का एक प्रकार का रूप (Mode) है।+

परन्तु प्रश्न यह है कि यदि विश्व में व्याप्त गति-प्रवाह को ब्रह्म का एक रूप (Mode) मान भी लिया जाय तो अंतर्चेतना की दृष्टि से, इस गत्यात्मक जगत को मिथ्या भी मान सकते है, इससे 'आदि सत्ता' की सिद्धि में कोई वाधा भी नही रहती और न यह कल्पना करनी पड़ती है कि गति मूल सत्ता का एक रूप है।

अरविन्द इसका यह उत्तर देते हैं कि सत्ता व उसकी अभिव्यक्ति दोनों सत्य हैं। क्योंकि शुद्ध चेतना इस जगत के परे भी जा सकती है, जगत के पदार्थों से सम्बन्धित वाह्य अनुभवों को स्थगित भी कर सकती है, उन्हें शुद्ध भी कर सकती है, परन्तु वह जगत का नाश नहीं कर सकती। अतः यह मानना पड़ेगा कि जगत भी ब्रह्म की तरह ही सत्य है। इनमे से किसी एक की सत्ता का निषेध करना सहज है यथा मार्क्सवादी ब्रह्म का, मायावादी व कुछ बौद्ध दार्शनिक जगत का निषेध करते हैं परन्तु यह वुद्धिमत्ता नही है। समन्वय खोजना ही अन्तर्चेतना का कार्य है और वस्तुत इन दोनों मे समन्वय सर्वथा सम्भव है।§

---

* We must judge of existence, not by what we mentally conceive, but by what we see to exist.

+ हम पिछले अध्याय में 'मोड्स' की कल्पना की 'डेकर्ट' के दर्शन में चर्चा कर चुके हैं। लाइवनिज 'मोड्स' को मानता था, अरविन्द पर शायद इसका प्रभाव पड़ा है।

§ The movement, the energy, the becoming are also a fact, also a reality. The supreme intuition and its corresponding experience may correct the other, may go beyond, may suspend, but donot abolish it We have two fundamental facts of pure

ब्रह्म की स्थिरता व गति के सम्बन्ध में यह उपर्युक्त स्थापना वस्तुत मनोवैज्ञानिक स्थापना मात्र है। ब्रह्म तो अवर्णनीय है, वह स्थिरता व गति से भी परे है। वह एकता व अनेकता से भी परे है परन्तु यह ब्रह्म एक व अनेक रूपो मे व्यक्त होता है। इसीलिए शास्त्रों में गत्यात्मक जगत को शिव का नृत्य कहा गया है, जो अपने ही अंशों को जीवात्माओं के रूप में अलग-अलग कर उनके द्वारा नृत्य देखता हैं, अत. वह स्वय ही नृत्य (गति) है, स्वयं ही द्रष्टा है और स्वयं दोनों से परे भी है। इस क्रिया का उद्देश्य केवल आनन्द है। चूँकि हम एकता व अनेकता, स्थिरता व गति के शब्दों के अनन्तर उस सत्ता के विषय मे कुछ भी नही कह सकते अतः हमें चाहिए कि इन दोनों पदार्थों (ब्रह्म व जगत) को स्वीकार कर लें।

इस प्रकार स्वीकार कर लेने पर देश व काल मे सीमित असीम गति का सम्बन्ध हम देश व काल से परे असीम सत्ता से स्थापित कर सकते हैं। भौतिकवादी केवल शक्ति को ही अन्तिम सत्ता मानते हैं परन्तु प्रश्न यह है कि यह अन्ध-शक्ति है या चेतन-शक्ति? अन्तिम सत्ता वस्तुतः इस अन्ध-शक्ति (Force) से परे है जिसने इस अन्ध-शक्ति (Force) का रूप धारण कर इस जगत का निर्माण किया है। इस शक्ति (Force) के परे यदि कुछ नही है तो अन्ध-शक्ति, चेतन-शक्ति (The power of consciousness) को जन्म नही दे सकती। अन्ध से चेतन की उत्पत्ति सम्भव नही है।

ब्रह्म के सम्बन्ध में हम अरविन्द के विचार समझ चुके, अब प्रकृति को लीजिए—

प्रकृति—सृष्टि क्या है, इसका उद्देश्य क्या है, इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि सारा भौतिक जगत् अपने मूल रूप में शक्ति (Force) मात्र है। यह शक्ति या गति (Energy) ही सूक्ष्म व स्थूल अनेक वस्तुओं के रूप में बदल जाती है। प्राचीन शास्त्रों में मूल

existence and of world existence, a fact of being, a fact of becoming, to deny one or the other is easy, to recognise the facts of consciousness and find out their relation is the true and fruitful wisdom

सत्ता को समुद्र के समान माना गया है। एक बार अशान्ति उत्पन्न हो जाने पर जिस प्रकार समुद्र मे लहरें उत्पन्न हो जाती हैं वैसे ही ब्रह्म रूपी समुद्र मे गति से लहरों के समान अनेक रूप उत्पन्न होते हैं। गति या शक्ति विजली की शक्ति के रूप में भो रहती है और अणु-परमाणुओं में वदल कर सर, सरिता, पर्वत, जल, वायु, वृक्षादि में भी वदल जाती है। जिसे हम मैटर या जड़ तत्त्व कहते हैं वह शक्ति या गति का ही एक स्थूल रूप है।

प्राचीन दार्शनिकों के अनुसार भौतिक गति या शक्ति केवल एक शुद्ध भौतिक तत्त्व के विस्तार के रूप में उपस्थित हुई जिसके प्रथम व्यक्त रूप को हम ध्वनि शब्द कहते हैं जो उस सूक्ष्म भौतिक आकाश का गुण है। विशुद्ध ध्वनि से रूप नही वन सकते परन्तु शक्ति की वरावर क्रिया होते रहने पर आकाश के पश्चात् वायु का जन्म होता है। यह शक्ति व शक्ति के वीच एक प्रकार का सम्पर्क था। परन्तु रूप अव भी नहीं वन सकते थे अत इसी प्रक्रिया मे अग्नि का जन्म हुआ जिसमें रूप आया, इसी प्रकार आगे जल व पृथ्वी तत्त्वों का विकास हुआ। इसे हम यों रख सकते हैं—

आकाश——शब्द, ध्वनि।

|

वायु——शब्द + स्पर्श।

|

अग्नि——शब्द + स्पर्श + रूप।

|

जल——शब्द, स्पर्श, रूप, रस।

|

पृथ्वी——शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।

परन्तु इस सिद्वान्त से एक प्रश्न हल नही हुआ कि शक्ति की ध्वनि के सम्पर्क से चेतन सवेदनात्मक शक्ति कैसे उत्पन्न हुई। सांख्य-वादियों ने इसीलिए इन पाँच तत्त्वों के पीछे कुछ और तत्त्वों को स्वीकार किया था यथा महत् व अहङ्कार को। जो वस्तुतः अभौतिक तत्त्व थे। ये दोनों पुरुष या आत्मा के सम्पर्क के कारण क्रिया-युक्त हो गये, ऐसा माना गया। परन्तु इस सिद्धान्त मे दोष रहने पर भी यह विज्ञान के निकट है, क्योंकि अचेतन शक्ति प्रकृति को जहाँ तक सांख्य समझा

सका, वहाँ तक उसने समझाया है। विज्ञान शक्ति को स्वीकार करता है, यद्यपि अभी इस सम्बन्ध में सन्देह पूर्णतया नष्ट नहीं हुए हैं। शक्ति का यह सिद्धान्त हमारे अनुभव से भी पुष्ट होता है, हमारी सारी क्रियाएँ ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति व क्रिया-शक्ति के कारण होती हैं। यह प्राचीनों ने हमें बताया है, इसी प्रकार प्रकृति की क्रियाओं के नीचे शक्ति (Force) है जो ब्रह्म की ही शक्ति है।

शक्ति की गति को सृष्टि का मूल मान लेने पर दो प्रश्न खड़े होते हैं, यह शक्ति किस प्रकार जीवन (existence) के रूप मे आई? इसका एकमात्र सम्भव उत्तर यह हो सकता है कि हमें इस प्राण-सत्ता को शाश्वत सत्ता का अंश मान लेना चाहिए। हमने कहा है कि शक्ति (force)=ब्रह्म=आदि सत्ता का ही एक रूप है, यह सत्ता शक्ति की गति से अप्रभावित रहती है। तब शक्ति = अचेतन शक्ति व ब्रह्म = चेतन शक्ति ये दो शक्तियाँ उपस्थित होती हैं। प्रश्न होगा कि इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? प्राचीन विचारकों ने इसका उत्तर दिया था कि अचेतन शक्ति, चेतन-सत्ता मे ही अवस्थित है, शिव (ब्रह्म) काली (प्रकृति = force) एक ही है।❀ अचेतन शक्ति (force) क्रिया-हीनता की स्थिति में (at rest) चेतन सत्ता (ब्रह्म) के भीतर रह सकती है, उसकी शक्ति के रूप मे। परन्तु बुद्धि पूछती है कि क्या जड़ तत्त्व क्रिया हीनता की स्थिति में ही सही, शुद्ध चेतन सत्ता मे रह सकता है? इसी को समझाने के लिए शंकर ने जड़ तत्त्व को मिथ्या बता कर शुद्ध चेतना की शुद्धता की रक्षा की थी। परन्तु उन्हे 'माया' की शक्ति शाश्वत माननी पड़ी। अतः जब अचेतन शक्ति = माया शाश्वत ही है तो केवल अभिव्यक्ति व विवर्त का प्रश्न रह जाता है, इसमें विवर्त को न मानकर अभिव्यक्ति का सिद्धान्त ही माननीय है। जिस प्रकार समुद्र मे गति की शक्ति सम्मिलित है और उस गति से अनेक रूपात्मक लहरें बनने लगती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में अचेतन शक्ति स्थित है, और उससे यह अनेक रूपात्मक जगत बनता जाता है। जिस प्रकार लहरों का रूप नाशवान है, अर्थात् उनका रूप

❀ Force is inherent in Existence Shiva and Kali, Brahman and Shakti, are one and not two who are separable.

एकसा नही रहता, उनके रूप सदा वनते-बिगड़ते रहते हैं, यह परम्परा चलती रहती है, इसी प्रकार स्थिरता व गति की परम्परा भी वरावर चलती रहती है।

परन्तु फिर प्रश्न हो सकता है कि यह समुद्र शांत क्यों नही रहता ? यह प्रश्न गलत है, क्योंकि जिस प्रकार हम यह नही पूछ सकते कि अन्तत. ब्रह्म ही क्यों है ? यह क्यों स्थित है ? क्यों अभिव्यक्त होता है ? इसका उत्तर यदि कुछ हो सकता है तो यही कि यह उसका स्वभाव ही है, स्वेच्छा से ही ऐसा होता है। वस्तुत' हम केवल यह वता सकते हैं कि ब्रह्म कैसे अभिव्यक्त हुआ, गति के सिद्धान्त क्या हैं, रूप कैसे वनते हैं, इसके विकास की प्रक्रिया क्या है ? मार्क्स के लिए ये प्रश्न नही उत्पन्न होते क्योंकि वह यह मानता है कि चेतना, जिसका अस्तित्व पहले नही था, वह 'मैटर' का ही गुणात्मक परिवर्तन है, अर्थात् मैटर के विकास की प्रक्रिया मे, एक विशेष स्थिति मे वह स्वयमेव विकसित हुई है, अतः यह प्रश्न उसके लिए नहीं आता कि आखिर चेतना अर्थात् ब्रह्म क्यों अभिव्यक्त होना चाहता है ? परन्तु हम यह नही स्वीकार कर सकते हैं कि चेतना जड़-तत्त्व से विकसित हुई है, क्योंकि यह अनुभव व अनुमान दोनों के विपरीत है। अतः चेतना को जड़ तत्त्व से विकसित न मानकर यह मानना चाहिए कि चेतना की ही शक्ति का नाम force है। जो शाँति की अवस्था मे मूल चेतना ब्रह्म में अवस्थित रहती है।*

* We can not put that question to eternal self existence and ask it either why it exists or how it came in to existence, neither can we put it to self-force of existence and its inherent nature of impulsion to movement All that we can then inquire in to its manner of self-manifestation, its principles of movement and formation, its process of evolution. (The Life Divine Page 127)

पाठक देखें कि अरविन्द के तर्क उनके ही विरुद्ध पड़ते हैं, उनका यह तर्क तो अकाट्य है, कि बुद्धि से हम उन्हें व उनके ब्रह्मादि को नहीं समझ सकते क्योंकि हम विवश हैं, बुद्धि के अतिरिक्त समझने का साधन उन जैसे रहस्य-

यदि यह स्वीकार किया जाय कि शक्ति के आधीन होकर 'ईश्वर' (चेतना) व्यक्त होता है जैसा कि तान्त्रिक मानते हैं, तो मानना होगा कि ऐसा ईश्वर अन्तिम सत्ता नही। और उसके भी परे एक महान चेतना का अस्तित्त्व मानना होगा। जो व्यक्त होने के लिए स्वतन्त्र है, शक्ति के अधीन नही है। अतः ब्रह्म लीला के लिए अपने एक अश पर प्रकृति का शासन स्वीकर करता है, यह अश ही जीवात्मा है, जो शुद्ध चेतना है, यह 'मैटर' से विकसित नही हैं, जैसा कि मार्क्स मानता है। इस प्रकार ब्रह्म मूल चेतना है जिसका एक अंश क्रियात्मक ब्रह्म=ईश्वर कहलाता है जो अपने ऊपर शक्ति (force) या प्रकृति का आवरण स्वीकार करता है क्योंकि इसके बिना लीला अभिव्यक्ति असम्भव है, फलतः व्यक्तिगत जीवात्मा (individual consciousness) प्रकृति के बन्धन में बॅधता है, अशरीरी शुद्ध चेतना प्रकृति के बन्धन के कारण शरीर में स्थित होता है।† यही बात प्राचीनों ने जगत व जीव की समस्या हल करने के लिए समझाई थी। यही व्यक्तिगत चेतना प्रकृति के माध्यम से, उसे सॅम्हाल कर, जगत के पदार्थों का मन व इन्द्रियों के माध्यम से भोग करती है और स्वयं अप्रभावित रहती है तथा अपनी जागृतावस्था में उन्ही मन व वादियों के पास ही होता है और उस अन्तर्चेतना की बात अनिश्चित, अन्ध-विश्वास पर आधारित, घोर व्यक्तिगत असाधारणीकृत साधनाओं में डुबाने वाली है। किन्तु जब बुद्धि से समझाने का प्रयत्न अरविन्द करते हैं तो उनका तर्क मार्क्स के पक्ष में पड़ता है। ऊपर के उद्धरण में वे कहते हैं कि ब्रह्म क्यों व्यक्त होता है, वह क्यों हैं, वह क्यों गतिवान या स्थिर है? ये प्रश्न हम नहीं पूछ सकते, हम केवल विकास की प्रक्रिया समझा सकते हैं, बेचारा मार्क्स भी यही कहता था कि जिस तत्त्व को हम विज्ञान व बुद्धि दोनों से जानते हैं वह है 'मैटर' उसके विकास को ही हम समझा सकते हैं। और जब चेतना के विकास की बात की जाती है तो अरविन्द मानते हैं कि जड़तत्त्व—शक्ति है, जो ब्रह्म में शान्तावस्था में रहती है और गति की अवस्था में विकसित हो सकती है तो मार्क्स ने क्या बिगाड़ा है जो यह मानता है कि हम शाश्वत चेतना के विषय में व्यर्थ की कल्पना करने के स्थान पर यह मान लें कि चेतन जड 'मैटर' के विकास की प्रक्रिया मे स्वय उपस्थित हो जाती है, और विकास 'मैटर' का स्वभाव है, जैसे अरविन्द के ब्रह्म का स्वभाव है कि वह अभिव्यक्त होता है। तब अरविन्द की कल्पनाएँ क्या व्यर्थ नहीं हो जाती?

इन्द्रियों के ऊपर उठकर अपनी शक्ति=अन्तर्चेतना (Intuition) के द्वारा महाचेतना मे मिलने का प्रयत्न कर सकती है और उसमे सफल भी हो सकती है, जगत, जीव व ब्रह्म की समस्या का यही वैज्ञानिक समाधान है, हम जड़ से चेतना का विकास नही स्वीकार कर सकते, न जड तत्त्व का पूर्णतया निषेध कर सकते है। यही मान सकते है कि जड़-तत्त्व के माध्यम से चेतना बन्धनों मे बँधती व स्वतन्त्र होती है ?

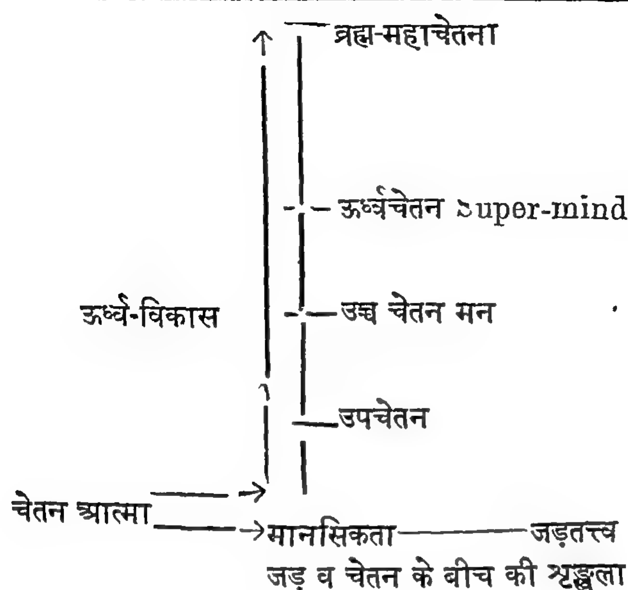
परन्तु प्रश्न होगा कि व्यक्तिगत चेतना से जो प्रकृति के बन्धन मे बद्ध है, हमारा तात्पर्य क्या है ? चेतना एक जागृत मानसिक दशा का नाम प्रतीत होता है, जो कार्य करते समय उस पर अनुशासन रखती है, इसी प्रकार विश्व के कार्य के पीछे भी एक महा-चेतना=ब्रह्म है जो व्यक्तिगत चेतना व प्रकृति के कार्य का अनुशासन माना जा सकता है।

परन्तु व्यक्तिगत चेतना का प्रमाण क्या है ऐसे प्रश्न 'दर्शन' से निकल जाने चाहिए क्योंकि हम जानते है कि जब हम सोते है तब हम चेतन तत्त्व का अनुभव करते हैं। जाग्रतावस्था भी उसी चेतना का एक भाग है।

भौतिकवादी कहता है कि चेतना भौतिक तत्त्व की प्रतिध्वनि-मात्र है। परन्तु बढ़ते हुए ज्ञान के विरुद्ध यह दृष्टिकोण स्थायी नहीं रह सकता। मस्तिष्क का प्रयोग चेतना करती है, मस्तिष्क साधन है, कुछ असाधारण अनुभव भी यही बताते हैं यथा हृदय की धड़कन जीवन के लिए अनिवार्य नही है। इसी प्रकार मस्तिष्क के सैलस विचार के लिए अनिवार्य नही हैं। उपचेतन (Subconscious mind) की सिद्धि मनोविज्ञान के प्रयोगों द्वारा हो चुकी है। यह उपचेतन बाह्य-मस्तिष्क (Outer-mentality) के नीचे प्रथम सोपान है। जाग्रत अवस्था में व्यक्ति इससे परिचित नहीं रहता। तब क्या इसके परे एक उच्च उपचेतन या Super-conscient की कल्पना नही की जा सकती* जिसे मनोविज्ञान नहीं पा सकता (क्योंकि यह

† A Brahman compelled by Prakriti is not Brahman but an inert infinite with an active content in it, more powerful than the continent, a conscious holder of force of whom his force is master.

* मैने प्रथम निबन्ध में योरोप के दर्शन की असङ्गतियाँ स्पष्ट कर के



आनन्द की समस्या—† ब्रह्म, जगत व जीव के विकास को संक्षेप में हमने प्रस्तुत किया। परन्तु अब प्रश्न यह है कि अन्ततः हम शुद्ध बुद्धि के सहारे ऊर्ध्व-चेतनावस्था की ओर क्यों बढ़े ? क्यों ब्रह्म की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाय। इसके अतिरिक्त यदि हम यह स्वीकार भी करलें, कि एक सत् तत्त्व है, उसमे चेतना (Consciousness) अन्तर्भूत है। और जो शक्ति की गति के रूपमें (Force, energy) अपने को व्यक्त करता है। फिर यह प्रश्न उठता है, कि जब ब्रह्म को अकाम, स्वतन्त्र निरपेक्ष आदि कहा गया है तो वह क्यों शक्ति के रूप में अपने को व्यक्त करता है ? क्यों अनेक रूपात्मक जगत का निर्माण करता है ? इन

---

† आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं। (तैत्तिरीयोपनिषद्, षष्ठ अनुवाक—१)

सब प्रश्नों का एक मात्र उत्तर है आनन्द के लिए।* मूलसत्ता केवल सत् नही है वह आनन्द भी है। सारी असीमता, अनन्तता, पूर्णता केवल आनन्दमात्र है। सापेक्ष रूप में व्यक्तिगत आत्मा को भी वह आनन्द जब तब आभासित होता है। आनन्द अनेक रूप धारण करता है। परन्तु पुन. प्रश्न उत्पन्न होता है कि जगत में दु.ख अधिक हैं, सभी विचारक इसका अनुभव करते हैं, अपेक्षाकृत सुख कम है। अरविन्द इसका उत्तर देते है कि इससे तो आनन्द की ही सत्ता सिद्ध होती है। कैसे ?

दुःख हमारी मूल आनन्दात्मक सत्ता से विरोधी प्रकृति का है अतः दुःख के आगमन पर हम अधीर हो उठते है। परन्तु हम सुख की अवस्था मे अपेक्षाकृत सन्तुलित रहते हैं क्योंकि आनन्द तो हमारा स्वरूप ही है। सुख के आने पर हम इसीलिए विचलित नही होते। वस्तुत. दार्शिनकों ने व्यक्तिगत ईश्वर की कल्पना कर विचार के क्षेत्र मे अव्यवस्था उत्पन्न कर दी है। ऐसे विचारक मानते हैं कि ईश्वर ने यह संसार बनाया है, तब प्रश्न होगा कि दु.ख भरा ससार उसने क्यों बनाया ? यदि कहो दु.ख हमारी परीक्षा है तो भी ईश्वर कठोरता से युक्त ठहरता है। यदि यह कहो कि दु.ख हमारे कर्मों का दण्ड है, परन्तु हम कर्म तो स्वतः नहीं करते, अज्ञान के कारण करते हैं तो ईश्वर ने अज्ञान की उत्पत्ति ही क्यों की। इसीलिए गौतम बुद्ध ने व्यक्तिगत ईश्वर का खण्डन किया था। अरविन्द के अनुसार गौतम बुद्ध ने मूल-चेतना का खण्डन नही किया था, उसके सम्बन्ध मे पूछने पर वे 'मौन' रह जाते थे। अर्थात् अवाङ्मनसगोचर सत्ता का वर्णन वे नही करना चाहते थे। न सम्भव था, न है। किन्तु वे सत्ता के अविश्वासी न थे। निर्वाण की कल्पना से यह स्पष्ट है। अत. इस समस्या का समाधान केवल इस प्रकार हो सकता है कि हम व्यक्तिगत स्रष्टा के अतिरिक्त

* आज तक कोई भी दार्शनिक इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं देसका कि अन्ततः ब्रह्म क्यों जगत के रूपमें अपने को व्यक्त करता है, सत्ता के विकास, जगत के रूप पर तो दार्शनिकों के विचार व्यवस्थित व किसी सीमा तक बुद्धि सङ्गत भी मिल जाते हैं परन्तु जहाँ से दर्शन प्रारम्भ होता है, उसीका उत्तर नहीं मिलता। यह उत्तर सन्तोष जनक नहीं है कि ब्रह्म आनन्द के लिए व्यक्त होता है जबकि वह स्वयं आनन्दमय है, इसीलिए यह रहस्यवाद है।

सच्चिदानन्द' स्वरूप वाले ब्रह्म को स्वीकार करें जो विश्वेश भी है और विश्व-रूप भी। व्यक्तिगत ईश्वर को मानने पर एक निर्दयी, कठोर, नियमों के अन्ध-पालक शासक की कल्पना करनी पड़ती है जो कानून का पुतला है,परन्तु यदि हम सच्चिदानन्द को स्वीकार करें तो यह दोष मूल सत्ता पर नही आता।

ब्रह्म के सच्चिदानन्द-स्वरूप को स्वीकार करने से यह माना जाता है कि व्यक्तिगत जीव के रूप में वह स्वयं दु.खों को अनुभव करता है और जब स्वय आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता है तो ब्रह्म पर इसका दोष नही आता। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप वाला आत्मा न सुखी हो सकता है न दु खी, क्योंकि वह तो निर्लिप्त रहता है। परन्तु यह प्रश्न गलत है क्योंकि ऐसा पूछते समय पूर्ण सच्चिदानन्द को हम सम्मुख रख लेते है। ब्रह्म जब स्वयं अपने को, अपने ही बन्धन से बाँधता है, तो उसके आनन्द-तत्त्व में कुछ अभाव हो जाता है। अत' भोक्ता आत्मा पूर्ण-आनन्दयुक्त ब्रह्म की खोज करता है और यही शाश्वत प्रेरणा सारे भौतिक आनन्दों को भोगते समय वार-वार जाग्रत हो जाया करती है और हम उच्चतर, पूर्ण नित्य आनन्द की खोज में लग जाते हैं। इसके साथ ही यदि समग्र दृष्टि से सोचें तो ब्रह्म-आनन्द के लिए जगत रूपी लीला करता है। जब वह शक्ति (Force) के रूप मे अपने को व्यक्त करता है, तव हमारे द्वारा निर्मित नीति-शास्त्र को सामने नही रखता, हमारा नीति-शास्त्र वदलता है। उसका निश्चित् स्वरूप कुछ नही है, जो नियम आज प्रशसा का पात्र है, वह कल के युग मे निन्दनीय बन सकता है। कैसे?

वन मे चीता शिकार करता है, तूफान नाश करता है, तो क्या उन्हे नाश का दोष दिया जा सकता है। उनके इस प्राकृतिक कार्य के पीछे ब्रह्म की आनन्दमयी भावना ही है। क्या तूफान व हिंस्र-जन्तु अपने आपको दोष दे सकते हैं?§ दोष देना या न देना संकुचित नीतिशास्त्र का कार्य है। वस्तुत. प्रकृति के नियम आनन्दपूर्ण हैं।

---

§ Material nature is not ethical, the law which governs it, is a co-ordination of fix habits which take the cognisance of good and evil, but only of force that creates force, that arranges and preserves,

सभ्यता के विकास में प्राकृतिक जड़ नियमों का प्रयोग मनुष्य अपने हित के लिए करता है। भय, आश्चर्य, नापसन्दगी, अनिच्छा को प्रकट करने के उसने तरह-तरह के ढङ्ग आविष्कृत कर लिए हैं। वह ईर्ष्या को ईर्ष्या के रूप में नही, अनिच्छा, उपेक्षा आदि के रूप मे व्यक्त करता है। इसी प्रकार भय की भावना को हलकी आशङ्का के रूप में व्यक्त करता है। शुभ भावनाओं का भी विकास होता है, प्रेम जो नारी के प्रति होता है, शिशुओं के प्रति, देश के प्रति, वह देश तथा विश्व के स्तर तक विकसित हो जाता है। विश्व मानवतावाद का जन्म होता है किन्तु मूल मे प्रेम करना यह एक ऊँची भावना है। प्रेम के प्रदर्शन व निर्वाह आदि की भावनाएँ विकसित समाज की बातें हैं। मूल-प्रेम की भावना आनन्द की भावना को ही व्यक्त करने के लिए बनाई गई है अत. प्रकृति के कार्य प्रकृति में स्थित चेतना के आनन्द को ही प्रकट करते है। प्रकृति के कार्यों द्वारा ब्रह्म की सन्तुष्टि होती है। अत. उपनिषद् में कहा गया है कि आनन्द ही जगत का मूल है, उसी से जन्म होता है, अन्त मे उसी में सबका प्रवेश होता है आदि। अतः दुःख-सुख हमारी सीमित चेतना के कारण उत्पन्न भावनाएँ हैं। व्यापक दृष्टि से देखने पर जगत् आनन्दमय ही सिद्ध होता है, दु.ख-मय नही।

परन्तु हम प्रत्यक्ष जगत् को दु:खमय देखते हैं, इसका उत्तर यद्यपि दिया जा चुका है परन्तु जगत् को दु खमय वही मानते हैं जो आनन्द की परिभाषा नही समझते। जिस प्रकार हमारी मानसिकता (Mentality) से चेतना महान् है उसी प्रकार सामान्य भावात्मक तथा ऐन्द्रिय आनन्द से सच्चिदानन्द का आनन्द तत्त्व महान् है। मनुष्य की भाषा सीमित है, अतः आनन्द शब्द से ब्रह्म के आनन्द की व्याख्या अस-

force that disturbs and destroys impartially, non ethically, according to the secret will in it, according to the mute satisfaction and self dissolutions. Animal vital nature is also non-ethical .. We donot blame the Tiger because it slays and devours its prey any more than we blame the storm because it destroys.

म्भव है जो प्रकृति के कार्यों में व्यक्त हो रहा है। वह आनन्द क्षुद्र नहीं है, महान्, दिव्य, निरपेक्ष, असीमित, शाश्वत, स्वयंसिद्ध तथा स्वतन्त्र है जो प्रकृति की पार्श्वभूमि में स्थित है, जिसके सीमित रूप सुख-दुख आदि हैं। जब ब्रह्म का आनन्द तत्त्व अपनी लीला के लिए जगत के रूप में व्यक्त होना चाहता है, तो वह शक्ति (Force) के रूप में भ्रमण करता है, जिसका भावात्मक रूप है सुख और अभावात्मक (Negative) रूप है दुःख। निम्न मानसिकता (Sub Conscient) मैटर में अवस्थित रहती है, क्यों? आनन्द के लिए। उच्च-चेतना (Super Conscient) मन व प्राण (Life) में क्यों अवस्थित रहती है? आनन्द के अनुभव के लिए। अतः दुःख भी मूल आनन्दतत्त्व का ही एक रूप है। चेतन-आत्मा को जब यह ज्ञान हो जाता है तो वह सामान्य दुःखों व सुखों से अप्रभावित रहकर ऊर्ध्व-चेतना की ओर बढ़कर उच्चतर आनन्द की प्राप्ति का प्रयत्न करती है। जगत के सुख-दुःखों के लिए हाय-हाय करना मूर्खता है।*

हमें जगत के दुःखों को भी आनन्द का अभावात्मक रूप ही समझना चाहिए, बस यही समस्या का हल है। यदि हम इसे स्वीकार कर लें तो आनन्द ही सृष्टि का कारण व मूल है, यह बात सिद्ध हो जाती है। सच्चिदानन्द की प्रेरणा है आनन्द की खोज, आत्म-विस्तार। जड़ जगत में, प्रकृति में आनन्द का रूप अनीति पर आधारित है, पशुओं में ऊर्धनीति-शास्त्रीय भावनाएँ मिलती हैं और उच्च मनुष्य में कभी उच्च नीति और कभी निम्नतम नीति का स्वरूप मिलता है। यथा

---

* अरविन्द वैयक्तिकतावादी विचारक थे। अपने आनन्द के इस दर्शन को व्यक्तिगत साधना व अलौकिक अनुभवों की दृष्टि से उन्होंने समझाया है। सामाजिक दृष्टि से देखने पर समाज के दुःखों को हल करने का सामूहिक प्रयत्न स्वयं अरविन्द के समय में राष्ट्रीय संघर्ष के रूप में हो रहा था, यदि उसमें कार्य करते हुए वे यह उपदेश देते तो यह सन्तोष होता कि जगत के बाह्य दुःखों को दूर करने का प्रयत्न हो रहा है। अब उच्चतर आनन्द के लिए प्रयत्न करना ही शेष रह गया है, परन्तु इस दर्शन से बाह्य दुःखों को दूर करने के 'सामूहिक प्रयत्न' का महत्त्व नहीं रहता। उसमें हाथ न बटाकर अरविन्द व पन्तजी दोनों जब उच्चतर आनन्द का उपदेश देते हैं तो बड़ा विचित्र लगता है।

दास-प्रथा आदि। नीतिशास्त्र का अन्तिम रूप होगा ऊर्ध्व-नीतिशास्त्र (Supra-ethical)। इस स्थिति में नीतिशास्त्र के बन्धन नही होंगे। (इसे इस प्रकार नाम दिए गये हैं—Intra-ethical, ethical, Supra-ethical) ऊर्ध्व-नीतिशास्त्र का सोपान, ऊर्ध्व-चेतनावस्था (Supra-mental state) को प्राप्त करने पर ही प्राप्त होगा। वहाँ सुख-दुःख का द्वन्द्व न होगा। अतः जगत में सुख-दुःखो से ऊपर उठ कर चेतना की ऊँचाई पर चढने का प्रयत्न होना चाहिए अन्यथा वाहरी सुख सुविधाएँ समान होने पर भी (यद्यपि वे समान कभी हो नही सकती क्योंकि अरविन्द जब यह प्रचार करेंगे कि यह रोजी-रोटी की लड़ाई ही मुख्य नही है यह तो अशुद्ध बुद्धि का कार्य है, मजदूर व किसानों का दुःख उनके व्यक्तिगत अहं के कारण है, मलिन बुद्धि व वाह्य मन ही दुखों के कारण हैं। इनसे ऊपर उठना ही ध्येय है, वही मुख्य है, तो इस दार्शनिकों की भूमि भारत मे ऐसा कौन मूर्ख होगा जो अरविन्द भाषा में जड़ मार्क्सवादियों के प्रचार से प्रभावित हो जायगा और केवल रोजी व रोटी जैसी तुच्छ, अमुख्य, सापेक्ष, सीमित, नश्वर वस्तुओं के लिए सङ्घर्ष करेगा) मनुष्य के दुःख का अन्त न होगा अतः मार्क्सवादियों के पास दुःख का समाधान नही हैं। सच्चा समाधान इसी भारतीय प्राचीन दर्शन में ही मिलता है।*

भारतीय दर्शन तटस्थ होकर सुख-दुःख के अवास्तविक रूप को प्रकट करता है। अपने मन को सुख-दुखमय परिस्थिति से अलग कर लेने का नाम तटस्थता है।

तटस्थता की स्थिति में हमे सुख व दुःख चेतना के समुद्र से

* मैंने पिछले निबन्ध में बताया था कि किस प्रकार निरपेक्षतावादी दार्शनिक जब व्यावहारिक समस्याओं पर सोचते हैं तो उनकी तत्त्वदर्शिता का साम्प्रदायिक रूप स्पष्ट हो जाता है। पाठक स्वय विचार करें कि जिस वस्तु को आप गौण मान कर चलते हैं और उसकी गौणता का प्रचार करते हैं, अपने उपदेशो में, उसे केवल क्षुद्र सामयिक प्रश्न बता कर उसके लिए होने वाले सङ्घर्ष से अलग रह कर दूर से अलौकिक आनन्द की खोज में रत रहते हैं, तो उस गौण वस्तु की—रोजी-रोटी आदि की समस्या क्या कभी हल हो सकती है? क्या इस निरपेक्षवाद पर आधारित आत्म-चेतना के उपदेश जनता के सङ्घर्ष में बाधक नहीं बनते?

उत्पन्न धाराओं के समान प्रतीत होते हैं। अत: तटस्थ होकर हम इस सुख व दु:ख का भी आनन्द ले सकते हैं। काव्य व नाटक में ऐसा ही आनन्द हम अनुभव करते हैं। यह आनन्द सार्वभौमिक होता है। भय, क्रोध, रति, घृणा, आश्चर्य आदि सुख-दु:खमयी भावनाओं का आनन्द हम तटस्थ हो कर ही अनुभव करते हैं इसी को 'रस' कहा गया है और रस को 'ब्रह्म' भी कहा गया है। अत: जगत के सुख-दुःख के अनुभवों का आनन्द भी हम तटस्थ हो कर ले सकते हैं।†

तब इस तटस्थता से जन्य आनन्द की प्राप्ति ही ध्येय है, हमें इसके लिए 'तितिक्षा' नाश सर्वप्रथम करना चाहिए* यही संन्यासी का मार्ग है।

माया—यद्यपि अरविन्द शङ्कर के मायावाद के विरोधी हैं। शङ्कर माया का अर्थ करते हैं—जो न सत् है, न असत् है वह पदार्थ माया है। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति न सत् है न असत् है क्योंकि सत् वस्तु तीनों कालों मे विद्यमान रहती है, जब कि रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति तीनों कालों में नही रह सकती। उसकी सत्ता केवल वर्तमान में ही रहती है। असत् वह पदार्थ है जो तीनों कालों मे अविद्यमान हो। परन्तु रज्जु में सर्प की भ्रान्ति वर्तमान मे विद्यमान रहती है फलत: रज्जु में सर्प की भ्रान्ति न सत है न असत। अत: उसे अनिर्वचनीय

भ्रांतिमय-विवर्त माय ठहरता है और अरविन्द उसे ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते है अतः वे 'माया' का अर्थ "न सत, न असत" नही लेते।

जैसे कलाकार के मन में जो अव्यक्त रूप में स्थिति है, उसी को व्यक्त कर वह कला का जन्म देता है वैसे ही स्रष्टा अव्यक्त किन्तु सत्तावान शक्ति को जगत के रूप मे बदल देता है। इस प्रकार सृष्टि, चाहे वह कला के रूप मे हो या जगत के रूप में केवल आत्म-अभिव्यक्ति मात्र है।* जिस प्रकार कलाकार सत्य है उसी प्रकार रचना या सृष्टि भी सत्य है, × वह भ्रांति नही है परन्तु व्यक्ति अपनी आंतरिक चेतना व बाह्य भौतिक जड़ तत्त्व मे अन्तर देखता है, वस्तुत. उसमें अन्तर होता नही है। इसे समझने के लिए हमें स्वयं 'आवरण का सिद्धांत' समझ लेना चाहिए (the theory of self-absorption) प्राचीन ऋषि इसे पूर्णतया समझते थे।

आधुनिक विचारकों ने विकासवाद के सिद्धान्त का आविष्कार किया है, परन्तु यह कोई नवीन वस्तु नहीं है। प्राचीन विचारक इससे

* स्रष्टा को कलाकार व सृष्टि को कलात्मक रचना के रूप में काण्ट ने भी स्वीकार किया है। इस विचार का प्रभाव रोमांटिक कवियो कीटस, शैले, बायरन, गेटे, शिलर आदि पर भी पड़ा था तथा दार्शनिकों पर भी इस विचार ने प्रभाव डाला था। अरविन्द ने सम्भवतः काण्ट से ही यह विचार ग्रहण किया है। The beauty and Sublimity of nature and purposeness of organisms indeed suggest to us that the world may be the production of an infinite Artist, of a genius who has produced it, as human artists produce their creations. (Kant : A History of Modern Philosophy) परन्तु काण्ट ने सम्भावना के रूप में लिखा है जबकि अरविन्द को वेद के प्रमाण तथा स्वानुभूति के आधार पर इस सम्बन्ध में कोई शका नहीं है कि यह जगत एक कलाकार की कला के ही समान है। काण्ट ने इस प्रकार सम्भावना प्रकट की है—we may hope that this is true but we do not know. यह है काण्ट की सम्यता जो उसकी इस सम्भावना में प्रकट हुई है।

× All creation or becoming is nothing but this self-manifestation.

उत्पन्न धाराओं के समान प्रतीत होते हैं। अत तटस्थ होकर हम इस सुख व दु ख का भी आनन्द ले सकते हैं। काव्य व नाटक में ऐसा ही आनन्द हम अनुभव करते हैं। यह आनन्द सार्वभौमिक होता है। भय, क्रोध, रति, घृणा, आश्चर्य आदि सुख-दु खमयी भावनाओं का आनन्द हम तटस्थ हो कर ही अनुभव करते है इसी को 'रस' कहा गया है और रस को 'ब्रह्म' भी कहा गया है। अतः जगत के सुख-दुःख के अनुभवों का आनन्द भी हम तटस्थ हो कर ले सकते हैं।†

तब इस तटस्थता से जन्य आनन्द की प्राप्ति ही ध्येय है, हमें इसके लिए 'तितिक्षा' नाश सर्वप्रथम करना चाहिए* यही संन्यासी का मार्ग है।

माया—यद्यपि अरविन्द शङ्कर के मायावाद के विरोधी हैं। शङ्कर माया का अर्थ करते हैं—जो न सत् है, न असत् है वह पदार्थ माया है। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति न सत् है न असत् है क्योंकि सत् वस्तु तीनों कालों में विद्यमान रहती है, जब कि रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति तीनों कालों में नही रह सकती । उसकी सत्ता केवल वर्तमान में ही रहती है। असत् वह पदार्थ है जो तीनों कालों मे अविद्यमान हो। परन्तु रज्जु में सर्प की भ्रान्ति वर्तमान मे विद्यमान रहती है फलत रज्जु में सर्प की भ्रान्ति न सत् है न असत्। अत उसे अनिर्वचनीय कहा जा सकता है या माया। शङ्कर यही अर्थ लेते हैं। परन्तु अरविन्द यह अर्थ नही लेते। क्योंकि शङ्कर की इस परिभाषा से संसार

† राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सङ्घर्ष के युगों में अरविन्द ऐसी ही तटस्थता से जन्य अलौकिक आनन्द का अनुभव करते रहे थे ?

* मैंने कहा था कि व्यक्तिगत दृष्टि से देखने पर अरविन्द निरपेक्षतावादी धार्मिकों की तरह जगत के दुःखों के नाश के लिये मुख्य उपाय 'तितिक्षा' को ही स्वीकार करते हैं। चाहे निरपेक्षतावादी भले ही समग्रता व समन्वय के शब्दों का प्रयोग कर जड़-चेतन की समस्याएँ मनमाने ढङ्ग से सुलझा डालें परन्तु उनके निर्णय जो काम के हो सकते हैं सर्वथा पादरियों, पुजारियों, पुरोहितों व रहस्यवादियों की तरह व्यक्तिगत राग-द्वेष के नाश से ही प्रारम्भ होते हैं। समाज के द्रोहियों से भी तटस्थ रह कर ये समन्वयवादी जब ईर्ष्या-द्वेष के नाश का उपदेश देते हैं तो समाज के शत्रुओं के हाथ ही मजबूत रहते हैं।

भ्रांतिमय-विवर्त माय ठहरता है और अरविन्द उसे ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं अतः वे 'माया' का अर्थ "न सत, न असत" नही लेते।

जैसे कलाकार के मन में जो अव्यक्त रूप मे स्थिति है, उसी को व्यक्त कर वह कला का जन्म देता है वैसे ही स्रष्टा अव्यक्त किन्तु सत्तावान शक्ति को जगत के रूप मे बदल देता है। इस प्रकार सृष्टि, चाहे वह कला के रूप मे हो या जगत के रूप में केवल आत्म-अभिव्यक्ति मात्र है।* जिस प्रकार कलाकार सत्य है उसी प्रकार रचना या सृष्टि भी सत्य है, × वह भ्रांति नही है परन्तु व्यक्ति अपनी आंतरिक चेतना व वाह्य भौतिक जड़ तत्त्व में अन्तर देखता है, वस्तुतः उसमे अन्तर होता नही है। इसे समझने के लिए हमे स्वयं 'आवरण का सिद्धांत' समझ लेना चाहिए (the theory of self-absorption) प्राचीन ऋषि इसे पूर्णतया समझते थे।

आधुनिक विचारकों ने विकासवाद के सिद्धान्त का आविष्कार किया है, परन्तु यह कोई नवीन वस्तु नहीं है। प्राचीन विचारक इससे

* स्रष्टा को कलाकार व सृष्टि को कलात्मक रचना के रूप में काण्ट ने भी स्वीकार किया है। इस विचार का प्रभाव रोमाटिक कवियों कीटस, शैले, बायरन, गेटे, शिलर आदि पर भी पड़ा था तथा दार्शनिकों पर भी इस विचार ने प्रभाव डाला था। अरविन्द ने सम्भवतः काण्ट से ही यह विचार ग्रहण किया है। The beauty and Sublimity of nature and purposeness of organisms indeed suggest to us that the world may be the production of an infinite Artist, of a genius who has produced it, as human artists produce their creations (Kant : A History of Modern Philosophy) परन्तु काण्ट ने सम्भावना के रूप में लिखा है जबकि अरविन्द को वेद के प्रमाण तथा स्वानुभूति के आधार पर इस सम्बन्ध में कोई शका नहीं है कि यह जगत एक कलाकार की कला के ही समान है। काट ने इस प्रकार सम्भावना प्रकट की है—we may hope that this is true but we do not know. यह है काण्ट की सभ्यता जो उसकी इस सम्भावना में प्रकट हुई है।

× All creation or becoming is nothing but this self-manifestation.

परिचित थे। वेदान्त सूत्रों व उपनिषदों में ब्रह्म व जगत की समस्या को विकासवाद के आधार पर ही समझाया गया है। ब्रह्म जगत के रूप में व्यक्त होता है, यह हम पीछे कह आए हैं। यह विकास निम्न-दिशा की ओर अर्थात् चेतन का विकास जड़ जगत की ओर होता है जिसे अरविंद Invalution नाम देते हैं। ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत के रूप में व्यक्त होता है, इस शक्ति का नाम "माया" है। इसी का वर्णन बार-बार उपनिषदों में आया है। इसी माया नामक शक्ति से ब्रह्म जगत के रूप में व्यक्त होकर अपने ऊपर आवरण डालता है और स्वयं व्यक्तिगत जीवात्मा के रूप में अवस्थित रहता है, तथा शुद्ध रूप में इन दोनों के परे भी रहता है। इसलिये आत्मा, विश्वात्मा, विश्वरूप परात्पर, पुरुषोत्तम आदि दोनों प्रकार के नाम दिए गए हैं।+ वह जीवात्मा भी है, जगत भी, और दोनों से परे भी, तभी यह सब ब्रह्म है, ऐसा कहा जाता है। माया नामक शक्ति से ब्रह्म अपने को नाम-रूपात्मक जगत मे व्यक्त करता है। इस शक्ति से जब चेतना आवृत हो जाती है तो एकता का ज्ञान नही रहता, विविधता ही सत्य प्रतीत होती है। परन्तु ज्ञान हो जाने पर सब कुछ सच्चिदानन्दमय प्रतीत होने लगता है।

परन्तु अब भी एक प्रश्न शेष है कि यदि यह स्वीकार भी करलें कि जगत् ब्रह्म में अन्तर्निहित एक शक्ति (माया) से ही निर्मित है, वह शक्ति ब्रह्म मे ही रहती है, तो क्या सहसा ही वह शक्ति जड़-जगत् के रूप में परिवर्तित हो जाती है ? या उसमे एक क्रमिक विकास मिलता है। अरविन्द कहते हैं कि जगत इन्द्रजाल का खेल नहीं है कि सहसा ही प्रस्तुत हो जाता है और सहसा ही लुप्त हो जाता है। क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार करे तो जगत की सत्यता सिद्ध नही होगी। मायावाद जगत को इन्द्रजाल के समान मानता है। अरविन्द के अनु-

+ In reality the force is himself, the individualised consciousness which it instrumentalised is himself, the material which it uses is himself, the resultant is himself। इन शब्दों से स्पष्ट है कि अरविन्द सर्वात्मवादी हैं, इसी को (Pantheism) सर्ववाद कहते हैं। सर्ववादी दर्शन जीवात्मा, जगत व ब्रह्म तीनों को ब्रह्म ही मानता है, जगत को भ्रान्तिमय नहीं मानता जिसे शङ्कर जैसे केवलाद्वैतवादी मानते हैं।

सार ब्रह्म अपनी शक्ति से जगत के रूप में क्रमशः, सोपान प्रति सोपान, धीरे-धीरे निम्न दिशा की ओर बढ़ता हुआ अन्त मे जड़-जगत के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। इस विकास को—ब्रह्म के जगत के रूप मे विकास को involution निम्न दिशा की ओर विकास कहते है। प्राचीन ऋषियों ने इसे जान लिया था।

माया नामक ब्रह्म की शक्ति के द्वारा अनेकता की सत्य प्रतीति होती है यह हम बता चुके हैं, इसे अरविन्द मानसिक भ्रान्ति (Mental play or illusion of Maya) कहते है। यही दु:खों की मूल है! इसी से मुक्ति प्राप्ति करनी है तभी हम ब्रह्म की ओर उन्मुख हो सकते हैं परन्तु इसे त्याग कर, हम इस पर विजय प्राप्त नही कर सकते। इसका सामना करके ही, इसका आलिगन करके ही इस पर विजय प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि यह ब्रह्म की ही शक्ति है जो भ्रान्ति के रूप मे व्यक्त हुई है। इसे छोड़कर आगे नही बढ़ सकते, जैसा सन्यासी समझते हैं।

परन्तु यह मानसिक भ्रान्ति से सम्बन्धित माया निम्नकोटि की माया है जो जीवात्मा को ब्रह्म की ओर उन्मुख नहीं होने देती। इससे उच्चकोटि की एक माया और है जिसे अरविन्द 'माया का सत्य' (truth of Maya) कहते है। यह 'उच्च माया' ही ब्रह्म की वह शक्ति है जो जगत की सृष्टि का मुख्य कारण है। इस माया की स्थिति में भ्रान्ति नही होती, इसमे प्रत्येक जीवात्मा को एकता का ज्ञान रहता है, वह अपने को बन्धन-ग्रसित, काम क्रोधादि से क्षुब्ध नही समझता जैसा कि मानसिक माया (Mental Maya) मे होता है। यह उच्च माया ऊर्ध्व-चेतना का खेल है, शक्ति है (Supra mental play)

ब्रह्म—सत्-चित्-आनन्द

ऊर्ध्व-चेतना Supra mental play
या उच्च माया, एकतात्मकज्ञान

Mental Maya मानसिक भ्रान्ति जनक माया एकता का ज्ञान नष्ट	Mind मन Life प्राण या जीवन Matter जड तत्त्व		+ ब्रह्म = जीवात्मा

इस चित्र से स्पष्ट है कि ब्रह्म की शक्ति (माया) दो प्रकार की है १ शुद्ध, उच्च, २ अशुद्ध, निम्न। जगत के बन्धन में ग्रसित आत्मा पर निम्नकोटि की भ्रान्ति-जनक माया का प्रभाव रहता है, इसे पार कर जब साधक चेतना के स्तरों पर चढ़ता है, मन या मस्तिष्क तक ही अपने को सीमित नही रखता तो वह ब्रह्म व मन के बीच एक ऐसे सोपान पर पहुँचता है जिसे अरविन्द Super mind या ऊर्ध्व-चेतन कहते है। यह साधना की उच्च स्थिति पर ही प्राप्त होता है। इसे ही अरविन्द माया का सत्य या ऊर्ध्व-चेतना का खेल (Supra-mental play) आदि नाम देते हैं, यही स्रष्टा है। यहाँ एकता का ही बोध होता है, अनेकता व विविधता का नही। यहाँ जीयात्मा शुद्ध रहता है, अभी वह पूर्णतया ब्रह्म में सम्मिलित नही हो जाता परन्तु अपने को ब्रह्म ही समझता है। अलग रहने पर भी एकता रहती है। यह उच्चतर माया की स्थिति है। इसे माया का नाम देना पाठकों को भ्रम-जनक हो सकता है परन्तु इस वर्णन से स्पष्ट हो जायगा कि अन्तत. अरविन्द का उच्च माया से क्या अभिप्राय है। मतलब यह है कि आप दिमाग से जो कार्य करते हैं वह मायात्मक हैं, निम्नकोटि की माया से आपका दिमाग आवृत है, इसीलिये आप विविधता को सत्य मानते हैं, जड़ व चेतन में अन्तर मानते हैं, या तो जड़ को ही मुख्य मानते हैं या चेतन को ही सर्वस्व मानते है, यह ज्ञान मायात्मक है। अत. इससे ऊपर उठकर, मन से ऊपर के चेतना के स्तरों पर जाकर ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति में एकत्व का ज्ञान होता है, यही उच्च माया है। माया इसलिये कहा कि यहाँ भी अभी जीव व ब्रह्म अलग अलग हैं, दोनों मिलकर एक नही हुये, परन्तु एकत्व का भाव आगया। यह है उच्चतर माया।

१—मन, मस्तिष्क, मिश्रित बुद्धि—निम्नकोटि की माया

२—ऊर्ध्व-चेतन (Super mind)—उच्च माया

अरविन्द के अनुसार विवर्तवादी व निराशावादी माया के इन दो रूपों को यदि समझ लेते तो जगत को मिथ्या कहने की आवश्यकता न रहती, हम जगत को मिथ्या या जगत को ही सब कुछ इसीलिये कहते है क्योंकि हम पर मानसिक-भ्रांति (Mental Maya) का प्रभाव है। ऊर्ध्व-चेतना का विकास होने पर, जगत की सत्यता प्रतीत

होने लगनी है अतः जगत को मिथ्या समझने वालों पर मानसिक माया (impure reason मिश्रित बुद्धि) का प्रभाव है। इनकी चेतना अविकसित है, वे कोरी बुद्धि से जगत को अलग-अलग करके देखते है, समग्र दृष्टि से देखने पर, जगत व ब्रह्म की एकता सत्य प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार अरविन्द ने माया के दो रूपों का वर्णन किया है।

अरविन्द यह मानते हैं कि इन माया के दो रूपों मे विकृत माया—मानसिक माया—पर हम तभी विजय प्राप्त कर सकते है जबकि पहले उसका अनुभव करें, इससे परे विजय नही पा सकते। मानसिक सुख-दु.ख आदि का अनुभव अनिवार्य है क्योंकि इनके विना अनुभव के उच्चतर माया की ओर हम बढ़ ही नही सकते और न ज्ञान की प्यास तीव्र हो सकती है। मानसिक माया की स्थिति में प्राप्त द्वन्द्व ईश्वर द्वारा ही रचित हैं जिनमें वह स्वय अपने को रखता है।* चेतना, या जीवात्मा यदि मानसिक माया के उन अनुभवों को जो मन के माध्यम से होते हैं, छोड़ दे तो सहसा सुपर माइण्ड तक नही पहुँच सकती अतः 'मानसिक माया'—प्रथम सोपान—को पार करके ही आगे बढ़ सकते हैं। यदि यह न होता तो ब्रह्म की अभिव्यक्ति की लीला अधूरी रहती अत माया दु खजनक नहीं, ब्रह्म के आत्मानुभव में सहायक है। इसी-लिये ससार-त्याग ध्येय नहीं है, इसी के माध्यम से, इसके अनुभवों से लाभ उठाकर ही चेतना आगे बढ़ सकती है। तब ससार दुःखमय कैसे है? माया दुःखमय कैसे है? दु खवाद कहाँ है? विवर्तवाद कहाँ है?

ऊर्ध्व-चेतन (Super mind)—

अरविन्द दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है, समन्वय (Reconciliation) की खोज। जड़ व चेतन प्रत्यक्षतः परस्पर विरोधी

* The lower present and deluding mental maya has first to be embraced, then to be overcome, for it is God s play with division and darkness and limitation, desire and strife and suffering in which He subjects Himself to the force that has come out of Himself to be obscured.

वस्तुयें प्रतीत होती हैं, भारतीय दार्शनिकों में शङ्कराचार्य जैसे दार्शनिक चेतन को ही पूर्ण महत्त्व देते हैं, जड़-तत्त्व का निषेध करते हैं। दूसरी ओर भौतिकवादी जड़तत्त्व को ही मुख्य मानते हैं। अरविन्द जड़ को चेतना का ही एक रूप मानते हैं। इसके लिए अरविन्द यह तर्क देते हैं कि चेतना सहसा जड़ तत्त्व के रूप में परिवर्तित नही हो सकती, उसका जड़-तत्त्व के रूप मे विकास कई सोपानों में क्रमशः होता है। इन सोपानों की नवीन कल्पना अरविन्द की सबसे बड़ी विशेषता है। यही नही वे अपनी कल्पना के समर्थन मे यह भी कहते हैं कि इन सोपानों के विषय में प्राचीन ऋषि परिचित थे परन्तु शंकर, रामानुज आदि तार्किक दार्शनिक इन्हे नहीं समझ सके। अतः जिस प्रकार शंकर, रामानुज आदि दार्शनिक अपनी बात को श्रुति-सम्मत दिखाने का प्रयत्न करते रहे हैं, उसी प्रकार अरविन्द ने भी श्रुतियों, वेद, उपनिषद गीतादि की नवीन व्याख्या की है। उनके अनुसार वेदान्त के प्रवर्तक ऋषिगणों के द्वारा ज्ञात रहस्य को केवल अरविन्द ने उद्घाटित किया है, कोई नवीन बात अरविन्द नहीं कहते। इस प्रकार अरविन्द ने भी वही प्रवृत्ति अपनाई है जो मध्यकालीन दार्शनिकों ने अपनाई थी, अर्थात् अपनी व्याख्या को श्रुति-सम्मत सिद्ध करना और यह दिखाना कि मैं कोई नवीन बात नहीं कह रहा, मैं जो कह रहा हूँ वही ऋषि भी कहते थे। ऋषि बेचारे क्या कहते थे यह तो कहना कठिन है, परन्तु शकर, रामानुज व अरविन्द जैसे दार्शनिकों की मेधा की प्रशसा अवश्य करनी पड़ती है जिन्होंने अपनी मौलिक विचार-धारा के अनुसार ही ऋषियों के ज्ञान की व्याख्या की है।

अरविन्द यह मानते हैं कि मूल चेतना ब्रह्म है, ब्रह्म अपने को मन, प्राण व जड़तत्त्व मे व्यक्त करता है, जड़तत्त्व से यह जगत विकसित हुआ है। मन, प्राण व जड़तत्त्व के बन्धन मे स्वय ब्रह्म जब बँध जाता है तो उसे जीवात्मा कहते हैं। मन (Mind) व ब्रह्म के बीच एक स्थिति और है जिसे ऊर्ध्व-चेतन या (Super mind) कहते हैं। अरविन्द दर्शन में इस Super mind का अत्यधिक महत्त्व है। यह केवल स्थिति नहीं है, यह ब्रह्म की शक्ति भी है। इससे ही आगे (Mind मन, Life प्राण या प्राण-सत्ता, Matter जड़तत्त्व) की सृष्टि होती है अत. ऊर्ध्व-चेतन स्रष्टा भी है। वेदों मे उसका वर्णन मिलता है। वहाँ दो बाते कही गई हैं—१—वह चेतना जो सत्य को पहचानती है (Truth

consciousness) २ वह चेतना जो किसी वस्तु का ज्ञान कराती है (Knowledge)। इसमें प्रथम ऊर्ध्व-चेतन है और द्वितीय जगत का ज्ञान कराने वाली वृत्ति।

जगत में हमारा मस्तिष्क, (मन, Mind) किसी भी वस्तु को विभाजित किये विना नही समझ सकता। वह विश्लेषण द्वारा ही वस्तु के स्वरूप् को समझना चाहता है। परन्तु ऊर्ध्व-चेतन इसके विपरीति स्वभाव वाला है, वह समन्वय खोजता है, अनेकता व विविधता का ज्ञान वहाँ नही रहता, एकता का ज्ञान वहाँ रहता है, हमारा मन जगत के ज्ञान का साधन है, परन्तु हमारा ऊर्ध्व-चेतन ब्रह्म की एकता का ज्ञान कराता है।

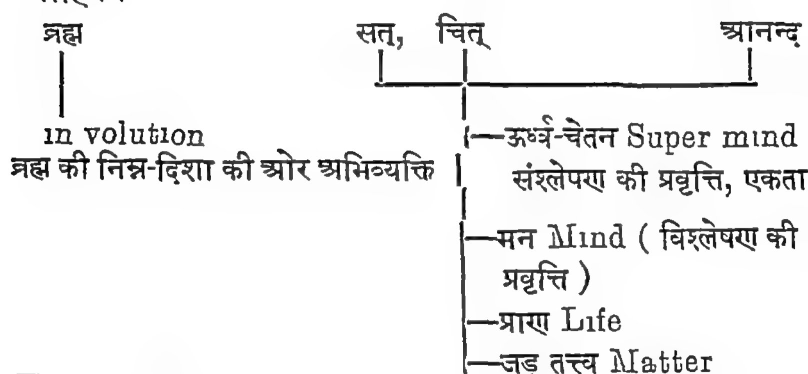
ब्रह्म सर्व प्रथम आपने को ऊर्ध्व-चेतनावस्था मे अपने को व्यक्त करता है। ब्रह्म के तीन भावात्मक रूप वतलाए गये है—सत्, चित्, आनन्द। ये तीन तत्त्व मूलतः एकही हैं, परन्तु चूँकि हमारा भौतिक मन विभाजन द्वारा ही वस्तु को समझना चाहता है अतः ऋषियों ने ब्रह्म के भावात्मक रूपको समझाने की सुविधा के लिए तीन भागों में विभाजित कर दिया है—सत्, चित्, आनन्द। भौतिक मन को इसे समझने मे आश्चर्य हो सकता है कि कैसे एक वस्तु के तीन रूप अलग-अलग होने पर भी एक हैं, परन्तु है वस्तुतः ऐसा ही, इसीलिए एकता का स्वर वेद में मुख्य है और कहा गया है कि प्रारम्भ मे एक ही सत्ता थी।* द्वितीय सत्ता कोई नही थी। इस बात के सत्य को पहचानने की वृत्ति, ऊर्ध्वचेतना ही है।

इस ऊर्ध्वचेतन के रूपमें ब्रह्म का आत्म-विस्तार होता है, इस स्थिति मे ब्रह्म की चित् शक्ति, आनन्द के कारण, 'ऊर्ध्व-चेतन के रूप में व्यक्त होती है इसे Real idea truth consciousness कहा गया है। यह शक्ति ब्रह्म की है जिसके द्वारा ब्रह्म आत्म-अनुभव करता है, यह दैवीसत्ता द्वारा अपने विषय में ही ज्ञान करने की स्थिति है तथा शक्ति भी है अत ऊर्ध्व-चेतन ब्रह्म का ज्ञान व शक्ति दोनों है। ऊर्ध्व-चेतन के द्वारा ही ब्रह्म अपने को व्यक्त करता है। और इसके ही द्वारा अपने को सीमित करने तथा अपने को जीवों के रूप में रखने की

* In the beginig was the one existence without a Second.

क्रिया ब्रह्म मे प्रारम्भ होती है + ।

ऊर्ध्व-चेतन व ब्रह्म मे अंतर होते हुए भी अंतर नहीं है, यथा दाहक शक्ति अग्नि से भिन्न नही है वैसे ही ऊर्ध्व-चेतन ब्रह्म से भिन्न नही है। अत ऊर्ध्व-चेतनावस्था (Supra-mental state) मे सत्, चित्, आनन्द तीनों एक प्रतीत होते हैं, सारे भेद भाव नष्ट हो जाते हैं, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का ज्ञान इसी स्थिति में होता है। यह स्थिति ब्रह्म से एक सोपान नीचे तथा भौतिकमन से ऊपर है। भौतिक मन को पार कर जीवात्मा साधना द्वारा ऊर्ध्व-चेतनावस्था तक पहुँच सकता है, परन्तु भौतिक मन आज के युग मे विश्लेषण में इतना उलझ-गया है कि वह यह मानने को तैयार नही कि मन से परे भी चेतन की ऊँचाई और हो सकती है जहाँ संश्लेषण, और ज्ञान की अखंडता ही रहती है। वस्तुत भौतिक मन चेतना का निम्न सोपान है, उससे ऊपर उठकर ऊर्ध्व-चेतनावस्था की प्राप्ति ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।



+ And the Super mind (चित्) is the divine's own knowledge of himself which is atonce his own 'innate power' of self manifestation The Super mind is Absolute knowlede and power. It is through the Super mind–that the Super mind–that the divine manifests himself as the world. It ts with the Super mind that the process of self limitation and self individualizatian starts in Brahaman

(Indian Philosophy—Chandra Dhar Sharma)

ऊपर के रेखा-चित्र से स्पष्ट है कि ब्रह्म की जब जगत के रूप में अभिव्यक्ति प्रारम्भ होती है तो प्रथम सोपान के रूप में ब्रह्म की शक्ति उससे अलग हो जाती है, इस शक्ति व ज्ञानात्मक स्थिति का नाम है ऊर्ध्व-चेतन। इसमें सृष्टि करने की शक्ति रहती है, इसीलिए वेदान्त मे इसे 'ईश्वर' कहा है। शांकर वेदान्त मे ईश्वर को मायोपाधि-संयुक्त ईश्वर कहते हैं अर्थात् ब्रह्म से माया का जब संयोग हो जाता है तो उसे ईश्वर कहने लगते हैं, जो स्रष्टा है। यहाँ भी ब्रह्म की सृष्टि-शक्ति को ही ऊर्ध्व-चेतन कहा गया है। यह व्यक्तिगत ईश्वर नही है। यह सर्वत्र व्याप्त है। यही शक्ति स्थूल रूप से देश मे व सूक्ष्म रूप से काल के रूप मे अपने को व्यक्त करती है। इसे अलग-अलग देखने का कार्य भौतिक मन करता है परन्तु ऊर्ध्व-चेतनात्मक दृष्टि से देश-काल, ऊर्ध्व-चेतना के ही दो रूप हैं। यही शक्ति भौतिक मन, प्राण व जड़-तत्त्व के रूप में विकसित होती है और इन तीनों आवरणों में, साथ ही अपना शुद्ध रूप जीवात्मा के रूप में रख कर तीनों पर शासन करती है। और इन्हीं तीनों—मन, प्राण, जड़ तत्त्व के माध्यम से, ज्ञान होने पर ऊर्ध्व-चेतनावस्था को पुनः प्राप्त कर सकती है और पुनः एकता प्राप्त कर सकती है, परन्तु भौतिक मन तक ही रुक जाने पर चारों ओर भेद ही भेद दिखाई पड़ते हैं, एकता का ज्ञान ही नहीं होता और ऊर्ध्व-चेतन पर विश्वास नही होता। भौतिकवादी ऐसे ही संकीर्णतावादी होते हैं परन्तु आध्यात्म-वादी भौतिक मन से ऊपर उठ कर चेतना के ऊपर के स्तरों पर चलते हैं और ज्ञान की अखण्ड स्थिति को प्राप्त करते हैं।

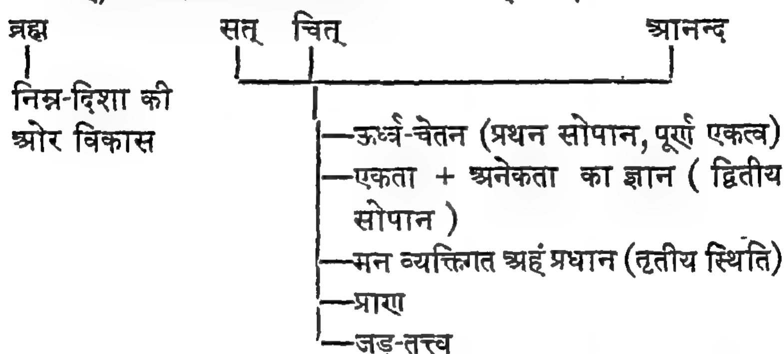
इस ऊर्ध्व-चेतना के भी अरविन्द ने कई स्तर बताए हैं। उनके अनुसार भौतिक स्थिति मे मनुष्य की आत्मा पर भौतिक मन का पर्दा रहता है। अतः व्यक्तिगत अहं से ज्ञान आवृत रहता है। भौतिक वस्तुओं के ज्ञान तथा उनसे प्राप्त आनन्द ही ध्येय रहता है परन्तु इस भौतिक मन के बन्धन से आत्मा को अलग करना होगा।

यह बन्धन कैसे छूटे ? इसके लिए भौतिक मन से भी ऊपर चेतना के स्तर हैं, इस पर विश्वास करना होगा। भौतिक मन से भी ऊपर ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति है। इस ऊर्ध्व-चेतना की तीन स्थिति हैं—

१—प्रथम (Poise) इस स्थिति में सम्पूर्ण वस्तुओं की विविधता नष्ट हो कर केवल एकता का ही अनुभव होता है। परिपूर्ण, शाश्वत एकता ही इस प्रथम स्थिति की विशेषता है।

२—इस द्वितीय स्थिति में एक सत्ता मे अनेक सत्ताओं का अथवा एक सत्ता का अनेक सत्ताओं के रूप में भान होने लगता है। इसमें वस्तुतः एकता व अनेकता (Coexistence) सह-अस्तित्व रखती हैं।

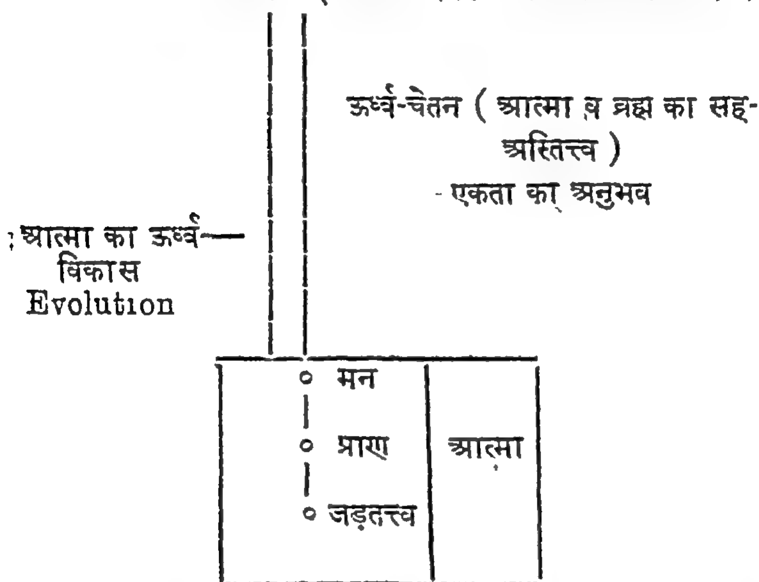
३—इसमे एकता नष्ट हो जाती है और अज्ञान के कारण व्यक्तिगत अहं प्रधान हो जाता है और भौतिक मन की स्थिति आ जाती है, जिसमें केवल विविधिता का वोध होता है—



प्रश्न यह है कि ऊर्ध्व-चेतनावस्था तक पहुँचना कैसे सम्भव है जबकि भौतिक मन में व्यक्तिगत अह प्रधान रहता है। इसका उत्तर यह है कि चूँकि भौतिक मन पर यद्यपि अविद्या का प्रभाव रहता है तथापि उसके नीचे स्थित शुद्ध चेतना जव-तव अपना आभास देती रहती है, और यह आभास हम जीवन में जव-तव अनुभव करते हैं। चूँकि चेतना के ऊर्ध्व-शिखिर ब्रह्म तक पहुँचते हैं और मन, प्राण व जड़ शरीर के अन्तर थित आत्मा भी ब्रह्म का ही अंश होता है अत जव ऊपर से पुकार उठती है जो नीचे आत्मा से जवाव मिलता है और जव आत्मा से पुकार उठती है तो ऊपर के चेतना स्तरों से जवाव मिलता है।* अतः आत्मा अज्ञान की अवस्था में मन तक ही सन्तुष्ट न रह कर, परन्तु उसी के माध्यम से चेतना के रूप के स्तरों की ओर

* There is a call from above and response from below.

चलती है, व्यक्तिगत अहं पीछे छूट जाता है और एकता का ज्ञान पुष्ट होने लगता है और बराबर प्रयत्न करने पर आत्मा अन्त में पूर्ण एकता की स्थिति ऊर्ध्व-चेतनावस्था को प्राप्त कर लेती है जहाँ सच्चिदानन्द के साथ आत्मा का सह-अस्तित्त्व सम्भव हो जाता है। दोनों साथ-साथ ही रह सकते हैं, भेद-प्रधान जगत् के अनुभव यहाँ नहीं रहते। इसके आगे बस ब्रह्म है जहाँ आत्मा ब्रह्म में मिल जाती है और ऊर्ध्व-ऊर्ध्व-विकास पूरा हो जाता है।



मन व ऊर्ध्व चेतन—ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि ऊर्ध्व-चेतन मन व ब्रह्म के बीच के सोपान का नाम है। वह ब्रह्म की रचनात्मक शक्ति का भी नाम है। उसमें सत्-चित्-आनन्द तीनों तत्त्व रहते हैं अत. सारा विश्व सत्, चित् आनन्द से पूर्ण है। अज्ञान के कारण, या व्यक्तिगत अहं से आवृत्त होने से हमारी आत्मा जो मूलत. शुद्ध चेतना है, इस सत्-चित्-आनन्द की एकता को भूल गई है।

आत्मा के तीन साधन हैं, वह शरीर जिसमें वह बन्द रहती है, जड तत्त्व से बना है। वह प्राण जो कि जीवित रखता है. तथा वह मन जिसके माध्यम से जगत् के सुख-दु ख का तथा अन्य प्रकार के ज्ञानों

का अनुभव आत्मा को होता रहता है। इनमें 'मन' ही बन्धन व मोक्ष का साधन है। यह चेतना का वह भाग है जो अविभाज्य तत्त्व को विभाजित करके देखता है। हमारे मस्तिष्क का यह स्वभाव है कि वह वस्तुओं को समग्र दृष्टि से नहीं देखता, वह उन्हें अलग-अलग विश्लेषण बुद्धि से देखता है। अतः यह वस्तु का उत्पादक नहीं बन सकता न जगत मन की उपज है, जैसाकि प्रत्ययवादी (Idealist) कहते हैं। आदि-चेतना को यह नहीं समझ सकता। उसे मन में अन्तर्निहित चेतना की सुप्त शक्तियाँ ही समझ सकती हैं। इस अन्तर्निहित शक्ति को 'प्रज्ञान' कह सकते हैं। यह 'प्रज्ञान' ऊर्ध्व-चेतन से निम्न स्तर की वोध-वृत्ति है। जैसे कवि अपनी कृति को आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है, मानो वह किसी अन्य की सृष्टि हो उसी प्रकार 'प्रज्ञान मौलिक विभाजन करता है, वह पुरुष-आत्मा को, प्रकृति को अलग-अलग देखता है। वह इन दोनों को आदि-सत्ता के सम्मुख रखकर देखता है, ब्रह्म के साथ आत्मा व प्रकृति के सम्बन्ध को सोचता है, जैसे शक्ति, शक्ति के ही सम्मुख, शक्ति के ही द्वारा प्रस्तुत हो, उसी प्रकार 'प्रज्ञान' प्रकृति व आत्मा को ब्रह्म के साथ रखकर चिन्तन करता है। इस 'प्रज्ञान' के पश्चात् ऊर्ध्व-चेतना की ओर उन्मुखता बढ़ती जाती है और अन्त में सारे विश्व की—जड-चेतन की—आत्मा व ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो जाता है।

परन्तु 'प्रज्ञान'' की अवस्था प्राप्त करने का प्रयत्न न करने पर केवल भौतिक मन की स्थिति में रहने से मन के कार्य दिव्य-सत्ता के विरोधी बन जाते हैं! नास्तिकता बढ़ती है, भौतिकता बढ़ती है, प्रकृति पर स्वाधिकार वढ़ता है। युद्ध, शक्ति-लोलुपता, नाशक आविष्कार, सङ्घर्ष, झूठे सिद्धान्तों आदि की वृद्धि होती है, जैसा कि आधुनिक युग में हो रहा है। मन विभाजन की प्रणाली द्वारा अखण्ड ज्ञान को अनेक स्वतन्त्र विषयों में बाँट देता है। वह विभाजन करते-करते अणु-परमाणु तक जा पहुँचता है। परन्तु जैसा कहा कि विभाजन-विश्वासी मन के ऊर्ध्व-शिखिरों पर चेतना का शुद्ध रूप भी रहता है जो जब-तव एकता की ओर उसे ले जाता रहता है। ऊर्ध्व-चेतना का एक वार ज्ञान होते ही भौतिकता से मन हटने लगता है और चेतना के ऊपरी स्तरों की ओर बढ़ता हुआ दमन विभाजन के स्थान पर संश्लेषण व समन्वय को ही ठीक समझने लगता है।

मन के सम्मुख विभाजन व विविधता का रहस्य खुल जाता है, जड़ व चेतन का विरोध मिटने लगता है और सर्वत्र एक ही सत्ता व्याप्त है, सब कुछ ब्रह्म है, ऐसा प्रतीत होने लगता है। यदि विभाजन की ओर ले जाने वाली अविद्या न होती तो ब्रह्म के आत्म अनुभव की लीला अधूरी रहती। अतः मन या मस्तिष्क ऊर्ध्व-चेतना का ही निम्न गति की ओर विकास की एक सोपान या चरण है, उसमें चेतना सीमित होकर एकांगी दृष्टि से सोचने लग जाती है। शरीर से सम्बन्ध हो जाने पर अज्ञान और बढ़ता है, चेतना और सीमित होती जाती है। ऊर्ध्व-चेतन की ही तरह मन के भी कई स्तर होते हैं।

१—वाह्य-चेतन मस्तिष्क—(Surface mind or outer mind) यह शारीरिक कार्य करते समय सजग रहता है। सारे व्यावहारिक जगत के कार्य इसी मस्तिष्क से होते हैं। इसी को "अन्नमय पुरुष" कहा गया है।

२—आंतरिक मन (Subliminal) यह शरीर से असम्बन्धित होकर चलता है, परन्तु यह भी मस्तिष्क का ही भीतरी भाग है। इसे "प्राणमय पुरुष" कहा गया है। इसमें 'आत्म' का ज्ञान होता है, परन्तु पूर्ण रूप से यह स्थिति दोष रहित नही रहती।

३—चिंतनात्मक मन—यह प्रथम दो से आगे की स्थिति है। यह विचार व इच्छा (will) की मनोभूमि है। अनेक संकल्प व विचार यहाँ उत्पन्न होते हैं जिनके कारण आत्मा सुख या दुःख के अनुभव करती है। इसे मनोमय पुरुष कहा गया है। एकता का मानसिक रूप ही केवल यहाँ उपस्थित होता है।

मन

वाह्यमन[1]	आंतरिक मन[2]	चिंतनात्मक मन[3]
Surface mind	(vital being) प्राणमय पुरुष	(thinking mind
अन्नमय पुरुष	(Subliminal)	मनोमय पुरुष
शरीर से सम्बन्धित	प्राण से सम्बन्धित	इच्छा विचार से संबंधित

१—This corporeal mentality is merely our surface of mind. Merely the front which it presents to physical experience.

मन के तीन स्तरों को हमने स्पष्ट किया। मनोमय पुरुष की स्थिति में यद्यपि विचार-शक्ति के बल पर हमें मानसिक एकता का ज्ञान होता है तथापि मन की स्थिति में भी मन की मौलिक भूलें रहती हैं अर्थात् विभाजन की प्रवृत्ति सर्वथा यहाँ से लुप्त नही होती अतः इसके बल पर हम ब्रह्म को नही पा सकते।

मन से ऊपर की स्थिति विज्ञान की होती है, जिसे ऊर्ध्व-चेतन कहा जाता है, जहाँ एकता का बोध होता है इसे ही विज्ञानमय पुरुष कहा गया है। इससे परे 'आनन्द' की स्थिति है जिसे 'आनन्दमय पुरुष' कहा है जहाँ आत्मा ब्रह्म में मिल जाती है। इन पाँचों स्थितियों को इस प्रकार रख सकते हैं—

१—ब्रह्म—आनन्दमय पुरुष—ब्रह्म मे जीवात्मा का लय
|
२—ऊर्ध्व-चेतन—विज्ञानमय पुरुष—एकता का ज्ञान, जीव और ब्रह्म का सह अस्तित्व
|
३—मन—मनोमय पुरुष—मानसिक एकता, विभाजन की प्रवृत्ति, इच्छा, विचार
|
४—आंतरिक मन—प्राणमय पुरुष—शरीर से स्वतन्त्र होकर क्रिया का अनुशासक
|
५—बाह्य मन—अन्नमय पुरुष—शरीर से सम्बोधित मानसिक क्रिया

मन तथा ऊर्ध्व-चेतना के स्तरों को स्पष्ट कर लेने के साथ-साथ जीवात्मा की स्थिति का भी प्रश्न है क्योंकि मन के स्तरों पर अविद्या का प्रभाव रहता है और इन स्तरों के आवरण के कारण जीवात्मा ऊर्ध्व चेतना की ओर नही बढ़ पाता। वेदों मे ब्रह्म को मूल-सत्ता, परात्पर ब्रह्म, सच्चिदानन्द, सर्वातीत आदि कहा है। यह शुद्ध एका-

२—There is this other sub-conscious or subliminal to us which knows itself as more than the body and is capable of a less materialised action.

३—It is the source of pure thinker. It is that which knows mentality in itself. It conceives too, a mental figure of unity.

त्मक स्थिति है। यही जगत का कारण है। इसका प्रथम रूप 'ऊर्ध्व-चेतन' Super mind है जिसमे एकता के साथ-साथ भिन्नता की भी स्थिति रहती है। दोनों का सह अस्तित्व रहता है। इसी को दैवी-माया, शक्ति, ज्ञान आदि नामों से पुकारा गया है। इस स्थिति मे जीवात्मा एकत्व का अनुभव करता है, परन्तु जीवात्मा का अस्तित्व रहता है, उसका लय ब्रह्म में नहीं होता। उसके नीचे मन की स्थिति है जिसके आवरण में जीवात्मा विभिन्नता को ही सत्य समझने लगती है, एकता का ज्ञान नष्ट हो जाता है। मानसिकता के वन्धन मे कभी-कभी आत्मा को मानसिक एकता का वोध होता है परन्तु मन की विभाजन-प्रवृत्ति से वह एकता का ज्ञान दव जाया करता है। प्राण व शरीर का शरीर के प्रति सम्वन्ध होने से आत्मा इन्हे ही सब कुछ समझ लेती है। शरीर व प्राण की रक्षा का भाव वढ़ जाता है और इन्ही की सन्तुष्टि मे वह अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझती है। इस प्रकार आत्मा पूर्ण वन्धन में पड़ जाती है। चूँकि 'आत्मा' शुद्ध चैतन्य स्वरूप होती है अतः ज्ञानोपदेशादि द्वारा चैतन्यावस्था मे वह जव अपने स्वरूप को पाना चाहती है, और साधना प्रारम्भ होती है तो शरीर, प्राण व मन से ऊपर उठ कर वह विज्ञान व आनन्द की स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करती है। वह शरीर, प्राण व मन की वात न सुन कर, मानसिकता से ऊपर उठ कर, विश्लेषण व विभाजन की प्रवृत्ति त्याग कर समन्वय की ओर उन्मुख हो कर ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति में, एकता का आनन्द अनुभव करती है और भेद-बुद्धि का परित्याग करती है। यही Supramental ऊर्ध्व-चेतनावस्था है। जहाँ भिन्न-भिन्न जीवात्माएँ एक ही ब्रह्म का साक्षात्कार करती हैं, जैसे चेतना के अनेक अंश महाचेतना के दर्शन कर रही हों, यही ब्रह्म का आत्मानुभव है। इससे भी ऊँची वह स्थिति है जहाँ ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है, और व्यक्तिगत आत्माएँ ब्रह्म मे मिल जाती हैं। आत्मानुभव का कार्य पूर्ण हो जाता है। विकास की चरमावस्था यही है। प्रकृति से सङ्घर्ष, अधिकाधिक भौतिक सुविधाओं की प्राप्ति, राजनैतिक विजय, वाह्य आर्थिक समानता आदि उपलब्धियाँ चरम विकास के सोपान मात्र हैं। इनसे भी ऊपर 'ऊर्ध्व-चेतना' की स्थिति है और उससे भी ऊपर ब्रह्म के साथ तादात्म्य की स्थिति है। शाश्वत आनन्द यहाँ तक विकास कर लेने पर ही प्राप्त

होगा। आज का युग मानसिक है, मन को ही यह अन्तिम धरातल समझता है, यह जड़ता है, यह तो अविद्या की स्थिति है, ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति ही ज्ञान की स्थिति है, वही सच्चा साम्यवाद है। वहाँ किसी की भी समाधि इसका प्रमाण है। पौधों में जीवन का यह द्वैध रूप नहीं दिखाई पड़ता। उनकी चेतना ऊर्ध्व-चेतन की ओर नहीं जा सकती। अत: जीवन के विकास में मनुष्य अन्तिम कड़ी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक ही शक्ति (Force) अनेक रूप धारण करती है, यह शक्ति पौधों में संवेदन, पशुओं में इच्छा व सङ्कल्प तथा मनुष्यों में ज्ञान इच्छा बन जाती है। जीवन-सत्ता का जो रूप पौधों में दिखाई पड़ता है, जो रूप धातुओं में प्रतीत होता है उससे स्पष्ट है कि जीवन-सत्ता जड़तत्त्व (Matter) के निकट है परन्तु वह उससे भिन्न भी है, अत: वह Mind मन व Matter जड़तत्त्व के बीच का सोपान है। शक्ति का अन्तिम रूप जड़-तत्त्व है।

जड़तत्त्व (Matter)—जीवन सत्ता का रूप स्पष्ट हो गया अब जड़तत्त्व पर विचार आवश्यक है। तैत्तरीय उपनिषद में कहा गया है कि जड़ तत्त्व ब्रह्म है। जीवन (Life) व जड़ तत्त्वों का युद्ध होता रहता है और उसमें जीवन की सदा हार होती है। पराजय का रूप मृत्यु के समय उपस्थित होता है। इसके साथ ही मन का सङ्घर्ष भी जड़ तत्त्वों व जीवन से होता है, यह अनादि सङ्घर्ष है। जोश में आ कर, जल्दबाज दार्शनिक (अध्यात्मवादी) इन तीनों मन, प्राण, जड़ तत्त्व को—आत्मा का विरोधी घोषित कर देते हैं। परन्तु हम जड़ तत्त्वों का पूर्ण उपभोग कर जीवन की विजय चाहते हैं। जड़ तत्त्वों व प्राण सत्ता का उपभोग कर हम मन की विजय चाहते हैं और इन तीनों का उपभोग कर आत्मा का उद्धार चाहते हैं। यही एक मात्र समाधान है। जिस प्रकार चेतना का आन्तरिक रूप व्यक्तिगत आत्मा है, उसी प्रकार चेतना का वाह्य रूप जड़ तत्त्व है। ब्रह्म के भावात्मक गुणों का अलग-अलग विश्लेषण कर के यदि समझाया जाय तो सत् का वाह्य रूप जड़, कहलाएगा तथा चित् शक्ति का रूप मस्तिष्क है। चित् शक्ति का ही एक रूप जीवन है। यह मैटर से विकसित नहीं हुआ है, वल्कि जिस शक्ति से मैटर विकसित हुआ है, उसी शक्ति से जीवन भी विकसित हुआ है।

मैटर यद्यपि ब्रह्म का ही वाह्य रूप है परन्तु यह अविद्या का

ही परिणाम है, इसमें बद्ध हो कर चेतना स्वयं को भूल गई है। और मैटर जैसे निरपेक्ष होकर रूपों के बनाने बिगाड़ने में व्यस्त है।

जीवन सत्ता या प्राण सत्त (Life)—ब्रह्म, ऊर्ध्व-चेतन, मन, मन के स्तर, जीवात्मा व जगत का विचार हो चुका। आज जीवन सत्ता के सम्बन्ध में भी विचार की आवश्यकता है।

प्राण-शक्ति (Vital force) जड़ तत्त्व (Matter) के साथ उद्भूत होकर कार्य करती है। जिसे हम मृत्यु कहते हैं वह जीवन की ही प्रक्रिया है। रूपों का बदलना, दृश्य व अदृश्य होना शक्ति की केवल गति है। जिस प्रकार भौतिक जड़तत्त्व विलग होकर नष्ट नहीं होते उसी प्रकार उनमें बद्ध शक्ति का एकरूप जीवन (Life) नष्ट नहीं होता।* जीवन भी उसी ब्रह्म की ही एक शक्ति है। उसी शक्ति का एक रूप जड़ तत्त्व है, एक रूप जीवन है। दोनों नष्ट नहीं होते, रूप बदलते रहते हैं। यदि सारा विश्व नष्ट हो जाय, तो भी मूल जीवन शक्ति अविनाशी भाव से विद्यमान रहेगी। वह मूल शक्ति पुन. अपने लिए नए विश्व का निर्माण कर लेगी। इस प्रकार जीवन उस मूल शक्ति का एक रूप है जो जगत मे अनेक रूपों को उत्पन्न करती, परिवर्तित करती, नाश और निर्माण करती है।

हम प्रायः जड़ व चेतन का विभाजन कर लेते हैं। जड़ों में जीवन नहीं स्वीकार करते पर अब यह गलत सिद्ध हो चुका है। जड़ वस्तुओं में भी जीवन होता है। जब हम जीवन का नाम लेते हैं तो हमारा तात्पर्य भोजन करना, साँस लेना, इच्छा करना, अनुभव करना आदि लक्षणों से होता है। इससे भी अधिक हम जीवन का अर्थ-केवल साँस लेने से ही लेते हैं। श्वास लेना ही जीवन है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु साँस न लेने पर, धड़कन बन्द हो जाने पर भी चेतना रहती है, यह सिद्ध हो चुका है। अत यह मानना चाहिए कि मूल जीवन शक्ति सर्वत्र व्याप्त है, भोजन-श्वास आदि बाहरी बातें

* All renews itself. Nothing perishes. There is one all pervading life or dynamic energy—the material aspect being only its outer most movement—that creates all these forms of the physical univers.

हैं। धातु व पौधों में भी जीवन शक्ति होती है। मूर्च्छा आदि में चेतना रहती है, बाह्य-क्रियाएँ नहीं रहती अतः जीवन सत्ता व्यापक वस्तु है, ऐसा मानना चाहिए।

पौधों में साधारण जीवन-शक्ति होती है, मनुष्यों में संकुल मनुष्य व पशुओं में शिराओं, धमनियों व मस्तिष्कों की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु पौधों में नसे तो रहती हैं परन्तु मस्तिष्कों की आवश्यकता वहाँ नहीं रहती। परन्तु संवेदनात्मकता उनमें अवश्य होती है। अतः वे सुख दु.ख का अनुभव करते हैं।

जीवन-सत्ता के कई रूप है। प्रथम रूप वह है जिसमें बाह्य-जीवन-शक्ति से शरीर का सारा कार्य चलता रहता है। उपचेतन में इच्छा पड़ जाने से कई कार्य अनिच्छा के रहते हुए भी हो जाते हैं। कुछ कार्य अनजान में होते रहते हैं, शायद उपचेतन द्वारा ही होते हैं यथा तिनका हटाना आदि इनके लिए चेतना को जागरूक नहीं होना पड़ता।

इसके भी बाद 'प्रज्ञान' की अवस्था होती है जिसमें स्वयं अपने विषय में सोचते हैं, परन्तु उस समय धड़कन संवेदन सब कार्य होते रहते हैं। हाथ में स्पर्श का सुख अनुभव करता रहकर भी उससे तटस्थ रहकर बड़े-बड़े प्रश्नों पर सोचता रह सकता है। उच्च-चेतन (Super-Conscient) की स्थिति में बाह्य शारीरिक कार्य होता रहता है और 'ध्यान-मग्नता' भी रहती है।

आनन्द प्राप्ति के उपाय, जीवन का उद्देश्य—

हमारा मन भौतिक जगत के बन्धन में पड़ा हुआ है। इसी प्रकार हमारा उपचेतन (Subliminal) प्राणसत्ता (life) के बन्धन में ग्रसित है। इसी प्रकार ऊर्ध्व-चेतन मन के आवरणों से आवृत हो गया है। तथा जीवन तथा मन दोनों अपने सारे ऊर्ध्व निम्नस्तरों के साथ जड़तत्त्व (matter) के बन्धन में बद्ध है। अतः जड़तत्त्व सभी का आधार व प्रारम्भ है। अतः उपनिषद् कहती है कि पृथ्वी ही हमारा आधार है भौतिक जगत जीव, अणु परमाणुओं से प्रारम्भ होती है जिसमें चेतना साथ ही साथ रहती है। जड़तत्त्व के माध्यम से जीवन व्यक्त होता है। जीवन (life) के माध्यम से मन व्यक्त होता है, और मन के माध्यम से ऊर्ध्व-चेतन व्यक्त होता है। अतः ये सारे तत्त्व अन्योन्याश्रित

हैं। निम्न या ऊर्ध्व दोनों प्रकार के विकास के लिए सभी की अपने-अपने स्थान पर आवश्यकता है। अतः न जड़तत्त्व मिथ्या है, न चेतन। दोनों की ही विकास के लिए आवश्यकता है। इस सारी विकास-प्रक्रिया द्वारा ब्रह्म की लीला, उसका आत्म-गोपन, आत्म-दर्शन, आत्मानुभव तथा आत्माभिनय होता है। शक्ति का अभिनय तभी सफल होता है जबकि रूप बनते बिगड़ते रहें। अतः मृत्यु जीवन की हानि का पर्याय नहीं है। जीवन व मृत्यु की आँखमिचौनी के माध्यम से, इच्छा व विचार के माध्यम से, अनादि सत्ता अपनी लीला को पूरा कर रही है। हमें इस उद्देश्य को समझ लेना चाहिए।

अब तक डार्विन व उसके अनुयायियों ने यह बताया है कि वातावरण के दबाव से जीवन में विभिन्नता का प्रवेश हुआ है। जीव का उद्देश्य जीवित रहना है, परन्तु जीवित रहने की योग्यता ही जीवन का उद्देश्य नहीं है, जीवन को पूर्ण बनाना भी उसका उद्देश्य है। क्यों कि केवल वातावरण के अनुसार अपने को बदलने से या वातावरण को अपने अनुकूल ढालने से, या उसे बदलने या उस पर विजय पाने से जीवन का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता क्योंकि डार्विन व मार्क्स दोनों जीवन को बाहरी, महत्त्वहीन बातों को ही महत्त्व देते हैं। क्योंकि रक्षा कर लेना ही आवश्यक नहीं है, सदा के लिए सुरक्षा प्राप्त कर लेना भी जीवन का उद्देश्य है।*

इस प्रकार शाश्वत जीवन प्राप्त करने की भावना डार्विन के विरुद्ध नहीं है। ऊर्ध्व-चेतना की ओर गति विकासवाद के विरुद्ध नहीं है क्योंकि उससे ही शाश्वत सुरक्षा व जीवित रहने की शक्ति प्राप्त

* The struggle for life is not only struggle to survive, it in also a struggle for possession and perfection, since only by taking hold of the environment, whether more or less, whether by adaptation to it or by adapting it to ourself either by accepting or conciliating it or by conquering and changing it, can survival be secured, and equally is it true that only a greater and greater perfection can assure a continuous permanence, a lasting survival.

होगी। डार्विन जीवन के लिए केवल आत्म-रक्षा* को ही मुख्य मानता था परन्तु आत्म-अभिव्यक्ति † भी उतनी ही आवश्यक है।

मनुष्य आत्म-रक्षा के लिए अनेक कार्य करता है, विवाह, समाज-सङ्गठन, शासन-प्रबन्ध, व्यापार आदि सब इसी के लिए हैं। इनसे सम्बन्धित सामाजिक मान्यताओं को वह स्वीकार करता है, आवश्यकता पड़ने पर उनमें परिवर्तन करता है। परन्तु आत्म-रक्षा के अतिरिक्त आत्म-अभिव्यक्ति की स्थिति भी है। इस पर डार्विन ने विचार नहीं किया। आत्म-रक्षा की स्थिति में विभाजन पर जोर रहता है, व्यक्ति व समष्टि का ध्यान रख कर विचार किया जाता है परन्तु आत्म अभिव्यक्ति की स्थिति में व्यष्टि व समष्टि दोनों की पूर्ण एकता हो जाती है। यह एकता ही समाज के विकास का ध्येय है। परन्तु यह मानसिक एकता है, जिसके विकास पर डार्विन का विकासवाद मौन रहता है अतः वह एकाङ्गी है, वह केवल शरीर के विकास की ही बात करता है। प्राचीन ऋषियों ने मानसिक-विकास को भी दिखाया था। अथर्ववेद मे बताया गया है कि किस प्रकार एक व्यक्ति के मन का प्रभाव दूसरे के मन पर पड़ता है। विचारों के जगत में भी यही बात दिखाई पड़ती है। यही नही प्राचीन ऋषि यह भी बताते हैं कि इस जन्म के विचारों व भावनाओं का प्रभाव दूसरे जन्म पर भी पड़ता है।

शरीर के विकास के साथ-साथ हमें अन्तर्सङ्गठन के विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। हमारा 'अन्तर्सङ्गठन' (Vital frame) मृत्यु के बाद अन्य आन्तरिक सङ्गठनों को प्रभावित करता है। केवल शारीरिक सङ्गठन ही मृत्यु द्वारा नाश होता है।§ इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत अहं के विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। क्योंकि

* Self—preservation

† Self—expression.

§ Our life energy, our desire energy, our powers, passions enter both during our life and after our death in to the life-existence of others An account of occult knowledge tells us that we have a vital frame as well as physical and this too is after death dis-solved and lends itself to the constitution of other vital bodies.

व्यक्तिगत अहं पर प्रकृति बाहर से दबाव डालती है परन्तु साथ ही व्यक्तिगत अहं को स्वरक्षा के लिए अवसर भी देती है। "योग्यतम् ही अवशेष रहता है" डार्विन का यह सिद्धान्त शरीर व बाह्य मन पर ही लागू होता है, आन्तरिक चेतना के विकास में लोक-मन तथा व्यक्तिगत मन की एकता स्थापित होने लगती है। जिस प्रकार का संघर्ष हम भौतिक जगत में देखते हैं, वह आन्तरिक-चेतना के विकास में नहीं रहता।

आज शरीर व मन ही प्रधान तत्त्व हैं परन्तु एकता का ज्ञान न होने से प्रत्येक क्षेत्र में द्वन्द्व उपस्थित हो गया है। प्रेम के क्षेत्र को लीजिए—प्रेम ऐसी स्थिति है जिनमें प्राणियों में दान व प्रतिदान चलता है, यदि केवल प्रतिदान हो, दान न हो तो वह केवल निम्न-कोटि का प्रेम रहता है। अत. प्रेम के लिए आवश्यक है कि दान व प्रतिदान की क्रिया बराबर चलती रहे। और प्रेम ही समाज में अनेक रूप धारण करता है। शारीरिक व मानसिक जगत में तभी सन्तुलन रहेगा जब कि प्राणियों में आर्थिक, सामाजिक, सभी क्षेत्रों में आदान-प्रदान का कार्य चलता रहे। आज के समाज में छीनने की भावना अधिक है, प्रदान करने की कम। इसीलिए मार्क्सवाद जैसे अतिवादी दर्शन उत्पन्न हो गए हैं। अत डार्विन के विकासवाद को मन के विकास पर भी लागू करना चाहिए। हमें आदान-प्रदान की क्रिया को नहीं भूलना चाहिए अन्यथा विद्रोह आदि आवश्यक होते हैं जो सन्तुलन लाने के सहसा उपाय मात्र हैं।

जीवन (Life) व मन (Mind) के धरातल पर आदान-प्रदान से विकास सम्भव है परन्तु अन्तर्चेतना के धरातल पर आदान-प्रदान से केवल कार्य नहीं चलता। वहाँ तो शाश्वत एकता की आवश्यकता है और यह शाश्वत एकता केवल अन्तर्चेतना के द्वारा ही सम्भव है। यही जीवन की मुख्य समस्या है। यही अन्तिम समाधान है। तभी शाश्वत आनन्द सम्भव है।

ब्रह्म की शक्ति जीवन, मन तथा जड़ तत्त्व के रूप में व्यक्त होती है, यह हम कह चुके हैं। शक्ति के तीन सोपान हैं। भौतिक जगत अन्तिम सोपान है जिसमें चेतना अपने आप को अपने ही जड़ रूप में बाँध कर लुप्त सी रहती है। उससे ऊपर जीवन (Life) की स्थिति है जिसमें चेतना अर्ध-आवृतावस्था में रहती है और जन्म व

मृत्यु के द्वन्द्व रहते हैं। उससे ऊपर मानसिक स्थिति है जिसमें आवृता-वस्था भी रहती है (ब्राह्म मग्न) तथा जाग्रतावस्था भी (आन्तरिक मन—Subconscious या Subliminal Soul की स्थिति में)। यह मन एक स्थिति मे जीवन को समझता है, क्रिया का पथ-प्रदर्शक बनता है, तथा दूसरी उच्च अवस्था मे जब-तब एकता की झलक भी पा जाता है। मन (Mind) भौतिक जड़तत्त्वों को जानकर उनका स्वामी बनना चाहता है, वह जीवन (Life) को जानकर उस पर अधिकार करना चाहता है, वह स्वयं अपने को समझ कर रहस्यमय आन्तरिक सत्ता को समझकर, शाश्वत एकता को पाना चाहता है। इसीलिए प्राचीनों ने मन को बन्धन व मोक्ष का साधन माना है।

मन स्वयं अपने को आत्मा की सहायता के बिना नहीं समझ सकता। अपने विषय में जिज्ञासा का समाधान वह आत्म-चेतना द्वारा ही कर सकता है। परन्तु भौतिक जगत के धरातल पर रहने पर वह बार-बार इस शाश्वत जिज्ञासा को दबाता है, परन्तु यह जिज्ञासा बार-बार उठती है, जब तक इसका समाधान नहीं हो जायगा तब तक मनुष्य बराबर इसे शान्त करने का प्रयत्न करता रहेगा। इसे ही शान्त करने के प्रयत्न मे जब वह जल्दबाजी करता है तो अनेक धार्मिक सम्प्रदाय उत्पन्न हो जाते हैं। यदि वह इसे दबा देता है तो घोर भौतिकवाद की घोषणा होने लगती है, परन्तु जब वह शांत होकर पूर्ण एकता के लिए प्रयत्न करता है, जड़-चेतना को एक साथ व्यापक दृष्टि से समझता है तो उसे अन्तर्चेना का सहारा मिल जाता है और वह चेतना के उच्च धरातलों की ओर उन्मुख होकर अन्त में शाश्वत जिज्ञासा शांत करने में सफल हो जाता है।

आज चारों ओर विभाजन, विविधता, तथा अलगाव की ही पुकार है, परन्तु जब एकता की स्थिति आवेगी तब नूतन चेतना का राज्य होगा। और तब 'शक्ति' में भी परिवर्तन हो जायगा। यह एकता का जीवन सर्वथा प्राप्य है, सम्भव है। इस स्थिति मे चेतना व शक्ति का द्वन्द्व नष्ट हो जायगा। इस स्थिति में एकता के नियमों का व्यक्तिगत आत्माएँ पालन करेंगी। व्यक्तिगत आत्माओं में परस्पर एकता का भाव होगा यद्यपि उनका अस्तित्व अलग-अलग रहेगा। एक चेतना की शक्ति अनेक आत्माओं में कार्य करती रहेगी। उसका सभी

को ज्ञान होगा, एक ही आनन्द सब आत्माओं द्वारा अनुभूति होगा।§

इस भौतिक जीवन में शरीर, चेतन मन व उपचेतन मन के धरातल हैं। फ्रायड ने उपचेतन की खोज की थी यह बाह्य मन का ही एक भाग है, यह कोई बहुत ऊंची स्थिति नहीं है। अव्यक्त मन (Subliminal) फ्रायडियन उपचेतन से ऊँची स्थिति है। फ्रायडियन उपचेतन का ज्ञान हमारे पूर्वजों का था। वे इसे 'प्रकृति' या 'स्वभाव' नाम देते थे। इस उपचेतन का शासन बाह्य चेतन मन पर रहता है। तभी कहा गया है कि मनुष्य का स्वभाव उसे अपने कर्म में लगाता है (गीता)। इसे निकृष्ट कोटि की 'माया' कह सकते है। इसी के द्वारा संसार का चक्र घूमता है।* परन्तु इससे ऊपर भी स्थितियाँ हैं, जिसकी ओर हमने संकेत किया है जहाँ एकता प्राप्त होती है। यह ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति है। इसे 'दैवी माया या शुद्ध माया' कह सकते है, जो 'दैवी ज्ञान' का ही रूप है। संसार की माया—निकृष्ट माया, भ्रम फैलाती है, विभाजन की ओर ले जाती है।

जिस प्रकार 'माया' के दो रूप हैं उसी प्रकार जड़तत्त्व जीवन, मन के भी दो दो रूप हैं—

१—जड़तत्त्व (matter) अ—बाह्य शरीर
ब—सूक्ष्म भौतिक सत्ता

२—जीवन सत्ता (life) अ—बाह्य प्राण-सत्ता जन्म-मरण से मुक्त
ब—अव्यक्त जीवन सत्ता (Subliminal force)

३—मन (mind)-अ—बाह्य चेतन मस्तिष्क (फ्रायड का उपचेतन भी इसी में सम्मिलित है)

---

§ It will be a life in which all the individuals live atonce in themselves and in each other, as one conscious being in many souls, one power of consciousness in many minds, one joy of force working in many lives, one reality of delight fulfilling itself in many hearts and bodies

* भ्रामयन् सर्व भूतानाम यन्त्रारूढानि मायया।

व—अव्यक्त मन (Subliminal soul)

४—आत्मा (Soul)–अ—बाह्य आत्मा Psyche—the surface desire soul) भावना, सौन्दर्य, शक्ति का अधिष्ठान

ब—अव्यक्त आत्मा (Subliminal Psyche) प्रकाश व आनन्द का अधिष्ठान।

इस प्रकार मनुष्य के मन मे चेतना के कितने रूप व कितने स्तर है, यह स्पष्ट है। हमारे प्राचीन ऋषि इनसे परिचित थे अत. वे भौतिक जगत की उन्नति को निम्नकोटि की द्वन्द्वों से युक्त उन्नति तक न रुककर अव्यक्त किन्तु प्रकाश, आनन्द व एकतामय ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति की ओर उन्मुख हुए, अतः उनका स्तर महान था।

ऊपर चेतना के दो-दो रूपों में से प्रथम रूप हमारे व्यक्तिगत सीमित अहं से सम्बन्धित है। और दूसरा रूप व्यापक-व्यक्तित्व के निकट। समष्टि-गत व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए जिसमे आनन्द व एकता के सभी मनुष्यों को एक से अनुभव होंगे, दूसरे रूपों को समझने की आवश्यकता है परन्तु भौतिकवादी उधर बढ़ने से इन्कार करते हैं। दुनिया के दुःख का यही कारण है। वह चेतना के दूसरे रूपों को समझने का प्रयत्न नहीं करती। दूसरी स्थिति प्रथम स्थिति की चिन्ता न करती हुई-अपना कार्य करती है। उसका प्रथम पर शासन रहता है। इसका प्रमाण तो फ्रायड जैसे सामान्य विचारकों ने दे दिया है जो उपचेतना को चेतन मस्तिष्क का शासक मानता है वस्तुत इसे उप-चेतन नाम देना घातक है, इसे "पर्दे के पीछे" की चेतना कहना चाहिए। यह आत्मा व मन के बीच की स्थिति है। आन्तरिक मन की अवस्था में वाह्य-मन शासित हो जाता है। कवि व भक्त इसी स्थिति में कार्य करते हैं। इस स्थिति में भावना व्यापक बन जाती है। यही भावना की स्थिति है। यहाँ वाह्य मन द्वारा अनुभूत दुःख उत्पादक करुणा आनन्द का कारण बन जाती है (एको रसःकरुण एव की स्थिति यही है)। यहाँ देश, जाति, वर्ण व वर्ग का भेद नहीं रहता। काव्य के रस की यही स्थिति है। भक्तों को भगवान के सर्वत्र दर्शन होने लगते हैं, वाह्य चेतन मन के अनुभव नही होते। इसमें व्यापक, अखण्ड, शाश्वत जीवन-सत्यों की झलक मिल जाती है। इसीलिए कवि

शाश्वत सत्यों को दे सकने में समर्थ होते हैं। यह उपचेतन या पर्दे के पीछे की अव्यक्त चेतना की स्थिति वाह्य चेतन मन से उच्च स्थिति है परन्तु आत्मा की स्थिति से नीची है। कवि भक्त व साधक इसका विकास करते हैं परन्तु साधारण व्यक्तियों का वाह्य चेतन मन महान होने पर भी यह उपचेन अविकसित रहता है, या रह सकता है। एक गणितज्ञ का वाह्य मन विकसित होता है, अव्यक्त उपचेतन नहीं। अत. वह शाश्वत जीवन सत्यों को नहीं दे पाता, कवि दे पाता है। इसीलिए प्रथम Psyche के अविकसित रहने पर, बड़े-बड़े विद्वान् कवि नहीं हो पाते या रद्दी कवि होते हैं। इस प्रथम स्थिति के बाद शुद्ध एकता की स्थिति आजाती है, जहाँ ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।‡

व्यक्ति उतना ही अधिक स्थायी आनन्द का भागी होगा, जितना अधिक वह आत्मोन्मुख होगा, केवल वाह्य चेतन मन पर रहने वाले लोग, भौतिक अस्थायी आनन्द के लिए विकल रहते हैं, वे उसे जितना भोगते हैं, तृष्णा और अधिक वढ़ती है, "अशान्ति वढ़ती है" अत. आत्मोन्मुखता के लिए उपचेतन का विकास आवश्यक है और तव पूर्ण एकता की स्थिति स्वयं प्राप्त हो जायगी।

हम जड तत्त्व, जीवन सत्ता व मन के दोनों रूपों—चेतन व उपचेतन पर विचार कर चुके हैं। हम यह भी जान चुके हैं कि मन के ऊपर ऊर्ध्व-चेतन (Super mind) तथा उसके भी ऊपर ब्रह्म की स्थिति है। परन्तु अरविन्द को अनेक स्तरों की कल्पना करने में कुछ

‡ फ्रायड के उपचेन (Sub-conscious) व अरविन्द के Sub conscious) उपचेतन में अन्तर है, इसीलिए अरविन्द उसे पर्दे के पीछे की चेतना कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। वस्तुतः फ्रायड का उपचेतन वाह्यमन का एक निकट का ही आन्तरिक रूप है परन्तु अरविन्द का उपचेतन अधिक आन्तरिक स्थिति है। जिसमें कवित्व, साधक, व भक्त कार्य करते हैं, यदि दोनों को एक मान लिया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि भक्तों की मानसिक स्थिति दमित इच्छा का परिणाम है जो अरविन्द को कभी इष्ट नहीं है। अत: उपचेतन शब्द को अरविन्द के अर्थ में आन्तरिक मन के अर्थ में लेना चाहिए। फ्रायड ने उसके स्वरूप का ठीक ठीक वर्णन नहीं दिया। यह आत्मा व मन के बीच की अवस्था में है। इसका ज्ञान हो जाने से आत्मा की ओर मन उन्मुख हो जाता है।

अधिक आनन्द आता था। अतः उन्होंने अनेक स्तरों की कल्पना की है। रहस्यमय साधना की स्थिति मे सम्भवतः उन्हे इन अनेक स्तरों का ज्ञान् हुआ था। इन अनेक स्तरों की कल्पना कर उन्होंने परस्पर विरोधी वस्तुओं को एक ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति के भिन्न भिन्न स्वरूप सिद्ध कर दिया। अतः अरविन्द के अनुसार शाश्वत आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है जब हम बराबर चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर बढ़ते चले जाँय। स्थायी आनन्द तब तक प्राप्त हो ही नही सकता जब तक हम चेतना को आवृत करने वाले धरातलों से ऊपर उठकर शुद्ध चेतना में अपनी व्यक्तिगत चेतना को नही मिलाते। शुद्ध चेतना मे, व्यक्तिगत आत्म-चेतना के मिलने पर क्या आनन्द का ज्ञान हमे रहेगा? आनन्द बन जाना व आनन्द का अनुभव करना दो अलग-अलग धरातलों पर ही सम्भव हैं। अतः हमें कम से कम मन से ऊपर उठकर, उपचेतन, ऊर्ध्व-उपचेतन को पार करते हुए ऊर्ध्व-चेतन (Super mind) तक पहुँचने की आवश्यकता है। यहाँ हम स्थायी आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। यहाँ एकता व आनन्द का अनुभव प्रत्येक जीवात्मा को एक साथ होगा। इस स्थिति मे जीवात्माओं का आत्मा में बिलयन न होगा। इस स्थिति को बिना प्राप्त किए स्थायी आनन्द असम्भव है।

स्थायी आनन्द के लिए आत्मा का ज्ञान आवश्यक है। आत्मा का स्वभाव ही आनन्द है। सृष्टि प्रक्रिया इस आत्मा को स्पर्श नही करती, सृष्टि में अवस्थित होकर भी निर्लिप्त रहती है। मन, जीवन व मैटर के माध्यम से ही आत्मा परमात्मा को प्राप्त कर सकती है, ब्रह्म की ओर आत्मा की प्रगति ही सच्ची प्रगति है। इसे अरविन्द आत्म-स्वरूप की ओर प्रगति कहते हैं (The spirit is return to itself)।*

स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिए जब आत्मा मन के ऊपर के

* All evolution is in essance a heightening of the force of consciousness in the manifest being so that it may be raised into greater intensity of that which is still unmanifest, from matter into life, from life into mind, from the mind into the spirit.

उपचेतन, उच्च उपचेतन की स्थितियों को पार कर ऊर्ध्व-चेतन (Super mind) तक पहुँचती है तो उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। इस ऊर्ध्व-चेतनावस्था में निवास अरविन्द के लिए एक तर्कसङ्गत तथ्य है। यही (इशैव-उपनिषद्) आत्मा एकता का अनुभव करती है। यही मानवीय मानसिक जीवन दैवी जीवन (The Life Divine) में परिणत हो जायेगा। सारे विकास का लक्ष्य यही है। इसी ओर जगत की प्रगति हो रही है। वह कभी भी केवल मन तक नहीं रुक सकता। बुद्धि का यह वर्तमान युग उसी दैवी जीवन में परिवर्तत होकर विश्लेषण व विभाजन की प्रवृत्ति को भूलकर आनन्द का उपभोग करेगा। इस दैवी जीवन का पूर्ण चित्र तो मन उपस्थित नही कर सकता, परन्तु अरविन्द ने इसका कुछ चित्र उपस्थित किया है। उनके अनुसार जो हमारे लिए जादू है, वही भविष्य के लिए एक सच्चाई है। योग द्वारा इस जादू की अनिर्वचनीय स्थिति को, इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है, यद्यपि वह युग स्वतः विकसित होकर अवश्य आयेगा। जब इस ऊर्ध्व-चेतना की अवस्था में सभी प्राणी निवास करेंगे, जगत के द्वन्द्व—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों के—नष्ट हो जायेंगे, राज्य, सरकार, पुलिस सब स्वतः अनावश्यक हो जायेंगे। शुद्ध आनन्दमय वातावरण होगा। इस स्थिति को यदि इसी युग में प्राप्त करना चाहें तो एकात्मक योग से कर सकते हैं। इस योग से दो कार्य होंगे, प्रथम चेतना को मन, जीवन व जड़तत्त्व से अनावृत्त करना, द्वितीय—ऊर्ध्व-चेतना की ओर प्रगति तथा उसकी प्राप्ति योग द्वारा चेतना को स्वतन्त्र होने के लिए प्रेरित किया जाता है जो बन्धनों में ग्रसित हैं।* अन्तिम ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति को अरविन्द इस प्रकार वर्णित करते हैं—

ऐसा प्रतीत होता है मानों मधु स्वयं अपना स्वाद ले रहा हो, इसकी सारी बूँदें स्वयं एक दूसरे के माधुर्य का आनन्द ले रही हों, पूरा मधु का छत्ता जैसे स्वयं अपना आनन्द ले रहा हो। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा तथा ब्रह्माण्ड जैसे स्वयं अपना, एक दूसरे का आनन्द ले

* By this Yoga, we not only seek the Infinite but we call upon the Infinite to unfold himself in human life.

रहे हों। × यही परिपूर्ण एकता की स्थिति है, जीवन का लक्ष्य यही है, आनन्द की परिपूर्णता यही है, इसी की ओर चेतना के इतिहास की प्रगति हो रही है। जब तक स्थायी आनन्द की प्राप्ति न होगी, जगत बराबर विकास करता रहेगा, अतिवादी दर्शन—भौतिकवाद व मायावाद आदि के रूप मे चेतना ने जो अनुभव किये है उससे यही लाभ हुआ है कि समन्वित दृष्टि से जड़ व चेतन एक का भी निषेध नही हो सकता, जड़ के माध्यम से ही चेतना बन्धन में बॅधती है, जड़ के माध्यम से ही चेतना बन्धन से छूटती है। अतः उसका निषेध करना जल्दबाजी है।

इसी प्रकार चेतना को गौण, अति विधान मानना भी अपनी शक्तियों की सङ्कीर्ण बनाना है। हम केवल मन (Mind) तक क्यों रुकें, हम जड़ प्रकृति पर शासन को ही क्यों सर्वस्व मान ले, क्यो न हम आन्तरिक चेतना के माध्यम से चेतना के उच्च धरातलों की ओर प्रगति करे, क्यों न साधना के द्वारा हम उस अक्षय, अपरिमित, अनिर्वचनीय, असीम, अखण्ड, अचिन्त्य, अतुल, अकूल, अकलुष शाश्वत आनन्द की प्राप्ति का प्रयत्न करे? क्यों हम अस्थायी संकीर्ण परिस्थितियों में उलझ कर रह जायॅ? क्यों हम मानसिक जीवन (Mental life) को ही ध्येय समझें, जिसमे राग, द्वेष, सुख, दुःख, भय, आशङ्का, युद्ध, क्रान्ति, शोषण, दोहन, अतिचार, दमन, घृणा, विभाजन, विश्लेषण का राज्य है, क्यों न हम अनन्त आनन्द की ओर प्रभावित हो जहाँ मानसिकता के सारे दोष समाप्त हो जायँ, शास्त्रों से समर्थित, मनोविज्ञान के द्वारा संकेतित, साधकों द्वारा अनुभूत, योगियों द्वारा उपदेशित दैवी जीवन की खोज न कर हम क्यों सङ्कीर्णतावाद के प्रसारक विचारों में सलग्न रहें। हमारी चेतना के उच्च-धरातलों में असीम शक्तियाँ निहित हैं, हम क्यों न उनका उद्घाटन करें। जन्म मृत्यु, राग-द्वेप से पोड़ित मानव जीवन के लिए

× As if honey could taste itself and all its drops together could taste each other, and each the whole honey-comb as itself, so should the end be with God and the soul of man and the universe. (Thoughts and glimpses)

(२) उत्साह—ज्ञान से लक्ष्य के प्रति उत्साह जागृत होता है।

(३) गुरु—ज्ञान व उत्साह की प्राप्ति के पश्चात् गुरु अपने परामर्शों से शिष्य को आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ाता है।

(४) काल—शास्त्र से अरविन्द वेद का अर्थ लेते हैं। यह वेद=ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में अवस्थित है।* उनके अनुसार किसी व्यक्ति को उसी बात की शिक्षा दी जाती सकती है जो मूल रूप मे उस व्यक्ति के मस्तिष्क में पूर्व से ही विद्यमान होती है। चूँकि आध्यात्मिक ज्ञान बीज-रूप में प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान रहता है, अतः उसके विकास की सम्भावना अवश्य रहती है। शब्द (श्रुत) को सुन कर बीज-रूप में स्थित आध्यात्मिक प्रकाश प्रकट होने लगता है। यह शब्द बाहर से नही भीतर से उत्पन्न होता है। वाह्य शब्दों से सहायता अवश्य मिल सकती है। अतः पूर्ण योग (Integral yoga) के साधक के लिए वाह्य शब्दावली साधन मात्र है। व्यक्ति को अपनी साधना स्वयं चुननी पड़ती है। योग के ग्रन्थों के नियमादि केवल पथ की ओर सकेत करने के लिए ही होते हैं। उनका अधानुकरण व्यर्थ है।

इस प्रकार के योग का ध्येय केवल ब्रह्म की प्राप्ति नही बल्कि ब्रह्म को मनुष्य जीवन में उतरने और अपने रहस्य को प्रकाशित करने के लिए प्रेरित करना है। अतः शास्त्र सहायक ही हो सकता है। साधक को शास्त्र में कथित अनुभवों व प्रक्रियाओं से भिन्न अनुभव व प्रक्रियाओं का ज्ञान हो सकता है।

योग की प्रक्रिया यह है कि मनुष्य केअह को–जो वाह्य सांसारिकता में मग्न रहता है—उन उच्च स्थितियों की ओर ले जाया जाय जिसमें ब्रह्म स्वय अपने को प्रकट करने लगे, और व्यक्तिगत चेतना के भीतर ब्रह्म की अवतारणा हो सके।

इस भौतिक प्रक्रिया मे तीन सोपान प्रतीत होते हैं—

१—दिव्य सत्ता से सम्बन्ध स्थापित करने और अपनी सीमाओं से ऊपर उठने का प्रयत्न।

---

* Nothing can be taught to the mind which is not already concealed as potential knowledge in the unfolding soul of the creature (The Synthesis of Yoga—Page 2)

२—आत्म-शक्ति का बोध तथा दिव्य-सत्ता के मिलन का ज्ञान।

३—इस प्रकार दिव्य-ज्ञान में परिणत ज्ञान का मानवता के लिए प्रयोग।*

जब तक 'सायुज्य' की स्थिति नहीं आती तब तक निरन्तर साधक को प्रयत्न करते रहना चाहिए। परन्तु दिव्य-सत्ता से सम्बन्ध स्थापित होते ही (कम या अधिक मात्रा में) साधक को चाहिए कि वह दिव्य-सत्ता की अनुभूति को अपनी योग-साधना का पथ प्रदर्शक बनाए, जिधर वह आन्तरिक प्रकाश ले चले, उधर चले। स्वयं अपनी बुद्धि व मानसिक शक्तियों का उस दिव्य-ज्ञान के सम्मुख समर्पण कर दे। इस स्थिति में प्राण-शक्ति, मानसिक शक्ति और बौद्धिक शक्ति उस दिव्य-सत्ता से तदाकार हो जाती हैं और इसलिए ये शक्तियाँ संसार की ओर खींचने का कार्य बन्द कर देती हैं, सहायक बन जाती है। जब यह समर्पण पूर्ण हो जाता है तो संसार में वह योगी दिव्यता का केन्द्र बनकर—प्रकाश स्तम्भ बन कर—दिव्यता का प्रकाश वितरित करने को प्रस्तुत हो जाता है और तब वह अन्य साधकों का भी पथ प्रदर्शन कर सकता है।

संसार में हम 'अहं' के कारण सारे कार्य करते हैं। मैं व तू की भावना उत्पन्न हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान कहता है कि अहं एक साधन मात्र है तो वह 'साध्य' की ओर उन्मुख हो जाता है।× योग का कार्य है प्राण, मन को दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति के योग्य बनाना—जिससे हम ऊर्ध्व-चेतन से आने वाले प्रकाश—सौन्दर्य—सत्य का साक्षात्कार कर सकें। मन की प्रत्येक शक्ति का केवल यही कार्य हो कि वह इस योग्य बने कि वह दिव्य-स्तरों से उतरने वाले अनुभवों की

* पन्तजी की नवीन कविता में तीनों स्थितियाँ बराबर दिखाई पड़ती हैं—देखिये पन्तजी की नूतन काव्य-कला का विवेचन।

× पन्त व अरविन्द की आध्यात्मिक दृष्टि से देखने के कारण संसार के आनन्द स्तर पर भूख-बेकारी-वर्ग-संघर्ष बच्चों के खेल जैसे प्रतीत होते हैं। पूँजीपतियों के विरुद्ध शोषित का विद्रोह अहं से पीड़ित होने के कारण त्याज्य है। आज उनकी दृष्टि से 'दिव्यता-केन्द्र' खुलवाने की आवश्यकता है जहाँ से पीड़ित जनता को प्रकाश का दान मिल सके।

—'योग-समन्वय' पृष्ठ, ६

अधिकाधिक प्राप्ति कर सके। अत: चेतना के निम्न स्तरों—वैज्ञानिक बुद्धि, मानसिकता आदि का समर्पण उच्च स्तरों के आगे कर देना ही योग का लक्ष्य है।

योग का पथ प्रदर्शक 'जगत गुरु' है जो हमारे हृदय में स्थित है। यह जगत-गुरू—अन्तर्यामी हमारी अज्ञान जन्य नास्तिकता से नाराज नहीं होता, न बदला लेता है। उसका हृदय माता का हृदय है और धैर्य एक गुरु का। अत हमें उसे पहचानना चाहिये। परन्तु उसे पहचानने में कठिनाइयाँ आती हैं—बुद्धि, भावना व ऐन्द्रिकता विद्रोह करती हे अतः अवतारवाद व मूर्ति पूजा के सिद्धांत चल पड़ते हैं। 'इष्ट-देवता' की कल्पना इसीलिए की गई है। और भी स्पष्ट व साधारण सहायता के लिए शिक्षक या गुरु की सहायता आवश्यक बताई गई है।

योग नवीन जीवन का नाम है। भौतिक जीवन से ऊपर उठना ही नवीन जीवन है। योग मे दिव्य-सत्ता पर ध्यान को केन्द्रित करना सिखाया जाता है। सत्ता को केवल बौद्धिक रूप मे ही नही बल्कि भावात्मक रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं यथा हृदय उसे प्रेमी या प्रेमिका के रूप में स्वीकार कर सकता है।* इसी प्रकार इच्छा-शक्ति को भी केन्द्रित कर सकते हैं। बुद्धि, भावना व इच्छा इन तीन साधनों द्वारा हम दिव्य-सत्ता के साथ नैकट्य स्थापित कर सकते हैं। तभी हमारे सारे कार्य जो बुद्धि, भावना, व इच्छा से होंगे, दिव्य होंगे। तब हम प्रेम, स्वतन्त्रता, शक्ति, अमर आनन्द की अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

---

* सूफी कवियों ने इसी रूप में दिव्य-सत्ता से अपना सम्बन्ध स्थापित किया था। भक्त कवियों में भी यही प्रक्रिया दिखाई पड़ती है परन्तु पन्त जी की नवीन कविता में बौद्धिक रूप से निकटता पाने का प्रयत्न किया गया है। यदि सूफी व भक्त कवियों की पद्धति स्वीकार की गई होती तो केवल आभासों का चित्रण न होकर विकलता, व्यथा रोदन, तड़प, तादात्म्य का चित्रण होता और परिणाम यह होता कि वह कविता अधिक मार्मिक हो जाती पर ऐसा न हो सका। पन्त जी अपना हृदय व इच्छा-शक्ति का समर्पण नहीं कर सके। कल्पना के द्वारा दिव्य-सत्ता की मनोरमता व आभासों व संकेतों का वर्णन न कर सके।

इस दृष्टि से योग मे दो स्थितियाँ रहती हैं। प्रथम स्थिति—समर्पण की स्थिति। द्वितीय स्थिति—समर्पण के फल की स्थिति। प्रथम स्थिति मे साधक निम्न स्तरों-बुद्धि-भावना आदि का साधन रूप मे प्रयोग करता है। परन्तु उसे इस स्थिति में ऊपर से अवश्य सहायता मिलती है। और धीरे-धीरे ऊपर की सहायता का अंश बढ़ने लगता है और हमारी बुद्धि-भावना आदि का लोप होने लगता है। दिव्य-शक्ति के आगे बुद्धि आदि के समर्पण से स्वयं दिव्य-शक्ति हमारा पथ-प्रदर्शन करने लगती है। इस स्थिति में अंतर्चेतना जाग्रत हो जाती है।

द्वितीय स्थिति तभी प्रारम्भ होती है जब प्रथम पूर्ण हो जाती है। इस स्थिति में समर्पण के फल स्वरूप हमारा दिव्य-सत्ता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

साधक का कार्य है समर्पण करना। इसीलिए गीता मे अत में 'समर्पण' पर जोर दिया है। और ईश्वरीय प्रकाश पर सब कुछ छोड़ देने की बात कही गई है। मनुष्य तब निमित्त मात्र रह जाता है।

समर्पण की भावना के प्रसार से ही जगत के दुःखों का अन्त सम्भव है और हम मानवता को ऊर्ध्व मानव (Super human race) की स्थिति में ले जा सकते हैं। इस ऊर्ध्व-मानव-जाति का लक्षण यह है कि इस आगामी युग के व्यक्तियों में दिव्य-ज्ञान की अवतारणा हो जायगी और सीमिति अहं से पीड़ित—द्वन्द्वों से पीड़ित जनता निर्द्वन्द्व, स्थितप्रज्ञ अवस्था में पहुँच जायगी। अलौकिक प्रेम, आनन्द व सौन्दर्य का विकास हो जायगा। योग से दिव्य-जाति का विकास सर्वथा सम्भव है।* इसमें जरा भी अतिशयोक्ति नही कि

* All our feelings impelled by this inner heart in which dwells the divine will be transmuted into calm and intense movements of a twin passion of Divine Love and manifold Ananda This is the definition of a divine humanity This is not an exaggerated or even a sublimated energy of human intellect and action, in the type of superman whom we are called to evolve by our Yoga

(The Synthesis of Yoga—Page 49

योग से एक ऐसी उच्च मानवता का विकास होगा जिसका ब्रह्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जायगा।

गीता में इस ओर संकेत किया गया है यद्यपि उसे स्पष्ट नही वर्णित किया जासका। वर्णन सम्भव भी नही था। गीता उच्च आध्यात्मिक मार्ग पर लेजाकर सहसा छोड़ देती है क्योंकि गीताकार जानता था कि आगे बढ़ना साधक का अपना कार्य है। परन्तु वह मार्गों की पद्धति बताने में भी सङ्कोच नही करता—"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" इन अमर पंक्तियों में "समर्पण" अर्थात् योग की प्रथम स्थिति की बात स्पष्टतः कह दी गई है।

"कर्मयोग" की पद्धति क्या है—समानता और एकता। इसके लिये समर्पण की आवश्यकता है और समर्पण तभी सम्भव है जब आंतरिक रूप से विरक्ति जाग्रत हो जाय। विरक्ति क्यों जाग्रत नही होती क्योंकि हमारा सीमित अहं हमें द्वन्द्वों में पटक देता है और हम लाभ-हानि, जय-पराजय आदि के द्वन्द्वों मे जीवन भर भूलते रहते हैं। अतः इनसे आंतरिक तटस्थता की अवश्यकता है। इसी तटस्थता के द्वारा प्रकृति के अनुसार सारे कार्य करते हुए भी उस पर विजय पाई जा सकती है। यही स्वतन्त्रता—आन्तरिक उदासीनता जन्य स्वतन्त्रता—ही सच्ची स्वतन्त्रता है। अन्य स्वतन्त्रताएँ सीमित और अह जन्य हैं। यह अहं माया का परिणाम है और माया ईश्वर की शक्ति है। निष्काम कर्म द्वारा, इच्छा पर विजय प्राप्त कर हम इस माया पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

समानता, इच्छा का त्याग, निष्काम कर्म—ये तीन तत्त्व गीता ने हमें दिये, तीनों भोग के लिए अनिवार्य है।

योग-साधना में प्राचीन शास्त्रों में वर्णित यज्ञ के स्वरूप का अत्यधिक महत्त्व है। यज्ञ सृष्टि की रक्षा के लिए उसके प्रारम्भ में ही दे दिया गया था। यज्ञ द्वारा ही ब्रह्म व्यक्तिगत चेतना की गलतियों को शुद्ध कर उसे दिव्य बनाता है। पुरुष-मेध इसी का नाम है। इसमें पुरुष के लिए—ब्रह्म के लिए व्यक्ति अपनी चेतना का स्वाहा करता है। वाह्य यज्ञ की गीता निन्दा करता है, आन्तरिक यज्ञ ही ध्येय है। दिव्य-सत्ता के सम्मुख अपनी बुद्धि, अभिमान, इच्छा, कर्म आदि का समर्पण ही आन्तरिक यज्ञ है। सारा जीवन यज्ञ है जिसमें प्रत्येक

श्वास का, प्रत्येक क्रिया का, प्रत्येक इच्छा का, विचार का समर्पण ही गीता ने सिखाया है। यही कर्मयोग है।

प्रश्न यह होगा कि बाह्य कर्म तो चेतना के निम्नस्तरों से होते हैं और दिव्य सत्ता का परिचय चेतना के उच्चस्तर से होता है। तब संलग्नता तथा तटस्थता दोनों साथ-साथ कैसे निभ सकती हैं? गीता ने इसका उत्तर दिया है। जीवन व जगत में भावात्मक व अभावात्मक दोनों स्थितियाँ रहती हैं। अतः स्थूल क्रियाओं को करते समय तटस्थता में बाधा नहीं पड़नी चाहिए क्योंकि जब हम जगत के कार्यों को एक अभिनेता के समान केवल लोकादर्श के लिए करते हैं तब उनमें आसक्त नहीं होते अतः व्यक्तित्व से तटस्थता दोनों की स्थिति सम्भव हो सकती है। यही गीता का निष्काम-कर्म योग है।

इस योग का लक्ष्य मोक्ष व सायुज्य है। मोक्ष का अर्थ है अज्ञान से मुक्ति, सायुज्य का अर्थ दिव्य सत्ता के साथ एकता। द्वितीय स्थिति है सामीप्य व सालोक्य की जिसमें आत्मा ब्रह्म में निवास करती है। तीसरी स्थिति में आत्मा ब्रह्म के समान हो जाती है, ब्रह्म के समान वह पूर्ण हो जाती है, ज्ञान, इच्छा, क्रिया के यज्ञ से—समर्पण से तीनों मिलकर एक स्थिति में परिणत हो जाती हैं और इस प्रकार हमारा योग पूर्ण हो जाता है। इससे आत्मा का ब्रह्मानन्द की अवस्था में रहना सम्भव हो जाता है। इस अवस्था में रह कर भी सारे कार्य धर्म-भावना से हो सकते हैं। क्योंकि कार्य बन्द हो जाने से सृष्टि का उद्देश्य समाप्त हो जायगा। अत' कृष्ण ने कहा था कि यद्यपि मुझे सब कुछ प्राप्त है तथापि लोक संग्रह के लिए मैं सारे कार्य करता हूँ। इससे कम से कम इतना स्पष्ट है कि ज्ञान व कर्म में विरोध नहीं है। यह साधक के आन्तरिक पथ प्रदर्शन पर निर्भर है कि वह संन्यास लेता है या संसार के कार्य करता हुआ ही योग साधना में रत रहता है।

अरविन्द का सारा जोर योग साधना पर है क्योंकि केवल बुद्धि के आधार पर किये गये निर्णय व तर्क अधूरे व एकाङ्गी होते हैं। दर्शन के क्षेत्र में ऐसा ही होता है।

'दर्शन' स्पष्ट अनुभव न देकर बौद्धिक व्यायाम को उपस्थित करता है अतः अरविन्द उसे उतना महत्त्व नहीं देते, हाँ जब उसमें अन्तर्चेतना के आधार पर निर्णय किए जाते हैं, तब वह अवश्य उपयोगी

हो जाता है[1] परन्तु प्राय इसका कार्य दिमागी उछल-कूद है। योरोप का प्राचीन दर्शन नवीन से अधिक उपयोगी था। भारत का दर्शन और भी अधिक उपयोगी था परन्तु उसमें भी एक कमी थी कि उसने सारी जाति को पूर्णता की ओर ले जाने का प्रयत्न नहीं किया, पर उसके निर्देश सच्चे थे अतः उनके आधार पर हमें अब दिव्य-ज्ञान के समाजीकरण द्वारा मानवता को बदलना होगा—उसे दिव्य बनाना होगा। धर्म ने व्यावहारिक कार्य किया है, उसने मनुष्य के प्राण व मन के स्तरों तथा दिव्य सत्ता के बीच सम्बन्ध रखने की कोशिश की पर वह आचारों व बाह्य नियमों में बँधता गया अतः उससे भी पूर्ण जाति के उद्धार का कार्य नही हो सका। धर्म मनुष्य के अज्ञान व अभिमान की सेवा करने लगा अतः दर्शन व धर्म सीमित रूप में योग-साधना के अङ्ग बन सकते हैं। सच्चा मार्ग योग-साधना के अनुभवों का मार्ग है। उससे हम उस दिव्य-प्रकाश को पाकर उसका समाजीकरण कर पूरी जाति, पूरे विश्व को दिव्य जाति में बदल सकेंगे।

योग-साधना के द्वारा 'दर्शन' को व्यावहारिक बनाया जायगा, स्पष्ट अनुभवों को निर्देशक के रूपमें उसे परिणत किया जायगा धर्म की अंधता व आचारवादिता नही रहने दी जायगी। कला के क्षेत्र में कलाकार का कार्य केवल इन्द्रिय-बोध, मानसिकता व इच्छा के स्तरों की अभिव्यक्ति न रहेगी अपितु तत्त्व के व्यापक रूप दर्शन का कार्य भी कलाकार को करना होगा।[2] अत आध्यात्मिक साधना के आगामी युग में व्यावहारिक[3] जीवन का त्याग विधेय न होकर उसका दिव्य-निर्वाह विधेय होगा।

---

[1]—Philosophy by its habits of abstraction has seldom been a power for life.

—The Synthesis of Yoga—Page 110

[2]—पंतजी ने नवीन कविता में यही कार्य किया है।

[3]—The spiritual life does not need, for its purity, to destroy interest in all things..... or to cut at the roots of the sciences, the arts and life.

अरविन्द का यह आश्वासन स्तुत्य है यद्यपि आध्यात्मिक जीवन में पड़कर अरविन्द वास्तविक जीवन से अलग होगए।

ज्ञान, क्रिया व भावना के संघात का नाम जीवन है। जब इनका कार्यक्षेत्र आत्मा के पथ-प्रदर्शन में नहीं होता तभी इनमे विरोध उत्पन्न होता है, परन्तु जब आत्म-ज्ञान के प्रकाश मे ये तीनों क्षेत्र कार्य करते हैं तो आध्यात्मिक जीवन मे न केवल सहायता करते हैं अपितु इन तीनों ज्ञान, इच्छा व क्रिया के समन्वय से ही साधक का कार्य पूर्ण होता है।

सामान्य जीवन में भी भौतिक वस्तु की खोज मे जब ज्ञान का प्रयोग होता है तब भी भौतिक ज्ञान के पीछे आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश छिपा रहता है, इसी प्रकार भौतिक वस्तु या व्यक्ति पर जब हमारा प्रेम केन्द्रित होता है तब भी दिव्य-प्रेम उसके पीछे छिपा रहता है। क्योंकि प्रेम-प्रेरणा भी है और तैयारी का साधन भी। प्रेम की लौकिक अनुभूति के क्षणों में भी दिव्य अनुभूति का प्रकाश मिल सकता है। अत. लौकिक प्रेम जिसमे अज्ञान के कारण प्रेम का केन्द्र कोई व्यक्ति विशेष होता है, दिव्य ज्ञान का ही स्थूल रूप है।[1] साधक का कार्य यह है कि वह प्रेम की ऐन्द्रिकता का नाश करे और उसके लिए प्रेम का केन्द्र दिव्य-सत्ता हो। यह अनिवार्य है। लौकिक प्रेम मे भी यदि यह ध्यान रहे कि हमारा प्रेम दिव्य-प्रेम का ही अङ्ग है तो वासनात्मक उत्तेजना से जीवन का उत्पीड़न कम होता जाय और प्रेम सम्बन्धी सारी समस्याये सुलझ जायें। इसीलिए मूर्तिपूजा आदि का महत्व है। प्रेम का केन्द्र मूर्ति बन जाती है अत. पूजा व कीर्तनादि से साधक के प्रेम का दैवीकरण होने लगता है।[2] साधना के प्रार-

[1] सूफी व तान्त्रिक साधक लौकिक प्रेम को दिव्य-प्रेम का बाधक नहीं मानते परन्तु यहाँ अरविन्द तान्त्रिकों के साथ कम, सूफियों के साथ अधिक हैं क्योंकि वे लौकिक-प्रेम मे दिव्य-प्रेम की झलक पाकर भी उसे 'अज्ञान-जन्य प्रेम' ही कहते हैं। सूफियों के यहाँ लौकिक-प्रेम दिव्य-प्रेम की शिक्षा देने का साधन है पर अरविन्द इस सम्बन्ध मे साधक की व्यक्तिगत रुचि पर अधिक ध्यान देते हैं। यदि साधक चाहे तो प्रेम-रञ्जनि से भी अपने मन, प्राण आदि स्तरों का दैवीकरण कर सकता है। इसी तथ्य पर उन्होंने अधिक जोर दिया है।

[2] For there is concealed behind individual, love, obscured by its ignorant human figure, a mystery which the mind can not seize, the mystery of the body of the Divine...... —The Synthesis of Yoga

म्भिक सोपानों के रूप में ही मूर्ति पूजा आदि को स्वीकार किया जाना चाहिए।

प्रेम का समाजीकरण व दैवीकरण दोनों परस्पर विरोधी नही हैं। दिव्य-ज्ञान से उपकार भावना, सहानुभूति, विश्व-प्रेम, दया, अहिंसादि भावनायें पुष्ट होती हैं। प्रेम के कारण प्रत्येक वस्तु, जाति, धर्म, राष्ट्र में हम उसी चिर-सुन्दर के दर्शन करने लगते हैं। हृदय से ब्रह्म की सारी अभिव्यक्तियों में आनन्द का सागर उमड़ने लगता है। विरोध मिट जाता है। प्रत्येक वस्तु के प्रति दिव्य ममता जग जाती है। (पाठक देखे कि आध्यात्मिक प्यार प्रेम हमे दुनियाँ के वर्तमान रूप से ही प्यार करना सिखाता है, ब्रह्म-ज्ञान व दिव्य-प्रेम से प्रत्येक राष्ट्र, प्रत्येक धर्म, प्रत्येक जाति व प्रत्येक क्रिया से हमें प्रेम हो जाता है, कही भी परिवर्तन करने की आवश्यकता नही रहती, विरोध मिट जाने पर व्यक्ति को अलौकिक आनन्द मिलता है परन्तु इससे समाज की समस्या का समाधान नही हो पाता और यदि यह कहो कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसे दिव्य-प्रेम का अनुभव करने लगे तो स्वय सारी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत हो जाय तो इस सम्बन्ध में लेखक का निवेदन यह है कि दार्शनिक सदा से ही मनुष्य के दुखों का कारण अहं पर विजय बताते रहे है, अरविन्द ने कोई नवीन बात नही बतलाई। पहले भी व्यक्ति को परमात्मा के स्तर तक ले जाने की प्रेरणाये दी गई हैं परन्तु इससे न व्यक्ति की समस्या सुलझी है न समाज की, क्योंकि समाज व व्यक्ति का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। अरविन्द व्यक्ति व समाज के कल्याण के लिए जगत को बदलने की आवश्यकता नही मानते, वे जगत के वर्तमान रूप में ही आनन्द लेने को प्रेरित करते हैं और इसका परिणाम होता है, 'जनता के जागृत अहं का दमन'। और यदि असंतुष्ट जनता अपने भाग्य का स्वयं निर्णय न कर सर्वत्र ब्रह्म के प्रकाश देखने में लग्न हो जाय तो उसका परिणाम उसके अधिकारों का नाश होगा। अत. दिव्य-प्रेम की भावना तो महान और पवित्र है, सुनने में भी अत्याधिक रोचक है, वह असन्तुष्ट व्यक्ति के लिए सन्तोष व आत्यान्तिक सुख का आश्वासन भी देती है परन्तु वह परिस्थितियों की चिनौती नहीं स्वीकार करने देती, उसे टालती है, समस्या का समाधान कल्पना के जगत मे जाकर खोजती है, अत वह स्वीकृत नहीं हो सकती। वैयक्तिक सुख की अनाप-शनाप कल्पनाये मधुर व सुन्दर

हो सकती है पर ये कल्पनायें हैं यह हमे न भूलना चाहिए। जब उस कल्पना जगत से मनुष्य यथार्थ जगत मे आता है तो उसे जगत को समझना पडता है, उसे मनुष्य के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना पड़ता है, उसकी व्यवस्थाओं, संस्थाओं, विचार-धाराओं को ऐसा मोड़ देना पडता है जिससे वे अधिकाधिक जनता का कल्याण कर सके। यह है यथार्थ समाधान जिसे मार्क्सवाद ने दार्शनिकों को बताया था। परन्तु अरविन्द को इस कथन में भौतिकवादिता की दुर्गन्ध आती है। व्यक्ति अपनी मानसिक स्थिति को ऊँचा-नीचा करके मनुष्य जाति के सुख-दु:ख की समस्या हल नहीं कर सकता, वह जगत को बदल कर ही मनुष्य जाति का उपकार कर सकता है। अरविन्द जगत को वह जैसा है, वैसा ही रख कर, केवल अपने मन को ऊँचा करने के द्वारा ही समस्या का समाधान खोजते हैं। अत. यह पद्धति घोर वैयक्तिकतावादी पद्धति है और यही पद्धति प्राचीन व मध्य युग के दार्शनिकों की प्रसिद्ध पद्धति रही है, अत वह स्वीकृत नहीं हो सकती।

परन्तु अरविन्द के अनुसार प्रथम योग-साधना द्वारा ईश्वर की प्राप्ति अनिवार्य है। समाज के कल्याण का प्रश्न बाद मे आता है। और चूँकि ईश्वर मे मग्न व्यक्ति बाहरी बातों को महत्त्व नहीं देता या कम देता है या महत्त्व देने पर भी समस्या का सर्वदा आध्यात्मिक समाधान खोजता है अतः उसकी यथार्थ पर प्रतिक्रिया अव्यावहारिक हो जाती है।* ज्ञान, इच्छा व क्रिया मे सच्चा समन्वय क्रियावादी खोज सकता है, कल्पनावादी नहीं।

कल्पना वादी अरविन्द बाह्य विद्रोह के स्थान पर आंतरिक क्रांति का उपदेश देते हैं। इस आंतरिक क्रांति के तीन सोपान हैं। इन सोपानों को देखकर अरविन्द की योग साधना के समन्वयवाद का

* The soul turns away to satisfy its inner longing in the absorved or the God centered life of the saint and devotee It is possible, again, to open the doors of life more largely and spend one's love of the Divine in acts of service to those around us and to the race

—The synthesis of yoga—Page—138

अव्यावहारिक रूप स्पष्ट हो जाता है—

अरविन्द कहते हैं कि जीवन इच्छा की गति का नाम है, और जीवन ने सदा इच्छा को ही केन्द्र बनाया है। और इच्छा को जीवन की स्थूलता ने कलुषित, सीमित व संकीर्ण बना दिया है। अतः दिव्य जीवन के लिए इच्छा के इस स्थूल रूप को त्याग देना चाहिए।× कलुषित इच्छा के स्थान पर उच्च इच्छा, दिव्य-इच्छा, शांतिप्रद, शक्तिपूर्ण, आनन्दपूर्ण इच्छा का विकास करना चाहिए। यह प्रथम सोपान हुआ।

आंतरिक क्रांति का दूसरा सोपान है मन की बाह्य क्रियाओं के प्रति आसक्ति को समाप्त कर दिव्य-आसक्ति, दिव्य-चिंतन की ओर ले चलना, मन को ऊर्ध्व-विकास का सहायक बना लेना।

आतरिक क्रान्ति का तीसरा सोपान है अहं का दैवीकरण—इच्छा शक्ति व मनः शक्ति का दैवीकरण हो जाने के पश्चात् अहं का दैवीकरण अनिवार्य है। सामान्य सांसारिक अहं का नाश आवश्यक है। जब हम सारी क्रियाओं इच्छाओं व विचार-प्रक्रियाओं में अचिंत्य सत्ता का संगीत सुनने लगे, समझना चाहिए कि योग पूर्ण होगया। सुन्दर स्वप्न है।

द्वन्द्वों में अविचलित रहना ही योग का लक्ष्य है। योग से द्वन्द्व की स्थिति में स्थित-प्रज्ञ रहना ही बताया जाता है, जिन द्वन्द्वों को समाप्त करना निम्न स्तर की बात है, द्वन्द्वों के होने पर भी आनन्द-मग्न रहना ही सच्चा आनन्द है।

अरविन्द के योग का लक्ष्य है परस्पर विभाजित और विरोधी प्रतीत होने वाली स्थितियों में समन्वय स्थापित करना। उनका विश्वास है कि ईश्वर मे विश्वास व योग-साधना के अभ्यास से बाह्य व आन्तरिक क्रियाओं में समन्वय स्थापित हो सकता है। ज्ञान, इच्छा एक ओर अभिन्न है, प्रेम व शक्ति एक ही गति का नाम है। परस्पर विरोधी शक्तियों का समन्वय सम्भव है। अरविन्द के अनुसार यह

× पाठक देखें कि अरविन्द में कितना प्रबल अन्तर्विरोध है, इच्छा के बाह्य रूप को छोड़ने का अर्थ है, ससार के कार्यों से सन्यास परन्तु फिर भी अरविन्द दिव्य जीवन व व्यावहारिक जीवन का समन्वय खोजने का आग्रह करते हैं। देखिए 'योग का समन्वय' पृष्ठ १५७-

समन्वय यदि दिमाग को ग्राह्य नहीं होता, यदि वह इसे कल्पनामात्र समझता है (जैसा कि मैंने ऊपर कहा है) तो यह उसकी भूल है। उसे इस समन्वय को 'रहस्य' कहना चाहिए और रहस्य की खोज प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है।

These things, to the mind an imagination or a mystery become evident and capable of experience as the consciousness rises out of limited embodied Matter-mind to the freedom and fullness of the higher and higher range of the superintelligence.*

इस रहस्योद्घाटन के लिए यह आवश्यक है कि साधक स्थूल अहं के स्तर से आने वाले अनुभवों का त्याग करे। आत्मा की आवाज भी सुने, गुरु के निर्देश पर चले, ईश्वर की आज्ञा शिरोधार्य करे और दिव्य माता की क्रियाओं को समझे। आज के युग में समाज के नाम पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता का गला घोंटा जा रहा है। अतः उसके विरुद्ध विद्रोह करे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का झण्डा ऊँचा करे। (अर्थात मार्क्सवादी भौतिकवादी मान्यताओं का विरोध करे)। सत्य की स्थिति को प्राप्त करने के लिए रजस व तमस की स्थितियों पर विजय प्राप्त करे। हमारे कार्य का निर्देशक व प्रेरक ब्रह्म है। हम केवल निमित्त मात्र हैं, ऐसा विश्वास करे। समर्पण, निष्काम कर्म तथा अहं-विनाश इन तीन सोपानों से गुजर कर ब्रह्म के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करे। योगी का उद्देश्य केवल मुक्ति-बन्धन से मुक्ति ही नहीं, पूर्णता की प्राप्ति भी है। मन मायात्मक है। सत् असत् से युक्त अर्थात् सत् सत्य को भी प्राप्त कर सकता है और अंशतः असत् से भी युक्त रहता है। अतः असत् से मन के स्पर्श को अलग करके उसे सत् की ओर ले चलना चाहिए।†

यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि पूर्ण योग की प्राप्ति हो जाने पर साधक के लिए कुछ करणीय कर्म रह जाते हैं या नहीं ? उत्तर होगा

* The synthesis of yoga—Page 167.

† For Mind is Maya Sat-Asat: there is a field of embrace of the true and the false, the existent and the non-existent. (Page—263)

योगी के लिए कुछ भी नही रहता वह अहं व सीमित बुद्धि के क्षेत्र से परे हो जाता है। केवल विचार या विचार के अभाव में केवल जीवन धारण करना भी एक क्रिया है, जीवन स्वयं एक कर्म है यथा निर्वाण के पूर्व बुद्ध का मौन स्वयं एक बड़े व्याख्यान से अधिक प्रभाव पूर्ण था। चुपचाप रहने वाले योगी को क्रियाहीन नही समझना चाहिए, वह चुप रह कर भी अपनी दैवी शक्ति को अन्य जीवों में प्रेषित किया करता है। वह प्रकाश स्तम्भ है जहाँ से प्रकाश की किरणे दुनियाँ के धन्धों में ग्रस्त मूर्ख जनता को मिल जाया करती हैं। अकिञ्चन जनता के लिए ऐसे योगियों की परम आवश्यकता है? फिर भी यदि कोई कहे कि ऐसे मौनी बाबा वस्तुत. कुछ नही करते, दुनियाँ को अहं व इच्छा के नाश का पाठ पढ़ा कर घोर एकान्तिक साधनाओं में डालकर उनके यथार्थ विकास को रोकते हैं, स्वयं उनके अन्ध-विश्वास से लाभ उठाते हैं तो अरविन्द का उत्तर होगा कि वस्तुतः कोई व्यक्ति काम नहीं करता केवल प्रकृति व्यक्ति के माध्यम से काम करती है, अभिव्यक्ति की प्रेरणा तो ब्रह्म से मिलती है।

For, in reality, no man works, but Nature works through him for the self expression of a power within that proceeds from the Infinite.§

यह है अरविन्द का तर्क! जो हो रहा है उसके लिए कोई उत्तर दायी नही। अकाल पड़ता है वर्षा मे गाँव के गाँव वह जाते है, समाज में भेड़िये पलते हैं गरीब अधिक गरीब होते जारहे हैं और धनपतियों की जेवें भरती जारही हैं। इस सबके लिए ईश्वर मालिक है, प्रकृति ही सब कुछ करती है, मनुष्य तो निमित्त मात्र है। उसका कार्य ईश्वर की प्राप्ति है, इच्छा और अहं का नाश ही एकमात्र उपाय है और यह योग से होगा। यदि सङ्घर्ष व क्रान्ति की वात करेगा तो वह अहंवादी हो जायगा और अहंवादी को ईश्वर कभी नहीं मिल सकता। अरविन्द के हाथ में ईश्वर का विचित्र जादू था जिससे कुछ भी सिद्ध करना किसी के भी लिए सर्वदा सहज होता है। अरविन्द जानते थे कि योगियों के कार्यों से केवल योगियों को ही लाभ होता है परन्तु योगियों के कार्य के महत्त्व को सिद्ध करना भी अनिवार्य है क्योंकि स्वयं

§ The Synthesis of Yoga—page 269.

अरविन्द समाज का कार्य सहसा छोड़ कर "प्रकाशस्तम्भ" बनने की धुन में पांडीचेरी चले गए थे अतः उन्होंने तर्क रक्खा—In reality no man works अर्थात् जब कोई स्वत कार्य ही नहीं करता, प्रकृति ही सब कुछ कराती है तो सामाजिक अत्याचारों के लिए ईश्वर उत्तरदायी होगा या नही ? यदि होगा तो क्या करना चाहिए। तर्क अपका ही है क्या आपने इससे निकलने वाले परिणाम पर विचार नही किया ? अन्तद्रष्टा होने का क्या यही परिणाम होता है कि योगी व साधक मनमानी कल्पनाओं में मन बहलाने को ही सब कुछ मान लेते हैं और उन्हे जो नही मानता उसे श्राप देने पर तुल जाते है।

यदि अरविन्द से कहा जाय कि इच्छा के नाश के पश्चात् कर्म कैसे होगा ? उत्तर होगा—विश्व का अधिकतर कार्य बिना इच्छा के होता है। यह प्रकृति की प्रेरणा है, मनुष्य निरन्तर कार्य किसी इच्छा से नही करता। अन्तर्चेतना, प्रेरणा व प्रवृत्ति से करता है। उसका कार्य कभी-कभी इच्छा के विरुद्ध जाता है, अतः योगी व्यक्तिगत सीमित इच्छा से कार्य करेगा। इसी सार्वभौमिक इच्छा या प्रेरणा का विकास हमारा उद्देश्य है। इसीसे प्रेरित होकर योगी सर्वभूत हित मे रत रहते हैं।

कम से कम योगियों के लिए आर्थर कोइसलर ने अपनी "योगी एण्ड कमीसार" नामक पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि योगी सर्वदा निरपेक्ष रुप में सोचता है, यद्यपि वह कहता यही है कि वह समन्वयवादी है, वह बुद्धि सत्य को नहीं जान सकती और सत्य ही ज्ञेय है, सत्य शाश्वत सत्ता का नाम है। बाह्य सङ्गठन से कुछ नहीं हो सकता, आन्तरिक सङ्गठन से ही सब कुछ सम्भव है। जो इसे नहीं मानता वह पलायनवादी है। वह विश्वास करता है कि भारत मे किसानों पर कर्ज के बोझे को कानून द्वारा हलका नहीं किया जा सकता, उसे आध्यात्मिक योग साधना द्वारा दूर किया जा सकता है। वह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति यहाँ निरपेक्ष है, वह केवल ब्रह्म से सम्बन्धित है। उनका कार्य इसलिए केवल कार्य भावना (विचार) से संन्यास लेना है, उसका [illegible] करना है। इस संन्यास को कठिन साधना से सम्हाले रखना ही योगी का धर्म है [illegible]। यह कहना सरल है कि योगी और क्रान्तिकारी मार्क्सवादी में समन्वय हो सकता है। जब तक ऐसा समन्वय सम्भव नहीं हो सका। विभिन्न प्रकार के समझौते अवश्य

सुझाए गए हैं परन्तु वे एकाङ्गी हैं (अरविन्द दर्शन ऐसा ही एकाङ्गी समझौता है) क्योंकि मार्क्सवादी का ध्यान व्यक्ति व समाज पर रहता है और योगी का व्यक्ति और विश्व पर":—

He (yogi) believes that logical reasoning gradually loses its compass value as the mind approaches the magnetic pole of truth or the Absolute, which alone matters He believes that nothing can be improved by exterior organization and everything by the individual effort from within, and that what so ever believes in anything else is an escapist. He believes that the debtservitude imposed upon the peasants of India by the money lenders should not be abolished by financial legislation but by spiritual means. He believes that each individual is alone but attached to the all-one by an invisible umbilical cord, that his creative forces, his goodness, trueness and usefulness can alone be nourished by the sap which reaches him through this cord, and that his only task during his earthly life is to avoid any action, emotion or thought which might lead to a breaking of the cord. This avoidance has to be maintained by a difficult, elaborate technique, the only kind of technique which he accepts It is easy to say that all that is wanted is a synthesis—the synthesis between saint and revolutionary, but so far this has never been achieved. What has been achieved are various motley forms of compromise .. [1]

अर्थात् योगी विश्वास करता है कि जैसे ही मानवीय मस्तिष्क

[1] The Yogi and the Commissar

—Arthur Koestler, Page 9

शाश्वत सत्ता का स्पर्श करता है तो वह अपनी तर्क-बुद्धि का महत्त्व खो देता है। वह विश्वास करता है कि बाह्य सामाजिक सङ्गठनों से कुछ भी सुधार नहीं हो सकता। केवल आन्तरिक वैयक्तिक प्रयत्न से ही पूर्ण उन्नति हो सकती है। जो लोग इस आन्तरिक उन्नति के अतिरिक्त अन्य प्रयत्नों मे विश्वास करते हैं, वे पलायनवादी हैं। वह विश्वास करता है कि भारतीय किसानों पर महाजनों द्वारा लगाए गए ऋण के भार को कानून से दूर नहीं किया जा सकता। वह केवल आध्यात्मिक उपायों से दूर किया जा सकता है। वह विश्वास करता है कि प्रत्येक व्यक्ति निरपेक्ष है परन्तु वह परमब्रह्म के साथ एक अदृश्य डोर के साथ बँधा हुआ है। वह विश्वास करता है कि उसकी सृजन-शक्ति उसकी भलमनसाहत, सचाई तथा उपयोगिता केवल उस रस के द्वारा ही पोषित हो सकती है जो इस अदृश्य डोर के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त हो रहा है। अत. पार्थिव जीवन में व्यक्ति का एकमात्र कर्त्तव्य यह है कि वह किसी भी ऐसे विचार, प्रयत्न व भाव को टालता रहे जो उस अज्ञात डोर को काट दे। प्रयत्नों, भावो व अध्यात्म-विरोधी विचारों को टालने के लिए अत्यधिक कठिन और संकुल साधना की आवश्यकता है। वह इस साधना के अतिरिक्त और किसी को भी इस जीवन मे स्वीकार नहीं करना चाहता। यह सहज है कि यदि किसी वस्तु की तो बस केवल क्रान्तिकारी व योगी मे समन्वय की आवश्यकता है परन्तु अब तक इस प्रकार का समन्वय प्राप्त नहीं हो सका है. जो कुछ भी इस समन्वय से प्राप्त किया जा सका है वह 'समन्वय' नहीं है समझौता है।

पन्तजी के चिन्तन का क्रमिक विकास

पन्तजी की कविता का पाट बहुत विस्तृत है। 'ग्रन्थि', 'वीणा', 'पल्लव', से लेकर 'उत्तरा', 'रजत शिखिर', 'शिल्पी' और 'अतिमा' तक उनके काव्य का विस्तार है। प्रारम्भिक युग की कविताओं को— 'वीणा' (१९१८–१९ की रचनाये), 'ग्रन्थि' (१९२० में रचित), 'पल्लव' (१९१८ से लेकर १९२५ तक की रचनायें), 'गुञ्जन' (१९२५ से १९३२ तक की रचनायें) छायावाद युग में गिना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन संग्रहों में जो कवितायें हैं, उनमें बहुत सी कविताओं में शैली या वस्तु की दृष्टि से छायावाद के तत्त्व हैं। 'ज्योत्स्ना' नामक नाटक (१९३३) भी इसी युग में रख दिया जाता है। यह प्रथम युग हुआ।

द्वितीय युग समाजवादी प्रभाव से प्रभावित कविताओं का है जिनमें 'युगान्त' (१९३५, ३६ की रचनायें), 'युगवाणी' (१९३६ से १९३९ की रचनायें) तथा 'ग्राम्या' (१९३९, ४० की रचनायें) की गणना की जाती है। ऐसा कहा जाता है कि इस काल में पन्तजी यथार्थवादी कवि है, छायावाद को छोड़ चुके है।

तृतीय युग अर्थात् नवीन युग अध्यात्मवादी कविताओं का है। इनमे 'स्वर्णकिरण' (१९४६, ४७ की रचनाये), 'स्वर्णधूलि' (१९४७), 'उत्तरा' (१९४९) की गणना होती है, इसके अतिरिक्त कुछ काव्य रूपक भी इसी युग के आते हैं—'रजतशिखिर' (१९५१) तथा 'शिल्पी' (१९५२)। अभी 'अतिमा' नामक संग्रह (१९५५) प्रकाशित हुआ है जिसमें पन्तजी की १९५४, ५५ की कवितायें संग्रहीत हैं।

कुछ अन्य संग्रह भी प्रकाशित हुए है जिनके नाम नूतन परन्तु कविताये प्राचीन सग्रहों की हैं यथा 'युगपथ' सग्रह 'युगान्त' का नवीन सस्करण है, जिसमे कुछ कविताये नई जोड दी गई हैं। तथा

'युगान्तर' नाम से इसी में एक भाग है जिसमें १९४८ तक की अन्य कवितायें दी गई हैं। इसी प्रकार 'पल्लविनी' नामक संग्रह में प्रारम्भ से 'युगान्त' (१९३६) तक की मुख्य-मुख्य रचनायें काल-क्रमानुसार दी गई हैं।

पन्तजी की रचनाओं को प्रायः उक्त तीन युगों में बाँट कर कहा जाता है कि वे विकास-प्रिय कवि रहे हैं, १९३६ तक वे छायावादी रहे, फिर प्रगतिवादी हो गये तथा 'स्वर्ण-किरण' आदि तृतीय युग की रचनाओं में पुनः अध्यात्मवादी हो गये। प्रभाव की दृष्टि से ऐसे विभाजन का रूप हम पन्तजी मे देख सकते हैं, क्योंकि १९३६ के पूर्व वे रूप सौन्दर्य के कवि थे, 'युगान्त', 'युगवाणी' में उनका ध्यान मार्क्सवादी विचारधारा की ओर गया और अपनी आदर्शवादी विचारधारा के साथ-साथ उन्होंने मार्क्सवाद से ग्रहीत प्रभाव को भी वाणी दी। किन्तु अपनी दीर्घ अस्वस्थता के बाद लिखित 'स्वर्ण-किरण' तथा उसके बाद की रचनाओं में अरविन्द-दर्शन से प्रभावित होकर वे लिखते रहे। यह तो 'प्रभाव' की दृष्टि से विकास हुआ किन्तु ऐसा विभाजन वस्तुत. वैज्ञानिक नहीं हो सकता क्योंकि जिसे हम प्रगतिवादी युग (१९३६ से ४०) कहते हैं उसमे भी 'युगान्त' व 'युगवाणी' में अनेक कवितायें 'आत्मवाद, ईश्वरवाद, सत्य-अहिंसावाद का प्रचार करने के लिए लिखी गई हैं।' अत. यह मानना चाहिए कि पन्तजी मूलत' आदर्शवादी—अध्यात्मवादी कवि रहे हैं। १९३६ के बाद की कुछ रचनाओं पर मार्क्सवाद का प्रभाव पडा है, परन्तु उन्होंने मार्क्सवाद के केवल उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण किया है, जो उनकी व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल पड़े हैं, शेष अरुचिकर (पन्तजी के लिए) तत्त्वों की उन्होंने सदा कड़ी आलोचना की है और न केवल उन तत्त्वों को मार्क्सवाद की सीमा बताकर टाला है अपितु उनसे सर्वथा दूर रहने के लिए अध्यात्मवाद की शरण में जाने का भी उपदेश दिया है। ऐसी जगहों पर वे धर्म, आत्मा.ईश्वर, अन्तर्चेतना आदि का वैसे ही प्रचार करने लगते हैं, और नास्तिक जड़वादी, श्रद्धाहीन, मार्क्सवादियों को ललित-दुर्ललित, शोभन-अशोभन, सांस्कृतिक, असांस्कृतिक सभी रूपों में सभी प्रकार की गालियाँ वैसे ही सुनाते हैं जैसे पूरे दार्शनिक इतिहास में साम्प्रदायिक आस्तिक कहलाने वाले धर्म प्रचारक—पुरोहित, पादरी, आदि सुनाते रहे हैं। १९४० के बाद विशेष रूप से उनकी रचनाओं में

मार्क्सवाद को पूर्ण रूप से स्वीकार करने वालों के प्रति घोर घृणा जाग्रत होगई है और इसलिए मार्क्सवाद पर उनके व्यंग्य अधिक तीखे और चुटीले हो गए हैं। इसलिए जब १९३६–४० के युग में भी उन्होंने आदर्शवाद को नहीं छोड़ा और जब तृतीय युग में प्रतिबिम्बित अध्यात्म-वाद या नूतन रहस्यवाद के अंकुर बराबर प्रारम्भिक कविताओं में मिलते हैं तो पन्त की कविताओं को अलग-अलग तीन युगों में नहीं बाँटा जा सकता। केवल इतना कहा जा सकता है कि पन्तजी प्रकृति-प्रतीक प्रेमी, आत्मा-परमात्मा प्रेमी सदा रहे हैं कुछ समय तक उन पर मार्क्सवाद का भी प्रभाव रहा है पर आगे चलकर वह प्रभाव क्षीण होता गया है।

इस स्थापना के साथ-साथ हमें पन्तजी की कविता में जो सुधारवादी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उनको भी समझ लेना चाहिए। मैंने पीछे कहा था कि पन्त, निराला आदि पुनरुत्थानवादी कवि रहे हैं। रामकृष्ण, विवेकानन्द, रवीन्द्र आदि की विचारधारा का इन कवियों पर बरावर प्रभाव रहा है।* विवेकानन्द और रामतीर्थ ने शाङ्कर-वेदान्त को सामाजिक व सापेक्ष रूप में प्रस्तुत करने का बहुत अधिक प्रयत्न किया था। अतः आत्मा व परमात्मा की एकता पर पूर्णतया बल देते हुए इन विचारकों ने जगत् के मिथ्यात्व पर कम महत्त्व दिया और जहाँ उसे स्वीकार किया वहाँ उसका भी सामाजिक उपयोग बत-लाया। अतः पन्तजी आदि भी अध्यात्म को अधिक सामाजिक रूप देने का प्रयत्न करते रहे हैं और साथ ही यह भी सिद्ध करते रहे हैं कि अध्यात्मवाद निरपेक्ष होते हुए भी, अनुपयोगी वस्तु नही है। भौतिक-वाद के साथ उसका समन्वय हो सकता है। 'ज्योत्स्ना' मे जो महान कल्पित चित्रपट कवि ने प्रस्तुत किया है उसमें भी निरपेक्ष कहे जाने वाले सिद्धान्तों को निरपेक्ष सिद्ध करके भी उनकी सापेक्षता सिद्ध कर दी गई है। परन्तु फिर भी पन्तजी ऐसे दर्शन की खोज में थे जिसमें भौतिकवाद व मार्क्सवाद का समन्वय सिद्ध हो सके। इसी मानसिक स्थिति मे अरविन्द के दर्शन को पढ़ कर उन्हे प्रतीत हुआ मानो उन्ही की शङ्काओं का समाधान करने के लिए ही अरविन्द ने अपना दर्शन प्रस्तुत किया है। बस १९४० के बाद से आज तक पन्तजी ने जो कुछ

* देखिये 'महाकवि निराला'—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

लिखा है उसमें अरविन्द-दर्शन को ही वाणी दी गई है। और यही नवीन युग (१९४० से ५५ तक) हमारी आलोचना का विषय है।

इस युग में पन्तजी की विचारधारा क्या है? इसे हमें समझना है। हम कह चुके हैं कि इस युग में अरविन्द-दर्शन को वाणी दी गई है तो क्या इसका यह तात्पर्य है कि उन्होंने अरविन्द के दर्शन को भी विशेष रूप से ग्रहण किया है? नहीं? यों हीगेल, बर्गसाँ आदि के प्रभाव उन पर बताए जा सकते हैं परन्तु वे प्रभाव अरविन्द पर भी थे। अतः अरविन्द के दर्शन को उन्होंने पूर्णतया स्वीकार किया है।

हम अपने द्वितीय निबन्ध में अरविन्द के दर्शन को विस्तार से समझा चुके हैं। यहाँ पन्तजी के नए काव्य में उसका प्रयोग किस रूप में और कितना हुआ है—यह हमें देखना है। परन्तु इसके पूर्व १९४० तक पन्तजी की विचार-धारा का एक संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करने से पाठकों को अरविन्द-दर्शन तक के सोपान स्पष्ट हो जायेंगे। अतः पहले हम उसी पूर्व-विकास को प्रस्तुत करते हैं।

क्रमिक विकास—'ग्रन्थि, वीणा, पल्लव काल' की रचनाएँ सर्व प्रथम आती हैं। इनमें स्वयं पन्तजी के अनुसार प्रकृति-प्रेम को व्यक्त किया गया है। योरोप के रोमांटिक काव्य के प्रभाव इन कविताओं में देखने को मिलते हैं, साथ ही बँगला के कवियों की शैली व वस्तु का भी प्रभाव है। 'ग्रन्थि' में संस्कृत प्रभाव होने पर भी नूतन छायावादी शैली के यत्र-तत्र दर्शन हो जाते हैं।† शैली के साथ-साथ प्रकृति के अञ्चल में अव्यक्त सत्ता के प्रति जिज्ञासा जो छायावाद व बँगला के रोमांटिक काव्य की विशेषता रही है, प्रारम्भ से ही मिलती है। काव्य के लिए यह जिज्ञासा मधुर है, कल्पना सदैव मधुर व मनोरम होती है। विचार की दृष्टि से हम इसे रहस्यवाद का नाम देते हैं। 'ग्रन्थि' में भी यह प्रवृत्ति सुरक्षित है, यद्यपि वह प्रेम-काव्य है।० प्रकृति

† अ—'स्वप्न के सस्मित अधर' ग्रन्थि पृष्ठ २१
ब—'तरुण अनुभव' पृष्ठ २२
स—'कल्पना की कृश लटें' पृष्ठ २७
द—'मग्न-मानी' पृष्ठ ३१, य—'पवन के नीले अधर पर' पृष्ठ ४२

० विश्व यह कैसी मनोहर भूल है, मधुर दुर्बलता यहाँ छोटी बड़ी।
कल्पनाएँ छोड़, लीला के लिए, यह निराला खेल क्या विधि ने रचा।

की स्वतन्त्र मोहकता का चित्रण पन्त के काव्य की मुख्य विशेषता रही है, परन्तु इन चित्रणों में विश्व के प्रति गम्भीर आश्चर्य की भावना उन्हे उसी अव्यक्त सत्ता की कल्पनात्मक खोज की ओर ले गई है जिसका रूप हमे ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मिलता है। परन्तु वहाँ जैसी शङ्कालु प्रवृत्ति पन्त मे नही मिलती, जिज्ञासा ब्रह्म पर आन्तरिक विश्वास का पूर्ण रूप प्रकट करती हुई 'विश्व के पलकों पर सुकुमार' जैसी पंक्तियों में भी व्यक्त होती रही है।

परन्तु फिर भी इन कविताओं में हृदय के उद्वेग, निराशा, विरह, करुणा, प्रकृति के प्रति ममता, हृदय का विस्तृत प्रेम, कल्पना के वल पर लाए गए नवीन-नवीन रूपों का अङ्कन, प्रकृति के प्रति तन्मयता, मोहकता, संवेदनात्मकता का चित्रण अधिक होने से दर्शन का साम्प्रदायिक रूप जो नूतन-काव्य में व्यक्त हुआ है, प्रारम्भिक रचनाओं में उपलव्ध नही होता, यहाँ कवि काव्य की स्वाभाविक भूमि पर रहता है। मधुर रूप-रङ्गों का नवीन शैली मे अङ्कन करना ही प्रारम्भिक कविताओं की मुख्य विशेषता रही है।

प्रकृति के भैरव रूप को न देखने का कारण कवि का कोमल स्वभाव रहा है और उसी के कारण सर्वदा वह प्रकृति के कोमल रूप का ही अङ्कन करता रहा। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि कवि ने उग्रतावादी मार्क्सवाद के भी उस रूप को आगे चल कर अपनाया जिसमें कोमल कल्पना पर आघात न हो।

पन्तजी ने लिखा है कि "यदि मैं सङ्घर्ष-प्रिय या निराशावादी होता तो Nature red in tooth and claw वाला कठोर रूप, जो जीव-विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खीचता। किन्तु "वह्नि, वाढ, उल्का, झंझा की भीषण भू पर" इस "कोमल मनुज कलेवर" को भविष्य में अधिक से अधिक 'मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे, और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रासाद' निर्माण कर सकेगा जिनमे "मनुष्य जीवन की क्षण धूलि" अधिक सुरक्षित रह सकेगी—वह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है।"

कौनसी ऐसी परम वह वस्तु है, भटकते हैं मनुजगण जिसके लिए।
कौनसा ऐसा चरम-सौन्दर्य है, खींचता है जो जगत के हृदय को!

ग्रन्थि—पृष्ठ ४०

इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य के प्रति प्रकृति के संवेदनात्मक रूप का तथा मनुष्य का प्रकृति के प्रति संवेदनात्मक रूप का चित्रण पन्त की प्रकृति के अनुकूल है। प्रकृति की तटस्थता कवि को सह्य नहीं है क्योंकि वह विज्ञान का कार्य है, कवि का नहीं। मनुजोचित साधनों के लिए सङ्घर्ष करने के बिना ही यह आशा करना अधिक कोमल व कमनीय है कि वह अवश्य इन पर विजय पा लेगा। यह आशा बराबर कवि को रही है, परन्तु कैसे यह आशा पूरी होगी? सङ्घर्ष करने से या केवल आशाओं के गीत गाने से? यदि सङ्घर्ष करने से मनुष्य सुखी होगा तो सङ्घर्ष का रूप बताना होगा। और इसका उत्तर कवि ने आगे दिया है, अहिंसा व सत्याग्रह से—विशेषकर भारत में तो इन्हीं का उपयोग होना चाहिए क्योंकि यहाँ वर्ग-सङ्घर्ष की बात करना मूर्खता है, संस्कृति के विरुद्ध है।

जो विचारक पन्तजी को विभाजित दृष्टि से देखते हैं उन्हें ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा कि प्रारम्भिक युग में कवि की प्रकृति, कल्पना तथा विचारधारा का क्या स्वरूप था? क्या उसमें वे सम्भावनाएँ थीं जिनसे आगे चल कर कवि अरविन्द-दर्शन तक पहुँच सका? उत्तर होगा वे सम्भावनाएं उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा स्पष्ट रूप से संकेतित हैं।

कवि मानव का हित चाहता है, अतः वह मानवतावादी है। वह मनुष्य की अन्तिम विजय का विश्वासी है, यह भी उसकी आशावादिता का परिचायक है, वह भीषण सङ्घर्ष के बिना भी यह विश्वास करता है कि मनुष्य की जय होगी। यहीं नूतन-काव्य के पतन का बीज छिपा हुआ है—अर्थात् कवि सङ्घर्ष को बचा कर या अव्यावहारिक (अतः कल्पित) सङ्घर्ष के माध्यम से मनुष्य की जय में विश्वास रखता है। सङ्घर्षवादी दर्शन उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है। अतः मनुष्य के दुःख-सुख, आशा-आकांक्षाओं को कवि एक ओर अपनी सशक्त कला के माध्यम से वाणी देता है, जो एक मानवतावादी कार्य है और स्तुत्य है परन्तु साथ ही वह अपने कल्पनाशील स्वभाव के प्रतिकूल सङ्घर्षवादी तत्त्वों का विरोध करता है। वह निश्चित रूप से समष्टि के भी गीत गाता है, उसके भविष्य के प्रति चिन्तित भी है, वह अध्यात्मवाद के कोने घिस कर उसे सामाजिक बनाने का प्रयत्न करता है, कतिपय अन्ध-विश्वासों का विरोध भी करता है, परन्तु साथ ही कवि की

आत्म-परमात्मवादी आस्था सदा अखण्ड रहने से (मार्क्सवादी प्रभाव में आने पर भी) वह ऐसे दर्शन की फिराक में रहता है जिसके अनुसार मनुष्य के भविष्य का रूप उसके स्वभाव के—उसके ब्रह्मवाद के अनुकूल हो। इसी प्रवृत्ति के कारण एक ओर पन्त 'मार्क्स' की प्रशसा करते है और दूसरी ओर गान्धीवाद और अरविन्दवाद के गीत गाते हैं। अर्थात् कवि अपने मूल संस्कारों के विरुद्ध नहीं जा सका। अतः वह सामाजिक दृष्टि से 'मार्क्सवाद' को श्रेयस्कर मानते हुये भी व्यक्तिगत-निरपेक्ष चिन्तन-धाराओं में से एक ऐसे दर्शन की खोज करने लगा जिनमे ऐसा समन्वय हो जिसमें भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का समन्वय हो जाय, जिससे पुनरुत्थानवादी भावना भी पुष्ट हो और साथ ही सभी प्रश्नों के उत्तर भी दिए जा सकें। चाहे वे कल्पना पर ही आधारित क्यों न हों और अरविन्द का दर्शन ऐसा ही है, जिसके मिल जाने पर पन्तजी पूर्ण सन्तुष्ट हो गए।

इसलिए मैंने कहा कि विभाजित दृष्टि से पन्तजी को न देखिए। प्रारम्भ से अब तक कवि के मूल-स्वभाव, सस्कारों व विश्वासों का सूत्र बराबर एक सा रहा है। वही सूत्र उसके ऊपर लगाए गए विचारों के फूलों को बराबर सलग्न किए हुए है। जो लोग कुछ लाल रङ्ग के फूलों को देख कर कहते है कि पन्तजी की विचार-माला के बीच का भाग मार्क्सवादी है, वे उस अन्तर्निहित सूत्र को भूल जाते हैं और इसी-लिए व्यर्थ के भ्रमों का पोषण होता रहा है।

पन्तजी ने स्वय लिखा है, "मैं कल्पना के सत्य को सबसे बडा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूं।"* वीणा से लेकर ग्राम्या तक ही नही आगे भी कवि ने कल्पना के सत्य को ही वाणी दी है। मुझे केवल इतना कहना है कि मनोरम कल्पना के द्वारा निर्धारित मनोरम सत्य ने पन्तजी के काव्य को जहाँ अत्यधिक मनोरम व आशामय बनाया है वहाँ उसे सङ्घर्ष से दूर रखने वाला

*पन्तजी ने भावना के अभाव का कारण अपने स्वभाव को बतलाया है, (मै कहूंगा कि उनका स्वभाव सस्कार ही उनके नूतन-काव्य में प्रतिबिम्बित 'अरविन्दवाद' व मार्क्सवाद के सशोधित रूप के लिए भी उत्तरदायी है) "इसी प्रकार अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है, और मेरी रचनाओं में उसका सम्बन्ध मेरे स्वभाव से है।" —आधुनिक कवि की भूमिका पृष्ठ ६

काल्पनिक भी बनाया है इसीलिए वे अन्तर्चेतना के आधार "यूटोपिया" का गुणगान 'स्वर्ण-किरण' से लेकर 'अतिमा' तक करते हैं और जो विचारक उनके 'स्वप्नों' का विरोध करते हैं, उनकी कड़े शब्दों में भर्त्सना करते हैं। निरपेक्ष कल्पनामय आशावादिता, मनोरमता, मोहकता उनके काव्य की विशेषता है और सङ्घर्ष से पलायन, रहस्यवाद व अन्धविश्वासों के पुनरुत्थान का प्रचार उसका फल।

प्रारम्भ में प्रकृति के रूप-अङ्कन की प्रवृत्ति को सर्वप्रथम प्राकृतिक दर्शन (Naturalistic Philosophy) के अध्ययन से ठेस लगती है। अत: कवि के मन में वस्तु की नश्वरता उदित होती है जिसका परिणाम है 'पल्लव' की "परिवर्तन" शीर्षक कविता। किन्तु इस कविता को छोड़ कर 'पल्लव' की अन्य कविताओं में, कवि की राग-विराग कल्पनामयी वाणी सर्वत्र व्याप्त दिखाई पड़ती है। राग के क्षणों मे कमनीयता 'भावी पत्नी के प्रति', 'बाँध दिये क्यों प्राण प्राणों मे' और आगे भी 'मञ्जरित आम्र वन कानन में' आदि कविताओं में व्यक्त होती है। विराग के क्षणों में वह प्रकृति में व्याप्त अव्यक्त सत्ता के दर्शन करता है यथा 'जीवन यान' व "परिवर्तन" आदि कविताओं मे। "जीवन यान" मे कवि की जिज्ञासा इस प्रकार व्यक्त हुई है—

अहे! ऐ विश्व व्यथित मन!
किधर बह रहा है यह जीवन?
यह लघु पोत, पात, तृण, रज-कण,
अस्थिर—भीरु, वितान,
किधर? किस ओर?—अछोर अजान,
डोलता है यह दुर्बल यान?

'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे केवल भौतिक पदार्थों की नश्वरता का ही दर्शन नही अपितु अद्वैतवाद का भी वर्णन है—

नित्य का यह अनित्य-नर्तन,
विवर्तन जग, जग का व्यावर्तन।
अचिर मे—चिर का अन्वेषण,
विश्व का तत्त्व-पूर्ण दर्शन।
अतल से एक अकूल उमङ्ग,
सृष्टि की उठती तरल तरङ्ग।

उमड़ शत-शत बुद्‌बुद संसार,
बूड़ जाते निस्सार।
एक छवि के असंख्य उडुगन,
एक ही छवि सबमें स्पन्दन।
एक छवि के विभात मे लीन,
एक विधि के अधीन।
एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास —"परिवर्तन"

विश्व के पदार्थों के मूल में एकही अव्यक्तसत्ता अवस्थित है, कवि को इस पर पूर्ण विश्वास है। ऊपर की पंक्तियों से कवि की सर्ववादी प्रवृत्ति स्पष्ट है परन्तु जब कवि "नित्य का यह अनित्य नर्तन" कहता है तो क्या वह भौतिक पदार्थों को मिथ्या मानता है, अनित्यता का अर्थ केवल नश्वरता, क्षणभंगुरता मात्र है, 'विवर्तवाद' में तो कवि विश्वास नही करता? अन्यत्र भी कवि ने इस प्रकार कहा है—

निराकार तम मानों सहसा, ज्योति-पुञ्ज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में, धर कर नाम रूप नाना।

किन्तु 'मानो' शब्द यहाँ यह संकेत करता है कि इसमे शांकर अद्वैतवाद को केवल उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।† प्रकृति के सुन्दर रूप के अङ्कन में मग्न कवि जगत को मिथ्या नहीं मान सकता ऐसा प्रतीत होता है। प्रकृति के भीतर ब्रह्म की झलक देखना एक बात है और ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या बताना दूसरी बात है। अत. 'अनित्य' का अर्थ नश्वरता ही लेना चाहिए तथा जगत को मिथ्या न मानकर क्षणिक परन्तु सत्य मानना चाहिए। 'पल्लव' की अन्य कविताओं से भी यही तथ्य पुष्ट होता है। प्रकृति मे रहस्यमय सत्ता के दर्शन करने वाले रहस्यवादी कवि प्रायः सर्ववादी रहे हैं, वे जगत को शंकराचार्य के अर्थों में मिथ्या नही मानते, क्षणभंगुर अवश्य

† इसी प्रकार 'चाँदनी' का वर्णन करते हुए अनिर्वचनीयता को उपमान बनाया गया है—

वह है, वह नहीं अनिर्वच, जग उसमें, वह जग में लय
साकार चेतना सी वह, जिसमें अचेत जीवाशय
—चाँदनी (गुञ्जन से)

मानते हैं। विवेकानन्द व रामतीर्थ जगत को मिथ्या मानते थे, परन्तु मिथ्यात्व पर जोर न देकर आत्मा व ब्रह्म की एकता पर जोर देते थे। निराला जगत को मिथ्या मानते हैं और उनके काव्य में सर्वदा एक ही स्वर—आत्मा व ब्रह्म की एकता का निनादित होता है। अतः पन्तजी "वीणा-ग्रन्थि-पल्लव-काल" में सर्ववादी हैं मिथ्यात्ववादी नहीं, ऐसा मानना चाहिए।

'पल्लव' से लेकर 'गुञ्जन' तक का समय उपनिषदों के अध्ययन का समय है। यद्यपि कवि इसके पूर्व भी उस से परिचित था। परन्तु वह 'पल्लव' तक बाह्य प्रकृति-छवि पर मुग्ध रहा, उसमें अवस्थित अचिन्त्य-सत्ता का आभास भी वह देखता था, पर उसमें जिज्ञासा, आभास तथा संकेतों का ही मुख्य स्थान था, 'आत्म साधना' का नहीं। इसीलिए 'पल्लव' में अनङ्ग, नक्षत्र, छाया, सध्या, बादल आदि कविताओं में रूपों की विविधता की ओर कवि का अधिक ध्यान आकर्षित हुआ है। किन्तु 'गुञ्जन' में कवि मानव-जीवन की ओर अधिक आकर्षित हुआ है, सुख-दुःख की समस्याओं पर वह संतुलित दृष्टि से विचार करने लगा है। 'संध्यातारा' जैसी कविताओं मे उसकी 'आत्म-साधना' इस प्रकार प्रकट होती है—

वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन।
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन!
निष्कम्प शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम!
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र वह सम!

× × × ×

वह आत्म और यह जग-दर्शन

इसी प्रकार 'नौका-विहार' में वह बाह्य-छवियों का अङ्कन करते-करते 'शाश्वतवाद' की ओर उन्मुख हो जाता है—

'इस धारा ही सा जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम!
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण।
करता मुझको अमरत्व दान।'

इस सर्ववादी दर्शन ने पन्तजी के 'हृदय का' एक ऐसे सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से स्पर्श कराया कि उसकी सर्वातिशयता ने चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध और विस्मित

कर दिया। इसी आनन्द की व्यञ्जना 'गुञ्जन' की दार्शनिक भावनाओं में हुई है, पन्तजी ने घोषणा की—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का, संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का
जीवन के हर्ष-विमर्षों का, लगता अपूर्ण मानव जीवन ॥
जग-जीवन में उल्लास मुझे, नव आशा, नव अभिलाष मुझे।
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे, चाहिए विश्व को नव जीवन ॥

इस घोषणा से स्पष्ट है कि पन्तजी उच्च सांस्कृतिक, स्वर्गिक स्पर्शों की ओर १९३२ में ही उन्मुख हो चुके थे, उसके पूर्व भी थे। अतः उनकी कल्पना को कभी भी सापेक्ष चिंतन में विराम नही मिल सकता था, वे मनुष्य के भविष्य को कभी भी मात्र भौतिकता के अन्धकार में बन्द नही कर सकते थे। उन्होंने स्वयं 'सर्वातिशयता' शब्द का प्रयोग किया है। कल्पना के क्षितिज पर ऊँची से ऊँची उड़ान भर कर मनुष्य सदा अमरता की प्यास से छटपटाता रहा है, उसने सदा ही भौतिक जीवन की कुरूपताओं, कुत्सितताओं, अभावों को भुलाने के लिए सदा अलौकिक सुख-स्वप्नों की उच्चतम कल्पनाओं में अपना मन समझाया है। इससे जहाँ एक ओर व्यक्ति-मन ने आत्म-विश्वास बटोरा है, मन की दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त की है; वहाँ दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से किसी सामूहिक प्रयत्न की ओर बढ़ने की चाह भी नही उत्पन्न हुई। मनुष्य की महानतम कल्पनाओं मे ईश्वर की कल्पना है—क्षुद्रता से बचने व क्षुद्रता को छिपाने के लिए। इन दोनों कार्यों के लिए ईश्वर का बरावर प्रयोग होता रहा। पन्त व्यक्ति को क्षुद्रता से बचाने के लिए ईश्वर के सामाजिक उपयोग के पक्षपाती हैं। इससे उच्च सांस्कृतिक स्पर्श की प्राप्ति होगी, ऐसा वे कहते हैं। मानव-चेतना में असीमित सम्भावनाएँ छिपी पड़ी हैं, उनका इससे विकास होगा, यह पन्तजी बताते हैं परन्तु साथ ही, यह अन्ध-विश्वास वनकर मनुष्य के सामाजिक संघर्ष मे, उस उच्च सांस्कृतिक स्पर्शों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त अवसर देने के लिए होने वाले संघर्ष मे वाधा भी पहुँचाता है, समष्टि-साधना को व्यष्टि की एकांतिक साधना की ओर मोड देता है और पन्त के नूतन-काव्य में यह शक्ति निश्चित रूप से वर्तमान है। वह जहाँ एक ओर क्षुद्रताओं को छोड़ने के लिए उपयोगी वनता है, वही दूसरी ओर वह अन्ध-विश्वास,

घोर एकांतिक साधना और रहस्यवाद की ओर ले जाता है और उन बातों का काल्पनिक समाधान प्रस्तुत करता है जिनके लिए जनता आज अपने शत्रुओं से संघर्ष कर रही है।

पन्तजी की मनोरम कल्पना की सर्वातिशयता देखनी हो तो 'ज्योत्सना' को पढ़ना चाहिए। 'ज्योत्सना' से उनके सभी रूप सुरक्षित है। उनके स्वभाव की कोमलता, प्रकृति की कमनीयता, कला की नम्रता, सुधारवादिता, मनमाने समन्वय की भावना तथा कल्पित 'रामराज्य' (यूटोपिया) के स्वप्न सभी कुछ 'ज्योत्सना' मे उपस्थित है। 'ज्योत्सना' नाटक है और ऐसे प्रतीकात्मक नाटकों की प्राचीन परम्परा है—कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक', देव का "देव माया प्रपञ्च नाटक" अनेक नाटक इस देश में लिखे जाते रहे हैं। पन्तजी की विशेषता है "मनचाहा समन्वय"। मनचाहा विशेषण इसलिए है कि मार्क्सवाद व अध्यात्यवाद का समन्वय असम्भव है। मानवीय बुद्धि की शक्ति से ऐसा समन्वय नही हो सकता परन्तु मनचाहा समन्वय खोजने वाले यह कार्य बुद्धि से नहीं लेते, बुद्धि की अनेक परिभाषाएँ गढ़ कर, उसके शुद्ध रूप के माध्यम से और कभी उससे भी ऊपर अन्तर्चेतना (Intuition) के माध्यम से ऐसा समन्वय खोजते हैं। तब सारे विरोध अशुद्ध, सीमित, रजस, तमस, युक्त बुद्धि के परिणाम जान पड़ने लगते हैं। जड़-चेतना, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, ब्रह्मवाद, मुहम्मदवाद, ईसावाद, शोषक, शोषित, भूख तृप्ति, सभी में एकता का अनुभव जिस विशेष बुद्धि से होता है, वह साधारण व्यक्ति मे दुर्लभ है। वह विद्वानों के पास हो यह भी आवश्यक नही। वह केवल द्रष्टाओं—अरविन्द व पन्त जैसे दिव्य दृष्टि प्राप्त करने वालों के पास होती है और उसके बल से विविधता, भेद, वर्ग, वर्ण आदि के विरोधों में अनायास ही समन्वय स्थापित किया जा सकता है। पन्तजी ने ऐसा समन्वय ही 'ज्योत्सना' में तथा बाद की रचनाओं मे प्रस्तुत किया है। निरालाजी ने भूमिका में लिखा है कि "मैं गुलाब को देखता हूँ, उसके काँटों को नही", यह ठीक है परन्तु आलोचक को दोनों देखने पडते हैं, इसलिए उसका कार्य कठिन है। जिन्हें पन्तजी के काव्य-पुष्प मे केवल काँटे ही काँटे दृष्टिगोचर हुए हैं, उन्हें महादेवी के शब्दों मे 'कण्ठफोड़ा' कहना चाहिए किन्तु जिन्हें केवल पुष्प की प्रशंसा ही इष्ट रही है, वे भी एकाङ्गी हैं क्योंकि जनता

जब ऐसे गुलाबों की ओर बढ़ती है, तो वह काँटों को न देखने में असावधानी कर जाती है और उसका अञ्चल फट जाता है। अत हमें दोनों वस्तुएँ देखनी चाहिए, यही आलोचक का कार्य है।

ज्योत्सना कहती है—"मर्त्यलोक से मानवी भावनाएं धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग-समत्व, जो मनुष्य आत्मा के देव-भोजन हैं, एकदम दुर्लभ होगए हैं। पशुबल, घृणा, द्वेष और अहङ्कार सर्वत्र आधिपत्य जमाये हैं। अन्ध-विश्वासों की घोर अन्ध-निशा में, चारों ओर जाति-भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भाषा-भेद, देशाभिमान, वशाभिमान, दानवों की तरह किमाकार रूप धर कर, मानवता के जर्जर हृदय पर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। विश्व का विशाल आँगन राष्ट्रवादों की व्योम-चुम्बी भित्तियों से अनेक सङ्कीर्ण काराओं में विभक्त हो गया है, जिनके शिखिर पर दिन रात विनाश के बादल धुआँधार मँडरा रहे हैं। अर्थ व शक्ति के लोभ में पड कर संसार की सभ्यता ने मनुष्य जाति के उन्मूलन के लिए, संहार की इतनी सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी।"§

यह शुद्ध, सुरभित, श्रेयस्कर विचार-सौरभ है, इसका स्वर सुधारवादी है, जनता के दु ख के प्रति कवि जागरूक है परन्तु वह मनुष्य के दु खों का कारण क्या है, इसे जानता है। दु ख का कारण मनुष्य का स्वार्थ है। यह बात नवीन नही है, बहुत समय से धार्मिक सन्त यही कहते आए हैं। कवि अभी नही जान सका कि इस दु:ख का कारण आर्थिक व्यवस्था है। आगे उसका धार्मिक स्वर देखिए—

"मनुष्य जाति के भाग्य का रथ-चक्र इस समय जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है। शासक-शासित, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षितों के बीच बढते हुए भेद-भावों की दुरन्त-खाई, मानव-सभ्यता को निगल जाने के लिये मुँह बाए हुए है। मनुष्य के आत्म-ज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद-विवादों के मरु में लुप्त हो गया है।"❀

पाठक देखें कि कवि जनता के दु ख का मूल कारण अध्यात्म-वाद का अभाव मानता है। वह भौतिक वाद-विवाद जन्य दु:खो का अन्त ब्रह्मवाद के प्रचार से सम्भव मानता है।

---

§ ज्योत्स्ना—पृष्ठ २१

❀ वही पृष्ठ २२

तब क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर स्वयं ज्योत्स्ना देती है—
"मनुष्य जाति अपने ही भेदों के भुलावे मे खो गई है। इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँध कर, समस्त विभिन्नता को एक विश्व-जनीन स्वरूप देकर नियन्त्रित करना होगा। अनियन्त्रित प्रकृति विकृति-मात्र है।" ×

आत्मा की एकता के सिद्धान्त से समानता की स्थापना में सहायता मिल सकती है परन्तु आत्मवाद के प्रवर्तक उपनिषद् के तत्त्वद्रष्टा ऋषि तथा उनके व्याख्याता शंकर, रामानुज आदि ने भी मानसिक समानता को व्यवहार में आने से रोका। वर्ण व जाति की विषमता को वे नहीं मिटा सके, उलटे उन्होंने उसकी रक्षा की। सारे सामन्तवादी शासन मे वर्णवाद व जातिवाद का अखण्ड साम्राज्य रहा। हाँ सन्तों के प्रचार ने जब-तब उसे लचीला बनाकर पीड़ित जातियों को सुविधाएँ अवश्य दिलाई परन्तु वह तो समस्या का समाधान नही था। पूँजीवाद के आते ही जाति-व्यवस्था ढीली पड़ने लगी परन्तु वर्गवाद बढ़ गया साम्यवादी व्यवस्था मे इन सबका नाश निश्चित है। अतः व्यवस्था का परिवर्तन ही मनुष्य के दु:ख का मूल कारण है, आत्मवाद का कोरा प्रचार नहीं।

यही नहीं पन्तजी मनुष्य के दु:ख का उत्तरदायित्व विकासवाद-मार्क्सवाद पर भी डालते हैं—

"विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इन्द्रिय सुख से लुब्ध मनुष्य जाति, समस्त वेग से, जड़वाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है। मानव-सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्वालोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, विचारों, संस्कारों, नैतिक नियमों एव आचार-व्यवहारों के प्रति विश्वास उठ गया है।"*

तात्पर्य यह है कि दुःख का कारण है इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या, जिसके कारण प्राचीन आदर्शों से विश्वास उठ गया है। इसीलिए अशिक्षा, शोषण, रोग, दरिद्रता, परतन्त्रता आदि दु:ख हैं। कितना महान दर्शन है, जिस ऐतिहासिक व्याख्या से वर्ग-भेद का

× ज्योत्सना पृष्ठ ३६

* वही पृष्ठ २६

नाश होगा उससे मनुष्य का नाश होगा। कैसा विचित्र तर्क है, मार्क्स वादी व्याख्या द्वारा ही हम किसी देश के आदर्शों, संस्कृतियों के स्वरूप का ठीक-ठीक मूल्याङ्कन कर सकते है उसकी तटस्थ व्याख्या कर सकते हैं परन्तु पन्तजी की दृष्टि से वही सारे दुःखों का कारण है।

आगे फिर कवि कहता है कि ज्ञान-विज्ञान से मनुष्य को अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नही हो सकता" 'आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नही आँका जा सकता, उन्हे निरपेक्ष मान लेने पर ही मनुष्य उसकी आत्मा तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नही, सर्व है, प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है।†

मार्क्सवाद प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष मानता है। हीगल भी यही कहता था। किसी भी वस्तु का मूल्याङ्कन हम अन्य वस्तुओं के साथ रख कर ही कर सकते हैं। ब्रह्म को छोड़कर कुछ भी निरपेक्ष नही है। और चूँकि ब्रह्म को आप निरपेक्ष मानते हैं इसीलिए मार्क्सवाद ब्रह्म को नहीं मानता, निरपेक्ष को स्वीकार कर लेने का अर्थ होगा निरपेक्ष मूल्यों पर विश्वास कर लेना, जो असम्भव है। जगत में कुछ भी निरपेक्ष प्रतीत नही होता। घोर एकान्तिक मानसिक स्थितियों में साधकों को जिस "निरपेक्ष" के दर्शन होते हैं, वह 'ब्रह्म' निरपेक्ष कैसे है? और यदि ऐसा सम्भव भी हो तो ऐसी विचित्र कल्पनाओं को मार्क्सवाद स्वीकार कर अन्ध-विश्वास का मार्ग नहीं खोलना चाहता।

पन्तजी को ही स्नेह, सहानुभूति, करुणा, ममता से प्यार नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति को इन दैवी गुणों से प्यार होता है। कोई व्यक्ति क्रोध, व घृणा को आराध्य नही मानता परन्तु स्नेह व प्रेम की प्राप्ति तभी होगी जब हम इन दैवी गुणों के नाशक दानवों से घृणा करें। इसीलिए घृणा से स्नेह का जन्म होता है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु पन्तजी केवल प्रेम चाहते हैं। वह कैसे प्राप्त होगा? इसके लिए पन्तजी की 'कल्पना' (नाटक में ज्योत्स्ना की सेविका) उत्तर देती है—"विगत युगों का मनुष्य मनस्तत्त्व की विवेचना मे अधिक सफल नहीं हुआ, इसीलिए मनोजगत को अनिर्वचनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग-विराग की सहायता से अपने को भुलावे मे डाल, उसने जीवन को अज्ञान जनित, दुःख जनित समझ लिया। और अपनी आत्मा

† ज्योत्स्ना पृष्ठ ४०

के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित कर इस जन्म-मृत्यु, सुख-दु.ख के चिर आलिगन-पाश मे बेधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छायासत्यों पर अवलम्बित एक मिथ्या प्रवञ्चना का आश्रय ग्रहण किया।"†

पाठक ध्यान से देखे कि शङ्कराचार्य के मायावाद का खण्डन कितने चातुर्य से किया गया है। पन्तजी के नूतन दर्शन और अरविन्द-दर्शन के लिए भी आप इसी तर्क का प्रयोग कर सकते हैं कि मनमाना समन्वय खोजकर जीवन की कठोर वास्तविकता को कम महत्त्व देकर, अपनी आत्मा के लिए पन्तजी ने एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित कर लिया।

पन्तजी ने शांकर वेदान्त का अतिवादी रूप देखा, साथ ही भौतिकवाद का भी अतिवादी रूप देखा। "इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत-प्रकृति की ओर गया है। संसार की भौतिक कठिनाइयों से परास्त होकर, उसके दु.खों से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारों से मुक्ति पाने की ओर लगी है। जिसके लिए उसने भूत-विज्ञान की सृष्टि की है। वह देशकाल और भौतिक शक्तियों से संघर्ष कर रहा है। यह भूत-प्रकृति ही उसके कष्टों का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निर्णय वह अभी नही कर पाया। मानव-क्षेत्रों एवं विभागों को संगठित एव सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।"

तात्पर्य यह कि भौतिकवाद आन्तरिक शक्तियों के विकास की चिन्ता नही करता, अतः वह जड़वादी है। तव इस जड़वाद से ग्रसित जनता का उद्धार कैसे होगा? इसका उत्तर देखिए कितना वैज्ञानिक है—

"मनुष्य जाति को (मैं कहूँगा पन्तजी को) सदैव से सौन्दर्य विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इन्द्रजाल और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसन्द रहा है। उसके सूक्ष्म वायवी हृदय-तत्त्व को एव सीमा हीन आकांक्षाओं को इसी में परितृप्ति मिलती है। मनुष्य सत्य की ओर आँखे उठाने में डरता ही नही,

† 'ज्योत्स्ना' पृष्ठ ५१

एक दम नग्न सत्य को देखने में असमर्थ भी है। सम्राज्ञी (ज्योत्स्ना) का मनोरथ सहज ही में सिद्ध हो जाय, यदि मनुष्य के लिए एक और भी अधिक उत्तेजक, मादक, मोहक सूक्ष्म और मार्जित छलना की सृष्टि कर दी जाय, जिसके सौन्दर्य-जाल पर मुग्ध होकर वह विलासिता, कदर्य-पशुता, जड़वाद आदि की दासता से मुक्त हो सके।"

स्पष्ट है कि पन्तजी जड़वाद से ग्रसित जनता की मुक्ति के लिए एक उत्तेजक, मादक, मोहक, सूक्ष्म, मार्जित छलना की सृष्टि कर, उसके सौन्दर्य-जाल के द्वारा जनता का उद्धार करना चाहते हैं, और हम इसी को पलायनवाद कहते हैं क्योंकि यदि जनता सत्य को देखने से डरती है तो उसका कारण है—आदर्शवाद की छलना, जिसने सदा अलौकिक आदर्शों की ओर जनता का ध्यान उन्मुख किया है और जिसके कारण सत्य के नग्न स्वरूप को देखने से जनता डरती है। अतः हमारा उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि हम सौन्दर्य-छलना उपस्थित न कर, जनता में यथार्थवादी दर्शन का प्रचार करें और आदर्शवादी दर्शनों के अब तक के कृतित्व का ऐतिहासिक मूल्याङ्कन कर उनका प्रचार बन्द करें क्योंकि 'छलना' द्वारा जो सुधार होगा वह स्वाभाविक नहीं हो सकता। जनता अब इतनी मूर्ख नहीं है कि आपकी 'छलना' के स्वरूप को वह न समझे।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट हो गया कि ज्योत्स्ना में 'सौन्दर्य की छलना' द्वारा ही जनता के उद्धार की कामना की गई है। इसका कारण जनता के स्वभाव में नहीं, पन्तजी के स्वभाव में है, जैसा कि पहले मैंने कहा है। पन्तजी सत्य के यथार्थ स्वरूप को नहीं देख सकते अतः वे उसी 'दर्शन' को स्वीकार कर सकते हैं जिसके द्वारा 'सौन्दर्य की छलना'* की सृष्टि के लिए अधिकाधिक कल्पना का निरपेक्ष उपयोग हो सके। इसीलिए 'ज्योत्स्ना' के बाद मार्क्सवादी प्रभाव के युग में भी यद्यपि वे नग्न-सौन्दर्य को देखने के लिए रुक गए पर शीघ्र ही उन्होंने सौन्दर्य की छलना के लिए पूर्ण समर्थ अरविन्द के दर्शन को

* मैं इन्हीं सृजन और पालन शक्तियों का प्रादुर्भाव व विकास चाहती हूँ। इनके सम्मोहन में बँधकर मनुष्य जाति अपनी तामस वृत्तियों की जघन्यता एवं कुरूपता से अवश्य मुक्त हो जायगी। इस पृथ्वी पर स्वर्ग की विभूतियाँ अभिसार करने लगेंगी। —ज्योत्स्ना, पृष्ठ ५६

स्वीकार कर लिया क्योंकि उसमें चेतना के ऊर्ध्व-स्तरों पर जाकर मन मानी कल्पनाएँ हो सकती थी। यदि वे यथार्थवादी दर्शन के साथ ही अपने को सीमित रखते तो यह सम्भव न था—ज्योत्स्ना से अरविन्द-दर्शन तक पहुँचने की यही कहानी है। और इसी को आलोचक विकास कहते हैं।

तामसी वृत्तियों, जघन्यताओं, कुत्सित भावनाओं का नाश स्वप्नों से नही हो सकता। जिन परिस्थितियों के कारण ये जघन्य प्रवृत्तियाँ जनता में उत्पन्न हो गई हैं उन्हें दूर करना होगा। जनता को जघन्य बताने का उत्तरदायित्व स्वप्नवादियों पर है जो यथार्थ सत्य को जनता के सम्मुख नही आने देते। दोस्त और दुश्मन की पहचान नही करने देते, जो सत्य, अहिंसा, ममता के गीत गाने को ही पर्याप्त समझते हैं। यह ठीक है कि ममता के गीत व्यक्ति के मन मे ममता उत्पन्न करते हैं और व्यक्ति का मन कोमल बनता है परन्तु साथ ही वह उनके प्रति भी कोमल हो जाता है जो उसके पतन के मुख्य कारण हैं। यथार्थवादी दर्शन जनता को उनके प्रति घृणा करना सिखाता है जबकि पन्तजी की क्रान्तिकारिणी घृणा, यह दुःखनाशिनी सामाजिक घृणा भी 'तामसी वृत्ति' प्रतीत होती है। इसीलिए मैंने कहा कि 'सौन्दर्य की छलना' से लाभ कम, हानि अधिक होती है। परन्तु, पन्तजी को यह सोचने से डर लगता है।

पन्तजी कहते हैं कि प्राचीन असामाजिक आदर्शवाद एकाङ्गी था, क्योंकि वह काल्पनिक मुक्ति के फेर में पड़ गया। उसने अपने आदर्श को सामाजिक नही बनाया, यह सङ्कलनात्मक बुद्धि ही थी। इसी प्रकार आधुनिक भौतिकवाद जो विज्ञान के आधार पर विकसित हुआ है, विश्लेषणात्मक बुद्धि को लेकर चलता है, केवल सङ्कलन व केवल विश्लेषण पूर्ण सत्य को नही पहचान सकते। अत: दोनो में समन्वय की आवश्यकता है। इसीलिए पाश्चात्य जड़वाद की माँसल प्रतिभा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्माभर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पञ्जर मे भूत या जड़ विज्ञान के रूपरङ्ग भर हमने नवीन युग की सापेक्षत परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया। इसी को हमने 'मन चाहा समन्वय' कहा है क्योंकि इसमें यह मान लिया गया है कि भौतिकवाद में आन्तरिक शक्तियों—दया, ममता, सहानुभूति, प्रेम, बन्धुत्व, अहिंसा, शान्ति के विकास की सम्भावना ही नहीं है। मार्क्सवाद हिंसा को

अस्त्र के रूप में अपनाता है, जीवन के लक्ष्य के रूप मे नही। वह शोषकों के विरुद्ध घृणा का प्रचार उनके विनाश के लिए करता है, जनता के सम्मुख उनके यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए, और जनता में परस्पर अधिकाधिक, सहयोग, आत्म-त्याग, कष्ट-सहिष्णुता, विश्व-बंधुत्व, आदर, प्रेम, सहानुभूति का प्रचार करता है। अत मार्क्सवाद का सबसे बडा दोष यह है कि वह केवल शोषितों से प्रेम करना सिखाता है, शोषकों से नही। वह केवल युग-युग से पीड़ित दमित शक्तियों मे आत्म-सम्मान, विश्व-बन्धुत्व व भाई-चारे का प्रचार करता है, जनता को जोंकों से नफरत करना सिखाता है। यह बात पन्तजी को पसन्द नही, क्योंकि उनके यहाँ सभी से प्रेम सम्भव है। हृदय-परिवर्तन को वे मानते हैं। अत' यह कहना गलत है कि मार्क्स-वाद में आन्तरिक विकास नही होता क्योंकि जो कोटि-कोटि जन-समाज के हित के लिए महानतम त्याग व प्रेम की शिक्षा देता है, केवल मुट्ठी भर शोषकों को इसीलिए समाप्त करना चाहता है कि वे समाज-विरोधी हैं, वह 'दर्शन' केवल बाह्य-विकास करता है, यह सच कैसे है ? परन्तु पन्तजी मूल-समस्या पर ध्यान न देकर सभी से प्रेम करके 'वर्ग-सामञ्जस्य' का प्रचार करते हैं जो स्वय असामाजिक और प्रतिक्रियावादी है।

मैंने कहा है कि पन्तजी सत्य, अहिंसा आदि को सापेक्ष नहीं मानते, यद्यपि वह यह यह कहते है कि शाङ्कर-वेन्दात अपनी निरपेक्षता के कारण नही चल सका।

नेरी—"त्याग, विराग, अहिंसा, क्षमा, दया आदि अनेक आदर्शों को मार्मिक प्रवृत्ति के लोग पहले से निरपेक्ष सत्य समते आये हैं। इसलिए उनका धर्म मनुष्यों का धर्म न वन कर आदर्शों का धर्म वन गया मानव जीवन का सत्य सापेक्ष है।"

हेनरी—"मैं आप लोगों से मतभेद रखता हूँ (पन्तजी हेनरी के साथ एकमत हैं)। जीवन सत्य पर अवश्य अवलम्बित है, पर सत्य अपने ही मे स्थित निरवलम्ब और निराधार है, इसीलिए वह सत्य है। हाँ लौकिक सत्य एवं लोक-जीवन अवश्य एक-दूसरे के आश्रित हैं।"५

आपने देखा कि 'ज्योत्स्ना' मे पन्तजी के समन्वय का स्वरूप

५ ज्योत्स्ना, पृष्ठ ७२।

क्या है ? पन्तजी सत्य को निरपेक्ष मानते हैं और लोक-सत्य को सापेक्ष। तब शङ्कराचार्य से क्या विरोध रहा। शङ्कर भी ब्रह्म को निरपेक्ष सत्य कहते थे और लोक को व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ण सत्य मानते थे। अतः शाङ्कर-वेदान्त का पन्तजी का खण्डन गलत है, उन्हीं के तर्क से शाङ्कर-वेदान्त का मण्डन हो जाता है। वस्तुतः केवल मार्क्सवाद के द्वारा ही हम शङ्कर, रामानुज, अरविन्द व पन्त के दर्शनों का ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकते हैं। पन्तजी एक ओर तो मायावाद के दुष्परिणामों का खण्डन करते हैं (और यहाँ हम उनके साथ हैं) और दूसरी ओर वे स्वयं पारमार्थिक सत्य व व्यावहारिक सत्य का विभाजन स्वीकार कर सदैव के लिये दो प्रकार के कभी न मिलने वाले सत्यों को स्वीकार करते हैं। और आश्चर्य यह कि आगे चलकर, अरविन्द के माध्यम से इन निरपेक्ष-सापेक्ष में भी एक कल्पित समन्वय खोजने लगते हैं।

पन्तजी के अनुसार मनोविज्ञान के सत्यों को भी स्वीकार करना चाहिए। "आज का युग (१६३२ के आसपास का युग) आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक (Meta—Psychological) युग है। पिछले युग का मनोविज्ञान (फ्रायड, जुङ्ग, एडलर तथा अन्यों का मनोविज्ञान) मन की सीमाओं मे बँधे रहने के कारण अधूरा था। एक आध्यात्मिक नियम के वशवर्ती होने के कारण मनस्तत्त्व स्वयं परिवर्तनशील है (अर्थात् ऊर्ध्व-चेतना की ओर जाने वाला है,) उसका स्वभाव (quality) ही बदल सकता है, इस तथ्य का आभास पा लेने से आधुनिक युग ने मन की आधिभौतिक सीमाएँ तोड़ कर उसे एक विस्तृत प्रकाशपूर्ण आधिदैविक भूमि पर रख दिया है। यह उसकी सर्वोपरि विजय है।"†

आपने देखा कि पन्तजी के अनुसार आधुनिक युग जनता की लड़ाई का नहीं, अध्यात्म-मनोविज्ञान का युग है, जिसमें मन के ऊपर भी एक निरपेक्ष अध्यात्म-तत्त्व होने के कारण, मन के ऊपर मनोविज्ञान द्वारा की गई खोजें अपूर्ण हैं। उस अध्यात्म-तत्त्व के द्वारा स्वयं मन उस अध्यात्म-तत्त्व की ओर उन्मुख हो जायगा, अतः मन को उस अध्यात्म-तत्त्व तक पहुँचाना ही सबसे बड़ा कार्य है। समाज की आव-

† ज्योत्स्ना पृष्ठ ७३।

श्यकता यही है। कितना महान समन्वय है, जो अनायास ही आज के युग को अध्यात्मवादी सिद्ध कर देता है, जो जनता का ध्यान उसकी यथार्थ समस्याओं से मोड़कर कल्पित समस्याओं की ओर ले जाता है और इन बातों का प्रभाव उन संस्कारी व्यक्तियों पर पड़ता है जो कहने लगते हैं कि यह विचार उच्चकोटि के लोगों के लिए, उच्च स्तर पर अवश्य उपयोगी है। आदर्शवाद से बच्चों के लिए—बिस्कुट नही बन सकते, उनसे पन्त की महान समस्याओं का समाधान ही सम्भव है। आपने देखा कि यह महान आदर्शवाद कितना एकाङ्गी और अव्यवहारिक है, अन्ध-विश्वास, घोर एकाङ्गिता और एकान्तिक साधनाओं का जनक है, अतः असामाजिक है।

आप कह सकते हैं कि पन्तजी भले ही आदर्शवादी हों, मार्क्सवाद को स्वीकार तो करते ही हैं। यदि मार्क्सवाद के साथ-साथ कुछ अपनी निजी बातें स्वीकर करते हैं तो क्या आपत्ति है? नही, पन्तजी अपनी आध्यात्मिक निरपेक्ष कल्पना को ऐतिहासिक सत्य मानते हैं और मार्क्सवाद द्वारा कथित सम्भावित भविष्य को कपोल-कल्पना कहते हैं—

"लोक समाज की वह स्थिति, जिसमें उसे शासन की आवश्यकता न रहे, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है।"

मार्क्सवाद यह मानता है कि भविष्य मे लोक-मत के प्रबल होते जाने पर पुलिस व सेना की आवश्यकता न रहेगी, शोषितों का अधिनायकवाद स्वयं शान्त हो जायगा। यह लोक-सङ्गठनों के विकास से होगा। पूँजीवाद मे एक व्यक्ति के साहस पर उद्योग खड़े होते हैं, साम्यवाद में सङ्गठित समाज अनेक कार्यों का भार परस्पर के सहयोग व प्रबन्ध पर आधारित करेगा। साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय रूप की स्थापना हो जाने के पश्चात् यह स्पष्ट है कि सेना का वर्तमान सङ्गठन अनावश्यक हो जायगा। यह एक यथार्थ है, उसी ओर आज के समाजवादी शासन बढ़ रहे हैं। जब तक पूँजीवाद की विश्व में सत्ता है तभी तक उसे समाप्त करने के लिए समाजवादी देशों का यह उग्र रूप दिखाई पड़ता है, क्योंकि इसके बिना समाज का अस्तित्व असम्भव है। अतः यह कहना कि "लोक समाज की वह आदर्श स्थिति" असम्भव है, गलत है।

यही नहीं 'पन्त' जी समाजवादी देशों पर इस प्रकार कल्पित आक्षेप करते हैं—

"उस युग का (अर्थात् आज के युग का) सबसे विकृत परिणाम समाजवाद का वह स्वरूप था, जो मनुष्य को समाज के गज के बौने गिरहों एवं इञ्चों में सीमित कर देना चाहता था। मानव आत्मा की वह प्रवृत्ति जो अपनी स्वार्थ की गिरह खोलकर समाज के बौने गज से आगे बढ़ कर, मानव सत्य का मापदण्ड बन जाना चाहती है, उसके विकास के लिए समाजवाद में उपयुक्त साधन एवं सुविधाओं का एकदम अभाव था।"[1]

इस उद्धरण से आपको ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे मार्क्सवाद में व्यक्ति को महत्त्व ही नही दिया गया, परन्तु यह गलत है। मार्क्सवाद व्यक्ति के विकास को सबसे अधिक सुविधाएँ देता है और सैद्धान्तिक रूप से यह मानता है कि समाज व्यक्ति के मन पर प्रभाव डालता है। अनेक संस्थाएँ व्यक्ति की चेतना को प्रभावित करती हैं, किन्तु व्यक्ति-चेतना उन संस्थाओं को बदलती है और पुनः उनसे शासित होती है, और फिर आवश्यकता पड़ने पर, अंतर्विरोध स्पष्ट होने पर, व्यक्ति उन्हे बदलता है।[2] तब यह कहना कि व्यक्ति का मार्क्सवाद में महत्त्व नही, उसकी गलत व्याख्या है।

पन्त की हार्दिकता व कल्पना जहाँ उनके काव्य को इतना अलंकृत, संवेदनीय, मर्म-स्पर्शी, ललित बनाती है, वहीं वह सत्य के निर्णय मे, यथार्थ के निर्णय मे विवेक से कार्य नहीं लेती। उनका 'कुमार' कहता है, "मनुष्य के आधे से अधिक असंतोष का कारण बुद्धि जन्य है"। स्पष्ट है कि पन्तजी बुद्धि द्वारा नहीं, हृदय द्वारा सत्य का निर्णय करना चाहते हैं। विश्व की अनेकता व विविधता को उनका 'हृदय' स्वीकार नही करता, वे विश्व के पीछे एक धड़कते हृदय का स्पन्दन सुनने की टोह में चल पड़ते हैं और परिणाम यह होता

[1] ज्योत्स्ना, पृष्ठ ७७।

[2] He is, what his institution make him, but he made those institutions and can make new ones.

—A taxt book of Marxist Philosophy.

है कि जगत पीछे छूट जाता है और वह 'दार्शनिक टोह' ही प्रमुख बन जाती है, जिसका प्रचार नूतन काव्य में दिखाई पड़ता है।

वस्तुत. पन्तजी एक मानवतावादी कलाकार है। अत. वे समस्याओं के यथार्थ निर्णय के बदले मनुष्य मात्र को प्रेम व सांत्वना, सहानुभूति व एकता का पाठ सन्तों व भक्तो की तरह पढ़ाने लगते हैं। प्रेम के इस उपदेश का महत्त्व अपने में कम नही है। हम जानते हैं कि चिंतन की अयथार्थता से वे भले ही कल्पित समन्वय का उपदेश दें, क्योंकि वह उनके कल्पना प्रिय, ललित स्वभाव के अधिक अनुकूल है, वे मनुष्य का हित चाहते है, लोक-हितैषिणा की प्रवृत्ति से उनकी आत्मा मनुष्य के वर्तमान द्वन्द्व को देखने से आकुल होकर उसे एक निरपेक्ष लोक की ओर ले जाना चाहती है जहाँ वह सुखी होगा, सारे भेद मिट जाऐंगे, सारी व्यक्तिगत, सामाजिक आपत्तियों का नाश हो जायगा। यह भावना कुछ नवीन नही है, बहुत प्राचीन है। उनके समकालीन प्रसाद व महादेवी में भी ऐसी ही भावनाएँ हैं, पर उनका रूप दूसरा है। और ऐसा भी नही कि चिंतन की भूले रहने पर भी पन्त के काव्य से किसी अश में विश्व-कल्याण न होता हो। हम आगे देखेंगे कि पन्त के काव्य से युद्ध-विरोधी शाँतिवादी शिविर पुष्ट होता है, भले ही शान्ति का पक्ष वे अपनी प्रतिक्रियावादी मान्यताओं के साथ करते हों। प्रश्न यह है कि पन्तजी शान्ति चाहते है। अतः उनके कल्पित आदर्शों, स्वर्गिक स्पर्शों का तटस्थ रूप से उसके प्रगतिवादी व प्रतिक्रियावादी दोनों रूपों का हमें ध्यान रखना चाहिए। पन्तजी के साथ सबसे बड़ा अन्याय यह हुआ है कि उनके भक्तों ने उनका अन्ध समर्थन किया है और 'कुत्सित समाज शास्त्रियों ने' उनका सकीर्णतावाद के आधार पर खण्डन। ये दोनों दृष्टियाँ कवि के यथार्थ स्वरूप के निर्णय मे बाधाएँ बन कर खड़ी होगई हैं। पन्त का मर्मस्पर्शी रूप इसी जगत को प्यार करने में है, (उसे बदलने के सम्बन्ध में चाहे वे कितने ही अव्यावहारिक क्यों न हों) वे सुख-दु.खों से भरे इस जगत को प्यार करते हैं, उस पर रहने वाले उन्हें प्रिय हैं। ज्योत्स्ना कहती है—

"मोह को मिटाना ध्येय नही है, नाथ! अनुरक्ति एव मोह को पहचानना ही ध्येय है। इस रूप और रगो की सृष्टि से अधिक मनोहर मुझे कुछ नही लगता। जीवन-शक्ति के समस्त वर्शन,

ज्ञान, विज्ञान, भावना, कल्पना एवं गुणों की अंतिम और ठोस परिणति इसी नाम-रूप के जगत में है। यही साकार सत्य है।"

कवि की व्यापक ममता जहाँ उससे छूट जाती है, वहाँ रूप, रंगों से उसका ध्यान विरत होकर वह एकांतिक साधनाओं की वकालत करने लगता है, वहीं उसका संकीर्ण रूप, वहीं उसका कवित्वहीन धर्म-प्रचारक-रूप मुखर होने लगता है। नूतन-काव्य मे ऐसे स्थल बहुत अधिक हैं। किन्तु ज्योत्सना के पूर्व के काव्य में उसका साम्प्रदायिक रूप रूप-रंग-प्रियता को कभी नहीं आवृत कर पाता। अतः वहाँ कवि सौन्दर्य की सृष्टि कर सका है। कल्पना का सत्य जहाँ रूप व रंगों की सृष्टि, राग व विराग की सृष्टि तक सम्बन्धित रहा है, वहाँ तक वह मर्मस्पर्शी रहा है किन्तु जहाँ कल्पना चिंतन के साथ मुक्त व निरपेक्ष अभिसार करने निकल पड़ती है, वहीं पन्तजी का काव्य और चिंतन दोनों यथार्थहीन 'यूटोपिया' की छाया में विश्राम लेते दिखाई पड़ते हैं।

'ज्योत्सना' के बाद, अपनी आदर्शवादी मान्यताओं के साथ-साथ पन्त जी ने 'युगान्त', 'युगवाणी' व 'ग्राम्या' में मार्क्सवादी विचार-धारा से प्रभावित होकर बहुत सी कविताएँ लिखी। 'ज्योत्सना' के विवेचन से स्पष्ट है कि कवि मार्क्सवाद से बहुत पहले परिचित हो गया था, उसकी आलोचना भी 'ज्योत्सना' में वह कर चुका था। मार्क्सवाद की हिंसात्मक प्रवृत्ति को उसने 'ज्योत्सना' मे ही अस्वीकृत कर दिया था, उसकी 'भविष्य' कल्पना पर भी उसने व्यंग किया था, उसने वर्ग-संघर्ष को भी स्वीकार नहीं किया था। जैसा कि 'ज्योत्सना' के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। वह मध्यकाल के दार्शनिकों के कमजोर पक्ष का पहले भी कठोर आलोचक था, यह भी ज्योत्सना मे स्पष्ट है। अत. युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या का अध्ययन पल्लव, गुञ्जन, ज्योत्सना के प्रसंग मे ही होना चाहिए। किन्तु लगता है, आलोचकों के पास धैर्य का अभाव था, उन्होंने "गा कोकिल, वरसा पावक-कण" उद्धृत कर कोलाहल करना प्रारम्भ कर दिया कि पन्तजी मार्क्सवादी हो गए, वे तो प्राचीन मान्यताओं पर "पावक कण" वरसाना चाहते है। वस्तुत. वे पहले ही से कतिपय मध्य कालीन अन्ध विश्वासों के विरोधी थे, जाति, वर्ण, वर्ग, आदि का वे सदा विरोध करते आए हैं। न वे वर्ण को मानते हैं न वर्गवाद (शोषक, शोषितवाद) को ही। वे सामान्य मानवता के प्रचारक हैं और

आध्यात्मिक सत्य के प्रति सदा जागरूक हैं देखिए—

गा कोकिल, बरसा पावक-कण !
नष्ट-भ्रष्ट हों जीर्ण-पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बन्धन

और अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

गा कोकिल संदेश पुरातन।
मानव दिव्य स्फुलिङ्ग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज-कण,
देश-काल हैं उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानवपन
कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि क्षण। —'युगान्त'

स्पष्ट है कि 'ज्योत्सना' का आदर्शवाद 'युगान्त' में विद्यमान है। आगे पन्तजी को एकतात्मक ज्ञान के अभाव में सारी विश्व-संस्कृति शून्य लगती है—

लगती विश्री और विकृत आज मानव-कृति
एकत्व शून्य है, विश्व मानवी संस्कृति

पन्तजी को चेतना के 'युगान्त' में भी दर्शन होने लगे थे, जिसका अन्तिम रूप नूतन-काव्य में दिखाई पड़ता है।

शाश्वत शोभा का खिला अयन
अब होने को है पुष्प वृष्टि।
चाँदनी चेतना की अमन्द,
अग-जग को छू दे रही तुष्टि।

'ज्योत्सना' में वे 'विश्वास' का उपदेश देकर बुद्धि का विरोध करते हैं*—

* "ज्योत्सना तक मैं सौन्दर्य बोध की भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी ससार को समझने की चेष्टा करने लगा हूं। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्य-साधना का दूसरा युग आरम्भ होता है। जीवन के प्रति अंतर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा है और दिशा भ्रम के क्षणों में प्रकाश-स्तम्भ का काम देने लगा है।" —"आधुनिक कवि की भूमिका से"

अर्थात् ज्योत्स्ना के बाद जहाँ बुद्धि कार्य नहीं करती, वहाँ विश्वास से ही सिद्धान्तों का निर्णय किया गया। अरविन्द-दर्शन विश्वास द्वारा गृहीत सिद्धान्त है, बुद्धि से उसका ग्रहण सम्भव नहीं है।

व्यर्थ तर्क ! यह भव लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर
पार करो विश्वास चरणधर।

सुख-दुःख का कारण कल्पित है, व्यवस्था जन्य नहीं—यह भी यहाँ बताया गया है—

अपनी इच्छा से निर्मित जग,
कल्पित सुख दुःख के अस्थिर पग,
मेरे जीवन से ही जीवित,
यह जग का शव है
नव है।

'पल्लविनी' के भूमिका-लेखक ने पन्तजी को 'राग-विराग', और 'रूप-रंगों' का कवि कहा है, और मैं इससे सहमत हूँ। जब 'राग' प्रबल होता है, तब 'पन्त' जी 'शृङ्गारिक कल्पनाओं मे मग्न होजाते हैं और जब वैराग्य प्रबल होता है तो चेतना के उच्च स्तरो की ओर बढ़ते हैं। इस स्थिति में जब रूप व रङ्गों का माध्यम वे स्वीकार करते हैं तो कविता होती है अन्यथा यह सिद्धान्तों की घोषणा बन जाती है। 'युगान्त' में राग के प्रबल होने पर "विकसे थे अमियों से उरोज" तथा "तुमने अधरों पर धरे अधर, मैंने कोमल वपु भरा गोद" ऐसी पंक्तियाँ भी पन्तजी लिखते हैं। इस प्रकार राग व विराग अलग-अलग चलते है किन्तु जब विराग में राग समा जाता है तो वैराग्य-प्रधान कविताओं को राग के माध्यम से—शृङ्गारिक उपमानों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। तब दार्शनिक कविताओं व चेतना के उच्च-स्तरों का रूप अत्यधिक भयङ्कर हो जाता है। नूतन काव्य में ऐसे उदाहरण अनेक मिलेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि कवि की मानसिक स्थितियाँ अपने अनुकूल दर्शन की खोज करती है. 'दर्शन' के अनुसार कवि अपनी मानसिक स्थिति नहीं बदलता। यही कारण है कि कवि मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पक्ष को छोड़ कर केवल उसके भावनात्मक पक्ष को ही स्वीकार कर सका है। इसे न समझ कर 'युगान्त' को मार्क्सवाद का प्रचारक कहा गया है, जो गलत है। वस्तुत. काव्य के स्वरूप का विकास 'युगान्त' में अवश्य किसी सीमा तक हुआ है, क्योंकि 'पल्लव' की रङ्गीनी यहाँ समाप्त हो गई है। कवि 'गुञ्जन' से

ही गम्भीर होता गया और युगान्त मे वह जग-जीवन के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टिकोण से वस्तु को देखने लगा—

मिट्टी का गहरा अन्धकार, डूबा है उसमे एक बीज—
वह खो न गया, मिट्टी न बना, कोदों, सरसों से क्षुद्र चीज।
× × × ×
वह है मुट्ठी में बन्द किये, वट के पादप का महाकार,
संसार एक! आश्चर्य एक! वह एक बूँद, सागर अपार।

किन्तु इन अध्यात्मवादी मान्यताओं के साथ-साथ मार्क्सवाद से प्रभावित कुछ कविताएँ भी यहाँ मिलती हैं। यथा—'ताज' शीर्षक कविता। यद्यपि इसमें भी 'अनश्वर-सन्देश' को कवि नहीं भूला है परन्तु वह उसका भी उपयोग ताज-निर्माण के पीछे नश्वर व्यक्ति को अनश्वर बनाने की प्रवृत्ति की निन्दा के लिए करता है—

भूल गए हम, जीवन का सन्देश अनश्वर!
मृतकों के हैं मृतक! जीवितों का है ईश्वर!

कवि को जीवन के प्रति यहाँ भी प्यार है, वह यौवन की मासल स्वस्थ गन्ध व जीवनोत्सर्ग को प्यार करता है। सत्य-प्रेम, सहृदयता, त्याग, सहानुभूति आदि मानसी विभूतियों का वह वैसे ही प्रचारक है जैसे 'ज्योत्सना' में वह 'एकत्ववाद' की घोषणा करता है—

विज्ञान-ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश।

वह मानवतावादी परम्परा की पूर्ण रक्षा करते हुए कहता है—

क्या कमी तुम्हे है त्रिभुवन में—
यदि बने रह सको, तुम मानव।

'युगान्त' में 'बापू' शीर्षक कविता महत्त्वपूर्ण है। उससे कवि की मार्क्सवादी और अध्यात्मवादी धारणाओं पर अच्छा प्रकाश पडता है। गान्धी के कृतित्व का वैज्ञानिक मूल्यांकन भारतीय साम्यवादी दल नहीं कर सका। पन्तजी ने गान्धी के क्रान्तिकारी पक्ष पर इस कविता में अच्छा प्रकाश डाला है। गान्धी के अछूतोद्धार, राजनैतिक जागरण, अहिंसात्मक अस्त्र, सहयोग-शिक्षा आदि की प्रशसा की है। भारतीय साम्यवाद की दल-गत विचारधारा गान्धीजी के सम्बन्ध में सङ्कीर्ण रही है। अतः वह केवल गान्धीजी की क्रान्ति को सामाजिक पक्ष मे स्वीकार कर राजनैतिक क्षेत्र मे अस्वीकार करती

है [1]। हम यहाँ केवल गांधीजी के सम्बन्ध में कवि का दृष्टिकोण ही स्पष्ट करेंगे, अपनी राय आगे आवश्यकता पड़ने पर देंगे। गान्धीजी के सामाजिक, राजनैतिक दोनों क्षेत्रों में कृतित्व को स्वीकार कर पन्तजी उनकी आध्यात्मिक भावना की भी प्रशंसा करते हैं, इसलिए नहीं कि उनके माध्यम से देश में राजनैतिक क्रान्ति हुई, इसलिए कि उनकी आध्यात्मिकता प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा की ही एक किरण थी, जिसने भौतिकवाद पर विजय प्राप्त की, इतिहास को बदल दिया। 'साम्यवाद' के भौतिकतावादी, जड़वादी स्वरूप के लिए गान्धी का दर्शन एक चैलेञ्ज था—

"था व्याप्त दिशावधि ध्वान्त, भ्रान्त
इतिहास विश्व उद्भव प्रमाण।
बहु हेतु, बुद्धि, जड़ वस्तुवाद,
मानव संस्कृति के बने प्राण॥
थे राष्ट्र, अर्थ, जन साम्यवाद,
छल सभ्य जगत के शिष्ट मान।
भू पर रहते थे मनुज नहीं,
बहु रूढ़ि, रीति, प्रेतों समान॥[2]
तुम विश्व मञ्च पर हुए उदित,
बन जग-जीवन के सूत्रधार।
आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि-पल के दृश्यों को सँवार।
गा-गा एकोहं बहु स्याम,
हर लिए भेद, भव-भीति-भार॥"

इसी प्रकार 'युगवाणी' की 'बापू' शीर्षक कविता में कवि "भौतिकवाद" को आत्मवादी अमरत्व की उपलब्धि में एक सोपान मात्र समझता है—

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए, है केवल सोपान।
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से, समासीन अम्लान॥

[1] देखिये—India Today by R P Dutta
[2] युगान्त—पृष्ठ ५८

नही जानता युग-विवर्त में होगा, कितना जन-क्षय।
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय॥

कुछ विचारक गान्धीजी से सम्बन्धित कविताओं में अन्तर्विरोध खोज़ते हैं, परन्तु वह वस्तुतः है नही। कवि के अनुसार 'युगान्त' के बापू सामन्तकालीन संस्कृति के सूक्ष्म प्रतीक है किन्तु कवि उसकी प्रशंसा करता है, 'युगवाणी' का उपयुक्त उद्धरण साक्षी है कि कवि भौतिकवाद के विरोधी गान्धीजी की सिद्धान्ततः प्रशंसा करता है। वह इस सम्बन्ध में शङ्का अवश्य करता है कि क्या अहिंसा से सामाजिक क्रान्ति सम्भव है? और अपने आप ही उत्तर देता है कि गान्धी ने यही करके दिखा दिया है। अतः आज के युग-विवर्त में हिंसा के दर्शन हो सकते हैं पर वह स्थायी वस्तु नही है, विजय अहिंसा की ही होगी। यहाँ तक तो, अन्तर्विरोध नही दिखाई पड़ता किन्तु कवि स्वयं कहता है—"ग्राम्या के 'महात्मा' ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नरवरेण्य' हो गए हैं।" इसका अर्थ यह है कि कवि मार्क्सवादी दृष्टि से गान्धी के वैयक्तिक सिद्धान्तों को सामाजिक क्रान्ति के लिए अनुपयोगी मानता है, क्योंकि गान्धीजी पर कवि के अनुसार मध्य-कालीन विश्वासों का प्रभाव था। कवि कहता है—

"निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम दीप-शिखोदय।"

अर्थात् गान्धीजी में कवि को मध्यकालीन मृतप्राय विचारधारा का अन्तिम स्वरूप दिखाई पड़ा था।

इसका अर्थ यह है कि 'युगान्त' मे कवि पर मार्क्सवादी प्रभाव, गान्धीजी का विश्लेषण करते समय, कम था। 'युगवाणी' में अपनी शङ्काओं के साथ उसने गान्धी के आत्मवाद की प्रशंसा की थी, किन्तु 'ग्राम्या' में उसकी मार्क्सवादी चेतना गान्धीजी के सम्बन्ध में अधिक उभर आई है। अत वह उन्हे ऐतिहासिक स्थूल सङ्घर्ष—मार्क्सवादी क्रान्ति के सम्मुख—"विजित नरवरेण्य" कहता है। वह 'ग्राम्या' मे 'महात्माजी के प्रति' कविता मे गान्धी के समन्वयवाद की प्रशंसा करता है, तथा साथ ही उनके अध्यात्मवाद की भी प्रशंसा करता है क्योंकि उसके माध्यम से गान्धी ने "जातिशव को बल" दिया था। मार्क्सवाद की दृष्टि से गान्धी का यह विश्लेषण वैज्ञानिक है। कोई भी मार्क्सवादी, सङ्कीर्णतावादियों को छोड़ कर, इससे सहमत हो

सकता है, कवि कहता है व्यक्तिवाद जीवित नही रह सकता था, और गान्धीजी व्यक्तिवादी नेता थे, वृद्धसामन्तकाल के विश्वासों का उन्होंने राजनैतिक जगत में प्रयोग किया था, उससे सफलता मिली परन्तु उनका नाश निश्चित था। 'उस व्यक्तिवाद' का गान्धी के साथ ही नाश हो गया, अब तो नूतन समन्वित संस्कृति का ही विकास हो सकता है† जिसमें भौतिकवाद व आध्यात्मवाद दोनों का ही समन्वय होगा। गांधीजी ने संस्कृतियों का समन्वय किया था, किन्तु वे भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का समन्वय न कर सके। वे व्यक्तिवादी अध्यात्मवादी मान्यताओं का सामाजिक क्रान्ति मे प्रयोग करते रहे। वे व्यक्तिवादी मान्यताएँ वर्ग व्यक्ति की आत्मा पर स्थित थी। किन्तु गान्धी-युग में, अंग्रेजों के शासन-काल में, जबकि जनता मध्यकालीन संस्कृति से पोषित थी, तब उन्ही व्यक्तिवादी मान्यताओं के प्रयोग की ऐतिहासिक आवश्यकता थी, अन्यथा जनता स्वयं गान्धी के विरुद्ध हो जाती—

"वस्तु सत्य का करते भी, तुम जग में यदि आवाहन !
सबसे पहले विमुख तुम्हारे, होता निर्धन भारत।
मध्य युगों की नैतिकता में, पोषित, शोषित जनगण,
बिना भाव स्वप्नों को परखे, कब हो सकते जाग्रत ?"

इसलिए हे गान्धी ! तुमने अपने समय के अनुसार जनता में, पूर्व विश्वासों के माध्यम से ही, राजनैतिक क्रान्ति की, यद्यपि वे विश्वास अब आगे नही चल सकते क्योंकि उनमें भौतिकवाद का समन्वय नही है।

पाठक देखें कि गान्धीजी के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दृष्टि से वैज्ञानिक विवेचन करते हुए पन्तजी कही भी यह नहीं कहते कि गान्धी आत्मा व ईश्वर को मानते थे, यह भूल करते थे। उनका कहना यही था कि ईश्वर-आत्मा का विश्वास तभी पूर्ण होगा जब भौतिक उन्नति की भी चिन्ता की जायगी, ज्ञान-विज्ञान में समन्वय होगा।

† "हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसशय।
चूर्ण हो गया विगत, सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर ॥"
कवि भावी सांस्कृतिक क्रान्ति की ओर सकेत करता है—

(आधुनिक कवि)

चूँकि गांधीजी वैज्ञानिक उन्नति को स्वीकार न कर प्राचीन युगों की सभ्यता का यन्त्र-युग में पुनरुद्धार करना चाहते थे, अतः यह सम्भव नही हो सकता था। उन्हें मध्यकालीन विश्वासों से सामाजिक सफलता तो परिस्थिति-वश मिलगई परन्तु नवीन सांस्कृतिक क्रान्ति के लिये उनका 'दर्शन' एकाङ्गी था। अतः नवीन सामाजिक क्रान्ति ऐसे दर्शन से ही सम्भव हो सकती है जिसमें अध्यात्म व भौतिकवाद—ज्ञान-विज्ञान दोनों का समन्वय हो। स्पष्ट है कि यहाँ 'ग्राम्या' में भी पन्तजी मार्क्सवाद के एक पक्ष का ही स्वीकार कर रहे हैं और मार्क्सवाद अध्यात्मवाद के समन्वय की सम्भावना उनके दृष्टिकोण में यहाँ भी छिपी हुई है। अत. 'ग्राम्या' में गांधी के सम्बन्ध में उनकी विचार-धारा में मार्क्सवाद के प्रभाव की अधिकता दिखाई पड़ती है। 'युगान्त' मे केवल कवि उनके 'आत्मवाद' की ही प्रशसा करता था, ग्राम्या' में ऐतिहासिक दृष्टि से उसने उसका मूल्याकन किया है और यह मूल्यांकन सही है। किन्तु मध्यकालीन वैयक्तिक विश्वासों की ऐतिहासिक अनुपयोगिता को प्रमाणित करने का अर्थ यह नहीं है कि कवि प्राचीन ऋषियों द्वारा घोषित आत्म-ब्रह्म सम्बन्धी धारणाओं को स्वीकार न करे। उसे यह स्वीकार नही। वह उसके साथ भौतिक उन्नति को और जोड़ना चाहता है जिसकी ओर शङ्कर जैसे मध्यकालीन दार्शनिकों ने ध्यान नही दिया।

अतः कवि गान्धीवाद के असामाजिक पक्ष की आलोचना करके भी भौतिकवाद से विजित 'आत्मवाद' के उद्धार के लिए गान्धी की ओर ही देखता है। अत. गान्धी के सम्बन्ध में अन्तर्विरोध नही है, दृष्टिकोण विशेष है जिसे समझना होगा। कवि 'ग्राम्या' की 'बापू' शीर्षक कविता में पुनः 'गान्धी' से कहता है—

चरमोन्नत जग मे जबकि आज विज्ञान, ज्ञान।
बहु भौतिक साधन, यन्त्र यान, वैभव महान॥
सेवक हैं विद्युत वाष्प-शक्ति, धन, बल नितान्त।
फिर क्यों जग मे उत्पीड़न ? जीवन यों अशान्त ?
मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चित।
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय॥

चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान, वह नहीं पचित।
भौतिक मद से मानव आत्मा होगई विजित॥
है श्लाघ्य मनुज का भौतिक सञ्चय का प्रयास।
मानवीभावना का क्या पर उसमें विकास?
बापू! तुम में आज लगे जग के लोचन!
तुम खोल नहीं जाओगे, मानव के वन्धन![1]

स्पष्ट है कि ऐतिहासिक दृष्टि से गान्धीवाद वैयक्तिक साधना सिद्ध होने पर भी प्राचीन आत्मावादी चेतना के उद्धार में सहायक हो सकता है। अत' 'गान्धीवाद' पूर्णरूप से भविष्य की सामाजिक क्रान्ति के लिए अनुपयोगी नहीं है, मार्क्सवाद व गान्धीवाद के उज्ज्वल पक्षों का समन्वय पन्तजी 'ग्राम्या' में भी चाहते हैं। 'मार्क्सवाद' से भौतिक वर्ग, वर्ण और जाति के नाश का पक्ष ग्रहणीय और गान्धी वाद से आत्मा व परमात्मा में विश्वास का।

१६४८ के आस-पास गान्धीजी की मृत्यु पर लिखित कविता भी यही सिद्धान्त पुष्ट करती है—

ईश्वर को दे रहा जन्म, युग मानव का सङ्घर्षण।
मनुज प्रेम के ईश्वर, तुम यह सत्य कर गए घोषण॥[2]

अर्थात् आज के युग में ईश्वर मे विश्वास की भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भौतिक उन्नति की, अन्यथा हम वर्वरता, जड़ता, जघन्यता, क्षुद्रता के ऊपर न उठ सकेंगे। अत गान्धीवाद से ईश्वर-आत्मा का विश्वास ग्रहण करना अनिवार्य है।

'गान्धी' के सम्बन्ध मे पन्तजी के दृष्टिकोण का विश्लेपण कर लेने से यह स्पष्ट होगया कि पन्तजी समन्वय के पक्षपाती 'युगान्त', 'युगवाणी' व 'ग्राम्या' में भी रहे है और 'युगान्तर' में तो उन्होंने स्पष्ट ही घोपित किया है। अत. गान्धीजी के सम्बन्ध में अन्तर्विरोध प्रतीत भले ही हो, वह वस्तुत. है नही।

इसी समन्वय को वे दूसरे शब्दों मे इस प्रकार कहते हैं—

आत्मा ही वन जाय देह जव
ज्ञान-ज्योति ही विश्व स्नेह जव,

[1] 'बापू'—'ग्राम्या' पृष्ठ ६५।
[2] 'युगपथ'—पृष्ठ ८१।

चूँकि गांधीजी वैज्ञानिक उन्नति को स्वीकार न कर प्राचीन युगों की सभ्यता का यन्त्र-युग में पुनरुद्धार करना चाहते थे, अतः यह सम्भव नहीं हो सकता था। उन्हे मध्यकालीन विश्वासों से सामाजिक सफलता तो परिस्थिति-वश मिलगई परन्तु नवीन सांस्कृतिक क्रान्ति के लिये उनका 'दर्शन' एकाङ्गी था। अतः नवीन सामाजिक क्रान्ति ऐसे दर्शन से ही सम्भव हो सकती है जिसमें अध्यात्म व भौतिकवाद—ज्ञान-विज्ञान दोनों का समन्वय हो। स्पष्ट है कि यहाँ 'ग्राम्या' में भी पन्तजी मार्क्सवाद के एक पक्ष का ही स्वीकार कर रहे हैं और मार्क्सवाद अध्यात्मवाद के समन्वय की सम्भावना उनके दृष्टिकोण में यहाँ भी छिपी हुई है। अत. 'ग्राम्या' में गांधी के सम्बन्ध में उनकी विचार-धारा में मार्क्सवाद के प्रभाव की अधिकता दिखाई पड़ती है। 'युगान्त' मे केवल कवि उनके 'आत्मवाद' की ही प्रशसा करता था, ग्राम्या' में ऐतिहासिक दृष्टि से उसने उसका मूल्यांकन किया है और यह मूल्यांकन सही है। किन्तु मध्यकालीन वैयक्तिक विश्वासों की ऐतिहासिक अनुपयोगिता को प्रमाणित करने का अर्थ यह नहीं है कि कवि प्राचीन ऋषियों द्वारा घोषित आत्म-ब्रह्म सम्बन्धी धारणाओं को स्वीकार न करे। उसे यह स्वीकार नही। वह उसके साथ भौतिक उन्नति को और जोड़ना चाहता है जिसकी ओर शङ्कर जैसे मध्यकालीन दार्शनिकों ने ध्यान नही दिया।

अतः कवि गान्धीवाद के असामाजिक पक्ष की आलोचना करके भी भौतिकवाद से विजित 'आत्मवाद' के उद्धार के लिए गान्धी की ओर ही देखता है। अतः गान्धी के सम्बन्ध मे अन्तर्विरोध नहीं है, दृष्टिकोण विशेष है जिसे समझना होगा। कवि 'ग्राम्या' की 'वापू' शीर्षक कविता मे पुनः 'गान्धी' से कहता है—

चरमोन्नत जग मे जबकि आज विज्ञान, ज्ञान।
बहु भौतिक साधन, यन्त्र यान, वैभव महान॥
सेवक हैं विद्युत वाष्प-शक्ति, धन, वल नितान्त।
फिर क्यों जग मे उत्पीड़न ? जीवन यों अशान्त !
मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चित।
मानव के पास नही मानव का आज हृदय॥

चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान, वह नही पचित।
भौतिक मद से मानव आत्मा होगई विजित॥
है श्लाघ्य मनुज का भौतिक सञ्चय का प्रयास।
मानवीभावना का क्या पर उसमें विकास?
बापू! तुम में आज लगे जग के लोचन!
तुम खोल नही जाओगे, मानव के बन्धन![1]

स्पष्ट है कि ऐतिहासिक दृष्टि से गान्धीवाद वैयक्तिक साधना सिद्ध होने पर भी प्राचीन आत्मावादी चेतना के उद्धार में सहायक हो सकता है। अत 'गान्धीवाद' पूर्णरूप से भविष्य की सामाजिक क्रान्ति के लिए अनुपयोगी नही है, मार्क्सवाद व गान्धीवाद के उज्ज्वल पक्षों का समन्वय पन्तजी 'ग्राम्या' में भी चाहते हैं। 'मार्क्सवाद' से भौतिक वर्ग, वर्ण और जाति के नाश का पक्ष ग्रहणीय और गान्धी वाद से आत्मा व परमात्मा में विश्वास का।

१६४८ के आस-पास गान्धीजी की मृत्यु पर लिखित कविता भी यही सिद्धान्त पुष्ट करती है—

ईश्वर को दे रहा जन्म, युग मानव का सङ्घर्षण।
मनुज प्रेम के ईश्वर, तुम यह सत्य कर गए घोषण॥[2]

अर्थात् आज के युग में ईश्वर में विश्वास की भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी भौतिक उन्नति की, अन्यथा हम वर्बरता, जड़ता, जघन्यता, छुद्रता के ऊपर न उठ सकेंगे। अत. गान्धीवाद से ईश्वर-आत्मा का विश्वास ग्रहण करना अनिवार्य है।

'गान्धी' के सम्बन्ध में पन्तजी के दृष्टिकोण का विश्लेषण कर लेने से यह स्पष्ट होगया कि पन्तजी समन्वय के पक्षपाती 'युगान्त', 'युगवाणी' व 'ग्राम्या' में भी रहे हैं और 'युगान्तर' में तो उन्होंने स्पष्ट ही घोषित किया है। अत. गान्धीजी के सम्बन्ध मे अन्तर्विरोध प्रतीत भले ही हो, वह वस्तुत. है नही।

इसी समन्वय को वे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—

आत्मा ही बन जाय देह जब
ज्ञान-ज्योति ही विश्व स्नेह जब,

---

[1] 'बापू'—'ग्राम्या' पृष्ठ ६५।
[2] 'युगपथ'—पृष्ठ ८१।

हास, अश्रु, आशा ऽकांक्षा
बन जायँ, खाद्य, मधु, पानी,
युग की वाणी ।[1]

छायावादी युग से इस युग की विचारधारा में यही अन्तर रहा कि 'ग्रन्थि', 'वीणा', 'पल्लव' काल मे हास, अश्रु, आशा, आकांक्षा, खाद्य, मधु, पानी नही बन पाए थे। सामूहिक-उन्नति की ओर ध्यान नही गया था। अतः काव्य में नवीन विचार नही आ पाए थे। वह 'अलंकृत सङ्गीत' बन गया था। किन्तु युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या काल में 'नव-संस्कृति' का रूप इस प्रकार होगा—

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो सन्तत।
जग-जीवन मे हों विचार जन के हित॥
ज्ञान-वृद्ध, निष्क्रिय न जहाँ मानव-मन।
मृत आदर्श न बन्धन, सक्रिय जीवन॥[2]

'युगवाणी' का कवि कोरे अध्यात्मवाद की भर्त्सना करता है—

"ताक रहे हो गगन ?
मृत्यु–नीलिमा–गहन गगन ?
अनिमेष, अचितवन, कालनयन ?
नि.स्पन्द, शून्य, निर्जन, निःस्वन ?
देखो, भू को
जीव प्रसू को।"

और साथ ही केवल बाहरी 'साम्यवाद' का जिसमें आत्मा की समानता नही, खण्डन करता है—

"बाह्य नही आन्तरिक साम्य
जीवों से मानव को प्रकाम्य ?
मानव को आदर्श चाहिए
सस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए।"[3]

मार्क्सवादी प्रभाव से 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में कवि ने जीवन के यथार्थ चित्रों को भी वाणी दी है—यथा 'दो लड़के', 'धनपति',

[1] 'युगवाणी' युगवाणी पृष्ठ १४।

[2] 'नव सस्कृति' युगवाणी पृष्ठ १८।

[3] 'चींटी' युगवाणी पृष्ठ २३।

'कृषक', 'श्रमजीवी', 'नारी', 'झंझा में नीम', 'दो मित्र', 'युग', 'नृत्य' आदि कविताओं में। परन्तु साथ ही 'गंगा की साँझ', 'वन्द तुम्हारे द्वार' आदि कविताओं में पल्लवकालीन प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। कवि एक ओर 'मार्क्स के प्रति' कविता मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अपने विचार प्रकट कर उसकी प्रशंसा करता है—

"दिग दिगन्त में व्याप्त, निखिल युग का चिर गौरव हर।
जन संस्कृति का नव विराट, प्रासाद उठेगा भू पर॥
धन्य मार्क्स! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयङ्कर॥"

कवि 'भूत-दर्शन' को भी समझता है परन्तु साथ ही 'गांधी वाद' से उसका समन्वय करता है—

"गान्धीवाद हमे देता, जीवन पर अन्तर्गत विश्वास।
मानव की निःसीम शक्ति का, मिलता उससे चिर आभास॥
मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता, निश्चय हमको गान्धीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की, साम्य योजना है अविवाद॥"

समन्वय के स्वरूप को समझने के लिए "युग वाणी" की "संकीर्ण भौतिक वादियों के प्रति" कविता पठनीय है।

"मार्क्सवाद" एक वैज्ञानिक दर्शन है, वह निष्क्रिय दार्शनिकों की कल्पनाओं पर आधारित नहीं है, वल्कि इतिहास व समाज-शास्त्र-विज्ञान के अध्ययन पर आधारित 'दर्शन' है। मनुष्य के संघर्ष-काल में जिन अनुभवों को इतिहास के रूप मे हमने प्राप्त किया है, उन्हें सामने रखकर वह ऐतिहासिक विकास की गति का समर्थन करता है, क्रिया से प्राप्त अनुभव को ही स्वीकार करता है। योग व अंतर्चेतना की स्थितियों में स्वयं प्राप्त दिव्य ज्ञान को वह स्वीकार नहीं करता क्योंकि ये वैयक्तिक साधनाएँ व अनुभव समाज के सामूहिक संघर्षों से प्राप्त अनुभवों से मेल नही खाते। इनमें व्यक्ति को समाज से अलग करके विचार किया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों को एक ओर रख कर शुद्ध कल्पना या दिव्य दृष्टि से प्राप्त अनुभवों को ग्राह्य माना जाता है। रहस्यवादी साधनाएँ इसीलिए त्याज्य हैं कि वे व्यक्ति को घोर एकांतिक और असामाजिक वना देती हैं।

यह कहना गलत है जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि मार्क्सवाद केवल वर्गों को नष्ट करने का ही विश्वासी है, वह आंतरिक

मन के विकास पर ध्यान नहीं देता। आज की व्यवस्था में मानवीय गुणों का विकास सर्वथा असम्भव है क्योंकि व्यवस्था व्यक्ति के हित के विरुद्ध उसका अधिक से अधिक शोषण करती है, और बदले मे कम से कम देना चाहती है। व्यक्ति व समाज में सामरस्य का अभाव है। अत व्यवस्था का परिवर्तन मुख्य प्रश्न है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि मन के विकास के लिए, मानवीय गुणों के प्रति श्रद्धा, कुत्सित के विरुद्ध घृणा व्यवस्था-परिवर्तन के होते ही स्वयं स्थापित हो जायगी। ललित कलाओं और सामाजिक-संगठनों—आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक—के विकास मनुष्य के महान् गुणों के विकास के ही लिए हैं। मार्क्सवादी वही हो सकता है जो कुत्सित से घृणा व मंगल से प्रेम करता है, जो श्रेय को पहचानता है, जिसके हृदय में कोटि-कोटि जन-समाज के लिये प्रेम है। अत मार्क्सवाद केवल बाह्य साम-विधान मात्र नही है।

आश्चर्य यह है कि आन्तरिक शक्तियों मे हमें वे विश्वास करना सिखाते हैं जो यही नही पहचान पाते कि पूँजीवादी व्यवस्था कितनी गर्हित व्यवस्था है। उसने किस प्रकार मनुष्य के आन्तरिक विकास का अवसर रुद्ध कर रक्खा है। जो यह नही जानते मानवीय गुणों के विकास के लिए सामाजिक होने की कितनी अधिक आवश्यकता है। सामाजिक होने का अर्थ स्पष्ट है कि समाज के हित मे व्यक्ति का व्यक्तित्व बाधक न बने। परिणामत. जिस समाज का इस भावना से सङ्गठन होगा, उसमें समाज का प्रयत्न अवश्य होगा कि वह व्यक्ति के विकास में बाधा न बने, उसे अधिक से अधिक उसकी रुचि के अनुकूल (यदि उसकी रुचि असामाजिक नही है) सुविधा दे। मानवीयता का विकास पूँजीवादी व्यवस्था के किसी भाग मे रहते हुए असम्भव है क्योंकि उसका स्वभाव ही आक्रमणकारी होता है।

इसके साथ ही मार्क्सवाद यह मानता है कि व्यक्ति को घोर एकान्तिक साधनाओं से बचना चाहिए, मानवीयता लाने के लिए घोर एकान्तिक साधनाएँ अनिवार्य नही है। सामाजिकता के प्रति अधिक जागरूक होने से हमारे हृदय मे विनय, शील, सदाचार, दया, ममता, अहिंसा, करुणा आदि गुणों का विकास हो सकता है। गोर्की कहा करता था कि जनता से प्रेम करो, यह बात क्या मानवीय नही है? इस भावना के विकास से, कोरे कथन से नही, सामाजिक

कार्य द्वारा, सामाजिक भावना के विकास से हमारे हृदय मे मानवीय भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः यह निश्चय है कि ईश्वर, आत्मा तथा उनकी प्राप्ति के प्रयत्न मानवीय गुणों के लिए अनिवार्य विषय नहीं है। इतिहास के प्रकाश में जब वैज्ञानिक चिंतन का विकास नहीं हुआ था, तब सामाजिक परिस्थितियों के कारण अन्ध-विश्वास, अज्ञान, ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, नर्क आदि भावनाओं का आविष्कार हुआ। मनुष्य ईश्वर आदि के माध्यम से बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ भी करता रहा। सन्तों व भक्तों ने ईश्वर के माध्यम से बड़े-बड़े कार्य किए परन्तु साथ ही उनसे व्यर्थ ही सम्प्रदायों की वृद्धि हुई, मनुष्य की शक्ति का अपव्यय हुआ, पर वह ऐतिहासिक सीमा थी, उससे प्राचीन लोग बाहर नही जा सकते थे। इतिहास के प्रकाश में यह जान कर भी यदि हम उन अन्ध-विश्वासों के माध्यम से अब भी मानवीय गुणों का विकास करना चाहेंगे तो इतिहास को उलट देना होगा, जो हमारी भूल होगी। अत 'मार्क्सवाद' सामाजिक कार्यों मे सामाजिक पद्धति पर ही व्यक्ति को सुधारने का पक्षपाती है, एकान्तिक साधनों व विश्वासों की पद्धति पर नही।

यह सर्वथा सम्भव है कि कोई मार्क्सवादी, देश व काल का विचार न कर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को सीधा लागू कर गलत निर्णय निकाल ले और बाद मे चुपचाप पश्चाताप करे जैसा कि कई बार भारतीय साम्यवादी दल ने किया है। भारतीय साम्यवादी दल के कुछ सदस्य साहित्य में भी, राजनीतिक क्षेत्र की तरह, मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को सीधा लागू कर देते है, वे भारतीय परिस्थितियों का, भारतीय इतिहास व संस्कृति का विचार नही करते। परिणाम यह हुआ है कि भारत में मार्क्सवादी आलोचना में व्यर्थ का कोलाहल मचा हुआ है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने वाले मार्क्सवादी भारतीय परिस्थितियों का विचार करके ही भारतीय इतिहास, संस्कृति, और साहित्य की व्याख्या करते हैं। स्वयं पन्तजी पर सङ्कीर्णतावादी मार्क्सवादियों ने जो आक्षेप किये थे, उसका बार-बार विरोध हुआ और हो रहा है पर उसका अर्थ यह भी नही है कि पन्तजी की घोर वैयक्तिक चिन्ता-धारा को मार्क्सवादी स्वीकार कर ले।

मार्क्सवाद 'रहस्यवाद' का समर्थन कभी भी नहीं कर सकता जिसका समन्वय वे 'मार्क्सवाद' के साथ करना चाहते है। इस

पन्तजी जब 'सङ्कीर्ण-भौतिकतावाद' शब्द का प्रयोग करते हैं तो मार्क्स-वादियों के द्वारा प्रयुक्त 'सङ्कीर्ण मार्क्सवाद' का वह पर्याय नहीं होता। पन्तजी कहते हैं कि आत्मवाद को मार्क्सवाद के साथ स्वीकार करो और हम कहते हैं कि 'मार्क्सवाद' को भारतीय परिस्थितियों का विचार-कर लागू करो।

अत हम वर्ग-सङ्घर्ष व शोषितो की अधिनायकता को मानते हैं, पन्तजी नही मानते। वे सत्य व अहिंसा के प्रयोग द्वारा सत्याग्रह की पद्धति पर वर्गवाद को मिटाना चाहते हैं, यही हममे और पन्तजी में अन्तर है। पन्तजी कहते हैं—

हाड़ माँस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज ?
हाथ पाँव संगठित चलावेंगे, जग जीवन काज !
दया द्रवित होगए देख दारिद्रय असंख्य तनों का ?
अब दुहरा दारिद्रय उन्हे दोगे निरुपाय मनों का ?
आत्मवाद पर हँसते हो, भौतिकता का रट नाम !
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे, तुम सँवार कर चाम ?

× × × +

भौतिकता, आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल।
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल सूक्ष्म से, परे सत्य के मूल ॥*

स्पष्ट है कि पंतजी सत्य के मूल को व्यक्ति व समाज से, स्थूल व सूक्ष्म से परे मानते हैं, मार्क्सवाद इसे नही मानता, न मान सकता है क्योंकि हम निरपेक्ष सत्य को मनोरम कल्पना मात्र मानते हैं, चाहे उसने अतीत में कितनी ही लाभ या हानि पहुँचाई हो। सत्य सापेक्ष होता है, यह स्पष्ट सत्य है। पन्तजी का सत्य सूक्ष्म (Abstract) सत्य है। वह "अवाङ्‌मनसगोचर" है अर्थात् हम उसे नही जान सकते। अत जानने का अभिनय करने वाले भी उसे नही जानते। वे एक भ्रम का सृजन मस्तिष्क मे करके, उस मनोहर भ्रम में मग्न होकर समाज के उत्तरदायित्व से अवश्य बच सकते है या समाज का ध्यान अनावश्यक दिशा मे ले जाकर समय नष्ट कर सकते हैं।

अत: जिस दृष्टि से पन्त ने मार्क्सवाद को संकीर्ण कहा है, उस दृष्टि से वह संकीर्ण नहीं है, भारतीय साम्यवादियों में से कुछ ने

* 'संकीर्ण भौतिक वादियों के प्रति'—युगवाणी पृष्ठ ४२

अवश्य उसे साहित्य व राजनीति दोनों मे संकीर्ण रूप से उपस्थित किया है, और पन्तजी भी उस संकीर्णता के शिकार हुए हैं। इसके लिए हमें पन्तजी के प्रति सहानुभूति है परन्तु हम उनकी असामाजिक विचार-धारा का समर्थन कैसे कर सकते हैं ?

हम शून्य भित्ति पर चित्र बनाने में अपनी शक्तियों का अपव्यय नही करना चाहते और रही शक्ति प्राप्त करने की बात वह ईश्वर के माध्यम से ही केवल मिलती हो, यह आवश्यक नहीं, इतिहास में सभी विचारक ईश्वर को नही मानते, फिर भी शक्तिवान थे। अरविन्द चाहे भले ही गौतम बुद्ध को अचिंत्यसत्ता का विश्वासी सिद्ध करदें पर नास्तिक-दार्शनिकों की परम्परा को वे कैसे स्पष्ट करेंगे ? अतः शक्ति, आत्म-विश्वास, विनय, दया, करुणा को प्राप्त करने का स्रोत केवल ईश्वर है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

'ग्राम्या' में मार्क्सवाद से प्रभावित कवि ने ग्राम्य जनता की ओर देखा है। उसने शुद्ध मार्क्सवाद की दृष्टि से कृषक-वर्ग, मध्य-वर्ग, श्रमजीवी पर 'युगवाणी' में विचार किया था।[1] 'ग्राम्या' में उसने ग्राम्य जनता का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया है। प्रथम कविता "स्वप्न-पट" म ग्रामों व नगरों का आदर्श रूप प्रस्तुत किया गया है, अन्तिम कविता "विनय" में आदर्श युग लाने की "प्रभु" से प्रार्थना की गई है और बीच की कविताओं मे "ग्रामीण नयन" से कवि ने ग्रामों को देखा है।[2] अधिकतर कविताओं मे कवि ने ग्राम का यथार्थ दृष्टि से चित्रण किया है। ग्राम के मनोहर रूपों को भी देखा गया है। 'ग्राम-युवती' में यथार्थ व मनोरम रूपों का समन्वय किया गया है। विचार-धारा की दृष्टि से 'ग्राम्या' की 'ग्राम-देवता' कविता महत्त्व-पूर्ण है। कवि कहता है कि मध्य-युग की संस्कृति व्यक्तिवादी विचार-धारा का परिणाम थी अत. अनेक रूढ़ियाँ व रीतियाँ चल पड़ी। समाज से विचारधारा का सामञ्जस्य पूर्णतया नही बैठाया गया।[3]

इस व्यक्तिवादी संस्कृति का ऐतिहासिक मूल्याङ्कन भी कवि ने

---

[1] 'मध्य वर्ग', 'कृषक', 'श्रमजीवी' शीर्षक कविताएँ द्रष्टव्य—युगवाणी पृष्ठ ३२, ३३ ३४।

[2] देख रहा हू आज विश्व को, मैं ग्रामीण नयन से—ग्राम्या।

[3] यह विकसित व्यक्तिवाद की संस्कृति राम ! राम !—ग्राम्या।

किया है। हिन्दू-संस्कृति का अधिकांश भाग सामन्ती व्यवस्था में निर्मित हुआ था पशु-चारण युग मे पशुपति की पूजा होती थी। पशु-चारण युग के पश्चात् कृषि-व्यवस्था का विकास हुआ। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी इसी नवीन कृषि-व्यवस्था के युग की मर्यादाओं के प्रतिष्ठापक थे। एक पत्नीव्रत, प्रवल केन्द्रीय राज्य-सत्ता और संयुक्त परिवार-प्रथा आदि की मर्यादाएँ राम ने स्थापित की। पशु-चारण युग में पूजित पशुपति शिव को स्वीकार कर उन्होंने आर्य-संस्कृति में सम्मिलित किया और इस प्रकार कृषि-व्यवस्था के विकास में सहायता पहुँचाई। पशुपति रुद्र के पूजक—जो आदिम सभ्यता के प्रतीक थे—वे कृषि-व्यवस्था के बाधक थे, अत. उनका नाश कर या उनमें नवीन मान्यताएँ प्रचारित कर राम के रूप को शिव के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। वाल्मीकि ने ऐसे ही युग-लोक-नायक का गान किया था और कृषि-युग के अनुकूल सामाजिक मान्यताओं और मर्यादाओं का रामायण द्वारा प्रचार किया था। कृष्ण का युग कृषि-व्यवस्था की चरम उन्नति का युग था। अत वैभव व विलास का अध्याय कृष्ण के साथ जोड़ा गया। कृष्ण ने भी बिखरी हुई शक्तियों को एकत्रित कर केन्द्रीय सत्ता को पुष्ट किया और इस प्रकार कृषि-युग के विकास मे सहायता पहुँचाई। अत. उन्हें भी इतिहास ने 'भगवान' बना लिया। मध्यकाल में राम व कृष्ण के द्वारा स्थापित मर्यादाओं का ही प्रचार होता रहा। तुलसी ने कृषि-युग के अनुरूप ही विचारधारा का प्रचार किया किन्तु कृषि-व्यवस्था के स्थिर हो जाने से सामाजिक मर्यादाएँ शाश्वत मान्यताओं के रूप मे स्वीकृत होगई। पूँजीवाद के आगमन पर भी उन्ही प्राचीन मान्यताओं की रक्षा के प्रयत्न होते रहे और वे सामाजिक विकास मे बाधा बन गई। अत बदलते हुए समाज के लिए परिवर्तित विचारधारा की आवश्यकता थी जिसे ग्राम-जनता आज तक स्वीकार नही करती क्योंकि वहाँ अब भी कृषि-व्यवस्था अपने स्थिर रूप में वर्तमान है, नगरों मे अवश्य परिवर्तित विचार-धारा दिखलाई पड़ी।†

— † श्री राम रहे सामन्त काल के ध्रुव प्रकाश।
पशु-जीवी युग मे नव कृषि-सस्कृति के विकास॥
कर सके नहीं वे मध्य युगों का तम-विनाश।
जन रहे सनातनता के तब से क्रीत-दास॥

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कवि ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर भारतीय समाज व संस्कृति का विश्लेषण किया है और वह विश्वास करता है कि पूँजीवाद के बाद साम्यवादी व्यवस्था एक ऐतिहासिक आवश्यकता है।* हमने कवि के अनुसार ऊपर समाज के विकास को दिखाया है। वह कहाँ तक सही है, यह एक अलग बात है परन्तु देखने की बात यह है कि कवि समाज के विकास को मार्क्स-वादी दृष्टि से दिखाता है। किन्तु प्रश्न यह है क्या 'ग्राम्या' साम्यवाद को विकास का अन्तिम चरण स्वीकार करती है? उत्तर होगा नहीं! 'बापू' शीर्षक कविता में कवि ने कहा था—

है श्लाघ्य मनुज का भौतिक सञ्चय का प्रयास।
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास?

स्पष्ट है कवि मार्क्सवादी दृष्टि से समाज के विकास को स्पष्ट करता हुआ भी, साम्यवाद की ऐतिहासिक आवश्यकता स्वीकार करके भी, अलौकिक सत्ता के प्रति (विश्वास के विकास के लिए) चिन्तित

पशु-युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति।
थी रुद्र चरों से कुण्ठित कृषि-युग की उन्नति॥
श्रीराम रुद्र की शिव में कर जन हित-परिणति।
जीवित कर गए अहिल्या को, थे सीतापति॥
वाल्मीकि बाद आए श्री व्यास जगत वन्दित।
वह कृषि संस्कृति का चरमोन्नत युग था निश्चित॥
बन गये राम तब कृष्ण, भेद मात्रा का मित।
वैभव-युग की वंशी से कर जन-मन मोहित॥
तुलसी ने कृषि मन युग अनुरूप किया निर्मित।
गत संस्कृतियाँ थीं विकसित, वर्ग व्यक्ति आश्रित॥
सामन्त मान अब व्यर्थ—समृद्ध विश्व-अतिशय—'ग्राम्या'

* आज मिट गए दैन्य दुःख, सब क्षुधा तृषा के क्रन्दन।
भावी स्वप्नों के पट पर, युग जीवन करता नर्तन॥
डूब गये सब तर्क वाद, सब देशों राष्ट्रों के कण।
डूब गया रव घोर क्रान्ति का, शान्त विश्व सङ्घर्षण॥
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे, मुक्त दिशा औ क्षण से।
जीवन की क्षुद्रता निखिल, मिट गई मनुज-जीवन से॥—'ग्राम्या'

है ? कोरी भौतिकता साम्यवादी व्यवस्था को पूर्ण न बनने देगी क्योंकि जीवन के सम्मुख महानतम उद्देश्य व सुन्दरतम स्वर्गिक आदर्शों की आवश्यकता है। बिना इन आदर्शों के जीवन कुरूप, बौना, सङ्कीर्णतावादी, ईर्ष्या-द्वेष युक्त हो जायगा और फलतः आसुरी-वृत्ति प्रधान अधिनायकों के हाथ में शासन रहने से जनता का सांस्कृतिक विकास असम्भव हो जायगा। 'ग्राम्या' यही तक अपने को सीमित रखती है। वह अभी साम्यवादी युग के पश्चात् के युग की कल्पना नही करती या साम्यवादी युग की निन्दा नही करती। बल्कि कहना यह चाहिए कि कुल मिलाकर 'ग्राम्या' का स्वर साम्यवादी व्यवस्था का स्वागत करता है। कवि साम्यवाद की स्थापना के लिए चिन्तित है। वर्ग-व्यक्ति पर आधारित सांस्कृतिक मान्यताओं का वह घोर विरोध करता है। वह चाहता है कि सामूहिक सस्कृति का विकास हो जिसमें आत्मवाद भी रहे, बस इतना ही।

कई स्थानों पर कवि का स्वर अत्यधिक उग्र और स्पष्ट है—यहाँ तक कि सत्य व अहिसा के—जिसका कि वह समर्थक रहा है और है—भावात्मक रूप की ही वह प्रशसा करता है। वह उनके निरपेक्ष रूप की आलोचना करता है और आवश्यकता पड़ने पर नीति के तौर पर हिंसा के उपयोग का भी समर्थन करता है (पन्त ने यहाँ 'उत्तरा' की तरह यह नही बताया कि भारत के लिए भी हिंसा का प्रयोग नीति के तौर पर उपयोगी है या नहीं। तब शायद १६३६—४० में कवि की आध्यात्मिक चेतना उग्र न हो पाई थी अतः वह हिंसा को भी केवल नीति के तौर पर उपयोग के लिए कहता था, यद्यपि इस सम्बन्ध में कवि के मन में हम बराबर दुविधा देखते हैं।)

> बन्धन बन रही अहिंसा आज जनों के हित।
> वह मनुजोचित निश्चित, कब ? जब-जन हों विकसित।
>
> —अहिंसा—ग्राम्या

अर्थात् आज तो अहिसा बन्धन है* यह मनुजोचित

* तुलना कीजिए युगवाणी की 'बापू' शीर्षक कविता से। युगवाणी की इस कविता में 'बापू' से कवि पूछता है कि क्या अहिंसा से क्रान्ति सम्भव है ? यदि है तो यह कमाल है, क्योंकि यही इष्ट भी है, भूतदर्शन तो एक सोपान मात्र है, गन्तव्य तो "आत्मदर्शन" ही है।

तब होगी जब जन विकसित हो जाएँगे। स्पष्ट है कि कवि यहाँ हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन कर रहा है और फिर कहता है—

हिंसा विनाश यदि, नही अहिंसा मात्र सृजन,
वह (अहिंसा) लक्ष्य शून्य अब, भर न सकी जन मे जीवन।
निष्क्रिय, उपचेतन ग्रस्त, एक देशीय परम,
सांस्कृतिक प्रगति से रहित आज, जन हित दुर्गम।
हैं सृजन, विनाश सृष्टि के आवश्यक साधन।
यह प्राणि-शास्त्र का सत्य नही, जीवन-दर्शन।

अर्थात् 'हिंसा' का समर्थन केवल प्राणि-शास्त्र से ही नहीं होता, जीवन-दर्शन से भी होता है।

इसी प्रकार 'वर्ग-सङ्घर्ष' का भी कवि स्पष्टत समर्थन करता है—

'तुमुल वर्ग-सङ्घर्ष में निहित, जन-गण का भविष्य लोकोत्तर।'
(१६४०)

कवि यह भी स्वीकार करता है कि संस्कृतियाँ बाह्य भौतिक स्थितियों की ही प्रतिविम्ब मात्र थीं—

छायाएँ हैं सस्कृतियाँ, मानव की निश्चित।
वह केन्द्र, परिस्थितियों के गुण उसमे विम्बित॥

ग्रामीणों के अलौकिकवाद—पुनर्जन्मवाद पर वह प्रहार करता है—

सामाजिक जीवन के अयोग्य, ममता प्रधान।
संघर्षण विमुख, अटल उनको विधि का विधान॥
जग से अलिप्त वे, पुनर्जन्म का उन्हे ध्यान।
मानव-स्वभाव के द्रोही, श्वानों के समान॥

इस प्रकार ग्राम्या में अनेक उद्धरण ऐसे मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि कवि मार्क्सवाद मे पूर्णतया विश्वास करने लगा है, परन्तु साथ ही ऐसी भी पंक्तियाँ हैं जिनमें यह संकेत छिपा है कि साम्यवाद के विना समाज का विकास तो असम्भव है परन्तु उसमें आत्मवाद का सामञ्जस्य आवश्यक है। 'खिड़की से' कविता में कवि कहता है कि कुछ विचारक कहते हैं कि जगत् का प्रपञ्च एक ही शक्ति से विकसित है अत उसी आदिशक्ति की ओर मेरा अन्तर आकर्षित हो रहा है। उसी अनादि महाचेतना का ही एक अश आत्मा है, यह जान लेने से क्षुद्रताओं का नाश हो जाता है और मनुष्य की चेतना का विस्तार

लालसा पुष्ट होती गई अतः पन्तजी के लिए 'आत्मवाद' मुख्य होता गया और मार्क्सवाद गौण। उन्हें लगा कि 'मार्क्सवाद' भी परिस्थिति विशेष में केवल अर्थ-साम्य को लाने के लिए उत्पन्न हुआ था। लोक के प्रति उसकी हित भावना तो आदरणीय है परन्तु जिन परिस्थितियों में मार्क्स ने 'रक्तक्रान्ति', 'वर्ग-सङ्घर्ष' आदि सिद्धान्तों का समर्थन किया था, वे शाश्वत रूप से सभी देशों व कालों के लिए क्यों स्वीकार किए जाएँ ? उन्हें यह भी प्रतीत हुआ कि १९वीं शताब्दी की कड़वी परिस्थितियों ने मार्क्स आदि नेताओं के मन का निर्माण किया था। अतः उनकी चेतना का स्तर सामान्य व व्यावहारिक था। उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह उस स्तर की बात कह सकेंगे जिस स्तर की बातें भारत के प्राचीन ऋषियों ने कही थीं। मार्क्स, एंगिल्स आदि सर्वज्ञ नहीं थे। उनकी दृष्टि विभाजन व विश्लेषण प्रधान थी, संश्लेषण व सामञ्जस्य करने की शक्ति उनमें न थी। अतः वे पूर्ण नास्तिकता का प्रचार करते हैं और पदार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं मानते। यह एकाङ्गिता है, जड़ता है, परिस्थितियों का प्रभाव है। सूक्ष्मदर्शी, तत्त्वद्रष्टा भारतीय ऋषियों ने समन्वित दृष्टि से पदार्थ व चेतना दोनों को देखा था और जड़-चेतन की समस्या को सुलझा लिया था, अतः प्राचीन भारतीय ऋषियों की बात मार्क्स आदि से अधिक माननीय है। अरविन्द ने इसे सब से अधिक वैज्ञानिक ढङ्ग से स्पष्ट किया है। अतः अरविन्द-दर्शन आज के युग के लिए महान् देन है। उसे स्वीकार कर लेने से भौतिकवाद-अध्यात्मवाद में समन्वय हो जाता है।

मैंने दो बातें प्रारम्भ में ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित की थीं—(१) पन्त व अरविन्द दोनों पुनरुत्थानवादी युग के विचारक हैं। (२) पन्तजी ने अपने स्वभाव के अनुसार विचारों को ग्रहण किया है। अरविन्द योगी थे, उन्होंने भारत के प्राचीन अध्यात्मवाद को ज्ञान की चरम उपलब्धि मान कर, योरोपीय विचारधारा—विज्ञान, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों की विचारधारा को इस भारतीय अध्यात्मवाद से नीचे रखा परन्तु साथ ही उसकी उपलब्धियों को स्वीकार भी किया। इस प्रकार दोनों कार्य हो गए, योरोप से, भारत का चिन्तन महानतर है, यह भी प्रमाणित हो गया और साथ ही सभी प्रकार के प्रश्नों के उत्तर भी मिल गए। पन्तजी को और क्या चाहिए ? पन्तजी विचार-

शील कवि हैं, उन्हें कवि-हृदय मिला है, वे विचारों से प्रभावित होने वाले कवि हैं, पर विचारों का आविष्कार करने वाले चिन्तक नहीं। वे उन्हीं विचारों को स्वीकार करते हैं जो उनके मूल स्वभाव—कल्पनाशील, आस्थाशील, कोमल मन के प्रतिकूल न हों। संस्कारों पर विजय पाना सब से कठिन कार्य है। विचारों की ऊष्मा को कोमल स्वभाव जब नहीं सह पाता तो वह ऐसे सामञ्जस्य को खोजता है जिसमें संस्कारों की भी रक्षा हो जाए और बुद्धि को भी सन्तोष मिल सके। अरविन्द का दर्शन ऐसा ही है जिसमें पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति की भी रक्षा होती है, साथ ही पन्तजी की बुद्धि को भी सन्तोष होता है। अतः पन्तजी ने अरविन्दवाद को पूर्णतया स्वीकार किया है। उनको बर्गसाँ जैसे दार्शनिकों को पढ़ कर शायद भविष्य की कल्पना करने का चाव बढ़ा। अतः कवि के कल्पनाशील विश्वासी और पुनरुत्थानवादी मन के लिए अरविन्द का दर्शन बहुत ही अनुकूल प्रमाणित हुआ।

सर्वप्रथम 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि' में इस अरविन्दवाद को वाणी मिली। बाद में जब सङ्कीर्णतावादी मार्क्सवादियों ने पन्तजी पर भद्दे आक्षेपों से आक्रान्त आलोचनाएँ लिखीं तो कवि का मन प्रतिक्रिया में मार्क्सवादी मान्यताओं से और भी घृणा करने लगा और उसने यह अनुभव किया कि जब आज मार्क्सवादियों में इतनी सङ्कीर्णता जघन्यता और जड़ता है कि आलोचना के नाम पर केवल गन्दे आक्षेपों का आविष्कार हो रहा है, जब सनसनी मचाने वाली शैली में ध्वंसात्मक प्रवृत्ति की आलोचनाओं को ही मान्यता मिल रही है तो जब इनके हाथों में जनता की वागडोर होगी तो शायद मानव की स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का गला हमेशा के लिए घोट दिया जायगा और शासन के कार्यों में भी एक दल विशेष की क्रूरताओं की परम्परा स्थापित हो जायगी। जिस साम्यवादी व्यवस्था को स्वर्ग समझा जा रहा है उसमें यदि आत्मा, ब्रह्म जैसे उच्च आदर्शों का प्रचार बन्द हो गया तो यान्त्रिकता व भौतिकता के अन्धकार में मदान्ध शासक-मार्क्सवादी दल—शासित जनता की चेतना के विकास में भयानक बाधा सिद्ध होगा क्योंकि केवल 'अर्थसाम्य' मनुष्य को महान नहीं बना सकता, मनुष्य तभी महान बनता है, जब उसके सम्मुख महानतम आदर्श रहते हैं। ऐसे आदर्शों के प्रचार से नूतन चेतना का युग अव-

तीर्ण हो सकेगा। अत. कला व कलाकार का इस संक्रान्ति-काल में यही कर्त्तव्य है। इसीलिए कवि ने 'उत्तरा' की भूमिका में विस्तार से अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया, और मार्क्सवाद के संकीर्ण पक्ष पर स्पष्ट रूपसे उग्र-प्रहार किया। उत्तरा के बाद के काव्य-रूपकों में भी 'स्वर्ण-किरण'—'स्वर्णधूलि' की परम्परा को जारी रक्खा, जिसका अन्तिम रूप "अतिमा" में दिखाई पड़ता है।

मैं यह नहीं कहता कि सङ्कीर्णतावादी मार्क्सवादियों ने पन्तजी को मार्क्सविरोधी बना दिया, यह गलत है क्योंकि कवि मार्क्सवादियों का ही केवल विरोधी नहीं है, वह मार्क्सवाद की आधारभूत मान्यताओं का भी विरोधी है। अत यह कहना उचित नही होगा कि सङ्कीर्णतावादी कम्यूनिस्टों ने पन्त को प्रतिक्रियावादी बना दिया। परन्तु यह सच है कि सङ्कीर्णतावादी मार्क्सवादियों ने पन्तजी के नूतन काव्य का मूल्याङ्कन करते समय, विचार और कला के विश्लेषण की दृष्टि से उत्तरदायित्व से कार्य न लेकर, ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों से काम लेकर, मार्क्सवादी विचारधारा के सम्बन्ध में यह धारणा बनाने में सहायता दी कि मार्क्सवादी आलोचना सङ्कीर्ण, कुत्सित, ईर्ष्या, द्वेष, हीनता की भावना तथा पक्षपात से पूर्ण होती है। उसमें सृजन का गुण नहीं, केवल विनाश व पराजय का धुआँ होता है। उसमें चटपटी सनसनीखेज शैली होती है, विचार का सन्तुलित, तार्किक और उत्तेजना रहित तटस्थ विश्लेषण नही होता। उसमें पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती, केवल आक्षेप करने, खिल्ली उड़ाने की कला का ज्ञान ही अपेक्षित होता है।

स्पष्ट है कि ऐसी आलोचनाओं से मार्क्सवादी आलोचना के विकास में महान बाधा उपस्थित हो गई है। यद्यपि उसका प्रतिरोध हो रहा है परन्तु इससे व्यर्थ ही "आक्षेपवादी" आलोचना का अपरिमित ऊहापोह हो रहा है। पन्तजी के मन पर इन आलोचनाओं का यह प्रभाव हुआ है कि वे अपने काव्य-रूपकों में बार-बार अपनी खिन्नता व वेदना व्यक्त करते हैं। यदि पन्तजी के मार्क्सवादी आलोचक 'नूतन काव्य' में प्रगतिशील तत्त्वों को भी निकालकर सम्मुख रखते और साथ-साथ मार्क्सवादी दृष्टि से अरविन्द-दर्शन और पन्तजी की विचारधारा का विश्लेपण कर उसके कमजोर पक्षों की आलोचना करते तो यह सैद्धान्तिक युद्ध व्यक्तिगत आक्षेपों में

परिणत न हो पाता। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा न हो सका।* यहाँ इस आक्षेपवादी आलोचना पर विचार करने का अवसर नहीं है, यह बताना इसलिए आवश्यक था कि पाठकों को 'ग्राम्या' के पश्चात् "अतिमा" तक होने वाले विचार-परिवर्तन के पीछे की पृष्ठ-भूमि स्पष्ट हो जाए और पन्तजी के नूतनकाव्य में अभिव्यक्ति 'अरविन्द-दर्शन' के स्वरूप के साथ-साथ मार्क्सवादी विचारकों के प्रति कवि के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिले।

---

* इसीलिए शायद कवि कहता है—"यदि स्वर्ण-युग की आशा आज की अतृप्त आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति और पलायन प्रवृत्ति का स्वप्न भी है तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है"—"आधुनिक कवि"

चिन्तन की चरम परिणति

१—स्वर्ण-काव्य

"लौट मुग्ध विस्मित लोचन मन,
अंतर्मुख करते अवलोकन,
निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का,
आत्मा गोपन करती चिन्तन।" —'स्वर्ण-किरण'

पन्तजी ने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में लिखा था कि—"आधुनिक भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वाङ्गीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं। अरविन्द-दर्शन में भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का समन्वय प्रस्तुत किया गया है,[1] यह हम दिखा चुके हैं। यहाँ पन्तजी ने अरविन्द के समन्वयवाद को किस रूप में ग्रहण किया है? काव्य में उसे किस रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है? यह दिखाने का हम प्रयत्न करेंगे।

'ग्राम्या' तक ऐतिहासिक दृष्टि से समाज का विश्लेषण व चित्रण कर लेने के पश्चात् 'स्वर्ण-किरण' में कवि पुनः अन्तर्मुख हो जाता है। वह अब विश्वास करता है कि केवल आर्थिक समता व्यापक समता नहीं है। व्यापक समता के लिए श्रद्धा, तप, संयम और ईश्वर-विश्वास आदि की आवश्यकता है। बाह्य व आन्तरिक दोनों प्रकार की समता ही इष्ट है—

---

[1] In these barren contradictions the human mind can not rest satisfied It must seek always a complete affirmation. It can find it only by a luminous reconciliation. (The Life Divine—page 10).

व्यक्ति-विश्व में व्यापक समता,
हो जन के भीतर से स्थापित,
करें आत्म निर्माण लोक गण,
आत्मोज्ज्वल भू मङ्गल के हित,
बहिरन्तर जड़ चेतन वैभव,
संस्कृति में कर निखिल समन्वित।

कवि व्यापक मनुष्यत्व के विकास के लिए चिन्तित है—

आओ, सोचें द्विपद जीव, कैसे बन सकता मानव।
शक्ति मत्त हो कर भू देव, न बन जाए भू दानव॥

कोरा मार्क्सवाद शक्ति-मत्त हो कर भू-दानवों की उत्पत्ति करेगा, यह निश्चय है। अत अध्यात्मवाद की आवश्यकता है।

मनुष्य के भू-देवता बनने में मुख्य बाधा बुद्धि है, जो तर्कों और सिद्धान्तों के व्यर्थ ऊहापोह मे व्यस्त रहती है। इसीलिए विज्ञान महामृत्यु के पूजन में रत हो गया है, वह व्यापक दृष्टि से देखने का अभ्यासी नहीं है। अतः साम्यवाद से समस्या का पूर्ण समाधान न होगा। हमें मानव-शिक्षा का नूतन शिलान्यास करना होगा। आत्म-एक्य और व्यक्ति की मुक्ति के लिए आन्दोलन करना होगा।[१] आज केवल बहिर्चेतना (Surface mind) जागृत है और अन्तर्चेतना निद्रित अवस्था में है। भौतिक वैभव व आत्मिक ऐश्वर्य सयोजित नही हो पाए हैं, दर्शन व विज्ञान संयोजित नही हैं।[२] चेतना के तीन धरातल हैं। प्रथम—निम्न धरातल जो पशु-पक्षियों आदि में दिखाई पड़ती है। द्वितीय—समदिक् धरातल, जिसमें मनुष्य सामाजिकता का विकास करता है, अनेक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सङ्गठनों का सञ्चालन करता है। और तृतीय—ऊर्ध्व-धरातल, जिसमें मन व इन्द्रियों से ऊपर उठकर मनुष्य आत्म-चेतना का विकास करता है, ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है आध्यात्मिक अनुभवों से, साधना के क्षणों में मानवता को दिव्य-पवित्र और महान् बनाता है।

---

[१] "तर्कों, वादों, सिद्धान्तों से बुद्धि प्राण जन पीड़ित।
शिलान्यास मानव शिक्षा का करना हमको नूतन
आत्म एक्य और व्यक्ति मुक्ति का स्वर्ग सौध रच शोभन॥"

[२] 'स्वर्ण-किरण'—पृष्ठ १६

साम्यवाद केवल समदिक् धरातल तक ही सीमित है। अध्यात्मवाद का वह खण्डन करता है जो चेतना के उच्च धरातलों की ओर ले जाता है। यही ऊर्ध्व-सञ्चरण है।[१]

हमने 'अरविन्द-दर्शन' में दिखाया है कि ब्रह्म की चित्-शक्ति ऊर्ध्व-चेतन के रूपमे अभिव्यक्त होती है, और यही चित्-शक्ति आगे चलकर मन, जीवन व शरीर के रूप में अभिव्यक्त होती है। अत मन के ऊपर भी चित्-शक्ति का स्तर है। यहाँ पहुँचने का प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। मन का स्तर तो समदिक् धरातल है, जहाँ विज्ञान-भौतिकवाद आदि का राज्य है। इससे ऊपर चित-शक्ति या ऊर्ध्व-चेतन का धरातल है। अत आज मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि वह समदिक् धरातल (मन) पर ही न रुक कर, चित् शक्ति के नभ में पङ्ख खोलकर उड़े, तभी मानवता का विकास होगा। मन तक ही अपने को रोक रखना सङ्कीर्णतावाद है।

प्राणिशास्त्र व मन शास्त्र (मनोविज्ञान) दोनों समदिक् धरातल पर ही रहते हैं, मनोविज्ञान से अलबत्ता उपचेतन व अवचेतन मन की खोज हुई है पर इन स्तरों के ऊपर भी चेतना के उच्च धरातल हैं। अत उन्ही धरातलों की खोज करना हमारा कर्तव्य है। रोजी-रोटी की लडाई समदिक् धरातल की वस्तु है। वह दिव्य जीवन को प्राप्त करने का साधनमात्र है, स्वयं ध्येय नहीं, किन्तु भौतिक वस्तुओं को महत्त्व देकर मनुष्य पशु बन गया है।[२] और वह उपनिषद् के ऋषि की अमर वाणी को गत युग की वस्तु समझता है। रोजी-रोटी

[१] "ऊर्ध्व सञ्चरण में रे व्यक्ति, निखिल समाज का नायक।
समदिग् गति में सामाजिकता जनगण भाग्य विधायक ॥
ऊर्ध्व-चेतना को चलना भू पर धर जीवन के पग।
समदिक् मन को पङ्ख खोल, चिद् नभ में उठना व्यापक ॥"—'स्वर्ण-किरण'

[२] अन्तर्जीवन के वैभव से, आज अपरिचित भूजन।
मध्यम अधम वृत्तियों से, कल्पित उनका भव-जीवन ॥
सत्य-ज्योति से वञ्चित भेदों से कुण्ठित मानव-मन।
अन्तर्मुख प्रेरित हो उसको पाना जीवन दर्शन ॥
पशुओं से भी हीन, रेंगता कृमियों सा अह, मानव।
भूल गया वह अन्तर्गरिमा, होता आत्म-पराभव ॥—'स्वर्ण-किरण'

की लड़ाई, शोषितों का अधिनायकवाद आदि वस्तुएँ अविद्या की ओर ले जाने वाली हैं अत. भौतिकवाद को केवल आत्मोन्नति के लिए अवसर प्रदान करने वाली व्यवस्था के रूप मे ग्रहण करना चाहिए। भौतिकवाद तो अविद्या है और ब्रह्मज्ञान विद्या है (ग्राम्या का कवि जो व्यक्तिवादी अन्धविश्वासों का घोर विरोध कर चुका था, स्वर्णकिरण में अरविन्द के प्रभाव से भौतिक ज्ञान को अविद्या कहता है)।[1]

मार्क्सवादी और उनके साथ पन्तजी भी 'ग्राम्या-काल' में कहते हैं कि मनुष्य का अन्तर्जीवन बाह्य परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब होता है, पन्तजी अब उसी आधारभूत विचार पर प्रहार करते हैं—

"क्या यह सामाजिक संघर्षण, केवल रे मानव जीवन ?
सुन्दरता, आनन्द, प्रेम के स्वप्न चिरन्तन,
क्या केवल प्रभात के उडुगन ?
रिक्त शरद घन ?"

यही नही घोर व्यक्तिवादी विचारधारा को सिद्ध करने के लिए कवि पूछता है—

"क्या यह उचित कि
सामाजिक साधारणता
मूल्य व्यक्ति का करे नियन्त्रित ?
जंगम जीवन स्तर की जड़ता
करे मनुज आत्मा मर्यादित ?

अर्थात् मनुष्य की आत्मा निरपेक्ष है, उसे 'जङ्गम-जीवन के स्तर की जड़ता' भासित नही करती। परिस्थितियों से वह अप्रभावित रह सकती है।

पन्तजी के अनुसार मार्क्सवादी व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिकता का शिकार हो जाता है। इसके विपरीत गत-युगों में सामाजिकता वैयक्तिकता की शिकार रही थी। अत. दोनों में सामञ्जस्य आवश्यक है। व्यक्ति ही समाज को बदलता है, बूँद में ही समुद्र की सत्ता है, व्यक्ति ही सृजन शक्ति का दूत है, उसको मशीन बना देने वाला साम्यवाद निन्दनीय है। क्योंकि साम्यवादी अभाववादी हैं, वे सामा-

[1] ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय।
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय॥

जिक-समता का कटु विष जनता की रग-रग में घोल रहे हैं। अतः सृजन नही हो रहा है।[1] मनुष्य के अन्तर्मन में स्थिर अन्तर्चेतना (Intuition) मनुष्य को अमरता की ओर ले जाना चाहती है परन्तु मार्क्सवाद उस ओर जाने से ही इनकार करता है। यही जड़ता है। साम्यवादी व्यवस्था द्वारा स्थापित समता 'अहम्मन्य जड़ समता' है (भौतिकवाद की निन्दा करते समय अरविन्द का रूप इतना उग्र नहीं होता जितना पन्तजी का हो जाता है)। गाधीजी इस जड़ समतावाद के विरोधी थे, क्योंकि वे आत्मवादी थे। वे भू से स्वर्ग-क्षितिज पर ऊर्ध्व-चरण रखते थे, अहिंसा के तीरों से भू-तमस को पराजित करने आए थे। संस्कृति के शास्त्र को उन्होंने सफलता पूर्वक राजनीति के क्षेत्र में प्रयुक्त किया था।[2] (यहाँ कवि हिंसा को नीति के तौर पर भी स्वीकार नही करता, अहिंसा के निरपेक्ष रूप का वह गायक बन गया है)।

'ग्राम्या' में कवि की ऐतिहासिक दृष्टि व वैयक्तिक चिन्तनात्मक पद्धति अलग-अलग कार्य कर रही थी किन्तु यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से वह जवाहरलाल नेहरू के कृतित्त्व का मूल्याङ्कन कर उन्हे केवल ऊर्ध्व-चेतना के प्रसार में सहायक मानता है। क्योंकि अब उसे केवल वैयक्तिक विश्वासों की अधिक चिन्ता हो गई है—

"ऊर्ध्व-दण्ड तुम बनो, इन्द्रधनु सी, सुरमोहन।
भारत की चेतना ध्वजा, फहरे दिक् शोभन॥
जीवन स्वप्न रङ्ग स्मित, अन्तररश्मि प्रज्ज्वलित।
प्रीति-शिखा सी, विश्व-व्योम कर ज्योति तरंगित॥[3]

"हिमाद्रि और समुद्र" शीर्षक कविता में कवि चेतना के स्तरों का वर्णन अरविन्द की पद्धति पर करता है और सुपर माइण्ड (चित) को ही साधना का लक्ष्य ठहराता है।[4] ब्रह्म एक चेतना के असीम

[1] आज अभाव शक्तियाँ जग में, काँटे बोती है पग-पग में।
सामाजिक समता का कटु विष, दौड़ रहा जग की रग-रग में॥
आज भाव की सृजन शक्तियाँ, उतर नहीं पाती हैं भू पर।

[2] नोआखाली के महात्माजी के प्रति—'स्वर्ण किरण'

[3] पडित जवाहरलाल नेहरू के प्रति—'स्वर्ण-किरण'

[4] "वह शिखर शिखर पर स्वर्गोन्नत,
स्तर पर स्तर ज्यों अन्तर्विकास।

सागर के समान है जिसमें उद्वेलन से सुख-दु:ख की लहरें उत्पन्न होती हैं, नाम रूपमय जगत का सृजन व विनाश होता रहता है, जड़ व चेतन दोनों इसी चेतना-सागर में समाहित होते रहते हैं, लहर का रूपात्मक व्यक्तित्व चेतन सागर का ही अंश है। अतः चेतना-सागर ही प्रधान है, पदार्थ या मेटर नहीं।

"वह ज्यों अनन्त जीवन वारिधि,
अहरह अशान्त औ उद्वेलित।
जिसके निस्तल गहरे रँग में,
अगणित भव के युग अन्तर्हित॥
जग की अबाध आकांक्षा से,
इसका अन्तस्तल आंदोलित।
सुख दु:ख आशा आशंका के,
उत्थान पतन से चिर मन्थित॥"

कवि अरविन्द की पद्धति पर सृष्टि-विकास का भी वर्णन करता है। ब्रह्म की चिद् शक्ति से ही शून्य-ध्वनि या आकाशतत्त्व की उत्पत्ति होती है और आकाश से पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी की क्रमशः उत्पत्ति होती है। एक ही चेतना भौतिक तत्त्वों के रूपों में बदल जाती है और साथ ही साथ इस भौतिक जगत का शासन भी करती है—

"नभ से वन पवन, पवन से जल,
लालायित यह चेतना अमर।
सोई धरती से लिपट, जगाने
उसे, युगों की जड़ता हर।"

इस प्रकार ब्रह्म, आत्मा व जगत एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। जीव, जगत ब्रह्म में ही अवस्थित हैं जैसे लहरें सागर में। चेतना अपने एक अंश को, भूतात्मक जगत के बन्धन में रखकर उसमें मुक्ति की प्रेरणा भरती है। इसीलिए जीव का यह स्वभाव है कि वह भौतिक बन्धनों से स्वतन्त्र होना चाहता है। यही ब्रह्म की लीला है—

"भू के गहरे अन्धकार में, वही जीव अनिमेष नयन।
देख रहा नभ ओर ज्योति के लिए, जहाँ रवि, शशि, उडुगण।"

वह सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ में,
करता हो ध्वनि शाश्वत-विलास।"

मार्क्सवादी इस 'ज्योति' की ओर बढ़ने में बाधा पहुँचाते हैं क्योंकि वे मन (mind) से ऊपर भी कुछ प्राप्य है, इसे स्वीकार नहीं करते। परन्तु हमें बुद्धि से नहीं, अन्तर्चेतना (intuition) से द्रष्टा की भाँति, समन्वित दृष्टि से देखना चाहिए, तभी जड़-चेतन दोनों एक ही महाचेतना के अंश प्रतीत होंगे और तब जीवन का उद्देश्य रोजी-रोटी नहीं, महाचेतना को प्राप्त करना होगा। सांस्कृतिक विकास का यही लक्ष्य होना चाहिए, इस ओर ही हमारे ऋषियों ने संकेत किया था। 'पूषण' हममें एकता का स्वर भरता है और जड़-चेतन के समन्वय का उपदेश देता है। चेतना को पदार्थ का अतिविधान मानना अबौद्धिक है। सामान्य बुद्धि से अवश्य ऐसा प्रतीत होता है कि चेतना जड़-तत्त्व से ही विकसित हुई होगी परन्तु अन्तर्चेतना द्वारा देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि जड़ चेतना का ही अंश है और जीव भी उसी चेतना का अंश है अतः जगत में एक ही सत्ता है जो जड़-तत्त्व में और जीवात्माओं में सबमें व्याप्त है—

मेरा यह संदेश, उठो हे, जागो भू चर,
तुम ही मेरे अंश, ज्योति संतान तुम अमर,
छोड़ो जड़ता, छिन्न करो, भव-भेदों का तम,
तुम हो मुझ से एक, एक तुम भूतों से, सम,
करो आत्मबल संचय, तोड़ो मन के बन्धन।

—पूषण—स्वर्ण-किरण

इसे मार्क्सवादी स्वीकार नहीं करते वे आत्मा के रूप में अन्तर-स्थित साक्षी की आवाज को सुनकर भी उसकी अवहेलना करते हैं और जड़-चेतन के शाश्वत प्रश्नों को टाल कर, केवल कोरी बुद्धि से जल्दबाजी में सस्ते समाधान खोज लेते हैं और फिर जब उन्हें कोई स्वीकार नहीं करता तो उसे प्रतिक्रियावादी ठहराते हैं।

किन्तु सत्य निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं। वह अवाङ्‌ मनसगोचर है, मन व चक्षु वहाँ नहीं पहुँचते। वह रहस्य है, उसे बुद्धि नहीं पा सकती, केवल अन्तर्चेतना से ही वह प्राप्य है। उसमें ही विश्व-कामना, उत्पन्न होती है, और वही लीलार्थ जगत का सृजन अपने में ही, अपनी चित शक्ति द्वारा करता है। वाद-विवाद, षड् दर्शन उसे छू-छू कर लौट आते हैं, कोई वहाँ तक पहुँचता नहीं है। वह चिर, अनादि,

अज्ञेय है।[1] यही हिरण्य है जिसके ऊपर जड़ तत्त्वों—मन, जीवन, जड़ तत्त्व का आवरण पड़ा हुआ है। इसी से स्वर्ण-किरणें निकलती हैं जो हमें भौतिकता से ऊपर उठने के लिए प्रेरित करती हैं।

यह रे हिरण्य का अवगुण्ठन,
चेतना ढँके जिससे आनन।
दिशि-दिशि में इसकी स्वर्ण किरण,
बरसातीं श्री, सुषमा, सुहाग।
—'स्वर्णिम पराग'—स्वर्ण-किरण

'मन' ही बन्धन व मोक्ष का कारण है, ऐसा कहा गया है। मन में वह शक्ति निहित है जो ऊर्ध्व-चेतन की ओर हमें उन्मुख करती है। प्रायः यह शक्ति भौतिकता के आग्रह के कारण प्रायः रुद्ध रहती है फिर भी यह शक्ति भौतिकता के प्रभाव के क्षणों में कभी-कभी मनुष्य को ऊर्ध्व-चेतना की ओर ले चलने की प्रेरणा देती है। इस शक्ति के उदित हो जाने पर मन जगत के आनन्दों में सन्तोष नहीं पाता, इसमें शाश्वत प्यास जग जाती है और वह अन्तर्ज्योति से ज्वलित हो जाता है। पन्तजी ने प्रकृति के पदार्थों को प्रतीक के रूपमें ग्रहण कर साधनात्मक स्थितियों का वर्णन किया है। अब उनके लिए प्रकृति के बाह्य-नैसर्गिक सौन्दर्य का विशेष मूल्य नहीं है। अब तो प्रकृति चेतना के ऊर्ध्व-दिशा के सञ्चरण में सहायता पहुँचाती है अतः उसका प्रतीकात्मक रूप ही सम्मुख आता है।[2]

पन्तजी इस अन्तर्ज्योति को जगाकर समन्वय की खोज के पक्षपाती हैं। उपनिषदों में "द्वासुपर्णा" की कथा है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं, जिसमें एक फल चखता है किन्तु दूसरा तटस्थ रहता है। पन्तजी कहते हैं कि ये दोनों पक्षी "अतिवाद" के प्रतीक हैं, हमें तो ऐसा पक्षी बनना चाहिए जो भोग करते हुए आन्तरिक तटस्थता से युक्त हो। भौतिकता में आबद्ध रहने पर भी अन्तर से हम आध्यात्मिक

[1] 'जिज्ञासा'—स्वर्ण किरण।

[2] यह सोने का चाँद, उगा ज्योतिर्मय मन सा,
सुरँग मेघ अवगुण्ठन से आभा-आनन सा।
उज्ज्वल गलित, हिरण्य बरसता उससे झरझर,
भावी के स्वप्नों से धरती को विस्मित कर॥

की शोध में निमग्न रहे क्योंकि भोग व त्याग दोनों जीवन के अङ्ग हैं—

कहीं नहीं क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल,
विश्व वृक्ष पर नीड़, देखता भी है निश्चल।
परम अहम् औ द्रष्टा, भोक्ता जिसमें संग-सग,
पङ्खों में वहिरंतर के सब रजत स्वर्ण रंग।
ऐसा पक्षी, जिसमें हो सम्पूर्ण सन्तुलन,
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु-जीवन।

परन्तु ऐसा पक्षी बनना तभी सम्भव है जब कि तन के मन मे (Outer mind) अवस्थित आत्मा के मन की (Subconscious mind of Sublibinal soul) पहचान हो जाय।* अत "छाया-मन" या वाह्य-मन को छोड़ कर, आन्तरिक मन की पहचान के बिना व्यक्ति द्रष्टा व भोक्ता नहीं बन सकता। मार्क्सवादी इसे स्वीकर नंही करते क्योंकि नई परिस्थितियों में (जिनमें नवीन आध्यात्मिक चेतना का विकास हो रहा है) उनका दर्शन रूढ़िवादी बन गया। जिस प्रकार मध्ययुग में व्यक्तिवादी दर्शन रूढ़ि-प्रिय हो गया था वैसे ही मार्क्सवाद नवीन चेतना को स्वीकार न कर अपनी जड़ता में ही मग्न है। अरविन्द ने इस जड़ता से ऊपर उठने का आवाहन किया था। अत उनकी विचारधारा ही माननीय है।

पन्तजी ने अरविन्द की ही तरह यह मौलिक प्रश्न उठाया है कि यह सुख दुःखात्मक जड जगत का बन्धन क्यों बनाया गया ? ब्रह्म ने अपने विनोद के लिए अन्तत हम सब जीवधारियों को कष्ट परम्परा में क्यों पटक दिया ? "विधि ने ऐसा विषम-विश्व, अह, किया क्यों सृजन ?" और इसका उत्तर भी कवि ने अरविन्द की पद्धति पर ही दिया है।

यह जगत अशुद्ध बुद्धि से देखने पर दुःखात्मक लगता है। तटस्थ होकर देखने से इसमें मूल सत्ता की आनन्दात्मक अभिव्यक्ति ही प्रतीत होती है। सुख-दुःख, आशा-निराशा, लाभ-हानि के प्रश्न संकुचित दृष्टि से देखने पर शाश्वत प्रतीत होते हैं। वस्तुतः वे सापेक्ष हैं। पर

* तन के मन में कहीं अन्तरित, आत्मा का मन है चिर ज्योतित।
इन छाया दृश्यों को जो, निज आभा से कर देता जीवित॥

निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर वे आनन्द के ही रूप हैं, उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है—

"धूप-छाँह यह जग, आशा में घुली निराशा।
राग द्वेष, सुख, दुःख सँग बँधी अमिट अभिलाषा॥
पाप, पुण्य औ मिथ्या सत्य जगत में गुंथित।
ज्योति तमस द्वन्द्वों से निश्चय संसृति निर्मित॥
जगत जीवन के कुछ अभ्यास, बन गए अब डर के विश्वास।
सद् असद् सदाचार व्यवहार, लिपट प्राणों से गए उदास॥"

खण्डित दृष्टि से देखने का ही यह परिणाम है कि जगत जीवन के कुछ अभ्यास हमारे विश्वास बन गए हैं। हमें अखण्ड दृष्टि से देखना होगा, बाह्य सामाजिक दृष्टि से आन्तरिक दृष्टि महान् है—

"सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन जीवन,
भर देगा भूखी धरती को, अन्तर्जीवन प्लावन।[1]

यह "ग्रह-ग्रथित रङ्गमय जगत मनुष्य की आत्ममुक्ति के लिए रचा गया है। इस 'आत्म मुक्ति' को ध्येय मान लेने पर—जड़ व चेतन को एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति मान लेने पर—सुख, भेद, वर्ग, वर्ण, जाति, युद्ध, स्पर्धा, सङ्घर्ष आदि की समस्यायें स्वतः शान्त हो जाती हैं—

वही ब्रह्म तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित।
वही फूल, मधु, सुरभि वही मधुलिह चिर गुञ्जित।
वस्तुभेद ये: चिर अमूर्त ही सब में मूर्तित।
वह अज्ञेय, स्वतः सञ्चालित, एक अखण्डित।
अधः ऊर्ध्व बहिरन्तर, उसके सृष्टि सञ्चरण।
सांत, अनन्त, अनित्य, नित्य का वह चिर दर्पण।

परन्तु वह जगत में व्याप्त होकर भी उससे परे है :—

---

[1] कवि ने कभी "ताक रहे हो गगन" कविता में मिट्टी की ओर देखने की प्रार्थना की थी, आज वह सामाजिक जीवन को गौण और आन्तरिक जीवन को मुख्य मानता है। यही है पन्तजी के चिन्तन की अरविन्दवाद के क्रोड़ में चरम परिणति। अब वे विश्वास करते हैं कि यह चिरन्तन चिन्तन भूखी धरती को सम्पन्न बना सकता है।

एक एकता से न बद्ध, बहु मुख शिख शोभन।
सर्व, सर्व से परे, अनिर्वचनीय, वह परम।

—स्वर्ण-किरण पृष्ठ १९६

'स्वर्ण-किरण' के 'अशोक वन' में भी कवि ने इसी अरविन्द-दर्शन के आधार पर सीता राम रावणादि को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया है। रावण युग-वैभव का प्रतीक था, प्रताप बुद्धि बल का स्तम्भ परन्तु वह आध्यात्मिक चेतना को मार्क्सवादियों की तरह स्वीकार नही करता था। अत 'प्रभु' ने अवतार लेकर मही-सुता मैथिली (नवीन चेतना) का उद्धार किया। आज के युग में भी भौतिकवाद रावण के समान विज्ञान, बुद्धि, वैभव, अभिमान, प्रताप, बल से युक्त है। वह आध्यात्मिक चेतना का तिरस्कार कर मदान्ध होता जा रहा है और भौतिक भोग पर ही उसकी आस्था है। अत पुनः इतिहास की पुनरावृत्ति होगी और विज्ञान अध्यात्मवाद की विजय होगी। भौतिकवाद रूपी रावण का नाश होगा। और तब भारत ही विश्व का अध्यात्म-गुरु बन कर शान्ति का प्रचार करेगा।

यह नवीन अध्यात्मवाद समन्वित दृष्टि को लेकर चलेगा। मध्यकालीन अध्यात्मवाद व योरोपीय अध्यात्मवाद समन्वय को लेकर नहीं चले। उन्होंने या तो भौतिक जगत को महत्त्व ही नहीं दिया और यदि दिया भी तो चेतना गौण स्थान दिया। अध्यात्मवादी सदा पारलौकिक दृष्टि को महत्त्व देते रहे। किन्तु अब अध्यात्मवाद में भौतिक क्षेत्र की उपलब्धियों का तिरस्कार नही होगा, जड़-तत्त्व को चेतना का ही एक रूप माना जायगा और जड़-तत्त्व से चेतना के उच्चतम शिखर तक पहुँचना ही जीवन का उद्देश्य निश्चित होगा। कला, दर्शन, धर्म, शासन सब इसी का प्रचार करेंगे। प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-चिन्तन के लिए सुविधाएँ दी जायँगी। आज ज्ञान की अलग-अलग भौतिकवादी शिविर व अध्यात्मवादी शिविरों मे बाँट दिया गया है। समन्वय करने वाली दृष्टि का लोप हो गया है—

'भाव सत्य' बोली मुख मटका, तुम-मैं की सीमा है बन्धन।
मुझे सुहाता बादल सा नभ मे, मिल जाना, खो अपनापन॥
बोली 'वस्तु-सत्य' मुख बिचका, मुझे नही भाता यह दर्शन।
भिन्न देह है जहाँ, भिन्न रुचि, भिन्न स्वभाव, भिन्न सबके मन॥

नहीं एक हैं भरे सभी गुण, द्वन्द्व जगत में हैं नारी नर।
स्नेही, द्रोही, मूर्ख, चतुर हैं, दीन, धनी, कुरूप औ सुन्दर॥
'आत्मसत्य' बोली मुसका कर, मुझे ज्ञात दोनों का कारण।
मैं दोनों को नहीं भूलती, दोनों का करती सञ्चालन॥
पंख खोल सपने उड़ जाते, सत्य न बढ़ पाता गिन गिन पग।
सामञ्जस्य न यदि दोनों में, रखती मैं, क्या चल सकता जग॥

—'स्वर्णधूलि'—पृष्ठ १०

अर्थात् भाव-सत्य (मध्यकालीन आदर्शवाद) व वस्तु सत्य (भौतिकवाद, विज्ञानवाद, बुद्धिवाद) दोनों अपूर्ण और एकाङ्गी हैं। आत्मा के द्वारा (अन्तर्चेतना के द्वारा) निर्धारित ज्ञान ही अनेकता में एकता का दर्शन कराता है। बुद्धि व मन दोनों सत्य का निर्णय करने में असमर्थ हैं। ये सत्य का एक अंश ही देख पाते हैं; उसे भी खण्डों में बाँट कर देखते हैं और सामञ्जस्य की ओर नहीं बढ़ते। किन्तु आज मनुष्य की दृष्टि सामने की ओर देखती है, भौतिकता के आकर्षण से जग-जीवन रण-जर्जर हो गया है। वह ऊपर की ओर—ब्रह्म की ओर देख ही नहीं पाता। अतः पन्तजी इस सामञ्जस्य को ही वाणी देते हैं जिसमें भौतिकवाद को शरीर व अध्यात्मवाद को हृदय के स्थान पर मानलिया जाय। मार्क्सवादी लौह-मुष्टि ने आत्मा की कोमलता की ओर देखना बन्द कर दिया है परन्तु वह निश्चय है कि ऐसी क्रूर-मुष्टि पिघल जाएगी और जनबल से महान, मनुष्यत्व की क्षमता प्रमाणित होगी।[1] विज्ञान के बल पर आज भौतिकवादी अहम्मन्य हो उठा है अतः युद्ध के रूपमें अपने अहङ्कार का प्रदर्शन करना चाहता है, जिससे वह स्वयं नष्ट हो जायगा। ऐसा क्यों है? मन को ही सत्य के निर्णय का मुख्य साधन मान लेने के कारण[2]। अत. मन के पुत्र (वैज्ञानिक व भौतिकवादी) अपने ही आविष्कारों से विनष्ट होंगे. आत्म-चेतना ही

[1] 'स्वर्ण-धूलि'—पृष्ठ १३

[2] "भूत प्रेत ये मनोभूमि के सदियों से ये पाले पोसे,
ऊर्ध्व-मनुज ये नहीं, अधोमुख, उलटे जिनके जीवन मान
अन्धकार खींचता इन्हें है, गाता रुधिर प्रलय के गान"

—स्वर्णधूलि

जड़ तत्त्व को शासित करती है, और ये उसे मानते नहीं है, यदि आत्मा को मानले तो इन मादक आविष्कारों पर अनुशासन हो जाय और उनका प्रयोग मानव के सुधारों के लिए होने लगे। अत ऊर्ध्व-मुखता की आवश्यकता है, तभी वे महान बन सकेंगे।

अरविन्द-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता अबतक के प्रत्येक क्षेत्र के ज्ञानों मे, उपनिषद के आधार पर, समन्वय खोजने की प्रवृत्ति है। उनकी दूसरी विशेषता चेतना के अनेक स्तरों की कल्पना है, जिसके बल पर वे ऐसा समन्वय खोज सके हैं।[1] यदि आप इन स्तरों (ऊर्ध्व-चेतन, मन, जीवन, मैटर) आदि के विभाजन को न स्वीकार करे तो अरविन्द का दर्शन समाप्त हो जाता है। पन्तजी भौतिकवाद की एकाङ्गिता से पीड़ित होकर इन दोनों विशेषताओं को स्वीकार करते हैं और काव्य मे इन्ही दो का अधिक प्रचार करते है। अत अरविन्द-दर्शन के अन्य सूक्ष्म विवरण उनकी कविता मे नहीं मिलते, वे बार-बार मन और ऊर्ध्व-चेतना की ही पुनरावृत्ति कर, समन्वय की प्रेरणा उत्पन्न करते रहते हैं—

'ऊर्ध्व-मनुज बनना महान है,
वे प्रकाश की हैं सन्तान।
ऊर्ध्व मनुज बनना महान है,
करना उन्हें आत्म-निर्माण।"

—'स्वर्णधूलि'—पृष्ठ ३०

चूँकि ऊर्ध्व-चेतन की ओर चलना ही अरविन्द के योग-दर्शन का मुख्य लक्ष्य है। अत पन्तजी भी इस नवीन-चेतना के अनेक प्रकार से गीत गाते हैं। अरविन्द ने इस चेतना को अनुभूति के माध्यम से और पन्तजी ने कल्पना के माध्यम से ग्रहण किया है। अत कवि की कल्पना के पङ्ख नवीन चेतना का वर्णन करते समय खुल जाते हैं और इसने वह प्रकृति को प्रतीकों के रूप मे स्वीकार कर, उनके

---

[1] To reach the reconciliation, it must traverse the degrees with our consciousness imposes on us and (we) arrive at the repose of the ultimate unity without denying the energy of the expressive multiplicity

माध्यम से इस नवीन चेतना के गीत गाता रहता है, और आज के कलाकार का यही उद्देश्य ठहराता है क्योंकि इसमे ज्ञान में समन्वय के साथ-साथ, देश, जाति, वर्ण, वर्ग, युद्ध, अशान्ति, राग-द्वेष, कलह, प्रतियोगिता आदि के द्वन्द्वों का विनाश हो जायगा। यही कारण है कि पन्तजी के काव्य में मनुष्यत्व के विकास के लिए इस नूतन-चेतना की अत्यधिक आवश्यकता है। इससे बढ़ती हुई सामाजिकता (मार्क्सवाद) के साथ-साथ व्यक्तित्व के विकास की असीम सम्भावनाएँ सुरक्षित हैं। अतः अरविन्द-दर्शन के सूक्ष्म विवरणों को न देकर, कवि पन्त उसके उन तत्त्वों का ही अधिक प्रचार करते हैं जिनसे सामञ्जस्य सम्भव हैं। साधना की स्थितियों मे क्या-क्या अनुभव होते हैं, इसका वर्णन वे कम करते हैं, जैसा कि अरविन्द मे मिलता है। वे समझते हैं कि मार्क्सवादी 'सामाजिकता' व्यक्ति के विकास में बाधक है अतः उसका विरोध उनके दर्शन द्वारा ही सम्भव है। अत. यह कार्य वे बड़े ही उत्साह से कर रहे हैं। अरविन्द ने दार्शनिक दृष्टि से भौतिकवाद को स्वीकार-अस्वीकार कर अपने योग पर अधिक ध्यान दिया है, पन्त ने मानवतावादी दृष्टि से मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पक्ष का खण्डन कर, सामान्य मानवतावादी तत्त्वों का प्रचार किया है। यह है पन्त व अरविन्द की "एप्रोच" का अन्तर। इसीलिए पन्तजी साम्यवादियों पर जितने सीधे आक्रमण करते है, उतने अरविन्द नही क्योंकि अरविन्द समाज से निरपेक्ष व तटस्थ रह कर प्रचार करते थे। पन्तजी को मार्क्सवादियों के प्रहारों का जो 'मन' में अनुभव हुआ है उसे वे 'ऊर्ध्व-चेतन' के गीत गाने पर भी न दबा सके। उनकी इस 'कसक' का वर्णन जितना स्पष्ट हम उनके काव्य-रूपकों में देखते है, उतना स्पष्ट वर्णन 'स्वर्ण-किरण', व 'स्वर्ण-धूलि' मे नहीं मिलता, 'उत्तरा' मे भी नहीं।

'ग्राम्या' से 'स्वर्ण-किरण' और स्वर्णधूलि तक आकर पन्तजी प्राचीन सत्याग्रहवाद का पुन प्रचार करने लगे है, यह अरविन्द-दर्शन नहीं. अरविन्द-दर्शन का परिणाम है, जो भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का समन्वय स्वीकार करके भी, भौतिक जगत की समस्याओं की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी "आत्मोन्मुखता" की करता है। प्रमाण यह है कि १५ अगस्त (१९५५) के 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में

भी वह 'गोआ', पर नहीं लिखता, 'पटना' के पुलिस अत्याचार पर नहीं लिखता, "स्वर्ण-किरण" पर लिखता है। समन्वय अच्छी चीज है, परन्तु जब वह सम्भव हो। पन्तजी समन्वय की खोज में पैगम्बर बनते गए हैं और उनका काव्य भी "पैगम्बरी-काव्य" बन गया है। अतः भौतिक समस्याओं के हल में भी, जन-सङ्गठन व उसके दबाव को स्वीकार न कर सन्तों व वैरागियों की तरह वे आत्मसमर्पण का पाठ पढ़ाते हैं। 'मानसी' रूपक में उच्च वर्ग को उनका उपदेश है—

"अब भी चाहो पा सकते तुम जन मन पूजन,
जन मङ्गल के लिए करो जो विभव समर्पण।
जन सेवा व्रत के चिर व्रती, रहो तुम दृढ़ प्रण,
संस्कृति, ज्ञान, कला का करना सीखो पोषण॥"

कितना सुन्दर क्रियाहीन उपदेश है। उच्चवर्ग सदा से ऐसे उपदेश सुनता आया है और हँसकर टाल देता है, माँगने पर लापरवाही से कुछ टुकड़े फेंकदेता है, बस। १५ अगस्त सन् १९४७ पर समन्वय चाहने वाला कवि 'स्वतन्त्रता-दिवस' के आगमन पर आध्यात्मिक शक्ति की विजय समझता है, समदिक् धरातल पर होने वाले सङ्घर्ष तथा अनेकशः, अज्ञात बलिदानों के लिए एक पंक्ति भी नहीं लिखता उसके लिए—

"शान्त हुआ अब, युग-युग का भौतिक सङ्घर्षण।
मुक्त चेतना भारत की यह करती घोषण॥"

यह निर्णय कैसे निकाल लिया गया? इसका उत्तर यही है कि वह आध्यात्मिक तत्त्वों को ही मुख्य मानने का परिणाम है। पन्तजी ने 'स्वर्ण-धूलि' में "देव-काव्य" शीर्षक से एक कविता लिखी है, वस्तुत वह 'देव-काव्य' ही है, उसमें मानवीय तत्त्व कम हैं।

(२) उत्तरा

'स्वर्ण किरण' व 'स्वर्णधूलि' के पश्चात् सङ्कीर्णतावादी साम्यवादियों की प्रतिक्रिया अत्यधिक कठोर हुई और इसलिए पन्तजी ने 'उत्तरा' की भूमिका में अपने पक्ष को स्पष्ट करने के लिए अरविन्द-दर्शन की सहायता लेकर साम्यवादियों को उत्तर दिए हैं। साथ ही पीछे के काव्यों में नवीन दृष्टि से सामञ्जस्य खोजने का प्रयत्न किया है। हम सर्व प्रथम पन्तजी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करेंगे तत्पश्चात् उनकी मान्यताओं पर विचार करेंगे।

यह भूमिका अनेक प्रकार की भ्रांतियों का उत्तर देने के लिए लिखी गई है। पन्तजी के अनुसार आज का युग 'संक्रान्ति-युग' है, क्यों ? क्योंकि अरविन्द ने कहा है कि मध्यकाल के दार्शनिकों ने भौतिक तत्त्व को महत्त्व नहीं दिया, यह अतिवाद था और दूसरी ओर भौतिकवादियों ने केवल भौतिक तत्त्व को ही महत्त्व दिया, चेतना को उसी से विकसित रूप माना, अत. यह दूसरा अतिवाद था। चूँकि ये दोनों कार्य बुद्धि के परिणाम थे और बुद्धि की सीमायें हैं, सीमित बुद्धि से असीम एकता का निर्धारण सम्भव नहीं है। अतः वैविध्य प्रधान विश्व में एकता की खोज अन्तर्चेतना से ही हो सकती है। यह सामञ्जस्य की भावना तभी उत्पन्न हो सकी है जब चिन्तन अपने अतिवादी स्वरूपों में उपस्थित हुआ। यदि 'मायावाद' जगत की सत्ता का निषेध न करता, यदि मार्क्सवाद 'मैटर' को ही सर्वस्व न मान लेता तो सामञ्जस्य खोजने की प्रवृत्ति उत्पन्न ही न होती। अत. उक्त दोनों चिन्तन-धाराओं के अतिवादी रूप सामञ्जस्य की प्रेरणा उत्पन्न करने म सहायक हुए और चिन्तन के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अध्यात्मवाद व मार्क्सवाद दोनों की उपयोगिता सिद्ध होगई।

आज मार्क्सवाद या भौतिकवाद का प्रभाव है, और कुछ लोग मध्यकालीन मायावाद, शून्यवाद आदि उन विचारधाराओं को मानते हैं जो जगत को महत्त्व नहीं देती। अतः सामञ्जस्य खोजने की प्रबल प्रेरणा कुछ मनीषियों में उत्पन्न हुई, जिनमें अरविन्द का नाम अग्रगण्य है, जिन्होंने 'सामञ्जस्य' पर जोर दिया और कहा कि यह असम्भव है कि भौतिकवाद सर्वदा ही आध्यत्मिक भूख को दबाने में सफल रहेगा। आज आध्यात्मिक भूख प्रबल हो रही है, आन्तरिक मन यह स्वीकार नहीं करता कि मन के परे कोई शक्ति नहीं है। अत आज हमें मन से ऊपर जो चेतना है, उसका आभास मिल रहा है, जो हमें यह स्वीकार करने को विवश करती है कि एक आध्यात्मिक प्यास तभी पुष्ट होगी जब मन, जीवन और मैटर के बन्धन में बद्ध आत्मा का उद्धार होगा। अतः मात्र भौतिक उन्नति ही हमारा ध्येय नहीं है। हमें व्यापक मानवता को समृद्ध करने के लिए 'नवीन चेतना' में विश्वास करना ही होगा, जो हमारे आन्तरिक विकास के लिए असीमित, अज्ञात क्षेत्र खोल देती है, जिससे ज्ञान, शान्ति, मानवता, विश्व-प्रेम आदि दैवी गुणों की सम्भावनायें

बढ़ जाती हैं किन्तु साथ ही हमारी अन्तरात्मा यह भी अब स्वीकार नहीं करती कि ब्रह्म का क्रीडास्थल यह भौतिक जगत मिथ्या है। इसलिए हमे मध्यकालीन निषेधात्मक सस्कृति का विरोध भी करना है, साथ ही भौतिकवाद की जड़वादी प्रवृत्ति का भी निराकरण करना है। ये दोनों कार्य आज मुख्य हैं जिनमें मध्यकालीन निषेधात्मकता का विरोध कर मार्क्सवाद ने उसे समाप्त कर दिया है। अब आजकी स्थिति में, मार्क्सवाद की जडवादिता का युग है। साथ ही हमें नूतन आध्यात्मिक चेतना का भी अनुभव हो रहा है। अत यह युग संक्रान्ति का युग है। हमें दोनो में से एक को चुन लेना है। व्यापक दृष्टि से देखने पर 'नूतन-चेतना' को ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि जडवाद का मार्ग सुविधा जनक अवश्य है क्योंकि वह जड़-त व को ही स्वीकार कर चेतना सम्बन्धी अनेक शाश्वत प्रश्नों को टालकर मनुष्य के आन्तरिक, दिव्य, अनुभवों व आत्मा की साक्षी को अस्वीकार कर देता है, जिसका अनुभव हम बराबर अपने जीवन में करते हैं। अत उसका विरोध करना ही होगा।

पन्तजी ने 'नूतन-काव्य" में अरविन्द की उक्त चिन्तन-पद्धति को पूर्णतया स्वीकार कर मार्क्सवाद का खण्डन किया है। इस 'नूतन-चेतना' के गीत ही 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा' आदि में गाये गए है, यों तो 'ज्योत्सना' मे कवि ने जड़वाद को ही सारे दुःखों का कारण माना था। पाठक इससे परिचित हो चुके हैं। 'ज्योत्सना' में चन्द्र की पत्नी 'चाँदनी' कवि के अनुसार 'चेतना' की प्रतीक है। 'गुञ्जन' मे भी यत्र-तत्र इस 'नूतन चेतनावाद' की प्रतिध्वनि मिलती है। कवि का कथन स्पष्ट है कि जो लोग केवल बाह्य दृष्टि से 'युगवाणी'-'युगान्त'-काल को नूतन काव्य का सर्वथा विरोधी मानते हैं, वे भ्रम में हैं क्योंकि कवि ने 'ज्योत्सना' मे आन्तरिक चेतना व बाह्य भौतिकवाद का समन्वय किया है और उससे इस युग में मानवता का किस प्रकार हित हो सकता है, यह बताया है।*

---

* यह बात दूसरी है कि 'ज्योत्सना' के इस समन्वय से मानवता का हित न हो, पर कवि का विश्वास ऐसा ही है—विश्वास या अन्धविश्वास विवेक पर कम, आस्था पर अधिक आधारित रहता है—लेखक

मैंने कहा था कि पन्तजी के सारे काव्य में एक ही आध्यात्मिक आस्था का विकास मिलता है। अरविन्द से प्रभावित होने के पूर्व भी वह ब्रह्मवादी था और अरविन्द से प्रभावित काव्य मे तो वह उसको स्पष्ट रूप से स्वीकार ही करता है। बीच के काव्यों में—'युगवाणी' 'युगान्त' आदि में—मार्क्सवाद से प्रभावित कुछ कविताएँ हैं, साथ ही अध्यात्मवाद से प्रभावित प्राचीन धारा की कविताएँ भी हैं, यह हम दिखा चुके हैं। नूतन समन्वित दृष्टि के विकसित होने पर पन्तजी ने बताया कि वस्तुत 'युगवाणी' व 'ग्राम्या' में जो बाह्य सङ्घर्ष की प्रधानता मिलती है, उसका कारण चेतना का समदिक् धरातल पर संचरण है। अर्थात् कवि वहाँ बहिर्मुख अधिक रहा है। उसे अन्तर्मुख-प्रधान काव्य 'स्वर्ण-किरण', 'उत्तरा' आदि का विरोधी काव्य न मानना चाहिए क्योंकि 'ग्राम्या' आदि में कवि की वृत्ति बाह्य संघर्षों पर अधिक रही है और 'स्वर्णकिरण' आदि में आन्तरिक सङ्घर्षों पर। अत जैसे एक ही चेतना जड़ व चेतन (जीवात्मा) दोनों रूपों में अभिव्यक्त होती हैं, उसी प्रकार कवि की एक ही चेतना जब भौतिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देती है तो वह मार्क्सवाद को स्वीकार कर लेता है और 'ग्राम्या' आदि में उसे वाणी देता है, जब आध्यात्मिक उन्नति की ओर उन्मुख होता है तो वह आध्यात्मिक नूतन चेतना को 'स्वर्णकिरण' आदि मे वाणी देता है। साथ ही 'ग्राम्या-काल' की रचनाओं मे केवल भौतिकवादी प्रवृत्ति नहीं है, वहाँ आध्यात्मिकता प्रधान रचनाएँ भी हैं। अत यह कहना कि पन्तजी अमुक संवत् तक अध्यात्मवादी रहे फिर प्रगतिवादी हो गए (अपने तथाकथित अर्थ में) और फिर अध्यात्मवादी हो गए, गलत है, स्वय कवि की साक्षी हमारे साथ है। कवि की दृष्टि मे सर्वत्र समन्वय की भावना विद्यमान है। 'ग्राम्या' आदि मे समतल धरातल पर—लौकिक धरातल पर आध्यात्मिक सत्यों का समन्वय किया गया है—अर्थात् यह कहा गया है कि अध्यात्मवाद तभी पूर्ण होगा जब भौतिक उन्नति को स्वीकार किया जाय। अत मार्क्सवाद के एक पक्ष को स्वीकार किया जाय। 'स्वर्ण-काव्य' मे समतल मान्यताओं का उच्च धरातल पर समन्वय किया गया है अर्थात् कोरा भौतिकवाद एकाङ्गी है। जब तक आध्यात्मिक क्षेत्र की असीम सम्भावनाओं को स्वीकार न किया जायगा, भौतिकवाद व्यक्तित्व का विकास न कर सकेगा, मानवता अधिक व्यापक,

समृद्ध, कोमल व दिव्यता से युक्त न हो सकेगी। इस समन्वयवाद को यों समझना चाहिए—

क्रम	रचनायें	मान्यताएँ और धरातल (स्तर)	समन्वय
१	युगवाणी, युगान्त, ग्राम्या।	ऊर्ध्व मान्यताएँ और सम धरातल।	अध्यात्म + भौतिकवाद=समन्वय
२	स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा, रजतशिखर, अतिमा आदि।	समतल मान्यताएँ=(भौतिक जगत् संबंधी) और ऊर्ध्व-धरातल=(आध्यात्मिक क्षेत्र)	भौतिकवाद + अध्यात्म=समन्वय

इस 'समन्वय' से स्पष्ट है कि पन्तजी एक विकसित चेतना के कवि रहे हैं उन्होंने अध्यात्मवादी आस्था रखने पर भी मार्क्सवादी मान्यताओं के विना अपने प्रारम्भ के अध्यात्मवाद को अधूरा समझा है और बाद के काव्यों में आध्यात्मिक मान्यताओं के विना 'मार्क्सवाद' को अधूरा समझा है। इस प्रकार कवि की दृष्टि समन्वय पर सर्वदा से ही रही है। यह बात दूसरी है कि वह सन् ४० के बाद अपने उपर्युक्त समन्वय को अरविन्द की भाषा मे कहने योग्य हो गया है क्योंकि अरविन्द को पढ़ने से पूर्व समतल व ऊर्ध्व-धरातलों से वह परिचित न था। तब उसका आस्थाशील मन मार्क्सवादी युग में भी, वही सब कुछ है, उससे आगे कुछ नही यह स्वीकार नही करता था। मार्क्सवाद को पूर्णतया स्वीकार न करने के उद्धरण देकर मैं पीछे के पृष्ठों मे कवि की चेतना का विकास स्पष्ट कर चुका हूँ।

'समन्वय' को समझाकर मार्क्सवाद व भारतीय मार्क्सवादी आलोचकों के सम्बन्ध में कवि कहता है कि वह वर्ग-युद्ध व रक्त-क्रान्ति को स्वीकार नहीं करता। यद्यपि 'ग्राम्या' में वह 'हिंसा' को नीति के रूप में एक दो जगह दवी जवान से स्वीकार कर चुका है तथापि उसका मुख्य स्वर यही रहा है कि यदि मार्क्सवाद का वर्ग-वैषम्य नाश का उद्देश्य अहिंसा से ही हो जाय तो अधिक अच्छा हो। इसके लिए वह गाधीजी की ओर देखता रहा है और सोचता है कि

जब देश की स्वतन्त्रता अहिंसा से मिल सकती है तो वर्ग-वैषम्य उससे क्यों नहीं मिट सकता ? आज के युग में विनोबा ऐसा ही प्रयत्न कर रहे हैं। नवीनतम कविताओं में कवि ने अहिंसा को अस्त्र और साध्य दोनों रूपों मे स्वीकार किया है। यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है और इस पर हम यहाँ विचार नहीं कर सकते। कवि वर्ग-युद्ध व रक्त-क्रान्ति को मार्क्स के युग के लिए अनिवार्य मानता है क्योंकि तब यही परिस्थिति थी। योरोप में आर्थिक दासता के बन्धन से मुक्ति तब युद्ध के बिना असम्भव थी। ऐसा कवि का विश्वास है।

जिन मार्क्सवादी आलोचकों ने पन्तजी पर लिखा, उन्हें कवि राजनैनिक कम्यूनिस्ट बताता है और यह ठीक है। कवि की दृष्टि मे मार्क्सवाद को सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकार करने पर उसमें जनता की हित-भावना आदरणीय है परन्तु राजनैतिक साम्यवादी रक्त-क्रान्ति व वर्ग-सङ्घर्ष को भी स्वीकार करते हैं। वस्तुतः यह विभाजन गलत है क्योंकि राजनीति, संस्कृति, साहित्य आदि ऐसा कोई विभाजन नहीं है परन्तु यहाँ हमें कवि के दृष्टिकोण को समझना है। कवि की दृष्टि से ऐसे कम्यूनिस्ट आलोचक कवि के अतिरिक्त उसके प्रशंसकों से अधिक क्षुब्ध है, साथ ही उनमे स्पर्धा, द्वेष, सङ्कीर्णता है। 'मार्क्सवाद' के सम्बन्ध में चाहे हमारा मत कवि से भिन्न हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पन्तजी पर कम्यूनिस्ट आलोचकों ने जो आलोचनाएँ लिखी हैं, उनमें घोर सङ्कीर्णतावाद व व्यक्तिगत विद्वेष अवश्य है। मार्क्सवादी दृष्टि से कवि का वैज्ञानिक मूल्याङ्कन ये आलोचक नहीं कर सके, गाली-गलौज, व्यक्तिगत आक्षेप व नारेबाजी पर उतर आए। अतः पन्तजी की यह मान्यता कम से कम हमें मान्य है।

कवि की दृष्टि से यह युग राजनैतिक दृष्टि से जनतन्त्र का युग, व सांस्कृतिक दृष्टि मे विश्व-मानवता का युग है और वर्ग-युद्ध एक राज-नैतिक प्रोग्राम मात्र है। वह सार्वकालिक व सार्वदेशिक नहीं है। न यह कहा जा सकता है कि उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। यह मार्क्सवाद का विरोध है और यह विरोध पन्तजी को मार्क्सवादी नहीं रहने देता। उन्हे 'वर्ग-समझौतावादी' और मानवता-वादी सुधारक बना देता है क्योंकि मार्क्सवादी दर्शन का मुख्य आधार ही 'वर्ग-सङ्घर्ष' है। उत्पादन व उसके सम्बन्धों को ही वह दर्शन, धर्म, सामाजिक व्यवस्था, कला आदि का आधार मानता है

और उत्पादन व्यवस्था में सर्वदा दो वर्ग रहे हैं—भोक्ता वर्ग और उत्पादक वर्ग। आज तक का प्रत्येक देश का इतिहास इस बात का साक्षी है। स्वयं पन्तजी ने राम व कृष्ण को कृषि-युग का नेता स्वीकार किया है। अत. उत्पादन के आधार पर समाज के विकास को न मानना और वर्गों के सङ्घर्ष को स्वीकार न करना 'वदतोव्याघात' दोष है और साथ ही यदि वर्ग-सङ्घर्ष को पन्तजी स्वीकार नही करते तो उनके नष्ट करने का प्रयत्न क्यों किया जाय? गान्धीजी वर्ग-समझौतावादी थे और स्पष्ट कहते थे कि हमारे राज्य में धनी, निर्धन दोनों रहेंगे किन्तु धनपतियों का हृदय-परिवर्तन हो जायगा। वे सम्पत्ति को सामाजिक धरोहर समझेंगे। इसे ही मार्क्सवाद आदर्शवाद कहता है, क्योंकि यह यथार्थ समाधान नहीं है, कल्पित राम-राज्य की भावना है जो समाज के विकास के इतिहास को भावना से झुठलाना चाहती है, त्याज्य है। परन्तु पन्तजी जब मार्क्सवाद के आधारभूत सिद्धान्त को ही अब अस्वीकार करते हैं तो स्पष्ट है कि उनका 'समन्वय' वायवी समन्वय है, 'मन चाहा समन्वय' है। उनके इस समन्वय से 'वर्ग-समझौतावाद' पुष्ट होता है और सामान्य पाठक पर इस समन्वय का प्रभाव यह होता है कि वह 'ऊर्ध्व-चेतना' के दिवा-स्वप्न में ऐसा उलझता है कि वह जगत की ओर देखना एक निम्न-चेतना के स्तर का कार्य समझता है। परिणाम इस समन्वय का वही होता है जो शङ्कर के 'मायावाद' का हुआ था। अत परिणाम की दृष्टि से 'मायावाद' व 'अरविन्दवाद' दोनों सहोदर भाई हैं। दोनों उपनिषदों से उत्पन्न हुए हैं और दोनों ही अपने-अपने ढङ्ग से आध्यात्मिक शिविर को अर्थात् उस शिविर को जिसमें यथार्थ समस्याओं को टालने का ध्येय रहता है, पुष्ट करते हैं। 'मायावादी' मार्क्सवाद के लिए अरविन्दवादी से कम खतरनाक है क्योंकि उसके अन्तर्विरोध साफ सामने आ जाते हैं जबकि अरविन्दवाद के 'समन्वय-वाद' का स्वरूप सामान्य पाठक को कुछ समय तक बड़ा मनोहर, तर्कसङ्गत, वैज्ञानिक और ग्रहणीय प्रतीत होता है, किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि वह 'मायावाद' से भी अधिक पूर्वाग्रहों से पीड़ित दर्शन है। अत पन्तजी वर्ग-सङ्घर्ष को अस्वीकृत कर जब 'मार्क्सवाद' को सुविधा देने की प्रणाली का अनुगमन करते हैं तो उनका 'मार्क्स-विरोधी' रूप स्पष्ट हो जाता है और इस बात से क्रोधित होकर उन्हें

गाली देने से कोई लाभ न होगा। देश में ऐसे बहुत से कवि हैं जो मार्क्सवादी नहीं है और कवि हैं, और अच्छे कवि हैं, उनमें ऐसे तत्त्व भी है जो जनता को आगे बढ़ाते हैं, उनमें जन-कल्याण की भावना भी है, भावना को उदात्त बनाने की उनमें शक्ति भी है। परन्तु यदि वे 'मार्क्सवाद' के एक पक्ष को स्वीकार न कर, अपने निजी विश्वासों को मानते रहते हैं तो उन्हें उसी मानवतावादी परम्परा में रखकर देखना होगा जो शताब्दियों से देश में चली आ रही है। तुलसी, सूर, कबीर मार्क्सवादी न थे परन्तु उन्होंने अपने हृदय की स्वाभाविक सद्भावना, मानव के प्रति प्रेम, जगत-कल्याण को लालसा, आदि शुभ मानवीय भावनाओं से युक्त साहित्य का सृजन किया और अपने वर्ग-स्वार्थों की रक्षा का भी उसी प्रकार प्रयत्न किया जिस प्रकार पन्तजी कर रहे हैं। जिस प्रकार यह तुलसी, सूर आदि की ऐतिहासिक सीमा थी, उसी प्रकार पन्तजी के साथ उनके उच्च मध्यवर्ग के गतानुगतिक संस्कारों की सीमा है, जिन्हें वे कभी नहीं छोड़ पाते, अपने मार्क्सवादी प्रभाव के युग में भी वे उनसे मुक्त नहीं हो पाए और आज उन संस्कारों की रक्षा के लिए उन्हें अरविन्द के दर्शन का अस्त्र मिल गया, जिसका प्रयोग वे जागरूक होकर 'मार्क्सवाद' पर कर रहे हैं। इसका विवेकशील आलोचक की तरह खण्डन होना आवश्यक है। कवि जब व्यक्तिगत निरपेक्ष विश्वासों को, सामाजिक विकास के लिए आवश्यक बताकर उनकी प्राप्ति को ही मुख्य मानने लगता है तो उसका खण्डन आवश्यक है। परन्तु खण्डन का अर्थ यह नहीं कि कवि में उसके प्रतिगामी 'दर्शन' के साथ साथ अभिव्यक्त मानवता के लिए श्रेयस्कर तत्त्वों की ओर भी हमारी दृष्टि न जाए और हम शान्ति, राष्ट्रीयता, संयम, उदारता, व्यापक विश्व-मानवता के तत्त्वों को पुष्ट करने वाली उसकी देन को स्वीकार न करें, यह हमारी कृपणता होगी। किन्तु हिन्दी का यह दुर्भाग्य है कि भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा को न समझ कर, सङ्कीर्णतावादी आलोचकों ने आक्षेपों और विकृतियों की खोज को ही आलोचना मान लिया है। यही नहीं, वर्ग-सङ्घर्ष और रक्त-क्रान्ति के समर्थक तथा उसे वाणी देने वाले मार्क्सवादी लेखक भी जब इन तानाशाह कुत्सित समाजशास्त्रियों के स्वर में स्वर न मिला कर किंचित मत-भेद प्रकट करते हैं तो उन्हें भी उसी 'कुत्सितता' का शिकार होना

पड़ता है। इसका कारण पन्तजी ने ठीक बताया है कि ऐसे विचारक साहित्यिक विद्वेष से अभी ऊपर नहीं उठ सके, सांस्कृतिक दृष्टि से वस्तुतः ऐसे विचारक अभी पिछड़े हुए लोगों में से हैं।

पन्तजी का दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक, आर्थिक आन्दोलनों से अर्थात् साम्यवाद से मनुष्य जाति के भविष्य का निर्माण न होगा। परन्तु यह मान्यता ही गलत है कि मार्क्सवाद केवल राजनैतिक, आर्थिक आन्दोलन है, 'मार्क्सवाद' का वस्तुत. आन्तरिक पक्ष बाह्य पक्ष से अधिक पुष्ट है क्योंकि वह विवेक को ही कसौटी मानता है, अन्ध-श्रद्धा को नही जैसा कि पन्तजी मानते हैं और इस देश के अधिकतर व्यक्ति मानते हैं। 'मार्क्सवाद' ही ऐसे व्यक्तियों की एकमात्र औषधि है परन्तु उनकी आस्था पर जब मार्क्सवाद प्रहार करता है तो वे 'मार्क्सवाद' के उस पक्ष को स्वीकार नही करते जो कल्पना की लम्बी उड़ानों में ही समय नष्ट न कर, मनुष्य के भविष्य को अधिक सुखमय बनाने के प्रयत्न में रत हो जाता है। ऐसे व्यक्ति श्रद्धा के आधार पर नए-नए भविष्यों की कल्पना तो कर लेते हैं परन्तु क्रियात्मक अनुभव से अपने कल्पित अनुभवों को कभी भी शुद्ध करने को प्रस्तुत नही होते क्योंकि 'कल्पना के सत्य' को ही वे सब से बड़ा सत्य मानते हैं। अतः मार्क्सवाद को जीवन-दर्शन के रूप में देखना व स्वीकार करना चाहिए, केवल वर्ग-विषमता को मिटाने वाले राजनैतिक कार्यक्रम के रूप में नहीं। पन्तजी यह नही कर सके।

इतिहास गवाह है कि प्राचीन युगों मे भी व्यक्तिगत अनुभवों को ही दर्शन का रूप दे कर, उसका आन्दोलन (सम्प्रदाय) खड़ा कर उसे ही प्रचारित करने का प्रयत्न होता रहा है। सामाजिक दृष्टि से देखने और समाज व व्यक्ति का यथार्थ सम्बन्ध समझने का प्रयत्न दार्शनिकों ने नही किया। इसीलिए अद्वैतवादी, शून्यवादी, वाममार्गी, नाथ-पन्थी, रहस्यवादी, वैष्णव-पन्थी आदि अनेक सम्प्रदाय चले। उनके दर्शनों के माध्यम से व्यक्ति ने अनेक अनुभव किये, पर वह मुक्त न हो सका क्योंकि उसके चिन्तन मे पूर्वाग्रह प्रधान था, व्यक्तिगत तत्त्व-प्रधान था। वह निजी दृष्टि से विश्व को देखता रहा और अनेक विचित्र साधनाओं मे उलझा रहा। ऐसी ही एक साधना अरविन्दवाद में भी बताई गई है, जो पन्तजी को सब से अधिक वैज्ञानिक लगती

है। मार्क्सवाद इसे स्वीकार न कर मनुष्य से विवेकशील बनने की अपील करता है। अतः वह मात्र राजनैतिक कार्यक्रम नही है, वह मनुष्य के दृष्टिकोण को अधिक तर्क-सङ्गत और अधिक विवेकपूर्ण बनाता है, उसे अपूर्ण कह कर नए-नए धार्मिक आन्दोलनों को खड़ा कर अगणित सम्प्रदायों में एक और गिनती बढ़ा देने के अतिरिक्त अन्य कुछ लाभ न होगा। परन्तु पन्तजी कहते हैं कि आज एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है जो चेतना के सम्पूर्ण धरातलों में समन्वय स्थापित कर सके, भौतिकवाद व अध्यात्मवाद दोनों में सन्तुलन खोज सके। इस आन्दोलन का पूर्वाभास (कवि के अनुसार) उसे गांधीजी के व्यक्तित्व मे मिलता है, यह पन्तजी की श्रद्धा का प्रश्न है, अत: कुछ न कहना ही उचित है।

पन्तजी के अनुसार आज का युग 'जन-युग' है इसे मानवतावादी युग मे तभी बदला जा सकेगा जब कि सांस्कृतिक आन्दोलनों का प्रारम्भ होगा, तभी सच्ची प्रगति होगी। केवल वर्ग-सङ्घर्ष को उत्तेजित करना सच्ची प्रगति नही है अतः सुधार के लिए किए प्रयत्नों का भी मूल्य है और वे भी मानवता के विकास के लिए अनिवार्य तत्त्व हैं। मार्क्सवाद चूँकि कवि के अनुसार रोजी-रोटी की समस्या को ही हल करने का साधन मात्र है इसलिए आन्तरिक मन के सङ्गठन के लिए 'गांधीवाद' को स्वीकार कर लेना कल्याणकर होगा जिससे क्रान्ति के आन्तरिक पक्ष (मन की क्रान्ति) को बल मिलेगा और क्रान्ति, विकास, सुधार, जागरण के प्रयत्नों से एक नवीन संस्कृति का जन्म होगा जिससे मैटर, जीवन और मन मे परिवर्तन हो जायगा और ऊर्ध्व-चेतना की ओर विश्व उन्मुख हो जायगा, तब विविधता, वर्ग-द्वन्द्व, वर्ण, जाति, देश आदि के अनेक कटघरों में विभाजित जनता पूर्ण एकता का अनुभव करेगी और ये सारे द्वन्द्व स्वयंमेव नष्ट हो जायँगे (पन्तजी की इस सांस्कृतिक-चेतना का नाम 'अन्तर्चेतना' या 'नवीन सगुण' है) और जब अध्यात्मवाद व भौतिकवाद का समन्वय हो जायगा अर्थात् भौतिक दृष्टि से उत्पादन व वितरण की समस्याओं का हल हो जायगा, अनेक वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा जब प्रकृति को मानव के लिए अधिकाधिक उपयोगी बना लिया जायगा, जब आध्यात्मिक शक्तियों की खोज को भी जीवन का ध्येय मान लिया जायगा और

इसके लिए वस्तुतः व्यक्ति प्रयत्न करेगा तो वह युग पन्तजी के शब्दों में 'अन्तर्चेतना' या 'नवमानववाद' का युग होगा।

आज का चिन्तन व प्रयत्न समदिक् धरातल पर अर्थात लौकिक (बाह्य) धरातल पर हो रहा है जिसमें क्षुधा-काम की समस्याओं को ही मुख्यता मिल रही है, किन्तु इनके अतिरिक्त मनुष्य आन्तरिक जगत का विकास भी करना चाहता है। वह केवल रोटी से ही सन्तुष्ट न होकर आध्यात्मिक शक्तियों का भी विकास करना चाहता है, अतः उसे भी अपनी प्राप्य आवश्यकताओं में गिन लेना चाहिए। वस्तुत. आध्यात्मिक शक्तियों का विकास ही मुख्य है क्योंकि उससे मनुष्य में सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, उदारता, करुणा, विश्व-मानवता, एकता और अभेद की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती है, अतः मानवता में ये दिव्य गुण तभी आ सकते हैं जब कि आध्यात्मिक क्षेत्र को भी हम स्वीकार कर लें अन्यथा विज्ञान व भौतिकवाद से योरोप में जो स्वार्थ, छल, प्रतियोगिता, द्वन्द्व-युद्ध आदि उत्पन्न हो रहे हैं, उन्ही का यहाँ भी बोलबाला रहेगा। मानव रोजी-रोटी की समस्या सुलझा कर भी यदि पशु रहा और उसमें दैवी भावनाओं का विकास न हुआ तो विकास व्यर्थ रहा। अत 'ऊर्ध्व-सञ्चरण' एक सामाजिक आवश्यकता है। भविष्य में समाज को सुखी बनाने के लिए अध्यात्म-क्षेत्र में हमें उतरना ही होगा यह है पन्तजी का 'अन्तर्चेतनावाद' जिसका वर्णन नूतन-काव्य में किया गया है।

पन्तजी को इसीलिए वर्गहीन सामाजिक विधान में, आंतरिक विकास के लिए अरविन्द-दर्शन के अनुसार चेतना के उच्च धरातलों की टोह इष्ट है। इस 'अन्तर्चेतनावाद' को मनमाने 'विकासवाद' के आधार पर समझाते हुए पंतजी कहते हैं कि मार्क्सवाद ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में उपस्थित हुआ है, जो राजनैतिक, आर्थिक धरातलों (समदिक् धरातलों) में महान परिवर्तन ला रहा है। राजनैतिक आर्थिक धरातलों की गत युगों में विचारकों ने उपेक्षा की थी, इसलिए मार्क्सवाद के लिए यह आवश्यक था कि वह इन प्राचीन विचारकों की चिंतन-धारा का घोर विरोध करता, क्योंकि तभी यह सम्भव था कि जनता राजनैतिक, आर्थिक धरातलों को ही सर्वस्व समझले और उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे अन्यथा वह अध्यात्म के चक्र में ही पड़ी रहती या इस ओर कम ध्यान देती। अत मार्क्सवाद ने

अपनी ऐतिहासिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए आध्यात्मिक चिंतन का विरोध किया, चेतना को गौण मान लिया। परन्तु यह मार्क्स की ऐतिहासिक आवश्यकता मात्र थी, शाश्वत समाधान न था। क्योंकि जगत, जीव व निर्णायक सत्ता पर जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इसलिए जहाँ मार्क्सवाद ने राजनैतिक, आर्थिक धरातलों पर क्रांति की, वहीं भावी आध्यात्मिक क्रांति के बीज भी बो दिए जिसमें मनुष्य न केवल राजनैतिक, आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होगा बल्कि आध्यात्मिक क्षेत्रों का भी (ऊर्ध्व-धरातल का भी) वह अनुभव करेगा और इस प्रकार उसका जीवन पूर्ण हो जायगा। इसलिये आज का युग इस नवीन अध्यात्मवाद के लिए सोपान बन रहा है। इसे यों स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) आदिम साम्यवाद→ अंध विश्वासों का युग	(२) दास-प्रथा → अंधविश्वासों का युग+वर्ग-आधार पर चिंतन आरम्भ	(३) सामन्तवाद वर्ग आधार पर चिंतन का विकास
(४) पूँजीवाद→ वर्ग-आधार पर चिंतन की चरम-सीमा	(५) साम्यवाद→ वर्गों का नाश, अध्यात्म का निषेध (संक्रान्ति काल)	(६) नूतन अध्यात्मवाद भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय

इस 'विकासवाद' की चरम परिणति ऐसे व्यापक मानवतावाद में होगी जिसमें बाह्य और आन्तरिक धरातलों में समन्वय स्थापित हो जायगा और आज के बाहरी द्वन्द्वों—शोषक-शोषितों, वर्णों, वर्गों, जातियों, रीतियों—का नाश हो जायगा। विश्व-बंधुत्व की भावना का विकास हो जायगा, पशुबल का अन्त हो जायगा, सत्य व अहिंसा का, प्रेम व करुणा का, सौन्दर्य व मङ्गल के, तादात्म्य का वह युग होगा। अतः आध्यात्मिक चेतना का विकास ऐतिहासिक आवश्यकता है। आन्तरिक चेतना ही व्यक्ति के बाहरी व्यवहार को अनुशासन में लाती है। आज मनुष्य ने विज्ञान के क्षेत्र में अपनी बाह्य या अशुद्ध बुद्धि (Impure reason) के बल पर अनेक आविष्कार कर लिए हैं, प्रकृति के ऊपर विजय का स्वप्न पूरा होने जा रहा है परन्तु आन्तरिक चेतना दुर्बल होने के कारण उन्हीं वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग मनुष्य संहार के लिए कर रहा है। इसलिये आज

अन्तर्चेतना को जगाने की आवश्यकता है, जिससे मनुष्य की राग-द्वेष, तथा हिंसा-घृणा, शोषण-वृत्ति का नाश हो सके। यह बाह्य जगत पर, आन्तरिक जगत का अनुशासन होने से ही सम्भव होगा। परन्तु मार्क्सवाद आन्तरिक जगत की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता, अतः पन्तजी ने नूतन काव्य में इस नवीन आध्यात्मिक चेतना को ही अपना विषय बनाया है। इसी 'नवीन चेतना' की मनः-क्रीडा, उसके आनन्द-सौन्दर्य, उसकी आशा-विश्वास-प्रद प्रेरणाओं के उद्बोधन गान' उनकी नवीन रचनाओं में मिलते हैं। कवि के अनुसार ये गान आज के जन-सङ्घर्ष के युग में मानव-युग के उद्भव की स्वप्न-सूचनाएँ हैं।[१] कवि की दृष्टि से आज बाहरी सङ्घर्ष समाप्त होने को ही हैं, आन्तरिक सङ्घर्ष का युग आरहा है, उसे द्रष्टाओं ने अपनी अन्तर्चेतना से देख लिया है अतः यह संक्रान्तिकाल है और सक्रान्ति काल में सदा आगामी वस्तु का अभिनन्दन करना चाहिए।[२]

इसलिए पन्तजी का मन यह स्वीकार नहीं करता कि किसी भी दृष्टि से उनके इस 'सांस्कृतिक प्रयत्न' को प्रतिगामी कहा जा सकता है, क्योंकि लोक तक ही चेतना को सीमित न रख 'लोकोत्तरता' का भी उसके साथ समन्वय करने का प्रयत्न प्रतिगामी कैसे हो सकता ?

पन्तजी कहते हैं कि उन्होंने सदा से ही मध्य कालीन अन्ध-विश्वासों, जीर्ण-शीर्ण सांस्कृतिक स्वरूपों—जाति, वर्ग, वर्ण आदि तत्त्वों-का विरोध किया है और कोकिल से इन पर पावक-कण बरसाने को कहा है परन्तु साथ ही यदि वे आंतरिक सगठन पर विश्वास करते हैं तो

---

[१] पन्तजी सदा सङ्घर्ष-भीरु रहे हैं अतः वह किसी भी दर्शन के, चाहे वह कितना ही वैज्ञानिक क्यों न हो, सङ्घर्ष-प्रिय पक्ष को स्वीकार नहीं करते सौन्दर्य-मङ्गल का गायन ही उन्हें प्रिय है और चूँकि अरविन्द-दर्शन में कल्पनाओं के लिए असीम क्षेत्र है अत उन्हें अरविन्द-दर्शन अत्यधिक रुचिकर हुआ।

[२] पन्तजी के लिए बाह्य सङ्घर्ष समाप्त हो रहा है जबकि स्थिति यह है कि उनके आध्यात्मिक गान जब बाह्य सङ्घर्ष की निन्दा करते हैं तो वे उसके और भी दीर्घ काल के लिए स्थगित करने में, उसके देर तक चलने में सहायक होते हैं।

वह लोक-संगठन को अधिक व्यापक बनाने का ही प्रयत्न है।* किन्तु जैसा कि कई जगह दिखाया जा चुका है कि पंतजी वस्तुतः अपने विश्वास की आवश्यकता को किसी भी प्रकार सिद्ध करने के लिए विकल हैं। वे जानते हैं कि यह 'अरविन्दवाद' कोई नवीन वस्तु नहीं, प्राचीन उपनिषदों के अद्वैतवाद को ही इसमें नए रूप में इस ढङ्ग से उपस्थित कर दिया गया है जैसे यही सारी समस्याओं का समाधान कर सकने में समर्थ है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषदों का ज्ञान जो अरविन्द की आधार भूमि है और व्यवस्था विशेष मे उत्पन्न हुआ था जिसने दास-प्रथा के युग मे समाज में मानसिक समता की घोषणा की थी और वैदिक कर्मकाण्ड का बाह्य रूप से खण्डन करते हुए भी वैदिक परम्परा में ही अपना विकास किया था, जिसने व्यवहार व चिंतन के क्षेत्रों को

* कवि लोकोत्तरतावादी अरविन्द-दर्शन की अधिक से अधिक सामाजिकता, ऐतिहासिकता व सांस्कृतिकता दिखाकर पाठक की भावना पर विजय प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार अरविन्द के दर्शन को ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में पतजी स्वीकार करते हैं उसी प्रकार किसी भी आदर्शवादी दर्शन को उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता दिखाकर स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक धर्म, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक आदर्शवादी दर्शन आज अपनी वैज्ञानिकता सिद्ध करने में तत्पर है क्योंकि वह जानता है कि पाठकों की बुद्धि को जीतकर ही आज विश्वास पर विजय प्राप्त की जा सकती है, परन्तु मनः सगठन के लिए अरविन्द के जिस दर्शन को आधार भूमि कवि बनाता है वह विवेक की दृष्टि से बहुत कमजोर है। अरविन्द दर्शन प्राचीन उपनिषद का आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार निर्मित संस्करण है। विभिन्न चेतना स्तरों की कल्पना कर मनचाहे समन्वय को खोजकर, बुद्धि को सतुष्ट नहीं किया जा सकता। आज का बुद्धिवादी सापेक्ष चिंतन चाहता है क्योंकि उसने निरपेक्ष चिंतन के अनुभव अब तक करके देख लिये हैं, जिससे उसे व्यक्तिगत मुक्ति चाहे मिल गई हो (!?)। परन्तु सामाजिक दृष्टि से वह बघन से मुक्ति नहीं पा सका। अतः पतजी पुन. इतिहास को लौटाकर, भ्रमात्मक शब्दावली में निरपेक्ष चिंतन को सापेक्ष रूप में उपस्थित कर, शुद्ध, अशुद्ध बुद्धि, मन, अव्यक्तमन, अतिमन आदि अनेक स्तरों की कल्पनाओं के द्वारा जनता के सामूहिक संघर्ष से उसका ध्यान बॅटाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके स्वरों में कुछ स्वर प्रगतिशील हैं परन्तु कई स्वर निश्चित रूप से प्रतिगामी हैं।

सर्वदा के लिए काट कर अलग कर दिया था और इसीलिए उसके विरुद्ध (आत्मवाद, ब्रह्मवाद, वेदवाद, यज्ञवाद के विरुद्ध) तथा उस व्यवस्था के विरुद्ध जिसमे इनका जन्म हुआ था, आर्येतर चिंतन ने अनेक सम्प्रदायों के रूप मे विद्रोह किया था। अपने आंतरिक अंतर्विरोधों के कारण ही उपनिषदों का चिंतन, व्यक्तिगत चिंतन के रूप मे सामाजिक विकास में असफल रहा परन्तु तब के समाज में सामाजिक चिंतन का विकास सम्भव नही था । अतः आर्येतर दार्शनिक भी व्यक्तिगत मन सगठन में विश्वास करते हुए एकांतिक साधनाओं में डूब गए—अत' मानव की सामूहिक उन्नति के लिए व्यावहारिक रूप से प्रयत्न सम्भव न हो सका और यह तब तक सम्भव न हो सका जब तक सामन्तवाद रहा। पूँजीवाद के आने पर वर्गों के आधार पर स्थापित सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोध स्पष्ट होते गए और तब साम्यवादी चिंतन का विकास हुआ जिसमें सर्वप्रथम सामूहिक दृष्टि से मानव समाज को सुखी बनाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। परन्तु यह प्रयत्न अभी समाप्त भी नही होने पाया है कि प्राचीनतावादियों ने पुनः प्राचीन अंध-विश्वासों को उनकी ऐतिहासिक उपयोगिता दिखाकर जनता के सम्मुख रखना प्रारम्भ कर दिया है। पंतजी भी ऐसे ही पुनरुत्थानवादी विचारकों में से एक हैं और मैंने कहा है कि अरविन्द व पन्त दोनों पुनरुत्थानवादी शिविर के चिंतक हैं, अतः यह असम्भव है कि वे प्राचीन विश्वासों से पूर्णतया मुक्त हो सकें। यह सही है कि उन्होंने साम्यवाद की कुछ बातों को स्वीकार कर लिया है परन्तु आज ही वे उन बातों को लौकिक सत्ताओं के समाधान को गौण बताकर तथा विज्ञान को अशुद्ध बुद्धि का परिणाम बताकर, शुद्ध बुद्धि व अंतर्चेतना के विकास के लिए अधिक प्रयत्नशील हैं और इस अंतर्चेतना के विकास में मार्क्सवाद को मुख्य बाधक मानते हैं। अत. उस पर प्रहार करना उनका मुख्य कर्त्तव्य हो जाता है जिसे वे बड़ी सावधानी व धैर्य के साथ कर रहे हैं।

पन्तजी यह जानते हैं कि उनका प्रयत्न सुधारवादी है, क्रान्तिकारी नहीं, वर्ग-समझौतावादी है, वर्ग-विध्वंसवादी नही परन्तु उनकी दृष्टि से यह विभाजन गलत है। पन्तजी के अनुसार मार्क्सवादियों का मस्तिष्क वादों से आक्रान्त हो गया है, और जिनका मन स्वस्थ है, जिन्हे द्रष्टा होने का गौरव प्राप्त है, वे साफ देख रहे हैं कि

मार्क्सवाद व प्राचीन एकाङ्गी अध्यात्मवाद के द्वन्द्व में नवीन चेतना सन्तुलन की ओर बढ़ रही है। अतः जो लोग पन्तजी को सुधारवादी कहते हैं, उनकी बुद्धि भ्रम से ग्रस्त है। पाठक देखें कि यद्यपि स्वयं पन्तजी अरविन्द के दर्शन की ही सदा पुनरावृति करते रहते हैं, कोई नवीन बात जो अरविन्द ने नहीं लिखी, पन्तजी नहीं कह सके परन्तु फिर भी उन्हें लगता यह है कि उनका मन वादों से आक्रान्त नहीं है। अच्छा तो यह हो कि पन्तजी एक सर्वथा नूतन दर्शन लेकर मौलिक रूप में सम्मुख आवें और तब कहें कि वे वादों से ऊपर हैं।

पन्तजी के अनुसार आजका युग विचारों से पीड़ित है उसमें अनुभूति का अभाव है। अनुभूति का अर्थ यह है कि आज का युग किसी लोकोत्तर सत्ता के प्रति अनुभूति को सम्भव नहीं मानता। आज मानव यन्त्र का मानवीकरण नहीं कर सका, यन्त्र-युग ने स्पर्धा व लोभ उत्पन्न कर दिया है, उसने शोषकों व शोषितों में समाज को बाँट दिया है। उसने भोग-विलास-भावना व अधिकार-लालसा उत्पन्न करदी है। परन्तु इसका कारण क्या है ? पन्तजी यह नहीं सोचते। पन्तजी यह अनुभव नहीं करते कि यन्त्र को मानवीय बनाने का प्रयत्न करने वालों के मार्ग में अमेरिका व इंगलैण्ड जैसे अध्यात्मवादी (साम्राज्यवादी) देश ही मुख्य रूप से बाधक हैं। अमेरिका जिसे 'अरविन्द-आश्रम' से अधिक प्रेम रहा है, यन्त्र का दुरुपयोग करने में मुख्य रूप से बाधक है। परन्तु पन्तजी को अध्यात्मवाद का अभाव ही सारी गड़बड़ी का मुख्य कारण समझ में आता है। क्या पन्तजी ने स्पष्ट रूप से परमाणुबम के प्रयोगकर्त्ताओं पर अपनी सांस्कृतिक वाणी का रोष प्रकट किया है ? नहीं, क्योंकि रोष प्रकट करना हिंसा है, उससे घृणा जाग्रत हो जायगी, तब मङ्गल व सौन्दर्य, के गीत गाना ही श्रेयस्कर है। "नूतन अध्यात्मवाद" के नाम पर पुन समाज को बर्बर-विश्वासों की ओर लेजाकर साम्प्रदायिक भावनाओं को उत्पन्न करना ही पवित्र सांस्कृतिक कार्य है। यदि इसी अनुभूति का अभाव पन्तजी मध्यम वर्ग में देखते हैं तो यह अनुभूति प्रशंसनीय है। कोमल-भावनाओं का विकास तभी होगा, जब उसके लिए परिस्थिति उत्पन्न की जायगी और परिस्थिति उत्पन्न तभी होगी जब उसमें बाधक तत्त्वों का नाश होगा। परन्तु पन्तजी कूड़ा-कर्कट भी नहीं जलाना चाहते और

स्वच्छता की कामना भी करते हैं, यह कैसे सम्भव होगा ? स्वच्छता की कामना का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ तक आप प्रगतिशील हैं, परन्तु जब आपकी कोमल भावनाएँ 'कूडा-कर्कट' के नाश में बाधक बनती हैं तब हम आपकी 'अनुभूति' को 'प्रतिगामी' कहते हैं। यह है वैज्ञानिक दृष्टि से आपकी विचारधारा का मूल्याङ्कन।

पन्तजी की दृष्टि से शङ्कराचार्य अतिवादी थे जिन्होंने जगत को मिथ्या कहा। आज के विज्ञान-वादी भी अतिवादी हैं जो 'पदार्थ' (मैटर) को ही मुख्य मानते हैं यद्यपि आज 'पदार्थ' एक शक्ति (energy, force) के रूप में स्वीकृत हो चुका है (पन्तजी के के अनुसार यह 'शक्ति' ब्रह्म की ही एक शक्ति है)। इनके अतिरिक्त आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी अतिवादी हैं जो अवचेतन (uncons cious) उपचेतन (sub-conscious) को चेतन मन से अधिक महत्त्व देने लगा है। यह मनोविज्ञान स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को महत्त्व ही नहीं देना चाहता, न उपचेतन आदि से ऊपर के चेतना-स्तरों को स्वीकार करता है। इसी प्रकार मार्क्सवादी भी घोर अतिवादी हैं जो आन्तरिक चेतना को पदार्थ का ही बिम्ब रूप मानते हैं।

पन्तजी की दृष्टि से मार्क्सवाद तो सब से अधिक अतिवादी है क्योंकि वह संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि को अति विधान (Super Structure) मानता है और आर्थिक व्यवस्था को मौलिक आधार (Main Structure) मानता है।[१] पन्तजी इसका कारण वही देते हैं जो अरविन्द ने दिया है। अरविन्द के अनुसार मार्क्सवादी शाश्वत-प्रश्नों का टाल कर सुविधाजनक मार्ग पर चलते हैं। इसलिए उन्होंने ब्रह्म,

---

[१] यहाँ भी पन्तजी जान बूझकर, मार्क्सवाद को गलत रूप में उपस्थित कर रहे हैं। यह ठीक है कि मार्क्सवाद आर्थिक-व्यवस्था को मुख्य मानता है। समाज का मुख्य आधार उत्पादन प्रक्रिया व सम्बन्ध होते हैं। ये ही समाज के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों को निश्चित करते हैं परन्तु साथ ही मार्क्सवाद इसे प्रत्यक्ष पद्धति के रूप में स्वीकार नहीं करता। सांस्कृतिक चेतना—दर्शन, धर्म, कला आदि के सङ्गठन भी समाज के परिवर्तन में सहायक होते हैं यद्यपि उनका निर्माण किसी आर्थिक व्यवस्था विशेष में ही होता है। एक बार उनका जन्म हो जाने पर वे सामाजिक शक्ति बन जाते हैं और समाज पर प्रभाव डालते हैं। अतः किसी

जीव और जगत के प्रश्नों को सुलझाने से इन्कार कर देना अच्छा समझा है और इन्हें सामाजिक इतिहास की गवाही पर युग विशेष में, आर्थिक व्यवस्था-विशेष मे उत्पन्न मान लिया है। उनकी दृष्टि में ये प्रश्न कल्पित हैं परन्तु ये प्रश्न टाले नहीं जा सकते। बहुत समय तक मानव-आत्मा की भूख को, मार्क्सवादी दमित नहीं कर सकते। अतः चेतना के ऊर्ध्व-धरातलों—ऊर्ध्व-चेतन (Super Mind) उच्च-चेतन (Super Conscious) तथा चेतन मन जीवन (Life), जड़तत्त्व आदि में समन्वय स्थापित करने से ही हम सभी प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं। चूँकि मार्क्सवादी यह नहीं कर सके, और अब भी इस अरविन्द-समाधान को स्वीकार नहीं करना चाहते अतः वे परिस्थिति विशेष में उत्पन्न मार्क्स की मान्यताओं की पुनरावृति करना ही अपना ध्येय समझते है।

परन्तु साथ ही पन्तजी सामान्य बुद्धिजीवी के लिए इन तर्कों में उलझना पसन्द नहीं करते। वे परामर्श देते हैं कि हमें जड़ता छोड़ कर एक दूसरे के दृष्टिकोण का आदर करना चाहिए। वे कहते हैं कि चाहे चेतना को पदार्थ (अन्न) का सर्वोच्च या भीतरी स्तर माना जाय या पदार्थ को चेतना का निम्नतम या बाहरी धरातल, दोनों ही मानव जीवन में सम्पृक्त हैं, वाणी व अर्थ की तरह। लोक-जीवन के विकास के लिए दोनों का सामञ्जस्य स्थापित करना नितान्त आवश्यक है। मतलब यह है कि तर्क व विवेक की बात न कर (और यदि तर्क की कोई बात करता है तो उसे अरविन्द-दर्शन अशुद्ध बुद्धि का परिणाम मानता है) मार्क्सवादियों को इतना स्वीकार कर लेना चाहिए कि ब्रह्म की प्राप्ति ही मुख्य है। रोजी-रोटी के झगड़े छोटी चीजे है। इनके लिए भी प्रयत्न होना चाहिए पर ये ध्येय नहीं हो सकती। ये केवल ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक हो सकती हैं—'भूखे भजन न होय गुपाला' भजन मुख्य है, भूख नहीं। परन्तु जैसा मैंने कहा कि यह 'भजन' का समन्वय नया नहीं है, पुराना विश्वास है और अरविन्द की शब्दावली की पुनरावृत्ति मात्र है। क्योंकि पन्तजी कहते हैं कि

युग विशेष के सांस्कृतिक प्रयत्नों पर-प्रत्यक्ष पद्धति पर आर्थिक व्यवस्था के प्रभाव की खोज करना मार्क्सवाद के विरुद्ध माना जाता है। इसलिए आर्थिक व्यवस्था को मुख्य मानते हुए भी, इतिहास के प्रमाण पर सांस्कृतिक प्रयत्नों के महत्त्व को मार्क्सवाद मानता है। अतः पन्तजी के तर्क पक्षपात से पूर्ण हैं।

"पदार्थ, जीवन, मन, तथा आत्मा की मान्यताएँ हमारी बुद्धि के विभाजन भर हैं" सम्पूर्ण सत्य इनसे परे है तथा इनमें भी व्याप्त होने के कारण एक तथा अखण्डनीय है।"

स्पष्ट है कि यह उद्धरण पन्तजी ने अरविन्द से ही लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जड़-चेतन की पञ्चायत में पन्तजी दोनों दलों को थोड़ा-थोड़ा दबाकर एक नया समाधान खोज रहे हैं। किन्तु मार्क्सवाद के लिए 'अरविन्द-दर्शन' का स्वरूप व उद्देश्य स्पष्ट है। वह मन, जीवन, पदार्थ तथा अतिमन, ब्रह्म आदि में अखण्डनीय एकता के शोधक अरविन्द की कल्पना-शक्ति की प्रशंसा कर सकता है परन्तु इस प्रकार की कल्पना बहुत कठिन भी नहीं है। आत्मा व ब्रह्म दोनों के अविश्वासी शून्यवादियों, आत्मा व ब्रह्म दोनों के विश्वासी माया-वादी अरविन्द के दर्शन से कहीं अधिक तर्कसङ्गत व रोचक समाधान प्रस्तुत करते हैं।

कम से कम नागार्जुन व शङ्कर तर्क की पद्धति को तो स्वीकार करते हैं, अरविन्द तो उसे भी स्वीकार नहीं करते। अनुभूति में अन्धता रहती है। जब पहले से आप किसी सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं तभी अनुभूति से उसके आभास मिलने लगते हैं। यदि आप पहले से ब्रह्म की सत्ता स्वीकार न करें तो अनुभूति से उसका आभास नहीं मिलता। बौद्धों के अनुभव इसके प्रमाण में उद्धृत किए जा सकते हैं। योग-साधना बहुत प्राचीन है। आर्येतर योग में ईश्वर का स्थान न था। सांख्यशास्त्र नास्तिक रहा है। महात्मा बुद्ध, अनीश्वरवादी थे और साधक थे। उनकी अनुभूति ने कभी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में मदद नहीं की। मन पर संयम करना, क्रोध व घृणा पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना सामाजिक तत्त्व हैं। साथ ही इन वृत्तियों का आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग न करना भी असामाजिक है। परन्तु संयम का अर्थ यह नहीं कि अनुभूति को बेलगाम छोड़कर कल्पना के स्वर्ग में भ्रमण कर आप अचिन्त्य सत्ता के आभासों में मग्न रहने को ही अखण्ड ज्ञान कहें और इस प्रकार अन्ध-विश्वास को ही शुद्ध बुद्धि या अन्तर्चेतना से पुष्ट कर उसे अपनी महानता समझें और जो इसे स्वीकार न करें उनकी बुद्धि को वादों से आक्रान्त समझें।

पन्तजी कहते हैं कि विभिन्न युगों में अन्तर्मन की मान्यताएँ

भी (धर्म, अध्यात्म, ईश्वर सम्बन्धी) लोक-कल्याण के लिए उपयोगी प्रमाणित हो चुकी हैं। तब आज उनका बहिष्कार क्यों ? इसका उत्तर यह है कि प्राचीन युगों में समाज आदिम साम्यवाद के बाद, वर्गों पर आधारित था जिसकी चरम परिणति पूँजीवाद में हुई। वर्ग-समाज में पूँजीवाद के पूर्व वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति, सामाजिक दृष्टि का अभाव होने से, वैयक्तिक विश्वासों के माध्यम से होती थी, साथ ही उन युगों में लोक-कल्याण के माध्यम भी वे ही वैयक्तिक विश्वास थे तथा व्यक्ति के शोषण-दोहन, तथा वर्णों व वर्गों को पुष्ट करने, उन्हे जीवित रखने तथा नई परिस्थितियों में उन्हे विशिष्ट रूप देने के सहायक भी वे वैयक्तिक विश्वास (धर्म ईश्वर आदि) ही थे। परन्तु आज तो सामाजिक शास्त्र हमे समाज के विकास को समझा चुके हैं। हम उन वैयक्तिक विश्वासों के कृतित्व व कुत्सितता दोनों से परिचित हो चुके हैं, हम जानते हैं कि 'ईश्वर' के माध्यम से क्रांतियाँ भी हुईं और ईश्वर के नाम पर अनेक सम्प्रदायों का भी जन्म हुआ जिन्होंने जनता को वैयक्तिक चिन्तन में मग्न कर उन्हे सङ्गठित होने से रोका, परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, दमन, कलह व मारकाट का बोलबाला रहा। अतः हम वैयक्तिक विश्वासों के माध्यम से नहीं, मनुष्य के विवेक के माध्यम से सामाजिक क्रांति के पक्ष में हैं। ईश्वर, धर्म आदि मान्यताये गत युग की वस्तुएँ हो चुकी हैं। नागरिक शास्त्र व्यक्ति व समाज के सम्बन्ध को समझाता है, उसमें ईश्वर के ज्ञान के बिना ही हम अधिकार व कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। धर्म इसे ईश्वर के माध्यम से कराता था, नागरिक शास्त्र किसी सम्प्रदाय को उत्पन्न नही करता परन्तु ईश्वरवादी 'ईश्वर के ही सब वन्दे हैं' जहाँ यह सिखाता था, वहाँ वह साम्प्रदायिक विद्वेष को भी भड़काता था। शैवों, शाक्तों, योगियों, कापालिकों, अद्वैतवादियों, वैष्णवों, सहजियों, नाथों, सन्तों के वाक्-युद्ध व कभी-कभी शस्त्र-युद्ध इसके प्रमाण हैं। योरोप का इतिहास भी कैथोलिक व प्रोटेस्टैंटों के द्वन्द्वों से पीड़ित रहा है, अन्यत्र भी ऐसा हो रहा है। अतः वैयक्तिक विश्वासों को सामाजिक क्रान्ति का माध्यम नहीं बनाया जा सकता, परन्तु पन्तजी को ऐतिहासिक अनुभूति की चिन्ता नहीं, उन्हे आस्तिक अर्थात् साम्प्रदायिक अनुभूति की चिंता है।

पन्तजी की दृष्टि में केवल अरविन्दवाद ही सारी समस्याओं का समाधान कर सकता है। वे कहते हैं कि यथार्थवाद गोचर जगत

पर ही अपना ध्यान रखता है जबकि आदर्शवाद द्रष्टा का दृष्टिविन्दु है; दोनों में सामञ्जस्य तभी स्थापित हो सकता है जब हम दोनों को एक ही अव्यक्त सत्य का स्वरूप मानले। यह कोई नवीन बात नहीं है। अरविन्दवाद की पुनरावृत्ति मात्र है जिससे पन्तजी कभी नहीं घबराते।

पन्तजी पुनः 'पुनरुत्थानवाद' के स्वर को प्रबल बनाते हुये कहते हैं कि समन्वय के अभाव का कारण एकांगी शिक्षा और भारतीयों की पराधीनता है। पन्तजी के अनुसार बुद्धिजीवी भारतीय ज्ञान से अपरिचित है। वह यह समझता है कि भारत की आध्यात्मिकता तथा दर्शन सामन्ती परिस्थितियों का प्रकाश है और मनोविज्ञान तथा अन्य विज्ञान ही महान हैं जो उपयोगी हैं। परन्तु पन्तजी के मत से आध्यात्मिक दृष्टि लुप्त होने से हम आविष्कारों का दुरुपयोग कर रहे हैं, परमाणु बम इसका प्रमाण है। अब एक-एक शास्त्र का खण्डन कर पन्तजी समझाते हैं कि प्राचीन भारतीय ज्ञान कितना महान था।

आधुनिक मनोविज्ञान ने अन्तर्मन के ऊपरी स्तरों की ही खोज कर पाई है, उसने व्यर्थ ही मानसिक अशान्ति उत्पन्न करदी है जिससे नारियाँ विद्रोह कर उठी हैं। मानव उपचेतन को अधिक महत्त्वपूर्ण मानने लगा है,[1] परन्तु विना 'ऊर्ध्व-चेतन' मे विश्वास किए हुये साम-

[1] समन्वयवादियों की चिन्तन-पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह है कि वे बहुत से तथ्यों को बिना उनकी परीक्षा के ही स्वीकार कर लेते हैं। यथा पन्तजी यह मान लेते हैं कि फ्रायड का सिद्धान्त अवैज्ञानिक नहीं है। उनका रोष फ्रायड पर इसलिए है कि वह ईश्वर सम्बन्धी अनुभूतियों को मात्र काम भावना का उन्नयन कह कर टालना चाहता है। अतः फ्रायड के उपचेतन अवचेतनवाद को स्वीकार कर योग को उसके पूरक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार फ्रायडवाद व योग साधना का भी समन्वय हो जाता है। परन्तु फ्रायड का मत वस्तुतः किसी वैज्ञानिक सत्य की व्याख्या नहीं करता वह मनुष्य के मन को समझने का प्रयत्न करता है और यह प्रयत्न भी पूर्वाग्रहों पर आधारित है—

Psycho-analysis in view is trying to understand rather than to explain, that consequently, it is essentialy non-scientific and to be judged in ter-

असत्य सम्भव नहीं है। भारतीय दर्शन की 'सत्य' के प्रति पहुँच अधिक परिपूर्ण है क्योंकि पदार्थ, जीवन, मन तथा चेतना के धरातलों की खोज कर उसने सब मे संश्लेषण भी स्थापित कर दिया है। विज्ञान केवल विश्लेषण करता है, वह खंड-खंड करके देखता है। भारतीय दर्शन अखंड दृष्टि से देखता है अतः वही अधिक वैज्ञानिक है, वह उपनिषत् (पूर्ण) है। परन्तु उपनिषत् का मत क्या है, यह आप स्पष्ट नहीं कर सके। पन्तजी भी नहीं, क्योंकि शङ्कर, रामानुज, मध्व, अरविन्द आदि विचारकों ने अपने दृष्टिकोण को ही उपनिषदों के उद्धरण देकर पुष्ट किया है। तब अरविन्द की व्याख्या को शङ्कर से अधिक वैज्ञानिक क्यों माना जाय? यदि शङ्कर की व्याख्या पसन्द न हो (क्योंकि वह जगत को मिथ्या बताती है) तो रामानुज अरविन्द से पहले ही जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मान चुके हैं। वल्लभ तो और भी अधिक स्पष्ट हैं, तब अरविन्द को ही क्यों स्वीकार किया जाय? प्रत्येक व्याख्या शायद आधुनिक विज्ञान से अधिक वैज्ञानिक है। तब पन्तजी अरविन्द के शब्दों को ही क्यों दुहराते हैं? भारतीय दर्शन में अरविन्द की व्याख्या अधिक माननीय है भी नहीं। शङ्कर व रामानुज का यहाँ अधिक आदर है। अच्छा होता कि भारतीयता के नाम पर इन्हें ही पन्तजी स्वीकार करते और फिर 'भारतीय-दर्शन' उपनिषद् के ज्ञान का पर्याय क्यों है? क्या बौद्ध दर्शन व जैन दर्शनों की गणना भारतीय दर्शनों में नहीं होती? तान्त्रिक साधना सबसे अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि उसके विचारक उसे सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक बताते हैं। यदि पन्तजी को अरविन्द का प्रतीकवाद प्रिय है तो तन्त्र-दर्शन को ही अधिक वैज्ञानिक मानना होगा जिसने कामशास्त्र व दर्शन-शास्त्र का भी समन्वय कर दिया है।

यदि केवल उपनिषदों की अरविन्दवादी व्याख्या को ही पंतजी सबसे अधिक वैज्ञानिक व भारतीयता से युक्त मानते हैं तो वह सम्प्रदायवादी हैं और उन्हें अपने सम्प्रदाय के आधार पर कल्पित

---

ms of belief and faith rather than in terms of proof and verification.

—Uses and abuses of Psychology—by H. J. E. Eysenck (Page 226)

'समन्वय' के प्रचार करने का पूरा अधिकार है परन्तु साथ ही वह प्रगतिशीलता का भी दुराग्रह करते हैं। क्या व्यापक दृष्टि इसे ही कहते हैं? यदि वस्तुतः उनका 'ऊर्ध्व-चेतन' अधिक सशक्त है और वह द्रष्टा हैं तो भारत के दूसरे दार्शनिक सम्प्रदायों की वैज्ञानिकता को भी स्वीकार करना होगा। यदि केवल वैदिक परम्परा ही उन्हे प्रिय है तो आर्यसमाजी उन से क्या बुरे हैं जो सारे विश्व मे हिन्दू सभ्यता का ही अवशेष देखते हैं, और वैदिक सभ्यता को उच्चतम सभ्यता मानकर सारे वैज्ञानिक आविष्कारों का श्रेय वैदिक ऋषियों को देते हैं परन्तु वे तो त्रैतवादी हैं—ईश्वर, प्रकृति व जीव को अलग-अलग मानते हैं। क्या उन्हे पन्तजी अभारतीय कहने का प्रयत्न करेंगे? तब 'भारतीय-दर्शन' से आप उपनिषद का अर्थ क्यों ग्रहण करते हैं? विदेशी विद्वान बौद्ध-दर्शन को हिन्दू-दर्शन से अधिक महत्ता देते हैं। महायानी-दर्शन से सुना जाता है शङ्कर भी प्रभावित थे, अन्य विचारक भी। यदि उपनिषद का दर्शन शाश्वत दर्शन है तो बौद्ध मूर्ख रहे होंगे जो उन्होंने अनेक नूतन विचारों की कल्पनाएँ कीं और भारतीय-दर्शन के झण्डे को वृहत्तर भारत में ऊँचा किया। इस परिस्थिति में पन्तजी को शून्यवादी या विज्ञानवादी होना चाहिए था।

इसीलिए मैंने कहा था कि अध्यात्मवादी दर्शन पूर्वाग्रहों से पीड़ित रहे हैं। पन्तजी अपने पूर्वाग्रह को ही अधिक वैज्ञानिक सिद्ध करने में तत्पर हैं। यह कोई नवीन बात नही है। न जाने गत युगों मे कितने धर्मावलम्बियों ने ऐसे कितने समन्वित सम्प्रदायों का प्रचार किया है। उनके लिए कितने कष्ट सहे और बलिदान किए, पर उनकी बलिदान भावना का आदर करते हुए भी उन धार्मिकों को हम पूर्ण ज्ञाताओं (एप्रोच-कर्त्ताओं) के रूप मे ग्रहण नही कर सकते। यह ऐतिहासिक विवशता है। पन्तजी के अथक प्रयत्न को देखकर हृदय श्रद्धा से नत हो सकता है परन्तु बुद्धि विद्रोह करती है। यह बुद्धि ही विरोध का मूल है। अत पन्तजी उसी के विरुद्ध आज प्रचार कर रहे हैं और अन्तर्चेतना के गीत गा रहे हैं। यह प्रयत्न सराहनीय है।

पन्तजी के अनुसार प्राचीन दुनियाँ अतिवैयक्तिकता से पीड़ित थी (शायद उपनिषद के ऋषियों को छोड़कर?) और आज की दुनियाँ अति-सामाजिकता के दल-दल में फँसने जा रही है। अतः वैयक्तिक अन्तः सञ्चरण—आन्तरिक विकास असम्भव हो जायगा। यदि

हम आन्तरिक-जीवन अर्थात् ब्रह्म को स्वीकार करले तो भविष्य में बाह्य जीवन आन्तरिक जीवन के अधीन हो जायगा। यही नही पन्तजी मनोविज्ञान से भी पीड़ित हैं। मनोविज्ञान आदर्श के खोखलेपन को अस्वीकार करता है। आधुनिक मनोविज्ञान जो सर्वत्र दमित-भावनाओं की ही अभिव्यक्ति देखता है, माननीय नहीं है। यह तो ठीक है किन्तु पन्तजी इस दृष्टि से उसका खण्डन नही करते। वे इस आधार पर उसका खण्डन करते हैं कि वह आदर्श को स्वीकार नहीं करता। इस प्रसङ्ग में वह एक दिलचस्प बात कहते हैं कि आज मनोविज्ञान के क्षेत्र मे उपचेतन, अवचेतन के निम्न स्तरों को इतनी प्रधानता मिल गई है कि अव्यक्त या प्रच्छन्न (सबलिमिनल) मन के उच्च स्तरों के ज्ञान से हमारा तरुण बुद्धि-जीवी अपरिचित ही रह गया है। भारतीय मनोविश्लेपक इड, लिबिडो तथा प्राण, चेतना-सत्ता के चित्र आवरण को चीर कर गहन शुभ्र जिज्ञासा करता है—केनेपितं पतिति प्रेपितं मनः केन प्राणः प्रथम. प्रैति युक्त.।

पाठक देखे कि मनोविज्ञान से पन्तजी इसलिए नाराज नही हैं कि वह पूँजीवादी प्रवृत्तियों का पोपक है, व्यक्ति को सामाजिक होने के बजाय वह उसे रुग्ण प्रवृत्तियो का शिकार बनाता है, बल्कि इसलिए नाराज हैं कि वह 'ब्रह्म जिज्ञासा' नही करना चाहता, वह ब्रह्म-जिज्ञासा को पलायन कहता है, कल्पना कहता है। भारतीय-दर्शन उपचेतन ही नहीं, "ऊर्ध्व-चेतन" से भी परिचित था जिसे मनोविज्ञान नहीं बता सका ऐसा अरविन्द व पन्तजी का विचार है। परन्तु पन्तजी ने इसकी प्रशसा नही की कि कोई भी विज्ञान तथ्यों पर निर्भर करता है (यह बात दूसरी है कि फ्रायड ने एक विशेप वर्ग के व्यक्तियों पर ही प्रयोग कर अपने निर्णय निकाले थे, पर तथ्यों का विश्लेपण अवश्य किया था) वह कल्पना द्वारा की गई "टटोल" पर ब्रह्म की सत्ता स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह वैज्ञानिक विधि नहीं है। ऋपियों का विज्ञान आज का ही युग नहीं, शायद भविष्य का युग भी न समझ सके क्योंकि "ऊर्ध्व-चेतन' का विकास जब स्वय पन्तजी ही नहीं कर सके तो साधारण व्यक्ति कैसे करेगा। पन्तजी की 'पहोच' कल्पना पर आधारित है। श्री 'नगेन्द्रजी' ने तो पन्त, निराला, महादेवी, प्रसाद सभी को साधनात्मकता के लिए चेलेंज किया था? मैं चेलेंज में विश्वास नहीं करता परन्तु इतना कहा जा सकता है कि

पन्तजी की 'एप्रोच'—ऊर्ध्व-चेतन सम्बन्धी मान्यताओं में—काल्पनिक अधिक है, अनुभूत्यात्मक या तो कम है या बिल्कुल नहीं।

पन्तजी का 'पुनरुत्थानवादी' स्वर देखिए। जो एक ओर तो भारतीय ज्ञान की स्वीकृति अन्य देशवासियों के लिए उपयोगी मानता है परन्तु अपने देश की बहुत सी विचार-धाराओं को स्वयं स्वीकार नहीं करता। ज्ञान तो अखण्ड और सर्व-व्यापक है उसके लिए देशों की सीमा क्या महत्त्व रखती है? परन्तु पन्तजी कहते हैं कि "हम पश्चिम की विचारधारा से इतने अधिक प्रभावित हैं कि अपनी ओर मुड़ कर अपने देश का प्रशांत गम्भीर, प्रसन्न मुख देखना ही नहीं चाहते।" हम इस सदियों के खण्डहर का बाहरी दयनीय रूप देखकर क्षुब्ध तथा विरक्त हो जाते हैं और दूसरों का बाहर से सँवारा हुआ मुख देख कर उनका अनुकरण करने लगते हैं। मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है।"

इसी तर्क को दे कर आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी तथा सनातनी अँगरेजी राज्य में अपने देश की प्रत्येक बात को पश्चिम के सम्मुख उनसे ऊँचा बनाने के प्रयत्न में उपस्थित करते रहते थे। हमारे पास जो कुछ है, वह सबसे ऊँचा है, अच्छा है, वैज्ञानिक है, यह गर्व ही हमें सङ्कीर्ण बनाता है। हमें व्यापक दृष्टि से देखना चाहिए। सारे विश्व के इतिहास, दर्शन, धर्म तथा अन्य परम्पराओं का अध्ययन कर ही हम किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं। मार्क्स ने यह कभी नहीं कहा कि जर्मनी का प्राचीन दर्शन ही सब से अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि कल जो वस्तु वैज्ञानिक थी वह आज अवैज्ञानिक हो सकती है। अतः उसने इतिहास व समाजशास्त्र को अपना आधार बनाया था, दर्शन व धर्म को नहीं, जिसे पन्तजी स्वीकार करते हैं। हमारे दर्शन में भी बहुत सी बातें उपयोगी हैं परन्तु हम भारतीय होने से, भारतीय-दर्शन की उन बातों को जो विश्व-इतिहास के मन्थन से प्राप्त तथ्यों के विरुद्ध पड़ती हैं, कैसे स्वीकार कर सकते हैं? और पंतजी कहते हैं कि "भारत के अन्तश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता और यह मेरा अतीत का गौरव गान नहीं। भारत के अपराजित व्यक्तित्त्व के प्रति विनम्र श्रद्धाञ्जलि मात्र है।"

पन्तजी के अनुसार यह भूमि गौतम व गान्धीजी की भूमि है। इसका दान राजनैतिक तन्त्र तथा वैज्ञानिक तन्त्र का नहीं हो सकता (यह भारतीयता के विरुद्ध है, आर्यसमाजियों के अनुसार भारतीय विज्ञान की पहुँच तक आज का विज्ञान नहीं पहुँच सका और पुनरुत्थानवादी राजनीतिक क्षेत्र में कौटिल्य, याज्ञवल्क्य व मनु को सर्वश्रेष्ठ घोषित कर चुके हैं) विकसित मनोयंत्र का ही हो सकता है। पाठक देखें कि कितना प्रबल पूर्वाग्रह है, जिस देश में सर रमन व सर जगदीशचन्द्र बोस जैसे वैज्ञानिक हों, उस देश का महाकवि कहता है कि भारत विज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय नहीं हो सकता। पन्तजी के अनुसार भारत अहिंसा, आत्मवाद और समन्वयवाद आदि का दान दे सकता है। महात्मा गान्धी के अहिंसावाद को विश्व विस्मृत नहीं कर सकता।

गान्धीजी की देन को हम स्वीकार करते हैं परन्तु गांधी का अस्त्र मौलिक आविष्कार न था। 'टालस्टाय' से उधार लिया हुआ था तब पन्तजी क्या कहेंगे? क्या 'टालस्टाय' भी भारत के किसी ऋषि से प्रभावित था? असम्भव तो नहीं है। एक जैन लेखक ने होमर पर जैन धर्म का प्रभाव दिखाया है अतः सम्भव है कि भारत से ही टॉलस्टाय भी प्रभावित रहा हो। अतः गांधी के साथ टालस्टाय का नाम भी पन्तजी यदि नहीं जोड़ते तो यह वक्तव्य कदाचित अधूरा ही रह जाता।

पन्तजी सत्य-अहिंसा के सिद्धान्तों को अन्तः सङ्गठन (संस्कृति) के लिए आवश्यक मानते हैं। 'अहिंसात्मक होना व्यापक अर्थ में संस्कृत होना है'। यह ठीक है परन्तु पन्तजी अहिंसक बनने के लिए, व बने रहने के लिए हिंसकों का हृदय-परिवर्तन भी चाहते हैं जो व्यवस्था हिंसक बनाती है, उसके साथ सिद्धान्त रूप में समझौता करना सिखाते हैं, केवल नीति के रूप में नहीं जैसा कि रूस ने अभी सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को मानकर किया है। सह-अस्तित्व का अर्थ यह नहीं कि रूस यह नहीं चाहता कि सदा पूँजीवादी व्यवस्था बनी रहे और साथ ही साम्यवाद को बने रहने के लिए बाधाएँ न डाले। 'सह-अस्तित्व' एक नीति के रूप में स्वीकृत हुआ है। इतिहास की दृष्टि से यह निश्चित है कि सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकृत कर लेने के पश्चात् समाजवादी व्यवस्था व पूँजीवादी व्यवस्था के रूप

जनता के सम्मुख स्पष्ट होते जाएँगे और दोनों व्यवस्थाओं की विशेषताओं व अन्तर्विरोधों से जनता परिचित होती जायगी और इससे विश्व-साम्यवाद की स्थापना से सहायता ही मिलेगी क्योंकि तब प्रत्येक देश के भीतर से पूँजीवाद के प्रति जागृत विरोध और बढ़ेगा, सह-अस्तित्व का यह उद्देश्य है। किन्तु यदि रूसी साम्यवादी यह कहें कि 'सह-अस्तित्व' ही हमारा सर्वदा के लिए लक्ष्य है तब मार्क्स एंगिल्स व लेनिन की विचारधारा से वर्तमान समाजवादी व्यवस्था विद्रोह करेगी और यह असम्भव है। अत सह-अस्तित्व एक नीति है, गन्तव्य नहीं। यदि इस रूप में गान्धीजी व पन्तजी अहिंसा व हृदय-परिवर्तन को स्वीकार करते तो क्या विरोध हो सकता था। आज गोआ में साम्यवादी भी अहिंसात्मक आन्दोलन में सम्मिलित हैं परन्तु उसे नीति के रूपमें स्वीकार करके। परन्तु गान्धीजी अहिंसा को नीति के रूप में स्वीकार करने वाले कांग्रेसजनों से कभी सहमत नही हुए। यदि जवाहरलाल नेहरू ने भी उसे नीति के रूप में स्वीकार न कर प्रत्येक परिस्थिति में अहिंसा की नीति को लक्ष्य के रूपमें स्वीकार किया होता तो भारत के कई अङ्ग आज विच्छिन्न हो जाते। परन्तु पन्तजी को व्यावहारिक रूप से किसी सिद्धान्त का रूप क्या होगा इससे कोई अर्थ नही है। 'ग्राम्या-काल' में हिंसा को उन्होंने दबी जबान से नीति के रूपमे स्वीकार कर लिया था पर शीघ्र ही उस भूल का नूतन-काव्य में सुधार कर लिया और मानवीय गुणों के अभ्यास के लिए उचित वातावरण बनाने वालों के विरुद्ध विष-वमन करना प्रारम्भ किया तथा 'यूटोपिया' की कल्पना में मग्न होगए।

पन्तजी चाहते हैं कि लेखक निम्न-मध्यवर्ग के कल्पित-यथार्थ चित्रण को ही प्रगतिशीलता न समझते रहें। उन्हें चाहिए कि अरविन्द-दर्शन के द्वारा उपदेशित नवीन अन्तर्चेतना के गीत गाकर नूतन सौन्दर्य-बोध का दान दें। यह ठीक है कि कोरा यथार्थ-चित्रण, यदि उसमें भविष्य के प्रति स्पष्ट संकेत न हों, कुत्सित चित्रण हो जाता है। परन्तु जिस सौन्दर्य-बोध की छलना का प्रसार कर पन्तजी मनुष्य के दुर्गुणों को दूर करने का प्रयत्न देखते हैं। वह सौन्दर्य-बोध एक कल्पित धार्मिक विचारधारा पर आधारित है। अत उसके गीत गाने से मनुष्य पुन उन्हीं एकान्तिकता के कूपों मे गिर पड़ेगा जिनसे आज का वैज्ञानिक युग मनुष्य जाति को उबार कर लाया है।

यद्यपि पन्तजी जनता के राग-द्वेष, क्रोध व असन्तोष को भी आशा की दृष्टि से देखते हैं (और इसलिए जनता आपकी कृतज्ञ है) परन्तु युग-सञ्चरण को वर्ग-सञ्चरण में सीमित कर देना उचित नहीं समझते। तब आप क्या चाहते हैं? एक ओर आपने कहा कि जनता वर्गों व वर्णों से पीड़ित है। पूँजीवाद के आने पर एक सुविधा भोगी वर्ग उत्पन्न हो गया है जिसने कला, संस्कृति, उत्पादन, सरकार, शिक्षा, व्यवसाय, उद्योग सभी पर अधिकार कर लिया है। क्या इस वर्ग के हाथ से सत्ता छीनकर शोषित वर्गों के हाथ मे देना युग-सञ्चरण के विरुद्ध है? आप कहेंगे कि तब भी तो वर्ग-शासन ही रहेगा। उत्तर होगा कि अच्छा रहेगा कि शोषित जनता ही शासक हो। पन्तजी वर्ग समझौतावाद का प्रचार कर वर्गवाद पर आधारित सरकारों के विरुद्ध जनता को खड़ा नहीं होने देना चाहते, अन्तर्चेतना के गीतों में उलझा कर उसका ध्यान चेतना जगत पर होने वाले सङ्घर्षों से हटाकर आसमान पर रहने वाली महाचेतना के साथ बाँध देना चाहते हैं। पन्तजी इसके उत्तर में पुनः दार्शनिकों के स्वर में कहते हैं कि "इस धरती के जीवन को मैं सत्य का क्षेत्र मानता हूँ जो हमारे लिए मानवीय सत्य है। गम्भीर दृष्टि से देखने पर ऐसा नहीं जान पड़ता कि यह जीवन अविद्या का ही क्षेत्र है जहाँ मन तथा आत्मा के सञ्चरण गौण तथा अज्ञान के अधीन हैं।"

यह सही है कि धरती का जीवन सत्य का क्षेत्र है, परन्तु सत्य की परिभाषा क्या है? आपका निजी कल्पित सत्य या जनता का सत्य या उच्च वर्गों का सत्य, सापेक्ष दृष्टि से विचार करने पर सत्य निरपेक्ष तो नहीं प्रतीत होता। कोई वस्तु यहाँ निरपेक्ष नहीं दीखती तब यदि आपका सत्य 'निरपेक्ष सत्य' है (और वस्तुतः वह निरपेक्ष ही है) तो वह मानवीय कैसे हुआ। उसे 'निरपेक्ष मानवीय सत्य' कहना होगा। गम्भीर दृष्टि से सोचने पर तो यही प्रतीत होता है। परन्तु पन्तजी को गम्भीरता के क्षणों मे आत्मा का सञ्चरण सामाजिक लगता है, मुख्य लगता है और सामाजिक प्रश्न व्यर्थ, एकाङ्गी, द्वेषग्रस्त हीनता के फल लगते हैं। यों पन्तजी जब सामाजिक दृष्टि से सोचते हैं तो वे 'असङ्गठन' को 'माया' कहते हैं और 'सङ्गठन' को प्रकाश या सत्य। यह उनकी उदारता है। परन्तु 'सङ्गठन' की परिभाषा करते समय वे सत्य उस अन्तः सङ्गठन को ही कहेंगे जो ऊर्ध्व-चेतना की

ओर ले चलता है और इस चिन्तन को हम व्यक्तिगत, साधना कहते हैं। पन्तजी निजी निरपेक्ष धारणाओं को सामाजिक व वैज्ञानिक सिद्ध करने व उनके समन्वय करने पर तुले हुए हैं।

प्राचीन युगों में जगत से सम्बन्धित विद्याओं को अविद्या मान लिया गया था, भौतिक असफलताओं के कारण तब अलौकिक तत्त्वों में खोजे जाते थे परन्तु उस विभाजन को पन्तजी आज भी स्वीकार करते हैं। उन्हे इसी संसार मे मनुष्य को सुखी व सभ्य बनाने के प्रयत्न अशुद्ध बुद्धि के प्रयत्न तथा अविद्याग्रस्त लगते हैं और मानवीय गुणों के विकास को वे व्यक्ति को अधिकाधिक सापेक्ष-चिन्तन के विकास द्वारा सम्भव नहीं मानते, आत्मा, परमात्मा की कल्पना द्वारा ही सम्भव मानते हैं। अत. उन्हें आज का युग केवल राजनीति व अर्थ-शास्त्र का युग प्रतीत होता है और वे सांस्कृतिक जागरण (आत्मवाद के प्रचार) को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। वे आत्मा के शिखरों पर चढ़ने को ही सबसे बड़ा पुण्य मानते हैं क्योंकि उसके बिना मनुष्य का पाँव ऊपर उठकर आगे नही बढ़ सकता। इस के युग में उन्हें आत्मवाद के प्रचार द्वारा ही शान्ति-स्थापना सबसे अधिक वैज्ञानिक लगती है। शान्ति का शिविर चाहे किसी भी प्रकार मजबूत हो, हम उसका स्वागत करते है। रोम का पोप भी शान्ति चाहता है अपने ढङ्ग से, पर चाहता तो शान्ति है अत उसकी नियत की सराहना करते हुए भी जिस प्रकार ईसाइयत के प्रचारकों को हम सास्कृतिक जाग-रण नही कह सकते उसी प्रकार पन्तजी के अध्यात्मवाद् को न मानते हुये भी हम उनकी शान्ति की नियत के प्रशंसक है।

पन्तजी के अनुसार धार्मिक व्यवस्थाओं व संस्थाओं से हमारे युग की आस्था उठ रही है। अत आज ऊर्ध्व-चेतन द्वारा प्राप्त देवत्व के प्रचार व प्राप्ति की आवश्यकता बढ़ गई है। परन्तु यह भी तो धार्मिक व्यवस्था ही हुई, आनन्द, अमरत्व प्रकाश सापेक्ष शब्द है। आप 'ब्रह्मानन्द' को प्रकाश कहेंगे, बौद्ध समाधि के आनन्द को प्रकाश कहेगा और ब्रह्म व आत्मा के स्तरों की निन्दा करेगा तब मापदण्ड क्या होगा? अनुभूति का? अनुभूति अन्धी होती है। वह तो अस्त्र है, उसे सामाजिक बनाना पड़ता है, बुद्धि से उसे शुद्ध करना पड़ता है। दिवा-स्वप्नों को देखकर कोई व्यक्ति क्षणिक मानिसक शान्ति प्राप्त कर सकता है पर यदि उसे वह सांस्कृतिक आन्दोलन कहे तो क्या

प्रभाव होगा ? यह क्यों स्वीकार किया जाय कि भौतिक जगत में अध्यात्म के विना मनुष्य पशु हो जायगा। अध्यात्मवाद की चरम सीमा के युगों में अधिकतर समाज विपन्न रहा, अध्यात्म केवल कुछ लोगों को भले ही अमरत्व का दान कर पाया हो, जनता में उसके प्रचार का परिणाम कुल मिला कर अन्ध-विश्वास ही हुआ। अतः मनुष्यत्व के विकास के लिए ईश्वर की ओर भागने की आवश्यकता नहीं, व्यक्ति को सामाजिक बनाने का प्रयत्न करिये। उसके कर्त्तव्य व अधिकार समझाइए, कोटि-कोटि जनता से प्रेम, उपकार, सहानुभूति करने की भावना जगाइए, नृशंस युद्ध-उन्मादी भेड़ियों को पहचान कर उनके विरुद्ध जनता को जगाइये, तभी मनुष्यत्व का विकास होगा। आत्मा परमात्मा के माध्यम से दैवी गुणों का प्रचार खतरनाक है। इतिहास इसका साक्षी है परन्तु पन्तजी अरविन्द की ओर देखते हैं, इतिहास की ओर नहीं।

पन्तजी 'सांस्कृतिक जागरण' को स्पष्ट कर 'संस्कृति' शब्द की व्याख्या करते हैं। उनकी दृष्टि से संस्कृति शब्द से भौतिक व आध्यात्मिक दोनों धरातल संकेतित हैं। उसमें भौतिक, मानसिक व ऊर्ध्व-चेतन सभी स्तर आ जाते हैं। उसमे अध्यात्म, धर्म, नीति, सामाजिक रूढ़ि, रीति तथा व्यवहारों का सौन्दर्य भी आ जाता है। संस्कृति, अध्यात्म व राजनीति आदि भौतिक स्तरों के बीच की चीज है। पन्तजी इसे 'सगुण', सूक्ष्म सङ्गठन, मनः सङ्गठन, लोकोत्तर, देवोत्तर मनुष्यत्व आदि शब्दों से पुकारते हैं। संस्कृति-सौन्दर्य बोध अन्तर्मन के सङ्गठन हैं, उन्हें वर्गवाद पर आधारित नहीं मानना चाहिए। वह पदार्थ का प्रतिविम्ब मात्र नहीं है, जैसा कि मार्क्सवाद मानता है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्पादन के साधन बाद में आये, संस्कृति पहले आगई। हाँ, यह अवश्य माननीय है कि सांस्कृतिक प्रयत्न उत्पादन के सम्बन्धों पर भी प्रभाव डालते हैं अतः व्यवस्था व संस्कृति का सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से मार्क्सवाद के लिए स्पष्ट है। परन्तु पन्तजी का अनुरोध यह है कि उत्पादन के साधनों व सम्बन्धों को मुख्य आधार न मान कर संस्कृति को मुख्य मानना चाहिये।

'कला व संस्कृति' नामक अभिभाषण से एक अंश को उद्धृत कर पन्तजी कहते हैं कि सत्य, शिव, सुन्दर से उनका वही अभिप्राय है जो वस्तुवादी का क्षुधा व काम से व अर्थवादी का परिस्थिति,

सुविधा व वितरण से है। क्षुधा काम आदि जीवन की आकांक्षायें हैं और इनके भीतर ही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की खोज होती है। अतः इनमें स्तर भेद पाया जाता है—

स्थूल स्तर—	आंतरिक स्थूल स्तर—	सूक्ष्म स्तर—
भौतिक वस्तुयें अन्न, घृत, मधु, वस्त्र आदि	क्षुधा, काम आदि	सत्यं, शिवं, सुन्दरम् स्थूल व सूक्ष्म का समन्वय
प्राकृतिक आवश्यकता		आन्तरिक आवश्यकता

यह स्तर-भेद अरविन्द से नहीं लिया गया, पतजी का अपना है। पतजी कहते हैं कि ये धरातल आपस मे सम्बद्ध हैं। सत्य, शिव, सुन्दर कला का धरातल है और क्षुधा, काम प्राकृतिक आवश्यकताऐं हैं। सत्य एक ही है, स्थूल धरातल पर जिसे क्षुधा, काम कहा जायगा उसी को सूक्ष्म धरातल पर सत्य, शिव, सुन्दर कहते हैं। अत. संस्कृति व कला बाहरी आवश्यकताओं से सम्बद्ध हैं अन्यथा वे कल्पित रूप में स्वीकार की जाती, इसी प्रकार यदि क्षुधा, काम की वृत्तियों का संस्कार न हुआ होता तो मनुष्य पशु बन जाता। हमे स्थूल आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने के साथ-साथ आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी संघर्ष करना होगा परन्तु पन्तजी के अनुसार मार्क्सवाद यह मानता है कि सूक्ष्म का संगठन स्वयमेव हो जायगा।

ऊपर के विवेचन से इतना तो माननीय है ही कि सांस्कृतिक विकास का आधार स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति पर निर्भर करता है। मार्क्सवादी सर्वप्रथम उन्ही की प्राप्ति के लिए सङ्घर्ष करते हैं। मार्क्सवादी यह नहीं मानता कि आन्तरिक विकास के लिए मार्क्सवाद प्रयत्न करने में विश्वास नहीं करता। तब लेनिन, स्टालिन के साथ-साथ गोर्की के सांस्कृतिक प्रयत्न की क्या आवश्यकता थी? लेनिन ने भी कहा था कि अब हम सर्वहारा की सरकार तो बना चुके अब हमें 'सर्वहारा' का निर्माण करना है। यदि क्रान्ति के समय लेनिन पन्तजी की तरह अन्तर्चेतना पर भाषण देता तो सर्वहारा का राज्य कैसे बनता? आज जबकि भारत में जनता का सङ्घर्ष पूर्ण नहीं हुआ तब पन्तजी

संस्कृति के संबंध में इतिहास से पुष्ट मान्यता को उलट देने का प्रयत्न क्यों कर रहे हैं? हमें अभी तो सर्वहारा की सरकार बनानी है, और साथ ही सर्वहारा का निर्माण भी करना है। क्या ये दोनों कार्य भिन्न-भिन्न हैं? क्या बिना सर्वहारा का निर्माण किए हुए सर्वहारा की सरकार बन सकती है और बन भी जाय तो क्या सफल हो सकती है? नहीं, अतः मार्क्सवाद सांस्कृतिक प्रयत्नों को भी, साहित्य-कला को भी, क्रांति का ही अङ्ग मानता है परन्तु उससे मूल मान्यता में अन्तर नहीं आता कि जब तक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं होगा, संस्कृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन केवल आन्दोलनों से नहीं लाए जा सकते। यह है मार्क्सवादी मान्यता, पन्तजी इसे जानते हैं परन्तु उसे गलत ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं। पन्तजी यदि समन्वय चाहते हैं तो पहले सर्वहारा के निर्माण के साथ वर्ग-नीति पर आधारित शासन को समाप्त करने के कार्य में हाथ क्यों नहीं बटाते? क्यों उसके अन्तर्विरोधों पर कभी प्रकाश नहीं डालते? उन्हें जवाहरलाल नेहरू केवल ऊर्ध्व चेतन के प्रतीक क्यों लगते हैं? इसलिए, कि पन्तजी पर एक साम्प्रदायिक दर्शन का प्रभाव गहरा हो गया है और वे उससे ऊपर नहीं उठ पाते। वे निरपेक्षता की ओर चले गए हैं। उन्हें मार्क्सवाद "अति-सामाजिकतावाद" का प्रतीक लगता है जबकि वास्तविकता यह है कि उसीमें वैयक्तिकता के विकास के बीज अन्तर्निहित हैं।

आज के बुद्धिजीवी और साहित्यिक के मन में बहुत बड़ा विरोध है। पन्तजी कहते हैं कि विचारक कभी व्यक्ति की ओर झुकता है, कभी समाज की ओर "जो जीवन-मन-चेतन का तथा स्थूल-सूक्ष्म सत्य का प्रवाह व्यक्ति और समाज के तटों से टकराता है, उसे आप समग्र रूपमें इस प्रकार नहीं समझ सकेंगे। आपको व्यक्ति तथा विश्व के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए तब आप उसके व्यक्ति और विश्वरूपी सञ्चरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे, जिस अतल, अकूल सत्य के प्रवाह की चर्चा मैंने अभी की है, उसे आप कलाकार तथा सूक्ष्म जीवी की दृष्टि से संस्कृति के रूपमें देखिए, उसे मानव जीवन के प्रवाह के रूपमें देखिए।" पाठक देखें कि अरविन्द के पूर्वाग्रहों को स्वीकार करने का परिणाम अन्ततः क्या निकला? पन्तजी फिर कहते हैं कि "आप क्षणभंगुर के अवगुण्ठन को हटाकर मानव-चेतना के शाश्वत मुख के भी दर्शन कीजिए। तब आप वास्तविक अर्थ में जीवन द्रष्टा व सौन्दर्य स्रष्टा बन सकेंगे, अन्यथा आप शक्ति लोलुप सङ्गठनों

(मार्क्सवाद) के प्रचारक बन जाएँगे—स्रष्टा के कर्त्तव्य से च्युत हो जायँगे।"

पन्तजी के कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर में यदि आप विश्वास नहीं करते तो आप द्रष्टा व स्रष्टा नहीं हो सकते, मार्क्सवाद के प्रचारक बन जाएँगे। अंततः मार्क्सवाद के प्रति घृणा व्यक्त करने का क्या केवल यही अस्त्र पंतजी के पास रह गया है ? सौन्दर्य की सृष्टि क्या केवल ईश्वरवादी कवि ही कर पाए हैं, अनीश्वरवादी कवि नहीं कर सके ? यदि यह मान्यता गलत है तो ऊपर की पक्तियों का क्या अर्थ होगा ? भावना को संतोष देने के लिए ईश्वर की कल्पना पंतजी कर सकते हैं, यह निजी प्रश्न है परन्तु कला के मूल आधारों के साथ ईश्वर का सम्बन्ध जोडने का क्या तात्पर्य है ? बर्गसाँ ने कहा था कि कवियों व वैज्ञानिकों के बीच दार्शनिकों को स्वतंत्रता के साथ अपनी कल्पना का प्रयोग करना चाहिए (Philosophers should use their imagination freely)* । पंतजी भी यही कहते हैं कि यदि समग्र रीति से जगत को समझना है तो ज्ञान-विज्ञान का आश्रय लेकर अज्ञात सत्ता की कल्पना कर, जगत को उसी की अभिव्यक्ति मानकर, चेतना के अनेक स्तरों की कल्पना कर अपनी शङ्काओं का समाधान कर उस अव्यक्त सत्ता के साथ मानवीय सबंध स्थापित कर रहस्यवाद का सृजन कर सच्चे स्रष्टा का पद पालेना ही कलाकार का ध्येय होना चाहिए। यह अरविन्द-दर्शन का प्रचार है जो पांडीचेरी से ध्वनित हुआ और जिसकी प्रतिध्वनि पंतजी के नूतन काव्य में सुनाई पड रही है। परन्तु खेद यह है कि पंतजी द्रष्टा तो बन ही नहीं सके, क्योंकि यह अरविन्द के भाग्य में था, सौन्दर्य स्रष्टा का गौरव जो प्रारम्भिक उसके कविताओं में था उसे भी नूतन काव्य में अक्षुण्ण न रख सके। द्रष्टा होने के लोभ में सौन्दर्य की सृष्टि में दार्शनिकता का धुआँ इतना छा गया कि उसमें कला की सहज, मनोरम, आत्म विस्मृत कर देने वाली शक्ति समाप्त होगई। कवि दार्शनिक तत्त्वों को प्रतीकों में बाँधकर देने लगा और परिणामत सौन्दर्य के स्थान पर उलझन व पुनरावृत्ति के दोष चरम सीमा पर पहुँच गए।

पंतजी ने इन ऊपर कही गई मान्यताओं के सम्बन्ध में स्पष्ट

* देखिए History of Modern Philosophy by Wright.

लिखा है "मेरा सम्बन्ध जब अरविन्द के भागवत जीवन (The life divine) से हो गया तो मुझे लगा कि मेरे अस्पष्ट स्वप्न-चिंतन को अत्यन्त स्पष्ट-सुगठित एवं पूर्ण दर्शन के रूप में रख दिया गया है· श्री अरविन्द-आश्रम के योग-युक्त वातावरण के प्रभाव से ऊर्ध्व-मान्यताओं संबंधी मेरी अनेक शंकायें दूर हुई हैं"।

पंतजी अरविन्द की जीवन-दृष्टि को इस विश्व संक्रान्ति-काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व अमूल्य मानते हैं। उनके जीवन-दर्शन से उन्हें पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ है, "उनसे अधिक व्यापक, ऊर्ध्व तथा अतल स्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में अध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा गरिमा से मण्डित हो उठा हो, मुझे दूसरा कहीं देखने को नहीं मिला। विश्व कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को इतिहास की सबसे बड़ी देन मानता हूँ"।

यह तो रहा अरविन्द-स्तवन। इस सम्बंध में पाठक स्वयं निर्णय करेंगे कि अरविन्द की देन क्या है, आज के युग में जगत, जीवन व ईश्वर के विषय में मन के चेतन, उपचेतन के विषय में, जो-जो प्रश्न उपस्थित होते रहते हैं उन सभी का उत्तर अरविन्द ने उपनिषदों को आधार बनाकर दिया है। जहाँ तर्क नहीं दे सके, वहाँ वे उसी प्रकार उपनिषदों की शरण लेते हैं और उनको मानते हैं जैसे शंकर, रामानुज आदि मानते हैं। अब शंकर के पश्चात एक ऐसे हिन्दू दार्शनिक की हिन्दू धर्म को आवश्यकता थी जो आधुनिक युग में खोजों से प्राप्त नवीन तथ्यों से चमत्कृत जनता के सम्मुख, पुनः वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करे और इस प्रकार पाश्चात्य जगत की महानता को स्वीकार करके भी प्राचीन भारत के ज्ञान-गौरव को उससे ऊपर रखे तथा जो विज्ञान से परिष्कृत मानवीय बुद्धि के सम्मुख पुनः उस रहस्यवाद की वैज्ञानिकता बताकर प्रतिष्ठा करे जिसका जन्म पिछड़े हुए युगों में हुआ था। परन्तु पंतजी को "अरविन्द-दर्शन" के सम्मुख कोई प्रतिभाशाली विचार रुचिकर नहीं लगता, अतः यह तो मुंडे २ मतिर्भिन्ना की स्थिति आ गई।

पुनरुत्थानवादी पन्तजी कहते हैं "सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झङ्कारों से रहस-मौन निनादित भारत के एकान्त मनोगगन में मार्क्स तथा एङ्गिल्स के विचार-दर्शन की गूँजें मौद्धिकता के शुभ्र अन्धकार के भीतर से रेंगने वाले झींगुरों की रुँधी

हुई झनकारों से अधिक स्पन्दन पैदा नहीं करती।" एंगिल्स के शाश्वत सत्य की व्याख्या जिसके उदाहरण स्वरूप "नैपोलियन ५ मई को मरा है" तथा हीगल का 'विचार का निरपेक्ष' जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है अथवा ऐसे इतर सिद्धान्तों की दुहाई देकर द्वन्द्व तर्क तथा भौतिकवाद का महत्त्व दिखाना भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नहीं रखता।"

इस ओजपूर्ण श्रद्धा का आदर करना चाहिए परन्तु 'भारतीय-दर्शन के विद्यार्थी' के स्थान पर 'भारतीय-दर्शन के अन्ध-भक्त' पद का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि एक ओर तो मार्क्स-दर्शन दार्शनिक तुतलाहट नहीं सिद्ध किया जा सकता और न भारतीय-दर्शन का निष्पक्ष विद्यार्थी बौद्धिकता से घृणा करता है। पन्त व अरविन्द ने चेतना के अनेक स्तर मानकर मानवीय बौद्धिकता के प्रति अवश्य घृणा प्रकट की है क्योंकि बुद्धि वस्तु को खण्ड-खण्ड करके देखती है। अत बुद्धि सत्य के समग्र रूप को नहीं समझ सकती। समग्रता के लिए मनुष्य की अन्तर्चेतना (Intuition) ही समर्थ है। इस पूर्वाग्रह का ही यह परिणाम है कि पन्तजी को बुद्धिवादी मार्क्स और एङ्गिल्स झींगुर के समान जान पड़ते हैं। यदि वे बुद्धि से कार्य लेते तो अन्तर्चेतना के गीत कभी न गाते।

बुद्धि का खण्डन जब बुद्धि से सम्भव नहीं हो सका तो अन्ततः अनुभूति और अन्तर्चेतना का दम्भ उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा और यह अन्तर्चेतना भारत की धरोहर नहीं सभी अन्धविश्वासों में बराबर दृष्टिगोचर होती रही है। शङ्कर ने बौद्धों के ज्ञान को ज्ञान की धार से काटा था इसीलिए वे महान् दार्शनिक माने गए। अरविन्द व पन्तजी की तरह उन्होंने अन्तर्चेतना के आधार पर बौद्धों का खण्डन नहीं किया था। मार्क्स की 'तुतलाहट' का खण्डन तब होगा जब पन्तजी इतिहास व समाजशास्त्र का अस्तित्व नष्ट करदे ताकि स्पष्ट प्रमाण न दिया जा सके। (इसीलिए पन्तजी के सह-पन्थी विनोबा जी ने अभी हाल में ही इतिहास को पाठ्य-क्रम से हटाने का सन्देश दिया है)। मार्क्स भारतीय हिन्दू-दार्शनिकों की तरह शास्त्र के प्रमाण नहीं देता। शास्त्रीय वचनों की असत्यता का भी मण्डन करने के लिए तर्क का दुरुपयोग नहीं करता। अत इसकी तुतलाहट बुद्धि

को प्रिय लगती है। प्रचार तो सभी करते हैं परन्तु मार्क्स की बुद्धि-वादिता का, उसके स्पष्ट चिन्तन का ही यह प्रभाव है कि अस्पष्ट चिंतन के स्वर्णिम मतभेद ध्वस्त होते चले जा रहे हैं जिनका नाश होते देख कर पन्तजी का विश्वासी मन कचोट खाकर रह जाता है। गालियाँ देने से मार्क्स का खण्डन नहीं होगा, और न समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र को अरविन्दवाद की दृष्टि से प्रस्तुत करने से, सभ्यता का विकास भारतीय ढङ्ग से समझाने से होगा और साथ ही 'रहस-मौन' से भी काम न चलेगा। जो मधुर भले ही लगता हो पर है 'रहस्य' ही। मार्क्स-एङ्गिल्स का दोष यही है कि उन्होंने दार्शनिकों के रहस्यों का वास्तविक स्वरूप समझाया। पन्तजी कहते हैं कि मार्क्सवादियों को साङ्गोपाङ्ग रूप से भारतीय दर्शन का अध्ययन करना चाहिए, तब उन्हें ज्ञात हो जायगा कि मार्क्स ऊँट है और भारतीय-दर्शन हिमा-लय। उपमा तो सुन्दर है परन्तु पन्तजी क्या एक पुस्तक लिख कर यह समझायेंगे कि अन्ततः भारतीय-दर्शन में जो शास्त्रों की वैसाखियों के विना एक कदम नहीं चल सकता, ऐसा क्या कमाल है जो मार्क्स को ऊँट बना सकता है ? यह मार्क्स का दोष नहीं, बुद्धि का दोष है।

मार्क्स आध्यात्मिक सत्तावादियों की एक दीर्घ परंपरा के पश्चात् उत्पन्न हुआ, उसके युग तक अनेक सभ्यताओं और व्यवस्थाओं का लिखित इतिहास प्रस्तुत हो चुका था। उन व्यवस्थाओं में अनेक दार्श-निकों के प्रयत्नों की कहानी व उनके तर्क भी उसने पढ़े थे और भार-तीय मार्क्सवादी भी थोड़े-बहुत परिचित हैं। उसने समाज के विकास का गम्भीरता से अध्ययन किया और उस अध्ययन में हीगेल के इस विचार ने सहायता पहुँचाई कि वस्तु को समग्र दृष्टि से—सापेक्ष दृष्टि से देखना चाहिए। हीगेल ने इसी तर्क से ब्रह्म की सत्ता सिद्ध की परन्तु मार्क्स ने इस तर्क का प्रयोग समाज के विकास में किया और वह इस तथ्य पर पहुँचा कि सापेक्ष चिन्तन ही प्रगतिशील चिन्तन है। व्यक्ति व समाज के सम्बन्ध को देखना चाहिए। हीगेल ने जिस द्वन्द्व के सिद्धान्त का आविष्कार किया था उससे उसने निरपेक्ष सत्ता को सिद्ध किया था परन्तु उसी द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त की परीक्षा मार्क्स ने समाज के क्षेत्र में की और देखा कि कोई व्यवस्था अपने से पूर्व की व्यवस्था के अन्तर्विरोधों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। यह इतना स्पष्ट है कि हम किसी भी

देश के इतिहास में इसे देख सकते हैं। किसी व्यवस्था का अर्थ यह है कि उसमें उत्पादक वर्ग कौनसा है और उत्पादन के साधन क्या हैं? उत्पादक व भोक्ता वर्ग मे परस्पर सम्बन्ध क्या हैं? उत्पादक वर्ग पर उत्पादन के अस्त्र क्या हैं? उत्पादित वस्तु के वितरण के तरीके क्या हैं? इन्ही सब बातों पर इस व्यवस्था में ऊपरी बातों—संस्कृति, कला धर्म, दर्शन आदि का जन्म होता है। क्या मार्क्सवादियों से पूर्व समाज के विकास को त्रिकालदर्शी, तत्त्वद्रष्टा, रहस-मौन, ऋषि-महर्षि, जिन्हें विश्व आमलक के समान था इस तथ्य को समझा सकते थे? नही, क्योंकि यह तब सम्भव न था। उस समय 'आत्मवाद' का ही जन्म हो सकता था—ग्रीक व भारत दोनों में, जब समाज के उत्पादक वर्ग को मानसिक समता देने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था, आत्मा की एकता के सिद्धान्त ने समाज में मानव के गौरव को बढ़ाया, उत्पादक शक्तियों को स्वीकार किया गया, परन्तु सामाजिक वैपम्य को नष्ट करने की बात द्रष्टा ऋषियों ने नहीं सोची क्योंकि त्यागी किन्तु आदर के भूखे ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से समझौता कर लिया था और अपने सिद्धान्तों द्वारा समय-समय पर ऐसी विचार-धाराओं का प्रचार किया जिससे जनता क्रान्ति नही कर सकी। बुद्ध ने भी इसीलिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया था। यह थी ऐतिहासिक सीमा जिसका अतिक्रमण तत्त्व-द्रष्टा भी नही कर सके और इसे 'मार्क्स' ने ही बतलाया। हीगेल से उसने द्वन्द्व-सिद्धान्त को अवश्य लिया था परन्तु मार्क्सवाद मार्क्स को द्रष्टा नही मानता, उस तक विकसित ज्ञान का उपयोग किए बिना सर्वथा नवीन सिद्धात मार्क्स कभी नहीं दे सकता था। मार्क्स चिन्तक था, एक व्यवस्था-विशेष में उत्पन्न चिन्तक, जिसे परिस्थितियों ने इस प्रकार सोचने के लिए विवश किया। मार्क्स की जगह परिस्थितियों के प्रति सजग कोई अन्य व्यक्ति भी इस प्रकार सोच सकता था। अत: परिस्थितियों ने मार्क्स को उछाल दिया और उसने उस दर्शन का प्रतिपादन किया जिससे भयभीत होकर हम उस पर बुद्धिवादी होने का आक्षेप करते हैं। ऐतिहासिक ज्ञान का निषेध कर पन्तजी अन्धविश्वासों की मणि-माला में अन्तिम चमकदार रत्न 'अरविन्द' को उस मार्क्स से भी महान दार्शनिक मानते हैं और उन्हें आज मार्क्स-ऐंगिल्स की पुकार झींगुर की झनकार लगती है।

मार्क्स प्रत्येक दार्शनिक का उचित मूल्याङ्कन करता है। भारतीय दर्शन में एक से एक प्रतिभाशाली दार्शनिक उत्पन्न हुए, मार्क्सवाद उनकी प्रतिभा को स्वीकार करता है परन्तु ऐतिहासिक सीमाओं के कारण, वे चिन्तक घोर व्यक्तिवादी थे। (और पन्तजी भी यही मानते हैं) उपनिषद के ऋषि, गौतम बुद्ध, आदि सभी चिन्तक व्यक्तिवादी थे। अतः व्यक्ति के दुःख का अनुभव करके भी, व्यक्ति व समाज का सापेक्ष चिन्तन न कर, वे व्यक्ति के दुखों का मूल या तो पुनर्जन्म में खोजते थे, साधनाओं को उनकी औषधि बताते थे या फिर किसी भी प्रकार का उत्तरदायित्व न मानकर "यावत् जीवेत् सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा, घृतं पिवेत" का उपदेश देने लगते थे, वे ब्रह्म, जीव, और जगत पर ही विचार करते रहे, प्राचीन युगों के अनुभवों को ही प्रमाण मानते रहे। अतः मार्क्स ने इसे ऐतिहासिक भूल कह कर, स्पष्ट चिन्तन को ही 'दर्शन' स्वीकार किया और अध्यात्मवादियों को स्वीकार नहीं किया। मार्क्स का यही सबसे बड़ा दोष है कि उसने "समन्वय" नहीं किया, सम्भव भी नहीं था, न आज सम्भव है परन्तु बुद्धि से न सोचकर अन्तर्चेतना व अनुभूति जैसे विभाजनों को स्वीकार करने वालों को यदि मार्क्स-दर्शन झींगुर की झनकार लगे तो आश्चर्य क्या है ?

पन्तजी समन्वय को लेकर चले तो उन्हें लगा कि "मार्क्सवाद" का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक आदर्शवाद में है जो जनहित व सर्वहारा का पक्ष है किन्तु उसे वर्ग-क्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं है—अर्थात् पन्तजी मार्क्स के दर्शन-पक्ष व वर्ग-क्रान्ति के बिना ही जनहित व सर्वहारा का पक्ष लेते हैं। वर्ग-भेद को मानने वाले व्यक्ति के लिए वर्ग-क्रान्ति तो माननीय होनी चाहिए, चाहे रक्त-क्रान्ति न भी हो क्योंकि जनतन्त्र प्रधान भारत जैसे देशों में शासन पर अधिकार चुनाव द्वारा भी शायद हो सकता है ? यद्यपि उच्चवर्ग घोर विरोध व दमन करने को प्रस्तुत रहेगा, फिर भी अनिवार्य होगा, पूर्णतया हिंसा का निषेध हो ही नहीं सकता क्योंकि सर्वाधिकारी बूर्ज्वावर्ग के लिए हृदय परिवर्तनवाद का दिवालिया रूप स्वयं गौतम-गांधी की भूमि में ही स्पष्ट हो चुका है कि बूर्ज्वावर्ग किस प्रकार अपने जाल को कसता चला जा रहा है यह कोई भी बता सकता है। अतः वर्ग-क्रान्ति तो फिर भी हुई और पन्तजी

को यह पसन्द नही है। रही 'दर्शन' की बात, सो बुद्धि को तो वही सन्तुष्ट करता है, अन्तर्चेतना यदि सन्तुष्ट न हो कर ब्रह्म की ओर भागती है तो भागने दीजिए। वह एक निजी उड़ान है उसके लिए इतना कोलाहल करने की क्या आवश्यकता कि आप उसके न मानने वालों के लिए गालियों का आविष्कार करते फिरें, अपने सांस्कृतिक धरातल का परिचय देते फिरें ?

यह बात नही कि पन्तजी 'मार्क्स' को ऊँट मानते हों, वे उसे महान 'मनस्वी' मानते हैं परन्तु चूँकि आजकल वे अरविन्द के चश्मे के द्वारा ही देखने के अभ्यस्त हो गए है अत उन्हे प्रतीत होता है कि योरोप के दार्शनिकों का चिन्तन मन (Mind) के धरातल तक ही हो सका है। वे ऊर्ध्व-चेतन के स्तर तक नहीं उठ सके जहाँ तक भारतीय ऋषि पहुँच चुके थे। जहाँ से सब कुछ एक ही ब्रह्म की अभिव्यक्ति जान पड़ती है, जड़ व चेतन का विरोध नही जान पडता। अत मन शक्ति द्वारा ही सोचने के कारण योरोप के सारे दार्शनिक तत्त्व का साक्षात्कार न कर सके, अपूर्ण व एकाङ्गी सत्य पर पहुँचे (पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति सर्वत्र दर्शनीय है)। अत. हीगल व मार्क्स दोनो मन से ऊपर नहीं उठ सके। मन और अतिमन का विभाजन यदि आप स्वीकार न करें और उसके स्वीकार करने की आवश्यकता भी नही है क्योंकि मन की शक्तियों में से ही एक शक्ति का नाम अन्तर्चेतना है। अन्तर्दृष्टि से हम अनेक बातें सोच सकते हैं, परन्तु बाह्य ज्ञान के द्वारा हमे अन्तर्चेतना से प्राप्त ज्ञान को शुद्ध करते हैं। कल्पना के द्वारा प्राप्त ज्ञान यदि व्यावहारिक ज्ञान द्वारा शुद्ध न किया जाय तो कल्पना मनुष्य को गगन-पुष्पों की सत्यता सिद्ध करने पर विवश कर सकती है। अत मार्क्स ऐसी अन्तर्दृष्टि या अन्तर्चेतना को नहीं मानता जिसके द्वारा प्राप्त ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान के सर्वथा विपरीत पडे और यह मार्क्स की सीमा नही, उसकी वैज्ञानिकता है। इस बौद्धिकता की प्रशंसा के स्थान पर पन्तजी उसे शाप देने को तत्पर हैं।

पन्तजी के अनुसार पाश्चात्य देशों में मानसिकता (Mentality) प्रधान रही है और मानसिक शक्ति द्वारा जगत-जीवन की समस्याओं को हल करने के प्रयत्न में योरोप के दार्शनिक जगत में एक द्वन्द्व खड़ा हो गया। उदाहरण के लिए अनुभूति की अन्धता पर

उतना विश्वास न कर हीगेल आदि ने तर्क-पद्धति का आविष्कार कर ईश्वर-आत्मा को सिद्ध करने का प्रयत्न किया और पन्तजी के अनुसार इस प्रकार का प्रयत्न सफल हो नहीं सकता था क्योंकि ब्रह्म को सिद्ध करने के लिए अन्तर्चेतना (intuition) की पद्धति स्वीकार करनी चाहिये। तर्क मन के स्तर की चीज है और उससे ब्रह्म की सत्ता सिद्ध हो नहा सकती, उससे भौतिक जगत में कार्य हो सकता है। अतः योरोप के दार्शनिकों के मन मे एक द्वन्द्व उत्पन्न हो गया था। इसीलिए हीगेल द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति का आविष्कार करने के लिए विवश हो गया था (कितना वैज्ञानिक विश्लेषण है?) क्योंकि मन से अलौकिक सत्ता का निर्धारण सर्वथा असम्भव है। अतः इस मानसिक द्वन्द्व ने मार्क्स के माध्यम से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में वहिर्द्वन्द्व का रूप धारण किया। मार्क्सवाद की यह अन्तर्चेतनात्मक (Subjective) व्याख्या है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मानसिक द्वन्द्व के कारण उत्पन्न नहीं हुआ, वह एक वैज्ञानिक, आवजेक्टिव चिन्तन-पद्धति है जिसका प्रमाण इतिहास विज्ञान व समाज शास्त्र पग-पग पर देता है, मार्क्स ने इसे केवल स्पष्ट किया-अत' उससे हम आदिम सभ्यता से लेकर आज तक के मानव-विकास को समझ सकते हैं तथा दर्शन की जिस प्रकार चरम सीमा हीगेल से दिखाई पड़ी और उसने सूक्ष्म-जगत से जिस तर्क का प्रयोग किया, उसे जब वाह्य-जगत पर लागू किया गया तो उससे भूत-वर्तमान का विश्लेषण सम्भव हो सका।

'युग सीमा' यह थी कि पदार्थ (Matter) व समाज के विकास में द्वंद्व की सत्ता पहले भी थी परन्तु पूँजीवाद के पूर्व समाज के 'द्वन्द्वात्मक विकास' को समझाने का कोई साधन सम्भव न था। मार्क्सवाद के पूर्व 'द्वन्द्वात्मक पद्धति' का समझ लेना असम्भव था क्योंकि समाज-विकास के एक निश्चित सोपान पर जाकर ही जब उसके अतर्विरोध उग्र रूप में स्पष्ट होने लगे तभी द्वन्द्व-पद्धति को समझा जा सका और व्यक्तिवादी निरपेक्ष अध्यात्मवादी चिंतन की अवैज्ञानिकता का अत हुआ? यह थी "युग सीमा"। परन्तु पंतजी कहते हैं कि मार्क्स का चिंतन भी अंततः "अपनी युग-सीमाओं से बाहर नहीं जा सका।" इसका अर्थ वह यह लेते हैं कि मार्क्स ने जो बात कही थी वह एक विशेष परिस्थिति में कही थी। अब वह आज कैसे स्वीकरणीय हो सकती है। परन्तु जैसा कि मैंने कहा कि "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद"

केवल पदार्थ व समाज के विकास का आधार द्वन्द्व को मानता है और इस सम्बन्ध में युग-सीमा इस रूप मे स्वीकार की जा सकती है कि इस तथ्य का ज्ञान पूँजीवाद के पूर्व सम्भव नही था जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया। अब यदि कहें कि गत शताब्दी के "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" को हम अब क्यों स्वीकार कर ले, तो इसका उत्तर यह होगा कि जब तक समाज में द्वन्द्व जीवित हैं, वर्ग की सत्ता है, तब तक आपको यह मानना ही होगा कि समाज वर्ग-हीन व्यवस्था की ओर जा रहा है और भविष्य मे वर्ग-हीन समाज में अतर्विरोधों का नाश हो जायगा। उस युग मे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अस्त्र से आप भूतकाल की व्यवस्थाओं का अध्ययन करते रहेंगे और साथ ही अपनी व्यवस्था मे उत्पन्न होने वाले अतर्विरोधों के शमन का भी प्रयत्न करेंगे। यह है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का भविष्य। फिर उसके बाद क्या होगा ? क्या मार्क्स से चिंतन आगे न बढ़ेगा ? ये प्रश्न दूर-भविष्य के हैं। मार्क्स और ऐंगिल्स आदि ने भविष्य की रूप-रेखा अवश्य दी है परन्तु भविष्य के सम्बन्ध मे मानवीय बुद्धि बहुत दूर तक नहीं जा सकती। पूर्ण साम्यवाद के युग में चिंतन का विकास अवश्य होता रहेगा। उसका रूप क्या होगा, हम नही कह सकते। पत व अरविन्द ही इतने साहसी द्रष्टा हैं कि वे ऊर्ध्व-चेतनावस्था का चित्र दे सकते हैं परन्तु अरविन्द को यह मानना पड़ा कि "सुपरामैण्टल" की दशा का वर्णन नही हो सकता। अत. मार्क्स के पुराने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तब तक तो आवश्यकता स्वीकार करनी ही होगी जब तक वर्ग-हीन समाज का निर्माण नही हो जाता उसके बाद "युग सीमा" प्रारम्भ हो सकती है। किन्तु पन्तजी के लिए बाहर का रण समाप्त हो गया है और वे मार्क्स की युग-सीमा दिखाकर ब्रह्मवाद का प्रचार करना ही अपना उद्देश्य मानते हैं। इसलिए वैज्ञानिक पद्धति स्वीकार न कर अबौद्धिक रहस्यवादी पद्धतियों को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मार्क्स ने सिर के बल खड़े हीगेल को धरती पर लाकर खड़ा नहीं किया (अर्थात् हीगेल के तर्क का प्रयोग स्थूल जगत पर किया सूक्ष्म जगत पर नही) बल्कि उस युग मे योरोप की राजनैतिक आर्थिक परिस्थितियों से जनता का मन युद्ध के लिए तैयार हो चुका था और उसके समर्थन के लिए मार्क्स ने एक 'दर्शन' की कल्पना करली और वर्ग-युद्ध के सिद्धान्त को

स्वीकार कर रक्तक्रान्ति का समर्थन कर दिया। परन्तु यह विश्लेषण गलत है क्योंकि मार्क्स ने वस्तुओं के इतिहास की व्याख्या की और अपने दृष्टिकोण को हवाई रूप न देकर यथार्थ रूप दिया। उसकी यथार्थता का प्रमाण यह है कि प्रत्येक देश के इतिहास व वर्तमान-काल की अवस्था का अध्ययन मार्क्स की दृष्टि से करने पर वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त सही उतरता है। आज जनतन्त्र के इस युग में वर्ग-संघर्ष इसलिये तीव्र नहीं हो रहा है कि मार्क्सवादी प्रचार करते हैं (क्योंकि अब भी रहस्यवादियों, धार्मिकों, आदर्शवादियों, दार्शनिकों का प्रचार मार्क्सवादियों से अधिक हो रहा है और उन्हें सुविधाएँ भी अधिक हैं) बल्कि इसलिये कि वर्तमानकाल में जनतन्त्र प्रधान देशों में अन्तर्विरोध बढ़ रहे हैं, अतः वर्गसंघर्ष तीव्र हो रहा है। मार्क्स ने यह सिद्धान्त खोज कर केवल एक देश की समस्या को हल नहीं किया बल्कि उसने विश्व भर में उसी सिद्धान्त को लागू किया और वह सही साबित हुआ। व्यवहार प्रमाण है, कल्पना नहीं। मैंने कहा था कि अन्तर्दृष्टि गलती भी कर सकती है, तथ्यों को देखना चाहिए, तभी सिद्धान्तों में दृढ़ता रहती है। मार्क्स ने तथ्यों का मन्थन किया था, अरविन्द व पन्तजी शुद्ध कल्पना का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि आज जिन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता है उनके विश्लेषण तथ्यहीन और सारहीन प्रमाणित होते हैं।

पन्तजी के मतानुसार मार्क्स ने अपने युग-संकट का समाधान करना चाहा और इसलिए मार्क्स ने इतिहास की गलत व्याख्या कर तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति कर यह प्रमाणित कर दिया कि वर्गयुद्ध ही सही है। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्क्स दार्शनिकों की तरह शङ्का-समाधान के रूप में ही अपना सिद्धान्त खोज रहा था कि किसी प्रकार जनता को यह समझा दिया जाय कि पूँजीपतियों से लड़ने में ही भलाई है। यदि ऐसी बात थी तो यह तो कठिन कार्य नहीं था क्योंकि सर्वहारा के दुःखों का वर्णन करने से, उन्हें उत्तेजित करने से ही यह कार्य हो सकता था। रही शङ्का-समाधान की बात, यह तो अरविन्द की तरह किसी भी शङ्का का पक्षपाती ढङ्ग से समाधान कर देना कठिन नहीं है। परन्तु 'मनस्वी' मार्क्स ऐसा सस्ता समाधान-खोजी नहीं था। उसने जिस वर्गसंघर्ष के सिद्धांत को खोज निकाला था, वह

तात्कालिक समाधान न होकर विश्व के सारे मानवीय-विकास -को समझाने का एक मात्र साधन है। ब्रह्मवादी इतिहास की गति को नहीं समझ पाते क्योंकि उनका चिंतन सूक्ष्म व निरपेक्ष क्षेत्र में कार्य-करता है वह भी विश्वास का सूत्र पकड़ कर। उनको चिंतन-पद्धति वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट नही करती, मार्क्स की चिंतन -पद्धति इसके विपरीत प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करती है और सामाजिक दृष्टि से तथ्यों के आधार पर उनका मूल्याङ्कन करती है। अतः-वर्ग-संघर्ष अत्र काल्पनिक समाधान नही, वैज्ञानिक चिंतन-पद्धति है जिसकी खोज ऐसे ही युग में सम्भव थी जबकि वर्ग-सघर्ष तीव्र हो। चूँकि मार्क्स के युग में वर्ग-संघर्ष तीव्र हो गया था अतः मार्क्स ने उसे खोज निकाला इसीलिए उसे आप तात्कालिक संकटों का समाधान मात्र नही कह सकते। किन्तु पन्तजी को यह भी ऐतराज है कि हीगेल, मार्क्स आदि 'मन' से क्यों सोचते थे, अन्तर्चेतना का प्रयोग क्यों नही करते? यदि वे अंतर्चेतना का प्रयोग करते, तो वे भौतिकवाद का समर्थन कभी न करते?

तब भी पन्तजी मार्क्स द्वारा प्रतिभाषित "वर्ग संतुलित" जन तंत्र तथा भारतीय जीवन-दर्शन को विश्व-शांति व लोक-कल्याण के लिए आदर्श संयोग मानते हैं। इस सम्बन्ध में वह विवेकानन्दजी को उद्धृत करते है—"मैं योरोप का जीवन-सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ"। भारत के जीवन-दर्शन की जगह "हिन्दू-दर्शन" होना चाहिए क्योंकि भारत से अनेक जीवन-दर्शन हैं और उनमें कुछ हिन्दू-दर्शन के घोर विरोधी हैं। अत उपर्युक्त मान्यता गलत है। यदि यह कहा जाय कि सभी भारतीय दर्शन एक हैं तो उसका उत्तर यह है कि आज का युग ही नही, कल का युग भी ऐसे समन्वय को स्वीकार नही कर सकता जो व्यावहारिक नही है। 'मार्क्सवाद' के साथ भारतीय मत क्या अन्य देशों के किसी भी अध्यात्मवाद का समन्वय नहीं हो सकता। रही विश्व-शांति की स्थापना की बात, वह अध्यात्म-वादी देशों की अध्यात्मवादी सरकारों को ही मानवीय बनाने से होगी क्योंकि वे ही विश्व-शान्ति को भङ्ग करने के लिए कदम उठाया करती है। जिन अध्यात्मवादियों के शांति के उपदेश विश्व-मञ्च पर होते हैं, आंतरिक शासन में वे ही अध्यात्मवादी घोर दानवीय दमन का मार्ग अपनाते हैं। इस अन्तर्विरोध का नाश अध्या-

त्मवाद से न होकर विश्व-शांति नाशक कारणों के नाश से ही होगा और शांति-विरोधी कारणों का नाश केवल मार्क्सवाद से ही सम्भव है जो "हृदय परिवर्तन" में विश्वास न कर, उन परिस्थितियों को उत्पन्न करता है जिसमें व्यक्ति के दुहरे व्यक्तित्वों की गुञ्जायश ही नहीं रहती। अतः सांस्कृतिक दृष्टि से भी "मार्क्सवाद" के साथ किसी अध्यात्मवाद के समन्वय की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। दिव्य गुणों के विकास के लिए भी जैसा मैंने पहले भी कहा है कि ईश्वर-विश्वास की कोई आवश्यकता नहीं है, व्यक्ति को सामाजिक बनने के लिए उचित वातावरण बनाने की और सामाजिक दृष्टिकोण के विकास की आवश्यकता है, एकान्तिक साधनाओं के विकास की नहीं। किन्तु पन्तजी की दृष्टि से समदिक् धरातल पर वर्ग-हीन समाज की स्थापना हो ही नहीं सकती। केवल ऊर्ध्व-सञ्चरण ही वर्ग-हीन समाज की स्थापना कर सकता है। इस पूर्वाग्रह के लिए कोई क्या कह सकता है?

पन्तजी के अनुसार आज के युग का दुर्भाग्य है अन्तः संश्लेपण व बहिःसंनिधान की कमी। आज मानव का मन वाह्य-विश्लेपण से आक्रान्त और अन्त संश्लेपण से रिक्त है। पन्तजी पुनः अपने ऊर्ध्व-सञ्चरण से युक्त उच्च सांस्कृतिक धरातल पर खड़े होकर समन्वय की पुकार मचाते हुए 'अपटू-डेट' गाली का आविष्कार करते हुए कहते हैं कि जो लोग भौतिकवाद व अध्यात्मवाद में समन्वय असम्भव मानते हैं वे 'किपलिंग' के भारतीय संस्करण हैं। अर्थात् "जो हमारी बात नहीं मानते वे दुश्मन हैं, मूर्ख हैं और पता नहीं क्या-क्या हैं?" इस सिद्धान्त को मानकर आप किसी को भी 'किपलिङ्ग' कह सकते हैं किन्तु मनचाहा समन्वय खोज निकालना कठिन कार्य नहीं है। कठिन कार्य है तथ्यों का मन्थन करके, उनके विरोध में जाने पर अपने ज्ञान की गलती को शुद्ध करने के लिए प्रस्तुत रहने की ईमानदारी वरतना और यह पन्तजी के पास शायद नहीं है। पन्तजी का समन्वय कोई नवीन तथ्य नहीं है, थियोसोफी के विचारक बहुत पहले 'समन्वय' की पुकार मचा चुके थे परन्तु उनका 'समन्वय' मान्य नहीं हो सका। इसी प्रकार पन्तजी का समन्वय मान्य नहीं हो सकता। कम से कम 'बुद्धि' द्वारा तो ऐसा समन्वय भीअसम्भव प्रतीत होता है और 'बुद्धि' के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञान के साधन को यदि हम स्वीकार करते हैं तो वह बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं होगा।

पन्तजी इसी बुद्धि के विरुद्ध जिहाद बोलते हुए कहते हैं कि आज के कलाकार का कर्त्तव्य यह नही है कि वह वर्गहीन समाज की स्थापना में हाथ बटाए अपितु "थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धान्तिकता के मृग-जल-मरु में भटकी हुई अन्त-शून्य मनुष्यता का ध्यान उसके चिर-उपेक्षित अन्तर्जगत् तथा अन्तर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके ... स्वाभाविक प्रेम का स्पन्दन तथा देवत्व का सङ्गीत जागृत कर सके।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पन्तजी बुद्धि से परेशान हैं जो तर्क को जन्म देती है और विश्वास पर आधारित सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करती। अत कवि का कर्त्तव्य उसकी दृष्टि से देवत्व के गीत गाना है तथा मार्क्सवाद का विरोध करना है क्योंकि मार्क्सवादी व्यक्तिगत घृणा, द्वेष तथा जनोद्धार के आवरण में अनीति का प्रचार करते हैं, लोक-हितैषिणा के छद्म-वेश मे शक्ति-प्राप्ति के इच्छुक हैं, वाद-पीड़ित हैं, पूँजीवादियों के द्वारा युद्ध की तैयारी के लिए सन्नद्ध होने पर आत्म-रक्षा के लिए युद्ध की तैयारी करते हैं।

पन्तजी को यदि मार्क्सवाद से इतनी चिढ़ है तो वे क्यों उसका समन्वय करना चाहते हैं और यदि मार्क्सवाद से नही वे कुछ इने-गिने भारतीय सङ्कीर्णतावादी, साम्यवादी आलोचकों से नाराज हैं तो उसे स्पष्ट क्यो नही कहते ? इसमे 'मार्क्सवाद' कुछ नहीं कर सकता है उसे स्वय सङ्कीर्णतावादियों से खतरा है। यदि वे रूस की युद्ध की तैयारी से क्रोधित हैं तो साम्राज्यवादी युद्ध-लोलुपों के सम्मुख प्रेम की वंशी बजा-बजाकर यदि रिझाने का काम भी शुरू किया जाय तो भी वे नही मान सकते, यह पन्तजी भी जानते है। तब अनुशासित शक्ति-सम्पन्न, जनवादी राष्ट्र के प्रति इतनी घृणा क्यों ? क्या समन्वय के छद्म-वेश मे मार्क्सवाद को यहाँ बदनाम करने की मंशा तो नहीं छुपी हुई है ? परन्तु जनता इतनी मूर्ख नही। वह पन्तजी के 'समन्वयवाद' को खूब समझती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उसमें कोई नवीन सन्देश नही है।

"उत्तरा की भूमिका मे पंतजी की विचार-धारा को स्पष्ट करने के पश्चात् हमे 'उत्तरा मे उस विचार धारा की अभिव्यक्ति देख लेनी चाहिए ताकि 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' में अभिव्यक्त चिंतन के स्वरूप का क्रम स्पष्ट हो जाय। "उत्तरा" में कवि स्पष्ट कहता है कि आज का युग संक्रान्ति-काल का युग है। उसमें स्थूल भौतिकवाद

का धरातल बदल रहा है और सूक्ष्म तथा ऊर्ध्व-दिशा में चेतना का विकास हो रहा है। अतः आन्तरिक जीवन के विकास के लिए हमें नवीन-चेतना में विश्वास करना चाहिए।

"बदल रहा अब स्थूल धरातल,
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत अब
विकसित अंतर्जीवन, अभिमत"

'उत्तरा' में नवीन प्रतीकों में कवि बार-बार भूमिका में संकेतित नूतन अध्यात्मवादी चेतना के गीत गाता है जो आज के मानव को ऊर्ध्व-चेतन की ओर लिए जारही है। संक्रान्ति के इस युग में 'मन' के बाहरी स्तर पर ही रुक जाने के कारण संशय, भय, उद्वेग, विद्वेष, घृणा, वर्ग, वर्ण, जाति, राष्ट्र, शोषक, शोषित आदि के भेद प्रतीत हो रहे हैं परन्तु साथ ही मन के भीतर जो अव्यक्त मन या सूक्ष्म मन छिपा हुआ है उसके माध्यम से हमें ऊर्ध्व-चेतना का आभास भी हो रहा है :—

"जलता मन मेघों का सा घर—
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर
दूर, क्षितिज के पास देखती
रेख क्षितिज की नूतन
× × ×
खुलता बाहर तम कपाट
भीतर प्रकाश का तोरण"

पंतजी के लिए शोषक व शोषित का भेद कृत्रिम है क्योंकि इस प्रकार की भेद-दृष्टि तभी उत्पन्न होती है जब हम अंतर्दृष्टि का उपभोग नहीं करते। अतः आंतरिक दृष्टि के अभाव में ह्रासोन्मुख शक्तियाँ इस प्रकार का भेद कर अपने ही विनाश में तत्पर हैं—

"धनिकों श्रमिकों का स्वरूप धर,
ह्रास-शक्तियाँ आत्म नाश हित तत्पर,
क्षोभ भरे युग-शिखर उमड़ते दुर्धर,
टकराता भू ज्वार, क्षुब्ध भव-सागर"

पंतजी संक्रान्तिकाल के पश्चात् आने वाले नूतन-युग का स्वरूप अंकित करते हुए कहते हैं कि भविष्य में तर्क व वाद-विवाद नहीं होंगे।

अन्तर्दृष्टि का विकास होगा। श्रम से सब प्यार करेंगे। सादा जीवन, उच्च विचार का युग आजावेगा। गत-युगों की विचार-धारा नष्ट हो जायगी और अरविन्द के दर्शन को ही मान्यता मिल जायगी।

एक जगह समन्वय के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ कवि कहता है कि समष्टि-चेतना व व्यष्टि-चेतना में अन्तर नहीं है, जड़तत्त्व भी उसी समष्टि-चेतना का ही अङ्ग है। अतः जड़ व चेतन में भेद करना, उन्हें विरोधी तत्त्व मानना बुद्धि का भ्रम है—

"मैं हीं सोया भू पर नीरव,
मेरे ही भू रज के अवयव।
अपने प्रकाश से कर उद्भव;
मैं ही धारण करता हूँ भव॥"

कवि इस 'अन्तर्चेतनावाद' को सामयिक दर्शन बताता है क्योंकि अब राष्ट्र स्वतन्त्र हो गया है। अतः अब बाह्य सङ्घर्ष समाप्त हो गया है। अब आन्तरिक-विकास की आवश्यकता है। (आज चेतना का गत वृत्त समापन) और इस आन्तरिक विकास के लिए 'ऊर्ध्व-चेतन' से हमारे मन में गुञ्जार उत्पन्न हो रही है।*

"आज गहन तम उपचेतन-भुवनों में जगता गुञ्जन"

विज्ञान का विश्वास है कि ज्ञान के साधन केवल इन्द्रियाँ व मन हैं परन्तु कवि की दृष्टि से यह गलत है क्योंकि आज स्पष्ट रूप से हमारे 'मन के भीतर का मन' गाता है और उसके परिणामस्वरूप नवीन अध्यात्मवादी चेतना-रूपी रजत-स्वर्ण के पुलिनों से टकरा कर मन (Mind) की यह जड़ता नष्ट हो रही है, मन को यह स्वीकार करना पड़ रहा है कि उससे भी परे 'कुछ और' है और यह 'कुछ और' बाह्य जगत से कहीं अधिक सुन्दर, चमत्कारक और यथार्थ है। आज स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि अब बाह्य भौतिक जगत् के प्रति राग नहीं रहा, उर के भीतर ही भीतर कुछ बदल गया है और बाहरी जगत रीते घट सा लगता है—

"खोगया कामना का घनत्त्व,
रीते घट सा अब जग बाहर।"

---

* There is a call from above' and response from below ?

इसीलिए अन्तर कराह-कराह कर युग-परिवर्तन की पुकार मचा रहा है। बुद्धि और हृदय का परिणय हो रहा है। अब तक की मनुजता सङ्कीर्ण और थोथी थी, उसका क्षय हो रहा है, शाश्वत मधु वैभव लुटाती अनुभूति उत्पन्न हो रही है, अभिमान अश्रु बन कर झर रहा है, स्वर्णिम प्रकाश में अन्धकार गल रहा है, प्रतीति में भ्रम नष्ट हो रहा है, सौन्दर्य-रहस की वर्षा हो रही है, रुद्ध स्पृहा नष्ट हो रही है। तर्कवाद समाप्त हो रहे हैं, असीमित ज्ञान का उदय हो रहा है, शत-शत रङ्गों की छायाएं मन के भीतरी स्तरों पर नृत्य कर रही हैं, पुरातन युग अब अवचेतन में निमग्न हो रहा है। आध्यात्मिक-चेतना का गुणगान करता हुआ, रहस्यवादियों की शैली में अलौकिक अनुभवों को प्रतीकों में बाँधता हुआ कवि नूतन चेतना के युग में मार्क्सवादियों—जाति व धर्मवादियों से पूछता है—

"तुम क्या रटते थे जाति धर्म
हाँ, वर्ग युद्ध जन-आन्दोलन
क्या जपते थे आदर्श-नीति
वे तर्कवाद अब किसे स्मरण?"

इस प्रकार कवि "यूटोपिया" की रमणीय कल्पना में मग्न हो जाता है। और 'उत्तरा' में इस यूटोपिया को इसीलिए मानवीय कहता है ताकि कोई कही इसे कल्पित न मान ले?

"यह मानवीय रे सत्य अखिल,
आधार-चेतना, कला कुशल।"

यही नहीं वह जहाँ मानवों को अमरत्वदान का अभिलाषी है वहीं देवों को 'स्वप्न मांस के मर्त्य वसन' भी पहराता है—

"देवों को पहना रहा पुनः
मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन।
मानव आनन से उठा रहा
अमरत्व ढँके जो अवगुंठन॥"

मैंने कहा है कि अरविन्द 'मार्क्सवाद' को "जल्दबाजी में किया गया सुविधाजनक समाधान" मानते हैं। पंतजी और भी आगे बढ़कर उन्हें डाटते हुए पूछते हैं कि क्या यांत्रिक बल से मानव का देवोत्तर विकास रोका जा सकता है? क्या वस्तुवाद से अक्षय-प्रकाश को ढँका जा सकता है? निर्मम जड़ता से जीवन की चेतन कोमलता नष्ट

नहीं हो सकती। सत्य तो एक ही है जो जड़ व चेतन दोनों स्वरूप धारण करके भी दोनों से परे रहता है—

"तुम वस्तु तमस में ढँक दोगे
आदर्शों का अक्षय प्रकाश ?
यांत्रिक पशु बल से रोकोगे
मानव का देवोत्तर विकास।
× × ×
है सत्य एक—जो जड़ चेतन
क्षर अक्षर, परम, अनंत सांत"

इस प्रकार कवि 'उत्तरा' में एक ही चिरन्तन सत्ता के विभिन्न स्तरों में समन्वय स्थापित करने के लिए विकल है। वह अव्यक्त मन मे आभासों के रूप में जब तब प्राप्त ऊर्ध्व-चेतना के क्षणों में जिस सौन्दर्य, श्री, मधुरिमा, प्रकाश, दिव्यता, प्रेम व आवेश का अनुभव प्राप्त करता है उसे विभिन्न प्रतीकों में व्यक्त करता है। कभी कभी उस अलक्षित ऊर्ध्व-चेतना के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कर, विभिन्न दैवी गुणों के सम्मिलन को शृङ्गारिक शब्दावली में व्यक्त करता है। कभी इस आंतरिक उल्लास के अनुभवों को न मानने वाले जड़वादियों पर व्यङ्ग करता है। इस प्रकार कवि की 'उत्तरा' की भूमिका में स्थापित मान्यताओं को काव्य का परिधान पहनाया गया है। कहीं भी कवि की कोई पंक्ति अरविन्द-दर्शन से आगे बढ़कर नवीन तथ्य का उद्घाटन नहीं करती, सारी विचार-धारा का विभाजन करें तो उसे इन स्तम्भों में बाँट सकते हैं।

(१) नूतन अंतर्चेतना का स्वागत।

(२) अरविन्द द्वारा वर्णित विभिन्न चेतना-स्तरों की ओर संकेत।

(३) ऊर्ध्व-चेतना (Super mind) की स्थिति में प्राप्त अनुभवों के काल्पनिक वर्णन।

(४) अरविन्द दर्शन के अविश्वासियों व 'समन्वयवाद' के विरोधियों का विरोध।

(५) मध्यकालीन घोर व्यक्तिवादी मान्यताओं का खण्डन।

(६) प्राचीन तत्त्व द्रष्टा ऋषियों के कथनों का समर्थन।

(७) आधुनिक विज्ञान व बुद्धिवाद का विरोध।

(८) विश्व-शान्ति, विश्व-कल्याण और जन-हित की भावनाओं का

प्रसार तथा इनको ऊर्ध्व-चेतन में विश्वास का ही परिणाम समझना।

(९) ऊर्ध्व-संचरण की अवस्था में विभिन्न मानसिक स्थितियों का वर्णन।

(१०) वाह्य-संगठन के साथ-साथ आंतरिक संगठन के लिए अरविन्द दर्शन की अनिवार्यता का उपदेश।

(११) मनुष्य के हृदय की कोमल वृत्तियों के जागरण के लिए प्रार्थनाएँ और इस प्रकार 'ईश्वर' के समाजीकरण का प्रयत्न।

(१२) अरविन्द की पद्धति पर मनोविज्ञान (चेतन, अवचेतन और उपचेतन), विज्ञान (बुद्धि व प्रयोग) मध्यकालीन आदर्शवाद (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) तथा मार्क्सवाद के साथ क्रमशः ऊर्ध्व चेतन हृदय मार्क्सवाद तथा आत्मवाद का समन्वय।

(१३) संक्रांति काल के गुणों—युग विषाद, द्वन्द्व, युद्ध, सीमित दृष्टि आदि का विरोध।

(१४) अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द मय कोशों में एकता की स्थापना का प्रयत्न।

(१५) अतीत की मान्यताओं द्वारा भविष्य के रूप-निर्माण की चेष्टा।

३—काव्य-रूपक (अ) रजत-शिखर

'उत्तरा' के पश्चात् पन्त जी के चिन्तन के स्वरूप को समझने के लिए उनके काव्य-रूपकों के अनुशीलन की भी आवश्यकता है। हम अत्यन्त संक्षेप में इन रूपकों में कवि की विचारधारा तथा अरविन्द के उस पर प्रभाव का दिग्दर्शन करेंगे।

१—रजत शिखर—पन्तजी के काव्य रूपकों का प्रथम संग्रह है। कवि के अनुसार रजत-शिखर अन्तश्चेतना का प्रतीक है। यहाँ भी ऊर्ध्व व समतल संचरणों का द्वन्द्व व समन्वय दिखाया गया है—

[एक युवक साधक है, सुखव्रत एक मनोविश्लेषक, एक युवती—साधक युवक की पत्नी] युवक मन के वाह्य स्तर पर इन्द्रिय सुखों की कामना से पीड़ित है परन्तु साथ ही जब तब उसे अंतश्चेतना का आभास भी होता है। युवक साधक के रूप में कवि ने अपनी मानसिक स्थिति का चित्रण किया है। समस्या को भी इस प्रकार रखती है—

"एक युवक, जो रहता छाया की घाटी में
जग जीवन के संघर्षण से श्रांत क्लांत हो
सोच रहा, मैं कैसे प्राप्त करूँ महिमोज्वल
मानस की उस निभृत रुपहली ऊँचाई को"

युवक सौरभ मृग सा गंध से अंधा होकर प्राणों की मोहित घाटी में भटकता है। यौवन की सतरङ्ग इच्छाएँ उसे बाँधना चाहती हैं। वे उसे बहिर्मुख बनाना चाहती हैं जबकि वह जीवन के इस कर्दम से ऊपर उठना चाहता है। स्त्री के सौन्दर्य को देखकर युवक साधक प्राचीन प्रेम की स्मृतियों में मग्न हो जाता है। स्त्री उसे ऊर्ध्व-चेतना की ओर ले जाना चाहती है। वह प्रेम के भावावेश को मध्य-युगीन प्रवृत्ति कहती है—

"आज प्रेम विषयक इन मध्य-युगी, शुक जल्पित
उद्गारों की कीर्ति तुम्हारे मुख से सुनकर
मेरा मन अवसन्न, हृदय उद्विग्न हो रहा।"

और युवक कामिनी के सौन्दर्य को साधना में बाधक न मान कर प्रेम-भावना के उन्नयन का उपदेश देता है। किन्तु सुखव्रत साधक युवक को अतृप्ति का शिकार बताता है और सभी कवियों को अवचेतन से प्रभावित मानता है। वह आत्मा, परमात्मा के प्रति साधक युवक के विश्वास का मूल कारण पितृ-प्रभाव मानता है और (यह बहुत कुछ ठीक भी है) साथ ही हीनता—ग्रंथि को भी इस रजत-शिखर की खोज का कारण बताता है किन्तु युवक के मुख से कवि अपनी विचारधारा इस प्रकार रखता है—

"तब क्यों शुक की भाँति रटें हम अवचेतन के
उप भेदों को, उच्छृंखलता से प्रेरित हो,
यदि उन पर अधिकार नहीं है, चेतन मन का।"

किन्तु 'चेतन-मन' के निर्णय पर सुखव्रत सामाजिक दबाव का प्रभाव बतलाता है—

'पचहत्तर प्रतिशत मनुष्य के उद्वेगों का
कारण, रागात्मक प्रवृत्ति का अध दमन है।
थोथी रुग्ण, अवैज्ञानिक आचार भित्ति पर
म्लान भावना का है भवन बना समाज का

उठते शत दुर्गन्ध, मलिन, उच्छ्वास विषैले
जिनसे रहता सिंधु क्षुब्ध मानव का अंतर"

किंतु 'अरविन्दवादी' युवक मनोविज्ञान का खण्डन करता है—

"बहुत सुन चुका अधः प्राण संदेश तुम्हारा
निश्चय ही अब नरक द्वार खुलने वाला है!
निश्चेतन के अंधकार में युग का भू-मन
भटक रहा है, नैतिक मूल्यों का प्रकाश खो!
अधः पतन में मुक्ति नहीं है! ऊर्ध्व गमन ही
मुक्ति द्वार है! मोह मुक्त हो गया आज मन
× × ×
ऊर्ध्व ज्योति की विजय ध्वजा फहरानी होगी।
तभी मुक्त होगी निःसंशय प्राण चेतना"

और फिर कवि अरविन्द की पद्धति पर महा चेतना के निम्न व ऊर्ध्व-विकास को समझाता है—

"महाश्चर्य है! वही सत्य है! ऊपर है जो
शिखर, वही नीचे प्रसार है! एक संचरण
मात्र! ऊर्ध्व हो अथवा समदिक्, दोनों ही पर
अन्योन्याश्रित हैं निश्चय! दोनों के ऊपर
एक अनिर्वचनीय रहस्य, हृदय रोमांचक।"

इस अनुभूति के पश्चात् साधक युवक विश्व-मानवता के उद्धार में तत्पर हो जाता है। पंतजी ने 'दर्शन' का समाजीकरण करने का प्रयत्न किया है, एकता के ज्ञान व ऊर्ध्व-चेतना के ज्ञान का हमारे जीवन पर यह प्रभाव पड़ता है कि हम विश्व के उद्धार के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं—

"भ्रातृ-भावना, विश्व-प्रेम से भी गम्भीरतम
ज्योति पाश में बाँधे, हम नव मानवता को
जिसका दृढ़ आधार एकता हो आत्मा की,
जिसकी शाश्वत नींव, चेतना की उज्ज्वलता
आओ, हम नव मानव का घर द्वार बसाएँ

२—फूलों का देश—दूसरा रूपक है जो सांस्कृतिक चेतना का स्तर है इसमें अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, वस्तुवाद सम्बन्धी संघर्ष की

अभिव्यक्ति कर उनमें समन्वय की स्थापना की गई है और दोनों की उपयोगिता दिखाई गई है—

[कलाकार (साधक), वैज्ञानिक व विद्रोही मार्क्सवादी जन पात्र हैं]

इस रूपक में कवि को वस्तु-जगत से ऊपर कला में मग्न दिखाया गया है। वह अलौकिक भावनाओं के सृजन में लवलीन है किन्तु सामान्य वस्तुवाद से प्रभावित नर-नारी उस कलाकार का अपमान करते हैं। ऐसा लगता है कि साम्यवादी व्यवस्था का कोई स्वप्नदर्शी कवि है जो आदेशों पर कविता न लिखकर आत्म-स्फुरण के संकेत पर कविता लिखता है (यहाँ पंतजी ने अपने को कवि रूप में साम्यवादी युग में रखा है)। जनता पूछती है—

"कौन, कौन तुम अरुण, वसंत, मदन से सुन्दर
पत्रों के प्रच्छाय नीड़ में यहाँ छिपे हो
पक्षी से एकाकी ? नगरों से, वासों से
दूर, सभ्यता के केन्द्रों से विरत, विमुख हो
युग जीवन संघर्षण से, जन आकर्षण से !"

और कवि पन्तजी की तरह उत्तर देता है—

"अरुण वसन्त मदन सा ! पक्षी सा एकाकी
कलाकार हूँ मैं, पर जीवन संघर्षण से
विरत नहीं हूँ, देखो मेरी स्वप्न निमीलित
आँखों में भावी का स्वर्णिम बिम्ब पड़ा है !"

अत: पन्तजी से अब कोई साम्यवादी यह न कहे कि वे पलायनवादी हैं क्योंकि उनके नयनों में भविष्य का चित्र तैर रहा है और उसी चित्र को वे नूतन-काव्य में दे रहे हैं। कला की दृष्टि से यह कार्य और कोई नहीं कर सकता। केवल स्वप्न-द्रष्टा ही इसे कर सकता है। वह सामान्य जन की क्षुद्रताओं से दूर मानव की भावी मूर्ति गढ़ रहा है, रेडियो उसके स्वप्न खरीद खरीद कर जनता में वितरित कर रही है ताकि जनता में ऊर्ध्व-चेतना का प्रसार हो, छोटी बातों की ओर—रोजी-रोटी के सङ्घर्ष की ओर जनता का चित्त न जाए, आत्मा-परमात्मा की ओर अन्तश्चेतना का विकास हो ताकि मनुष्य देवता बने, रोटी के लिए तो कौवे, कुत्ते लड़ते हैं ! मनुष्य क्या इनसे भी गया बीता है ? अतः कवि कहता है—

"स्वर्ग की वेणी से मैं
इन्द्रधनुष को छीन, धरा के तिमिर पाश में
उसे गूँथ जाऊँगा—देवों की विभूति से
मनुष्यत्व का पद्म खिला जीवन कर्दम में।"

प्रथम स्वर—खूब अहंता का ऐश्वर्य मिला है तुमको!
द्वितीय स्वर—आत्मवंचना का उन्माद पिए हो मादक!
प्रथम स्वर—कलाकार हो, तभी हवा में महल बनाते।
रिक्त स्वर्ग में रहते, आत्म पलायन के हो॥

इस प्रकार मार्क्सवाद की दृष्टि से पन्तजी अपना विश्लेषण कर फिर अपनी ओर से अपनी प्रगतिशीलता इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

"तुम जो अस्त्रों शस्त्रों से सज्जित सेना ले,
विजय-ध्वजा ऊँची कर, चलते संख्याओं में
तुम भी मेरा कार्य कर रहे! धरा-धूलि मे
जो जीवन तृष्णा, भुजङ्ग-सी शतफन फैला
लोट रही है नीचे, मैं ऊपर से उसकी
शोभा रेखाएँ अङ्कित करता तटस्थ हो,
व्यापक युग-पट में सँवार कर।"

और साथ ही—

"उसकी घातक विष की फुंकारों को पीकर, मर्माहत हो,
हृदय दाह में जलता प्रति पल, मैं उस पर हूँ
बरसाता चेतना अमृत निज, तिक्त घृणा को
मधुर प्रीति में, कटु तमिस्र को उर प्रकाश में
आत्म-विद्रवित कर! केवल स्वर शब्दों की ही
रिक्त साधना मात्र नही होती युग कवि की
उसे साम्य, संगति, सार्थकता भरनी होती
जीवन विशृंखलता में सौन्दर्य खोज कर,
मानस कमल खिला कर्दम में!"

इस प्रकार पंतजी ने अपनी प्रगतिशीलता के तीन आधार बताए हैं—

१—अध्यात्मवादी जनता के राग-द्वेष का तटस्थ होकर चित्रण करना।

२—क्रांतिकारी मार्क्सवादियों द्वारा उत्पन्न घृणा पर चेतना की अमृत वर्षा करना।

३—जीवन विशृंखलता में साम्य और सङ्गति की खोज करना।

पन्तजी ने पहला कार्य मार्क्सवादी प्रभाव के समय किसी सीमा तक किया था, अन्य दो कार्य वे आज कल अपने नूतन काव्य में कर रहे हैं। यदि तीनों कार्य एक साथ होते तो नूतन काव्य का रूप कुछ और होता और उसमें पलायन का स्वर तीव्र न होता। परन्तु उसमें आज चेतना की अमृत वर्षा व साम्य का कोलाहल तो बहुत है किन्तु सौन्दर्य की मूर्ति के स्थान पर धर्म व अध्यात्म की मूर्ति निर्मित होती चली जा रही है। इस अध्यात्म-प्रियता को अधिक से अधिक सामाजिक बनाने का प्रयत्न करता हुआ कवि एक पात्र से कहलाता है—

"तुम कवि हो, तुम कलाकार हो, तुम युग युग के
अभिशापित, शोषित जन गण के साथ रहोगे।
युग सङ्कट मे उद्बोधन के गान छोड़कर
तुम जनता को सम्बल साहस दोगे, सम्बल दोगे"

उद्बोधन के गान गाना निश्चित रूप से प्रगतिशील कार्य है परन्तु "उद्बोधन" के रूप को न समझ कर जनता उस "उद्बोधन" को यदि उसके पूर्ण रूप को उसी प्रकार स्वीकार कर ले जिस रूप मे पन्तजी उसे अपनी नूतन रचनाओं में प्रस्तुत कर रहे हैं तो जनता में वैयक्तिक अहं का इतना विकास होगा कि सामाजिकता के विकास में बाधा पड़ेगी। वैयक्तिक अहम्मन्यता के प्रसार में ऊर्ध्व-चेतन के दर्शन भले ही न हों परन्तु मध्यकालीन वैयक्तिकता (जिसका कवि विरोध करता है) का पुनरुद्धार अवश्य हो जायगा। अत "उद्बोधन" के गान के सभी स्वर प्रगतिशील और जनवादी नहीं हैं। फिर भी कवि का विश्वास है कि उसका प्रत्येक स्वर जनवादी है। अत वह अपनी खीझ इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह तो जन-कल्याण चाहता है मगर जनवादी नेता उसका सहयोग नही चाहते—

"अगर साथ रहने देंगे जनगण के नायक"

पन्तजी इस बात पर लज्जित हैं कि संक्रान्ति-काल की छायाएँ बढ़ रही हैं, भूख व दारिद्र्य का राज्य फैल रहा है परन्तु भूख सम्बन्धी

असन्तोष को जागृत करने वाली वृत्ति को कवि "अवचेतन के प्रेतों का अट्टहास" समझता है, और उसे वर्ग-वैषम्य के नाश की उतनी चिंता नहीं, जितनी अपने व्यक्तिगत दर्शन को मानवीय सिद्ध करने की—

कुछ स्वर—"मिथ्या है, सब मिथ्या जग में आज चतुर्दिक,
केवल सत्य, मनुज के उर की घोर घृणा है !
मिथ्या नैतिकता, मिथ्या आदर्श हैं सकल,
जन पीड़न शोषण के हित जो उद्धृत होते
केवल सत्य विषमताएँ हैं, प्रतिहिंसा है,
केवल सत्य अतृप्त पिपासा है, तृष्णा है"

ये "कुछ स्वर" मार्क्सवादियों के हैं जिनके मुख से पंत जी ने कहलाया है कि विषमता और प्रतिहिंसा ही सत्य है, नैतिकता, आदर्श आदि सब मिथ्या हैं अर्थात् पंतजी विषमता की सचाई स्वीकार तो करते हैं परन्तु अरविन्दवादी आदर्शों को भी सत्य सिद्ध करना चाहते हैं। विषमता को ही केवल सत्य मानने वालों के सम्मुख समता की स्थापना के लिए आध्यात्मिक आदर्शों के प्रयोग को ही वे एक मात्र उपाय मानते हैं (क्योंकि कवि ने वर्ग-विषमता-जन्य विद्रोह को तृष्णा, अतृप्ति और अवचेतन का प्रेत समझ रखा है और अवचेतन पर अनुशासन केवल ऊर्ध्व-चेतन या आत्म उन्नयन से ही सम्भव है)। यह है पंतजी की चिंतन-पद्धति जिससे वे अध्यात्म को मानवीय सिद्ध करने पर तुले हुए हैं।

इसी गलत चिंतन-पद्धति के कारण अर्थात् भूख से जनित असंतोष को अवचेतन का प्रेत समझने के कारण, जब मार्क्सवादी कवि को फटकारता है तो कवि मार्क्सवाद को बर्बरता का प्रतीक बताता है—

कुछ स्वर (साम्यवादी स्वर)—
"छायाएँ हैं, छायाएँ आदर्श भयानक
छायाओं को कुचलेंगे हम, आभासों को"—

कवि (पंतजी) कहता है—
इसीलिए तुमने सम्मानित जीवन श्रम को
छोड़, अहेरी जीवन फिर स्वीकार किया है !
देख रहा हूँ, आज संगठित मन युग युग का
सामूहिक जन बर्बरता में बिखर रहा है"

और फिर कवि मार्क्सवादियों से कहलाता है—

"कायर हो तुम कायर ! जो उपदेश दे रहे
नंगे भूखे लोगों को अध्यात्मवाद का !
कलाकार तुम नहीं, तुम्हारे दुर्बल उर में
वज्र घोष विद्रोह नहीं, युग की प्रतिभा का !
× × ×
स्वप्नलोक में रहते हो तुम आत्मतोष के !"

मार्क्सवादियों की इस चुनौती को स्वयं उपस्थित कर कवि यह नहीं कहता कि वह इस वाह्य सङ्घर्ष में सहयोग करेगा और शोषकों का विरोध करेगा। वह यह भी विश्वास करता है कि वर्ग-हीन राज्य-व्यवस्था के निर्माण के इस प्रयत्न में मार्क्सवादियों को 'हिंसा को ही एक मात्र उद्देश्य नहीं बनाना चाहिए। जहाँ अहिंसा से कार्य चल जाय वहाँ अहिंसा को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। सद्भाव का वातावरण बनाने से बहुत से शासक हमारे साथ आ सकते हैं, त्याग कर सकते हैं। हमें दैवी गुणों को ही ध्येय मानना चाहिए। हिंसा केवल साधन है। परन्तु यहाँ नूतन काव्य में तो कवि भूखों के असंतोष के नीचे अतृप्ति, महत्त्वाकाक्षा, स्पर्धा, ईर्ष्या और विद्वेष को सूंघता है जैसे भूख की समस्या वास्तविक ही न हो और वह केवल वर्तमान शोषक-वर्ग के स्थान पर शोषित-वर्ग की शासन-व्यवस्था स्थापित करने के लिए गढ़ ली गई हो और जब भूख वास्तविक नहीं है तो द्वेष, अतृप्ति आदि भावनाओं का नाश आत्मोद्धार से ही होगा, यह है पंतजी की विचार-प्रक्रिया। यदि पंतजी यह स्वीकार करते कि भूख वास्तविक है और असंतोष, द्वेष, विद्रोह उसी का परिणाम है तो उनका ध्यान भूख की समस्या हल करने पर होता और वह भी उसे हल करने के लिए शोषकों का विरोध करते। परन्तु जब वह वास्तविक समस्या को किसी मानसिक-स्थिति का परिणाम मानते हैं तो उसका समाधान भी अवास्तविक हो जाता है।

फिर भी पन्तजी कहते हैं कि वे मार्क्सवाद और अध्यात्म-वाद का वैज्ञानिक समन्वय खोज रहे हैं। क्या वे अध्यात्मवाद की मानवीयता सिद्ध करने के लिए पहले मार्क्सवाद को गलत रूप में—अमानवीय रूप में चित्रित नहीं करते ? मार्क्सवाद कहता है कि परि-स्थिति से चेतना शासित होती है, परिस्थिति मुख्य है। भूख एक वास्त-विक परिस्थिति है और उससे असन्तोष व विद्रोह बढ़ रहा है परन्तु

पन्तजी भूख को न देखकर विद्रोह व असन्तोष को तो देखते हैं, यह नहीं देखते कि इनका कारण भूख है। अत. उसे मिटाने का प्रयत्न मार्क्सवादी कर रहे हैं और उनके मार्ग में जो रोड़ा अटकाते हैं, वे भूख को मिटाना नहीं चाहते, वर्गवाद की रक्षा करना चाहते हैं। अत. उनका विरोध होना चाहिए। चूँकि उन्हे अपने स्वप्नों की सार्थकता सिद्ध करनी है इसलिए वे घृणा, द्वेष को ही देखकर, उसे मिटाने के लिए अध्यात्मवाद का प्रचार अनिवार्य मान लेते हैं। अतः उनका 'समन्वय' खतरनाक हो जाता है। पन्तजी को 'पिण्ड' में ही सारा ब्रह्माण्ड दिखाई दे रहा है—

"भीतर ही रे मानव, भीतर ही सच्चा जग
जाति, वर्ग, श्रेणी में नहीं विभाजित है जो
उसे नव्य संगठित, पूर्ण सक्रिय चेतन कर
वहिर्जगत में स्थापित करना है मानव को।"

बाह्य-जगत के विना बदले भीतर का मानव नहीं बदल सकता। यह स्वयं पन्तजी 'ग्राम्या' में स्वीकार कर चुके हैं, परन्तु अब यहाँ नूतन काव्य में उन्हें यह स्वीकृति स्मरण नहीं है। यद्यपि वे समन्वय की पुकार लगाते हैं तथापि उनका आदर्शवाद, शङ्कर के मायावाद व नागार्जुन के शून्यवाद से ही मिलता-जुलता है। कोई भी 'मायावादी' यह नहीं मानता कि शङ्कर ने व्यावहारिक जगत को स्वीकार नहीं किया। अत शङ्कर भी 'समन्वयवादी' थे और नागार्जुन ने भी स्पष्ट व्यावहारिक व पारमार्थिक सत्यों को स्वीकार किया था, अत वह भी समन्वयवादी थे। अत. इस प्रकार का समन्वय जो आज के युग मे व्यावहारिक पक्ष से दृष्टि उठाकर अध्यात्म की ओर ले जाना चाहता है, खतरनाक है। इससे वर्ग-समझौतावाद की पुष्टि होती है क्योंकि वह व्यावहारिक परिस्थितियों को क्रियात्मक रूप से न वदल कर, आध्यात्मिक भावनाओं के प्रसार से वदलने में विश्वास करता है और यह सम्भव नहीं हो सकता। इतिहास गवाह है कि धर्मों के प्रचार व प्रसार से कभी भी समाज में गम्भीर परिवर्तन नहीं हुए, उत्पादन व्यवस्था के वदलने से ही गम्भीर परिवर्तन हुए। स्वयं धर्म के स्वरूप भी वदलते रहे। अतः पन्तजी की चिन्तन-पद्धति का हम समर्थन नहीं कर सकते।

पंतजी को जनता का विद्रोह 'अवचेतन' से पीड़ित लग रहा है—

"धरती का निस्तल अवचेतन उमड़ रहा है
वर्वर युग के आवेशों से आन्दोलित हो।"

इसलिए—

"ऐसे युग में (जबकि) एक ऊर्ध्व दिक् दिव्य संचरण
जन्म ले रहा अतरतम में युग मानव के।"

पंतजी जैसे कलाकार का एक मात्र कर्त्तव्य हो जाता है—

"मानव मन को ज्योति चमत्कृत कर, जीवन का,
स्वर्गिक रूपान्तर कर, स्वर्णिम ऊँचाई से।"

चिंतन का पूर्ण अव्यावहारिक रूप तब प्रकट होता है जब कवि 'हृदय परिवर्तनवाद' से ही भूख की समस्याओं को हल करना चाहता है यद्यपि अनन्तकाल से भूखी जनता को देखकर, धर्म के पूर्ण प्रचार के युगों में भी, वर्ग-स्वार्थ के कारण निष्ठुर शोषकों का हृदय परिवर्तित नहीं हुआ, न अब हो रहा है, जो वर्ग अकाल में भी जनता की भूख को व्यवसाय वनाता है, वह वर्ग प्रार्थनाओं और ऊर्ध्व-चेतन के उपदेशों से कभी नहीं पिघल सकता। शायद ही कोई शोषक ऐसा हो जो आस्तिक न हो परन्तु ऊँचे से ऊँचे आदर्शों में विश्वासी शोषक वर्ग भी कभी वर्ग-स्वार्थ के सामने भूखी जनता के लिए त्याग नही करता। अध्यात्मवाद ने इस देश में ही नही, प्रत्येक देश में व्यवहार व विचार में ऐसा ही विरोध उत्पन्न कर दिया है। मन्दिर मे घटों पूजा करने के पश्चात् व्यवसायी दूकान पर चक्रवृद्धि व्याज जोड़ने में आगा पीछा नही करता। तव क्या पतजी पुन उसी अध्यात्मवाद का प्रचार कर उसी ऐतिहासिक भूल की पुनरावृति नही कर रहे हैं जो इतिहास की दीर्घ परम्परा मे वरावर होती आई है, जिसे अध्यात्मवादी दार्शनिक कभी नहीं समझ सके। मार्क्स ने इसे समझा था, अत' उसने कहा कि वर्ग-स्वार्थ का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति है, उसे छीन लो तो व्यक्ति सॅभल सकता है, वर्ग-स्वार्थ ही व्यक्ति को पतित वनाता है-अत' उसका नाश कर मनुष्य को दिव्य वनाने का प्रयत्न करो। यह है व्यावहारिक समाधान व्यक्ति को दिव्य वनाने का परन्तु पन्तजी को इसमें वर्वरता दृष्टि गोचर होती है और अपने 'स्वप्न' उन्हे सत्य प्रतीत होते हैं—

"स्वप्न नहीं है यह, नि सशय मूर्त सत्य है
मनुज सदा अपने को अतिक्रमकर, अंतर्मुख

आदर्शों के नित-नूतन ऊर्ध्व प्रकाश को
नतल वास्तविकता में बाँधेगा जीवन की
मानवीय होगी, निश्चय वास्तविकता ही !"

३—उत्तर शती—काव्य-रूपक में बीसवी शताब्दी को दो भागों में विभाजित कर पन्तजी प्रथम भाग में सङ्घर्ष का वर्णन करते हैं और दूसरे भाग में आध्यात्मिक आधार पर आशाप्रद युग-विकास का चित्रण करते हैं। उन्हे इसमें कोई सन्देह नही प्रतीत होता कि उत्तर शती मानव-जगत में नवीन स्वर्ण-युग का समारम्भ कर सकेगी। यह काव्य-रूपक गान्धीवाद के प्रचार की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि वर्तमान वर्ग-भेद सही है, कल्पित नही किन्तु वर्ग-भेद कम से कम भारत जैसे संस्कृत देश मे रक्त-क्रान्ति से क्यों मिटाया जाय जबकि आत्म-त्याग व सत्याग्रह के अस्त्र जीवित हैं—

यह सच है, जिस अर्थभित्ति पर विश्व सभ्यता
आज खड़ी है, बाधक है वह जन विकास की,
उसमें दीर्घ अपेक्षित हैं व्यापक परिवर्तन
भू-मंगल-हित, धनिक श्रमिक के बीच भयंकर
जो शोणित की पंकिल खाई है वर्ग-भेद की,
उसे पाटना है इस युग को आत्म-त्याग से
सहिष्णुता, शिक्षा ममत्व से और नहीं तो
सत्याग्रह से, शत शत निर्भय बलिदानों से

निष्कर्ष यह है कि शोषकों के प्रथम समत्व शिक्षा दो, यदि न माने तो सत्याग्रह करो, निर्भय बलिदान दो। और अब तो सन् १९५१ आगया है, उसके अर्ध-पक्व केश हैं, प्रौढ़ भाल पर चिन्तन की रेखा है, वह स्वर्णिम-चेतना से अभिवन्दित हो रहा है, वह केवल विगत संस्कृतियों के समन्वय के लिए चिन्तित है। वह चाहता है कि जब सारे विश्व में युद्ध, आशङ्का और भय का राज्य है तब भारत को एक भीतर-बाहर के स्तरों में शीघ्र ही समन्वय के लिए प्रस्तुत हो जाना चाहिए और रक्त-क्रान्ति के स्थान पर सत्याग्रह से काम लेना चाहिए किन्तु कवि जानता है कि यह व्यक्तिवादी समाधान है—

पंतजी को जनता का विद्रोह 'अवचेतन' से पीड़ित लग रहा है—

"धरती का निस्तल अवचेतन उमड़ रहा है
वर्बर युग के आवेशों से आन्दोलित हो।"

इसलिए—

"ऐसे युग में (जबकि) एक ऊर्ध्व दिक् दिव्य संचरण
जन्म ले रहा अंतरतम में युग मानव के।"

पंतजी जैसे कलाकार का एक मात्र कर्त्तव्य हो जाता है—

"मानव मन को ज्योति चमत्कृत कर, जीवन का,
स्वर्गिक रूपान्तर कर, स्वर्णिम ऊँचाई से।"

चिंतन का पूर्ण अव्यावहारिक रूप तब प्रकट होता है जब कवि 'हृदय परिवर्तनवाद' से ही भूख की समस्याओं को हल करना चाहता है यद्यपि अनन्तकाल से भूखी जनता को देखकर, धर्म के पूर्ण प्रचार के युगों में भी, वर्ग-स्वार्थ के कारण निष्ठुर शोषकों का हृदय परिवर्तित नहीं हुआ, न अब हो रहा है, जो वर्ग अकाल में भी जनता की भूख को व्यवसाय बनाता है, वह वर्ग प्रार्थनाओं और ऊर्ध्व-चेतन के उपदेशों से कभी नहीं पिघल सकता। शायद ही कोई शोषक ऐसा हो जो आस्तिक न हो परन्तु ऊँचे से ऊँचे आदर्शों में विश्वासी शोषक वर्ग भी कभी वर्ग-स्वार्थ के सामने भूखी जनता के लिए त्याग नही करता। अध्यात्मवाद ने इस देश में ही नही, प्रत्येक देश में व्यवहार व विचार में ऐसा ही विरोध उत्पन्न कर दिया है। मन्दिर में घटों पूजा करने के पश्चात् व्यवसायी दूकान पर चक्रवृद्धि व्याज जोड़ने मे आगा पीछा नही करता। तब क्या पतजी पुन. उसी अध्यात्मवाद का प्रचार कर उसी ऐतिहासिक भूल की पुनरावृति नहीं कर रहे हैं जो इतिहास की दीर्घ परम्परा मे वरावर होती आई है, जिसे अध्यात्मवादी दार्शनिक कभी नही समझ सके। मार्क्स ने इसे समझा था, अत' उसने कहा कि वर्ग-स्वार्थ का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति है, उसे छीन लो तो व्यक्ति सँभल सकता है, वर्ग-स्वार्थ ही व्यक्ति को पतित बनाता है-अतः उसका नाश कर मनुष्य को दिव्य वनाने का प्रयत्न करो। यह है व्यावहारिक समाधान व्यक्ति को दिव्य बनाने का परन्तु पन्तजी को इसमें वर्वरता दृष्टि गोचर होती है और अपने 'स्वप्न' उन्हे सत्य प्रतीत होते हैं—

"स्वप्न नही है यह, नि सशय मूर्त सत्य है
मनुज सदा अपने को अतिक्रमकर, अंतर्मुख

बातें अपने आप हल हो जाएँगी। इसका शुभ लक्षण यह है कि पूँजीवादी व साम्यवादी देशों में परस्पर सहयोग बढ़ रहा है, अतः इससे अरविन्दवादी समन्वयवाद की ओर ही दुनिया जा रही है। परन्तु इस सहयोग का परिणाम क्या निकल सकता है ?

"पूँजीवादी लोक साम्यवादी देशों के
वातायन खुल रहे, भाव विनिमय के व्यापक
हृदय-द्वार खुल रहे, विचारों से नव मुकलित
भू-जीवन के आवागमन हेतु दिग् विस्तृत।

और पुनः कवि अरविन्द-दर्शन को छन्दों में बाँधने लगता है—

"यह परिवर्तन शील जगत है लीला का स्थल,
दिव्य-चेतना का, जो अन्तर तम में विकसित
मन, जीवन, जड़ भूत अंश हैं उसके निश्चय
वह सब मे है, व्याप्त और सबसे है ऊपर
बाह्य उपकरण उपादान ये मात्र प्रकृति के
चिर विकास-क्रम में हैं, सभी परस्पर आश्रित
एक दूसरे के पूरक, पोषक उद्धारक।"

यह परिवर्तन शील जगत क्यों बनाया गया ? लीला के लिए, यह उत्तर हुआ। अरविन्द और पंत यहाँ एक मत हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों का भी यही उत्तर है और यही उत्तर सबसे अधिक दुर्बल है। एक ओर तो अरविन्द यह कहते हैं कि मानवीय जिज्ञासा को दबाकर मार्क्सवाद दार्शनिक प्रेरणाओं का घातक बनकर बहुत समय तक जीवित नही रह सकता और दूसरी ओर क्या जिज्ञासु भारतीय मस्तिष्क "लीला" के उत्तर पर पूर्ण संतुष्ट हो जाता है। वह बुद्धि कैसी है जो यह नहीं सोचती कि इस नश्वर संघर्ष शील, दुःखात्मक जगत की रचना यदि 'ब्रह्म की क्रीड़ा है, तो ब्रह्म क्या स्वार्थी व्यक्ति है ? परन्तु अरविन्द इस शंका से परिचित थे, अतः वे जगत को दुःखात्मक न मान कर आनन्दात्मक ही सिद्ध करते हैं और सुख-दुःख को मन का भ्रम बताकर प्रकृति के कार्यों को तटस्थ दर्शक बनकर देखने की प्रेरणा देते हैं। तटस्थ होकर देखने पर चारों ओर पंत व अरविन्द को आनन्द ही दृष्टिगोचर होता है ? जैसे कि किसी को फाँसी लग रही हो तो एक बच्चे के लिए वह कौतुक का विषय होगा, इसी प्रकार संसार के चक्र में प्रकृति, (महामाता) आनन्द

"कौन सुनेगा पर मेरे यह तूती के स्वर
इस भीषण तर्जन, गर्जन कटु चीत्कारों के
निर्मम युग में ।"

यदि कहा जाय कि पन्तजी का समाधान व्यक्तिवादी है तो पन्तजी दु.खी होकर कहने लगते हैं—

"कृमियों का उत्पात विटप ज्यों वट का सहता
झेले है मैंने निष्ठुर स्पर्धा के दशन
किन्तु नही मैं भूल सका, मै महाकाल का
अमरपुत्र अवतरित हुआ हूँ सन्धि स्थल पर
विनय मूक मै चलता निर्जन शान्ति मार्ग पर
क्रीडा निरत कलभ सा लाँघ शिखर युग के बहु ।"

उपर्युक्त उदाहरण मे कवि का व्यक्तिवादी स्वर स्पष्ट है। उसके आत्मवादी दर्शन ने उसमें अहम्मन्यता व घोर एकांगिकता की भावना भर दी है और वह अपने को विटप और मार्क्सवादियों को "कृमि" बतलाता है परन्तु लोग कहते हैं कि लघु-लघु कीट बड़े-बड़े वृक्षों को गिरा देते है। वर्ग-भेद के समर्थक वृक्ष वस्तुत धीरे धीरे जीर्ण होते जारहे है। कवि कभी भी अपने 'अवचेतनवाद' को नही छोड़ता। अभी पहले वह वर्ग-भेद को स्वीकार कर चुका था परन्तु उसके नाश के प्रयत्न को अवचेतन की दमित ईर्ष्या का परिणाम मानकर पुन कहता है —

"आंदोलित जन-युग दर्पण है मानव मन का
"शान्त उसे कर सकते केवल उस युग नरके।
सत्य-अहिसा के आदर्श, अमर, युग-पूरक
सदाचार की रजत रश्मियों से शुभ मण्डित
विनय, त्याग, नय शोभित, लोक कर्म अनुप्राणित
सूर्य शुभ्र व्यक्तित्व, एक दिन आत्म पुरुष का
भू-मानस मे स्वत प्रतिष्ठित होगा निश्चय।"

मतलव यह है कि जन-आन्दोलन का कारण जनता का पापी मन है, उसे सुधारने का एक मात्र तरीका है 'अरविन्दवाद' की स्वीकृति, जो प्राचीन उपनिषद्-दर्शन की सबसे अधिक सही व्याख्या करता है। उससे ही जनता का पापी मन शुद्ध हो जायगा और शेष

बातें अपने आप हल हो जाएँगी। इसका शुभ लक्षण यह है कि पूँजीवादी व साम्यवादी देशों में परस्पर सहयोग बढ़ रहा है, अत इससे अरविन्दवादी समन्वयवाद की ओर ही दुनिया जा रही है। परन्तु इस सहयोग का परिणाम क्या निकल सकता है ?

"पूँजीवादी लोक साम्यवादी देशों के
वातायन खुल रहे, भाव विनिमय के व्यापक
हृदय-द्वार खुल रहे, विचारों से नव मुकलित
भू-जीवन के आवागमन हेतु दिग् विस्तृत !

और पुनः कवि अरविन्द-दर्शन को छन्दों में बाँधने लगता है—

"यह परिवर्तन शील जगत है लीला का स्थल,
दिव्य-चेतना का, जो अन्तर तम में विकसित
मन, जीवन, जड़ भूत अंश हैं उसके निश्चय
वह सब मे है, व्याप्त और सबसे है ऊपर
बाह्य उपकरण उपादान ये मात्र प्रकृति के
चिर विकास-क्रम मे हैं, सभी परस्पर आश्रित
एक दूसरे के पूरक, पोषक उद्धारक।"

यह परिवर्तन शील जगत क्यों बनाया गया ? लीला के लिए, यह उत्तर हुआ। अरविन्द और पंत यहाँ एक मत हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों का भी यही उत्तर है और यही उत्तर सबसे अधिक दुर्बल है। एक ओर तो अरविन्द यह कहते हैं कि मानवीय जिज्ञासा को दबाकर मार्क्सवाद दार्शनिक प्रेरणाओं का घातक बनकर बहुत समय तक जीवित नही रह सकता और दूसरी ओर क्या जिज्ञासु भारतीय मस्तिष्क "लीला" के उत्तर पर पूर्ण संतुष्ट हो जाता है। वह बुद्धि कैसी है जो यह नहीं सोचती कि इस नश्वर संघर्ष शील, दुःखात्मक जगत की रचना यदि 'ब्रह्म की क्रीड़ा है, तो ब्रह्म क्या स्वार्थी व्यक्ति है ? परन्तु अरविन्द इस शंका से परिचित थे, अतः वे जगत को दुःखात्मक न मान कर आनन्दात्मक ही सिद्ध करते हैं और सुख-दुःख को मन का भ्रम बताकर प्रकृति के कार्यों को तटस्थ दर्शक बनकर देखने की प्रेरणा देते हैं। तटस्थ होकर देखने पर चारों ओर पंत व अरविन्द को आनन्द ही दृष्टिगोचर होता है ? जैसे कि किसी को फाँसी लग रही हो तो एक बच्चे के लिए वह कौतुक का विषय होगा, उसी प्रकार संसार के चक्र में प्रकृति, (महामाता) आनन्द

की पद्धति से ही कार्य लेती है, यह है अरविन्द का समाधान। आनन्द होना व आनन्द की कल्पना कर लेना दोनों अलग-अलग बातें हैं। आनन्द न होने पर भी आप तटस्थ होकर यह अनुभव कर सकते हैं कि आप आनन्द मे हैं। जनक ऐसे ही थे। किन्तु आप इस प्रकार आनन्द का सृजन नही कर रहे, वैयक्तिक रूप से आनन्द की कल्पना अवश्य कर रहे हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति को आप तटस्थ होकर आनन्द की लूट करना सिखा दे तो आप समझेंगे कि आनन्द का सृजन हो गया। परन्तु आप तो तटस्थ होकर ही दुःख में सुख की कल्पना करते करते रह जायेंगे जबकि चालाक लोग आपको दुःख देने से कभी बाज न आएँगे। अतः दुःख मिटाने का प्रयत्न करने में कल्याण है, आनन्द की कल्पना कर लेने में नहीं। इसी प्रकार "आनन्दात्मक लीला" के सिद्धांत को स्वीकार कर आप जगत के दुःखों की सत्ता से इन्कार नही कर सकते, उन्हे टाल सकते हैं। भारतीय दार्शनिक 'लीला' के सिद्धांत को स्वीकार कर शताब्दियों से तटस्थ होकर "आनन्द" लेते रहे जबकि उसी देश के चतुर शोषक वर्ग के नेता आसक्त होकर आनन्द लेते रहे और जनता के तटस्थ दार्शनिक नेताओं को सिर झुकाकर तथा जनता का गला दबाकर सदा आनन्द को निर्विघ्न बनाते रहे। फिर भी पन्तजी को 'लीलावाद' में पूर्ण संतोष मिलता है ?

वे कहते है—

"जड़-चेतन की इस विराट क्रीडा के स्वामी
मानव के घट वासी भी हैं रे निःसशय,
प्रस्तुत होता लोक पात्र जब धारण के हित
अन्तस्तल से उठता ज्वार नवल वैभव का,
चेतन कर जो मन के जीवन के सक्रिय स्तर,
मज्जित करता भूत-सृष्टि को, नव कल्पित कर।"

(४) शुभ्र पुरुष—रूपक मे—कवि महात्मा गान्धी को भारतीय चेतना का आधुनिकतम रजत-शिखर मानता है। जहाँ तक गान्धीजी के कृतित्व का प्रश्न है, कवि ने उसे ऐतिहासिक क्रम मे ही स्पष्ट किया है किन्तु उनकी आध्यात्मिक चेतना के गीतों का गायन ही इस काव्य-रूपक का मुख्य विषय बन गया है। 'ग्राम्या' के

की पद्धति से ही कार्य लेती है, यह है अरविन्द क
आनन्द होना व आनन्द की कल्पना कर लेना दो
बाते हैं। आनन्द न होने पर भी आप तटस्थ होकर र
सकते हैं कि आप आनन्द मे हैं। जनक ऐसे ही थे।
प्रकार आनन्द का सृजन नही कर रहे, वैयक्तिक रू
कल्पना अवश्य कर रहे हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति को छ
आनन्द की लूट करना सिखा दें तो आप समझें
सृजन हो गया। परन्तु आप तो तटस्थ होकर ही
कल्पना करते करते रह जायेंगे जबकि चालाक ल
देने से कभी बाज न आएँगे। अत दु.ख मिटाने व
कल्याण है, आनन्द की कल्पना कर लेने में न
"आनन्दात्मक लीला" के सिद्धांत को स्वीकार
दु'खों की सत्ता से इन्कार नही कर सकते, उन्हे टाल
तीय दार्शनिक 'लीला' के सिद्धांत को स्वीकार
तटस्थ होकर "आनन्द" लेते रहे जबकि उसी दे
वर्ग के नेता आसक्त होकर आनन्द लेते रहे औ
दार्शनिक नेताओं को सिर झुकाकर तथा जनत
सदा आनन्द को निर्विघ्न बनाते रहे। फिर भी प
वाद' में पूर्ण संतोष मिलता है ?

वे कहते है—

"जड़-चेतन की इस विराट क्रीड़ा के
मानव के घट वासी भी हैं रे नि
प्रस्तुत होता लोक पात्र जब धारण
अन्तस्तल से उठता ज्वार नवल वैभव
चेतन कर जो मन के जीवन के सक्रिय
मज्जित करता भूत-सृष्टि को, नव कल्पित

(४) शुभ्र पुरुष—रूपक मे—कवि महात्म
भारतीय चेतना का आधुनिकतम रजत-शिखर मानता
गान्धीजी के कृतित्व का प्रश्न है, कवि ने उसे ऐतिहासि
स्पष्ट किया है किन्तु उनकी आध्यात्मिक चेतना
गायन ही इस काव्य-रूपक का मुख्य विषय बन गया है

ईश्वर को सभी शक्तियों, सभी श्रेष्ठ नैतिक गुणों का भी प्रतीक चुना। आगे चलकर उसने तत्कालीन समाज के सञ्चालन के लिए अपेक्षित गुणों व कर्मों का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ दिया, जिससे (समाज के सङ्गठन को ईश्वर बना देने से) डर कर समाज के सदस्य समाज के नियमों पर चलते रहें। यही नहीं उसने उसे प्यार करना भी प्रारम्भ किया और तरह-तरह के सम्बन्ध स्थापित कर अपनी भावनाओं को साहित्य के माध्यम से व्यक्त किया।

ईश्वर के अनेक नामों और रूपों की भी इस प्रकार कल्पना होती गई। सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित होने पर या वैयक्तिक जीवन में नैतिक-अनैतिक भावनाओं के अंतर्द्वन्द्व के प्रस्तुत होने पर मनुष्य ईश्वर के माध्यम से शक्ति बटोरता था, उससे शिकायत करता, उपालम्भ देता, समाज के नेता आवश्यक कर्त्तव्य को ईश्वरेच्छा घोषित कर देते तो उन आदेशों का पालन करता था। इस प्रकार कल्पित 'ईश्वर' एक जीवित सत्य बन गया, वैयक्तिक सत्य नहीं, सामाजिक सत्य बन गया। परन्तु इससे मनुष्य में अंध-विश्वास, परावलम्बन, पुनर्जन्मवाद, नियतिवाद, कर्म को लघु करने की प्रवृत्ति, ईश्वर की सदाशयता वर्णन कर 'कन्शेसन' प्राप्त करने की प्रवृत्ति आदि तत्त्व भी विकसित हुए, अनेक सम्प्रदायों के शिविर खड़े होते गए और ईश्वर के नाम पर सब कुछ सम्भव हो गया। अत ईश्वर के अनेक रूप, अनेक सम्प्रदाय, अनेक साधनाएँ, अनेक मार्ग चल पड़े। पीछे से समय-समय पर उनमें समन्वय भी खोजे गए, छोटे-बड़े देवी-देवताओं की असंख्य सेना का उसे सेनापति बना दिया गया और इस प्रकार 'ईश्वर' की संस्था का युगानुरूप बराबर विकास होता रहा। परन्तु मनुष्य की जगत-सम्बन्धी समस्याओं का पूर्णतया समाधान 'ईश्वर' नहीं कर सका, क्योंकि अन्ध-विश्वास व कल्पना पर आधारित 'सत्य' के माध्यम से आप वास्तविक समस्याओं का हल नहीं कर सकते। वास्तविक समस्याओं के हल करने के लिए यथार्थ-जीवन दृष्टि की आवश्यकता है जो ईश्वर-वादियों में कभी नहीं रही। कवि पूर्व पक्ष से यह सिद्धांत कहलाता है:—

"युग युग से करते आए जन, कीर्तन-वंदन
युग-युग से सुनते आये, मुनियों के प्रवचन

रुद्ध हो गई है ? उसमें संशय, भय, वेदना, दैन्य और दुःख घर कर गए हैं। सहसा उसे अन्तःप्रेरणा से 'ईश्वर' का ध्यान हो आता है और मूर्ति सजीव हो जाती है—

"ईश्वर ! अब जाकर पाषाण सजीव हुआ कुछ
युग-विप्लव की पृष्ठभूमि साकार होगई
प्रस्तर के उर में युग-जीवन का समुद्र ही
हिल्लोलित हो उठा, . !"

'उत्तरा' में कवि ने कहा था कि दिव्य गुणों के प्रसार के लिए 'ईश्वर' मे विश्वास करना चाहिए। उसी विचार को रूपक में प्रस्तुत किया गया है—

"नहीं जानता कैसे इस सक्रान्ति काल की
नित्य बदलती हुई वास्तविकता के पट मे
मूर्तित करूँ, चिरन्तन सत्य मनुज आत्मा का !"

कवि कहता है कि जगत बदलता है, परिस्थिति बदलती है परन्तु आदर्श उस गति से नहीं बदलते—

"परिवर्तित होती जग की वास्तविकता प्रतिदिन
किन्तु नहीं आदर्श बदलता है उस गति से,
उसका दिन, कहते हैं ब्रह्मा का दिन होता,
बाह्य-क्रान्ति ही मात्र नहीं यह भौतिक युग की,
बदल रहा अन्तर का भी आदर्श साथ ही,
आज कला को, अभिनव को कल्पित करना है,
मिट्टी की जड़ता मे फूँक सके जो जीवन !"

काश ! पन्तजी यही स्वीकार कर लेते कि जीवन फूँकने मात्र के लिए वे ऊर्ध्व-चेतन, ईश्वर आदि की कल्पना करते हैं। पर तब मार्क्सवाद को पूर्णतया स्वीकार करना पड़ता जो यह मानता है कि ईश्वर आदि की कल्पना मनुष्य ने अपने कल्याण के लिए की है। वह इस कल्पना से जहाँ एक ओर विज्ञान के अभाव में जिज्ञासा को शांत किया करता था और अनेक प्रकार के उठने वाले प्रश्नों का इस विश्वास से समाधान कर लेता था, वहाँ दूसरी ओर उस विश्वास को प्रमाणित करने के लिए वह तर्क-पद्धतियाँ भी निकाल लेता था। उसने केवल बौद्धिक सन्तुष्टि के लिए ही ईश्वरादि की कल्पना नहीं की थी अपितु

ईश्वर को सभी शक्तियों, सभी श्रेष्ठ नैतिक गुणों का भी प्रतीक चुना। आगे चलकर उसने तत्कालीन समाज के सञ्चालन के लिए अपेक्षित गुणों व कर्मों का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ दिया, जिससे (समाज के सङ्गठन को ईश्वर वना देने से) डर कर समाज के सदस्य समाज के नियमों पर चलते रहे। यही नहीं उसने उसे प्यार करना भी प्रारम्भ किया और तरह-तरह के सम्वन्ध स्थापित कर अपनी भावनाओं को साहित्य के माध्यम से व्यक्त किया।

ईश्वर के अनेक नामों और रूपों की भी इस प्रकार कल्पना होती गई। सामाजिक व्यवस्था से पीड़ित होने पर या वैयक्तिक जीवन में नैतिक-अनैतिक भावनाओं के अंतर्द्वन्द्व के प्रस्तुत होने पर मनुष्य ईश्वर के माध्यम से शक्ति वटोरता था, उससे शिकायत करता, उपालम्भ देता, समाज के नेता आवश्यक कर्त्तव्य को ईश्वरेच्छा घोषित कर देते तो उन आदेशों का पालन करता था। इस प्रकार कल्पित 'ईश्वर' एक जीवित सत्य वन गया, वैयक्तिक सत्य नही, सामाजिक सत्य वन गया। परन्तु इससे मनुष्य मे अंध-विश्वास, परावलम्वन, पुनर्जन्मवाद, नियतिवाद, कर्म को लघु करने की प्रवृत्ति, ईश्वर की सदाशयता वर्णन कर 'कन्शेसन' प्राप्त करने की प्रवृत्ति आदि तत्त्व भी विकसित हुए, अनेक सम्प्रदायों के शिविर खड़े होते गए और ईश्वर के नाम पर सव कुछ सम्भव हो गया। अत ईश्वर के अनेक रूप, अनेक सम्प्रदाय, अनेक साधनाएँ, अनेक मार्ग चल पड़े। पीछे से समय-समय पर उनमें समन्वय भी खोजे गए, छोटे-वड़े देवी-देवताओं की असंख्य सेना का उसे सेनापति वना दिया गया और इस प्रकार 'ईश्वर' की संस्था का युगानुरूप वरावर विकास होता रहा। परन्तु मनुष्य की जगत-सम्वन्धी समस्याओं का पूर्णतया समाधान 'ईश्वर' नही कर सका, क्योंकि अन्ध-विश्वास व कल्पना पर आधारित 'सत्य' के माध्यम से आप वास्तविक समस्याओं का हल नहीं कर सकते। वास्तविक समस्याओं के हल करने के लिए यथार्थ-जीवन दृष्टि की आवश्यकता है जो ईश्वर-वादियों मे कभी नहीं रही। कवि पूर्व पद्य से यह सिद्धांत कहलाता है:—

"युग युग से करते आए जन, कीर्तन-वंदन
युग-युग से सुनते आये, मुनियों के प्रवचन

चिर रहस्य मे लिपटे धार्मिक उपदेशों के,
किन्तु नहीं कुछ बदल सका जन-गण का जीवन
दैन्य, अविद्या, अंधकार के अतल गर्त में
वैसा ही डूबा है जन, मन, अध नियति का
दास बना, निर्मम विधि की इच्छा पर निर्भर"

× × × ×

"कोई भी आदर्श नहीं, जो पूर्ण चिरन्तन
इस परिवर्तनशील जगत मे, जहाँ निरन्तर
मनुज चेतना विकसित वर्द्धित होती रहती
प्रति युग मे, अपने गत जीवन को अति क्रम कर।"

इस प्रकार पूर्व पक्ष स्थापित कर पतजी ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं का इस प्रकार समर्थन करते हैं—

"अर्ध सत्य यह, वस्तु पक्ष ही नहीं, प्रबल है
भाव पक्ष भी—जिससे आवृत है समस्त जड़
अपने ही उर की आकृति मे ठोंक पीट कर
मानव ने ढाला है, इस जड़ वस्तु-जगत को
उसको निज अत प्रकाश मे भाव द्रवित कर
आकांक्षा के स्पर्शों से शोभा कल्पित कर।"

यही नहीं, मूर्ति-पूजा का समर्थन करने के पश्चात् कवि का स्वर सहसा दार्शनिक हो उठता है और वह शक्ति—अद्वैतवाद का वर्णन करता है—

"पराशक्ति की ही प्रतिमा है भूत प्रकृति भी[1]
सूर्य चन्द्र तारे जिसका नीराजन करते।
सागर जिसके पावन पद प्रक्षालन करता
उस निसर्ग की मधुर मूर्ति मे दिव्य शक्ति के ॥
नित्य रूप के दर्शन करना ही पूजन है
एक चेतना शक्ति व्याप्त जड[2], जीवन[3], मन[4] मे"

किन्तु भौतिकवाद इस सर्वव्यापी चेतना को पदार्थ का गुण-

---

[1] अरविन्द इसे 'Great Mother' कहते हैं।

[2] Matter, [3] Life, [4] Mind

त्मक परिवर्तन मानता है, यही कवि के लिए दु:ख का विषय है—

"किन्तु हाय, भू जीवन की निर्मम वास्तवता
बाँध नहीं पा रही, मनुज आत्मा का वैभव
मिट्टी की जड़ता विरोध करती प्रति पग पर
नव प्रकाश के शोभा स्पर्शों के प्रति निष्क्रिय
कुंठित हो उठती फिर-फिर उद्भ्रान्त कल्पना"

और जब कवि आध्यात्मिक चेतना को मानवात्मा में उतार कर अपनी शिल्प-शक्ति को सफल देखता है तो मार्क्सवादी एतराज करते हैं—

"आप यहाँ स्वप्नों के सुन्दर नीड़ में छिपे
कौन महत निर्माण कर रहे जनगण के हित
मध्य वर्ग की या अतृप्त वासना पूर्ति के
अर्ध नग्न, कुत्सित, शृङ्गारिक चित्रगढ़ रहे !"
दु:ख दैन्य से जर्जर जब जन गण का जीवन
कला कक्ष में बैठ, निभृत कल्पना स्वर्ग मे
आप व्यस्त हैं, यश की लिप्सा से प्रेरित हो !"

प्रश्न तो ठीक किया गया किन्तु पन्तजी अपना 'उत्तर' अरविन्दवादी पद्धति पर ही दुहरा देते हैं कि अब तक कला केवल संकेतों का ही वर्णन कर पाई थी, अब यह नूतन कला (पतजी के नूतन काव्य की) उस सांकेतिक पद्धति से सकेतित सूक्ष्म सत्य को, मानवीय बनाकर स्थूल रूप दे रही है—

"आज वहिर्मुख बिखरे जन-भू के जीवन को
अत: केन्द्रित, अत संयोजित कर फिर से
नव समत्व मे बाँध रही वह जीवन मांसल
ऊर्ध्वग व्यापक लोक-चेतना मे विकसित हो।"

और इस प्रकार अपनी कला को 'जनवादी' सिद्ध करने के प्रयत्न में सफल होते हैं।

(२) ध्वस शेप—इस रूपक में 'वृद्ध' अंतर्चेतना का विश्वासी है, युवती आधुनिक सभ्यता की प्रतीक। युवती आधुनिक युग के आविष्कारों का वर्णन करती है, साथ ही अणुवम के

आतङ्क से आकुल है। शांति का पथ नही दिखाई पड़ता। वृद्ध युद्धादि को अवचेतन का प्रेत बताता है—

"समझ रहा हूँ मैं युग के कटु संघर्षण को
ऊर्ध्वग, समदिक् संचरणों के बीच छिड़ा जो
आज धरा में, भौतिक आध्यात्मिक विप्लव बन!

अर्थात् आज 'स्तरों' की लड़ाई है, समदिक् धरातल, ऊर्ध्व धरातल को नही मानता, यही अशांति व युद्ध का कारण है। कितना यथार्थ विश्लेषण है! अरविन्दवाद ने पंत के दर्शन की चरम परिणति इस प्रकार अतिचेतनावाद में की है। वृद्ध कहता है—

"नियत समय पर सब कुछ हो जाएगा बिटिया
निकट आ रही धीरे, अब निर्दिष्ट घड़ी वह॥"

मतलब यह कि विश्व-युद्ध का कारण व्यवस्थाजन्य परिस्थितियाँ नहीं है, भौतिकवादी युग-मन की अधता, द्वेषादि से ही युद्ध हो रहे हैं और ये सब समय पर शांत हो जाएंगे, प्रभु की यही इच्छा है। कवि विज्ञान की भीषण नाशक-शक्ति का वर्णन करता है और स्वार्थ-लोभ आदि को विज्ञान के दुरुपयोग का एक मात्र कारण मानता है।

"अन्तर्मन की ही विभीषिका बाह्य जगत पर
प्रतिबिम्बित होरही भयावह, भाव प्रताडित॥
मानव ही है सर्वादिक मानव का भक्षक
भौतिक मद से बुद्धि भ्रांत युग जीवी मानव
दानव बनकर आत्मघात कर रहा अन्ध हो"

पन्तजी इस काव्य रूपक में प्रस्तर युग से पूँजीवादी युग तक का विकास दिखा कर प्रमाणित करना चाहते हैं कि भू-जीवन का वृत्त समाप्त हो रहा है, अब मानवमन बदल रहा है, अब चेतना का स्वर्णोज्वल पृष्ठ खुल रहा है, अब जो नया वृत्त उठ रहा है वह मात्र इतिहास नहीं है। पन्तजी विनाश के कारण भूमि-गर्भ में स्थित वस्तुओं की खुदाई इस काव्य रूपक में कराते हैं और इस प्रकार गतयुग के मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म, इतिहास आदि का रूप दिखाते हैं कि किस प्रकार आगामी युग में इस गत-युग के ज्ञान का महत्त्व न होगा, एक नूतन समन्वित ज्ञान का ही उपयोग होगा। "द्रष्टा" इस नूतन ज्ञान का प्रतीक बनाया गया है। नए जनतन्त्र के "प्रतिनिधि" को वह द्रष्टा

अरविन्दवाद को समझाता है परन्तु जब उसे शङ्का होती है तो अरविन्द की पद्धति पर वह समझाता है कि आत्मा, परमात्मा पर इसलिए विश्वास नही होता कि सामान्य जन मन के द्वारा इन्हे समझना चाहते हैं जो असम्भव है। अन्तर्मन की गुप्त शक्तियों द्वारा इन्हे अनुभव का विषय बनाया जा सकता है—

"हास्यास्पद लग रहे भले हों आज आपके,
समदिक् आदर्शों में निरत बहिर्गत मन को
ऊर्ध्वग जीवन आकांक्षा के स्वप्न हमारे,
किन्तु साधकों[1] का गम्भीर अनुभव है निश्चित—
'भगवत जीवन'[2] ही भू जीवन का भविष्य है।"

इस अरविन्दवादी 'भगवत जीवन' का भी उपयोग यह होगा कि साम्यवादी व्यवस्था में सामूहिकता अन्तःस्थित मनुज-सत्य को नही निगल सकती। इस 'भगवत जीवन' की प्राप्ति ही ध्येय है। साम्यवादी जीवन का वैभव इस 'भगवत जीवन' की छाया की छाया है जो नाशवान "भू रज में लुंठित" है। यह ईश्वर की ही कृपा है कि आज समदिक् धरातल ऊर्ध्व मुख हो आरोहण के लिए उद्यत है।

स्पष्ट है कि पन्तजी 'दर्शन' के नाम से कोई मौलिक वस्तु नही दे सके परन्तु उन्होंने अरविन्द-दर्शन की रक्षा के लिए अनेक तर्कों की कल्पना की है, मार्क्सवाद के खण्डन के लिए अनेक प्रकार की गालियों का आविष्कार किया है। पन्तजी की मौलिकता है, अरविन्द दर्शन को मानवीय, वैज्ञानिक तथा इतिहास के क्रम-विकास मे उसे अन्तिम सिद्ध करने का प्रयत्न। यद्यपि बहुत से तर्क जैसा कि इस विश्लेषण से स्पष्ट है, अरविन्द से भी ले लिए गए हैं। मुख्यतः वे चेतना के धरातलों के तथा संक्रान्ति काल के अन्तर्द्वन्द्वों का वर्णन करते है और तब अरविन्द-दर्शन की अनिवार्यता सिद्ध करते है।

(३) अप्सरा रूपक—इसमे भी एक कलाकार (स्वय पन्तजी) की ऊर्ध्व-आरोहण के समय की मानसिक स्थितियों का वर्णन किया गया है। कलाकार इस अन्तर्चेतना की स्थिति मे दन्तकथा के राज-

[1] यहाँ अरविन्द से तात्पर्य है।

[2] The Life Divine.

कुमार की तरह किसी अप्सरा (सौन्दर्य-चेतना) के लोक में भटक जाता है। जब कलाकार को सर्वप्रथम ऊर्ध्व-चेतना का आभास मिलता है तो वह सर्वप्रथम उसे मन की उड़ान समझता है (और ठीक समझता है—लेखक) किन्तु कुछ समय के पश्चात् वह अनुभव करता है कि वस्तुतः युग बदल रहा है क्योंकि द्रष्टा कलाकार के अन्तर्मन मे एक नए सत्य का जन्म हो रहा है—

"चञ्चल हो उठता फिर मन, यह क्या केवल
प्राणों का उद्वेलन है! या मन का भ्रम है!
अथवा बदल रहा युग भर वह! मन के भीतर
नया सत्य या जन्म ले रहा! महारात्रि है
यह कैसी मर्मर ध्वनि जग उठती प्राणों में?
जीवन के छूँछे पञ्जर मे नव स्पन्दन भर
एक नई चेतना लपेट रही मानस को।"

और तब अन्तर्मन मे क्षितिज पर उदित सौन्दर्य-अप्सरा कलाकार को बुद्धि के स्थान पर प्रीति और विश्वास की शिक्षा देती है। इस काव्य-रूपक में मार्क्सवाद को जितना घृणित रूप मे उपस्थित किया गया है उतना शायद अन्यत्र कही उपस्थित नही किया गया। पन्त जी के अनुसार नवीन आध्यात्मिक चेतना के अवरोधी मार्क्सवादी हैं। ये अपनी सीमाओं के पोषक हैं और अपनी कुण्ठा का प्रचार करते हैं। कोरी बौद्धिकता से ऊपर ये नही उठ पाते और सिद्धान्तों की मृगतृष्णा में भटकते रहते हैं। ये गिरगिट की तरह रङ्ग बदलते रहते हैं, स्थिरता न इनके सिद्धान्तों मे है न इनकी बुद्धि में। ये युग-जीवन-धारा के सिवार हैं। ये अवचेतन के पूजक, अन्तश्चेतना के पथ के कण्टक हैं। कौन कहता है कि विद्रोही हैं, ये तो मानव-द्रोही हैं। युग के अङ्गार हैं। जीवन मे जो महान् है वह उन्हे नही दिखाई पड़ता, उदात्त भाव इन्हें प्रिय नहीं हैं, ये सिर के बल विहार कर रहे हैं, ये वस्तुतः युग-जीवन-कीचड के दादुर हैं जो मिल कर बेसुरा गीत गाते हैं। केवल जनता, जनता ही ये पुकारते हैं। इनका अभिमान आहत होने से ये उच्च भावों के भी शत्रु बन गए हैं—

"निम्नग अवचेतन के पूजक
अन्तश्चेतन के पथ कण्टक

ये विद्रोही नर नहीं, तुच्छ
मानव द्रोही, युग के अङ्गार।
जग-जीवन में जो उच्च महत्
वह इन्हें नहीं होता दृगगत,
निज दमित लालसा का जन में
ये देखा करते रुद्ध भार।
युग जीवन कर्दम के दादुर
समवेत कण्ठ गाते बेसुर
जनता जनता रटते बेसुर
मानवता का कर बहिष्कार।

और ऊर्ध्व-चेतना के अलौकिक अनुभवों की स्थिति में मूढ़ मार्क्सवादियों की इतनी भर्त्सना कर पन्तजी मध्यवर्ग के पाठकों को उपदेश देते हैं—

"युग कल्मष से पङ्किल धरणी के प्रागण मे
आज नया दायित्व भार है मध्य-वर्ग के
सृजन प्राण युग जीवन शिल्पी के कन्धे पर
धरती की सौन्दर्य-चेतना का प्रतिनिधि जो
युग-मन के बिखरे अनगढ़ उपकरणों को ले
मनुष्यत्व की नव प्रतिमा कल्पित कर उसको
प्राण प्रतिष्ठित करना है जन मन मन्दिर मे।"

यही नहीं, मध्यवर्ग के प्रत्येक जन को पन्तजी उपदेश देते हैं कि उसका एकमात्र कर्तव्य यह है कि वह मार्क्सवादी रावणों का विरोध करे—

"गरल फेन बहु उगल अचेतन के नरकों का
आज नए रावण उपजे हैं ... . . ।"

और इन 'रावणों' का नाश कैसे होगा, पुनरुत्थानवाद को पुष्ट करने से, जिससे भौतिकवाद—साम्यवाद के समन्वय के बहाने से प्राचीन भारतीय धर्म का प्रचार हो। प्राचीन हिन्दू-दर्शन ही पूर्ण दर्शन है। वही अब अतिक्रान्ति करेगा। आज की साम्यवादी क्रान्ति तो केवल राजनैतिक, आर्थिक क्रान्ति है। अभी अतिक्रान्ति की आवश्यकता है। क्रान्ति के युग में एकाङ्गिता की वृद्धि हो जाती है। मानव-मूल्यों में मनुष्य का विश्वास नहीं रहता। मनुष्य पशु हो जाता है।

घृणा, द्वेष, हिंसा का प्रचार होता है। वर्ग-भेद नाश के नाम पर वर्ग-वाद और भी पुष्ट हो जाता है। वैयक्तिकता का नाश हो जाता है। अति सामाजिकता के दबाव से व्यक्ति की स्वतन्त्रता छिन जाती है। एक दल-विशेष जनता का नाम लेकर मनमाने अत्याचार कर सकता है। ऐसे युग में जनवादी नेताओं की मूर्खताओं के विरोधकर्त्ताओं को भी सहज ही प्रतिक्रियावादी घोषित कर समाप्त कर दिया जाता है। मनुष्य का मौलिक चिन्तन समाप्त हो जाता है। जबरदस्ती किसी भी काम में लगा दिया जाता है।

यह है पन्तजी के अनुसार मार्क्सवादी क्रान्ति व उसका स्वरूप। चूँकि यह निन्दनीय है, अत पन्तजी एक अतिक्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। अतिक्रान्ति का अर्थ है 'ट्रांसेन्डेन्स' अर्थात् 'वह मानसिक स्थिति जो आज के भौतिक, सांस्कृतिक परिवेश को अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से अनुप्राणित हो।' ऐसी 'अतिक्रान्ति' की आज बड़ी आवश्यकता है।

४—'अतिमा'—पन्तजी की सङ्घर्ष से भाग कर अन्त:चेतना के ऊँचे आकाश पर 'रमण' करने की भावना 'अतिमा' में सबसे अधिक उग्र रूप से प्रकट हुई है। 'कवि' से भौतिक धरातल पर रहने वाले क्षुद्र, पापी, जड, नास्तिक चिन्तक यह आशा करते हैं कि पन्तजी 'ग्राम्या' की तरह अब भी धरती के गीत गाते रहें। स्थूल जीवन के, बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य-असौन्दर्य का चित्रण करे। मानव के मन में भौतिक जीवन को सुधारने की भावनाएँ जगाएँ। उसमें वैयक्तिक चेतना के स्थान पर सामाजिक भावनाओं का प्रसार करें। परन्तु नूतन रहस्यवादी चेतना के सौंदर्य से मुग्ध होकर, अन्तर्चेतना (Intuition) की नसेनी लगाकर, ऊर्ध्व-चेतन (Super mind) की चोटी की ओर धैर्य से आरोहक कवि पर इस 'दादुर-पुकार' का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उन्हे ऐसी पुकारें कर्दम-कीटों के कोलाहल से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं प्रतीत होती हैं। वे सीमित, रुद्ध चेतना को छोड़कर बहुत दूर पहुँच गए हैं और मजा यह है कि अपने साथ सारे विश्व को घसीटने की तैयारी भी उन्होंने करली है—

"मेरा पन्थ नहीं, मैं कातर
ज्योति-क्षितिज निज खोजूँ बाहर,

रहा देखता भीतर, अब क्या
तथ्यों का कटु तम लपटाऊँ ?
—'नव अरुणोदय', अतिमा।

कवि वैयक्तिक त्याग का उल्लेख करता हुआ कहता है कि मैंने अपने लिए तो जगत से किसी वस्तु की याचना नहीं की, अपने अभावों की पूर्ति के लिए कभी भी अपनी उच्च-चेतना के स्तर को नीचे नहीं गिराया। तब अब क्यों नग्न व्यथा की गाथा गाऊँ—

"कभी न निज हित सोचा क्षण भर
क्यों अभाव, क्यों दैन्य, घृणा ज्वर
अब क्यों तारों के खण्डहर में
नग्न व्यथा की गाथा गाऊँ ?"

परन्तु क्या पन्तजी जनता से यह आशा करते हैं कि वह उनके त्याग से प्रभावित होकर उनके घोर वैयक्तिक चिंतन को भी स्वीकार कर लेगी ? वस्तुतः यह इच्छा भी शुद्ध भारतीय इच्छा है, भारत में दार्शनिक वैयक्तिक जीवन में त्यागी, विरागी, होते थे, जनता उस त्यागमय जीवन से प्रभावित होकर उनके एकांतिक-चिंतन को भी स्वीकार कर लेती थी। गाधीजी में भी वही परम्परा हमें सुरक्षित मिलती है। परन्तु अब तो विचार को विवेक की कसौटी पर कसने का युग आ गया है। आप साधू, सन्यासी हो सकते हैं, त्यागी, परोपकारी हो सकते हैं। हम आपके इन मानवीय गुणों की प्रशंसा करेंगे परन्तु इसके साथ ही हम आपकी विचारधारा को, यदि वह अवैज्ञानिक है, स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि आज व्यक्तिगत मुक्ति का प्रश्न नहीं, समाज के उत्तरदायित्व का प्रश्न है। राष्ट्रीयता, संस्कृति, धर्म, ईश्वर, अवतार, त्याग किसी भी नाम पर अब घोर एकांगी दर्शनों की स्वीकृत नहीं मिल सकती। क्योंकि जैसा मैंने कहा था कि विचार की शुद्धता और वैज्ञानिकता का प्रमाण व्यवहार है यदि इसके विरुद्ध कोई भी विचार-धारा पड़ती है तो उसका क्रियात्मक रूप, चाहे वह कल्पना की दृष्टि से कितना ही मनोरम, समन्वयकारी और सुघड़ प्रतीत होता हो, उपयोगी नहीं है। क्रिया का रूप पाने पर वह विचार अनुपयुक्त ही ठहरता है और वह व्यर्थ ही नहीं, हानिकर भी है। पंतजी की विचार-धारा के सम्बन्ध में भी यही दृष्टिकोण स्वीकृत हो सकता है।

पंतजी अपने गीतों का उपयोग बताते हुए स्वयं कहते हैं कि यदि किसी का मन मृतप्राय वर्तमान से ऊब गया हो, निराशा बढ़ रही हो और तर्कों व वितण्डवादों से उर स्तब्ध हो गया हो तो भविष्य की झाँकी देखने के लिए मेरे गीतों का पाठ करना चाहिए। परन्तु अभी तो वर्तमान को ही बदलने का कार्य अधूरा पड़ा है, अब भी नर-भक्षकों से मानवात्मा की रक्षा करनी है। अब भी गत-युग के तर्क व विषाद शांत नहीं हो पाए, अब भी निरपेक्षतावाद, तटस्थतावाद बढ़ रहा है। पर अभी पतजी के 'भविष्यवाद' के उपयोग का समय नही आया। परन्तु साथ ही प्रश्न होगा कि आज न सही, कल ऐसा समय आ सकता है। परन्तु तब यह पूछना होगा कि क्या भविष्य की जो कल्पना कवि ने प्रस्तुत की है वह सर्वथा कल्पित तो नही है? दिवा-स्वप्नो को तो हम भविष्य की कल्पना नहीं मान सकते, धर्मान्धता को तो हम नूतन-चेतना के विकास में सहायक नही मान सकते। चूँकि पतजी की कल्पित-मनोभूमि रमणीय होने पर भी दिवा-स्वप्नों से सम्बन्धित है, वह क्रियात्मक अनुभवों से संकेतित सत्य नहीं। रहस्यात्मक मानसिक स्थिति में आभासों द्वारा प्राप्त 'सत्य' है जिसकी ओर चलने पर हमें अब तक के क्रियात्मक अनुभवों को तिलांजलि देनी होगी, पूर्वाग्रहों को स्वीकार करना होगा। अत. हम कवि द्वारा कथित भविष्य की झाँकी को कभी स्वीकार नहीं कर सकते। हाँ, पतजी की जन-हित की भावना का आदर अवश्य करते हैं। भारतीय धर्म के प्रति उनकी आत्म-समर्पण की 'मङ्गलमय भावना' का भी हम अवश्य आदर करते हैं, पर ऐसी भावना जो बुद्धि को एक ओर रखकर, उसे ज्ञान का साधन न मानकर, अन्ध-विश्वास के प्रति नत-मस्तक हो जाती है, आदरणीय नहीं है। हम पन्तजी की रमणीय कल्पना शक्ति का भी आदर करते हैं परन्तु उनके 'अपार्थिव दर्शन' को तो अपार्थिव-मानसिक-स्थिति के लोग ही स्वीकार कर सकते हैं। जिन्हें पार्थिव जगत से प्रेम है, मनुष्य को जो इसी दुनियाँ में सुखी देखना चाहते हैं, जो इसकी आशा, आकांक्षाओं, सुख दुखों मे हाथ बटाते हैं, जो उसे केवल 'बौद्धिक सहानुभूति' न देकर हार्दिक सहानुभूति देते है, जो उसके साथ कधे से कधा भिड़ा कर लड़ते हैं, जो उसे गिद्धों, भेड़ियों और जोंकों से बचाना चाहते हैं, जो उसके सम्मुख यह नहीं कह सकते कि वर्तमान का सघर्ष अब कहाँ है, वह तो मृत हो

गया है। जनता की क्रान्ति अवचेतन का उद्‌गार मात्र है। जनता को एक अफीम के गोले की आवश्यकता है जिसे खाकर वह मरणोन्मुख वर्तमान की निराशा से बचकर, आकाश की सैर करने लगे और वहाँ उदित-चेतना के इन्द्र धनुषों को देख देखकर मुग्ध हो जाए। वहाँ अनवरत टपकते ऊर्ध्व-चेतना के मधु का पान करे। वे इसे स्वीकार नही कर सकते, क्योंकि उन्हे तथ्यों के तम से युद्ध करना है। संध्या को ही प्रभात में बदलना है। हम बिना क्रिया के, तटस्थ होकर, अमरता के गायन द्वारा जीवन के कुत्सित स्वरूप को मंगलमय स्वरूप मे कैसे बदल सकेंगे ? दारिद्र्य, वेदना, घृणा, द्वेष विभाजन, वैर आदि का नाश सौन्दर्य-चेतना के गीत गाने से कैसे होगा ? अत. मानवता के उन्नयन के लिए वातावरण बनाना होगा। केवल पवित्रता के गायन से यह कार्य नही हो सकता। क्रिया पर जोर न देकर (यदि पंतजी क्रिया पर जोर देते भी हैं तो तथ्यों को न देखकर मनमानी, अव्यावहारिक क्रिया पर ही जोर देते हैं) कोरे आध्यात्मिक उपदेश सुनते-सुनते अब इस युग के श्रवण बधिर हो गए है। परन्तु पन्तजी मध्य-वर्ग के प्राचीन सस्कारों पर विजय न पा सकने के कारण, उन्ही संस्कारों का पाठ मध्य-वर्ग को पढ़ा रहे हैं सो भी उन्हे उनकी वैज्ञानिकता, ऐतिहासिकता तथा सामयिकता सिद्ध कर। वस्तुत, सस्कारों पर विजय प्राप्त करना कठिन कार्य है। पंतजी के लिए तो यह असम्भव है क्योंकि वे संस्कार उनकी 'कल्पना के सत्य' हैं और कल्पना ही उनकी एक मात्र जीवन व कला की सहचरी है।

पन्तजी का भविष्य श्रद्धा का भविष्य है[1] वर्तमान युग में होने वाली क्रिया को देख कर, विवेक द्वारा अनुमानित भविष्य नही (जैसा कि हमें साम्यवादी भविष्य-कल्पना में मिलता है)। पन्तजी यथार्थ की चकाचौंध से मूढ़ दृष्टि होकर अंतर्मुखी वृत्ति द्वारा जागृत अन्तश्चेतना में निमग्न होने को ही जीवन का उद्देश्य मानते हैं :—

"हाय अभागा, बुरी तरह से उलझ गया वह
बाहर के अग जग मे, बाहर के जीवन मे—

[1] वह श्रद्धा का रे भविष्य—जो देश काल युग से पर
स्वप्नों की सतरङ्ग शोभा से, रँगलो है निज अन्तर
अतिमा—पृष्ठ ७

जहाँ भयानक अन्धकार छाया युगान्त का
× × × ×
सोच रहा मैं—नही स्पष्टत. देख रहा मैं
महत युगान्तर आज उपस्थित मनुज द्वार पर।"

और यदि कोई यह कहे कि यह कल्पना है तो पन्तजी उसका विरोध करेंगे—

"कवि कपोल कल्पना नही—अनुभूत सत्य यह
घोर भ्रान्तियों के युग का निर्भ्रान्त मत्य यह
आरोहण कर रही मनुज चेतना निरन्तर
शिखरो से नव शिखरों पर अब, उठती गिरती"

इसीलिए पन्तजी "क्रन्दन-किलकारों" मे ध्यानावस्थित रहकर इस नूतन सत्य का दान इस अग-जग को कर रहे हैं। पन्तजी दरिद्र भारत को क्या शिक्षा दे रहे हैं, यह देखिए—

"आओ हे, सव ध्यान मौन, एकाग्र प्राणमन,
जीवन का अन्तरतम सत्य करे उद्घाटन।
पलक मूँद, अन्त' स्थित, खोले मन के लोचन,
नटवासी को करें पूर्ण हम आत्म-समर्पण॥"
× × × ×
आओ इस स्वर्गिक वाड़व मे अवगाहन कर,
लौट चलें पावक पराग मधु का नव तन धर।
नव-प्रकाश के वीज करें जन भू पर रोपण,
शोभा महिमा से कृतार्थ हो मानव-जीवन॥"

और तब भी पन्तजी कहते हैं—

"मैं तर्कों, वादों पर विरमा
बौद्धिक सोपानो पर विलमा
भटका कभी न रिक्त-शून्य मे
जन धरणी पर करता विचरण॥"

वस्तुस्थिति यह है कि अब तो धरणी पर विचरण करने का वहाना मात्र है, उन्हे शरीर से तो विचरण करना ही पड़ता है परन्तु उनका अन्तर्मन अब इस रीते घट के समान जगत को छोड़ चुका है। परन्तु पन्तजी मेधावी हैं वे अपने "शून्यभ्रमण" को मानवीय सत्य के रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। अत कौन कह सकता है

कि वे रिक्त-शून्य मे भटक रहे हैं ? परन्तु किसी 'विचारधारा' का मानवीय होना और बात है उसे 'मानवीय' रूप में दिखाना दूसरी बात। पन्तजी आजकल दूसरा कार्य कर रहे हैं परन्तु वे इस कटु जीवन के अनुभवों के बीच जो स्वप्नों की दुनियाँ खड़ी करते हैं, वह मरुस्थल के बीच 'हरितस्थलो' का कार्य करती है, चाहे भले ही शेष मरुस्थल को उद्यान में बदल देने की शक्ति उनमें न हो परन्तु भटके यात्रियों को वे एक ऐसे जगत में ले जाकर रख देते हैं, जहाँ उन्हे कहीं कोई दु ख नही दिखाई पड़ता वरन् चारों ओर अमरता, आनन्द, मुक्ति, सौन्दर्य और सौहार्द ही दिखाई पड़ता है। अतः भारत के मरुस्थल के समान जन-जीवन में पन्तजी की कविता नखलिस्तान का कार्य करती हैं। उसमें यदि मुग्ध हो कर कोई विचारक-यात्री वहीं का होकर रह जाय तो यात्रा अधूरी रह जाती है। परन्तु सावधान यात्री इस खतरे को समझता है अत' वह इन कल्पना-कुञ्जों में भ्रमण करने की ही समस्या का समाधान स्वीकार नही करता—

निर्जन मग को कर पग-मुखरित
मृग तृष्णा से युक्त, अपरिचित
जीवन मरु मे करता आया
हँसमुख हरितस्थलों का सर्जन

हम इन 'हरित-स्थलों' के समान पन्तजी के विचारों को भी, यात्री की गन्तव्य प्राप्त करने की अदम्य इच्छा में बाधक मानते हैं। उनमें विराम देने की शक्ति है पर साथ ही यात्री को सुला देने की भी शक्ति है, जिससे कि उसकी यात्रा लम्बी हो जाय—जनता की सङ्घर्ष-यात्रा को दीर्घ बनाने में पन्तजी के नूतन दर्शन ने पर्याप्त भाग लिया है।

—— ❀ ——

अरविन्द-दर्शन—समीक्षा (१)



अपने नूतन काव्य मे कवि पंत ने अरविन्द-दर्शन को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। हमने पिछले अध्याय मे पंतजी के नूतन काव्य मे अरविन्द-दर्शन की अभिव्यक्ति व उसके स्वरूप पर विचार किया है। पंतजी ने अरविन्दवाद की ओट लेकर, वही से अपने तर्क-उधार लेकर, मार्क्सवाद के विरुद्ध एक विकट मोर्चा तैयार किया है। हम इस अध्याय मे अरविन्द-दर्शन पर संक्षेप मे विचार कर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि स्वयं अरविन्द ने जिस दर्शन की स्थापना की है वह असङ्गतियों तथा अंध-विश्वासों से ओत-प्रोत है और ऐसे दर्शन को स्वीकार कर पंतजी के पुनरुत्थानवादी संस्कारी मन तथा संघर्ष-भीरु कल्पना को भले ही संतोष हुआ हो परन्तु विचार के क्षेत्र में उनका "समन्वयवाद" रहस्यवाद की ही ओर ले जाता है। अत. यदि अरविन्द-दर्शन की असङ्गतियाँ स्पष्ट हो जायें तो पन्तजी के 'समन्वयवाद' का आधार कितना दुर्बल है, यह भी स्वय प्रकट हो जाएगा।

हम कह चुके हैं कि अरविन्द एक पुनरुत्थानवादी विचारक थे। वह एक ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे जिसमें प्रत्येक विचारक भारतीय संस्कृति की अद्वितीय उच्चता और सर्व-व्यापकता को दिखाने में सतोष का अनुभव करता था, क्योंकि गोरे व्यापारी देशी-संस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखते थे। अत पुनरुत्थान के युग में भारत की प्राचीन विचार-प्रणाली की ओर नेताओं का ध्यान आकर्षित हो गया और उसकी महानता दिखाने का कार्य जो राजा राममोहन ने आरम्भ किया था, अरविन्द ने उसे उच्चता की सीमा पर पहुँचा दिया। इन विचारकों में एक ओर कुछ विचारक, जैसे आर्य समाजी, तो पूर्ण रूपेण वैदिक युग के लाने का ही प्रयत्न करते थे जबकि दूसरी ओर अरविन्द व एनीवेसेंट

जैसे विचारक एक समन्वय की ओर मुड़े। परन्तु स्मरण रहे जिस प्रकार एनीबेसेंट ने विश्व के सभी दर्शनों व धर्मों से थोड़ा-थोड़ा लेकर एक मनमाने समन्वय की कल्पना की उसी प्रकार अरविन्द ने भी प्राचीन भारतीय एकांतिक साधनाओं को जीवन का मुख्य ध्येय स्वीकार कर और योरोप की भौतिक उन्नति की प्रवृत्ति को स्वीकार कर, 'समन्वय' का नारा लगाया।

उस युग में जिस प्रकार 'थियोसोफिस्ट लोगों ने अपना सम-न्वय दिया, उसी प्रकार अरविन्द ने भी एक अपना 'समन्वय' दिया। प्रश्न यह है कि जब अरविन्द ने अपने समन्वयवाद में भौतिकवाद व अध्यात्मवाद दोनों को स्वीकार कर लिया तो क्या वह स्वीकृत नहीं हो सकता ?

उत्तर होगा, नहीं। क्योंकि अरविन्द ने इस समन्वय के घोल में एकांतिक साधना के अंश को बहुत अधिक महत्त्व दे दिया है। फलतः सामाजिक उन्नति और भौतिक जगत में कार्य करने की प्रवृत्ति केवल एकांतिक साधना का एक सहायक तत्त्व रह जाता है। पाठक का ध्यान केवल आत्मा-परमात्मा की ऊब-डूब पर केन्द्रित हो जाता है। वह अनिश्चित एकांतिकता की गुफाओं मे प्रवेश को मुख्य समझने लगता है और बाहरी दुनियाँ के कार्यों से विरत होता जाता है। अत: इस 'समन्वयवाद' का भी वही परिणाम निकलता है जो प्रत्येक साम्प्रदायिक और धार्मिक साधना का निकला है। इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति ने दु:खों से त्रस्त होकर आनन्द पाने की प्रवृत्ति दिखा कर, जब-जब व्यक्तिगत साधना मे मग्न होकर, आनन्द पाने का प्रयत्न किया है, तब-तब सामूहिक रूप से समाज के दु:खों का अंत कभी नहीं हो सका। दुःखों के प्रति पूर्ण सजग होकर गौतम बुद्ध ने भी जब व्यक्तिगत साधनाओं मे मन लगाया तो उसका अंत वाम मार्ग में दिखाई पड़ा। अरविन्दवाद का भी अंत घोर वैयक्तिक योग-साधना में ही होता है। अत: उनका समन्वय भी स्वीकृत नहीं हो सकता।

फिर प्रश्न हो सकता है कि अगर अरविन्द तो एक प्रतिभाशाली विचारक थे, महान योगी थे, वे कैसे गलती कर सकते हैं, उनकी विचारधारा अवैज्ञानिक कैसे हो सकती है, उनके ऊपर परिस्थितियों का प्रभाव कैसे पड़ सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि प्राचीन युग मे भी उपनिषद् के ऋषि, महर्षि, बुद्ध, नागार्जुन, शङ्कर, रामानुज, बल्लभ सभी महान प्रतिभाशाली, सभी शायद परमतत्त्व का साक्षात्कार कर चुके थे, परन्तु उनके बताए हुए मार्ग पर आज नही चला जा सकता क्योंकि उन्होंने केवल व्यक्ति की मुक्ति के सम्बन्ध में सोचा, समाज व व्यक्ति के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर उन्होंने विचार नही किया। अत. जिस प्रकार उन महान प्रतिभाशालियों की विचारधारा अमान्य है उसी प्रकार अरविन्द की विचारधारा भी स्वीकृत नहीं हो सकती।

यह कहना गलत है कि किसी दर्शन पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता। स्वयं अरविन्द के जीवन पर विचार करने से भली भाँति प्रकट हो जाता है कि उनके 'दर्शन' को जो विशिष्ट स्वरूप मिला है उसका कारण, किसी अंश में, उनके माता, पिता, उनकी शिक्षा, तथा तात्कालिक परिस्थितियाँ रही हैं। अत. अरविन्दवाद को शाश्वत दर्शन समझने वालों को स्वयं अरविन्द के जीवन के विकास के साथ उनके दर्शन का अध्ययन करना चाहिए कि वह किस प्रकार भारतीय दर्शन को अद्वितीय ठहराते हैं ? किस प्रकार उसी को चिरन्तन सत्य का शोधक मानकर जगत, जीव व ब्रह्म की व्याख्या करते हुए उसमे भौतिकवाद के भी कुछ तत्त्वों को स्वीकार कर एक अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करते हैं।

अरविन्द* के पिता डा० कृष्णधन पूर्णतया विदेशी संस्कृति के भक्त थे, वे स्वयं एक प्रसिद्ध डाक्टर थे और योरोपीय शिक्षा व संस्कृति से इतने अधिक प्रभावित थे कि भारत की प्रत्येक वस्तु से उन्हें घोर घृणा होगई थी। अत. उन्होंने अरविन्द को योरोपीय सस्कृति में ढालने का प्रयत्न किया। अरविन्द की माता स्वर्णलतादेवी ब्रह्म-समाज के नेता ऋषि राजनरायण की पुत्री थी, परन्तु अरविन्द पर उनका प्रभाव प्रारम्भ मे नही के बराबर था। डा० कृष्णधन ने अरविन्द को भारतीय कुप्रभाव से बचाने के लिए घर में बँगला बोलने वाले नौकरों को भी नहीं रक्खा था। वे अँगरेजी या हिन्दी जानने वाले नौकरों को ही रखते थे। अरविन्द को स्थानीय वर्नाक्यूलर स्कूलों मे न भेजकर डा० कृष्णधन ने लोरिटो कन्वेण्ट स्कूल-दार्जिलिंग

* अरविन्द की जन्म-तिथि १५ अगस्त १८७२ ई०

में भेजा, जहाँ प्रारम्भ से ही अँगरेजी के माध्यम से उन्हें शिक्षा दी गई। अतः किसी भी भारतीय भाषा से अरविन्द का परिचय न था। १८७९ में डा० कृष्णधन ने अरविन्द को इंगलैंड भेज दिया। सात वर्ष की अवस्था में उन्हे मैनचेस्टर के एक पादरी मि० ड्रूविट (Drewett) की संरक्षकता मे रख दिया गया। मि० ड्रूविट लैटिन के विद्वान थे। उन्हें डा० कृष्णधन ने आदेश दे दिया था कि अरविन्द को भारतीयों से न मिलने दिया जाय ताकि उन पर कोई कुप्रभाव न पड़े। १८८५ ई० तक वे घर पर ही लैटिन पढ़ते रहे। तत्पश्चात् उन्हें सैंट पॉल स्कूल, लन्दन में भेजा गया। अरविन्द का लैटिन पर अच्छा अधिकार हो गया था। उस स्कूल में ग्रीक व अँगरेजी में भी उन्होंने प्रवीणता प्राप्त करली। १८८९ ई० में १७ वर्ष की अवस्था में अरविन्द ने किंग्स कालेज, कैम्ब्रिज के लिए वजीफा पाया। किंग्स कालेज मे अरविन्द की प्रतिभा और भी चमक उठी। अँगरेजी में उनकी कविताएँ वहाँ प्रशंसित हुईं। अरविन्द 'इण्डियन सिविल सर्विस' की परीक्षा मे भी उत्तीर्ण हुए परन्तु घुड़सवारी में असफल हो गए। इस प्रकार १८९३ ई० तक २१ वर्ष की अवस्था में अरविन्द ग्रीक, लैटिन और अँगरेजी के विद्वान के रूप में प्रसिद्ध हो गए।

अब तक अरविन्द भारतीय ही नही, योरोपीय दर्शन व धर्म-शास्त्र से अपरिचित थे। यद्यपि बाइबिल उन्होंने पढ़ डाली थी। साहित्य में उनकी रुचि सबसे अधिक थी भाषा सीखने के क्षेत्र मे उनकी प्रतिभा अद्‌भुत थी। उन्होंने ग्रीक, लैटिन और अँगरेजी के सिवा, फ्रेंच, इटालियन और जर्मन का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। इस २१ वर्ष के जीवन में अरविन्द का अधिकतर समय अँगरेजी-वातावरण में ही व्यतीत हुआ। योरोपीय सस्कृति मे लालन-पालन, शिक्षा होने के कारण उन्हें भारतीय साहित्य, दर्शन, धर्म आदि से तव किञ्चित लगाव न था।

१८९३ ई० में अरविन्द भारत में आए और बड़ौदा रियासत मे एक उच्च अधिकारी हो गए। यहीं उन्होंने भारतीय साहित्य व दर्शन का अध्ययन किया। चूँकि उन्होंने भारतीय संस्कृति का परिचय उस मानसिक स्थिति मे पाया जिसमें दो प्रतिक्रियाएँ सम्भव थीं—

(१) योरोपीय वातावरण से आकर यह सम्भव था कि अर-

विन्द भी अपने पिता डॉ० कृष्णधन की तरह प्रत्येक भारतीय वस्तु से घृणा करने लगते।

(२) योरोपीय वातावरण से आकर यह सम्भव था कि वे प्रत्येक भारतीय वस्तु को उच्चतम मान लेते।

अरविन्द पर, बड़ौदा में आजाने के पश्चात्, द्वितीय कोटि का प्रभाव पड़ा। मुख्यतः भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में उन्होंने भारत की उच्चता को स्वीकार कर लिया और वेद-उपनिषद् और गीता के सिद्धान्तों को शाश्वत सन्देश समझ कर, उन्ही के द्वारा संकेतित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे—अर्थात् अरविन्द ने व्यक्ति का मुख्य उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति को ही माना और उसके साथ-साथ योरोप की भौतिक उन्नति को भी स्वीकार कर लिया। उन्होंने उस समय देश-भक्ति के प्रचार द्वारा जनता का ध्यान इस ओर खीचा कि सच्ची देश-भक्ति "आत्मवाद" पर आधारित होनी चाहिए अन्यथा वह दिखाऊ देशभक्ति होगी। सची देशभक्ति के लिए राष्ट्र की आत्मा के सङ्गठन की आवश्यकता है और राष्ट्र की आत्मा का सङ्गठन केवल वेद-उपनिषद और गीता के सिद्धान्तों के आधार पर ही हो सकता है।[1]

प्रश्न हो सकता है कि जागरण-युग में राष्ट्रीयता का आधार धार्मिक-स्तर को क्यों बनाया गया? इसका उत्तर यह है कि भारत की जनता को धार्मिक आधार पर ही उत्तेजित किया जा सकता था, ऐसा सभी नेता समझते थे। विशेष रूप से वे नेता जो धार्मिक प्रथम थे, राष्ट्रीय वाद में। उदाहरण के लिए तिलक ने जनता मे उत्तेजना भरने तथा राष्ट्रीयता जगाने के लिए स्थानीय त्यौहारों को मनाने पर जोर दिया। आगे गान्धीजी ने तो मध्यकालीन धार्मिक विश्वासों के माध्यम से ही जनता को जगाया। परन्तु अरविन्द इन दोनों से अधिक धार्मिक निकले, जबकि तिलक, गान्धी आदि राजनीति के क्षेत्र

[1] It should be noted, however, that his patriotism was not of the usual type but was grounded in spirituality, and his career during 1906—1910 must be characterised more as spirituo-political rather than merely political in the ordinary sense

(Mahayogi—R. R. Diwakar, Page 37)

में ही रहे, अरविन्द ने उससे विरत होकर, राष्ट्रीय धार्मिक साधनाओं का अभ्यास कर, आत्म-शक्ति को जागृत कर और आन्तरिक बल उत्पन्न कर, राष्ट्र को उठाने का आदर्श सम्मुख रक्खा। व्यक्तित्व का जब तक पूर्ण विकास न हो जाए, तब तक सामाजिक कार्यों में सफलता न मिलेगी, अरविन्द का यह विश्वास था। अतः वह आगे चलकर राजनीति से पृथक हो गए।

योरोप की संस्कृति से पूर्णतया परिचित होने के बाद जब अचानक बड़ौदा में अरविन्द ने राष्ट्रीय (हिन्दू) धार्मिक ग्रन्थो का अध्ययन किया तो वे दूसरी सीमा पर जा पहुँचे और बाह्य-सङ्घर्षों के स्थान पर आन्तरिक सङ्घर्ष मे पूर्ण विजय ही उनका उद्देश्य हो गया। भारतीय दर्शन व धर्म उन्हें विश्व में महानतम प्रतीत हुआ और उसी के प्रकाश में उन्होंने अपनी नूतन विचारधारा का सङ्गठन कर, भारतीय दर्शन की उच्चता की घोषणा की। भारतीय अध्यात्मवाद के प्रति अत्यधिक आकर्षण के कारण, वे चिन्तन की गहराइयों मे डूबते गए और व्यक्तिगत अनुभूति से भारतीय ऋषियों द्वारा निर्देशित साधना को उन्होंने जीवन का अङ्ग बनाया। आत्मा की मुक्ति पर उन्होंने प्रथम ध्यान दिया और इस प्रकार के अनुभवों को उन्होंने सबसे अधिक महत्त्व दिया क्योंकि इनसे व्यक्ति मे अपरिमित शक्ति, प्रकाश दिव्यता, विश्व-बन्धुत्व, आदि गुण उत्पन्न हो जाते है। परिणाम यह हुआ कि भारतीय आत्मवाद को अपने अनुभव से जाँच कर और उसे ठीक पाकर, उन्होंने अन्य दर्शनों का अध्ययन कर एक समन्वित मार्ग खोजा। उन्होंने भौतिकवाद को अस्वीकार किया, मध्यकालीन दार्शनिकों की वेद, उपनिषद् आदि की व्याख्याओं को भी अस्वीकार कर दिया और उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या के (जो योग-साधना पर आधारित है) और साथ ही पश्चिम में बढ़ते हुए भौतिकवाद को देखकर उसके विरुद्ध अपने दर्शन का प्रयोग किया। अरविन्द ने प्रथम आन्तरिक साधनों का अनुभव किया और उन्हे स्वीकार करने के पश्चात् अन्य दर्शनों का खण्डन किया। अतः उनके दर्शन मे जहाँ तर्क कार्य नहीं करता (और ऐसी स्थितियाँ अनेक हैं) वहाँ वे वेद, उपनिषद्, गीता तथा साधना की दशा में प्राप्त अनुभवों की साक्षी उपस्थित करते हैं। अतः उनका दर्शन वैयक्तिक अनुभवों को प्रमाण के रूप में पेश करता है। अरविन्द, हीगेल और काण्ट की तरह तार्किक पद्धति का

दूर तक अनुसरण नहीं करते वे उन्हीं मध्यकालीन दार्शनिकों की परम्परा में आते हैं जो बार-बार वेद-शास्त्रों की दुहाई देते नहीं थकते और वेद-शास्त्रों को ब्रह्मा द्वारा दिया गया ज्ञान मानते हैं। इसीलिए उनके दर्शन को शुद्ध तर्क के आधार पर कसने से कुछ भी ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो बुद्धि द्वारा ग्राह्य हो सके। जिस प्रकार अन्य दार्शनिकों ने पूर्वाग्रहों की प्रथम कल्पना की और तत्पश्चात् उसी की सिद्धि के प्रयत्न में सारी शक्ति लगादी, उसी प्रकार अरविन्द भी भारतीय दार्शनिकों की मान्यताओं को स्वीकार कर उन्हीं की रक्षा के लिए, उन्हीं को प्रमाण के रूप में स्वीकार कर दर्शन का भवन खड़ा करते हैं और उन्हीं पूर्वाग्रहों—चेतन, ऊर्ध्व-चेतन आदि की रक्षा के लिए सारे समाज के विकास का एक कल्पित इतिहास भी प्रस्तुत करते हैं जिसे यथास्थान हम देखेंगे। इस सारे विश्लेषण के नीचे 'भारतीय धर्म-साधना की उच्चता की भावना' छिपी हुई है जो पुनरुत्थानवादी—राष्ट्रीयतावादियों की प्रथम विशेषता है और यही विशेषता हमें पन्तजी में सुरक्षित मिलती है।

ज्ञान देश की सीमाओं में सीमित नहीं होता। जब आप पहले ही यह स्वीकार कर लेंगे कि ओह! उपनिषद् के ऋषि कितने महान् थे, उन जैसी महानता तो कहीं नहीं हो सकती उनके वचन अवश्य प्रामाणिक हैं। देखो! उन्हें विदेश के प्रचारक भी महान मानते हैं, उन्हें न मानना दुराग्रह है। यह भारत भूमि ही है जो वेद-उपनिषद, गीता की जननी है। दिव्य है यह भूमि! जब आप इस प्रकार सोचेंगे तब आप अवश्य दूसरे देशों के मनीषियों को पहले से ही 'अधकचरे हैं' ऐसा मानेंगे और उनके उपयोगी तत्त्वों को भी अस्वीकार कर या उनके एक पक्ष को स्वीकार कर भारतीय ऋषियों के शाश्वत दर्शन को ऊँचा सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे और अपने प्रिय धर्म की छत्र-छाया में ही अन्य अनुकूल पड़ने वाले तत्त्वों को स्वीकार करेंगे। इस प्रवृत्ति से राष्ट्रीय गर्व अवश्य प्रकट हो जायगा, राष्ट्रीयता के युग में इस प्रचार से राष्ट्रीय मोर्चा भी मजबूत हो जायगा, साम्राज्यवाद के विरुद्ध इस दृष्टिकोण से शायद जनता भी आपके राष्ट्रीय विचार को भ्रमवश स्वीकार कर लेगी पर परिणाम यह होगा कि न तटस्थता रहेगी और देश-विदेश का ध्यान कर विचारों की वैज्ञानिक परीक्षा ही हो सकेगी। विश्वास, कहना चाहिए कि अंध-विश्वास,

दूर तक अनुसरण नही करते वे उन्ही मध्यकालीन दार्शनिकों की परम्परा में आते हैं जो बार-बार वेद-शास्त्रों की दुहाई देते नही थकते और वेद-शास्त्रों को ब्रह्मा द्वारा दिया गया ज्ञान मानते है। इसीलिए उनके दर्शन को शुद्ध तर्क के आधार पर कसने से कुछ भी ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो बुद्धि द्वारा ग्राह्य हो सके। जिस प्रकार अन्य दार्शनिकों ने पूर्वाग्रहों की प्रथम कल्पना की और तत्पश्चात् उसी की सिद्धि के प्रयत्न मे सारी शक्ति लगादी, उसी प्रकार अरविन्द भी भारतीय दार्शनिकों की मान्यताओं को स्वीकार कर उन्ही की रक्षा के लिए, उन्ही को प्रमाण के रूप में स्वीकार कर दर्शन का भवन खड़ा करते हैं और उन्ही पूर्वाग्रहों—चेतन, ऊर्ध्व-चेतन आदि की रक्षा के लिए सारे समाज के विकास का एक कल्पित इतिहास भी प्रस्तुत करते हैं जिसे यथास्थान हम देखेंगे। इस सारे विश्लेषण के नीचे 'भारतीय धर्म-साधना की उच्चता की भावना' छिपी हुई है जो पुनरुत्थानवादी—राष्ट्रीयतावादियों की प्रथम विशेषता है और यही विशेषता हमें पन्तजी मे सुरक्षित मिलती है।

ज्ञान देश की सीमाओं में सीमित नही होता। जब आप पहले ही यह स्वीकार कर लेंगे कि ओह! उपनिषद् के ऋषि कितने महान् थे, उन जैसी महानता तो कहीं नही हो सकती उनके वचन अवश्य प्रामाणिक हैं। देखो! उन्हें विदेश के प्रचारक भी महान मानते हैं, उन्हें न मानना दुराग्रह है। यह भारत भूमि ही है जो वेद-उपनिषद, गीता की जननी है। दिव्य है यह भूमि! जब आप इस प्रकार सोचेंगे तब आप अवश्य दूसरे देशों के मनीषियों को पहले से ही 'अधकचरे हैं' ऐसा मानेंगे और उनके उपयोगी तत्त्वों को भी अस्वीकार कर या उनके एक पक्ष को स्वीकार कर भारतीय ऋषियों के शाश्वत दर्शन को ऊँचा सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे और अपने प्रिय धर्म की छत्र-छाया में ही अन्य अनुकूल पडने वाले तत्त्वों को स्वीकार करेंगे। इस प्रवृत्ति से राष्ट्रीय गर्व अवश्य प्रकट हो जायगा, राष्ट्रीयता के युग में इस प्रचार से राष्ट्रीय मोर्चा भी मजबूत हो जायगा, साम्राज्यवाद के विरुद्ध इस दृष्टिकोण से शायद जनता भी आपके राष्ट्रीय विचार को भ्रमवश स्वीकार कर लेगी पर परिणाम यह होगा कि न तटस्थता रहेगी और देश-विदेश का ध्यान कर विचारों की वैज्ञानिक परीक्षा ही हो सकेगी। विश्वास, कहना चाहिए कि अंध-विश्वास,

घोर घृणा जग रही थी और उसके स्थान पर भारत की प्राचीन संस्कृति-शिक्षा, सस्कार, धर्म और दर्शन का महत्त्व प्रतिपादित किया जा रहा था। अत. अरविन्द के योरोप से लौटते ही उनके मन पर भारत के दिव्य "दर्शन" का अप्रतिम प्रभाव पड़ा और उसकी शरण में एक बार चले जाने के पश्चात् उसी को श्रेष्ठ सिद्ध करना उनके लिए अनिवार्य बनता गया और उसी की अंतिम विजय दिखाने के लिए इतिहास व समाजशास्त्र के आधार पर विकास की कल्पना भी कर लेनी पड़ी। यह सब पुनरुत्थानवादी प्रयत्न था। यदि अरविन्द पहले से ही एकांतिक साधनाओं में न डूबकर इतिहास व समाज के विकास का, व्यक्ति व समाज के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करते और भारतीय दर्शन की पृष्ठ-भूमि को अलग करके देखते तो उन्हे उपनिषद्-दर्शन की शाश्वतता सिद्ध करने का मोह उत्पन्न नही होता पर ऐसा सम्भव नही था।

इसके साथ-साथ जैसा दिवाकर जी ने 'महायोगी' नामक ग्रंथ में बताया है कि अरविन्द ने भारतीय दर्शन को अंतर्चेतना के आधार पर (intuitive basis) पर ग्रहण किया था। अत उन्होंने उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या कर उनमें छिपे रहस्य को प्रकट किया और उस रहस्य की प्राप्ति को ही वे जीवन का चरम लक्ष्य मान कर यह सिद्ध करने पर तुल गए कि आगे की नूतन मानवता अवश्य इस रहस्य को स्वीकार करेगी और तब साम्यवाद के बाद एक अंतश्चेतना का युग अवश्य आएगा। इसी महान उड़ान को देखकर पतजी को मार्क्स व ऐंगिल्स के विचार झींगुर की झनकार से अधिक प्रतीत नहीं हुए। रहस्य की रमणीयता के आगे यथार्थ की सच्चाई व कड़ुवाहट को कौन स्वीकार करे?

प्रश्न हो सकता है कि यदि शास्त्रों की बात व्यक्तिगत अनुभव से सिद्ध हो जाय तब तो अरविन्द को स्वीकार कर ही लेना चाहिए तब उन पर पुनरुत्थानवादिता का आक्षेप नहीं होगा। उत्तर होगा कि व्यक्तिगत अनुभवों के पीछे आप जिन परिस्थितियों मे पलते हैं, उनका सस्कार रहता है। आस्तिक सस्कारों मे पले व्यक्ति को आत्मा व ईश्वर स्वयं सिद्ध प्रतीत होते हैं परन्तु इसी देश मे अनात्मवादी दार्शनिक भी रहे हैं, क्या उन्हें यह अधिकार नही कि वे समाज के विकास की एक नई कहानी गढ़ कर दिखावें कि साम्यवाद के बाद

परन्तु अरविन्द पाश्चात्य-दर्शन से परिचित थे, अत. उन्होंने सारे विदेशी ज्ञान के सम्मुख भारतीय धर्म-साधना की उच्चता प्रदर्शित की और वह भी आधुनिक ढङ्ग से। परिणाम यह हुआ कि आज के विचारक को अरविन्द-दर्शन में सारे प्रश्नों के उत्तर भी मिल जाते हैं और भारतीयता के अहं की सन्तुष्टि भी वहाँ हो जाती है, इतिहास और समाजशास्त्र पर आधारित मार्क्सवादी मान्यताओं का खण्डन भी वहाँ हो जाता है और साथ ही कुछ बातों की स्वीकृति भी मिल जाती है। अतः अरविन्द का दर्शन एक ऐसा घोल (Mixture) है जिसमें सभी तत्त्व है और सब के ऊपर है भारतीय ज्ञान की शाश्वतता की सिद्धि का प्रयत्न, भारत को ऊँचा उठाने का प्रयत्न। इस भावना का आदर राष्ट्रीयता की दृष्टि से उस काल में उपयुक्त अवश्य था परन्तु सत्य की खोज के लिए 'तटस्थता' आवश्यक है जो अरविन्द में मिल ही नही सकती क्योंकि उन्होंने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर, योरोपीय संस्कृति की प्रतिक्रिया के रूप में भारत की धर्म-साधनाओं को स्वीकार कर फिर उसकी रक्षा करने व उसके महत्त्व प्रतिपादन की चेष्टा की थी। अत' अरविन्द का दर्शन व्यक्तिवादी राष्ट्रीयता के आधार पर निर्मित शास्त्र-मान्यतावादी दर्शन है।* वे उसी प्रकार अपने दर्शन के पूर्वाग्रहों की रक्षा करते हैं जिस प्रकार योरोप के अध्यात्मवादी दार्शनिक करते रहे थे जिसका विश्लेषण मैंने प्रथम निवन्ध में किया है।

अरविन्द के लिए उस युग में तटस्थ रहना असम्भव था जिस युग मे देश में विदेशी संस्कृति, शिक्षा, संस्कार और शासन के विरुद्ध

* Aurbindo had a vast back ground of knowledge and experience of western thought and religion which Ram Krishna lacked But in his instinctive sympathy with all, that is high and noble in Indian spirituality, in intuitive appreciation and realization of it, and in the adoption of a truely spiritual and synthetic attitude towards all religions and human endeavour in that field, Aurbindo is nearer to Ram Krishna than all other Indian thinkers and reformers. (Mahayogi–Page 12)

घोर घृणा जग रही थी और उसके स्थान पर भारत की प्राचीन संस्कृति-शिक्षा, सस्कार, धर्म और दर्शन का महत्त्व प्रतिपादित किया जा रहा था। अत अरविन्द के योरोप से लौटते ही उनके मन पर भारत के दिव्य "दर्शन" का अप्रतिम प्रभाव पड़ा और उसकी शरण में एक वार चले जाने के पश्चात् उसी को श्रेष्ठ सिद्ध करना उनके लिए अनिवार्य वनता गया और उसी की अंतिम विजय दिखाने के लिए इतिहास व समाजशास्त्र के आधार पर विकास की कल्पना भी कर लेनी पड़ी। यह सब पुनरुत्थानवादी प्रयत्न था। यदि अरविन्द पहले से ही एकांतिक साधनाओं में न डूवकर इतिहास व समाज के विकास का, व्यक्ति व समाज के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करते और भारतीय दर्शन की पृष्ठ-भूमि को अलग करके देखते तो उन्हे उपनिषद्-दर्शन की शाश्वतता सिद्ध करने का मोह उत्पन्न नही होता पर ऐसा सम्भव नही था।

इसके साथ-साथ जैसा दिवाकर जी ने 'महायोगी' नामक ग्रंथ मे वताया है कि अरविन्द ने भारतीय दर्शन को अंतर्चेतना के आधार पर (intuitive basis) पर ग्रहण किया था। अत उन्होंने उनकी प्रतीकात्मक व्याख्या कर उनमें छिपे रहस्य को प्रकट किया और उस रहस्य को प्राप्ति को ही वे जीवन का चरम लक्ष्य मान कर यह सिद्ध करने पर तुल गए कि आगे की नूतन मानवता अवश्य इस रहस्य को स्वीकार करेगी और तव साम्यवाद के वाद एक अतश्चेतना का युग अवश्य आएगा। इसी महान उडान को देखकर पंतजी को मार्क्स व ऐंगिल्स के विचार झींगुर की झनकार से अधिक प्रतीत नहीं हुए। रहस्य की रमणीयता के आगे यथार्थ की सचाई व कड़ुवाहट को कौन स्वीकार करे?

प्रश्न हो सकता है कि यदि शास्त्रों की वात व्यक्तिगत अनुभव से सिद्ध हो जाय तव तो अरविन्द को स्वीकार कर ही लेना चाहिए तव उन पर पुनरुत्थानवादिता का आक्षेप नहीं होगा। उत्तर होगा कि व्यक्तिगत अनुभवों के पीछे आप जिन परिस्थितियों मे पलते हैं, उनका सस्कार रहता है। आस्तिक सस्कारों में पले व्यक्ति को आत्मा व ईश्वर स्वयं सिद्ध प्रतीत होते हैं परन्तु इसी देश मे अनात्मवादी दार्शनिक भी रहे हैं, क्या उन्हें यह अधिकार नही कि वे समाज के विकास की एक नई कहानी गढ़ कर दिखादें कि साम्यवाद के वाद

अनात्मवादी युग अवश्य आएगा ? तब आप क्या उत्तर देंगे ? अरविन्द को अनेक आस्तिक अनुभव बराबर होते रहे और उन्होंने उन आंतरिक अनुभवों को सर्वदा सच्चा समझा। कभी भी उनके पीछे रहने वाले हिन्दू सस्कारों की छान-बीन नही की और उनकी प्रामाणिकता के लिए शास्त्रों की दुहाई देकर उन्ही को सिद्ध करने में लीन रहे। अत: जहाँ संस्कार बुद्धि की पैनी धार से कटने लगते हैं, वही अरविन्द अंतर्चेतना (intuition) का सहारा पकड़ लेते हैं और बुद्धि के शुद्ध, अशुद्ध मनमाने विभाजन करने लगते हैं। किसी भी तरह उन्हे अपनी बात सिद्ध करनी है।

अरविन्द का युग एनीबेसेएट, सुब्रह्मएय अय्यर, कस्तूरी रङ्गायगर, के० टी० तेलग, रानाडे, गोखले, तिलक, दयानन्द, लाजपतराय, दादाभाई नोरोजी, फीरोजशाह मेहता, आनन्दकुमार स्वामी का युग (१६ वी शताब्दी का अन्तिम भाग) था। ये सब नेता जो अरविन्द के सम्मुख थे, प्राचीनतावादी थे। ये सब भारत के प्राचीन गौरव को प्रदर्शित कर राष्ट्र मे साम्राज्यवाद के विरुद्ध जागृति भर रहे थे। इनमें तिलक निष्काम कर्मयोग के समर्थक थे, लाजपतराय हिन्दुत्व का समर्थन करते-करते पीछे से हिन्दू-राज्य का स्वप्न देखने लगे थे। एनीबेसेएट ने थियोसोफी की ओर पीछे से कदम बढाया था। इस प्रकार इन महान देश-भक्तों से धार्मिक व दार्शनिक मान्यताओं के सम्बन्ध में तटस्थता की माँग करना अनुचित था। इसी प्रकार इसी श्रेणी मे जब अरविन्द ने कार्य किया (१८६३ के पश्चात्) तो वे भी भारतीय गौरव की स्थापना करने के प्रयत्न में यहाँ के प्राचीन दर्शन के अन्ध-भक्त बन गए—यही स्वाभाविक था। योरोप की शिक्षा के प्रति यही प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी और इसीलिए उन्होंने भारतीय-संस्कृति को बदनाम करने वालों को कड़ा जवाब दिया था।* इन सभी विद्वानों ने सस्कृत व प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन किया

* It was out of this environment or perhaps as a strong reaction to it, that a most powerful and eloquent voice "In defence of Indian culture" issued forth from Aurbindo in later years

(Mahayogi—Page 31)

था। ये सब योरोप की भौतिक उन्नति के क्षेत्र में उसे आदर्श मानते थे और भारतीय आदर्शवाद के साथ उसका समन्वय करना चाहते थे। पन्तजी के शब्दों में कहें तो ऊर्ध्व-धरातल के साथ समदिक्-धरातल का समन्वय इन्हें भी इष्ट था। यही अरविन्द को भी इष्ट हुआ, पद्धति कुछ भी रही हो, बाद मे गान्धी आए उन्हें भारतीय धर्म का आस्तिक रूप ही भाया और परम्परावादिता का प्रभाव उन पर इतना अधिक रहा कि वे भौतिक सभ्यता के घोर विरोधी बन कर प्राचीन सादगी के युग को लाने की ही बात करते रहे। अत. भारत के नेताओं में जो प्रवृत्तियाँ अरविन्द के पहले से आ रही थी उन्होंने ही अरविन्द के दर्शन को यह विशेष रूप दिया—अपने युगानुरूप ही उनकी चेतना का विकास हुआ।

पुनरुत्थानवादी जागरण के उस युग में अरविन्द योरप से लौटकर भारतीय दर्शन का अध्ययन कर जन्मभूमि को 'माता' के रूप में पूजने लगे। राष्ट्रीयता भी उनके लिए साधना का अङ्ग बन गई और ऋषियों के कथनों को उन्होंने जीवन में उतारना प्रारम्भ कर दिया। वे एक दार्शनिक की तरह या एक स्वतन्त्र-विचारक की तरह नही सोचते थे अपितु एक रहस्यवादी की तरह परमात्मा की प्राप्ति के लिए योग-साधना मे मग्न रहने लगे।[1] उन्होंने जिस पत्र का १६०६ में सम्पादन किया उसका नाम था 'धर्म'। उस युग में भी अरविन्द की देश भक्ति का आधार धर्म ही था।[2] राष्ट्र को जगाने के साथ-साथ, क्रांतिकारियों के साथ कार्य करते हुए भी, वे योग साधनाओं में तत्पर रहते थे। हमें भूलना नही चाहिए कि किंग्स कालेज, कैम्ब्रिज मे भी अरविन्द एक उत्साही क्रांतिकारी छात्र थे। उन्होंने वहाँ भी 'Lotus

[1] It was not the search of the Philosopher for a mere rational theory of the universe It was rather the hunger of the mystic for his 'beloved', the search of the Nara for the Narayana

(Mahayogi)

[2] His patriotism was a piece with the Indian renaissance ' it was almost religious in essence and highly spiritual in content. (Mahayogi)

and dagger' नामक संस्था स्थापित की थी, परन्तु तब वह शुद्ध क्रांतिकारिता के पथ पर थे। भारत मे आकर बड़ौदा व कलकत्ते दोनों स्थानों पर उनकी राजनैतिक कार्यवाहियाँ अमुख्य होती जा रही थी और योग-साधना मुख्य होती जारही थी। अभी उनका 'दार्शनिक' नही जागृत हुआ था। हमने पहले ही कहा है कि अरविन्द ने अपने दर्शन मे अपने संस्कार, अपने व्यक्तिगत अनुभवों को ही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है जो एक रहस्यवादी की पद्धति है, दार्शनिक की नही।

राजनैतिक क्षेत्र के लिए यह प्रवृत्ति खतरनाक थी और एकांतवाद की ओर ले जाने वाली थी। परन्तु उस समय की राजनीति शक्ति पर नहीं, देश की जागृति पर अधिक ध्यान दे रही थी। जनता मे आत्म विश्वास, अपनी संस्कृति से अनुराग, परम्पराओं से प्यार, त्याग, सेवा वलिदान आदि तत्त्वों को जगाने की आवश्यकता अधिक थी। अत अरविन्द ने देखा कि विना धार्मिक साधनाओं के (भीतर से शक्ति न मिलने पर) आजादी का युद्ध सवल नही हो सकता। अरविन्द में एक गम्भीर साधक व एक बलिदानी क्रांतिकारी की भावना एक साथ रही। उन्होंने धार्मिक, आध्यात्मिक और राष्ट्रीय लेखों से जनता में बलिदान की भावना जागृत की और सशस्त्र विद्रोह की वकालत की। वे हिंसा को केवल नीति के रूपमे ही मानते थे, सिद्धान्त के रूप में नही। १६०६ तक वडौदा मे राजनैतिक जगत में नाम पाकर अरविन्द ने १६०६ से १६१० तक वङ्गाल को अपना कार्य-क्षेत्र वनाया। अरविन्द ने 'युगान्तर' व 'वन्देमातरम्' नामक पत्रों द्वारा राष्ट्रीय मोर्चे को मजबूत किया, परन्तु उनके लेखों में अध्यात्मवाद का स्वर धीरे-धीरे वढता गया। उनकी व्यक्तिगत साधना भी चलती रही। वस्तुत उनके लिए राजनैतिक कार्यवाही भी उनकी आन्तरिक साधना का अङ्ग थी। मतलब यह कि अरविन्द के लिए इस युग मे भी आन्तरिक सङ्घर्ष मुख्य था। प्रसिद्ध 'सूरत कांग्रेस' भी इसी वीच मे हुई थी। अरविन्द ने इसमें भी भाग लिया था। इन सव कार्यों के साथ-साथ साधना भी चलती रही। वम्बई के प्रसिद्ध व्याख्यान मे अरविन्द ने देशभक्ति को साधना का अङ्ग वताया और ईश्वर में विश्वास करने को कहा और मातृभूमि को देवी के रूपमे देखकर महान सेवा व वलिदान की प्रेरणा दी। यहाँ भी साधना मुख्य रही, अरविन्द धीरे-धीरे राजनीति से धर्म की ओर आते जा रहे थे।

१६०८ मे किंग्सफोर्ड जज पर बम फेंका गया। इसे ही 'मनीकोटला बम केस' कहा जाता है। अरविन्द को जेल जाना पड़ा, परन्तु चितरञ्जनदास की वकालत से अरविन्द बच गए। उनके भाई बरीन्द्र को सजा हो गई। चितरञ्जनदास ने अरविन्द के देश-प्रेम, सन्त-स्वभाव, दिव्यता आदि की बड़ी प्रशंसा की।[1] १३ अप्रैल १६०६ को अरविन्द मुक्त हुए। इसके पश्चात् अरविन्द को चारों ओर ब्रह्म के दर्शन होने लगे:—

He saw the mystic vision of Shri Krishna every where and experienced the charms of ineffable unitive life For him, the Jail, the Jailor, the Police, the Court, the Accuser, the Judge all were transformed and became but the menifestation of one ' Vasudeo Sarvam"[2]

मतलब यह कि अरविन्द धीरे-धीरे योग की ओर बढ़ते गए, पाठक देखें कि अब भी अर्थात् १६०६ तक अरविन्द का दार्शनिक रूप स्पष्ट नही हुआ था। वे साधना की गहराइयों मे उतरते चले जा रहे थे और इसीलिए The Indian Social Reformer नामक पत्र के सम्पादक श्री कमलाक्षी ने अरविन्द के धार्मिक स्वर का मजाक बनाया था।

अलीपुर जेल के बाद अरविन्द योग के ऊपर अधिक ध्यान देने लगे। उन्होंने 'कर्मयोगी' व 'धर्म' नामक पत्र प्रकाशित किए। राजनीति को भी वह योग-साधना का अङ्ग बनाते गए। विलियम आर्चर द्वारा भारतीय संस्कृति पर आक्रमण करने पर अरविन्द ने 'In defence of Indian culture' लिखा था। सिस्टर निवेदिता से कैद हो जाने की खबर पाकर अरविन्द पाण्डुचेरी चल दिए और ४ अप्रैल १६१० को वे वहाँ पहुँच गए। यहाँ निश्चित होकर उन्होंने धार्मिक

[1] There, I say that the man in his (Aurbindo's) position is not only standing before the bar of this court, but before the bar of the High Court of History"

[2] Mahoyogi—Page 77

अवैज्ञानिक रूप स्पष्ट हो जाता है। अब हम अरविन्द दर्शन की मान्यताओं पर सक्षेप मे विचार करेगे।

अरविन्द-दर्शन स्पष्ट करते समय हमने देखा है कि प्राचीन-युगों से लेकर अब तक जितने भी प्रश्न जीव, जगत व ब्रह्म के सम्बन्ध में उठाए गए है अरविन्द उन सभी का उत्तर देने का प्रयत्न करते है और उत्तर देते समय वेद-उपनिषदों को प्रमाण रूप मे उद्धृत करते है। वह प्रयत्न उसी प्रकार का प्रयत्न है जिसे सभी आस्तिक दार्शनिको ने अपनाया है अर्थात् शङ्कर, कुमारिल, उदयन, रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि सभी अपनी स्थापनाओं के प्रमाण मे श्रुतियो को उद्धृत करते है और इनमे से प्रत्येक दूसरो का खण्डन कर यह दिखाता है कि श्रुतियों से उसी का मत पुष्ट होता है, अन्यों का नही। इसी परम्परा मे अन्तिम दार्शनिक अरविन्द है जो प्राचीन दार्शनिकों की ही तरह यह प्रयत्न करते हैं कि श्रुतियों की व्याख्या उनके अतिरिक्त और कोई नही कर सका। उनका ही मत श्रुतियों से पुष्ट होता है, शङ्कर, रामानुज आदि की व्याख्याएँ गलत हैं। कहना न होगा कि बेचारे उपनिषदों के ऋषियों को इन व्याख्याओं का अन्दाज भी शायद ही होगा क्योंकि उपनिषदों में ऋषियों के अनुभवों को संग्रह कर दिया गया है। उनसे मनमाने अर्थ निकाल कर पीछे के दार्शनिकों ने मनमाने दार्शनिक सम्प्रदायों को खड़ा किया। अत अरविन्द की व्याख्या ही सही है, शङ्कर की व्याख्या गलत है, यह कहना उतना ही गलत है जितना यह कहना कि शङ्कर की ही व्याख्या सही है, रामानुज की गलत या रामानुज की ही व्याख्या सही है, शङ्कर की गलत।

शङ्कर, रामानुज आदि के सम्मुख वे प्रश्न न थे जो अरविन्द के सम्मुख थे। उदाहरण के लिए तब वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विकास नहीं हुआ था। विज्ञान द्वारा प्रकृति के अनेक रहस्य उद्घाटनों से प्राचीन दार्शनिक अपरिचित थे। अत उनकी ऐतिहासिक सीमाएँ थी, जहाँ दार्शनिक किसी निर्णय पर पहुँचना चाहते थे और विवेक बाधा डालता था तो वे शास्त्र की ओट मे विवेक को दबाकर जनता की शास्त्र-भक्ति से लाभ उठा लेते थे। परन्तु अरविन्द के युग में भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, इतिहास, समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान आदि के क्षेत्रों में अनेक नई बातों का पता चल चुका था जिनसे प्राचीन दार्शनिक अपरिचित थे। अत अरविन्द का कार्य अधिक संकुल हो

गया था। परन्तु जिस प्रकार प्रत्येक आदर्शवादी दार्शनिक कुछ पूर्वाग्रहों को लेकर चलता है, उसी प्रकार अरविन्द को अपने पूर्वाग्रहों को प्रमाणित करना था। अत उन्होंने एक ओर तो वैज्ञानिक खोजों की देन को स्वीकार किया तथा दूसरी ओर आध्यात्मिक सत्यों को भी प्रमाणित किया। यही अरविन्द का 'समन्यवाद' कहलाता है। यह कैसे सम्भव हो सकता था ?

अरविन्द ने समन्वय खोजने के लिए परस्पर विरोधी दार्शनिकों की विचारधारा को चुना। दार्शनिकों की चर्चा के विषय हैं जगत, जीव तथा ईश्वर। क्योंकि विचारक जड़-जगत व चेतन-आत्मा को देखकर समाधान खोजता है कि जगत जड़ है और जड़ तत्त्वों से बने पिण्डों में चेतना की सत्ता भी प्रतीत होती है, तब इस समस्या का समाधान कैसे सम्भव हो ? इसके तीन मार्ग हैं—

१—जड़-जगत व चेतना दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

२—चेतना ही सत्य है, जड़-जगत की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

३—जड़-जगत ही सत्य है, चेतना की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह जड़-जगत का ही एक विकसित रूप है। (मार्क्सवाद)

इसमें प्रथम विचारधारा द्वैतवादियों की है। द्वैतवादी चेतना व जड़-तत्त्व दोनों की अलग-अलग स्वतन्त्र सत्ताएँ मानते हैं। इसे स्वीकार करने में अनेक बाधाएँ आती हैं ? अत द्वैतवाद का बड़ा कठोर खण्डन हुआ है। सांख्य भी प्रकृति व पुरुष की अलग-अलग सत्ता मानता है। शङ्कराचार्य ने इसीलिये साख्य का बड़े विस्तार से खण्डन किया है। हम यहाँ उनके तर्कों को उपस्थित नहीं करेंगे।[1] द्वैतवादियों को मान्यता नहीं मिली। अद्वैतवादी रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क आदि का प्रभाव ही भारतीय चिन्ता-धारा पर अधिक रहा। योरोप में भी द्वैतवाद नहीं पनप सका क्योंकि द्वैतवाद दो स्वतन्त्र सत्ताओं में विश्वास करता है और दो स्वतन्त्र सत्ताएँ सृष्टि के पूर्व में एक साथ क्यों और कैसे रहती हैं ? क्या जड़ व चेतन तत्त्व साथ-साथ रह सकते हैं ? यदि रह सकते हैं तो परम-चेतन-तत्त्व को जो सब देशों में शुद्ध चेतन कहा है वह क्यों कहा है ? यदि ईश्वर शुद्ध चेतन-तत्त्व है जो जड़-तत्त्व कहाँ रहा ? आदि-आदि प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर न मिलने से द्वैतवाद को मान्यता नहीं मिल सकी।

[1] देखिए— वेदान्त सूत्रों पर शङ्कर का भाष्य।

तब एक ही तत्त्व की सत्ता मानने वाले दार्शनिक सम्मुख आते हैं। इनमें अरविन्द के सम्मुख 'मानसिक प्रत्ययवाद' (Mental idealism) के विश्वासी बर्कले जैसे दार्शनिक भी थे और शंकर, नागार्जुन जैसे भारतीय दार्शनिक भी। ये सब जगत की सत्ता का किसी न किसी रूप में निषेध करते है, यथा बर्कले यह नही मानता कि वाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध की जा सकती है। मानवीय चेतना से स्वतत्र पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता प्रमाणित नही होती। अत प्रत्यय (idea) सत्य है, पदार्थ नही। इससे भी भौतिक जगत की सत्ता का निषेध हुआ। दूसरी ओर विज्ञानवाद है जो विज्ञान को ही सत्य मानता है और पदार्थों को अतरस्थित विज्ञान का प्रक्षेपणमात्र। इससे भी पदार्थ की सत्ता मनुष्य की चेतना में ठहरती है, बाहर पदार्थ की कोई सत्ता है, यह प्रमाणित नहीं होता। शून्यवाद सब पदार्थों में शून्यभाव देखता है। शून्यवादी की दृष्टि से कार्य-कारण भाव आदि ज्ञान के जितने साधन हैं, गलत हैं। पदार्थ की सत्ता सिद्ध नही की जा सकती। अत सब पदार्थों को 'शून्य'—अनिर्वचनीय (जिसके स्वभाव को हम बता न सकें) ही कह सकते हैं। व्यावहारिक रूप से जगत को (सौवृतिक सत्य) स्वीकार भले ही कर लिया जाय परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह शून्य है। शून्यवादी की दृष्टि से निर्वाण, परमतत्त्व, तथागत सब शून्य है—अनिर्वचनीय। इससे भी जगत की सत्ता का निषेध ही होता है।

अद्वैतवादी शंकर पर विज्ञानवाद व शून्यवाद दोनों का ही प्रभाव था। अरविन्द के अनुसार बौद्ध जगत की सत्ता का निषेध कर चुके थे। शंकर ने इसे स्वीकार किया क्योंकि इस सिद्धांत से ब्रह्म की सत्ता सिद्ध करने में उन्हें सबसे अधिक सहायता मिली और इसलिए उन्होंने गौड़पाद के आधार पर 'माया' का सिद्धांत स्वीकार कर, जगत को मायात्मक घोषित कर, शून्यवादी की ही तरह कार्य-कारणवाद का खण्डन किया और उपनिषदों में माया का ही सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है, यह अपनी व्याख्याओं से प्रमाणित कर दिया।

शङ्कर को जगत के निषेध से क्या लाभ था ? उन्हे यह लाभ था कि जगत की सत्ता का निषेध कर, उसे केवल भ्रम मान लेने से वह एक ही चेतना की सत्ता की स्थापना कर सकते थे क्योंकि जड-जगत व चेतना दोनों को स्वीकार करने से अनेक विरोध उत्पन्न हो जाते थे।

चूँकि वेदों व उपनिषदों मे वार-बार ब्रह्म व आत्मा की एकता का मण्डन किया गया था। वेदों मे भी एक ही सत्ता है, विद्वान् उसे विविध प्रकार से कहते हैं, यह कहा गया था। अतः यह असम्भव था कि शङ्कर वेद-श्रुतियों के विरुद्ध जाकर ब्रह्म का खण्डन करते जैसा कि बौद्धों ने ब्रह्म व आत्मा का खण्डन करके किया था। यद्यपि बाद में बौद्धों को भी परम तत्त्व की सत्ता माननी पड़ी थी। अत. शङ्कर ने साहस कर जगत की सत्ता का निषेध किया और एक ही चेतना को त्रिकालाबाधित सत्य कहा। शङ्कर का पक्ष यह था कि यदि जड़-तत्त्व सत्य है और चेतन-तत्त्व भी सत्य है तो या तो दोनों को द्वैतवादियों की तरह सत्य माना जाय, जो माना नहीं जा सकता, क्योंकि जड़-तत्त्व से चेतना का जन्म असम्भव है, तब चेतना को ही सत्य माना जाय जबकि श्रुतियाँ भी यही कहती है। परन्तु शङ्कर के सम्मुख प्रश्न था—तब क्या जगत भी चेतना से ही विकसित हुआ है ? चेतना ही जगत् के रूप में व्यक्त हो गई है ?

परन्तु यदि चेतना जगत् के रूप में व्यक्त हुई है तो उसमें विकार आना चाहिए क्योंकि जगत् जड़ है यथा दूध जब दही बनता है तो उसमें विकार आता है परन्तु ब्रह्म को तो अविकारी कहा गया है। अतः ब्रह्म जड़-जगत के रूप में व्यक्त नही हुआ। तब केवल यही माना जा सकता है कि केवल ब्रह्म (चेतना) की ही सत्ता है, जगत् प्रपञ्च है, भ्रम है, माया है, जैसे इन्द्रजाल का खेल, जैसे मृगजल, सीप में चाँदी का आभास मात्र, रज्जु में सर्प का भ्रम मात्र। वह न सत् है, न असत्। अत. मिथ्या है, अनिर्वचनीय है, मायामय है। यह है शङ्कर का निर्णय।

शङ्कर जानते थे कि ज्यों ही जड़-जगत की सत्ता स्वीकार की, विरोध उत्पन्न हो जायेंगे। यदि जगत सत्य है, कार्य है, तो कोई कारण अवश्य होगा ? यदि कारण है तो वह पहले रहा होगा क्योंकि कारण पहले रहता है, कार्य बाद में आता है ? तब इस जगत का स्रष्टा यदि ईश्वर (कारण) है, ऐसा कहो तो उसने यह दु.खमय जड़ जगत क्यों बनाया ? आदि आदि अनेकों प्रश्न उत्पन्न होते हैं। अतः शङ्कर ने स्पष्ट कहा कि जगत की सत्ता नही है। वह न सत् है, न असत्, भ्रम मात्र है, वह केवल प्रतीत होता है, ज्ञान होने से उसकी सत्ता नहीं रहती। यह समाधान तर्क पूर्ण था। यदि यह पूछो कि अंततः यह भ्रम क्यों है

उत्तर होगा अज्ञान के कारण। अज्ञान एक भावात्मक वस्तु है जिससे एक ही शुद्ध चेतन सत्ता में हम जगत की कल्पना कर लेते हैं यथा रज्जु में सर्प की कल्पना कर लेते हैं। यह शङ्कर का 'मायावाद' है।

यदि हम 'माया' को स्वीकार करले तो आगे की प्रक्रिया तर्क पूर्ण हो जाती है। शङ्कर का "माया" का सिद्धांत स्वीकृत नही हो सकता, उस पर अनेक प्रश्न उठते हैं। आगे के दार्शनिकों—रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि सब ने "मायावाद" पर ही अधिक प्रहार किए हैं, बौद्धों का उतना खडन नही किया। अत पाठकों को 'मायावाद' का खंडन रामानुज मे देखना चाहिए। परन्तु हम शङ्कर के तर्क-पूर्ण विवेचन की प्रशंसा करते हैं जो चेतना की सत्ता सिद्ध करने के लिए जगत की सत्ता का साहस पूर्वक निषेध करते हैं और अपने दर्शन को तर्क के विरुद्ध नही जाने देते।

अरविन्द बुद्धि-सङ्गत पन्थ न अपना कर किसी भी मूल्य पर एक ऐसा समाधान खोजने की चिंता मे रहते हैं जिसमें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का समन्वय हो जाय। मतलब यह कि जड-जगत व चेतन-सत्ता दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाय। इसके लिए अरविन्द के सम्मुख दो मार्ग थे—

१—या तो चेतना में विकार स्वीकार किया जाय।

२—या चेतना अपनी ही एक शक्ति से विना किसी विकार के जड़-तत्त्व का रूप धारण करती है, यह स्वीकार किया जाय।

अरविन्द यह स्वीकार नही कर सकते थे कि विकृत-चेतना ही जड-जगत का रूप धारण कर लेती है। अत. उनके सामने एक ही मार्ग था कि वे यह स्वीकार करे कि चेतना अपनी एक ही शक्ति से तीनों कार्य करती है—

१—वह अपने को अनेक अशों में विभक्त कर वैयक्तिक जीवात्मा के रूप में बदलती है।

२—वह स्वय एक शक्ति से जड-जगत् के रूप मे बदल जाती है।

३—और साथ ही वैयक्तिक जीवात्माओं व जड जगत से परे अपने शुद्ध स्वरूप मे भी अवस्थित रहती है।

इस मान्यता से पहला समाधान सम्भव हो गया कि जड-जगत सत्य है क्योंकि स्वय ब्रह्म की ही एक शक्ति ने जड़-जगत् के रूप में अपने को बदल लिया है। साथ ही पदार्थ के भीतर सुप्त रूप मे

चेतना भी अवस्थित हो जाती है और तब पदार्थ, जीवन, मन इस क्रम से ऊपर की ओर विकास होता है। यह दूसरा समाधान है।

इससे अरविन्द ने यह सिद्ध कर दिया कि विकासवाद सही है और विकास द्विमुखी है। नीचे की ओर भी विकास होता है और ऊपर की ओर भी। शुद्ध चेतना अपनी शक्ति से जड़-जगत का रूप धारण करती है यह निम्न विकास है और जड़-तत्त्व से जीवन व मन का विकास होता है यह ऊपर की ओर विकास हुआ। विज्ञान भी यह मानता है कि जड़-तत्त्व से ही जीवन का विकास होता है। इस प्रकार अरविन्द एक ही चेतना के दो प्रकार के विकास को दिखा कर जड़ व चेतन के विरोध को समाप्त कर देते हैं और भौतिकवाद व अध्यात्मवाद को मिला देते हैं। परन्तु साथ ही चूँकि उन्हे भौतिकवाद का विरोध करना है, विशेषतः मार्क्सवाद का जो जड़-तत्त्व को ही सत्य मानता है। अत. वे अपने विकास को मन (Mind) से आगे बढ़ाते हैं और बताते हैं कि मन ही अन्तिम सोपान नहीं है। उसके ऊपर अतिमन या ऊर्ध्वचेतन है जो ऊर्ध्वचेतन, मन, जीवन, जड़तत्त्व इस क्रम से विकसित हुआ है। अत नीचे से ऊपर की ओर जो विकास आज हो रहा है, वह तभी पूरा होगा जबकि हम मन तक न रुक कर ऊर्ध्वचेतन तक जा पहुँचे, जहाँ नूतन मनुष्यता के दर्शन होंगे, जहाँ पूर्ण एकता होगी, जहाँ जगत् के द्वन्द्व शान्त हो जाएँगे। यह साम्यवाद के बाद की स्थिति है—अध्यात्मवाद या अन्तश्चेतनावाद की स्थिति है, यही प्राप्य है। इसी ओर सारा विकास जा रहा है। मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, इतिहास, विज्ञान सब इसी ओर संकेत कर रहे हैं। साम्यवाद तक बुद्धि-युग का अन्त हो जायगा और तब सुपरमाइण्ड अवतरित होगा और जीवन की जगह अन्तश्चेतना का राज्य होगा[1]। यह है अरविन्द-दर्शन।

---

[1] There may be mental or spiritual realities out-side the physical universe, out side of space and time, unknowable and unverifiable by the senses but accessible to spirit through spiritual organs of apprehension or intuition. This belief opens the flood gates to every form of superstition (John Lewis)

उत्तर होगा अज्ञान के कारण। अज्ञान एक भावात्मक वस्तु है जिससे एक ही शुद्ध चेतन सत्ता में हम जगत की कल्पना कर लेते हैं यथा रज्जु में सर्प की कल्पना कर लेते हैं। यह शङ्कर का 'मायावाद' है।

यदि हम 'माया' को स्वीकार करले तो आगे की प्रक्रिया तर्क पूर्ण हो जाती है। शङ्कर का "माया" का सिद्धांत स्वीकृत नही हो सकता, उस पर अनेक प्रश्न उठते हैं। आगे के दार्शनिकों—रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि सब ने "मायावाद" पर ही अधिक प्रहार किए हैं, बौद्धों का उतना खडन नही किया। अत पाठकों को 'मायावाद' का खंडन रामानुज मे देखना चाहिए। परन्तु हम शङ्कर के तर्क-पूर्ण विवेचन की प्रशंसा करते हैं जो चेतना की सत्ता सिद्ध करने के लिए जगत की सत्ता का साहस पूर्वक निषेध करते हैं और अपने दर्शन को तर्क के विरुद्ध नही जाने देते।

अरविन्द बुद्धि-सङ्गत पन्थ न अपना कर किसी भी मूल्य पर एक ऐसा समाधान खोजने की चिंता मे रहते हैं जिसमें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का समन्वय हो जाय। मतलब यह कि जड़-जगत व चेतन-सत्ता दोनों की सत्ता सिद्ध हो जाय। इसके लिए अरविन्द के सम्मुख दो मार्ग थे—

१—या तो चेतना में विकार स्वीकार किया जाय।

२—या चेतना अपनी ही एक शक्ति से बिना किसी विकार के जड़-तत्त्व का रूप धारण करती है, यह स्वीकार किया जाय।

अरविन्द यह स्वीकार नही कर सकते थे कि विकृत-चेतना ही जड-जगत का रूप धारण कर लेती है। अत उनके सामने एक ही मार्ग था कि वे यह स्वीकार करे कि चेतना अपनी एक ही शक्ति से तीनों कार्य करती है—

१—वह अपने को अनेक अशों में विभक्त कर वैयक्तिक जीवात्मा के रूप में बदलती है।

२—वह स्वयं एक शक्ति से जड-जगत् के रूप में बदल जाती है।

३—और साथ ही वैयक्तिक जीवात्माओं व जड जगत से परे अपने शुद्ध स्वरूप मे भी अवस्थित रहती है।

इस मान्यता से पहला समाधान सम्भव हो गया कि जड-जगत सत्य है क्योंकि स्वय ब्रह्म की ही एक शक्ति ने जड़-जगत् के रूप मे अपने को बदल लिया है। साथ ही पदार्थ के भीतर सुप्त रूप मे

चेतना भी अवस्थित हो जाती है और तब पदार्थ, जीवन, मन इस क्रम से ऊपर की ओर विकास होता है। यह दूसरा समाधान है।

इससे अरविन्द ने यह सिद्ध कर दिया कि विकासवाद सही है और विकास द्विमुखी है। नीचे की ओर भी विकास होता है और ऊपर की ओर भी। शुद्ध चेतना अपनी शक्ति से जड़-जगत का रूप धारण करती है यह निम्न विकास है और जड़-तत्त्व से जीवन व मन का विकास होता है यह ऊपर की ओर विकास हुआ। विज्ञान भी यह मानता है कि जड़-तत्त्व से ही जीवन का विकास होता है। इस प्रकार अरविन्द एक ही चेतना के दो प्रकार के विकास को दिखा कर जड़ व चेतन के विरोध को समाप्त कर देते हैं और भौतिकवाद व अध्यात्मवाद को मिला देते है। परन्तु साथ ही चूँकि उन्हे भौतिकवाद का विरोध करना है, विशेषत. मार्क्सवाद का जो जड़-तत्त्व को ही सत्य मानता है। अतः वे अपने विकास को मन (Mind) से आगे बढ़ाते हैं और बताते हैं कि मन ही अन्तिम सोपान नहीं है। उसके ऊपर अतिमन या ऊर्ध्वचेतन है जो ऊर्ध्वचेतन, मन, जीवन, जड़तत्त्व इस क्रम से विकसित हुआ है। अत' नीचे से ऊपर की ओर जो विकास आज हो रहा है, वह तभी पूरा होगा जबकि हम मन तक न रुक कर ऊर्ध्वचेतन तक जा पहुँचे, जहाँ नूतन मनुष्यता के दर्शन होंगे, जहाँ पूर्ण एकता होगी, जहाँ जगत् के द्वन्द्व शान्त हो जाएँगे। यह साम्यवाद के बाद की स्थिति है—अध्यात्मवाद या अन्तश्चेतनावाद की स्थिति है, यही प्राप्य है। इसी ओर सारा विकास जा रहा है। मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, इतिहास, विज्ञान सब इसी ओर संकेत कर रहे हैं। साम्यवाद तक बुद्धि-युग का अन्त हो जायगा और तब सुपरमाइण्ड अवतरित होगा और जीवन की जगह अन्तश्चेतना का राज्य होगा[१]। यह है अरविन्द-दर्शन।

[१] There may be mental or spiritual realities out-side the physical universe, out side of space and time, unknowable and unverifiable by the senses but accessible to spirit through spiritual organs of apprehension or intuition. This belief opens the flood gates to every form of superstition (John Lewis)

प्रथम पूर्वाग्रह के लिए अर्थात् ब्रह्म व आत्मा की सिद्धि के लिए अरविन्द आत्मा की आन्तरिक साक्षी पर अधिक जोर देते है और शास्त्रों के प्रमाण देते है।

दूसरे पूर्वाग्रह के लिये अर्थात् जड़-जगत व चेतना दोनों का सामञ्जस्य बैठाने के लिए अरविन्द चेतना का निम्न-ऊर्ध्व विकास समझाते हैं और अनेक सोपानों की कल्पना करते हैं।

तीसरे पूर्वाग्रह के लिये अर्थात् ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही उद्देश्य है, एकता व अमरत्व ही प्राप्य है, इसे सिद्ध करने के लिए अरविन्द अब तक के सामाजिक विकास का इतिहास स्वीकार कर लेते है अर्थात् वह यह मान लेते हैं कि समाज को आदिम साम्यवाद, सामन्तवाद, पूँजीवाद, इन सोपानों में विकास करना है। इन व्यवस्थाओं में विकास का आधार "बुद्धि" रही है। बुद्धि के आधार पर विकास की चरम-सीमा "साम्यवाद" है, किन्तु इसके बाद 'सुपरमाइंड' के मनुष्यात्मा में अवतरित होने से, बुद्धि-युग के बाद अन्तर्चेतना का युग आएगा जिसमे व्यक्ति व समाज का द्वन्द्व पूर्णतया मिट जाएगा। साम्यवाद में वर्ग तो मिट जाएँगे परन्तु व्यक्ति दब जायगा, सामाजिकता प्रबल हो जाएगी। अतः अन्तर्चेतना के युग मे ही व्यक्ति व समाज मे सन्तुलन आ सकेगा। जब बाह्य साम्यवाद के स्थान पर आन्तरिक साम्य की स्थापना होगी। यह है अरविन्द का सामाजिक विकास जिसके आधार पर वे विज्ञान के युग को "अशुद्ध-बुद्धि" का युग बतलाते हैं और विज्ञान के ऊपर आध्यात्मिक ज्ञान की विजय दिखाते हैं।

अरविन्द के अनुसार ऊपर के सारे विकास से भारतीय ऋषि परिचित थे। अरविन्द ने योग के बल से द्रष्टा होने पर यह प्राचीन ज्ञान ही इस नए युग को दिया है। यह है अरविन्द का पक्ष।

हम सर्वप्रथम ब्रह्म व आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हैं। अरविन्द ने केवल 'आन्तरिक साक्षी' के रूपमें उसे स्वीकार किया है, जो गलत है क्योंकि अन्तर का निर्माण बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से होता है और इन प्रभावों मे संस्कार भी होते हैं। स्वयं भारतीय दार्शनिकों में से अनेक दार्शनिक न आत्मा को मानते हैं और न परमात्मा को।

आत्मवादी जड़ व चेतन की समस्या को सर्वदा स्वतंत्र रूप से देखते है। विज्ञान जड़ व चेतन दोनों को मानता है अर्थात् पदार्थ (Matter) को भी मानता है और मन (Mind) को भी परन्तु उनके द्वैत को नही मानता—अर्थात् वह यह मानता है कि जड़-तत्त्व सत्य है, वह मानवीय चेतना के अस्तित्त्व से पहले ही अस्तित्त्व मे आ चुका था। उस जड़-तत्त्व का विकास हुआ, उस विकास के दौरान में चेतना का उदय हुआ—गुणात्मक परिवर्तन से। अरविन्द जिस मनोविज्ञान की दुहाई देकर कहते हैं कि उससे आत्मा की सिद्धि मे मदद मिलती है, उस मनोविज्ञान को आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने के लिए कोई आवश्यकता नही पड़ती। जड़-तत्त्व से मन का विकास होता है और मन के विकास में उसे दूर-दर्शिता व उद्देश्य के रूप मे एक मानवीय व्यवहार को अनुशासन में लाने वाली शक्ति का विकास हो जाता है।[1] इसे मन से सर्वथा विरोधी शक्ति मानना गलत है। यह तो मन की ही एक शक्ति है जो विकास के दौरान में विकसित हुई है। यह किसी ब्रह्म का अंश नही है जिसे 'लीलार्थ' जड़-शरीर के आवरण में रख दिया गया हो। यह जड़-तत्त्व से ही विकसित मन की शक्ति है। अत. आत्मा नामक कोई शाश्वत वस्तु नही है जैसा कि आदर्शवादी दार्शनिक कहते हैं। अज्ञान के कारण ही 'आत्मा' की कल्पना हुई है। मानसिक विकास में प्राप्त नूतन शक्ति को आत्मा नाम देकर उसे निरपेक्ष मान लेना गलत है। प्रत्यक्ष ज्ञान की व्याख्या के लिए आत्मा की कल्पना की कोई आवश्यकता नही।

---

[1] The modren psychology which does not require a soul and therefore rejects both interactionism and parallism does not reduce mental processes to psychological but discovers in the organism at a certain level of brain development a control of behaviour in terms of foresight and purpose It is unnecessary to attribute this new function to the indwelling of a soul as to explain sensation in the lower animals in this way.

(A text book of Marxist Philosophy.)

मानसिक विकास के वैज्ञानिक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मन (Mind) मे कुछ नूतन शक्तियाँ विकास के ही परिणाम स्वरूप उत्पन्न हो जाती हैं वे कहीं बाहर से नही आती।[1]

परन्तु यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अच्छा विकास से सही, यदि यही मान लिया जाय कि नई विकसित मानसिक शक्ति ही 'आत्मा' है, तब क्या आपत्ति है ?

इसमे दो आपत्तियाँ हैं—प्रथम, यह कि जब स्वयं भौतिक तत्त्व आगे के विकास को स्पष्ट करने के लिए समर्थ है, तब आध्यात्मिक तत्त्व के रूप मे एक बाहरी तत्त्व "आत्मा" को स्वीकार करना अनावश्यक है और खतरनाक भी। दूसरी आपत्ति यह है कि आदर्शवादी आत्मा को भौतिक आवरण में कैद एक चेतना मानता है क्योंकि यदि आदर्शवादी इसे जड-तत्त्व से विकसित मानेगा तो वह यह प्रश्न पूछेगा—१—क्या आत्मा का बीज जड-तत्त्व मे था ? यदि कहो, था, तो जड में चेतना व्याप्त है, यह मान लेना होगा (अरविन्दवाद)।

२—क्या सर्वथा नवीन वस्तु उत्पन्न हो सकती है ? यदि कहो हो सकती है तो यह मानना चाहिए कि असत् मे सत् की उत्पत्ति होती है (Something is produced out of nothing) परन्तु चूँकि असत् से सत् की उत्पत्ति नही हो सकती, अतः जड से आत्मा का विकास भी नहीं हो सकता।

भौतिकवाद के पास इसका उत्तर यह है कि आत्मा का बीज अंश जड़-तत्त्व में नही था। तब प्रश्न यह होगा कि क्या असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है ? उत्तर होगा कि चूँकि जड़-तत्त्व में पहले चेतना का अंश न था, वह विकास में एक नए मानसिक गुण के रूप

[1] Granted a sufficiently developed brain a new pattern of behaviour becomes possible and actually appears This shows that the organism when it attains a given complexity has new pattern properties which must neither be reduced to psychological reflexes or attributed to the intrusion of some alien element

(A text book of Marxist philosophy)

मे उसी प्रकार विकसित होकर आई है जैसे दो रङ्ग विहीन पदार्थों मे रङ्ग नही होता, परन्तु जब उन्हे मिला देते हैं तो लाल रङ्ग उत्पन्न हो जाता है।[1] जिस प्रकार लाल रङ्ग पहले नही था बाद में विकसित हुआ। उसी प्रकार आत्मा नही थी। वह जड़-तत्त्व से ही विकसित मन (mind) के विकास मे प्राप्त नूतन शक्ति मात्र है। उसे ब्रह्म की आध्यात्मिक शक्ति मानना व्यर्थ है। अत: वैज्ञानिक भौतिकवाद यह मानता है कि नवोद्भूत गुणो का अर्थ यह नही कि वे सूक्ष्म व अव्यक्त रूप मे पदार्थ मे पहले से ही विद्यमान थे। वह तो यह मानता है कि जीवन व मन (Life and Mind) पदार्थ के विकास की अवधि मे एक निश्चित क्षण मे सर्व प्रथम उद्भूत होते हैं। अत सिद्ध हुआ कि 'आत्मा' जैसी किसी वस्तु की सत्ता स्वीकृत नही हो सकती। इसी प्रकार जड़-तत्त्व (Matter) के विकास का ही परिणाम यह जगत है, हमारी व्यक्तिगत चेतना (Mind) भी उसी जड-तत्त्व से विकसित हुई है। अतः व्यक्तिगत चेतना को जड-तत्त्व से सर्वथा स्वतन्त्र नही माना जा सकता। इसी प्रकार जगत के विकास मे—नैबुला से लेकर मनुष्य तक के विकास में—किसी ईश्वर की सत्ता की कल्पना करना अनावश्यक है। परन्तु अरविन्द को तो श्रुतियों मे स्थापित ब्रह्म व आत्मा को सत्ता सिद्ध ही करनी थी अत. उनकी सत्ता जब भौतिकवादी नही स्वीकार करते, तो वह उन्हें जल्दबाज, जड़वादी कहने लगते हैं। वह प्राचीनों को तत्त्व द्रष्टा मान बैठे हैं जबकि वास्तविकता यह है कि अज्ञान के कारण आत्मा-परमात्मा की कल्पनाएं आदिम युगों मे हुई हैं। सृष्टि के रहस्यों का विज्ञान द्वारा ही उद्घाटन होगा यह न मानकर अरविन्द ब्रह्म व आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने पर जब तुल जाते हैं और देखते हैं कि बुद्धि से न ब्रह्म की सत्ता सिद्ध होती है

---

[1] Emergence is treated like the emergence of a duck from beneath the surface of a pond. If it appears, it must have been under the water before. But that is not what emergence means at all Where two colourless fluids are mixed and the result is a red fluid, the redness was nowhere before it emerged. (A text book of Marxist philosophy)

और न आत्मा की तो वे मनमाने विभाजन पर उतरते हैं। यह विभाजन की प्रवृत्ति 'थियोसॉफी' में और भी अधिक बढ़ी हुई मिलती है। वे अनात्मवादियों के सारे क्रिया-कलाप को अशुद्ध बुद्धि (impure reason) का कार्य बताते हैं और आत्मा व ईश्वर को शुद्ध बुद्धि (pure reason) तथा अतर्चेतना (intuition) से सिद्ध मानते हैं परन्तु अतर्चेतना अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग कार्य करती है। बहुत से विचारकों ने इसके माध्यम से ईश्वर का खण्डन भी किया यथा बुद्ध ने जो अतर्चेतना को मानते थे। इसी प्रकार योगियों के यहाँ अनुभव ही प्रमाण है परन्तु उनके यहाँ कुछ अनीश्वरवादी योगी भी होते हैं जिनकी साधना मे कभी कमी नही पड़ती। अत व्यक्तिगत अनुभूति प्रमाण नही है। आपको विचित्र मानसिक दशा में कुछ भी सच्चा प्रतीत हो सकता है परन्तु उसका प्रमाण न आपके पास है न हमारे। तेज बुखार में कई नई चीजें दिखाई पड़ने लगती हैं, ईश्वरवाद व आत्मवाद भी एक प्रकार का अध-विश्वास के कारण आगत बुखार है जिसमे ईश्वर व आत्मा के दर्शन होने लगते हैं।

प्रश्न यह है कि आत्मा-परमात्मा की कल्पनाओं को वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों हो रहा है? क्यों आज ब्रह्म की पुकार आदर्शवादी शिविरों में तीव्र होती जा रही है इसका सुन्दर विश्लेषण जॉन लेविस व प्रो० लेवी ने किया है। डाइड्रोजन व एटम बम के इस युग में कुछ आदर्शवादी विचारक (अरविन्द व पन्तजी जैसे विचारक) एक महानाश का स्वप्न देखकर, साम्यवाद से भय-भीत होकर, वर्तमान से असन्तुष्ट होकर और भविष्य की मधुर कल्प-नाएँ कर, रहस्यवाद की शरण खोजते हैं। उनमें न जीवित रहने का साहस है न प्राण दे देने का। अतः उनके लिए स्वाभाविक है कि वे शाश्वत सत्य की प्राप्ति के लिये पिण्ड के भीतर सकुचित हो जाँय और ब्रह्म-आत्मा की एकता के प्रयत्न को ही सर्वस्व समझ बैठें। वस्तुत. भावात्मक रूप में वर्तमान से भागने की ही प्रवृत्ति उनके दर्शन मे सुर-क्षित है। सीमित वर्तमान से भागने वाले ही असीम की खोज में निमग्न हो जाते हैं।[1]

[1] Today there are people so mentally and emotionally overwhelmed, so distraught by the hydrogen bomb, by the fear of communism, by the uncertainities of existence, so bewildered and scared

प्रत्येक आदर्शवादी दार्शनिक की तरह अरविन्द भी चेतना की सत्ता की स्वीकृति इसलिए आवश्यक मानते हैं क्योंकि यदि मार्क्सवाद के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जाय कि मैटर ही प्रथम तत्त्व है, जो जगत के विकास के मूल में है तो चेतना (Mind) की समस्या नही सुलझती। जड़-तत्त्व से चेतना कैसे विकसित हो सकती है? चूँकि जड़वाद इस समस्या को नही सुलझा पाता। अतः यह आवश्यक है कि यह स्वीकार किया जाय कि चेतना से ही पदार्थ का विकास हुआ है और चेतना प्रथम तत्त्व है, पदार्थ का अस्तित्त्व बाद का है। इसका उत्तर यह है कि ये दोनों स्थापनाएँ गलत हैं। किन्तु अपना पक्ष स्पष्ट करने के पूर्व आदर्शवादी दार्शनिकों के तर्कों से परिचित हो लेना आवश्यक है।

अरविन्द कहते हैं कि भौतिकवादियों ने 'मैटर' को ही सर्वस्व-स्वीकार कर व चेतना का विकास उससे ही दिखाकर एक सहज मार्ग खोज लिया है। वे विराट विश्व व व्यक्ति के गम्भीर अनुभवों पर विचार न कर एक सुविधा जनक समझौता कर लेते हैं। अत. उनके लिए कोइ समस्या ही शेष नहीं रह गई। वस्तुत हमें जड़ व चेतन मे एक सामञ्जस्य खोजना है। वेदान्त के आधार पर ही यह सामञ्जस्य खोजा जा सकता है जो तर्क की दृष्टि से भी शुद्ध ठहरता है। जड-तत्त्व से मन का विकास हम समझ ही नही सकते जब तक कि हम यह न मानलें कि जड़-तत्त्व में चेतना पहले से ही अव्यक्त रूप में अवस्थित थी।

---

by radio propaganda and the press, that "to them present is intolerable and the future unthinkable" They have courage neither to live nor to die. They see themselves driven to edge of a yawning abyss. They can neither advance nor retreat And so they naturally seek solace in mysticism, in an inward life that persuades itself of the universality of the real It is their emotional escape from the present and they gladly seek refuge in the timeless. (The communist answer to the challenge of our time)

और न आत्मा की तो वे मनमाने विभाजन पर उतरते हैं। यह विभाजन की प्रवृत्ति 'थियोसॉफी' में और भी अधिक बढ़ी हुई मिलती है। वे अनात्मवादियों के सारे क्रिया-कलाप को अशुद्ध बुद्धि (impure reason) का कार्य बताते हैं और आत्मा व ईश्वर को शुद्ध बुद्धि (pure reason) तथा अतर्चेतना (intuition) से सिद्ध मानते हैं परन्तु अतर्चेतना अलग-अलग व्यक्तियों मे अलग-अलग कार्य करती है। बहुत से विचारकों ने इसके माध्यम से ईश्वर का खण्डन भी किया यथा बुद्ध ने जो अतर्चेतना को मानते थे। इसी प्रकार योगियों के यहाँ अनुभव ही प्रमाण है परन्तु उनके यहाँ कुछ अनीश्वरवादी योगी भी होते हैं जिनकी साधना मे कभी कमी नही पड़ती ! अतः व्यक्तिगत अनुभूति प्रमाण नही है। आपको विचित्र मानसिक दशा में कुछ भी सच्चा प्रतीत हो सकता है परन्तु उसका प्रमाण न आपके पास है न हमारे। तेज बुखार में कई नई चीजें दिखाई पड़ने लगती है, ईश्वरवाद व आत्मवाद भी एक प्रकार का अंध-विश्वास के कारण आगत बुखार है जिसमे ईश्वर व आत्मा के दर्शन होने लगते हैं।

प्रश्न यह है कि आत्मा-परमात्मा की कल्पनाओं को वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों हो रहा है ? क्यों आज ब्रह्म की पुकार आदर्शवादी शिविरों में तीव्र होती जा रही है इसका सुन्दर विश्लेषण जॉन लेविस व प्रो० लेवी ने किया है। हाइड्रोजन व एटम बम के इस युग में कुछ आदर्शवादी विचारक (अरविन्द व पन्तजी जैसे विचारक) एक महानाश का स्वप्न देखकर, साम्यवाद से भयभीत होकर, वर्तमान से असन्तुष्ट होकर और भविष्य की मधुर कल्पनाऍ कर, रहस्यवाद की शरण खोजते हैं। उनमें न जीवित रहने का साहस है न प्राण दे देने का। अत. उनके लिए स्वाभाविक है कि वे शाश्वत सत्य की प्राप्ति के लिये पिण्ड के भीतर संकुचित हो जॉय और ब्रह्म-आत्मा की एकता के प्रयत्न को ही सर्वस्व समझ बैठें। वस्तुतः भावात्मक रूप में वर्तमान से भागने की ही प्रवृत्ति उनके दर्शन मे सुरक्षित है। सीमित वर्तमान से भागने वाले ही असीम की खोज में निमग्न हो जाते हैं।[1]

[1] Today there are people so mentally and emotionally overwhelmed, so distraught by the hydrogen bomb, by the fear of communism, by the uncertainities of existence, so bewildered and scared

प्रत्येक आदर्शवादी दार्शनिक की तरह अरविन्द भी चेतना की सत्ता की स्वीकृति इसलिए आवश्यक मानते हैं क्योंकि यदि मार्क्सवाद के अनुसार यह स्वीकार कर लिया जाय कि मैटर ही प्रथम तत्त्व है, जो जगत के विकास के मूल में है तो चेतना (Mind) की समस्या नही सुलझनी। जड़-तत्त्व से चेतना कैसे विकसित हो सकती है? चूँकि जड़वाद इस समस्या को नही सुलझा पाता। अत. यह आवश्यक है कि यह स्वीकार किया जाय कि चेतना से ही पदार्थ का विकास हुआ है और चेतना प्रथम तत्त्व है, पदार्थ का अस्तित्व बाद का है। इसका उत्तर यह है कि ये दोनों स्थापनाएँ गलत हैं। किन्तु अपना पक्ष स्पष्ट करने के पूर्व आदर्शवादी दार्शनिकों के तर्कों से परिचित हो लेना आवश्यक है।

अरविन्द कहते हैं कि भौतिकवादियों ने 'मैटर' को ही सर्वस्व-स्वीकार कर व चेतना का विकास उससे ही दिखाकर एक सहज मार्ग खोज लिया है। वे विराट विश्व व व्यक्ति के गम्भीर अनुभवों पर विचार न कर एक सुविधा जनक समझौता कर लेते है। अत' उनके लिए कोइ समस्या ही शेष नही रह गई। वस्तुत हमे जड़ व चेतन मे एक सामञ्जस्य खोजना है। वेदान्त के आधार पर ही यह सामञ्जस्य खोजा जा सकता है जो तर्क की दृष्टि से भी शुद्ध ठहरता है। जड-तत्त्व से मन का विकास हम समझा ही नही सकते जब तक कि हम यह न मानलें कि जड़-तत्त्व में चेतना पहले से ही अव्यक्त रूप में अवस्थित थी।

---

by radio propaganda and the press, that "to them present is intolerable and the future unthinkable" They have courage neither to live nor to die. They see themselves driven to edge of a yawning abyss. They can neither advance nor retreat And so they naturally seek solace in mysticism, in an inward life that persuades itself of the universality of the real. It is their emotional escape from the present and they gladly seek refuge in the timeless. (The communist answer to the challenge of our time.)

अन्तत क्यो जीवन-सत्ता का मैटर से विकास हुआ या मन का जीवन-सत्ता से विकास क्यों हुआ ? भौतिकवाद इसका उत्तर नही देसकता परन्तु वेदान्त देता है। चूँकि जीवन सत्ता जड़-तत्त्व मे व मन जीवन-सत्ता मे अवस्थित है, क्योंकि जड़-तत्त्व जीवन-सत्ता का ही एक रूप है और जीवन-सत्ता चेतना का ही एक रूप है।[1] अतः मन भी ऊर्ध्व-चेतना का ही एक निम्न रूप है, और ऊर्ध्व-चेतना ब्रह्म की चित् शक्ति है जो आनन्द तत्त्व के कारण व्यक्त होती है। बिना इस समाधान को स्वीकार किए हम जड़-चेतन की समस्या को नही सुलझा सकते। क्योंकि हमे तो सामञ्जस्य खोजना है शङ्कर की तरह जगत की सत्ता का निषेध तो किया नही जा सकता। अत जब जड़-जगत की सत्ता को स्वीकार कर लिया तो जड़ का विकास कैसे हुआ यह भी समझाना पड़ेगा और यह हम तभी समझ सकते हैं जब वेदान्त को स्वीकार कर लिया जाय और मन, जीवन व जड़-तत्त्व को एक ही चेतना के तीन रूप मानलिए जायें, क्योंकि यह तो समझ मे ही नही आता कि जड तत्त्व से चेतना कैसे विकसित हो सकती है ?

भौतिकवाद का पक्ष तो स्पष्ट ही है कि वह जड-तत्त्व से ही चेतना का विकास मानता है, गुणात्मक परिवर्तन के रूप में। पाठक

[1] We speak of the evolution of life in Matter, the evolution of Mind in Matter, but evolution is a word which merely states the phenomenon without explaining it For there seems to be no reason why life should evolve out of Material elements or Mind out of living form unless we accept the Vedantic solution that life is already involved in Matter and Mind in life because in essence Matter is a form of veiled life, life a form of veiled consciousness And then there seems to be little objection to a further step in the series and the admission that mental consciousness may itself be only a form and viel of higher states which are beyond Mind. (The Life Divine, Part I Page 4)

इससे परिचित है परन्तु अरविन्द इसे स्वीकार नही करते क्योंकि यह समाधान यान्त्रिक और जल्दबाजी पर आधारित है। जड़-तत्त्व से अन्ध शक्ति (Blind force) भले ही उत्पन्न हो जाय यथा पानी से बिजली, परमाणु से शक्ति, परन्तु चिन्तनात्मक शक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? इसका सन्तोषजनक उत्तर भौतिकवाद नहीं दे पाता। परन्तु अरविन्द को तो ब्रह्म की सत्ता सिद्ध करनी है क्योंकि वेद-उपनिषदों मे उसे स्वीकार किया गया है अत वे एक समझौता करते हैं—

१—जगत की सत्ता को वे स्वीकार करते हैं और शङ्कर आदि मायावादियों का खण्डन करते हैं।

२—किन्तु जगत की सत्ता को स्वीकार कर जड़-तत्त्व जीवन व मन को चेतना का एक रूप तथा आवरण स्वीकार करते हैं।

अरविन्द जानते है कि यदि जगत का निषेध किया तो अभाववादी विचार गृहीत न होगा और यदि जगत की व्याख्या केवल जड़वाद के अनुसार की गई तो वेद-शास्त्रों का खण्डन हो जायगा, साथ ही डार्विन के विकासवाद का भी ध्यान रखना है। अतः अरविन्द ने विकास का अर्थ लिया—चेतना (ब्रह्म) का विकास—निम्नगति व व ऊर्ध्व गति के रूपमे, निम्नगति के रूपमे चेतना ऊर्ध्व-चेतन, मन जीवन जड-तत्त्व इस क्रम से व ऊर्ध्वगति के रूपमे जड-तत्त्व, जीवन, मन ऊर्ध्व चेतन इस रूप में विकसित होती है। यही वेदान्त कहता है। अत. यही वैज्ञानिक समाधान है, इससे शास्त्र भी सही उतरता है और भौतिकवाद के द्वारा स्थापित जगत की सत्यता का भी आदर हो जाता है।

परन्तु अन्तत आप भौतिकवादी व्याख्या को क्यों नहीं स्वीकार करते कि जड से ही चेतना का विकास होता है, जगत परिवर्तन शील है, क्षण-क्षण पर जड-तत्त्व बदल रहा है, जड़-तत्त्व से ही चिन्तनात्मक मन का विकास हुआ है, मन की सारी शक्तियाँ भी जड़ से ही विकसित हैं। ब्रह्म व आत्मा की कोई आवश्यकता नहीं है। हम इनके बिना ही जगत व जीव को समझ सकते हैं, कल्पना करना व्यर्थ है। विज्ञान से भी यही सिद्ध होता है ?

अरविन्द इस व्याख्या को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हे विज्ञान की चिन्ता न कर ईश्वर की सिद्धि करनी है, धर्म व विज्ञान में, या कहना चाहिए अन्ध विश्वास व विज्ञान मे सामञ्जस्य खोजना

है। इस प्रकार के सामञ्जस्य खोजने के लिए धार्मिक लोगों ने अनेक नए-नए विचित्र तर्कों का समूह खड़ा किया है। उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार ईश्वर व आत्मा का पूर्वाग्रह सिद्ध हो जाय।

An Introduction to the philosophy of Religion नामक ग्रन्थ मे जॉन केयर्ड नामक विद्वान ने 'जड़-तत्त्व' को ही जगत और जीव की व्याख्या के लिए पर्याप्त मानने वाले भौतिकवादियों का खण्डन करते समय विचित्र तर्कों को उपस्थित किया है। भौतिकवादी मन को पदार्थ से ही विकसित एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में मानते हैं। पदार्थ अपने मूल रूप में शक्ति है और यही शक्ति विकास के दौरान में चेतना व विचार शक्ति के रूप मे परिवर्तित हो जाती है, जिस प्रकार यान्त्रिक शक्ति (Mechanical force) कैमीकल प्रक्रिया से परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार प्राण शक्ति, भी यान्त्रिक शक्ति का ही गुणात्मक परिवर्तन मात्र है। यही प्राणशक्ति भावना, उद्वेग, विचार शक्ति, राग, द्वेष, इच्छा, अनिच्छा, निर्णय शक्ति, आदि मे विकसित हो जाती है। अत आत्मा-परमात्मा की कल्पना व्यर्थ है। यह पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके जॉन केयर्ड उसका खण्डन करते हैं।

केयर्ड के अनुसार भौतिकवादी मन को जड-तत्त्व से विकसित सिद्ध नही कर सकते क्योंकि इस प्रकार का प्रयत्न करते समय वे मन से ही प्रारम्भ करते हैं। मतलब यह कि आप जब जड़ से मन का विकास बताते हैं तो यह मन के द्वारा ही तो बता रहे हैं, चिन्तन के द्वारा ही यह विकास आप समझा रहे हैं, आप बिना दिमाग से सोचे, उसे अलग रखकर जड़-तत्त्व पर विचार नही कर सकते। अत. जड़-तत्त्व पर बिना चेतना का प्रयोग किए विचार असम्भव है। चेतना के माध्यम से ही जड़-तत्त्व की प्रतीत होती है अतः जड़-तत्त्व पर विचार करते समय विचार-प्रक्रिया में जड-तत्त्व व विचार-शक्ति दोनों मिले रहते हैं। क्या बिना विचार-शक्ति (चेतना) का प्रयोग किए निरपेक्ष रूपमें जड-तत्त्व पर विचार सम्भव है? यदि नहीं, तो आप कभी यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि चेतना (विचार शक्ति) जड़-तत्त्व की उपज है क्योंकि जब जड़-तत्त्व को आप चेतना से सर्वथा स्वतन्त्र मान रहे होते हैं, उस समय भी विचार-शक्ति उसमें सम्मिलित रहती है। अत आप कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि जड़ तत्त्व

मे ही विचार विकसित हुआ है ?[1]

कितनी सुन्दर तर्क पद्धति है। और आगे देखिए, केयर्ड कहते हैं कि सामान्य चिन्तन-शक्ति विहीन दर्शक बाहरी दुनियाँ को सर्वथा निरपेक्ष रूप में देखता है, क्योंकि बाहरी वस्तुएँ उसे अपने से सर्वथा निरपेक्ष दिखाई पड़ती हैं। वह बाहरी वस्तुओं के घनत्व, विस्तार, संख्या, भार, माप, रंग, शब्द, स्वाद आदि को देखता है। ये सब अनुभव दर्शक के लिए तथ्य हैं। यह तो सामान्य और संस्कृत व्यक्ति का अनुभव हुआ। परन्तु जब कोई संस्कृत विचारक देखता है तो वह स्पष्ट अनुभव करता है कि दर्शक की अनुभूति (Sensibility) के लिए ये ऊपर की सारी वस्तुएँ (वस्तु का विस्तार, भार आदि) केवल सापेक्ष रूप में ही अवस्थित हैं।[2]

---

[1] you can not get to mind as an ultimate product of matter, for in the very attempt to do so, you have already begun with mind. The earliest step of any such inquiry involves categories of thought, and it is in terms of thought that the very problem, you are investigating, can be so much as stated You can not start in your investigations with bare, self identical, objective facts, stript of every ideal element or contribution from thought. Before you could reach thought or mind as a last result, you must need eliminate it from the data of the problem with which you start and that you can never do (Philosophy of Religion by John Caird Page 88—89)

[2] The more cultured obsever has, of course, got beyond any such blind sensationalsin, admitting as he does and must admit that something at least of what ordinary thought ascribes to nature and external objects, exists only relatively to the sensibility of the observer. (Page 90)

यह है रहस्य केयर्ड के तर्कों का। आप सापेक्ष रूप में ही बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध कर सकते है, मतलब यह है कि बाह्य वस्तुओं की सत्ता विचार से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि वस्तु स्वयं सिद्ध नहीं हैं, वे सापेक्ष रूप से ही सिद्ध हैं।

इसलिए केयर्ड साहब कहते हैं कि जब अनुभव के बिना वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती तो प्रभावों के ग्रहण करते समय, प्रभावों में स्पष्टता, अलगाव, एकता, व्यवस्था, तुलना करने की शक्ति रखने वाला आते-जाते प्रभावों में स्थिर रहने वाला 'आत्मा' ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। अत: 'आत्मा' की सत्ता स्वीकार करनी ही होगी।

केयर्ड साहब ने 'आत्मा' को सिद्ध कर दिया। उनके कथन का सारांश यह है कि चूंकि 'मैटर' को स्वतन्त्र सिद्ध करते समय व उससे चेतना का विकास दिखाते समय भी विचार शक्ति के रूप में चेतना रहती है अत: उसे 'मैटर' से अलग नहीं कर सकते।

कहना न होगा कि यह सिद्धान्त कुतर्क पर आधारित है। भौतिकवाद कहता है कि जब कल्पना से कोई नया सिद्धान्त मिले तो सर्वदा व्यावहारिक दृष्टि से उसकी पहचान कर लेनी चाहिए। कोई भी कल्पना (Hypothesis) यदि व्यवहार के विरुद्ध हो तो उसे त्याग देना चाहिए (परन्तु केयर्ड इस कसौटी को कभी स्वीकार न करेंगे क्योंकि यह असंस्कृत लोगों की कसौटी है। ordinary and uncultured ये दो विशेषण भौतिकवादियों को उन्होंने दिये हैं) 'केयर्ड साहब' ने तो कुतर्क से आत्मा की सत्ता सिद्ध की जबकि इधर सापेक्षतावाद (theory of relativity) के विश्वासी 'वितर्क' से कार्य लेते हैं, पर दोनों का उद्देश्य एक ही है—वैज्ञानिक मार्क्सवाद का खंडन।

जिस प्रकार बर्कले जैसे मानसिक प्रत्ययवादी बाहरी पदार्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करते, जिस प्रकार विज्ञानवादी आलय विज्ञान के बल पर बाहरी पदार्थों के अस्तित्व को नहीं मानते, उसी प्रकार एक भिन्न पद्धति पर सापेक्षतावादी विचारक भी बाहरी पदार्थों की सत्ता को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नहीं करते। बर्कले की असंगतियाँ हम दिखा चुके हैं। यहाँ केयर्ड साहब को उत्तर देना आवश्यक है।

बाह्य पदार्थ हमारी चेतना की चिन्ता न करते हुए सर्वथा निरपेक्ष रूप से अवस्थित हैं। कल्पना कीजिये कि आप एक आम को देख रहे हैं। सापेक्षतावादी कहेगा कि आम की सत्ता आपके लिए

सापेक्ष रूप से ही प्रमाणित है। परन्तु आप जब वहाँ से अन्यत्र चले जाएँगे क्या तब भी आम की सत्ता रहेगी या आम लुप्त हो जायगा ? सापेक्षतावादी कहेगा कि आम रहेगा, तब सापेक्षतावाद गलत हो गया क्योंकि इसका तात्पर्य यह निकला कि आप आम को चेतना से सर्वथा स्वतन्त्र मानते हैं, भले ही जब आप उसे देखें तो वह आपको चेतना + आम' इस रूप में प्रतीत हो, पर आम आपके दृष्टिकोण की बिना चिन्ता किये हुये डाल में लटका रहेगा। इसी प्रकार आदमी के धरती पर आने के पूर्व, नहीं, 'नेबुला' के रूप में जब 'मैटर' स्थित था, तब आदमी नहीं था। विज्ञान की यह बात केयर्ड साहब व सापेक्षतावादी दोनों अवश्य मानेंगे। तो यह मानना होगा कि 'मैटर' चिन्तन-शक्ति युक्त आदमी के आने के पूर्व स्थित था। उसे आदमी के दर्शन की इच्छा न थी। फिर धीरे-धीरे विकास हुआ और सामान्य प्राणियों के जन्म के पश्चात् संकुल प्राणियों का जन्म हुआ। विकास की प्रक्रिया में जीवन-शक्ति व चिन्तन-शक्ति का भी विकास हुआ। परन्तु जब तक इन खोजों का पता न था तब हमारे पूर्वजों ने चिन्तक तत्त्व को आत्मा मान लिया और प्रकृति के रहस्यों को न समझकर, कार्य-कर्त्ता रूप में ईश्वर की कल्पना कर ली। परन्तु आज तो यह विकास सर्वसाधारण के लिए भी बोधगम्य है तब व्यर्थ का ऊहापोह खड़ाकर सापेक्षतावाद के आधार पर आत्मा व परमात्मा की सिद्धि का प्रयत्न क्यों ? इसलिए कि यदि परमात्मा का खण्डन हो गया तो ईसाई मत लुप्त हो जायगा या विज्ञान पर आधारित साम्यवाद से खतरा है ?

एन० जी० चर्नीशेव्स्की ने सापेक्षतावाद का दिवालियापन बड़ी विनोदात्मक पद्धति पर प्रकट किया है। उन्होंने सापेक्षतावाद को भ्रमवाद (illusionism) का नाम दिया है क्योंकि सापेक्षतावादी व्यर्थ ही भ्रम उपस्थित करता है।

एक व्यक्ति को लीजिए जिसकी भुजाएँ मजबूत हैं प्रश्न होगा—
क्या इसके भुजाएँ हैं ?
हाँ !
क्या यह निर्णय ठीक है।
हाँ !
इसके कितनी भुजाएँ हैं ?
दो।

(एक सापेक्षतावादी का प्रवेश, वह प्रश्न करता है)

किस विषय पर बहस हो रही है ?

यह व्यक्ति जिसकी दोनों भुजाएँ मजबूत हैं, दो भुजाएँ रखता है।

क्या आपके मत से वस्तुत. वह दो भुजायें रखता है (वादी)

हाँ रखता है।

नहीं, आप गलती कर रहे हैं ?

क्यों ?

और तब सापेक्षतावादी विचारक उत्तर देता है कि जो व्यक्ति दो मजबूत भुजाएँ रखता है, सोचता है कि वस्तुत. उसके दो भुजाएँ हैं ? यदि वह यह जान पाता कि उसके दो भुजाएँ हैं तो वह दो भुजाएँ रखता परन्तु वह यह नही जानता कि उसके दो भुजायें है, न वह, न अन्य कोई जान सकता है क्योंकि हम केवल अपने इन्द्रिय-ज्ञान से परिचित हो सकते हैं। हम वस्तु को उसके अपने स्वरूप में नही जानते न जान सकते हैं क्योंकि हम वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नही जान सकते। अत. हम यह नही जान सकते कि वस्तु सम्बन्धी इन्द्रिय-ज्ञान वस्तु के वास्तविक रूप से मिलता-जुलता है या नहीं। उनमें सादृश्य हो भी सकता है और सादृश्य नही भी हो सकता है। यदि वस्तु सम्बन्धी इन्द्रिय-ज्ञान व वस्तु के वास्तविक स्वरूप में सादृश्य है तो हमें केवल स्थित पदार्थ का इन्द्रिय-ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। अतः वस्तुओं को हम नही जान सकते, उससे सम्बन्धित इन्द्रिय-ज्ञान को ही जान सकते हैं परन्तु यदि वस्तु-सम्बन्धी इन्द्रिय ज्ञान व वस्तु के वास्तविक स्वरूप मे सादृश्य नही तो वस्तु सम्बन्धी ज्ञान अस्तित्व विहीन वस्तुओं का इन्द्रिय ज्ञान मात्र है। हम नही जानते कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप से उपर्युक्त दोनों में से किस ज्ञान का सादृश्य है। केवल हम इतना जानते हैं कि एक भुजा का इन्द्रिय-ज्ञान हमें प्राप्त है। अत. हम यह कह सकते हैं कि कोई वस्तु स्थित है जो हमारे मन में एक भुजा का इन्द्रिय-ज्ञान उत्पन्न कर देती है परन्तु हम यह नहीं जानते, न जान सकते हैं कि हमारा भुजा सम्बन्धी इन्द्रिय-ज्ञान उस 'स्थितवस्तु' से मिलता है या नहीं ? यदि वस्तु सम्बन्धी इन्द्रिय-ज्ञान उस 'स्थित-वस्तु' से मिलता है तो हम कह सकते हैं कि जिसे हम भुजा के रूप में देख रहे हैं वस्तुतः वह भुजा ही है और वस्तुत. हम भुजा रखते हैं।

परन्तु यह सम्भव है कि हमारा इन्द्रिय-ज्ञान 'स्थित-वस्तु' से न मिले, तो इस स्थिति में जिसे हम भुजा के रूप मे देख रहे हैं वह भुजा अस्तित्व विहीन भी हो सकती हैं और तब हम कह सकते हैं कि हमारे भुजाएँ नहीं हैं, भुजाओं की जगह हम कुछ अज्ञात वस्तुओं के समूहों को रखते हैं, भुजाएं नही रखते और हम इस अज्ञात वस्तुओं के समूहों के सम्बन्ध में कुछ भी नही जान सकते, सिर्फ यह समझ सकते हैं कि वे अज्ञात वस्तुओं के दो समूह हैं, क्योंकि दोनों भुजाओं से अलग-अलग सम्बन्धित दो इन्द्रिय-ज्ञान भी अलग अलग हैं। अत: दो अज्ञात वस्तुओं के समूहों की सत्ता है, यह निश्चित है। अत: हम इस प्रश्न का उत्तर दे ही नही सकते कि हम दो भुजाएँ रखते हैं। हम चूँकि सिर्फ इतना जानते हैं कि हम भुजाये रखते हैं अतः हम भुजायें रखते है परन्तु यदि हम भुजाएँ नहीं रखते तो भी अज्ञात वस्तुओं के समूहों की सख्या दो ही होती। यह है सापेक्षतावाद का सिद्धांत जिससे मानवीय ज्ञान की परीक्षा की जाती है। इस सिद्धांत से आप किसी बात को निश्चित रूप से जानते हैं', यह सिद्ध नही किया जा सकता। सापेक्षतावादी दार्शनिक कल्पित हवाई घोड़े पर चढ़ते उतरते रहते हैं और फिर सोचते हैं कि क्या हम वस्तुतः ऐसा कर रहे हैं। हम जानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति यह जान सकता है कि इसके दो भुजाएँ हैं और इस सम्बन्ध में उसे सन्देह नही है क्योंकि यदि कहीं इस ज्ञान में भूल होती तो क्रिया मे गड़बड़ अवश्य होती परन्तु चूँकि ऐसा नही होता अत हम निश्चित रूप से जानते हैं कि हमारे दो भुजाएँ हैं। परन्तु सापेक्षतावादी कहेगा कि आप यह निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि आपके दो भुजाएँ हैं। प्रश्न होगा कि सापेक्षतावादी ऐसा क्यों सोचते हैं? उत्तर होगा कि वे यही नही जानते कि किस वस्तु के विषय मे क्या और क्यों सोच रहे हैं। उसे केवल दार्शनिक ढङ्ग से सोचने का शौक है अन्यथा कुछ नही। बाल की खाल खींचने और सीधी बात को उलझा देने में उसे आनन्द आता है। 'हम मनुष्य हैं' यह एक सीधा प्रश्न है परन्तु सापेक्षतावादी कहेगा कि कौन कह सकता है कि हम मनुष्य हैं, हमें केवल मनुष्य सम्बन्धी इन्द्रिय-ज्ञान का पता है। यह 'मनुष्य' से मिलता जुलता है या नहीं यह कौन कह सकता है; और इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि हम मनुष्य हैं। कितना महान दर्शन है, कितना शुद्ध तर्क है!

सापेक्षतावाद का यदि यह अर्थ लिया जाय कि वस्तु के सम्बन्ध मे उसकी सारी परिस्थितियों का निर्णय दो तब तो ठीक है परन्तु 'सापेक्षतावाद' का दुरुपयोग कर दर्शन के नाम पर उलझनें उत्पन्न करना गलत है। जो बात सामान्य ज्ञान से प्रमाणित है उसे असामान्य रूप देकर किसी तथ्य पर न पहुँचने देने की प्रवृत्ति 'दर्शन' नही, 'दर्शन' के नाम पर दुर्बुद्धि का व्यवसाय है, और पाठक ऐसे दार्शनिकों की नीयत पर विश्वास कर गम्भीरता से उसे ग्रहण करने लगता है।

हमने 'सापेक्षतवाद की स्थिति स्पष्ट की। अतत ये दार्शनिक इस प्रकार क्यों सोचते हैं ? क्या इस प्रकार सोचने में इन दार्शनिकों की नीयत साफ है ? उत्तर होगा नही, क्योंकि ये इस प्रकार सोचने के पूर्व ही अपने अन्तर्मन में ईश्वर को सिद्ध करने का उद्देश्य छिपाए रहते हैं। जब सापेक्षतावादी ने यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य विश्व के किसी पदार्थ को केवल सापेक्ष रूप से ही जान सकता है, उसे निश्चित रूप से नही जान सकता तो स्वयमेव एक ऐसी सत्ता माननी होगी जो सर्वज्ञ हो। अत एक ऐसे ईश्वर की कल्पना तर्कसंगत हो जायगी जो निर्भ्रान्त ज्ञान रखती है। मनुष्य की सीमित चेतना पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को नही समझ सकती।

उद्देश्य की दृष्टि से केयर्ड व सापेक्षतावादियों में कोई अन्तर नहीं है। केयर्ड सापेक्षतावादी न थे परन्तु उन्हे ईसाई धर्म की वैज्ञानिकता सिद्ध करनी थी। अत ये किसी ऐसे 'पदार्थ' की स्वतन्त्र सत्ता मानने को तैयार नही जो चेतना मे सर्वथा निरपेक्ष रूप से सोचा जा सके, अत वे कहते हैं —

You can not get to Mind as an ultimate product of Matter, for, in the very attempt to do so, you have already begun with Mind. अर्थात् आप पदार्थ से मन की उत्पत्ति नही समझा सकते क्योंकि आपने मन के द्वारा ही अपना प्रयत्न प्रारम्भ किया है। आप किसी भी ऐसे पदार्थ के विषय में सोच ही नही सकते जो सिर्फ पदार्थ' हो क्योंकि आखिर बिना मन के सोचना सम्भव ही नहीं है। अत आप जब मन से निरपेक्ष 'वस्तु' के विषय में सोचते हैं तो उसमें मन पहले ही आ जाता है। अतः मन से

स्वतन्त्र वस्तु की सत्ता हो सकती है यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः यह कहना गलत है कि 'पदार्थ' से 'मन' की उत्पत्ति हुई है।

परन्तु जैसा हमने देखा कि इस तर्क की असङ्गति तो सामान्य ज्ञान (Common sense) से ही स्पष्ट है। आपके सम्मुख कलम रखी हुई है। आप कहेंगे कि मन से रहित कलम का निरपेक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है। परन्तु यदि कलम की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है तो आपके वहाँ से चले जाने के बाद क्या 'कलम' की सत्ता नष्ट हो जाएगी? यदि नहीं, तो मानना होगा कि मनुष्य के आने के पूर्व 'पदार्थ' था जैसा भौतिक-शास्त्र बताता है और उसकी सत्ता के लिए किसी 'मन' की आवश्यकता न थी। हमारी चेतना से बाहर रहने वाली वस्तुओं को अपनी सत्ता के लिए हमारी चेतना की आवश्यकता नहीं है, वे हमारी चेतना से सर्वथा स्वतन्त्र रूप से स्थित हैं।[१]

अतः स्पष्ट है कि केयर्ड साहब यह सिद्ध नहीं कर सकते कि 'पदार्थ' से मन की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। और जब यह सिद्ध हो जाता है तो आत्मा की सिद्धि के सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। वस्तुतः जगत के विकास को समझाने के लिए ईश्वर व आत्मा की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है।

अरविन्द भी ईश्वर व आत्मा की सिद्धि के लिए अनुभव की साक्षी पर अधिक जोर देते हैं और फिर तर्क द्वारा ब्रह्म, जगत और जीव की व्याख्या कर उसकी आवश्यकता समझाते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य का मन विकासवाद को स्वीकार करता है परन्तु वह यह भी स्वीकार करना

[१] सापेक्षतावादियों का यह कथन अमान्य है कि हम बाह्य वस्तु के स्वरूप को नहीं जान सकते क्योंकि सापेक्षतावादी बुद्धि व इन्द्रियज्ञान को अलग-अलग, सर्वथा स्वतन्त्र मान लेता है। यदि इन्द्रियों को जो कुछ दिखाई पड़ता है, यदि वह वैसा नहीं है तो बुद्धि सहायता करती है और सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से उसे देखती है और तब उसके स्वरूप को समझाती है, यदि इन्द्रियों से वस्तु के ठीक स्वरूप का पता नहीं चलता तो इससे यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि वस्तु का स्वरूप अज्ञेय है या वस्तु की सत्ता ही नहीं है। ऐंगिल्स ने इसीलिए कहा था कि वस्तु विशेष को देखते समय आँख के साथ बुद्धि भी संयुक्त रहती है—("Thought also is united with our eyes.")।

चाहता है कि विकास बीच में ही न रुक जाय, मन से ऊपर उठकर अज्ञात शक्तियों की प्राप्ति तक वह पहुँच जाय, हमारे भीतर जो असीमित चेतन-सत्ता (आत्मा) अवस्थित है उसका हमें ज्ञान हो जाये जो शुद्ध है, निर्लिप्त है। यदि मार्क्सवादी कहे कि चिंतन की गहराई मे फँसने से, विज्ञान द्वारा प्राप्त तथ्य तक सीमित न रखकर, व्यर्थ कल्पना की उड़ान भर कर ईश्वरादि की सिद्धि का प्रयत्न कर उलझन क्यों खड़ी की जाय ? क्यों न इस जगत तक ही, मन तक ही अपने को सीमित रखा जाय, जो अवाङ्मनस गोचर शक्तियाँ हैं उन्हें क्यों समझा जाय ? तो अरविन्द सर्व प्रथम 'अनुभव का प्रमाण' प्रस्तुत करते हैं और बताते हैं कि आत्मा-ईश्वर अनुभव से सिद्ध हैं।

वे कहते हैं कि हमारे भीतर शाश्वत रूप से एक जिज्ञासु बैठा हुआ है जो विज्ञान के तथ्यों से सन्तुष्ट न होकर जगत, जीव व ब्रह्म का एक तर्कसङ्गत, अनुभव के विरुद्ध न जाने वाला समाधान चाहता है। मार्क्सवादी इस जिज्ञासा को दबा देना चाहते हैं। चेतना को सीमित कर देने का परिणाम यह होगा कि वह बराबर विद्रोह करती रहेगी जब तक कि एक वैज्ञानिक समाधान न मिलेगा और ऐसा वैज्ञानिक समाधान अरविन्द प्रस्तुत करते हैं।

अरविन्द कहते है कि दार्शनिक दो प्रकार के है। प्रथम जो जगत को भ्रममात्र मानते है, केवल चेतना को सत्य मानते हैं और दूसरे वे जो केवल जड़-तत्त्व को सत्य मानते हैं, चेतना का उसी की उपज मानते हैं यह अतिवाद है।

प्रथम पक्ष शङ्कर का है जो जगत को मिथ्या मानते हैं। अरविन्द कहते हैं कि उपनिषदों ने Matter also is Brahman कहा है। अत: शङ्कर ने जो जगत को मिथ्या कहा है सो गलत है। हम कह चुके हैं कि शङ्कर का तर्क अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि जड़ से जब आप चेतना का विकास नही मानते तो यही मानना तर्कसङ्गत प्रतीत होता है कि एक चेतन-सत्ता ही सत्य है. शेष सब भ्रम है। जड़ के निषेध द्वारा ही आप चेतना की सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु अरविन्द को यह स्वीकार नही, वे जगत की सत्ता सिद्ध करना चाहते हैं और उसके लिए उनका तर्क यह है। कि—

१—श्रुति जगत को सत्य मानती है।

२—जगत को भ्रम मानने से बुद्धि को सन्तोष नहीं होता।

तब क्या करना चाहिए ? अरविन्द को जड़ की भी सत्ता सिद्ध करनी है और ब्रह्म की भी, तब क्या उपाय करना चाहिए ? एक ही उपाय शेष है और वह यह कि जड़ को चेतना का विकास मान लिया जाय। इससे मार्क्सवाद का भी खण्डन हो जायगा, शङ्कर का भी और अनुभव की भी रक्षा हो जायगी। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि इसे मान भी लिया जाय कि जड़-जगत ब्रह्म का घर है, उसी से विकसित हुआ है, तो शुद्ध चेतना से जड़ जगत का विकास कैसे होगा ? अरविन्द उत्तर देंगे कि शुद्ध चेतना से सहसा जड़-जगत की उत्पत्ति अवश्य बुद्धि के विपरीत प्रतीत होती है परन्तु उसके बीच यदि कई सोपानों की कल्पना कर ली जाय तो बुद्धि भी सन्तुष्ट हो जाती है और मार्क्सवाद का खण्डन भी हो जाता है। यदि हम सोपानों को स्वीकार न करेंगे तो जड-चेतन की समस्या हल नहीं हो सकती। शङ्कर ने सोपान स्वीकार नहीं किये अतः उन्हें जगत का निषेध करना पड़ा और भौतिकवाद तो उलझनों से बचने के लिये नित्य होने वाली 'अनुभूति' की उपेक्षा कर मन से आगे सोचने से ही इन्कार कर देता है। वह जड़ तत्त्व से शुद्ध चेतना के विकास की कल्पना कर लेता है। अत वह भी गलत है। अत आवश्यकता इस बात की है कि कोई ऐसा समाधान मिलना चाहिए जो परस्पर विरोधी पदार्थों जड़ व चेतन को एक दूसरे का सहायक सिद्ध कर सके और ऐसा समाधान तभी सम्भव है जब हम इन दोनों के बीच के स्तरों को स्वीकार करें।

अभिप्राय यह है कि—

१—आपको पहले यह मानकर चलना चाहिए कि आत्मा व ईश्वर की सत्ता है।

२—आपको यह भी मानना चाहिए कि जड़-जगत की स्वतन्त्र सत्ता है।

३—और इन दोनों बातों को मान लेने के बाद इनमें प्रतीत होने वाले विरोध को शांत करने के लिए अनेक स्तरों की कल्पना कर लेनी चाहिए। अन्यथा जड़ व चेतन की समस्या हल नहीं हो सकती[1]।

[1] Otherwise the two must appear as irreconcilable opponents bound together in an unhappy weldock and their divorce the one reasonable solution. (The Life Divine, Part I, Page 9)

इन स्थापनाओं का उत्तर यह है कि जब आत्मा व ईश्वर की कल्पना के विना ही हम यथार्थ दृष्टि से जगत व चेतना की समस्या को समझ सकते हैं तो आत्मा व परमात्मा की कल्पना व्यर्थ है। रही बात हृदय के भीतर रहने वाली आत्मा की, अलौकिक अनुभवों की, वे प्रमाण नही हो सकते, क्योंकि विशेष संस्कारों के कारण ही ऐसे अनुभव होते है। ईश्वर की कल्पना जब एक वार अज्ञान के कारण मनुष्य ने की तो उस आस्तिक वातावरण में रहने के कारण आपको भी वैसे अनुभव हो सकते हैं और नही भी हो सकते हैं। अत. व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ईश्वर व आत्मा के सिद्धान्त खड़े नही किए जा सकते। अब यदि कल्पना को विज्ञान से प्राप्त तथ्यों से संतोष नही होता तो आप किसी भी सत्ता की कल्पना कर सकते हैं पर ऐसा दर्शन काल्पनिक ही होगा[1]। यदि यह कहें कि ईश्वर की कल्पना से हम में नम्रता, सदाचार, विश्व-बन्धुत्व, सहानुभूति, प्रेम उपकार, पाप से भय की भावनाएँ उत्पन्न होंगी तो इसका उत्तर यह है कि नीति की शिक्षा के लिए ईश्वर का उपयोग अवश्य प्राचीन काल में हुआ और उससे लाभ भी हुआ। उससे बड़ी-बड़ी क्रान्तियाँ भी हुई। पर साथ ही अंध-विश्वास व साम्प्रदायिक भावनाओं-की भी उससे वृद्धि हुई और मनुष्य अनेक व्यर्थ की धार्मिक क्रियाओं-का आविष्कार कर उनमें समय नष्ट करता रहा। उसने सामाजिक रूप से दुःखों का अत करना नही सीखा। साथ ही यह भी आवश्यक नही कि ईश्वर की भावना से ही सद्गुणों का विकास सम्भव है। व्यक्ति जैसे-जैसे अधिक सामाजिक होता जायगा, वैसे-वैसे उसमें सद्गुणों का विकास होता जायगा। सापेक्ष-चिंतन से ही हम अधिक मनुष्यता का विकास कर सकते हैं। अत किसी भी दृष्टि से यह मान कर नही चला जा सकता कि ईश्वर व आत्मा की सत्ता-है।

---

[1] What must be the effect of believing that there stands above the enquiring, patient, ever learning and tentative methods of science an organ or faculty which reveals ultimate and immutable truths .. . even to it leads to finalism and dogmatatism fanaticism.

योग-शक्ति के विकास के लिए भी ईश्वर विश्वास की आवश्यकता नहीं। अनीश्वरवादी योगियों की परम्परायें भारत में भी बहुत प्राचीन हैं।

दूसरी स्थापना के सम्बन्ध में विरोध हो ही नहीं सकता। क्योंकि जगत को सत्य न मानने की प्रवृत्ति अवैज्ञानिक है। शंकर ने तर्क की रक्षा भले ही करली हो परन्तु जगत की सत्ता का निषेध कर वे सामान्य बुद्धि को भी संतुष्ट नही कर सके। सापेक्षतावादी जिस प्रकार का चमत्कार दिखाने में सफल हो जाते हैं, मायावादी भी अपनी पद्धति पर बुद्धि का चमत्कार दिखाकर स्वयं बुद्धि को संतुष्ट नही कर पाते। अरविन्द भी शंकर के दृष्टिकोण को अग्राह्य मानते हैं।

तीसरी स्थापना प्रथम स्थापना पर आधारित है। जब आत्मा व ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती तो जड व चेतन के बीच अनेक सोपानों की कल्पना कर प्रतीत होने वाले विरोध को शान्त करने का प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि इस पद्धति से तो कही भी विरोध शान्त किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान तो स्पष्ट कह देता है कि पदार्थ के विकास-क्रम में चेतना सर्वथा नवीन गुण के रूप मे उपस्थित हो जाती है। परन्तु जब हम शुद्ध चेतना से जड़-तत्त्व का विकास मानने चलते हैं तो न यथार्थ ज्ञान ही हमारा सहायक होता है न सामान्य ज्ञान ही। हाँ, केवल कल्पना अवश्य सहायक होती है और कल्पना के आधार पर अनेक सोपानों की कल्पना अरविन्द के अतिरिक्त थियोसोफी साधकों ने भी की है। दोनों मे से किसे स्वीकार किया जाय? यह कहना कठिन है और भी अनेक कल्पनाएँ आदर्शवादी शिविरों में मिलती हैं परन्तु उन्हें प्रमाणित नहीं माना जा सकता। अतः अरविन्द की प्रथम व तृतीय मान्यताएँ खण्डित हो जाती हैं।

मैंने प्रथम अध्याय मे ही कहा था कि दार्शनिक पूर्वाग्रहों की सिद्धि के लिए तर्क-जाल प्रस्तुत करते हैं। वे क्रियात्मक अनुभवों से अपनी कल्पनाओं को शुद्ध करने के लिए कभी तैयार नहीं होते, अतः 'दर्शन' के नाम पर 'रहस्यवाद' की सृष्टि होने लगती है। अरविन्द का दर्शन भी ऐसा ही रहस्यवाद है।

परन्तु जगत की सत्ता सिद्ध कर अरविन्द भौतिकवाद पर आक्षेप करते हैं क्योंकि बिना उसका खण्डन किए अरविन्द की बात कौन सुनने को प्रस्तुत होगा? उनके अनुसार भौतिकवादी सुविधाजनक मार्ग खोज लेते हैं। आत्मा का खण्डन कर देने से भौतिकवादी

का कार्य सरल हो जाता है और 'पदार्थ' को मान लेने से सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं और प्रश्न को समाप्त कर देना अरविन्द पाप समझते हैं।[1]

अरविन्द कहना चहते है कि भौतिकवादियों को अपना कार्य सरल नही करना चाहिए था क्योंकि अन्तःकरण से अनेक प्रश्न उठते हैं उनका उत्तर विज्ञान नही दे पाता। यदि विज्ञान उनके उत्तर नही दे पाता तो नाना कल्पनाओं द्वारा आप अनेक प्रश्नों को उत्पन्न करना चाहते हैं? आदर्शवादियों ने अनेक कल्पनाओं द्वारा जगत, जीव व ब्रह्म की व्याख्याएँ की परन्तु कोई बुद्धि को सन्तुष्ट नही कर पाता, वार-वार प्रश्न उत्पन्न होते रहे हैं। एक दार्शनिक समाधान खोजता है, दूसरा खण्डन करता है फिर तीसरा समाधान खोजता है। परिणाम यह होता है कि प्रश्नों व उत्तरों के अम्बार से एक अजीव उलझन खड़ी हो जाती है। भौतिकवादी इस प्रकार के प्रयत्नों को व्यर्थ ही नहीं हानिकारक भी मानता हैं क्योंकि इससे सम्प्रदाय वढ़ते चलते हैं। अत. वह क्रियात्मक विज्ञान के द्वारा प्राप्त तथ्यों पर अपना दर्शन आधारित करता है परन्तु अरविन्द इसे सुविधा जनक मार्ग मानते हैं और समझते हैं कि भौतिकवादी ज्ञान के विकास को रोक रहे हैं। अत. उनकी दृष्टि से आतरिक अनुभूति के आधार पर प्रमाणित चेतना व जड़-तत्त्व के विरोध को शात करने का प्रयत्न होना चाहिए और जड़ से चेतना का विकास न मानकर, चेतना से जड़ का विकास मानना चाहिए और यदि इससे बुद्धि सतुष्ट न हो तो जड़ व चेतन के वीच अनेक स्तरों की कल्पना कर लेनी चाहिए। इस 'सोपानवाद' को यदि अरविन्द के दर्शन से निकाल दें ता अरविन्द के पास मौलिक कुछ भी नहीं रहता। इसी के आधार पर वे जड़ व चेतन के वीच

[1] The materialist has an easier field, it is possible for him by denying spirit to arrive at a more readily convincing simplicity of statement. .... It serves no purpose but to put off by a vague concession the inexorable demands of thought or to stand as an excuse for refusing to extend the limits of enquiry. (The Life Divine, page 10)

समन्वय की खोज करते हैं।[1]

वस्तुतः विज्ञान व आदर्शवादी दर्शनों में समन्वय असम्भव है परन्तु अरविन्द ऐसे समन्वय को अनिवार्य समझते हैं और बलात् एक समन्वय की खोज करते हैं। फलत. उन्होंने विकासवाद की नई व्याख्या कर अपने 'सोपानवाद' का आविष्कार किया है। यह विकासवाद का दुरुपयोग है। विकासवाद केवल निम्न प्रकार के प्राणियों से उच्चकोटि के प्राणियों का, शारीरिक संगठनों का (organism) का विकास समझाता है, उसी को अरविन्द ईश्वर से जड़-तत्त्व के विकास पर लागू कर देते हैं। इस पद्धति से उनका इच्छित समन्वय तो मिल जाता है परन्तु ऐसा समन्वय खोज लेना कोई बड़ा कमाल नही है। इस प्रकार के सोपानों की कल्पना थियोसोफी के दार्शनिकों ने भी की है। किंतु अरविन्द जहाँ भारतीय श्रुति को प्रमाण मान कर चलते हैं, वहाँ थियोसोफी के विचारक सभी धर्मों से कुछ न कुछ चुनने का प्रयत्न करते है और फलत. थियोसोफी का एक विचित्र घोल तैयार हो जाता है जो अरविन्द के सोपानवाद से भी अधिक सोपानों की कल्पना करता है।

समन्वय जहाँ सम्भव नहीं है वहाँ उसको खोज लेने का दुराग्रह 'कल्पित समाधान' की अपेक्षा करता है और अरविन्द व थियोसोफी के दार्शनिक ऐसी कल्पनाओं के लिए सदा प्रस्तुत रहते हैं।

अरविन्द तो ब्रह्म व मैटर के बीच केवल ब्रह्म→ ऊर्ध्व चेतन→ मन→ जीवन→ मैटर यह प्रक्रिया मानते हैं परन्तु थियोसोफी मे अनेक स्तरों की कल्पना की गई है। क्यों ?

थियोसोफी उत्तर देती है १—विज्ञान बहुत से अज्ञात तथ्यों पर विचार ही नही करती, थियोसोफी उन पर विचार करती है। २—विज्ञान यांत्रिकता को जन्म देता है। अतः व्यक्तिगत रूप से दार्शनिकों

[1] Without the theory of ascent and descent, Sri Aurbindo is unable to establish the desired synthesis between Science and spiritualism.
Sri Aurbindo's Philosophy—Bhavani sen
(New Age, August 1955)

का कर्त्तव्य है कि वे अधिक उत्साह पूर्वक जड़-चेतन सम्बन्धी विकास प्रस्तुत करे।[1]

मतलब यह कि विज्ञान जिन बातों पर विचार नही करता, उन पर व्यक्तिगत कल्पनाएँ विज्ञान के रूप में स्वीकृत हो जानी चाहिए और साथ ही यदि विज्ञान के समाधान मानव-जीवन को यांत्रिक बनाते हों, उसमे नूतन उत्साह न भरते हों तो एक नूतन विकास की कल्पना कर लेनी चाहिए। यहाँ वही दृष्टिकोण छिपा हुआ है कि ईश्वर की कल्पना कर लेने से मानवता के लिए एक अच्छा आदर्श मिल जायगा। चाहे उस आदर्श के लिए बुद्धि, धैर्य, सत्य किसी का भी बलिदान क्यों न करना पडे। मानवता को नूतन उत्साह देने के लिए थियोसोफी ने 'Group souls' सामूहिक आत्मा की कल्पना की और मैटर व जीवन-शक्ति (life) का विकास अलग-अलग अपने-अपने ढङ्ग से दिखाया। परमाणु से मनुष्य शरीर तक के सगठन में यांत्रिक विकास पाया जाता है परन्तु जीवन-शक्ति के विकास में सामान्य से मिश्रित की ओर विकास नही हुआ। जीवन-सत्ता के विकास में 'ईश्वर' ही स्वयं विभाजित होकर बिखर गया। प्रत्येक जीव मे ईश्वर पूर्ण रूप मे अवस्थित हो गया। इसीलिए जड़ का विकास अपनी पद्धति पर हुआ और चेतना का अपनी पद्धति पर। अरविन्द चेतना से ही जीव व जड का विकास समझाते हैं परन्तु थियोसोफी में ईश्वर, जड व चेतन का विकास भिन्न पद्धति पर होता है।

थियोसोफी का विकास द्वैत पद्धति पर आधारित है, अरविन्द का वेदान्त के एकात्मवाद पर, दोनों पहले ही यह निश्चित कर लेते हैं

---

[1] But we are men and women who think and desire, we do bring in the personal element to our conception of life and when we look at evolution, the out look (of Science) for us as individuals is encouraging   is there possible any conception of the evolutionary process which can show a more encouraging out look ?

(First Principles of Theosophy, Page 15–16)

कि जड व चेतन के विरोध को शांत करने के लिए कोई समाधान खोजना चाहिए और दोनों भिन्न-भिन्न कल्पनाओं के द्वारा एक समाधान खोज लेते हैं। हमने कहा है कि पूर्वाग्रहों की सिद्धि ही दार्शनिकों का कार्य है। दार्शनिक या साधक पहले निश्चित करता है, फिर उसे सिद्ध करता है पर विज्ञान पहले से कुछ निश्चित नहीं करता, क्रिया से सीखता है और यदि सम्भावना के रूप मे कल्पना करता भी है तो क्रिया द्वारा उसे शुद्ध करता रहता है। अतः साधकों व दार्शनिकों के समाधान अधूरे, एकांगी, पूर्वाग्रहों से युक्त व अवैज्ञानिक होते हैं। अतः न अरविन्द ग्राह्य हो सकते हैं और न थियोसोफी।

अरविन्द दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है समस्या को गलत रूप में उपस्थित करना। अपनी दार्शनिक स्थापनाओं के पूर्व वे दो अतिवादी प्रवृत्तियों की कल्पना कर लेते हैं। एक ओर शंकर व बौद्धों का निषेधवाद, दूसरी ओर मार्क्सवादियों का जडवाद। एक जगत का निषेध करता है दूसरा चेतना या ईश्वर का। अतः समन्वय आवश्यक है और समन्वय के लिए जड़ व चेतना के बीच 'सोपानवाद' को मानने की आवश्यकता है और सोपानों का ज्ञान योग-साधना द्वारा सम्भव है। अतः आन्तरिक योग ही आन्तरिक साम्य का मुख्य साधन है। बस अरविन्द दर्शन की यही प्रधान स्थापनाएँ हैं।

अरविन्द 'अतिवाद' की कल्पना को यथार्थ समस्या मानते हैं। इसीलिए उनका समन्वयवाद अमान्य है। जगत के निषेध करने वाले दार्शनिकों का खण्डन होना चाहिए क्योंकि केवल मौखिक तर्क की रक्षा के लिए जगत की सत्ता का निषेध करना व्यर्थ है। अरविन्द तर्क की रक्षा की चिन्ता न कर जगत की सत्ता मानते हैं। यह प्रसन्नता की बात है, भले ही शंकर-नागार्जुन-विज्ञानवादियों के सम्बन्ध में उनकी व्याख्याएँ गलत हों। परन्तु जगत की सत्ता के विश्वासी वेदान्ती भी रहे हैं, जो जगत को अरविन्द की तरह ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानते हैं; हाँ, वे सोपानवाद को न मानकर चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म की कल्पना कर, जीव व जगत को उस ब्रह्म का निवास-स्थान स्वीकार करते हैं। क्या 'सोपानवाद' के अतिरिक्त अरविन्द ने रामानुज से आगे बढ़कर कोई बात कही है? अतः दो अतिवादों में प्रथम अतिवाद (जगत का निषेध करना) की कल्पना गलत है। जब आदर्शवादी शिविर में भी जगत की सत्ता मानने वाले थे तो 'अति-

वादी आदर्शवाद' की कल्पना क्यों ? कोई अन्य विचारक एक दूसरे अतिवाद की भी कल्पना कर सकता है। यथा निम्नलिखित अतिवाद—

प्रथम अतिवाद—ईश्वर-आत्मा पर विश्वास
द्वितीय अतिवाद—ईश्वर-आत्मा पर अविश्वास

तब समन्वय का स्वरूप निश्चित रूप से अरविन्द के समन्वय से भिन्न होगा और तब अरविन्द की दार्शनिक भित्ति ढह जायगी। अतः सिद्ध हुआ कि अरविन्द द्वारा की गई 'आदर्शवादी अतिवाद' की कल्पना गलत है।

अरविन्द ने द्वितीय अतिवाद की कल्पना की कि जड़ व चेतन परस्पर विरोधी वस्तुएँ हैं और भौतिकवादी कहते हैं कि जड़-तत्त्व से ही चेतना का विकास हुआ है। यह अतिवाद है। अरविन्द की यह मान्यता भी गलत है। 'भौतिकवाद' शब्द से अरविन्द प्रारम्भिक अवैज्ञानिक भौतिकवाद का अर्थ लेते हैं। वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद जड़ व चेतना के द्वैत को नहीं मानता। इस प्रकार द्वैतवाद को आदर्शवादी ही मानते है क्योंकि इस प्रकार द्वैतवाद को मानकर उनके ईश्वरवाद का उद्देश्य सफल हो जाता है।

जड-तत्त्व व चेतना में द्वैत दिखाना गलत है। अरविन्द इस सम्बंध में कहते है कि भौतिकवाद चेतना को न मानकर जड-तत्त्व से ही उसका विकास मानता है। शुद्ध चेतना का जड-तत्त्व से विकास मानना बेईमानी है। चूँकि 'मैटर' आज एक अज्ञात शक्ति (Unknown force) के रूपमें मान लिया गया है अत: उसे शक्तिवान ब्रह्म से विकसित "शक्ति" मानना चाहिए तभी जड़ व चेतन का शाश्वत विरोध शान्त हो सकता है।[1] इसका उत्तर यह है कि जड व चेतन के जिस विरोध की कल्पना आप कर रहे हैं, वह कल्पना भौतिकवाद मे ग्राह्य नही

[1] Secondly, his (Ausbindo's) conception that matter is ultimately reducible to 'some unknown force' is a gross distortion of the modern scientific discovery that is composed of energy This energy is not an unknown force because its laws of motion have been discovered by science.

(Bhawani Sen in 'New Age' June 1955)

है। जिस प्रकार आदर्शवादी जगत का निषेध करते हैं: उसी प्रकार भौतिकवादी चेतना का निषेध नहीं करते। अतः दोनों में विरोध मानना भौतिकवादी को स्वीकृत नहीं है। अरविन्द ने भौतिकवाद की जानबूझ कर गलत व्याख्या कर 'अतिवाद' का आरोप कर लिया है और फिर शास्त्र के आधार पर कल्पित समाधान खोजकर इस विरोध को मिटाने की अपील की है। 'मैटर' सम्बन्धी भ्रम का निवारण करते हुए 'लेविस' ने लिखा है—

It is frequently stated today in pseudo-philosophical writings and in the pulpit that the old idea of matter as a non-mental, external and objective reality has gone, the modern science has refined and dissolved matter away into something so intangible, so tenuous, so shot through with purely mental element as to be, virtually, something more spiritual than material. If this be so, then the idealist's claim is greatly reinforced There can be certainly a realm of pure spirit with all that, that implies.[1]

तात्पर्य यह कि पहले 'पदार्थ' को सर्वथा एक मानसिकता रहित बाह्य पदार्थ माना जाता था परन्तु आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मैटर एक ऐसा 'अज्ञेय' पदार्थ है कि उसे केवल मानसिक रूप से ही समझा जा सकता है। वह भौतिक की जगह अभौतिक पदार्थ हो गया है। यदि वस्तुतः ऐसा ही है तो आदर्शवादी का पक्ष प्रबल हो जाता है और 'आत्मा' की सत्ता सम्भव हो जाती है।

परन्तु आज भी 'मैटर' को आर्थर एडिङ्गटन या जेम्स जॉन्स की तरह अभौतिक शक्ति के रूपमें नहीं मान सकते। 'मैटर' की सत्ता आज भी अक्षुण्ण है। केवल १६ वीं शताब्दी की खोज से 'मैटर' के सम्बन्ध में इतना पता चला है कि 'मैटर' विद्युत की तरह एक शक्ति है (electrical phenomenon) यह कोई रहस्यात्मक अज्ञात शक्ति नहीं है। इसकी परिणति हम ठोस पदार्थों में स्पष्ट देख सकते हैं। यह

[1] Marxism and Irrationalists. (John Lewis)

सूक्ष्म मैटर मनुष्य के मन के पूर्व स्थित था। वह हमारी चेतना की बिना अपेक्षा किए हुए स्थित था। यह 'मैटर' परिवर्तन के प्रवाह से मुक्त रहता है। वह कोई स्थिर वस्तु नहीं है जैसा कि १६ वी शताब्दी के वैज्ञानिक मानते थे। इस परिवर्तन के प्रवाह के कारण मैटर विभिन्न रूपों मे परिवर्तित होता रहता है और विकास की प्रक्रिया में नवीन पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है। मानवीय चेतना भी सर्वदा विकसित रहने वाले 'मैटर' की विकास-प्रक्रिया मे उद्भूत हुई है। अत. विज्ञान चेतना व मैटर के द्वैत को नहीं मानता, जैसा १६ वी शताब्दी के वैज्ञानिक मानते थे। परन्तु 'अरविन्द' को इससे कुछ भी तात्पर्य नही उन्हें तो 'अतिवाद' सिद्ध करना है और इसे सिद्ध करने के लिए वे कहते हैं जड-तत्त्व व शुद्ध चेतना का द्वैत भौतिकवाद मे पाया जाता है और उसका हल करने के लिए भौतिकवादी यह समाधान खोजते हैं कि जड-तत्त्व से चेतना का विकास हुआ है। यह जल्दबाजी का समाधान है।

किन्तु जैसा उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद विकास-प्रवाह मे चिन्तन-प्रधान मन का विकास मैटर से मानता है। विज्ञान से सिद्ध है कि विकास-प्रक्रिया में नूतन शक्तियों का उदय होता है। चेतना का उदय भी इसी प्रकार हुआ है। 'मैटर' मन के रूपमें परिवर्तित होकर मन से भिन्न पदार्थों को जानने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। यह जानने की शक्ति कहीं बाहर से किसी ब्रह्म की इच्छा (Will) के रूपमें उत्पन्न नहीं हुई, वरन् यह चिन्तन-शक्ति 'मैटर' की विकास-प्रक्रिया मे प्राप्त नूतन गुणात्मक परिवर्तन मात्र है और अरविन्द इसे जल्दबाजी से युक्त निर्णय कह कर, इस मैटर (force) को किसी बाहरी दैवी सत्ता की अभिव्यक्ति मान बैठते हैं, क्योंकि वे इस वैज्ञानिक सत्य से इन्कार करते हैं कि विकास की प्रक्रिया मे कोई सर्वथा नवीन पदार्थ उत्पन्न हो सकता है। इसीलिए पुराने दार्शनिकों की तरह,वे यह कल्पना कर लेते है कि 'मैटर' में पहले से ही, विकास होने के पूर्व से ही, ब्रह्म व्याप्त है जो मानवीय चेतना के रूपमें जड़ शरीर के भीतर विद्यमान है। 'मैटर' की स्थिर सत्ता मानकर, विकास द्वारा नूतन गुणों की प्राप्ति में अविश्वास कर अरविन्द जड व चेतन सत्ता को दो विरोधी शक्तियाँ मान लेते हैं और

व्यर्थ ही एक 'अतिवाद' की कल्पना कर उसके समाधान का कल्पित प्रयत्न करते हैं।

अरविन्द कहते हैं कि जड़ व चेतन परस्पर विरोधी वस्तुएँ नहीं हैं इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि अरविन्द सच्चे विकासवादी की तरह जड़ से चेतन-सत्ता का विकास मान लेंगे, नहीं, उन्हें चूँकि "एक ही चेतना सर्वत्र व्याप्त है", "एक ही चेतना से यह सब अभिव्यक्त हुआ है" यह पूर्वाग्रह सिद्ध करना है। अत: मैटर व चेतना के वैज्ञानिक समाधान को न मानकर वे वस्तुत जड़ व चेतना को परस्पर विरोधी ही मानते हैं।[1] वे यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि अन्ध-जड़-मैटर से जीवित चेतन-सत्ता विकसित हो सकती है इसीलिए जड़ व चेतन के शाश्वत विरोध को शान्त करने के लिए वे 'समाधान' की खोज को ऐतिहासिक आवश्यकता मानते हैं।

अत अरविन्द द्वारा की गई 'अतिवाद सिद्धान्त' की कल्पना निराधार है। सारी उलझन वैज्ञानिक भौतिकवाद की ठीक व्याख्या न होने के कारण उत्पन्न हो गई है। उलझन विज्ञान के कारण नहीं उत्पन्न होती, अज्ञान के कारण होती है।

विज्ञान द्वारा सिद्ध जड-तत्त्व से चेतना के विकास को न मानकर, द्वैत की कल्पना कर, अरविन्द ने अज्ञात आध्यात्मिक सत्ता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर अन्ध-विश्वास का द्वार खोल दिया है।

इस अन्ध-विश्वास की वैज्ञानिकता के दो आधार हैं १—शास्त्रों के प्रमाण (Authority) २—अन्तर्चेतना (intuition)।

विज्ञान जड़ तत्त्व से ही चेतना का विकास मानता है, परन्तु

---

[1] If we assert only pure spirit and a mechanical unintelligent substance or energy, calling one God or soul and the other nature, the inevitable end will be that we shall either deny God or else turn from Nature और अरविन्द को दोनों सिद्ध करने हैं, यह उनकी पूर्व प्रतिज्ञा है अतः भौतिकवाद की गलत व्याख्या कर उसे भी एक 'अतिवाद' के रूप में वे प्रस्तुत कर देते हैं। विज्ञान 'अतिवाद' नहीं, और न उसका कल्पित समाधान ही हो सकता है।

चेतना को जड़-तत्त्व से विरोधी तत्त्व नही मानता। चेतना का अर्थ है मानसिक शक्तियाँ—उद्देश्य संवेदना, सोचने की शक्ति, इच्छा, राग, विराग आदि आदि। ये शक्तियाँ जड़ मैटर से कैसे उत्पन्न हो सकती हैं? इस प्रकार का प्रश्न वे द्वैतवादी ही करेंगे जो यह नही जानते कि विकास का अर्थ क्या है? विकास का अर्थ है विकास में सर्वथा नूतन गुण का विकास सम्भव होना।[१] इस नूतन गुण के विकास को अरविन्द नही मानते। वे इसे कही बाहर से लाने का प्रस्ताव करते हैं और कहते हैं कि वह गुण (चेतना) अज्ञेय ब्रह्म की इच्छा से ही पदार्थ के भीतर बन्द हो गया है और जो आत्मा के रूप मे विद्यमान है।

अरविन्द यह कभी स्वीकार नही कर सकते कि 'मैटर' से ही मानसिकता का विकास हुआ है। वह 'मैटर' को अपने मूल रूप मे एक अज्ञेय शक्ति मान लेते हैं और फिर उसे दैवी इच्छा (will) के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं और will ब्रह्म की ही हो सकती है। इस प्रकार मैटर ब्रह्म की चिर शक्ति सिद्ध हो जाता है। यह है अरविन्द का प्रयत्न जो विज्ञान की गलत व्याख्या कर मैटर को अज्ञेय शक्ति स्वीकार कर, अकारण जड़ व चेतन के द्वैत की कल्पना कर, पुन.

[१] Mental Phenomena are part of the natural world ... this involves a new conception of nature It is not a soundless, colourless concatenation of moving molecules, devoid of mind, values and ethical significance—the ultimately real of dualism , on the contrary all qualities belong to it under specific conditions. Atoms are capable of many strange things when complexily organised. Actual entities including (in those cases where man is involved) consciousness, purpose and valuation, are all that there is, and they are always in process of development and change bringing something new into the world, enriching it fresh creation. —John Lewis, page 32.

समाधान खोजता है और समाधान यह कि 'मैटर' ब्रह्म की चिर-शक्ति है अतः जगत ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। यह समाधान विज्ञान की गलत व्याख्या पर निर्भर है अतः स्वीकृत नहीं हो सकता। अब अरविन्द के इस वाक्य की निरर्थकता स्पष्ट हो जायगी —

If we assert only pure spirit and a mechanical unintelligent substance or energy, calling one God or soul and the other nature, the inevitable end will be that we shall either deny God or else turn from Nature.

स्पष्ट है कि हम ईश्वर की सत्ता का निषेध अवश्य कर सकते हैं क्योंकि जगत-जीव की व्याख्या के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है परन्तु "प्रकृति" (matter) के स्वयं विकास का निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि हम जानते हैं कि 'मैटर' का यांत्रिक तत्त्व वही मानते हैं जो विज्ञान की गलत व्याख्या करते हैं। 'मैटर' से बुद्धि, संवेदना, भावना, इच्छा, संकल्प आदि सभी मानसिक गुणों का विकास हो सकता है और होता है क्योंकि हम जानते हैं कि "गुणात्मक परिवर्तन" एक कल्पित सत्य नहीं, यथार्थ सत्य है। अतः अरविन्द ने विज्ञान की गलत व्याख्या कर जिस प्रकार विज्ञान को "अतिवादी" ठहराया है वह गलत है, वह केवल ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न मात्र है।

अरविन्द इस स्थिति में कहेंगे कि यदि यह भी मान लिया जाय कि आत्मा नहीं है वह इच्छा, संकल्प, संवेदना, उद्देश्य भावना आदि का नाम है और वह मैटर से ही विकसित हुई है तो भी एक और आत्मा की सिद्धि का जबरदस्त प्रमाण है—आंतरिक अनुभूति का। हमारा अंतःकरण यह स्वीकार नहीं करता कि ईश्वर-आत्मा नहीं है। अतः भौतिकवादी अद्वैतवादियों की तरह भले ही "पदार्थ" को ही एक मात्र सत्ता मानकर उससे जड़-जगत, जीवन और मन का विकास समझावें परन्तु सर्वदा के लिए यह समाधान स्वीकृत नहीं होगा। कुछ समय के लिए भले ही संतोष हो जाय, आगे चलकर जनता अवश्य इस भौतिकवादी समाधान से विद्रोह करेगी और अपने ईश्वर व आत्मा के विश्वास को जागृत करेगी।

The materialist has an easier field, it is possible

चेतना को जड़-तत्त्व से विरोधी तत्त्व नही मानता। चेतना का अर्थ है मानसिक शक्तियाँ—उद्देश्य संवेदना, सोचने की शक्ति, इच्छा, राग, विराग आदि आदि। ये शक्तियाँ जड़ मैटर से कैसे उत्पन्न हो सकती हैं? इस प्रकार का प्रश्न वे द्वैतवादी ही करेंगे जो यह नही जानते कि विकास का अर्थ क्या है? विकास का अर्थ है विकास में सर्वथा नूतन गुण का विकास सम्भव होना।[1] इस नूतन गुण के विकास को अरविन्द नही मानते। वे इसे कही बाहर से लाने का प्रस्ताव करते हैं और कहते हैं कि वह गुण (चेतना) अज्ञेय ब्रह्म की इच्छा से ही पदार्थ के भीतर बन्द हो गया है और जो आत्मा के रूप मे विद्यमान है।

अरविन्द यह कभी स्वीकार नही कर सकते कि 'मैटर' से ही मानसिकता का विकास हुआ है। वह 'मैटर' को अपने मूल रूप मे एक अज्ञेय शक्ति मान लेते हैं और फिर उसे दैवी इच्छा (will) के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं और will ब्रह्म की ही हो सकती है। इस प्रकार मैटर ब्रह्म की चिर शक्ति सिद्ध हो जाता है। यह है अरविन्द का प्रयत्न जो विज्ञान की गलत व्याख्या कर मैटर को अज्ञेय शक्ति स्वीकार कर, अकारण जड व चेतन के द्वैत की कल्पना कर, पुन.

[1] Mental Phenomena are part of the natural world . .. this involves a new conception of nature It is not a soundless, colourless concatenation of moving molecules, devoid of mind, values and ethical significance—the ultimately real of dualism, on the contrary all qualities belong to it under specific conditions. Atoms are capable of many strange things when complexily organised Actual entities including (in those cases where man is involved) consciousness, purpose and valuation, are all that there is, and they are always in process of development and change bringing something new into the world, enriching it fresh creation. —John Lewis, page 32.

नूतन मानवता का जन्म होगा। सच्चा अध्यात्मवादी युग तभी आएगा जब न जगत की सत्ता व भौतिक उन्नति का निषेध होगा और न ईश्वर-आत्मा का ही निषेध होगा। यह भविष्य-कथन सच्चा सिद्ध होगा। अरविन्द को इस पर विश्वास है। अनुभव इसका प्रमाण है।'[1]

मैंने आध्यात्मिक अनुभव के पीछे अन्धविश्वास, अवैज्ञानिक चिन्तन, धार्मिक संस्कार आदि कारण बताए है और यह निश्चित है ऐसा कोई भविष्य नहीं होगा जब विज्ञान को एक ओर रखकर केवल वैयक्तिक अनुभव में बुद्धि विरोधी कल्पित सत्यों को स्वीकार कर लिया जाय।

योगी अरविन्द आन्तरिक अनुभूति के आधार पर ही कहते हैं—We come into contact with a mass of phenomena which escape entirely from the rigid hold, the limiting dogmatism of the Materialist formula And the moment we recognise, as our enlarging experience compels us to recognise, that there are in the universe knowable realities beyond the range of the senses and in man powers and faculties[2]

तात्पर्य यह कि आन्तरिक अनुभवों से हम ऐसे आध्यात्मिक पदार्थों से परिचय प्राप्त करते हैं जो मनुष्य की शक्तियों को सीमित कर देने वाले भौतिकवादी अन्ध-विश्वासों का निषेध कर देते हैं और साथ ही इन्द्रियों से सर्वथा परे आध्यात्मिक सत्ताओं की सिद्धि भी मानवीय चेतना द्वारा सिद्ध हो जाती है।

पाठक देखे कि किस प्रकार अरविन्द अध्यात्मवाद द्वारा भौतिकवाद अर्थात् विज्ञान को अन्ध-विश्वास सिद्ध करना चाहते है। प्रमाण क्या है?

यही नहीं विज्ञान में विश्वास करने वालों को मेधावी अरविन्द अपरिपक्व बुद्धि वाले भी मानते हैं, मानना ही चाहिए, "जो मेरी बात

[1] देखिये 'भागवत जीवन' पृष्ठ १२।

[2] The Life Devine—page 11-15.

for him by denying spirit to arrive at a more readily convincing simplicity of statement, a real Monism-the Monism of Matter or else of Force But in this rigidity of statement, it is impossible for him to persist permanently ... it serves no purpose but to put off by a vague concession the inexorable demands of thought or to stand as an excuse for refusing to extend the limits of enquiry.

मतलब यह कि भौतिकवादी विचार-शक्ति के विकास में बाधक है। वे शकाओं को समाप्त कर देने के लिए "पदार्थ" द्वारा ही सारी शक्तियों के विकास को मानकर, मनुष्य के भीतर से उठने वाली जिज्ञासा को दबा देते हैं किन्तु यह दमन सर्वदा के लिए सम्भव नही है।

अरविन्द के लिए समन्वय के नाम पर ईश्वर व आत्मा की सिद्धि ही जिज्ञासा का सच्चा उत्तर है, चाहे भले ही उस 'समन्वय' से मानवीय बुद्धि को सन्तोष न मिले। परन्तु उसके लिए भी उत्तर अरविन्द के पास है। यदि विज्ञान का समाधान आपको सन्तोषजनक लगता है तो अरविन्द कहेंगे आप की बुद्धि अशुद्ध है। शुद्ध बुद्धि से ईश्वर जाना जा सकता है। तात्पर्य यह कि भौतिकवादियों के उत्तरों के प्रति जब आपके मनमे असन्तोष जागृत हो तब तो अरविन्द कहेंगे कि आपके मन मे शुद्ध बुद्धि जागृत हो रही है और जब अध्यात्मवादियों के उत्तरों से आपके मन में असन्तोष जागृत हो और वैज्ञानिक समाधान की खोज मे विज्ञान की व्याख्या को स्वीकार करें तो अरविन्द कहेगे कि आपमें अशुद्धि बुद्धि कार्य कर रही है। समन्वयवाद का यह प्रयत्न कितना महान और तर्क सङ्गत है।

अरविन्द योगी थे, अत तर्क को छोड़ कर वह अपील करते हैं कि चलो यह भी अच्छा है कि भौतिकवादी व जगत की सत्ता को न मानने वाले कोरे आदर्शवादी अतिवादी प्रयोगों को करते रहे क्योंकि इस प्रकार के प्रयत्न सदा तो चल नही सकते, अन्तत. उन्हे समन्वय की खोज करनी होगी और उनकी बात माननी होगी क्योंकि तर्क को एक ओर रख कर जब मनुष्य अनुभव पर विश्वास करेगा तब स्यत ईश्वर-आत्मा की सिद्धि सम्भव हो जायगी और तभी

अरविन्द कहते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान के विकास के लिए पार्थिव जीवन को आधार बनाकर चलना चाहिए। मुण्डक उपनिषद् में भी कहा गया है—पद्भ्याम् पृथिवी। परन्तु पृथ्वी व पार्थिव जगत तो आपके लिए खड़े होने भर को है, आपको देखना तो आकाश की ही ओर है और गगन-विहार ही आप के दर्शन का उद्देश्य है। क्या उसको शुद्ध बुद्धि का प्रतिफल मानकर तथा पार्थिव संघर्ष—जनता के जीवन-मरण के प्रश्नों—से पलायन कर आप शंकराचार्य, नागार्जुन आदि की परम्परा में नहीं जा बैठते। क्या आपके कल्पित दर्शन का प्रयोग वर्ग-हितों की रक्षा का साधन नहीं बनता? यद्यपि आप पुकार यही मचाते हैं कि हम तो भौतिकवाद को भी स्वीकार करते हैं। आपकी यह स्वीकृति क्या अस्वीकृति का बहाना मात्र नहीं है? आपकी दृष्टि को अशुद्ध-बुद्धिवादी, वैज्ञानिक भौतिकवाद के विश्वासी उद्देश्य को भली प्रकार समझते हैं। अध्यात्मवाद अब तक जिस प्रकार जनता के प्रश्नों को टालता रहा, उस प्रकार अब वह नहीं टाल सकता। उसका विकृत स्वरूप स्पष्ट हो चुका है। बुद्धि सदा अंध-विश्वास के विरुद्ध विद्रोह करती रही और सदा अध्यात्मवादियों ने अन्ध-विश्वास की रक्षा का प्रयत्न किया। अत: आज अरविन्द की चुनौती को विज्ञान स्वीकार करता है और उसकी कल्पनाओं को विज्ञान स्वीकार नहीं कर सकता।

ईश्वर की सिद्धि का एक और प्रमाण अरविन्द यह देते हैं (जो उनका सबसे बड़ा प्रमाण माना जाता है) कि ईश्वर बुद्धि से गम्य नहीं है। भौतिकवादी बुद्धि से उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं जो असम्भव है। अतः उसे अन्र्चेतना (intuition) से समझना चाहिए।

When we speak of it as unknowable, we mean, realy, that it escapes the grasp of our thought and speach but if not knowable by thought, it is attainable by a supreme effort of consciousness certainly that knowledge can not be reproduced successfully in the terms of thought and speech [1]

[1] The Life Divine, Page 16.

नहीं मानता वह मूर्ख है" इस सिद्धान्त को यदि अरविन्द स्वीकार न करें तो उनका दर्शन कौन स्वीकार करे ?

It is well that we should recognise the enormous, the indispensable utility of the very brief period of rationalistic Materialism through which humanity has been passing For that vast field of of evidence and experience which now begins to reopen its gates to us, can only be safely entered when the intellect has been severely trained to a clear austerity, seized on by unripe minds [1]

तात्पर्य यह है कि भौतिकवाद को इस रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम उस आध्यात्मिक सत्ता के प्रमाण व अनुभव के क्षेत्र में जिसके द्वार अब खुल रहे हैं, तभी उतर सकते थे जब कि कच्ची बुद्धि वाले लोगों के द्वारा (स्पष्ट जडवादी दर्शन के द्वारा) मनुष्य की बुद्धि ट्रेण्ड करदी जाती । अब वैज्ञानिक जड़वाद के अभ्यास से हमारी बुद्धि ट्रेण्ड होकर अब बडी शीघ्रता से आन्तरिक रहस्यो की ओर उन्मुख हो रही है ।

यदि इसी का नाम समन्वय है तो मार्क्सवाद के विरुद्ध जागरूक प्रचार और आपके समन्वयवाद मे क्या अन्तर है ? जो लोग समझते हैं कि अरविन्द और साथ ही पन्त जी समन्वयवादी है, उन्हे देखना चाहिये कि सिद्धान्तत ये विचारक वस्तुतः मार्क्सवाद-विरोधी प्रचारक मात्र हैं । ये विज्ञान को अपरिपक्व बुद्धि का प्रतिफल कहते हैं जो एक प्रामाणिक ज्ञान है और रहस्यवादी युग के आगमन मे विश्वास प्रकट कर, उसका साहित्य द्वारा प्रचार कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरुद्ध जिहाद बोल रहे हैं । ये केवल कला-काव्य-साहित्य-दर्शन, व्याख्यान और अध्यापन का एकमात्र उद्देश्य यह मानते हैं कि आन्तरिक अनिश्चित, अप्रामाणित वैयक्तिक अनुभवों को सच्चा मान लिया जाय और विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान के स्थान पर उन योग साधनाओं का प्रचार हो, जो कभी भी सामाजिक नहीं हो सकी और न जिनका सामाजीकरण सम्भव है ।

[1] The Life Divine—page 15

गांधीजी के सम्मुख स्वतन्त्रता के आन्दोलन के समय सशस्त्र क्रान्ति के प्रोग्राम रखे जाते थे तो वक्ता तार्किक पद्धति का प्रयोग कर, इतिहास से प्रमाण उद्धृत कर अपने पक्ष को विद्वत्तापूर्वक पुष्ट करते थे किन्तु गांधी अन्तर्चेतना के बल पर उत्तर देते, नहीं, ईश्वर ही देश को आजाद करा देगा, अँगरेज शत्रु नहीं हैं, भटके हुए साथी हैं, अहिंसा ही हमारा अस्त्र होना चाहिए। यह निर्णय था अन्तर्चेतनावादी गांधी का, परन्तु क्या गांधीजी का यह ज्ञान रहस्यवाद था, नहीं, वह अराजकतावादियों से अधिक तर्कयुक्त था। सबल साम्राज्यवादी के सम्मुख निर्बल, अन्धविश्वासों से पीडित जनता का सङ्घर्ष सशस्त्र रूप से न चल सकेगा। अत: गांधी के अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान के नीचे परिस्थिति का यथार्थ अध्ययन व जनता की शक्ति का परिचय छिपा रहता था इसीलिये उससे सफलता मिलती थी। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वास्तविक परिस्थिति के विश्लेषण के बिना अन्तर्चेतना के बल पर कोई व्यक्ति वैज्ञानिक निर्णय दे सकता है। अत: अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान भी सापेक्ष ज्ञान है, उससे निरपेक्ष निर्णय नहीं हो सकते।

आलोचक कला के स्वरूप से परिचित होकर ही, कला-कृति पर वैज्ञानिक निर्णय दे सकता है। शिक्षक शिक्षाविधियों से परिचित करा कर भी आन्तरिक सूझ-बूझ के प्रयोग पर बल देता है क्योंकि नियम तो अनेक है उनमे से कौनसा नियम कहाँ लगेगा, कितनी सीमा तक उसका प्रयोग होगा यह सब बुद्धि पर निर्भर है। जो यान्त्रिक ढङ्ग से नहीं सोचते, देश, काल, पात्र का ध्यान रखते है, उन्हे ही अन्तर्चेतनात्मक ज्ञानी कहा जाता है। परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि वस्तुत: बुद्धि के ऐसे दो पृथक-पृथक विभाजन है? या अन्तर्चेतना से निरपेक्ष ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है, तार्किक बुद्धि से नहीं हो सकता। अत: अरविन्द व क्रोसे जैसे विचारक अन्तर्चेतनावाद का प्रचार कर अपने धर्म की रक्षा भले ही करले परन्तु उससे किसी ऐसी मानवीय शक्ति का पता नहीं चलता जिससे हम देश-काल. रहित निरपेक्ष सत्ताओं की सिद्धि कर सके। हाँ, अन्तश्चेतना के नाम पर कल्पना के पङ्खों पर बैठकर एक ऐसे मानसिक वातावरण की सृष्टि अवश्य कर सकते है जिसमे बैठकर जीवन की कटुता से बच कर ब्रह्मानन्द का सुख अनुभव करते रहें और समझते रहे कि यही जीवन का उच्च उद्देश्य है। वस्तुत: अरविन्द-दर्शन में धार्मिकों की

अर्थात् अवाङ्मनसगोचर ब्रह्म अंतर्चेतना के द्वारा समझा जा सकता है। प्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री क्रोसे ने मानवीय ज्ञान को दो भागों में बाँटा था–(१) तार्किक ज्ञान, (logical knowledge), (२)–अतर्चेतनात्मक ज्ञान (intuitive knowledge)। अरविन्द तो सामान्य जीवन मे बुद्धि से कार्य चलाना सम्भव मान लेते है परन्तु क्रोसे ने सामान्य व्यावहारिक जीवन मे भी अंतर्चेतनात्मक ज्ञान की अनिवार्यता पर जोर दिया और बतलाया कि एक राजनीतिज्ञ सूक्ष्म तर्क-पद्धति अपनाने वाले विचारक में दोष दिखाता है कि वह वास्तविक दशाओं से अपरिचित है, एक शिक्षक शिष्यों मे अर्चेतनात्मक ज्ञान की अनिवार्यता के विकास पर जोर देता है, एक समालोचक सूक्ष्म सिद्धान्तों को एक ओर रखकर इसी ज्ञान की ओर ध्यान खीचता है और कला के निर्णय मे अंतर्चेतनात्मक ज्ञान को ही मुख्य मानता है, व्यावहारिक व्यक्ति तर्क पर नही आतरिक सूझ पर ही जीवित रहने के लिए कहता है—

The politician finds fault with the abstract reasoner, who is without a lively knowledge of actual conditions, the pedagogue insists upon the necessity of developing the intuitive faculty in the pupil before everything else, the critic in judging a work of art makes it a point of honour to set aside theory and abstractions, and to judge it by direct intuition than by reason[1]

जिस आन्तरिक सूझ-बूझ की व्यावहारिक जीवन मे आवश्यकता पडती है, वह वस्तु व व्यवहार पर निर्भर होती है, आकाश से उत्पन्न होकर आकाश की ओर नही ले जाती, इसे क्रोसे महोदय भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह नही है कि अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान (जो दूरदर्शिता प्राप्त तथ्यों के आधार पर भविष्य कथन, सूझ-बूझ आदि के रूप में प्रकट होता है) के नीचे बुद्धि का अश नहीं रहता, वह बुद्धि का ही एक कार्य है, चिन्तन-शक्ति का एक रूप मात्र, उसमें तर्क व अन्तर्चेतना के सर्वथा पृथक विभाजन नहीं है। जब

[1] Theory of Aesthetic—page 2.
(Benedetto Croce)

गाधीजी के सम्मुख स्वतन्त्रता के आन्दोलन के समय सशस्त्र क्रान्ति के प्रोग्राम रखे जाते थे तो वक्ता तार्किक पद्धति का प्रयोग कर, इतिहास से प्रमाण उद्धृत कर अपने पक्ष को विद्वत्तापूर्वक पुष्ट करते थे किन्तु गांधी अन्तर्चेतना के बल पर उत्तर देते, नहीं, ईश्वर ही देश को आज़ाद करा देगा, अँगरेज शत्रु नहीं हैं, भटके हुए साथी हैं, अहिंसा ही हमारा अस्त्र होना चाहिए। यह निर्णय था अन्तर्चेतनावादी गांधी का, परन्तु क्या गांधीजी का यह ज्ञान रहस्यवाद था, नहीं, वह अराजकतावादियों से अधिक तर्कयुक्त था। सबल साम्राज्यवादी के सम्मुख निर्बल, अन्धविश्वासों से पीडित जनता का सङ्घर्ष सशस्त्र रूप मे न चल सकेगा। अत गांधी के अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान के नीचे परिस्थिति का यथार्थ अध्ययन व जनता की शक्ति का परिचय छिपा रहता था इसीलिये उसमे सफलता मिलती थी। इसका अर्थ यह नहीं होगा कि वास्तविक परिस्थिति के विश्लेषण के बिना अन्तर्चेतना के बल पर कोई व्यक्ति वैज्ञानिक निर्णय दे सकता है। अत अन्तर्चेतनात्मक ज्ञान भी सापेक्ष ज्ञान है, उससे निरपेक्ष निर्णय नहीं हो सकते।

आलोचक कला के स्वरूप से परिचित होकर ही, कला-कृति पर वैज्ञानिक निर्णय दे सकता है। शिक्षक शिक्षाविधियों से परिचित करा कर भी आन्तरिक सूझ-बूझ के प्रयोग पर बल देता है क्योंकि नियम तो अनेक है उनमे से कौनसा नियम कहाँ लगेगा, कितनी सीमा तक उसका प्रयोग होगा यह सब बुद्धि पर निर्भर है। जो यान्त्रिक ढङ्ग से नहीं सोचते, देश, काल, पात्र का ध्यान रखते है, उन्हे ही अन्तर्चेतनात्मक ज्ञानी कहा जाता है। परन्तु इससे यह कैसे सिद्ध हुआ कि वस्तुत बुद्धि के ऐसे दो पृथक-पृथक विभाजन है ? या अन्तर्चेतना से निरपेक्ष ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है, तार्किक बुद्धि से नहीं हो सकता। अत अरविन्द व क्रोसे जैसे विचारक अन्तर्चेतनावाद का प्रचार कर अपने धर्म की रक्षा भले ही करलें परन्तु उससे किसी ऐसी मानवीय शक्ति का पता नहीं चलता जिससे हम देश-काल, रहित निरपेक्ष सत्ताओं की सिद्धि कर सकें। हाँ, अन्तश्चेतना के नाम पर कल्पना के पङ्खों पर बैठकर एक ऐसे मानसिक वातावरण की सृष्टि अवश्य कर सकते है जिसमे बैठकर जीवन की कटुता से बच कर ब्रह्मानन्द का सुख अनुभव करते रहें और समझते रहे कि यही जीवन का उच्च उद्देश्य है। वस्तुत अरविन्द-दर्शन में धार्मिकों की

कल्पना को सन्तुष्ट करने का वैज्ञानिक प्रयत्न किया गया है।

अरविन्द इसी सापेक्ष अन्तर्चेतना को निरपेक्ष समझ कर विज्ञान की मनमानी व्याख्या कर कहते हैं कि विज्ञान की गति वैदिक अद्वैतवाद की ओर आ रही है। साथ ही दुर्जन-तोष-न्याय का प्रयोग कर कहते हैं कि यदि यह चेतना व पदार्थ का द्वैत भी मान लिया जाय तो भी अद्वैतवाद की स्थापना में कोई बाधा नही पड़ती क्योंकि 'मैटर' इन्द्रियों के लिए अस्तित्त्व रहित पदार्थ है और साख्य-दर्शन के प्रधान तत्त्व (प्रकृति) की तरह केवल विचार का विषय है।[१]

पाठक देख चुके हैं कि चेतना व पदार्थ का द्वैत पदार्थ को न समझने के कारण उत्पन्न होता है परन्तु अरविन्द इस रूप मे अद्वैत को नही मानते। वे तो अतिवाद की कल्पना इस प्रकार कर लेते हैं कि एक चेतना को नही मानता (विज्ञान) दूसरा जड़-तत्त्व को नही मानता (मायावाद आदि दर्शन)। स्पष्ट है कि इस प्रकार पदार्थ की गलत व्याख्या की गई है। साथ ही अरविन्द यह भी कहते हैं कि चूँकि पदार्थ इन्द्रियों से परे एक सूक्ष्म अज्ञेय शक्ति है और ईश्वर भी एक अज्ञेय शक्ति है, तब पदार्थ को ईश्वर की ही शक्ति क्यों नही मान लेते। शिव व शक्ति के रूप मे शास्त्रों में ईश्वर व प्रकृति का वर्णन भी किया गया है। परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि पदार्थ इन्द्रियों से न दिखाइ पड़ने पर एक रहस्यात्मक अज्ञेय पदार्थ नही है क्योंकि उसकी गति व विकास को हम स्पष्ट प्रयोगों के द्वारा देख सकते हैं, विज्ञान ने यह हमे बताया है। अत पदार्थ को ईश्वर की शक्ति मानने का प्रश्न ही नही उत्पन्न होता।[२]

---

[१] Matter is a thing non-existent to the senses and only like the Pradhana of the Sankhyas, a conceptual form of substance

(The Life Divine—page 21.)

[२] 'पदार्थ' के आधार पर भौतिकवादियो की व्याख्याओं मे ईश्वरादि बाह्य शक्तियों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जगत ब्रह्म की माया या दूध से विकृत दही की तरह अभिव्यक्ति नहीं है। बल्कि जगत में एक प्रक्रिया (process) दिखाई पड़ती है। जगत के विकास को विज्ञान समझाने मे पूर्ण समर्थ है। अतः इस विकास-प्रक्रिया को समझ लेने पर ईश्वरादि

परन्तु इससे अरविन्द को कोई तात्पर्य नहीं। उनका उद्देश्य है जगत की सत्ता मानते हुए ईश्वर-आत्मा की सिद्धि, वैदिक ऋषियों की गवाही पर वे कहते हैं—Matter expresses itself eventualy as a formulation of some unknown Force. Life, too, that yet unfathomed mystery, begins to reveal itself *as an obscure* energy of sensibility, imprisoned in its material formulation and when the dividing ignorance is cured which gives us the sense of a gulf between life and matter, it is difficult to suppose that mind, life and matter will be found to be anything else than one Energy triply formulated, the triple world of the Vedic seers.

अरविन्द के सम्पूर्ण दर्शन का आधार पदार्थ की गलत व्याख्या पर निर्भर है। यदि पदार्थ एक अज्ञेय शक्ति है तो जीवन-शक्ति भी एक रहस्यात्मक शक्ति है जो जड़ पदार्थों के बन्धन मे अवस्थित हैं। जीवन-शक्ति व जड-तत्त्व के बीच वस्तुतः कोई विभाजक शृङ्खला नही

की कल्पना व्यर्थ हो जाती है। 'पदार्थ' मूलरूप में शक्ति है बिजली की लहर की तरह, गतिमात्र। यह मूल शक्ति ब्रह्म की इच्छा आदि न होकर ऐसी वस्तु है जिसके नियमों का पता वैज्ञानिकों ने लगा लिया है जो एक अज्ञेय पदार्थ नहीं है। पदार्थ की विकास-प्रक्रिया में अनेक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, गुणात्मक परिवर्तन के कारण ही हमें चिन्तन शक्ति प्राप्त हुई है। अतः इस चेतना को पदार्थ से विकसित मानना चाहिये। चेतना का प्रत्येक रूप गतिवान पदार्थ का विशिष्ट विकसित रूप है। परन्तु चेतना को पदार्थ से विकसित इस रूप में न मानकर 'पदार्थ' = गति = शक्ति को अरविन्द ब्रह्म की इच्छा बताने लगते हैं। यह सहसा भौतिक पदार्थ से कूदकर 'आध्यात्मिक' तत्त्व पर पहुँच जाने की प्रवृत्ति के कारण ही है। अतः अरविन्द का दर्शन मान्य नहीं हो सकता।

The world consists of processes of qualitively unique movements of matter. The quality of a thing is given by the particular kind of movement that is fundamental to it. (Marxist Philosophy)

है परन्तु अज्ञान के कारण हम उसे अलग-अलग मानते हैं किन्तु ज्ञान की दृष्टि से देखने पर मैटर, लाइफ व माइंड तीनों एक ही शक्ति के तीन रूप हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। वैदिक ऋषि भी यही कहते हैं। कितनी वैज्ञानिक खोज है? समन्वय की कैसी चातुर्य से युक्त स्थापना की गई है जबकि इस स्थापना का आधार ही—पदार्थ एक अज्ञेय अतीन्द्रिय पदार्थ है—गलत है। जब पदार्थ एक ज्ञेय पदार्थ है, उसके विकास की प्रक्रिया से जब हम परिचित हैं, हम जानते हैं कि जीवन-शक्ति व मन पदार्थ के गुणात्मक परिवर्तन मात्र हैं, तब यह प्रश्न ही नही उठता कि वैदिक ऋषियो की गवाही प्रमाणित करने के प्रयत्न में हम यह मान बैठे कि पदार्थ, जीवन और मन एक ही शक्ति (ब्रह्म) के तीन रूप हैं। इसलिये हमने अरविन्द को रहस्यवादी कहा है, दार्शनिक नही। यहाँ तर्क नही, दुराग्रहों व पूर्वाग्रहों का कोलाहल अधिक है।

अरविन्द फिर कहते है कि जब एक ही शक्ति के पदार्थ, जीवन व मन तीन रूप हैं तो पदार्थ से मन की उत्पत्ति हुई, यह गलत है, क्योंकि जो शक्ति जगत का निर्माण करती है वह इच्छा हो सकती है और इच्छा केवल चेतना ही हो सकती है जो स्वय अपने को कार्य व परिणाम के लिए प्रयुक्त करती है।[1]

अरविन्द कहते हैं कि भौतिकवादी जल्दबाज व सुविधावादी दार्शनिक हैं परन्तु स्वय वह क्या करते हैं? यहाँ कई असङ्गतियाँ दर्शनीय हैं—

१—पदार्थ अज्ञेय पदार्थ नही है वह सूक्ष्म पदार्थ होने पर भी पदार्थ ही रहता है, एक शक्ति मात्र जिसके अपने नियम हैं।

२—यह शक्ति "इच्छा" कभी नहीं कहला सकती क्योंकि हाइड्रोजन + आक्सीजन = जल, इस प्रक्रिया मे गैस स्वत सचालित नियम के अनुसार कार्य करती है। कोई विशेष इच्छा यहाँ छिपी हुई नहीं है। प्रकृति के सारे कार्य इसी प्रकार चल रहे हैं।

---

[1] Nor will the conception be able to endure of a brute material force as the mother of Mind The energy that creates the world can be nothing else than a will and will is only consciousness applying itself to a work and a result

(The Life Divine, page 22)

३—जब पदार्थ की शक्ति इच्छा नहीं है तब वह चेतन भी नहीं हो सकती। अत किसी इच्छा-युक्त ब्रह्म की कल्पना इस जगत के पीछे करना अस्वाभाविक है।

अरविन्द इतने से ही सन्तोष न कर फिर समाधान खोजते हैं कि—

१—इच्छा=चेतन शक्ति=ब्रह्म का कार्य व परिणाम यही हो सकता है कि वह आकार के रूप मे (जगत के रूप मे) अपना विकास करे।

२—मनुष्य के मन में अवस्थित इच्छा का उद्देश्य यही हो सकता है कि वह अन्तर-स्थित इच्छा-शक्ति के ऊपर पड़े बन्धनों को तोड दे। ज्ञान की सीमा का विस्तार करे, जब कि विज्ञान स्वय मृत्यु पर विजय के स्वप्न देखता है, तो क्यों न मनुष्य अन्त करण स्थित चेतना को मुक्त कर इसी जीवन मे अमरता का आनन्द उठाए।[1]

उपर्युक्त दोनों समाधान गलत हैं। क्योंकि—

१—ब्रह्म अन्ततः क्यों जगत का आकार धारण करता है? यदि कहो वह सर्वतोकाम है, उसकी इच्छाए उसी मे पूर्ण है, तो यह उत्तर असन्तोष जनक है। यदि कहो लीला के लिए तो यह 'लीलावाद' उत्तर नहीं, मन समझाने का प्रयत्न है और ऐसे प्रयत्न आदर्शवादियों ने बहुत किए हैं अत. यह गलत है कि ब्रह्म किसी इच्छा से जगत के रूपमे परिवर्तित हो सकता है। इससे अच्छा उत्तर तो शङ्कराचार्य ही देते हैं जो केवल एकसत्ता को मानते हैं। कार्य-कारण वाद को मानने से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, शङ्कर ने यह दिखाया है। अतः सृष्टि का निषेध करके ही ब्रह्म की सत्ता सिद्ध हो सकती है। अरविन्द दोनों को मानना चाहते है। अत. उन्हे विज्ञान की व्याख्या को तोड़ना-मरोडना पड़ा है। इसीलिए उनका ब्रह्म कार्य व परिणाम का विषय बनता है और साथ ही ब्रह्म को इन सबसे ऊपर भी कहा गया है।

२—मनुष्य के मन में इच्छा (will) का अर्थ ज्ञान की प्यास, आनन्द की प्राप्ति, जीवन-रक्षा आदि अवश्य है पर वह ज्ञान अनन्त व निरपेक्ष नहीं है। विज्ञान यदि मृत्यु को जीतने का प्रयत्न करता है तो उसका प्रयत्न स्पष्ट व प्रयोगात्मक पद्धति पर निर्भर करता है जबकि रहस्यवादियों के प्रयत्न अनिश्चित व असामाजिक पद्धति पर निर्भर

[1] देखिए 'भागवत जीवन'—पृष्ट २२।

होते हैं और फिर यदि योग-साधना द्वारा शरीर का तेज बढ़ता है, बुद्धि व स्मरण शक्ति बढ़ती है, यदि प्राणायाम आदि से जीवन शक्ति बढ़ती है तो इसमें ईश्वर की मान्यता की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। योगी ईश्वरवादी भी हो, यह भारतवर्ष में कभी अनिवार्य नहीं रहा। ईश्वर की भावना के विकास के पूर्व भी यहाँ योग था, यह इतिहास से प्रमाणित हो चुका है। मनुष्य निश्चित रूप से यौगिक-क्रियाओं से आसन, प्राणायामादि से स्वास्थ्य लाभ कर सकता है, परन्तु इससे ईश्वर का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

अरविन्द भौतिकवाद की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि चूँकि ईश्वर अन्तर्चेतना का विषय है और भौतिकवादी इन्द्रियों तक ही अपने ज्ञान को सीमित रखना चाहते है। अत भौतिकवादी युग में कभी भी अतर्चेतनात्मक ज्ञान के विकास की सम्भावना नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु भौतिकवादी ज्ञान की प्यास रखते हैं अत उन्हे वे इन्द्रियों तक रोक ही नहीं सकते। स्वय नवीन युगों में भौतिकवाद अतीन्द्रिय सत्ता की खोज के लिए अतर्चेतना को स्वीकार कर लेगा।[1] इस भविष्यवाणी के सिद्ध होने में न जाने क्यों देर हो रही है?

पूर्वाग्रहवादी आदर्शवादी दार्शनिकों की भाँति अरविन्द को भी अपने पूर्वाग्रह—ब्रह्म और जगत की सत्ता सिद्ध करनी थी। अत. वे विभाजन व सोपान के सिद्धान्तों द्वारा इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करते है। इसीलिए उनमें अंतर्विरोध व असंगतियों की भीड खडी हो जाती है। ब्रह्म-ईश्वरादि के सम्बन्ध में यदि कोई प्रश्न करे कि क्या मानवीय बुद्धि सर्वथा निरपेक्ष तत्त्व को समझाने में असमर्थ है? तो अरविन्द उत्तर देंगे कि यह अयोग्यता है अवश्य, परन्तु है यह अशुद्ध बुद्धि (Impure Reason) की, शुद्ध बुद्धि की नही। अरविन्द के अनुसार विज्ञान के क्षेत्र में जो प्रयोग होते हैं वे अशुद्ध-बुद्धि द्वारा होते हैं। अत' वे एक सीमित क्षेत्र तक ही कार्य कर सकते हैं परन्तु शुद्ध बुद्धि निरपेक्ष पदार्थ का भी ज्ञान प्राप्त कर सकती है। इसीलिए 'बुद्धि ग्राह्यम् अतीन्द्रियम्' कहा गया है अर्थात् ब्रह्म इन्द्रयों से नही, बुद्धि से ग्राह्य है। सांसारिक कार्यों में, विज्ञान के प्रयोगों में जिस बुद्धि द्वारा कार्य होता है, वह अशुद्ध है। वह समग्र दृष्टि से विचार नहीं कर सकती।

[1] देखिए 'भागवत जीवन', पृष्ठ २०

वह वस्तुओं का विश्लेषण करती है, परन्तु संश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार न कर सकने के कारण ब्रह्म आदि की सत्ता के सम्बन्ध में वह असमर्थ हो जाती है परन्तु शुद्ध बुद्धि इस इन्द्रिय-ज्ञान की विविधिता व खंडता के नीचे रहने वाली एकता व अखंडता को खोज लेती है। अत अरविन्द कहते हैं.—The complete use of pure reason brings us finally from physical to a metaphysical knowledge.

अरविन्द के अनुसार शुद्ध बुद्धि निरपेक्ष ज्ञान है यद्यपि इसका आधार सापेक्ष जगत ही है। यह अंतर्विरोध है। मनुष्य की शुद्ध बुद्धि यदि निरपेक्ष है तो योगियों को, जिनमें शुद्ध बुद्धि सर्वदा जागृत रहती है उन सारे तथ्यों से परिचित होना चाहिए जिनके लिए प्रयोग शालाओं में वैज्ञानिक वर्षों पसीना बहाते हैं, या शुद्ध बुद्धि व अशुद्ध बुद्धि के कार्य इतने अलग-अलग हैं कि शुद्ध बुद्धि वाले योगी द्वारा अशुद्ध बुद्धि से होने वाले कार्यों को करना ही नहीं चाहते। परन्तु अरविन्द तो समन्वयवादी हैं, वे निषेधवादी नहीं हैं। अत योगियों को योग-शक्ति के चमत्कार का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में करना चाहिए या योगी केवल कल्पना की दुनियाँ में रमण को ही शुद्ध बुद्धि का कार्य मानते हैं। स्पष्ट है कि शुद्ध बुद्धि या अशुद्ध बुद्धि जैसे विभाजन स्वीकृत नहीं हो सकते, शुद्ध बुद्धि भी सापेक्ष्य रूप से ही कार्य करती है।

परन्तु शुद्ध बुद्धि से भी अरविन्द का कार्य नहीं चलता क्योंकि वे स्वय प्रश्न उठाते हैं कि दार्शनिक पदार्थ (ईश्वरादि) केवल शुद्ध बुद्धि के विषय हैं, परन्तु हमारी प्रकृति इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ को देखती है। वह आध्यात्मिक पदार्थों को विचार (idea) व तथ्य (fact) दो रूपों मे देखती है। अत जब तक आध्यात्मिक पदार्थ हमारे अनुभव नहीं बन जाते तब तक वे हमारी प्रकृति के अङ्ग नहीं बन सकते। इसलिए इस 'अनुभव' के लिए हमे किसी अन्य शक्ति की आवश्यकता है, वह शक्ति क्या है ? अन्तर्चेतना (intuition)। इसका प्रमाण क्या है ?

प्रमाण यह है कि हमारे कार्य मिश्रित व निरपेक्ष दो प्रकार के कार्यों में विभाजित हैं (पुनः विभाजन)। मिश्रित कार्यों को मन इन्द्रियों के माध्यम से करता है परन्तु निरपेक्ष या स्वतन्त्र कार्यों को एकात्मक अनुभूति से अन्तर्चेतना द्वारा करता है यथा हम अपने मनोभावों आदि से परिचित होते हैं। "मैं हूँ, मेरी सत्ता है" ऐसे अनुभव अन्तर्चेतना द्वारा होते हैं। इनमें इन्द्रिय-ज्ञान को माध्यम बिना बनाए

हुये ही अन्तरात्मा अनुभव कर लेता है। इसे अरविन्द knowledge by identity कहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा ब्रह्मादि का ज्ञान हमें होता है। अरविन्द कहते हैं कि मनोविज्ञान इस ओर संकेत करता है, जबकि मनोविज्ञान सारे कार्य मन से ही होते है, ऐसा ही मानता है। आत्म-रक्षा की भावना मनुष्य मे अरविन्द के अनुसार अन्तर्चेतना से ही होती है परन्तु यह भावना आप सामान्य केचुवे तक में पाते है। तब क्या मानना होगा कि केचुवे मे भी अन्तर्चेतना या intuition जागृत हो जाती है। स्पष्ट है कि मन की शक्तियों का ऐसा पंचायती विभाजन गलत है। यह अरविन्द द्वारा अपने प्रिय-आध्यात्मिक पदार्थों की सिद्धि के लिए कर लिया गया है। मानवीय चेतना का प्रत्येक ऊँचा नीचा रूप सापेक्ष है।

अरविन्द के लिए जागृत मन निम्नकोटि की दशा है, क्योंकि उसके नीचे अव्यक्त मन (subliminal) का पता हमे नहीं रहता। जो असली मन है जिसमे संश्लेपणात्मक शक्ति है। इस अव्यक्त मन के परे भी कई मन हैं, वेचारे फ्राइड ने तो अवचेतन, उपचेतन का ही पता लगा पाया, अरविन्द ने अव्यक्तमन और उसके परे अनेक चेतना-स्तरों की कल्पना कर सबसे ऊपर के स्तर पर सुपरमाइण्ड को रख दिया जहाँ से चेतना सीढ़ी प्रति सीढ़ी नीचे उतरती हुई (मन, जीवन (life) व जड़-तत्त्व इस क्रम से उतरती हुई) जीवात्मा के रूप मे वन्द होगई और लीला प्रारम्भ होगई। कोई पूछे कि आखिर आपके इन सोपानों का प्रमाण क्या है ? उत्तर मिलेगा, शुद्ध बुद्धि जगाओ, शास्त्रों मे विश्वास करो, अशुद्ध बुद्धि के स्तर से ऊपर उठो, प्राणायाम करो, अनुभूति जाग जायगी और चारों ओर एक शक्ति की अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगेगी। 'गालिब' समझदार कवि था उसने कहा था—"दिल के बहलाने को गालिब यह खयाल अच्छा है।"

अरविन्द दर्शन विज्ञान के लिए चुनौती है। वह बार-बार जड-तत्त्व या पदार्थ की गलत व्याख्या करके यह सिद्ध करने मे मग्न रहता है कि बिना ब्रह्म के जगत की व्याख्या सम्भव नहीं है। एक ओर तो अरविन्द शङ्कर के मायावाद का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर विज्ञान का और अपनी व्याख्या के लिए सांख्य-दर्शन का सहारा पकडते हैं और उसे आज के विज्ञान के पूर्ण निकट बतलाते हैं। अरविन्द की यह समझ मे ही नहीं आता कि 'पदार्थ' स्वतन्त्र

सत्ता है उसमे ऊँची-चेतना का विकास सर्वथा सम्भव है। वे कहते हैं—

Materialism indeed insists that, whatever the extention of consciousness, it is a material phenomenon in-separable from our physical organs and not their utiliser but their result This orthodox contention, however, is no longer able to hold the field against the tide of increasing knowledge Its explanations are becoming more and more inadequate and strained It is becoming always clearer that not only does the capacity of our total consciousness for exceeded that of our organs, the senses, the nerves, the brain, but that even for our ordinary thought and consciousness, these organs are only their habitual instrument and not their generators. Consciousness uses the brain which its upward strivings have-produced, brain has not produced nor does it use the consciousness

अरविन्द के अनुसार विज्ञान यह मानता है कि मानवीय चेतना इन्द्रियों के साथ अभिन्न रूप से सयुक्त है, यह चेतना स्वतन्त्र नहीं है और उसके अनुसार यह मत अप्रामाणिक होता जा रहा है क्योंकि ज्ञान का ज्वार बढता जा रहा है। यह स्पष्ट होता जा रहा है कि सामान्य अनुभवों के लिए भी हमारी इन्द्रियाँ साधन मात्र है जिनका प्रयोग मानवीय चेतना करती है। मस्तिष्क चेतना को उत्पन्न नहीं करता, न चेतना का उपयोग करता है, चेतना स्वय मस्तिष्क का उपयोग करती है।

विज्ञान कम से कम अब तक तो चेतना को निरपेक्ष नहीं मानता, न जगत के अनुभवों की व्याख्या के लिए किसी निरपेक्ष चेतना की आवश्यकता का अनुभव होता है। यदि वस्तुत कोई ऐसी निरपेक्ष चेतना है तो पदार्थ से उसके विकास दिखाने की क्या आवश्यकता थी ? बिना विकासवाद मे विश्वास प्रकट किए हुए ही केवल उसी को मानकर अन्य सब अनुभवों को शङ्कर की तरह मिथ्या घोषित करने मे क्या हानि होती ? कम से कम तर्क की रक्षा तो हो जाती।

एक ओर विकास को स्वीकार करना और दूसरी ओर चेतना की निरपेक्षता सिद्ध करना, उसे मनमाने कटघरों में बाँट देना 'समन्वय वाद' को असङ्गत सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। यदि विज्ञान अनुभवों की व्याख्या करने में असमर्थ है तो आपका यह विभाजनवाद तथा सापेक्षतावाद के नाम पर चेतना का निरपेक्षतावाद तो और भी असमर्थ है।

हमने पीछे देखा है कि विज्ञान किस प्रकार चेतना का विकास पदार्थ के एक नवीन गुण के रूप में मानता है अत उसकी पुनरावृत्ति यहाँ उचित नही है। अरविन्द के कह देने से विज्ञान असमर्थ सिद्ध नही हो सकता। जो विज्ञान शास्त्रों के अध-विश्वास को न मानकर प्रयोगों की सचाई पर विश्वास करता हे वह परम्परावादी है और ऋषियों के जगत की व्याख्या के सम्बन्ध में कोरे अनुमानों को सही मानने वाले अरविन्द सच्चे वैज्ञानिक हैं—इससे बड़ा झूठ शायद ही कोई हो। विज्ञान की सबसे बडी महत्ता ही यह है कि वह शब्द-प्रमाण को स्वीकार न कर अपनी परीक्षा पर विश्वास करता है और उससे प्राप्त तथ्यों को शास्त्र के आधार पर अरविन्द अस्वीकार कर देते हैं, यह orthodoxy नही तो और क्या है ?

अरविन्द कहते हैं कि मैटर एक शक्ति है और यह शक्ति स्वत कुछ नहीं कर सकती। साँख्य-शास्त्र में भी प्रकृति को एक शक्ति माना गया है परन्तु तब भी यह शक्ति एक भौतिक तत्त्व ही है, मैटर मात्र। अत किसी अभौतिक पदार्थ की कल्पना के बिना विकास नहीं समझाया जा सकता। साख्य इसीलिए महत् व अहकार की कल्पना करता है और वे दोनों गुण भी पुरुष के (आत्मा) के सम्पर्क से उत्पन्न होते हैं। इसलिये विना पुरुष के सम्पर्क के प्रकृति निष्क्रिय है, यह सांख्य मानता है। अरविन्द के अनुसार यह व्याख्या विज्ञान के निकटतम है। इसी प्रकार आज का विज्ञान जो मैटर को मूल-सत्ता मानता है और जो एक शक्ति (force) मात्र है, स्वय कुछ नहीं कर सकता जब तक ब्रह्म का सम्पर्क इसे प्राप्त नहीं हो जाता, ऐसा मानना चाहिए क्योंकि शक्ति मे जो गति (Movement) उत्पन्न होता है, वह क्यों उत्पन्न होता है ? इसका उत्तर तभी दिया जा सकता है जब कि वेदान्त का यह मत स्वीकार कर लिया जाय कि शिव-काली, ब्रह्म व

शक्ति या शक्ति (force) व जीवन सत्ता (existence) एक हैं।[1] क्योंकि यह भावना गलत है कि मैटर (force) और असीमित सत्ता (existence) इन दोनों मे विरोध है।[2]

अरविन्द के कहने का तात्पर्य यह है कि हमे मैटर व ब्रह्म को एक साथ संयुक्त मान लेना चाहिए। शक्ति व चेतना अविभाजित और एक हैं। यह नहीं मानना चाहिए कि पहले मैटर की सत्ता न थी या बाद में मैटर का विकास हो गया। वस्तुत मैटर व चेतना दोनों एक है, सदा साथ रहते हैं।

मैंने कहा है कि अरविन्द विज्ञान की गलत व्याख्या कर अपने अध्यात्मवाद की सिद्धि करते हैं। पहली बात यह कि सांख्य स्पष्ट द्वैत-वाद पर आधारित हैं अतः इसे स्वीकार करने में अनेकों बाधाएँ उपस्थित होती हैं। शङ्कराचार्य ने विस्तार से साख्य का इसीलिए खण्डन किया है। किन्तु अरविन्द तो शङ्कर को स्वीकार नहीं करते इसीलिए वह कहते हैं कि सांख्य विज्ञान के निकट है। इसका उत्तर यह है कि विज्ञान मे द्वैतवाद ग्राह्य नहीं है। विज्ञान मे प्रकृति स्वत सारे कार्य करती है, किसी बाह्य पुरुष या आत्मा के सम्पर्क की आवश्यकता उसे नही है, प्रकृति के नियम सर्वथा चेतना से स्वतन्त्र है जिनके अनु-सार स्वत कार्य होता रहता है। उन नियमों का पता हम लगा सकते हैं, यथा यह नियम कि 'पदार्थ' की विकास-प्रक्रिया मे अनेक नवीन गुणों का उदय होता है। यह विविधता व सकुलता से युक्त जगत 'पदार्थ' के विकास का ही परिणाम है और 'पदार्थ' मे कोई चेतना पहले से नहीं मिली रहती न वह अज्ञेय पदार्थ है—यह हम सिद्ध कर चुके है। अत यह काली या शक्ति स्वत किसी शिव की अपेक्षा किए हुए कार्य करती है। इसमें शिव रहता नहीं है, बाद मे मन के रूपमें चेतना रूपी शिव का विकास होता है। अतः अरविन्द की व्याख्या गलत है और जगत की व्याख्या के लिए यह स्वीकार नहीं

[1] Force is inherent in existence—page 125

[2] For it is impossible to suppose that force is a thing alien to the one and Infinite existence .
The Life Divine—Page 125.

किया जा सकता कि पदार्थ जीवन-सत्ता मे पहले से ही अवस्थित है। बात यह है कि अरविन्द यह नही मानते कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है जो वस्तुत विज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध है। हम पहले ही रङ्गहीन पदार्थों के मिलने से रङ्ग की उत्पत्ति की बात कह चुके हैं। अत मानवीय चेतना को बीज रूप मे पदार्थ मे मानने की कोई आवश्यकता नही है। परन्तु अरविन्द का आस्थाशील मन कैसे स्वीकार करे ? अत वह अन्तर्चेतना के आधार पर यह बार-बार सिद्ध करना चाहते हैं कि बीज रूप में चेतना को पदार्थ के साथ संयुक्त मानना चाहिए और जो इसे नही मानते वे अशुद्ध बुद्धि के शिकार हैं। वेदान्त का सत्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए और साथ ही उस वेदान्त का जिसके एक रूप को अरविन्द मानते हैं।

अरविन्द पदार्थ को एक स्थिर वस्तु मान लेते हैं। उसमे गति (Motion) कहाँ से आई ? क्यों उत्पन्न हुई ? इसका उनकी दृष्टि से एकमात्र उत्तर है प्रभु की इच्छा से, दिव्य-प्रेरणा से जो जीवन-सत्ता के रूपमें पदार्थ के साथ है। यह सब उलझन पदार्थ की गलत व्याख्या से हुई।

आधुनिक विज्ञान मानता है कि Force तथा Motion सयुक्त हैं। अरविन्द पदार्थ व Motion के बीच में व्यर्थ की उलझन खडी कर देते हैं और मैटर को जीवन-सत्ता में अवस्थित बतलाते हैं जैसा कि उनका वेन्दात कहता है। यही कारण है कि वह सहसा पदार्थ को ब्रह्म के साथ संयुक्त कर ज्ञेय व अज्ञेय का घोल तैयार कर देते हैं।

अरविन्द Force की दो स्थितियाँ बतलाते हैं १—स्थिरता २—गति। इसमे गति तो मैटर का स्वभाव हो है। वह कभी स्थिर नही रहता, जगत तभी सर्वदा परिवर्तन-शील रहता है। परिवर्तन के प्रवाह का नाम ही जगत है, स्थिरता आने का प्रश्न ही यहाँ नही है। अरविन्द के लिए 'गति' (Movement) भी एक कृत्रिम अभिनय है। चूँकि Force को वह ब्रह्म के साथ सयुक्त कर देते हैं और ब्रह्म एक समुद्र के समान शास्त्रों मे कहा गया है। अत लहर के समान जो गति उसमें उत्पन्न होती है वह उसकी इच्छा (will) से ही उत्पन्न होती है और चूँकि लहर कृत्रिम है, समुद्र सच्चा है, अत गति कृत्रिम है।

यह निर्णय शकर के निर्णय के समान है जिसमे नाम-रूपात्मक

जगत को मिथ्या माना है[1]। परन्तु अरविन्द कहते हैं कि यह समुद्र व लहर का प्रतीक भी विवशता से ही स्वीकार किया गया है। (We are speaking in inadequate language) क्योंकि अरविन्द मानते हैं समुद्र भी सच्चा है और लहर भी। ऐसे अंतर्विरोध अरविन्द-दर्शन की विशेषतायें हैं। अरविन्द कहेंगे कि यह अंतर्विरोध नहीं है क्योंकि लहर समुद्र की ही उपज है अत वह भी सत्य ही है परन्तु उतनी सत्य नहीं जितना समुद्र सत्य है। तब भी कुछ अंतर नहीं पड़ता क्योंकि शंकर व्यावहारिक दृष्टि से जगत को सच्चा मानते ही थे, पारमार्थिक दृष्टि से ही उन्होंने जगत का विरोध किया है। परन्तु अरविन्द पारमार्थिक दृष्टि से भी 'लहर' को कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों मानते हैं। वस्तुतः कल्पना के आधार पर दर्शन व तथ्यों के आधार पर विज्ञान इन दोनों के दो ही पक्ष हो सकते हैं—(१) चेतना सत है और मैटर असत् या (२) मैटर सत है और चेतना उसी मे विकसित गुण है।

प्रथम पक्ष शङ्कर जैसे अध्यात्मवादियों का है, दूसरा विज्ञान का पक्ष है। यह स्पष्ट है कि इन दोनों मे समझौता नहीं हो सकता। यदि आप चेतना को स्वतन्त्र और निरपेक्ष मानते हैं तो उससे जड-जगत का विकास नहीं माना जा सकता और उसे सत्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे अनेक विरोध खड़े हो जाते हैं। यदि आप विज्ञान के साथ हैं तो यह मानना ही होगा कि जड-तत्त्व स्वतन्त्र है, उससे चेतना का विकास सम्भव है। लेकिन अरविन्द इन दोनों मे मनमाना समन्वय इसलिए स्थापित करना चाहते हैं कि शास्त्रों मे चेतना को स्वतन्त्र माना गया है, साथ ही 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' भी कहा गया है और शङ्कर ने इसकी अपने अनुकूल व्याख्या कर ली थी। अत वे चेतना को ही सत्य मानते रहे, परन्तु अरविन्द जीव व ब्रह्म की एकता भी दिखाना चाहते हैं, जगत की सत्ता भी सिद्ध करना

---

[1] An eternal self-concentration of force in immutable existence with a superficial play of movement, change and formation like the rising and falling of waves on the surface of the ocean

The Life Divine, Page 126

किया जा सकता कि पदार्थ जीवन-सत्ता मे पहले से ही अवस्थित है। बात यह है कि अरविन्द यह नही मानते कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है जो वस्तुत विज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध है। हम पहले ही रङ्गहीन पदार्थों के मिलने से रङ्ग की उत्पत्ति की बात कह चुके हैं। अत' मानवीय चेतना को बीज रूप मे पदार्थ मे मानने की कोई आवश्यकता नही है। परन्तु अरविन्द का आस्थाशील मन कैसे स्वीकार करे ? अत वह अन्तर्चेतना के आधार पर यह बार-बार सिद्ध करना चाहते हैं कि बीज रूप में चेतना को पदार्थ के साथ संयुक्त मानना चाहिए और जो इसे नही मानते वे अशुद्ध बुद्धि के शिकार हैं। वेदान्त का सत्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए और साथ ही उस वेदान्त का जिसके एक रूप को अरविन्द मानते हैं।

अरविन्द पदार्थ को एक स्थिर वस्तु मान लेते हैं। उसमे गति (Motion) कहाँ से आई ? क्यों उत्पन्न हुई ? इसका उनकी दृष्टि से एकमात्र उत्तर है प्रभु की इच्छा से, दिव्य-प्रेरणा से जो जीवन-सत्ता के रूपमें पदार्थ के साथ है। यह सब उलझन पदार्थ की गलत व्याख्या से हुई।

आधुनिक विज्ञान मानता है कि Force तथा Motion संयुक्त हैं। अरविन्द पदार्थ व Motion के बीच में व्यर्थ की उलझन खडी कर देते हैं और मैटर को जीवन-सत्ता में अवस्थित बतलाते हैं जैसा कि उनका वेन्दात कहता है। यही कारण है कि वह सहसा पदार्थ को ब्रह्म के साथ संयुक्त कर ज्ञेय व अज्ञेय का घोल तैयार कर देते हैं।

अरविन्द Force की दो स्थितियाँ बतलाते हैं १—स्थिरता २—गति। इसमे गति तो मैटर का स्वभाव हो है। वह कभी स्थिर नही रहता, जगत तभी सर्वदा परिवर्तन-शील रहता है। परिवर्तन के प्रवाह का नाम ही जगत है, स्थिरता आने का प्रश्न ही यहाँ नही है। अरविन्द के लिए 'गति' (Movement) भी एक कृत्रिम अभिनय है। चूँकि Force को वह ब्रह्म के साथ सयुक्त कर देते हैं और ब्रह्म एक समुद्र के समान शास्त्रों मे कहा गया है। अत लहर के समान जो गति उसमें उत्पन्न होती है वह उसकी इच्छा (will) से ही उत्पन्न होती है और चूँकि लहर कृत्रिम है, समुद्र सच्चा है, अत गति कृत्रिम है।

यह निर्णय शंकर के निर्णय के समान है जिसमें नाम-रूपात्मक

के पदार्थ में बाहरी लोकों में कूद-कूद कर समा गई है—

We must suppose that there is a force of lif and consciousness originally alien to Matter whic has yet entered into and occupied Matter perhap from another world. (The Life Divine, page 132

आगे अरविन्द स्वयं कहते हैं कि विचारक के लिए वस्तुतः य मुख्य प्रश्न नहीं है कि जीवन-सत्ता किस नक्षत्र से इस नक्षत्र पर आई प्रश्न यह है कि वह किस प्रकार 'पदार्थ' में अवस्थित हुई और उसक उत्तर अरविन्द दे चुके कि वह मूलतः पदार्थ से ही विकसित हो ग क्योंकि मूल रूप से वह पदार्थ में ही अवस्थित थी। पदार्थ में वे सा बीज सुरक्षित हैं जिनका विकास आगे चलकर हुआ क्योंकि असत् सत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

परमाणु को तोडने वाले भी कम मेधावी नहीं हैं, क्या अ के तोडने पर उसमें विचार-शक्ति के बीज मिलते हैं या जीवन-स के चिह्न मिलते हैं? नहीं, क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ बाद में विकसि हुई। अरविन्द उत्तर देंगे कि अशुद्ध बुद्धि के कारण वैज्ञानिकों व बीज रूप में स्थित पदार्थ के भीतर ब्रह्म की चेतन-शक्ति के दर्शन हो नहीं सकते। योग-शक्ति के चमत्कार से ही यह त्रिकालदर्शित्व प्रा हो सकता है।

वस्तुतः अरविन्द भी "समन्वय वाद" से उसी परिणाम प पहुँचे जिस पर शङ्कराचार्य पहुँचे थे। बिना चेतन-शक्ति में विश्वा किए हम इस जगत को नहीं समझ सकते। केवल बाह्य तथ्यों का पत लगा सकते हैं, गम्भीर सत्य का ज्ञान हमें नहीं हो सकता, यह अर विन्द की मान्यता है जो भौतिक वाद के लिए चुनौती है। चेतन सत्ता में वेदान्ती विश्वास से ही हम जगत को समझ सकते हैं। यदि आप अन्य किसी धर्म के दृष्टिकोण से समझना चाहें इस्लाम ईसाई बौद्ध आदि अनेक धर्म हैं, प्रत्येक धर्म में जगत-जीव के सम्बन्ध में अपनी-अपनी विचार धाराएँ हैं परन्तु उनमें कोई भी जड व चेत की समस्या को ठीक-ठीक नहीं सुलझा सकता, केवल वेद-उपनिषद् गीता पर अरविन्द की व्याख्याएँ ही यह दुष्कर कार्य कर सकती हैं जिसका प्रमाण यह है कि प्राचीन हिन्दू ऋषियों की सारी सा

चाहते हैं और चेतना से ही जड-तत्त्व का विकास भी समझाना चाहते हैं। इस प्रकार अरविन्द के सामने एक ही मार्ग था कि वे विज्ञान की गलत व्याख्या करते और शास्त्रों की व्याख्या अपने अनुकूल करके जड़ व चेतना के बीच सोपानों के रूप मे जीवन-सत्ता व मन को स्वीकार कर लेते, जगत की सत्ता मानकर भी, उसे एक कृत्रिम-सत्ता कहते क्योंकि ब्रह्म का मूल रूप ही सत्य है और जब वह नाम-रूप में अभिव्यक्त होता है तो उसकी सत्ता का पतन होता है वह अपने को अपनी ही शक्ति (force) के आवरण में बाँधता है, और इस प्रकार जड-चेतन के इस खेल को अपने आनन्द के लिए करता है।

स्पष्ट है कि अरविन्द ने अतिवाद, अंतश्चेतनावाद, और सोपानवाद की कल्पनाएँ करके दर्शन के नाम पर अपने लिए एक समस्या खड़ी करली है। मध्यकाल के दार्शनिक जिन्हे अरविन्द जल्दबाज और बुद्धिवादी कहते हैं, कही ज्यादा तर्क-सङ्गत पथ पर चलते थे। सबको समेटने की प्रवृत्ति अपनाकर अरविन्द ने अपना पथ संकुल और असङ्गत बना लिया। पग-पग पर विचारक को समाधान खोजना पडता है और हर बार उसे निराशा होती है। अरविन्द दर्शन का यह करुण अन्त है।

अरविन्द मेधावी व्यक्ति थे, शायद अपने को वे उपनिषद् व गीता के द्रष्टाओं के पश्चात् सबसे अधिक मेधावी मानते थे। मेधा के साथ-साथ उनमें चातुर्य भी बहुत अधिक था। वे न पुनरावृत्ति से घबराते थे, न तर्कों के आधार बदल जाने से। विज्ञान ने कहा कि चेतना पदार्थ से विकसित होती है। अरविन्द कहेंगे कि हाँ अवश्य, परन्तु वह चेतना बीज-रूप में पदार्थ के साथ संयुक्त थी (इसका खंडन हम कर चुके हैं) परन्तु यहाँ दूसरी बात अरविन्द कहेंगे और यह कि अच्छा यह मान भी लिया जाय कि पदार्थ से सामान्य चेतना का—यान्त्रिक गति से चलने वाली सामान्य चेतना का–विकास सम्भव हो भी जाय परन्तु आध्यात्मिक-चेतना का विकास तो जड-तत्त्व मे पूर्णतया असम्भव है, यदि बीज-रूप मे वह पदार्थ में अवस्थित नहीं है। अत यही मानना होगा कि चेतना मूल-रूप मे पदार्थ के साथ सयुक्त थी, उससे क्रमशः उसका विकास हुआ। चेतना अपनी ही इच्छा से अपने ही जड़-तत्त्व के आवरण मे बन्द हो गई है और वह भी अपने मूल रूप में विरोधी गुण रखने वाली चेतना इस पृथ्वी

के पदार्थ में बाहरी लोकों से कूद-कूद कर समा गई है—

We must suppose that there is a force of life and consciousness originally alien to Matter which has yet entered into and occupied Matter perhaps from another world. (The Life Divine, page 132)

आगे अरविन्द स्वयं कहते हैं कि विचारक के लिए वस्तुतः यह मुख्य प्रश्न नहीं है कि जीवन-सत्ता किस नक्षत्र से इस नक्षत्र पर आई? प्रश्न यह है कि वह किस प्रकार 'पदार्थ' में अवस्थित हुई और उसका उत्तर अरविन्द दे चुके कि वह मूलतः पदार्थ से ही विकसित हो गई क्योंकि मूल रूप से वह पदार्थ में ही अवस्थित थी। पदार्थ में वे सारे बीज सुरक्षित हैं जिनका विकास आगे चलकर हुआ क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

परमाणु को तोडने वाले भी कम मेधावी नहीं है, क्या अणु के तोडने पर उसमे विचार-शक्ति के बीज मिलते हैं या जीवन-सत्ता के चिह्न मिलते हैं? नहीं, क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ बाद मे विकसित हुईं। अरविन्द उत्तर देंगे कि अशुद्ध बुद्धि के कारण वैज्ञानिकों को बीज रूप में स्थित पदार्थ के भीतर ब्रह्म की चेतन-शक्ति के दर्शन हो ही नहीं सकते। योग-शक्ति के चमत्कार से ही यह त्रिकालदर्शित्व प्राप्त हो सकता है।

वस्तुतः अरविन्द भी "समन्वय वाद" से उसी परिणाम पर पहुँचे जिस पर शङ्कराचार्य पहुँचे थे। बिना चेतन-शक्ति मे विश्वास किए हम इस जगत को नहीं समझ सकते। केवल बाह्य तथ्यों का पता लगा सकते हैं, गम्भीर सत्य का ज्ञान हमे नहीं हो सकता, यह अरविन्द की मान्यता है जो भौतिक वाद के लिए चुनौती है। चेतन-सत्ता मे वेदान्ती विश्वास से ही हम जगत को समझ सकते है। यदि आप अन्य किसी धर्म के दृष्टिकोण से समझना चाहे इस्लाम, ईसाई, बौद्ध आदि अनेक धर्म हैं, प्रत्येक धर्म मे जगत-जीव के सम्बन्ध मे अपनी-अपनी विचार धाराएँ हैं परन्तु उनमे कोई भी जड व चेतन की समस्या को ठीक-ठीक नहीं सुलझा सकता, केवल वेद-उपनिषद् व गीता पर अरविन्द की व्याख्याएँ ही यह दुष्कर कार्य कर सकती हैं। जिसका प्रमाण यह है कि प्राचीन हिन्दू ऋषियों की सारी बातें

क्रमश' विज्ञान से सिद्ध होती जा रही हैं (और जो सिद्ध नही हो रही हैं उन्हे अरविन्द ने जबरदस्ती सिद्ध करके दिखा दिया है)।

बौद्ध कहते हैं कि उनके 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त से ईश्वर-आत्मा के सिद्धान्त को बिना स्वीकार किए हुए ही जगत-जीव की व्याख्या सम्भव है। जैन मत का दावा है कि पदार्थ का स्वरूप स्यातवाद या अनेकान्तवाद से ही समझाया जा सकता है। शंकर इन सब को स्वीकार न कर उपनिषदों के अद्वैतवाद से जगत, जीव व ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। साख्य-दर्शन प्रकृति व पुरुष के (द्वैतवाद) के द्वारा इस समस्या को हल करता है। वैष्णवो, शैवो, शाक्तों, तांत्रिको, पाचरात्र मतावलम्बियो, सिद्धों, नाथों व सन्तों के अपने-अपने दर्शन हैं। अरविन्द इनमें से किसी को स्वीकार नहीं करते और सबको स्वीकार करते है। बौद्धों पर उनकी व्याख्या यह है कि वे भी पारमार्थिक सत्य को मानते थे परन्तु उसका वर्णन असम्भव मानते थे। निर्वाण व तथागत के स्वरूप अवर्णनीय हो सकते हैं, असत्य नहीं क्योंकि असत् शब्द का अर्थ सत्ता का अभाव नही है। असत् शब्द का अर्थ है जो समय व देश के बन्धनो से परे है। अन्य दर्शनों में से सांख्य, शांकर व भौतिक दर्शनों को अरविन्द ने लिया है। इसमें भौतिकवाद से विकासवाद व 'जगत-सत्यतावाद' को स्वीकार किया है जिससे विज्ञान का मान नही अपमान ही अधिक हुआ है क्योंकि उसकी व्याख्या गलत की गई है। रह गए शाकर व सांख्य-दर्शन उनका खण्डन भी किया गया है और मण्डन भी। क्योंकि शकर का उद्देश्य—ब्रह्म व आत्मा की रक्षा का उद्देश्य ही अरविन्द का उद्देश्य है। किन्तु आधुनिक युग में उत्पन्न होने के कारण अरविन्द ने अपने दर्शन में पद्धति बदल दी है। अत ऐसा समन्वयवाद युगान्तकारी नही, मध्यकालीन आदर्शवाद की पुनरावृत्ति मात्र है। आधुनिक युग की भाषा में पुराना अन्ध-विश्वास ही वहाँ सुरक्षित है।

इस अन्ध-विश्वास की रक्षा के लिए विज्ञान के तथ्यों को तोड़ने-मरोडने की सर्व प्रथम आवश्यकता थी। अरविन्द ने यह कार्य चतुरता पूर्वक किया है। पुन' उन दार्शनिकों का खण्डन भी आवश्यक था जिनके तर्क इस देश में बदनाम हो चुके थे और जिनकी विचार-धाराओं से देश की दासता, गरीबी, अशिक्षा, विषमता आदि की ओर ध्यान न जाता था और जिनके उपदेश—'सब माया है'—

विरक्त हो जाने या विरक्त बन कर जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते थे। अरविन्द ने उनका खण्डन किया। उन्हें तर्क की संगति की चिन्ता नहीं, उन्हें चिन्ता इस बात की थी कि विज्ञान की खोजों ने मनुष्य की बुद्धि को इतना अधिक जागरूक कर दिया है कि वे अब प्राचीन कल्पनाओं को बिना परीक्षा किए हुए उन्हें स्वीकार नहीं कर सकते और उसका परिणाम यह होगा कि भारत की प्राचीन ज्ञान-निधि का जगत से लोप हो जायगा। राष्ट्रीयता के ठीक संघर्ष के दिनों में भारत की दार्शनिक महत्ता की विजयध्वजा फहराने का, उसे वैज्ञानिक व मानवता के लिए श्रेयस्कर सिद्ध करने का, उसकी रक्षा के लिए समाज, इतिहास के अब तक के निर्णयों को बदलने का कार्य अरविन्द के लिए अनिवार्य हो गया और उन्होंने उसे पूर्ण मुस्तैदी के साथ किया। परिणाम यह हुआ कि अँग्रेजों से जूझने के स्थान पर ज्ञान के स्थिर प्रकाशस्तम्भ बनने की ध्वनि में अपने युग का महा प्रतिभाशाली राजनैतिक नेता धर्म-चक्र प्रवर्तन करने में मग्न हो गया। उनके इस कार्य से निश्चित रूप से जहाँ एक ओर अतीत के प्रकाश से नेत्र चकित होगए, राष्ट्रीय जागरण, राष्ट्रीय आत्मा को समुन्नत बनाने, देशवासियों को विदेशी संस्कृति के सम्मुख स्वदेशी सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराने, उसकी महत्ता का डङ्का बजाने का कार्य पूरा हुआ, वहाँ दूसरी ओर यह भी परिणाम निकला कि जिन साम्राज्यवादियों के विरुद्ध विश्व की जनता आज रहस्यवाद को नहीं, विज्ञान के आधार पर निर्मित यथार्थवादी दर्शन व इतिहास व समाज की क्रान्तिकारी व्याख्याओं को लेकर बढ़ रही थी और आज भी बढ़ रही है, उसके मार्ग में अरविन्द ने अपने रहस्यवाद से ज्ञात व अज्ञात रूप से एक बाधा पहुँचाने में पूर्ण सहयोग दिया। जनता के सम्मुख अनावश्यक निराधार, तर्क-पद्धति-विहीन सिद्धान्तों की ऐतिहासिक आवश्यकता सिद्ध कर अरविन्द ने जनता का ध्यान अपने लक्ष्य से हटाकर शून्य की ओर मोड़ने में घोर सहायता की। अरविन्द के लिये इस संक्रान्ति-काल में योग साधना ही (अन्तर्चेतनात्मक युग के विषय में भविष्यवाणी ही) सबसे मुख्य जन-सेवा व राष्ट्र-सेवा बन गई। वैयक्तिक साधनाओं के द्वारा सांस्कृतिक आन्दोलनों के नाम पर मुख्य सङ्घर्ष से जनता का जितना ध्यान अरविन्द ने मोड़ा उतना अन्य किसी विचारक ने नहीं। यहीं अरविन्द की ऐतिहासिक उपयोगिता व

क्रमशः विज्ञान से सिद्ध होती जा रही हैं (और जो सिद्ध नहीं हो रही हैं उन्हें अरविन्द ने जबरदस्ती सिद्ध करके दिखा दिया है)।

बौद्ध कहते हैं कि उनके 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त से ईश्वर-आत्मा के सिद्धान्त को बिना स्वीकार किए हुए ही जगत-जीव की व्याख्या सम्भव है। जैन मत का दावा है कि पदार्थ का स्वरूप स्यातवाद या अनेकान्तवाद से ही समझाया जा सकता है। शंकर इन सब को स्वीकार न कर उपनिषदों के अद्वैतवाद से जगत, जीव व ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। साख्य-दर्शन प्रकृति व पुरुष के (द्वैतवाद) के द्वारा इस समस्या को हल करता है। वैष्णवो, शैवों, शाक्तों, तांत्रिकों, पांच रात्र मतावलम्बियो, सिद्धों, नाथों व सन्तों के अपने-अपने दर्शन हैं। अरविन्द इनमें से किसी को स्वीकार नहीं करते और सबको स्वीकार करते हैं। बौद्धों पर उनकी व्याख्या यह है कि वे भी पारमार्थिक सत्य को मानते थे परन्तु उसका वर्णन असम्भव मानते थे। निर्वाण व तथागत के स्वरूप अवर्णनीय हो सकते हैं, असत्य नहीं क्योंकि असत् शब्द का अर्थ सत्ता का अभाव नहीं है। असत् शब्द का अर्थ है जो समय व देश के बन्धनों से परे है। अन्य दर्शनों में से साख्य, शाकर व भौतिक दर्शनों को अरविन्द ने लिया है। इसमें भौतिकवाद से विकासवाद व 'जगत-सत्यतावाद' को स्वीकार किया है जिससे विज्ञान का मान नहीं अपमान ही अधिक हुआ है क्योंकि उसकी व्याख्या गलत की गई है। रह गए शाकर व सांख्य-दर्शन उनका खण्डन भी किया गया है और मण्डन भी। क्योंकि शंकर का उद्देश्य—ब्रह्म व आत्मा की रक्षा का उद्देश्य ही अरविन्द का उद्देश्य है। किन्तु आधुनिक युग में उत्पन्न होने के कारण अरविन्द ने अपने दर्शन में पद्धति बदल दी है। अत ऐसा समन्वयवाद युगान्तकारी नहीं, मध्यकालीन आदर्शवाद की पुनरावृत्ति मात्र है। आधुनिक युग की भाषा में पुराना अन्धविश्वास ही वहाँ सुरक्षित है।

इस अन्ध-विश्वास की रक्षा के लिए विज्ञान के तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने की सर्व प्रथम आवश्यकता थी। अरविन्द ने यह कार्य चतुरता पूर्वक किया है। पुन उन दार्शनिकों का खण्डन भी आवश्यक था जिनके तर्क इस देश में बदनाम हो चुके थे और जिनकी विचार-धाराओं से देश की दासता, गरीबी, अशिक्षा, विषमता आदि की ओर ध्यान न जाता था और जिनके उपदेश—'सब माया है'—

विरक्त हो जाने या विरक्त बन कर जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देते थे। अरविन्द ने उनका खण्डन किया। उन्हे तर्क की सगति की चिन्ता नहीं, उन्हे चिन्ता इस बात की थी कि विज्ञान की खोजों ने मनुष्य की बुद्धि को इतना अधिक जागरूक कर दिया है कि वे अब प्राचीन कल्पनाओं की बिना परीक्षा किए हुए उन्हे स्वीकार नहीं कर सकते और उसका परिणाम यह होगा कि भारत की प्राचीन ज्ञान-निधि का जगत से लोप हो जायगा। राष्ट्रीयता के ठीक संघर्ष के दिनों मे भारत की दार्शनिक महत्ता की विजयध्वजा फहराने का, उसे वैज्ञानिक व मानवता के लिए श्रेयस्कर सिद्ध करने का, उसकी रक्षा के लिए समाज, इतिहास के अब तक के निर्णयों को बदलने का कार्य अरविन्द के लिए अनिवार्य हो गया और उन्होंने उसे पूर्ण मुस्तैदी के साथ किया। परिणाम यह हुआ कि अँग्रेजों से जूझने के स्थान पर ज्ञान के स्थिर प्रकाशस्तम्भ बनने की ध्वनि मे अपने युग का महा प्रतिभाशाली राजनैतिक नेता धर्म-चक्र प्रवर्तन करने मे मग्न हो गया। उनके इस कार्य से निश्चित रूप से जहाँ एक ओर अतीत के प्रकाश से नेत्र चकित होगए, राष्ट्रीय जागरण, राष्ट्रीय आत्मा को समुन्नत बनाने, देशवासियों को विदेशी संस्कृति के सम्मुख स्वदेशी सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराने, उसकी महत्ता का डङ्का बजाने का कार्य पूरा हुआ, वहाँ दूसरी ओर यह भी परिणाम निकला कि जिन साम्राज्यवादियों के विरुद्ध विश्व की जनता आज रह-स्यवाद को नहीं, विज्ञान के आधार पर निर्मित यथार्थवादी दर्शन व इतिहास व समाज की क्रान्तिकारी व्याख्याओं को लेकर बढ रही थी और आज भी बढ रही है, उसके मार्ग में अरविन्द ने अपने रहस्यवाद से ज्ञात व अज्ञात रूप से एक बाधा पहुँचाने मे पूर्ण सहयोग दिया। जनता के सम्मुख अनावश्यक निराधार, तर्क-पद्धति-विहीन सिद्धान्तों की ऐतिहासिक आवश्यकता सिद्ध कर अरविन्द ने जनता का ध्यान अपने लक्ष्य से हटाकर शून्य की ओर मोडने मे घोर सहायता की। अरविन्द के लिये इस सक्रान्ति-काल में योग साधना ही (अन्तर्चेतनात्मक युग के विषय मे भविष्यवाणी ही) सबसे मुख्य जन-सेवा व राष्ट्र-सेवा बन गई। वैयक्तिक साधनाओं के द्वारा सांस्कृतिक आन्दोलनों के नाम पर मुख्य सङ्घर्ष से जनता का जितना ध्यान अरविन्द ने मोड़ा उतना अन्य किसी विचारक ने नहीं। यही अरविन्द की ऐतिहासिक उपयोगिता व

महत्त्व है। अत साम्राज्यवादियों ने अरविन्द-दर्शन को प्रचार का अस्त्र बनाया। सुकुमारमति, कल्पनाप्रिय पन्त जैसे कवियों को मार्क्स व ऐंगिल्स की वाणी झींगुर की झंकार प्रतीत होने लगी और देश में पलायनवादियों का एक दल अरविन्द-दर्शन को साम्यवाद के विरुद्ध एक अस्त्र के रूप में प्रयोग करने का अवसर दुहराने लगा।

अरविन्द के दर्शन के साथ-साथ उनकी सामाजिक विचार-धारा और भी अधिक मनोहर, विचित्र तथा खतरनाक है। हम संक्षेप में पाठकों के सम्मुख उसका स्वरूप प्रस्तुत कर इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे।

— ❀ —

अरविन्द-दर्शन—समीक्षा (२)

(इतिहास व समाजशास्त्र)

प्रत्येक आदर्शवादी विचारक की तरह अरविन्द ने इतिहास की व्याख्या इतिहास को अध्यात्मवादी साँचे में ढाल कर की है। वस्तुत किसी भी विचारक के लिए यह आवश्यक है कि उसकी विचार-धारा ऐसी हो जिससे व्यक्ति व समाज दोनों के विकास, प्रगति, लक्ष्य व पारस्परिक सम्बन्धों पर विश्वसनीय प्रकाश पड़ सके। आदर्शवादी विचारक व्यक्ति के सुख-दुख की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं परन्तु दु.ख के निदान के लिए व्यक्ति की चेतना को ही पूर्णतया उत्तरदायी बनाकर, समाज व व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किए बिना ही ऐसे निर्णय देते हैं, जिन पर चलकर एक काल्पनिक मानसिक वातावरण में ही मग्न हो जाने के लिए व्यक्ति को प्रेरणा मिलती है। कुछ विचारक ऐसे सुखद मानसिक (आध्यात्मिक) वातावरण का सृजन कर और धार्मिक सम्प्रदायों में एक और संख्या की वृद्धि कर अपनी एकान्तिक साधनाओं में ही डूब जाते हैं और फलत. व्यक्ति के दु खों का ठीक निदान न हो सकने के कारण उनकी ठीक औषधि नहीं मिल पाती।

इसीलिए यथार्थवादी चिंतक व्यक्ति व समाज के पारस्परिक सम्बन्धों और व्यक्ति की सामूहिक व व्यक्तिगत क्रियाओं का अध्ययन करते हैं जिनसे होकर वह गुजरता आ रहा है। उसके इन अनुभवों को हम इतिहास कहते हैं। अत इतिहास व समाजशास्त्र ही यथार्थ-वादी को मनुष्य के प्रयत्नों की सही साक्षी दे सकते हैं। प्राचीन घटनाओं व व्यवस्थाओं का तटस्थ अध्ययन व विश्लेषण ही हमें आज के मनुष्य के यथार्थ दु खों के यथार्थ निदान के लिए उचित दिशा-निर्देश कर सकता है।

परन्तु इतिहास व समाजशास्त्र की व्याख्याएँ बदल सकती हैं, वे परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं, कैसे ?—इतिहास के प्रति एक दृष्टि यथार्थवादियों की हो सकती है जिसके अनुसार हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना पर समाज की व्यवस्था का मुख्य प्रभाव पड़ता है। समाज की व्यवस्था मुख्यत उत्पादन के साधनों के अनुसार रूप पाती है। उत्पादन के साधन बदलते हैं। मनुष्य की चेतना सामूहिक रूप में व्यवस्था में परिवर्तन करती है, स्वयं शासित होती है। पुन पूर्व व्यवस्था के अर्थविरोधो से मनुष्य की चेतना जागरूक होती है और सामूहिक रूप में पुरानी व्यवस्था की जगह नई व्यवस्था आती है। फिर मनुष्य की चेतना उसी के अनुसार ढल जाती है और मनुष्य की व्यवस्थानुसार शासित चेतना की अभिव्यक्ति कला, धर्म, दर्शन आदि क्षेत्रों मे होती है। इस दृष्टि से सर्व प्रथम इतिहास में 'आदिम साम्यवादी' व्यवस्था दिखाई पड़ती है, उत्पादन के साधन बदलते हैं और मनुष्य दूसरों की सहायता से, दूसरों के श्रम से उत्पादन करना चाहता है, क्योंकि पूर्व व्यवस्था में उसे असुविधा होती है और इसलिए आदिम साम्यवाद के पश्चात् 'दास-प्रथा' दिखायी पडती है। सामूहिक रूप से दासों के द्वारा उत्पादन होता है और सर्वप्रथम सभ्यता का उदय होता है। इसी प्रकार इस व्यवस्था में भी जब कार्य नही चलता, परिस्थितियाँ बद-लती हैं तो दास-प्रथा के गर्भ से सामन्तवाद का और सामन्तवाद के गर्भ से पूँजीवाद का विकास होता है जिसमें श्रमिक-वर्ग 'सर्वहारा' के रूप में परिणत हो जाता है और शोषक-वर्ग उनके श्रम से लाभ उठाता है। हमारे देश में ऐसी ही स्थिति है। यद्यपि अभी सामन्तवाद के बहुत से तत्त्व शेष हैं। इतिहास की इस दीर्घ यात्रा में प्रत्येक नवा-गत व्यवस्था पूर्व व्यवस्था से अधिक ऊँचे स्तर की सभ्यता का निर्माण करती है किन्तु सामन्तवादी व्यवस्था तक भोक्ता व कमकर वर्ग का विरोध बहुत गहरा नहीं हो पाता, पूँजीवादी व्यवस्था मे यह वर्ग-सङ्घर्ष बहुत बढ जाता है और परिणाम यह होता है कि ऐसी स्थिति में ऐसे विचारक उत्पन्न होते हैं जो इस वर्ग-सघर्ष को पहचान कर, उसे तीव्र करते हैं (मार्क्स ऐसा ही विचारक था)। परिणामस्वरूप कमकर वर्ग वर्ग-चेतना से युक्त होकर भोक्ता वर्ग को अपदस्थ कर व्यवस्था का शासन अपने हाथ मे लेता है, और जिस वर्गवाद की

नींव दास-व्यवस्था के उदय होते समय पडी थी—जबकि पहली बार मनुष्य ने मनुष्य के श्रम से लाभ उठाना सीखा था—उसका ध्वंस हो जाता है, प्रतियोगिता की जगह सहयोग ले लेता है और श्रमिक वर्ग वर्ग-विहीन शासन बनाता है। जाहिर है कि यह स्थिति प्रत्येक देश में आती है चाहे उस देश में ये सारे सोपान स्पष्ट न हों। हमारे देश में भी यही स्थिति है और बराबर वर्ग-सङ्घर्ष तीव्र होता जा रहा है। इस देश के जनवादी विचारक वर्ग-चेतना को जगा कर भोक्ता-वर्ग के शासन, कला, धर्म, दर्शन आदि की जगह वर्ग-विहीन व्यवस्था का विकास तथा वर्गवादी संस्कृति की जगह जनवादी संस्कृति के विकास को ही जनता के दुःख का मुख्य निदान मानते हैं। यह स्पष्ट है कि आजाद हो जाने के बाद भी वर्तमान शासन-व्यवस्था वर्गवादी तत्त्वों से युक्त है। अतः यह वर्ग-समझौता की नीति पर चलती है और वर्ग-सङ्घर्ष को स्वीकार नहीं करती। यथार्थवादी विचारक इसीलिए वर्तमान सरकार को जनवादी सरकार नहीं मानते।

व्यवस्था के आर्थिक और वर्ग-सङ्घर्ष के आधार पर विकसित जन-चेतना के घोर-विरोधी या तो उच्चवर्ग के स्वार्थी लोग हैं या ऐसे विचारक हैं जो वर्गीय संस्कारों के कारण वर्ग-विहीन राज्य की कल्पना को, वर्ग-संघर्ष को, आर्थिक आधार को हौवा समझते हैं।

ऐसे विचारकों में बहुत से विचारक निम्न मध्यवर्ग के भी हैं परन्तु शताब्दियों से इनके संस्कार वर्ग-वादी चेतना से पोषित होने के कारण इन्हें जनता के साथ नहीं आने देते।

भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि हमारे देश में उच्चवर्ग की परिभाषा दूसरे देशों के उच्चवर्ग की परिभाषा से थोडी भिन्न है। हमारे यहाँ उच्चवर्ग में केवल धनी मानी वैश्य, राज्याधिपति क्षत्री, बड़े अधिकारी ही शामिल नहीं रहे अपितु वे बुद्धिवादी वर्ग भी रहे हैं जो आर्थिक दृष्टि से भले ही अकिञ्चन रहे हों, आध्यात्मिक दृष्टि से भले ही समतावादी रहे हों, पर व्यावहारिक दृष्टि से जिनको सदा उच्चवर्ग में ही गिना गया और जिन्होंने उच्चतम वर्ण के रूप में सदा अपने को समाज के शीर्ष स्थान पर रक्खा है। यह वर्ग ब्राह्मणों का वर्ग है जिसने आर्थिक दृष्टि से परावलम्बन स्वीकार कर भी जन के मन बुद्धि व हृदय पर शासन किया है। अतः इनकी भी शासक वर्ग में ही गणना होती है। वास्तव में इनका सम्बन्ध भी सदा उच्च शासक

वर्ग से ही रहा है। इसलिए यह शासक वर्ग वर्णवाद, आश्रमवाद, भाग्यवाद, ईश्वरवाद व आत्मवाद का प्रसारक है। इस वर्ग के अतिरिक्त क्षत्रियों में भी अनेक वर्ग ब्राह्मण-वर्ग की तरह इन्हीं धारणाओं का प्रचार करते रहे हैं। अत इन्हे भी ब्राह्मण-वर्ग में ही शामिल करना चाहिए। बुद्धिवादी वर्ग अपनी उच्चता की शर्त स्वीकार कराने के लिए समाज को बाध्य करता रहा है और इसीलिए क्रमश इस वर्ग ने शिक्षा, कला, धर्म, दर्शन, कानून, आदि महत्त्वपूर्ण विषयो पर सदा से अपना ही अधिकार रखा है। शेष जनता को अन्य कार्यों के लिए ही उत्तरदायी माना है।

यह वर्ग यह मानता है कि धर्म अनादि है, विश्व के पीछे एक अज्ञात सत्ता है, सृष्टि उसी की लीला है या भ्रम है। केवल शाश्वत सत्ता वही है जो आत्मा के रूप में स्थित है। हमारे सारे कर्म पूर्व निश्चित है, मनुष्य के दु खों का सम्बन्ध पूर्व जन्म के कर्मों से है आदि। यथार्थवादी दृष्टि से ये सारी विचारधाराए इतिहास के विकास के विभिन्न सोपानो मे विकसित हुई हैं। अत उनका अध्ययन करते समय उनकी युगानुरूपता का भी विचार करना चाहिए। परन्तु तथा कथित बुद्धिवादी उच्चवर्ग यह मानता है कि सृष्टि के साथ ही उस ज्ञान का जन्म हो गया था जो मनुष्य के लिए कल्याण कर है। उस ज्ञान को अपनी साधना के बल पर ऋषियों ने, वेद के रूप में, बुद्ध जैसे साधकों ने त्रिपिटक के रूप मे, महावीर जैसे साधकों ने जैन धर्म-ग्रन्थों क रूप मे (इसी प्रकार अन्य धर्म-ग्रन्थों के विषय में भी समझना चाहिए) हमारे पास छोड दिया है जिसका उपयोग कर हम दु खों का विनाश कर सकते हैं। इन सारी विचारधाराओ मे परस्पर विरोध भी मिलते हैं परन्तु कुछ बातो मे एकता भी मिलती है—यथा अज्ञेय सत्ता के प्रति विश्वास, पुनर्जन्मवाद, भाग्यवाद या नियतिवाद, आध्यात्मिक मुक्ति मे विश्वास, तथा जीवन का उद्देश्य, परम-तत्त्व का साक्षात्कार आदि में।

इस प्रकार के विचारक अज्ञेय सत्ता के सम्बन्ध मे विचार करते समय केवल कल्पना का प्रयोग करते है और कल्पना के सत्य की जाँच करना आवश्यक नहीं समझते[1] क्योंकि उसके ऊपर पूर्व-द्रष्टाओ

[1] Once an absolute truth or morality is advanced, it is lifted above the possibility of criticism

ऋषियों, मुनियों, सन्तों और सिद्धों की मुहर लग जाती है जिनमें अंध विश्वास की परम्परा अखण्ड रहती है। किन्तु जब इन्हें जगत व जीव की समस्या को सुलझाना पड़ता है तो पुन ये आर्येतर विचारक तरह-तरह की अटकलों से काम लेते हैं। हिन्दू-दर्शनों के विकास की यही कहानी है। इन अटकलों के अतिरिक्त ये विचारक अपने-अपने सम्प्रदाय की रक्षा के लिए पृथक-पृथक तर्क-पद्धति का भी प्रयोग करते हैं और सदा उसी पद्धति पर बात करना वैज्ञानिक मानते हैं, इससे इधर उधर नहीं होना चाहते। मध्य-काल तक ऐसे कोरे तार्किकों की एक जबरदस्त सेना हमारे देश में विकसित हो चुकी थी जिसका कार्य केवल बाल की खाल निकालना रहा और जिसने मनुष्य व समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को समझने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया। परन्तु इस ऊहापोह में कम से कम आदर्शवादी ज्ञान-पद्धति का अद्भुत विकास हुआ और प्राचीन साहित्य की रक्षा के साथ-साथ अनेक सम्प्रदायों में विपुल साहित्य की रचना हुई जो एकांगी और वैयक्तिक होने पर भी उच्चकोटि की मेधाओं का उच्च बौद्धिक चमत्कार है।

इसी परम्परा में, इसी प्रकार की प्रवृत्तियों के पोषक आधुनिक युग में भी अनेक विचारक हुए। आर्यसमाजी, ब्राह्मसमाजी, वेदान्ती (सभी प्रकार के), थियोसोफिस्ट आदि विचारक इसी प्राचीन परम्परा के विचारक थे। परन्तु जिस प्रकार मध्यकालीन विचारकों ने आदिकालीन विचारकों की पद्धति को छोड़ कर नई तर्क-पद्धतियों का आविष्कार कर लिया था, इसी प्रकार इन आधुनिक परम्परावादियों ने भी नई पद्धतियों का प्रयोग किया। चूँकि विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक-शास्त्र रसायन-शास्त्र के साथ-साथ नृतत्त्व-शास्त्र, भूगर्भ-

because the absolute is the isolated and isolated is that which can not be judged on the grounds of connections that can be investigated. Every class interest in all history has defended itself from examination by putting forth claims to absoluteness, taking refuge in the fortress of principles too absolute to be subjects of doubt and inquiry. (John Levis in Marxism and Irrationalists, Page 71)

शास्त्र, इतिहास, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि को भी वैज्ञानिक रूप मिलता गया। अत प्राचीनतावादियों को जिनका कार्य प्राचीन धार्मिक भावनाओं की रक्षा करना था, इस आवश्यकता का अनुभव हुआ कि विज्ञान के कारण जागृत जनता की जागरूक बुद्धि को तभी सन्तुष्ट किया जा सकता है जबकि धार्मिक अन्धविश्वासों की वैज्ञानिकता सिद्ध की जाय। इसलिए चतुर विचारकों ने यह कार्य दो प्रकार से किया।

१—प्रथम प्रकार के विचारकों ने यह मान लिया कि प्राचीन सभ्यता प्रत्येक दृष्टि से आज की दृष्टि से उच्चतर थी अत उस युग का ज्ञान हमारे ज्ञान से अधिक प्रामाणिक है। यह दृष्टि आर्यसमाजियों की थी। आर्यसमाजियों ने सारे वैज्ञानिक आविष्कारों की सत्ता वेद में सिद्ध करदी, नहर, मशीन, रेल, बिजली, तार, टेलीफोन, परमाणु व हाइड्रोजन बम भी वैदिक युग में थे, यह सिद्ध करदिया गया (अभी जिन आविष्कारों का पता नही चलता, उन्हे आर्यसमाजी वेद मे नही खोज पाते परन्तु जैसे ही कोई नया आविष्कार होता है. वेद में वह शीघ्र मिल जाता है, वेद की कितनी वैज्ञानिक व्याख्या है ?)

२—दूसरे प्रकार के विचारकों के अनुसार प्राचीन युग चाहे भौतिक दृष्टि से असभ्य रहा हो, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से वह अधिक संस्कृत व उच्च था। अत विज्ञान के साथ-साथ उस ज्ञान को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि विज्ञान से भी इसी ओर सकेत होता है और अनुभव भी जिसका प्रमाण है। यदि विज्ञान से उस आध्यात्मिक ज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं होती तो यह वैज्ञानिक बुद्धि का दोष है क्योंकि जिस बुद्धि से हम उन सत्यों को समझना चाहते हैं उस बुद्धि से वह परे हैं। वह मन की विशेष शक्ति स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान से ही समझ मे आसकता है। अत विज्ञान का क्षेत्र साधारण बुद्धि का कार्य है और अध्यात्म का क्षेत्र उच्च बुद्धि का (शुद्ध बुद्धि का तथा स्वय प्रकाश्य ज्ञान का)। इस प्रकार के विचारकों में अरविन्द, थियोसोफिस्ट, रहस्यवादी और योगी आदि आते हैं।

स्पष्ट है कि आर्यसमाजी ढङ्ग के विद्वानों की बाबा वाक्यं प्रमाण की प्रवृत्ति व अन्य सस्कृतियों, धर्मों, जातियों, देशों के प्रति निन्दात्मक

दृष्टिकोण के कारण तथा प्रत्येक बात में वैदिक ज्ञान के उपयोग की प्रवृत्ति से आज के मानव की वैज्ञानिक बुद्धि सन्तुष्ट नहीं हो सकती। क्योंकि इन विचारकों का इतिहास व समाज-शास्त्र से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता और उनको दूसरों के निन्दा-कार्य में ही निमग्न रहना अधिक रोचक लगता है।

परन्तु दूसरे प्रकार के विद्वान जानते हैं कि जब तक मनोविज्ञान, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र, इतिहास आदि का आधुनिक मस्तिष्क पर प्रभाव है तब तक प्राचीन भावनाओं के प्रति निष्ठा का प्रचार नहीं हो सकता। अत: अरविन्द जैसे विचारक इन सबकी ऐसे ढङ्ग से व्याख्या करते हैं जिससे इनमें से किसी का निषेध होता नहीं दीखता पर आध्यत्मिक अन्धविश्वासों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। ये विचारक ऐसा कृत्रिम समन्वय करते हैं जिससे विज्ञान तुच्छ व क्षुद्र बुद्धि का परिणाम और सीमित क्षेत्र वाला सिद्ध हो जाता है और आध्यात्मिक सत्यों की उपलब्धि ही ध्येय है, यह सिद्ध हो जाता है।

भौतिक-शास्त्र की खोजों ने 'पदार्थ' की सत्ता को अन्तिम माना था। अरविन्द ने किस प्रकार उसके भीतर ईश्वरीय चेतना का अस्तित्व पहले से ही मान लिया था यह हम दिखा चुके हैं और किस प्रकार पदार्थ व ईश्वरीय चेतना के बीच मनमाने सोपान मानकर जड व चेतन की समस्या को समझा कर, अध्यात्मवादियों की रक्षा का प्रयत्न किया यह भी हम स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु इतिहास व समाज-शास्त्र का विकास ईश्वर-आत्मा के विकास की भी कहानी कहता है और इसी इतिहास को पढकर अरविन्द को लगा कि आज के युग के नास्तिक हो जाने का खतरा अधिक है। अत इतिहास व समाज-शास्त्र की भी उन्होंने अपनी अध्यात्मवादी व्याख्या प्रस्तुत की है जो रोचक है और उससे भी यही परिणाम निकला कि साम्यवाद के बाद अध्यात्मवादी व्यवस्था आ रही है और ऊर्ध्व-चेतन का अवतरण जागृत आत्माओं में अब होने ही वाला है। अत: इस कार्य के लिए अरविन्द ने इतिहास को शुद्ध आदर्शवादी दृष्टिकोण से देखा। जहाँ यथार्थवादी विचारक बदलती हुई व्यवस्थाओं के परिणाम स्वरूप, बदलती हुई व्यक्ति चेतना को दिखाता है, वहाँ अरविन्द यह मानते हैं कि मानवीय चेतना का विकास आध्यात्मिक सत्ता की ओर हो रहा है। अत. यह विभिन्न

शास्त्र, इतिहास, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि को भी वैज्ञानिक रूप मिलता गया। अत प्राचीनतावादियों को जिनका कार्य प्राचीन धार्मिक भावनाओं की रक्षा करना था, इस आवश्यकता का अनुभव हुआ कि विज्ञान के कारण जागृत जनता की जागरूक बुद्धि को तभी सन्तुष्ट किया जा सकता है जबकि धार्मिक अन्धविश्वासों की वैज्ञानिकता सिद्ध की जाय। इसलिए चतुर विचारकों ने यह कार्य दो प्रकार से किया।

१—प्रथम प्रकार के विचारकों ने यह मान लिया कि प्राचीन सभ्यता प्रत्येक दृष्टि से आज की दृष्टि से उच्चतर थी अत उस युग का ज्ञान हमारे ज्ञान से अधिक प्रामाणिक है। यह दृष्टि आर्यसमाजियों की थी। आर्यसमाजियों ने सारे वैज्ञानिक आविष्कारों की सत्ता वेद में सिद्ध करदी, नहर, मशीन, रेल, बिजली, तार, टेलीफोन, परमाणु व हाइड्रोजन बम भी वैदिक युग में थे, यह सिद्ध करदिया गया (अभी जिन आविष्कारों का पता नही चलता, उन्हे आर्यसमाजी वेद में नही खोज पाते परन्तु जैसे ही कोई नया आविष्कार होता है. वेद में वह शीघ्र मिल जाता है, वेद की कितनी वैज्ञानिक व्याख्या है ?)

२—दूसरे प्रकार के विचारकों के अनुसार प्राचीन युग चाहे भौतिक दृष्टि से असभ्य रहा हो, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान की दृष्टि से वह अधिक संस्कृत व उच्च था। अत' विज्ञान के साथ-साथ उस ज्ञान को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि विज्ञान से भी इसी ओर संकेत होता है और अनुभव भी जिसका प्रमाण है। यदि विज्ञान से उस आध्यात्मिक ज्ञान की सत्ता सिद्ध नही होती तो यह वैज्ञानिक बुद्धि का दोष है क्योंकि जिस बुद्धि से हम उन सत्यों को समझना चाहते हैं उस बुद्धि से वह परे हैं। वह मन की विशेष शक्ति स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान मे ही समझ मे आसकता है। अत' विज्ञान का क्षेत्र साधारण बुद्धि का कार्य है और अध्यात्म का क्षेत्र उच्च बुद्धि का (शुद्ध बुद्धि का तथा स्वयं प्रकाश्य ज्ञान का)। इस प्रकार के विचारकों में अरविन्द, थियोसोफिस्ट, रहस्यवादी और योगी आदि आते हैं।

स्पष्ट है कि आर्यसमाजी ढङ्ग के विद्वानों की बाबा वाक्यं प्रमाण की प्रवृत्ति व अन्य संस्कृतियों, धर्मों, जातियों, देशों के प्रति निन्दात्मक

दृष्टिकोण के कारण तथा प्रत्येक बात में वैदिक ज्ञान के उपयोग की प्रवृत्ति से आज के मानव की वैज्ञानिक बुद्धि सन्तुष्ट नहीं हो सकती। क्योंकि इन विचारकों का इतिहास व समाज-शास्त्र से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता और उनको दूसरों के निन्दा-कार्य मे ही निमग्न रहना अधिक रोचक लगता है।

परन्तु दूसरे प्रकार के विद्वान जानते हैं कि जब तक मनोविज्ञान, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र, इतिहास आदि का आधुनिक मस्तिष्क पर प्रभाव है तब तक प्राचीन भावनाओं के प्रति निष्ठा का प्रचार नहीं हो सकता। अतः अरविन्द जैसे विचारक इन सबकी ऐसे ढङ्ग से व्याख्या करते हैं जिससे इनमें से किसी का निषेध होता नहीं दीखता पर आध्यात्मिक अन्धविश्वासों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है। ये विचारक ऐसा कृत्रिम समन्वय करते हैं जिससे विज्ञान तुच्छ व क्षुद्र बुद्धि का परिणाम और सीमित क्षेत्र वाला सिद्ध हो जाता है और आध्यात्मिक सत्यों की उपलब्धि ही ध्येय है, यह सिद्ध हो जाता है।

भौतिक-शास्त्र की खोजों ने 'पदार्थ' की सत्ता को अन्तिम माना था। अरविन्द ने किस प्रकार उसके भीतर ईश्वरीय चेतना का अस्तित्व पहले से ही मान लिया था यह हम दिखा चुके हैं और किस प्रकार पदार्थ व ईश्वरीय चेतना के बीच मनमाने सोपान मानकर जड़ व चेतन की समस्या को समझा कर, अध्यात्मवादियों की रक्षा का प्रयत्न किया यह भी हम स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु इतिहास व समाज-शास्त्र का विकास ईश्वर-आत्मा के विकास की भी कहानी कहता है और उसी इतिहास को पढकर अरविन्द को लगा कि आज के युग के नास्तिक हो जाने का खतरा अधिक है। अतः इतिहास व समाज-शास्त्र की भी उन्होंने अपनी अध्यात्मवादी व्याख्या प्रस्तुत की है जो रोचक है और उससे भी यही परिणाम निकला कि साम्यवाद के बाद अध्यात्मवादी व्यवस्था आ रही है और ऊर्ध्व-चेतन का अवतरण जागृत आत्माओं में बस होने ही वाला है। अतः इस कार्य के लिए अरविन्द ने इतिहास को शुद्ध आदर्शवादी दृष्टिकोण से देखा। जहाँ यथार्थवादी विचारक बदलती हुई व्यवस्थाओं के परिणाम स्वरूप, बदलती हुई व्यक्ति चेतना को दिखाता है, वहाँ अरविन्द यह मानते हैं कि मानवीय चेतना का विकास आध्यात्मिक सत्ता की ओर हो रहा है। अतः वह निश्चित

युगों में विभिन्न व्यवस्थाओं को जन्म देती रही है और इन व्यवस्थाओं मे जो अनुभव मानवीव चेतना को हुये है या हो रहे हैं, उन अनुभवों से वह अवश्य अन्त में आध्यात्मिक व्यवस्था की ओर जा रही है हैं और वस्तुत. उसी आध्यात्मिक युग की ओर जाने के लिए अब की व्यवस्थाओं का विकास एक रिहर्सल मात्र रहा है। मानवीय चेतना ही मुख्य है, वही अपने लिए नाना व्यवस्थाओं को रचती और नष्ट करती है क्योंकि वह स्वयं अपने स्वरूप को पाना चाहती है। अत' वह परस्पर विरोधी अनुभवों में से जब तक नही गुजर लेती, आस्तिक व नास्तिक दोनों प्रकार के अनुभव नहीं कर लेती, तब तक हमेशा के लिए वह आध्यात्मिक व्यवस्था की रचना नही करेगी। अत यदि किसी देश में, या सारे देशों में नास्तिक साम्यवाद कायम होता है तो डर की कोई बात नही, यह अनुभव भी जरूरी है। चूँकि पिछले युगों मे कोरे अध्यात्मवाद मे मानवीय चेतना मग्न रही अत. आवश्यक है कि वह कोरे भौतिकवाद का भी अनुभव कर ले। चूँकि मध्य युग मे विश्वास का अधिक प्रयोग हुआ था इसलिए अब कोरी बुद्धि (अशुद्ध-बुद्धि) के प्रयोग की भी आवश्यकता है। अत. बुद्धि-वादिता के इस युग मे, भौतिकता के इस समय में यदि 'विश्वास' नष्ट हो रहा है तो डरने की आवश्यकता नहीं। यह तो चेतना अपनी ही परीक्षा कर रही है। यह तो तै है कि मानवीय चेतना अशुद्ध बुद्धि के के माध्यम से प्राप्त इस भौतिकवादिता के बन्धन को तोड़कर अवश्य पुन प्राचीन ऋषियों के बताये मार्ग पर चलकर अध्यात्मवादी व्यवस्था का निर्माण करेगी और तब आदिम साम्यवाद से लेकर जनतन्त्रवाद, साम्यवाद, अध्यात्मवाद तक की शृङ्खला पूरी हो जायगी।

स्पष्ट है कि इतिहास के प्रति यह दृष्टिकोण घोर वैयक्तिक व विकट आदर्शवादी है। इसमें मानवीय चेतना ही नाना परिस्थितियों का सृजन करती हुई, ईश्वरीय इच्छा से ही, अध्यात्म की ओर बढ़ी चली जा रही है। इस यात्रा के सोपान हैं—१-आदिम साम्यवाद, २-जनतन्त्रवाद, ३-साम्यवाद, ४-अन्तिम अवस्था है अध्यात्मवाद। यह दृष्टिकोण यथार्थवादी दृष्टिकोण के ठीक विपरीत है जिसमें मानवीय चेतना जो भौतिक पदार्थ से ही विकसित है, भौतिक परिस्थितियों से शासित होती है और परिस्थितियों को भी शासित करती है।

अरविन्द के अनुसार प्रथम व्यवस्था है आदि-सभ्यता (Primitive Society)।[1] यह सभ्यता आर्थिक दृष्टि से अविकसित थी परन्तु धर्म की दृष्टि से उच्चतम विकास इसमें हो चुका था। इस युग में विचारक प्रतीकवादी थे। ये लोग आध्यात्मिक शक्ति का साक्षात्कार कर चुके थे और उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों का प्रयोग करते थे। वैदिक-साहित्य इसीलिए प्रतीकों से ओत प्रोत है। वेद की भाषा प्रतीकात्मक है। उसका अभिधेय अर्थ ग्रहणीय नहीं है। इस युग के प्रतीकों को हम अब इसलिए नहीं समझ पाते कि उस युग में जो विचारक की मानसिक स्थिति थी, वह अब नहीं रही, तब विचारक कल्पनावादी या अन्तर्चेतनावादी था, आज का व्यक्ति बुद्धिवादी है। बुद्धिवादी अपनी मानसिक स्थिति में वेद की व्याख्या इसलिए सही नहीं कर सका। अतः वेद को वही समझ सकता है जो पहले अपने को वैदिक युग की मानसिक स्थिति में रखे और तब हमें उस ज्ञान का परिचय हो सकता है जिसकी आज हमें बहुत अधिक आवश्यकता है।

प्रतीकों के उस युग में विचारक ने एक अज्ञेय सत्ता का अनुभव कर लिया था। अपने प्रत्यक्ष अनुभव से उसका साक्षात्कार किया था।[2] इस युग में आध्यात्मिकता ही इसकी मुख्य विशेषता थी, भौतिक जीवन उन्नत न था, न इधर तब मनुष्य का ध्यान था, तब 'स्व' की खोज ही मुख्य थी, मनुष्य सुखी था। समाज सांसारिक कार्यों को आध्यात्मिक सत्य के साक्षात्कार के साधन रूप में करता

[1] If we look at the beginnings of Indian Society the far off vedic age which we no longer understand, for, we have lost that mentality, we see that everything is symbolic. The Human cycle, page 6

[2] Human Society was for them an attempt to express in life the cosmic Purusha who has expressed himself otherwise in the material and supra-physical universe. Man and the cosmos are both of them symbols and expression of the same hidden Reality— The Human cycle page 8

था। चतुर्वर्णों का विभाजन भी इसी आधार पर हुआ था। ज्ञान=ब्राह्मण, शक्ति=क्षत्रिय, समता=वैश्य तथा सेवा=शूद्र इस प्रकार का विभाजन था।

इतिहास की आदर्शवादी व्याख्या का रूप ऊपर स्पष्ट है। यदि समाज का विभाजन ऋषियों ने ज्ञान, शक्ति समता व सेवा के आधार पर पहले से ही कर दिया था तो प्रश्न होगा कि अंतत इस अवस्था तक आने में समय लगा होगा, उस विकास की शृङ्खलाएँ कहाँ हैं? यदि कहो, वेद से पूर्व पता नही चलता, जगली जातियाँ रहती होंगी तो मानना होगा कि उन बर्बर जातियों में से प्रतीकात्मक वैदिक युग का विकास हुआ और उक्त विभाजन के पूर्व का रूप अवश्य भिन्न रहा होगा, यदि यह भी मान लिया जाय कि सृष्टि के साथ ही वेद उत्पन्न हुआ और वेद के ज्ञान का आर्य ऋषि ही साक्षात्कार कर सके, अन्य जातियाँ असभ्य थी, तो अंतत आर्य-ऋषियों की जीवन-पद्धति, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक दशा, शासन-व्यवस्था आदि पर अरविन्द ने प्रकाश क्यों नही डाला? क्या इतिहास का अर्थ यह है कि विभिन्न युगों मे आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का दृष्टिकोण क्या रहा? क्या आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर वर्बर युग चरमान्नत शिखर पर और आज का युग चरम पतितावस्था को प्राप्त न प्रतीत होगा? अवश्य होगा। अरविन्द ने इसी आध्यात्मिक दृष्टि से देखा। अत उन्हे लगा कि प्रथम युग—आदि युग=वैदिक युग, में सत्य का पूर्ण साक्षात्कार हो गया था, सामान्य आर्थिक दशा, संकुलता रहित जीवन, आचार-रीति, धार्मिक क्रियाओं से रहित शुद्ध वैदिक जीवन जिसकी विशेषताएँ थीं। इस दृष्टिकोण से देखने पर अरविन्द की इतिहास की व्याख्या एक मजाक वन जाती है। यदि पूछो किस प्रकार ब्रह्म पर क्रमश ध्यान गया होगा? उत्तर मिलेगा, वैदिक युग के लोग सर्वज्ञ थे और वस आदि युग के पश्चात् दूसरा युग व्यक्तिवाद व बुद्धि का युग आया[1] क्यों आया? क्योंकि वैदिक युग के पश्चात् समाज मे वाहरी रीति रिवाजों और आचारों का महत्त्व वढ गया था। यद्यपि आंतरिक सत्य से लोग परिचित रहे तथापि वे सत्य को प्राप्त करने के लिए अनेक विस्तृत दिखाऊ धार्मिक क्रियाएँ करने लगे और इसलिए समाज मे अनेक प्रकार की विशृंख-

[1] The Age of Individualism and Reason

लता फैलती गई। प्राचीन आध्यात्मिक विभाजन भी पवित्र न रह सका। "स्वधर्म" पालन की जगह परधर्म पालन बढ़ा। अतः नाश होने लगा और बढ़ते हुए धार्मिक आचारों के विरुद्ध घोर बुद्धिवाद ने जन्म लिया।

योरोप में यह बुद्धिवाद बहुत अधिक बढ़ गया। वहीं से हमने भी सीखा। इस बुद्धिवाद ने धर्म के विरुद्ध जिहाद बोल दी और सत्य को पाने का एक मात्र साधन बुद्धि को माना गया। सन्देह, परीक्षा, प्रयोग आदि द्वारा आंतरिक सत्य की जगह बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने तथा नए-नए नियमों के आविष्कार किए गए। केवल बुद्धि के विकास को ही सब कुछ मान लिया गया और जिस सत्य की प्राप्ति आदि युग में हो चुकी थी और जिस सत्य को बाद के युगों में आचारवाद, पूजा, पाठ आदि से आवृत कर दिया गया था उस सत्य के सम्बन्ध में भी बुद्धि द्वारा ही खोज की गई और इसलिए एक ओर जहाँ विज्ञान का विकास हुआ, वहाँ योरोप में दूसरी ओर 'दर्शन' का विकास हुआ जिसमें तर्क-पद्धति अपनाकर ईश्वर को सिद्ध किया जाने लगा। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की घोषणा की जाने लगी। इङ्गलैंड में इसी दृष्टिकोण के कारण जनतन्त्र का विकास हुआ। जनतन्त्र में व्यक्तिवाद व बुद्धिवाद का चरम विकास हुआ। परन्तु इस युग में व्यक्ति के विकास के लिए एक सामाजिक सङ्गठन पर बहुत बल दिया गया। समाज का कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति को विकास की सारी सुविधाएँ दें, इस दृष्टि कोण के कारण इस व्यक्तिवादी युग में समाज सङ्गठित करने की भावना बढ़ती गई। राजाओं का स्थान योग्यतम प्रतिनिधि लेने लगे। यह विकास का द्वितीय सोपान था।

विकास का तृतीय सोपान वह व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता नाम मात्र को रह जाती है और व्यक्ति के स्थान पर राज्य को महत्त्व मिल जाता है। इसमें यान्त्रिकता, बौद्धिकता, व्यक्ति के ऊपर समाज को रखने का प्रयत्न, एक पार्टी का शासन आदि प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं। यह स्वाभाविक विकास है क्योंकि व्यक्ति सार्वभौम नियमों की खोज का स्वयं उत्तरदायी बनता है, जिनसे वह समाज का अनुशासन करता है। अतः यान्त्रिकता की वृद्धि होती है और अन्त में उन नियमों से शासित समाज के सम्मुख व्यक्ति अपनी

था। चतुर्वर्णों का विभाजन भी इसी आधार पर हुआ था। ज्ञान=ब्राह्मण, शक्ति=क्षत्रिय, समता=वैश्य तथा सेवा=शूद्र इस प्रकार का विभाजन था।

इतिहास की आदर्शवादी व्याख्या का रूप ऊपर स्पष्ट है। यदि समाज का विभाजन ऋषियों ने ज्ञान, शक्ति समता व सेवा के आधार पर पहले से ही कर दिया था तो प्रश्न होगा कि अंतत' इस अवस्था तक आने में समय लगा होगा, उस विकास की शृङ्खलाएँ कहाँ हैं? यदि कहो, वेद से पूर्व पता नही चलता, जगली जातियाँ रहती होंगी तो मानना होगा कि उन बर्बर जातियों में से प्रतीकात्मक वैदिक युग का विकास हुआ और उक्त विभाजन के पूर्व का रूप अवश्य भिन्न रहा होगा, यदि यह भी मान लिया जाय कि सृष्टि के साथ ही वेद उत्पन्न हुआ और वेद के ज्ञान का आर्य ऋषि ही साक्षात्कार कर सके, अन्य जातियाँ असभ्य थी, तो अतत आर्य-ऋषियों की जीवन-पद्धति, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक दशा, शासन-व्यवस्था आदि पर अरविन्द ने प्रकाश क्यों नही डाला? क्या इतिहास का अर्थ यह है कि विभिन्न युगों में आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का दृष्टिकोण क्या रहा? क्या आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर वर्बर युग चरमान्नत शिखर पर और आज का युग चरम पतितावस्था को प्राप्त न प्रतीत होगा? अवश्य होगा। अरविन्द ने इसी आध्यात्मिक दृष्टि से देखा। अत उन्हे लगा कि प्रथम युग—आदि युग=वैदिक युग, में सत्य का पूर्ण साक्षात्कार हो गया था, सामान्य आर्थिक दशा, संकुलता रहित जीवन, आचार-रीति, धार्मिक क्रियाओं से रहित शुद्ध वैदिक जीवन जिसकी विशेषताएँ थीं। इस दृष्टिकोण से देखने पर अरविन्द की इतिहास की व्याख्या एक मजाक वन जाती है। यदि पूछो किस प्रकार ब्रह्म पर क्रमश ध्यान गया होगा? उत्तर मिलेगा, वैदिक युग के लोग सर्वज्ञ थे और वस आदि युग के पश्चात् दूसरा युग व्यक्तिवाद व बुद्धि का युग आया[1] क्यों आया? क्योंकि वैदिक युग के पश्चात् ममाज मे वाहरी रीति रिवाजों और आचारों का महत्त्व वढ गया था। यद्यपि आतं क सत्य से लोग परिचित रहे तथापि वे सत्य को प्राप्त करने के लिए अनेक विस्तृत दिखाऊ धार्मिक क्रियाएँ करने लगे और इसलिए ममाज मे अनेक प्रकार की विशृंख-

[1] The Age of Individualism and Reason

या आध्यात्मिक निरंकुश राज्य की स्थापना होगी। इसे आध्यात्मिक इसलिए कहा क्योंकि साम्यवादी व्यवस्था में बौद्धिकता चरम सीमा पर पहुँच जायगी। अत: इसके बाद विश्वास, साधना, साक्षात्कार तथा अन्तर्चेतना (Intuition) का युग अवश्य आएगा।'

यह है मानव चेतना का ऐतिहासिक विकास जिसे अरविन्द ने इतिहास की व्याख्या कहा है। इसे तीन सोपानों में बाँटा गया है—

अर्ध बुद्धिवादी युग या प्रतीकवादी युग	बुद्धिवादी युग	ऊर्ध्व-बुद्धिवादी युग
Infra-rational age or Symbolic age	Rational age	Supra-rational (Spiritual-Anarchism)

बुद्धिवादी युग (Rational age) के दो भाग:

जनतन्त्र युग	साम्यवादी युग
Democratic	Communistic
व्यक्ति स्वातन्त्र्य + बुद्धिवाद	व्यक्ति परतन्त्रता + जड़वादी बुद्धिवाद

' There was for the individual the freedom of an early Sannyasa, a renunciation of the Social for the free spiritual life, and there was for the group liberty to form a Sub-Society governed by new conceptions like the Sikh or the Vaishnava. But neither of these violent departures from the norm could be tolerated by a strictly economic and rigorously scientific and unitarian society. Obiously, too, there would grow up a fixed system of social morality and custom and a body of socialistic doctrine which one could not be allowed to question practically and perhaps not even intellectually And quiet certainly the static order would at long and last be broken by a new individual age of revolt, led probably by the principles of an extreme philosophical Anarchism. —Human cycle, page 237.

वैयक्तिकता खो देता है, उसी को आर्थिक साम्यवाद कहते है।[1]

इस साम्यवाद में व्यक्ति का अधिकार छीन लिया जाता है। साम्यवादी व्यवस्था मे व्यक्ति के सारे जीवन पर राज्य का अधिकार हो जाता है। प्राचीन व्यवस्था मे व्यक्ति को सन्यास लेने और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार था परन्तु साम्यवादी व्यवस्था मे यह अधिकार नही है। यही नही, वहाँ कोई विचारधारा नही पनप सकती। हमारे यहाँ मध्य-युग में सिक्ख धर्म, वैष्णव धर्म, शाक्त, शैव आदि अनेक सम्प्रदाय चले परन्तु रूस मे यह सम्भव नही है क्योंकि वहाँ शासन यह सब सहन नहीं कर सकता। ऐसी व्यवस्था में सामाजिक सम्बन्धों मे भी एक यान्त्रिकता आ जाती है, जीवन मे लचक नहीं रहती, जड़वाद आ जाता है। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार की गति इस साम्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध व्यक्तिवादी युग का विद्रोह होगा और तब अन्तिम विकास का सोपान दार्शनिक

---

[1] The result to which it still seems irresistibly to be driving us is a new ordering of Society by a rigid economic or governmental Socialism in which the individual, deprived again of his freedom in his own interest and that of humanity, must have his whole life and action determined for him at every step and in every point from birth to old age by the well-ordered mechanism of the state.

(The Human cycle page 22)

इसके ऊपर 'न्यूयार्क-सिटी' से श्री अरविन्द लाइब्रेरी की ओर से प्रकाशित इस पुस्तक मे यह टिप्पणी दी गई है—

"We already see a violent though incomplete begining of this line of social evolution in fascist Italy, Nazi Germany, Communist Russia"

पाठक देखें कि कितनी वैज्ञानिक ऐतिहासिक व्याख्या है जिसका अन्तिम परिणाम यह निकला कि रूस का साम्यवाद फासिस्ट है और अमेरिका व इङ्गलैण्ड का जनतन्त्र व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करता है। इसीलिए हमने अरविन्दवाद को साम्यवाद के विरुद्ध मात्र प्रचार कहा था।

पर विकसित रूसी साम्यवाद अरविन्द को वैसा लगे तो स्वाभाविक ही है। अरविन्द योरोप की जिन्दगी को देखकर प्रतिक्रिया में इतने पीछे लौटे कि सारे इतिहास के प्रवाह को लौटाकर पुनः वैदिक युग में ले जाना चाहते हैं। उनके अनुसार साम्यवाद तक बुद्धि का युग समाप्त हो जायगा। उसके बाद अतर्चेतना का युग आएगा। अरविन्द का 'आध्यात्मिक निरंकुशतावाद' वास्तव में बुद्धि रहित कल्पना है।

अरविन्द बृहत्तर भारत की प्राचीन महिमा को न भूले थे। जगत गुरु होने के सारे गुण उसमें थे ही। अतः उनके अनुसार जहाँ एक ओर यान्त्रिक शासन की नींव रूस में पड़ी, वहाँ बुद्धिवादी पर वैयक्तिकतावादी देशों में नीत्शे, बर्गसाँ, कॉट, हीगेल आदि दार्शनिक बुद्धिवाद के पश्चात् आंतरिकता प्रधान युग (Subjective Age) के आगमन की सूचना दे रहे हैं। इधर भारत में यदि प्राचीन ज्ञान का अनुगमन किया गया तो विश्व-विजय होके रहेगी। कुछ भी हो अरविन्द को कम से कम यह विश्वास है कि भारतीय अध्यात्मवाद के प्रभाव के कारण समाज का निर्माण आर्थिक यान्त्रिकता के आधार पर न होगा। भारत का अवश्य प्रभाव पड़ेगा, इस सम्बन्ध में पन्तजी को भी कोई सन्देह नहीं है। भारतवर्ष की देन अध्यात्म की देन होगी, पन्तजी का भी यही विचार है।[1] पन्तजी ने अपने गुरु अरविन्द से दो बातें सीख ली हैं। प्रथम, अन्ध-विश्वासों की वैज्ञानिकता प्रमाणित करने का प्रयत्न, दूसरा साम्यवाद के ऊपर चारों ओर से प्रहार।

अरविन्द योरोप की बूर्ज्वा सरकारों को साम्यवादी व्यवस्था से अच्छा मानते थे क्योंकि उनके अनुसार बूर्ज्वा सरकारों में व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित हैं। इससे भी अच्छी बात बूर्ज्वा व्यवस्था में प्राप्त व्यक्तिवाद में यह मिलती है कि वहाँ यह माना जाता है कि व्यक्ति समाज का अङ्ग होते हुये भी कुछ अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, उसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का भी कुछ मूल्य है, साम्यवाद में यह बात नहीं है। अरविन्द को कैसे-कैसे अलौकिक विचार सूझते थे, उसका पता उनके लेखों से स्पष्ट लग जाता है। सारा तर्कजाल इसलिए खड़ा किया गया है ताकि रूस के विरुद्ध अमेरिकन प्रचार से

[1] देखिये 'उत्तरा' की भूमिका।

व्यवस्था का उदय किस प्रकार और क्यों होता है इसका एक मात्र उत्तर अरविन्द के पास है कि मानवीय चेतना स्वयमेव व्यवस्थाओं को जन्म देती है अर्थात् मानवीय चेतना निरपेक्ष है, जब चाहा जिस व्यवस्था को उत्पन्न कर लिया, जब चाहा नाश कर लिया परन्तु यदि यही इतिहास है तो सत्यनारायण की कथा और इतिहास की पुस्तक में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिए। कथा कहते समय स्वयं कथा का भाग प्रतीकात्मक है। चालाक पण्डित बुद्धिवादी होता है, और दक्षिणा व पञ्चामृत के समय आध्यात्मिक निरंकुशता के पूर्ण रूप से दर्शन वहाँ होते हैं। कितना वैज्ञानिक इतिहास है? तथ्यों का सृजन मनुष्य कर सकता है और अप्रभावित रहता है। यह है अरविन्द के इतिहास का सारांश, जिसका एकमात्र उद्देश्य जनता की चित्तवृत्ति में अन्ध-विश्वास भर कर उसे अपनी वास्तविक लड़ाई से विमुख कर देना है।

यदि सन्यासी होने या सिक्ख, वैष्णव जैसे सम्प्रदाय सञ्चालन की छूट रूस नहीं देता तो क्यों नहीं देता? उत्तर होगा जनता की भौतिक उन्नति के प्रयत्न में आध्यात्मिक उन्नति को रोकना आवश्यक है। भूखों व बेकारों के देश भारत में सम्प्रदाय चलाने की स्वतन्त्रता है परन्तु सम्प्रदाय चलाने से क्या होगा? जब सामूहिक रूप से सारी जनता के स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न होगा तो कुछ व्यक्तियों की सनक पर रोक लगाने का अर्थ व्यक्ति के अधिकारों का नाश तो नहीं होता? फिर समाज में बाधक न होने पर व्यक्तिगत विश्वासों के रूप में आपकी सनक रह भी सकती है। देश के लोग एड़ियाँ रगड़ रहे हैं और आपको आध्यात्मिक निरंकुशता के स्वप्न आरहे हैं। यदि 'सुपरमाइंड' ने अरविन्द की अन्तश्चेतना में यही प्रकाश भरा था जिसकी स्वर्णिम किरणों को पन्तजी हिन्दी-जगत पर बरसा रहे हैं तो इससे तो वह ही भले जो जीवन की यथार्थ समस्याओं को, यथार्थ ढङ्ग से हल करते हैं और दृढ़ता के साथ। हाँ इतना मानना चाहिए कि धर्म-परायण अरविन्द के भूखे भारत में संन्यासी हो जाने के अधिकार का अवश्य लाभ उठाना चाहिए, क्योंकि इस देश मे अध्यात्मवादियों के शरीर पर जो लाली है वह मेहनतकश लोगों के चेहरों पर कहाँ? बात यह है कि हमारे देश में उच्छृङ्खलता व निरंकुशता को—सब प्रकार की निरंकुशता को सदा छूट दी गई। अतः सङ्गठन व सहयोग के आधार

पर विकसित रूसी साम्यवाद अरविन्द को वैसा लगे तो स्वाभाविक ही है। अरविन्द योरोप की जिन्दगी को देखकर प्रतिक्रिया में इतने पीछे लौटे कि सारे इतिहास के प्रवाह को लौटाकर पुनः वैदिक युग में ले जाना चाहते हैं। उनके अनुसार साम्यवाद तक बुद्धि का युग समाप्त हो जायगा। उसके बाद अतर्चेतना का युग आएगा। अरविन्द का 'आध्यात्मिक निरंकुशतावाद' वास्तव में बुद्धि रहित कल्पना है।

अरविन्द वृहत्तर भारत की प्राचीन महिमा को न भूले थे। जगत गुरु होने के सारे गुण उसमें थे ही। अत: उनके अनुसार जहाँ एक ओर यान्त्रिक शासन की नींव रूस में पड़ी, वहाँ बुद्धिवादी पर वैयक्तिकतावादी देशों में नीत्शे, बर्गसाँ, कॉट, हीगेल आदि दार्शनिक बुद्धिवाद के पश्चात् आंतरिकता प्रधान युग (Subjective Age) के आगमन की सूचना दे रहे हैं। इधर भारत में यदि प्राचीन ज्ञान का अनुगमन किया गया तो विश्व-विजय होके रहेगी। कुछ भी हो अरविन्द को कम से कम यह विश्वास है कि भारतीय अध्यात्मवाद के प्रभाव के कारण समाज का निर्माण आर्थिक यान्त्रिकता के आधार पर न होगा। भारत का अवश्य प्रभाव पड़ेगा, इस सम्बन्ध में पन्तजी को भी कोई सन्देह नहीं है। भारतवर्ष की देन अध्यात्म की देन होगी, पन्तजी का भी यही विचार है।[1] पन्तजी ने अपने गुरु अरविन्द से दो बातें सीख ली हैं। प्रथम, अन्ध-विश्वासों की वैज्ञानिकता प्रमाणित करने का प्रयत्न, दूसरा साम्यवाद के ऊपर चारों ओर से प्रहार।

अरविन्द योरोप की बूर्ज्वा सरकारों को साम्यवादी व्यवस्था से अच्छा मानते थे क्योंकि उनके अनुसार बूर्ज्वा सरकारों में व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित हैं। उससे भी अच्छी बात बूर्ज्वा व्यवस्था में प्राप्त व्यक्तिवाद में यह मिलती है कि वहाँ यह माना जाता है कि व्यक्ति समाज का अङ्ग होते हुये भी कुछ अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है, उसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का भी कुछ मूल्य है, साम्यवाद में यह बात नहीं है। अरविन्द को कैसे-कैसे अलौकिक विचार सूझते थे, उसका पता उनके लेखों से स्पष्ट लग जाता है। सारा तर्कजाल इसलिए रचा किया गया है ताकि रूस के विरुद्ध अप्रमाणित प्रचार से

[1] उत्तरा 'ठगा' की भूमिका।

सहायता मिले।[1]

अरविन्द ने यौगिक साधनाओं के बल पर दूर-दृष्टि से यह स्पष्ट देख लिया था कि बहिर्मुखी वृत्ति-प्रधान राज्य-व्यवस्था जो रूस में स्थापित हुई है, वह नष्ट हो जायगी और साम्यवाद के पश्चात् आंतरिकता प्रधान युग (Subjective Age) अवश्य आयेगा। वर्तमान युग में उस आंतरिकता प्रधान युग की प्रतीति द्रष्टाओं को होरही है। प्रत्येक देश मे कुछ दूरदर्शी विचारक अनुभव कर रहे हैं। अत वर्तमान युग एक ओर अतिवादी प्रवृत्तियों से पीड़ित है और दूसरी ओर सामञ्जस्य की प्रतीति भी हो रही है। इसलिए यह युग संक्रान्ति का युग है।

सक्रान्ति-युग में आदर्शवादी विचारक बुद्धि से प्राचीन मान्यताओं की परीक्षा करना चाहते है। दूसरी ओर विज्ञान भी प्रकृति के रहस्यों को खोज कर सामान्य सिद्धान्तों की खोज करता है। आदर्शवादी बुद्धि के द्वारा परम सत्ता को भी सिद्ध करते हैं, पर यह निश्चित है कि तर्क द्वारा सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। इसीलिये काट जैसे दार्शनिकों को भी परम सत्ता के सम्बन्ध में यही कहना पडा कि ब्रह्म की सत्ता तर्क से नहीं, व्यावहारिक बुद्धि से ही सिद्ध हो सकती है। अत सक्रान्ति-युग में दूर द्रष्टा व्यक्ति स्पष्ट समझ रहा है कि आगामी युग मे बुद्धि के स्थान पर अतर्चेतना या स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान की प्रधानता अवश्य होगी ओर आगामी युग आतरिकता प्रधान (Subjective) होगा।

विज्ञान के क्षेत्र मे होने वाले प्रयोगों से भी यही सिद्ध होता है। विज्ञान से यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य मानसिक प्राणी है, (More mental than physical and vital) और व्यक्ति की

[1] टिप्पणी देखिये—This is (the importance of individual) no longer recognised by the new order, Fascist or Communistic, here the individual is reduced to a cell, a atom of the social body ... there is no liberty of individuals, there is only liberty of nations or races.

(The Human Cycle, page 26)

चेतना पर वातावरण—शरीर, अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा आदि का प्रभाव पड़ता है पर मूलतः मानवीय चेतना वातावरण से शासित नहीं होती[1] अतः इस दृष्टि से भी मानवीय-चेतना के मूल को खोजते-खोजते हम आंतरिकता प्रधान युग की ओर ही बढ़ेंगे और वस्तुतः बढ़ रहे हैं।[2]

अरविन्द के अनुसार आदर्शवाद व विज्ञान दोनों दृष्टियों से बुद्धि (Intellect) को माध्यम बनाने का कार्य अधिक समय तक नहीं चल सकता क्योंकि मूल समस्या तक पहुँचने के लिए बुद्धि के अतिरिक्त अंतर्चेतना पर विश्वास की आवश्यकता है अन्यथा विरोध कभी समाप्त नहीं हो सकता। विज्ञान जगत का अध्ययन तो करता है परन्तु वह मनुष्य के 'स्व' की ओर से विमुख है। यह दशा बहुत समय तक नहीं चल सकती।

क्योंकि बुद्धिवादिता के परिणामस्वरूप हमें बुद्धिवादी या उपयोगितावादी (Utilitarian) प्रयोगवादी व्यवस्थाएँ मिली हैं। अतः राष्ट्रीय मस्तिष्क सोचने के लिए विवश हो गया है कि एक नए दृष्टिकोण से विचार करें जिससे भूत की रक्षा हो, वर्तमान का सुधार हो।

इस प्रक्रिया से हम जिस ओर अज्ञात रूप से बढ़ रहे हैं उससे यह निश्चित है कि हम बुद्धि की जगह अन्तर्चेतना, उपयोगितावादिता की जगह आत्म-निरीक्षण, आत्मानुभूति, प्रकृति ज्ञान के बाह्य नियमा-

[1] Even though his psychology is strongly affected and limited by his physical being and environment, it is not at its determined by them

[2] अरविन्द यह मानते हैं कि मनुष्य पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है परन्तु अपने मूल रूप में मानवीय चेतना को वे निरपेक्ष मानते हैं और यह इसलिए क्योंकि उनके मन में सदा यह विचार रहता है कि चेतना प्रथम है, जीवन बाद में। अतः वे जिन तथ्यों पर पहुँचते हैं, वे नवीन नहीं हैं। प्रत्येक आदर्शवादी पुकार रहा है, पुकारता रहा है कि एक ऐसा युग आ रहा है जिसमें ईश्वर व जीवात्माओं का सम्पर्क सीधा हो जायगा, सारे दुःखों का अन्त हो जायगा, चेतना का पूर्ण विकास हो जायगा। बुद्धि की जगह आत्म-प्रकाशन-ज्ञान की प्रधानता होगी। हम फिर कहेंगे—दिल के बहलाने को गालिब यह ख्याल अच्छा है।

नुसरण की जगह पर गुप्त ईश्वरेच्छा-अनुसरण का प्रयोग करेंगे और यह नए युग में ही सम्भव है।[1]

कितनी रमणीय और रहस्यवादी कल्पना है। अब तक बुद्धि का प्रयोग होता रहा है। अत. आगामी युग अनुभूति व स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान का युग होगा, मतलब यह कि उस युग मे विश्लेषणात्मक बुद्धि के स्थान पर सश्लेपणात्मकता आ जायगी और सारी समस्याओं का अन्त हो जायगा। यदि वस्तुत. ऐसा ही होगा तो विज्ञान के हानिकर कार्य को रोक देना ही कल्याणकर है, क्यों व्यर्थ विश्लेषण और विभाजन की ओर बढ़ा जाय। जब द्रष्टा दूर की बात बता सकता है, भविष्य के रहस्य को घोषित कर सकता है तो क्यों कष्टप्रद प्रयोगों के बीच से मानवता गुजरे? क्यों न द्रष्टाओं की बात स्वीकार करली जाय?

केवल आदर्शवादी दर्शन और विज्ञान के प्रयोग ही आगामी युग के विषय मे संकेत नही करते, कला, साहित्य, संगीत आदि भी इसी ओर संकेत करते हैं। अरविन्द के अनुसार नवीन युग को बहिर्मुखी वृत्ति प्रधान कलाएँ (Objective Arts) प्रभावित नही करती। अब तक के साहित्य में भावों का वर्णन होता रहा है जो मन के बाह्य स्तर (Surface mind) से सम्बन्धित है। जो केवल आशु सन्तोप देता है, शाश्वत आनन्द नहीं और जो निम्न-स्तर की भावनाओं को ही उत्तेजित करने का प्रयत्न करता रहा

[1] In this process the rationalistic ideal begins to subject itself to the ideal of intuitional knowledge and a deeper self-awareness, the utilitarian standard gives way to the aspiration towards self consciousness and self-realisation, the rule of living according to the manifest laws of physical Nature is replaced by the effort towards living according to the veiled Law, Will and Power, active in the life of the world and in the inner and outer life of humanity. (The Human Cycle, page 31)

है।[1] अतः इससे यही संकेतित होता है कि आगामी युग की कला में आन्तरिकता की प्रधानता होगी पर आंतरिकता के स्थान पर आज हम यथार्थ जीवन के चित्रण पर जोर दे रहे हैं। अरविन्द को अब तक का साहित्य महान नहीं लगता उसे वे बाह्य स्तर से ही सम्बन्धित समझते हैं[2] और उनका विश्वास है कि साहित्य व कलाएँ आगामी युग की ओर संकेत कर रही हैं।

व्यावहारिक जीवन में भी इसी ओर संकेत हो रहा है। विज्ञान व बुद्धिवाद ने हमें विश्व युद्धों की परम्परा दी है। अतः शांति आंतरिकता-प्रधान युग में ही सम्भव हो सकेगी।

अरविन्द की दृष्टि से युद्ध पूँजीवादी प्रतियोगिता से नहीं, बुद्धि की प्रधानता हो जाने से ही होते हैं। इसीलिए मैंने कहा था कि तथ्यों को न देखकर, केवल अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करने पर किस प्रकार अरविन्द गलत निर्णय देने लगते हैं, यह स्पष्ट है।

अरविन्द के लिए प्राचीन प्रतीकवादी वैदिक युग की मानसिक स्थिति की ओर लौट चलो, केवल यही नारा ठीक है। क्योंकि वैदिक युगीन विचारकों ने सत्य का साक्षात्कार कर लिया था। हम पथभ्रष्ट हो चुके हैं। विकास का मतलब यह नहीं कि हमने अंतश्चेतना के क्षेत्र में भी उन्नति की है, नहीं, हमने अंतश्चेतना के पथ को छोड़ कर जब से बुद्धि का मार्ग पकड़ा है तब से कष्टों की परम्परा खड़ी होगई है। मनुष्यता ने अनेक प्रयोग किए, व अनेक व्यवस्थाएँ बदलीं, अनेक विचारधाराएँ खड़ी कीं, परन्तु समस्या उलझती गई और बुद्धि पर ही बल देने से हम अंत में नास्तिकता व बहिर्मुखता

---

[1] कला की कितनी सुन्दर व्याख्या है? यथार्थ यह है कि प्राचीन युग व मध्य युग के साहित्य में सदा महान व गम्भीर सत्य की व्याख्या होती रही है और उसे भावनाओं के माध्यम से व्यक्त किया गया है। अतः उसे निम्न कोटि की भावनाओं का उत्तेजक नहीं कह सकते।

[2] Art and literature seem definitely to have taken a turn towards a subjective search into what may be called the hidden inside of things and away from the rational and objective canon or nature.
(The Human Cycle, page 33)

पर जा पहुँचे (यथा साम्यवादी व्यवस्था में)। अत हमें प्राचीन वैदिक साधकों की बात मान लेनी चाहिए। पुनरुत्थानवाद का कितना सुन्दर प्रचार है! प्राचीनतावाद, अंध-भारतीयतावाद तथा अबुद्धिवाद के प्रति कैसी महान निष्ठा है! यदि बुद्धि को अपना लेने से ही सारी मुसीबतें खड़ी होगई हैं तो अबुद्धिवाद को अवश्य मान लेना चाहिए।

अरविन्द के सारे विवेचन में एक बहुत बडा पक्षपात यह है कि जब सारे सामाजिक विकास को वे तीन सोपानों में बाँट देते हैं—(१–ऊर्ध्व-बुद्धि प्रधान युग, २–बुद्धिवादी युग, ३–आध्यात्मिक युग) तो बुद्धिवादी युग के विकास को पूँजीवादी व्यवस्था के विकास तक तो वे आवश्यक मानते हैं परन्तु पूँजीवाद से साम्यवाद तक के बुद्धिवादिता के विकास को कलुषित बता देते हैं, यह क्यों? सामान्यत तो उनके लिए बुद्धिवादी प्रयत्न ही हानिकर है, प्रयोग मात्र है, परन्तु साथ ही वह यह भी कहते हैं कि अर्ध-बुद्धिवादी युग (infra-rational) से बुद्धिवादी युग का विकास स्वाभाविक है परन्तु यह स्वाभाविक बुद्धिवाद जनतन्त्र अर्थात पूँजीवादी युग तक ही स्वाभाविक रहता है और साम्यवाद के आते ही बुद्धिवाद कलुषित हो जाता है। अरविन्द के समाज-शास्त्र का यह पक्षपात असहनीय है।

जिस जनतन्त्र-व्यवस्था मे गला काट प्रतियोगिता की पूरी छूट रहती है, जिसकी स्तुति करते अरविन्द तृप्त नही होते, उसी जनतन्त्र व्यवस्थावादी देशों—इगलैंड, अमेरिका आदि मे साम्राज्यवादी, जङ्ग-बाजी आदि प्रवृत्तियाँ कितनी स्पष्ट है यह सभी जानते हैं परन्तु अरविन्द का बुद्धिवाद पूँजीवादी व्यवस्था तक तो पवित्र रहता है परन्तु समाजवाद व साम्यवाद के आते ही अपावन हो जाता है। श्री भवानी सेन ने भी कहा है—

The progress of society from primitive communism to comptetive capitalism is rational progress but its further progress to socialism to communism is decapitation of reason This strange conclusion is unavoidable unless Aurbindo's social philosophy is disliked from his monistic theory of reality in epistemology (New Age, July 1955)

पूँजीवाद के प्रति इस पक्षपात के अतिरिक्त सारे समाज के विकास को भी अरविन्द का यह नूतन विकासवाद स्पष्ट नहीं करता। इतिहास के दीर्घ विकास को १—आदिम साम्यवाद, २—दास प्रथा, ३—सामंतवाद, ४—पूँजीवाद (जनतन्त्रवाद), ५—साम्यवाद, इन सोपानों में बाँटा जाता है। अरविन्द इसे, इन युगों की मानसिक स्थिति की दृष्टि से तीन सोपानों में ही बाँटते हैं। १—अर्ध-बुद्धिवादी युग, २—बुद्धिवादी युग, ३—अध्यात्मवादी युग। यदि मानसिक स्थिति के अनुसार ही इतिहास का विभाजन किया जाय तो ऐसे अनेक सोपानों की कल्पना करनी होगी। स्वयं भारत में यदि वैदिक युग को प्रतीकात्मक युग भी मान लिया जाय तो आगे ब्राह्मण युग को स्थूल आचार प्रधान युग सभी ने माना है, स्वयं अरविन्द भी उसे वाह्याचार प्रधान युग (the Age of Convention) कहते हैं। इसके विरुद्ध उपनिषदों का युग एक ओर तथा बौद्धों व जैनियों के विचार-प्रवाह दूसरी ओर खड़े हुए। बौद्ध धर्म के अंतिम सम्प्रदायों में घोर बुद्धिवादिता के दर्शन होते हैं और ब्राह्मणवादी दर्शनों में भी। स्वयं अरविन्द मानते हैं कि शङ्कर-नागार्जुन आदि दार्शनिक बुद्धि के द्वारा सत्ता की सिद्धि करने का प्रयत्न करते हैं और यह बुद्धिवाद मध्य-युग में बराबर विकसित होता रहा है। साधना-शून्य तार्किकों ने तर्क के अद्भुत चमत्कार खड़े किये हैं। प्रत्येक वस्तु की परीक्षा की है। अतः इस युग को उस योरोपीय बुद्धिवाद के साथ नहीं रख सकते, जो बुद्धिवाद विज्ञान के क्षेत्र में परीक्षा व प्रयोग की पद्धति पर चलता है। परन्तु ऐसा विभाजन अरविन्द नहीं करते।

साथ ही अरविन्द बुद्धिवाद के युग में आदर्शवादी दार्शनिकों व वैज्ञानिकों दोनों को रख देते हैं। चूँकि वैज्ञानिकों के बुद्धिवाद में मनुष्य की जो मानसिक स्थिति रहती है, वह उस मानसिक स्थिति से सर्वथा भिन्न है जिसमें विशुद्ध अनुमान व साम्प्रदायिक तर्कों के आधार पर ब्रह्म की सत्ता सिद्ध की जाती है। कांट, हीगेल आदि के बुद्धिवाद व न्यूटन के बुद्धिवाद में घोर विरोध है। अतः मानसिक स्थिति की दृष्टि से ही यदि विभाजन करना है तो एक ही बुद्धिवादी युग में योरोप के वैज्ञानिकों तथा आदर्शवादी विचारकों को एक साथ नहीं रख सकते। इसी प्रकार भारत में गौतम बुद्ध, नागार्जुन, शङ्कर व नैयायिकों के बुद्धिवाद को आधुनिक बुद्धिवाद के साथ नहीं

रख सकते। परन्तु अरविन्द ने व्यवस्था को न देख कर मानसिक स्थिति के आधार पर सारी परम्परा को तीन सोपानों में बाँट दिया—(१) अर्ध-बुद्धिवादी युग, (२) बुद्धिवादी युग, (३) अध्यात्मवादी युग। चूँकि बुद्धि युग में अनेक प्रकार के बुद्धिवाद मिलते हैं। अतः यह विभाजन गलत है। यदि इतने व्यापक रूपमें इसे स्वीकार ही करना है तो सीधा विभाजन यह है—

(१) वैदिक युग—आदर्श युग।
(२) अवैदिक—ह्रास युग।
(३) द्वितीय वैदिक युग—पुनः प्राप्त आदर्श युग।

इस प्रकार के विभाजन से आर्यसमाजी भी प्रसन्न होंगे और स्पष्टता भी आ जायगी तथा इससे अरविन्द का मतलब भी साफ और सिद्ध हो जायगा। वैदिकयुग आदर्शयुग था। उसके बाद सीमित या कोरी बुद्धि का विकास हुआ जिसका चरम पतित रूप साम्यवादी व्यवस्था में दिखाई दिया। अतः उसके बाद आगामी युग वैदिक साँचे पर ही विकसित हो रहा है। किन्तु समाज-शास्त्र मनुष्य की चित्त-वृत्ति के आधार पर विभाजन को नहीं मानता क्योंकि एक ही युग में व्यक्ति के अनुसार विभिन्न चित्तवृत्तियाँ हो सकती हैं। यदि समष्टि-चित्तवृत्ति को देखा जाय तो स्वयं भारतवर्ष में दीर्घकाल तक धार्मिक चित्त-वृत्ति रहने का कारण दार्शनिक बुद्धिवादिता न थी। धार्मिक चित्तवृत्ति सामन्तवादी व्यवस्था का परिणाम थी। विज्ञान का विकास न होने से अन्ध-विश्वासों पर ही तर्क-वितर्क हो सकते थे, होते रहे परन्तु योरोप में उद्योगों के विकास के साथ-साथ पूँजीवाद के आगमन पर विज्ञान का द्रुततर विकास होता गया। परिणामतः अन्ध-विश्वासों को एक ओर रख कर प्रकृति के रहस्योद्घाटन का कार्य बढ़ता गया। फिर भी बर्कले जैसे पादरी तथा कांट व शापेन-हावर जैसे धार्मिक वृत्ति के विचारकों ने ईश्वर-आत्मा की सिद्धि के लिए भाँति-भाँति की तर्क पद्धतियों के आविष्कार किए जिनका चरम विकास हमें हीगेल में दीख पड़ा।

भारत की परिस्थितियाँ दूसरी थीं। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् जिस बुद्धिवाद के दर्शन हुए उसने विज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, अंगरेजी सभ्यता को चुनौती देने के लिए प्राचीन दर्शन, धर्म, कला, संस्कृति का उद्धार करना चाहा और परिणामस्वरूप पुनरुत्थानवाद ही एकमात्र

हल दिखाई पड़ा। किन्तु आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का निषेध असम्भव था और भूतकाल के प्रति मोह को छोड़ना भी असम्भव था। अतः अरविन्द जैसे दार्शनिक राष्ट्रीय संग्राम के युग मे उत्पन्न हुए जिन्होंने दोनों के मनमाने समन्वय का प्रयत्न किया। इसलिए जिस चित्त-वृत्ति के आधार पर इतिहास का विभाजन अरविन्द करते हैं वह व्यवस्था से सदा शासित होती चली आई है। व्यवस्था को न देखकर, चित्त-वृत्ति के विकास को निरपेक्ष मानकर, विकास दिखाना इतिहास व समाज-शास्त्र की गलत (आदर्शवादी) व्याख्या है। सही व्याख्या वह है जो इतिहास के सारे विकास को पूर्णतया स्पष्ट कर सके।

अरविन्द की आदर्शवादी व्याख्या की सीमाये द्रष्टव्य हैं। १–वे दास-प्रथा और सामन्तवाद के युगों को भी पूँजीवादी बुद्धिवाद में शामिल कर देते हैं और दार्शनिकों व वैज्ञानिकों के बुद्धिवाद मे अन्तर मानते हुये भी उस अन्तर को अपनी सोपान-कल्पना में स्थान नहीं देते। २–उस बुद्धिवाद व व्यक्तिवाद के चरम विकास को पूँजीवाद तक ही मानकर फिर समाजवादी व्यवस्था मे उसका पतित रूप देखते हैं। ३–कलाओं के क्षेत्र में भी प्राचीन रहस्यवादी, गम्भीर अध्यात्मवादी, भावनाप्रधान रचनाओं तथा यथार्थ चित्रणप्रधान कलाओं में भेद नहीं करते। भारतीय साहित्य में तो कम से कम सदा अमरता की ही खोज रही है, सारा प्राचीन साहित्य आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है, रहस्यवाद भी अनेक काव्यों व ग्रन्थों मे ओत-प्रोत मिलता है। प्रतीक-वाद हिन्दी तक के प्रारम्भिक व सन्त कवियों मे बराबर मिलता है, बँगला में भी यही दशा है। संस्कृत में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक जैसी रचनायें विद्यमान हैं परन्तु अरविन्द ने सारी कलाओं को बुद्धिवादी युग की रचना मानकर उन्हे केवल हल्की भावनात्मक कविता ही कहा है और उनको बहिर्मुखी काव्य की श्रेणी में रख दिया है जबकि यथार्थवादी विद्वान उसे आन्तरिकता प्रधान तथा आज के यथार्थवादी काव्य-साहित्य को बहिर्मुख प्रधान मानते हैं। आज के युग में भी अनेक काव्य गेटे, प्रसाद और रवीन्द्र आदि के प्रतीकवादी हैं। परन्तु इनके विषय में अरविन्द कहेंगे कि यह संक्रान्ति-युग के हैं। अच्छा, इन्हें छोड भी दिया जाय तो भी आधुनिक युग में मनोविज्ञान के आधार पर सूक्ष्म दमित वासनाओं का वर्णन हो रहा है। इसे कला का पतन मानना चाहिये परन्तु अरविन्द इससे यह परिणाम निका-

लते हैं कि उपचेतन व अवचेतन का वर्णन भी ऊर्ध्व-चेतन की ओर वढ़ने का सोपान मात्र है क्योंकि वह स्थूल के स्थान पर सूक्ष्मता की ओर ले चलता है परन्तु सूक्ष्मता की इस खोज के पीछे, फ्राइडियन चित्तवृत्ति के पीछे कोई सामाजिक आधार है, इसका कोई उत्तर अरविन्द नहीं देते क्योंकि वह केवल मानसिक स्थिति को देखते है। यह नहीं देखते कि इसका कारण क्या है। यही कारण है कि व्यवस्थाओं के जन्म व विकास को वे केवल मानसिक सृष्टि मानते हैं। आत्मा की खोज ही मुख्य है, उसी के लिये विभिन्न प्रयत्न मनुष्य अनजाने ही कर रहा है। चूँकि अरविन्द वस्तुत: ऐसा ही प्रयत्न कर रहे थे। अत वे अपनी दृष्टि से ही सारे जगत के इतिहास की गति का लक्ष्य निर्धारित कर देते हैं।[1] निरपेक्ष, दार्शनिक और मानसिक स्थिति मे रहकर जगत को देखने से जो सोपान अरविन्द ने वताये हैं वे उनकी अपनी दृष्टि-दोष के परिणाम स्वरूप ही आये हैं। समाज के विकास को व्यवस्था व मनुष्य के परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में ही समझाया जा सकता है परन्तु अरविन्द इसे कभी स्वीकार ही नहीं करते।

विनोद की वात यह है कि एक ओर तो अरविन्द समाज का क्रमश विकास समझाते हैं और दूसरी ओर उस विकास के पीछे सच्चिदानन्द की इच्छा की कल्पना कर उस विकास को खेल वना देते हैं। एक ओर मानवीय चेतना की स्वतंत्रता को मानते हैं और दूसरी ओर सारे मानवीय प्रयत्न ईश्वरेच्छा से वाहर नहीं जा सकते, यह भी मानते हैं। फलतः प्रत्येक आज के आदर्शवादी की तरह दो ही परिणाम वे निकालते हैं—(१) ईश्वर-आत्मा, जीवन्मुक्ति आदि की सिद्धि। (२) समाजवाद-साम्यवाद का घोर विरोध। वह विकासवाद कैसा है जो समाज के विकास को इस आधार पर समझाता है कि अमुक युग में वुद्धि के स्थान पर कल्पना के द्वारा ईश्वर की खोज होती रही, अमुक युग मे वुद्धि के आधार पर और चूँकि वुद्धि का साधन अपूर्ण है अत कुछ लोग वुद्धिवाद के प्रयोग करने से भटक कर नास्तिक हो

[1] Subjectivism proceeds from within and regards every thing from the point of view of a containing and developing selfconsciousness.

(The Human cycle, page 68)

गए और इसीलिये अब पुन कल्पनावाद, प्रतीकवाद, वैदिकवाद और ब्रह्मवाद आ रहा है। इतिहास उधर की ओर ही जा रहा है। स्पष्ट है इतिहास तो ईश्वर की ओर नही जा रहा, अरविन्द का मन अवश्य ईश्वर की ओर उसे ले जाना चाहता है और ईश्वर की ओर जगत को ले चलने का एक ही मार्ग है कि यह कहा जाय कि ईश्वरवादी तो बुद्धि या अतर्चेतना के आधार पर ईश्वर की ओर जा ही रहे हैं पर जो ईश्वर का विरोध कर रहे हैं वे भी अज्ञात रूप से ईश्वर की ही ओर जा रहे हैं। उनका विरोध प्रयोगमात्र है। इस प्रयोग में अवश्य असफलता मिलेगी और अवश्य ईश्वर की ओर अनीश्वरवादी चल पड़ेंगे। क्या महान निष्ठा है! ईश्वर अरविन्द का आभारी अवश्य रहेगा क्योंकि जगत चाहे जिधर चले, अरविन्द कम से कम पुकार अवश्य मचा रहे हैं कि हे ईश्वर! तुम घबडाना मत, जगत चाहे जिधर जाय अतत वह तुम्हारी ओर ही आएगा। इन अज्ञानी वैज्ञानिकों को चेष्टा कर लेने दो, क्या बिगडता है, ये लोग भी रास्ते पर आने वाले ही हैं!

इस प्रकार की व्याख्या कभी भी वैज्ञानिक नही हो सकती। परस्पर विरोधी विचारधाराओं के व्यक्ति अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार इतिहास के लक्ष्य को निर्धारित कर सकते हैं परन्तु इतिहास का इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं क्योंकि इतिहास को व्यक्ति बदल सकता है जो इतिहास के विकास के दौरान मे होने वाले वास्तविक-परिवर्तनों के (जो व्यवस्था के आधार पर होते हैं) अनुसार अपनी विचारधारा को ढालता है। मार्क्स ऐसा ही व्यक्ति था। अतः वह इतिहास को मोड़ दे सका। यही व्यक्ति का महत्त्व है। मार्क्स के युग में भी अध्यात्मवादी थे। वे भी अरविन्द की तरह अनेक कल्पनाएँ करते रहे। भविष्य के सम्बन्ध में प्रत्येक आदर्शवादी की कल्पनाएँ अवश्य रहती हैं परन्तु पूरी निष्ठा होने पर भी वे इतिहास को गति नहीं दे सके। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोधों को स्पष्टता के साथ देखकर उन अन्तर्विरोधों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली व्यवस्था की कल्पना मार्क्स ने की और वह साकार हो गई। अरविन्द की कल्पनाएँ साकार नहीं हो सकतीं। क्योंकि उनका आधार वास्तविक नहीं कल्पित है। आधार कल्पित होने पर भी सारी कल्पनाएँ शकर के मायावाद, नागार्जुन के शून्यवाद, बर्कले के मानसिक प्रत्ययवाद की तरह निठल्ले लोगों के विनोद की साधन अवश्य बनती रहेंगी

पर वे कल्पनाएँ साकार रूप नहीं पा सकती। जहाँ 'दर्शन' यथार्थ का साथ छोड देता है, कोरी कल्पना, सनक, आभास या अलौकिक अनुभवों की शरण लेता है, वहाँ वह रहस्यवाद कहलाता है, इतिहास नही। यह ठीक है कि व्यक्ति इतिहास बदलता है, पर तभी जब वह इतिहास की गति के यथार्थ रूप से परिचित हो, इतिहास की गति के कल्पित रूप को ही यथार्थ कहकर आकाश में उछाल भरने से युग-परिवर्तन नहीं होते। न ऐसे 'समन्वय' वास्तविक समन्वय का स्थान ले सकते हैं। धार्मिक दार्शनिक तथा रहस्यवादी इसीलिए इतिहास को नहीं बदल सके क्योंकि उनका चिंतन यथार्थ के स्वरूप को नहीं समझ सका। दुनियाँ उधर नही जा सकती जिधर जाना केवल आपको प्रिय है, दुनियाँ उस दिशा मे बढ़ती है जिसकी सम्भावना उसकी पूरी गति के गर्भ मे छिपी होती है। उसकी गति को न समझकर, मनमाने गन्तव्य को ही सबके लिए निश्चित कर देने से कम से कम उसकी स्वाभाविक गति में बाधा तो डाली ही जा सकती है और अरविन्द ने यह कार्य बड़ी सावधानी से किया है। उनकी अतचेंतना ने सब कुछ सिखाया परन्तु यथार्थ दृष्टि उन्हें न दी जिससे वह व्यक्ति व समाज के परस्पर सम्बन्ध को ठीक से देख पाते।

अरविन्द को अयथार्थ दृष्टि व पुनरुत्थानवादिता का यह हाल है कि जब वे स्वदेश की आत्मा पर लिखते हैं तो बताते हैं कि निश्चित रूप से पश्चिम से पूर्व अधिक आन्तरिकता प्रधान रहा है।[१]

उनके अनुसार पर्सिया, भारत व चीन ऐसे ही देश हैं। भारत का राजनैतिक आन्दोलन भी अध्यात्मवादी था यथा १६०५ का बङ्गाल आन्दोलन आन्तरिक (Subjective) था, स्थूल नही। गान्धीजी का आन्दोलन भी ऐसा ही था।

इतिहास को गतिशील न मानने का परिणाम उक्त व्याख्या है। गान्धी अध्यात्मवाद के आधार पर राजनीति को क्यों आधारित कर रहे थे या इसमें वे क्यों सफल हुये इसके कारण राजनैतिक थे। देश की तात्कालिक परिस्थिति में यही पद्धति अनुकूल थी, परन्तु वह पद्धति पूर्व के देशों की शाश्वत विशेषता हो, ऐसा नही। स्वय चीन में घोर भौतिकवादियों ने महान चीन को जन्म दिया। आज का चीन

[१] देखिए—The Human cycle, page 41

अध्यात्मवादी नही है परन्तु अरविन्द कहेगे वस चीन तो गद्दार निकला, पथभ्रष्ट हो गया क्योंकि पूर्व में सारे कार्य अध्यात्म के आधार पर होने चाहिये। मैंने पहले ही कहा है कि परिस्थितियों के अनुकूल ही व्यक्ति सोचकर, व्यावहारिक अन्तर्दृष्टि से इतिहास को मोड़ दे सकता है। माओत्सेतुङ्ग व गान्धी ने अपने-अपने ढङ्ग पर यही कार्य किये और अब उसी अध्यात्मवादी राज्य में अध्यात्म की लाइन पर देश का निर्माण नही हो रहा, सम्भव भी नहीं है। अत. स्पष्ट है कि अरविन्द का विश्लेषण काल्पनिक है। चीन व रूस एशिया के ही देश है, मलाया, इण्डोचाइना, वर्मा, फारस सभी मे क्रान्ति सुलग रही है, स्वय अरविन्द के प्रिय देश इंग्लैण्ड में समाजवादी शासन रहा है परन्तु इतिहास को यथार्थ दृष्टि से न देखकर वे अध्यात्मवाद को शाश्वत सत्य के रूप में ही देखने के अभ्यासी है। वे समन्वय के नाम पर एक ओर तो वैज्ञानिक उपलब्धि के घोर विरोधी बन जाते है और दूसरी ओर मार्क्सवाद के। यद्यपि कहते वह यही रहते हैं कि उन्होंने सबको स्वीकार किया है।

बुद्धिवाद के विरोध के साथ-साथ अरविन्द घोर वैयक्तिकतावादी विचारक थे। आत्मवादी दर्शन की विशेषता ही यह है कि व्यक्तित्व और विचार की निरपेक्षता ही वह सिखाता है। मानसिक समता की भावना अवश्य व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं परन्तु उसका रूप भी दार्शनिक ही रहता है, व्यावहारिक नही। यही कारण है कि आत्मवादी दर्शन समाज की समस्या को नहीं सुलझा सका।

अरविन्द बुद्धिवादी युग मे वैयक्तिकता के विकास की सम्भावना के आधार पर समाजवाद का घोर विरोध करते हैं क्योंकि उसके अनुसार जनतन्त्रवाद बनाम पूँजीवाद में तो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर पूरा जोर दिया जाता है परन्तु जिस प्रकार जनतन्त्रवाद में अनेक विभिन्न और परस्पर विरोधी विचार-धाराओं के विकास का अवसर रहता है, विचार व व्यवसाय मे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, उस प्रकार समाजवादी शासन में सम्भव नहीं होता क्योंकि उसमे एक ओर तो एक दलीय विचार-धारा के आगे अन्य विचार-धाराओं को पनपने ही नही दिया जाता और दूसरे व्यक्ति की शिक्षा, दीक्षा, व्यवसाय आदि एक दलीय शासन की इच्छा पर निर्भर करता है। अत. एक विशेष प्रकार के साँचे में जनता को ढालने का प्रयत्न

होता है और उसके विरोधियों को देशद्रोही माना जाता है। अत: बुद्धिवादी—व्यक्तिवादी युग में समाजवादी व्यवस्था में बुद्धिवाद व व्यक्तिवाद दोनों का पतन होता है। विज्ञान को धर्म मान लेने के कारण व्यक्ति का महत्त्व नष्ट हो जाता है क्योंकि विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति व्यक्ति की नही समूह की रक्षा का प्रयत्न करती है।'[1]

कहना न होगा कि समाजवाद में व्यक्तित्व की निरपेक्षता को वस्तुतः नही माना जाता। समाज व व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को मानने से व्यक्तित्व के विकास मे पूँजीवादी उच्छृङ्खलता का विकास नही होने दिया जाता। इसे अरविंद बुरा समझते है। एकदलीय विचार-धारा के प्रसार के साथ देश की जनता के मन व हृदय खुले रखने हेतु विश्व का सर्वोत्तम साहित्य वहाँ अनूदित हो रहा है। क्या उस आदर्श-वादी साहित्य को पढ कर जनता के बहकने का भय समाजवादी नेताओं को नही है ? अत स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकता के नाश के लिए, सम्प्रदायों को प्रचार की खुली छूट न देकर, व्यक्तिगत रूप से अपनी मान्यताओ मे समाजवादी शासन दखल नही देते जबकि धर्म निर-पेक्ष जनतन्त्रों में हिन्दुत्व, इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों में नेता खुले-आम अपने-अपने धर्मों व विश्वासों के प्रति पक्षपात दिखाते है। परन्तु अरविन्द को इस यथार्थ से क्या तात्पर्य ? उन्हे इससे भी तात्पर्य नही कि व्यक्ति को सामाजिक बनाने के प्रयत्न को वैयक्तिकता का विनाश नही कहा जा सकता।

अतर्चेतना (intuition) के द्वारा प्राप्त अलौकिक अनुभव केवल यदि साम्यवाद का विरोध ही सिखाते हैं तो ऐसे अतर्चेतनावाद के लिए साम्राज्यवादी शिविर अवश्य आभारी होंगे। जॉन लेविस ने ऐसे रहस्यवादियों को उत्तर देते हुए लिखा है कि अलौकिकतावाद सदा अबुद्धिवादी प्रयत्न होता है क्योंकि इसमें कारण-कार्य परम्परा की स्थापना नहीं हो सकती। न इस प्रकार के दिव्य ज्ञान का साधारणी करण व सामाजीकरण ही हो सकता है जैसा कि विज्ञान के क्षेत्र मे सम्भव है। अलौकिकतावाद का आधार सदा स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान होता

[1] देखिए—The Human Cycle, page 61

है जो तभी स्वीकृत होता है जब वैज्ञानिक सत्य का निषेध कर दिया जाता है —

There is an implicit irrationalism whereever scientific inquiry is ruled out of any part or experience All super-naturalism is irrational because in it, there can be no discovery of ascertainable and verifiable laws of cause and effect All is conjecture or dependence on unprovable 'revelation.' The result is that there will be as many systems as there are sets of unproved dogmas, all mutually exclusive When man can not find out the truth of science, he is forced to accept the truth of his own intuition and that means complete subjectivism, believing what is strongly, even overwhelmingly, felt to be true at the moment [1]

स्वय अरविन्द यह मानते हैं कि अलौकिक रहस्यों को जानने वालों की कभी अधिक सख्या नही रही, न उनकी एक जाति बन सकी और न उनके बताए मार्ग पर समाज चल सका। यद्यपि समाज ने ऐसे रहस्यदर्शियों को अवतार, ऋषि मुनि या पैगम्बर कहा।[2]

परन्तु साथ ही अरविन्द का विश्वास है कि रहस्यदर्शियों की सख्या आगे के युगों में बढ़ती जायगी और वह युग दूर नही है जब समाज मे अधिकतर व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात् अनुभव कर सकेंगे और आधुनिक अतिवादी प्रवृत्तियों से बच कर भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जायगा। प्राचीन युग मे 'अपने को पहचानो' यह मंत्र था (Know thyself) और आज का मंत्र है अपने को शिक्षित करो। (Educate thyself)। यह अवस्था अधिक समय तक नही रहेगी।

अरविन्द के अनुसार प्राचीन ग्रीक सभ्यता इसलिए नष्ट होगई कि उसमे कुछ ही रहस्यदर्शी थे, अधिकतर बर्बर थे। अत कोई

[1] Marxism and irrationalists, page 44–45

[2] देखिए The Human Cycle, Page 80

सभ्यता सुरक्षित नहीं रह सकती यदि उसमें केवल कुछ व्यक्ति ही तत्त्वज्ञानी रहेंगे। अत आगामी युग में आध्यात्मिक ज्ञान सर्व-सुलभ होना ही चाहिए। सारा ऐतिहासिक विकास इसी ओर संकेत कर रहा है। परन्तु सभ्यताओं के विनाश के कारण कभी आध्यात्मिक नहीं रहे, वे सदा स्पष्ट रहे हैं। व्यवस्था अपने अन्तर्विरोधों से विनष्ट होती है। बर्बरकालीन व्यवस्था उत्पादन के साधनों के विकसित होने पर नष्ट हुई, ग्रीक सभ्यता के साथ भी यही हुआ था इसलिए नहीं कि उस व्यवस्था में तत्त्व-ज्ञानी केवल कुछ लोग ही थे।

यह बात नहीं कि अरविन्द विज्ञान के महत्त्व को न मानते हों वे उसके उपयोग को भी मानते हैं कि विज्ञान-युग के पूर्व दार्शनिकों ने दर्शन के क्षेत्र में जीवन का निषेध कर 'दर्शन' को अत्यन्त निर-पेक्ष बना दिया। कला, सङ्गीत, धर्म सभी क्षेत्रों में अस्पष्टता व सूक्ष्मता (Abstractness) आगई, उसका जीवन से सम्बन्ध कम हो गया। अत विज्ञान-युग ने प्रतिक्रिया में आध्यात्मिक सत्ता का निषेध करना प्रारम्भ कर दिया। उसे अन्ध-विश्वास कहा। अत विज्ञान-युग निषेध युग है। उसकी आवश्यकता थी, क्योंकि सूक्ष्मतावादियों की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने वाले वैज्ञानिक युग के लिए यह आवश्यक है कि वह स्पष्ट आधार पर बाह्य प्रकृति पर विजय करे, केवल इन्द्रिय-ज्ञान का आधार स्वीकार करे, भौतिक जीवन के क्षेत्र को ही अपना विषय बनाये। विज्ञान के इस कार्य से यह लाभ होगा कि मनुष्य बाह्य प्रकृति पर कार्य करता रहेगा और कुछ समय के लिए आध्यात्मिक सत्ता का निषेध करता रहेगा फिर इस क्रिया का परिणाम यह होगा कि अत में मनुष्य पुन जब आध्यात्मिक जगत की ओर मुड़ेगा, (अवश्य मुड़ेगा क्योंकि सदा के लिए मनुष्य अपनी आन्तरिक साक्षी की आवाज को नहीं दबा सकता, उसके लिए वह चेतना को पदार्थ का गुणात्मक परिवर्तन नहीं मान सकता, उसे चेतना को स्वतन्त्र मानना ही होगा) और तब प्राचीन अतिवादी अध्यात्मवाद की जगह एक समन्वित (भौतिकवाद + अध्यात्मवाद) दर्शन का विकास होगा। अत विज्ञान के निषेधवाद की भी ऐतिहासिक आवश्यकता थी और विज्ञान इस भौतिकवादी युग में यह कार्य तत्परता से कर रहा है, अत. घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। अवश्य भौतिकवाद अध्यात्मवाद की ओर

उन्मुख होगा।[1]

भारतवर्ष के दार्शनिकों की विशेषता ही यह रही है कि उनमे अपरिमित धैर्य होता है, उनकी निष्ठा इतनी अखण्ड होती है कि वे वस्तुत यह विश्वास करते हैं कि सारे विश्व का विकास उनकी निष्ठा की ओर ही जारहा है। यदि कोई आज उनकी निष्ठा को अपनी निष्ठा नही बनाता तो भविष्य में बनाएगा। इसी को हम अन्ध-विश्वास कहते हैं।

अरविन्द मानव जीवन का उद्देश्य बताते हुए कहते है कि मानव जीवन का एकमात्र उद्देश्य अपने वातावरण को बदलना है। इसके लिए आत्म-शक्तियों को जागृत करना होगा। परन्तु वातावरण को आप ब्रह्म को जानकर या ब्रह्म का प्रचार कर नही बदल सकते। वातावरण को आप तब बदल सकते हैं जब वातावरण में सञ्चरित सामाजिक शक्तियों मे विकासोन्मुख व ह्रासोन्मुख शक्तियों की पहचान करने को प्रस्तुत हों। केवल विकासोन्मुख शक्तियों का सहयोग कर ही आप वातावरण को बदल सकते हैं। विकासोन्मुख शक्ति व्यक्ति के भीतर रहने वाला ब्रह्म नहीं है, समाज के भीतर—व्यवस्था के भीतर—रहने वाले सामाजिक तत्त्व है, जो स्पष्ट होते है। भौतिकवाद इन्ही तत्त्वों को समझने का प्रस्ताव करता है, समाज-शास्त्र की शिक्षा देकर परन्तु आप केवल ब्रह्म-ज्ञान द्वारा वातावरण को बदलना चाहते हैं। परमतत्त्व के साक्षात्कारी वातावरण को बदल नहीं सके, विकासोन्मुख शक्तियों को कभी उन्होंने सहयोग दिया, कभी उनका विरोध भी किया। समाधि मे मग्न रहने वालों ने समाज नही बदले, क्रिया करने वालों ने समाज बदले। शङ्कर, नागार्जुन जगत-जीव-ब्रह्म की व्याख्याएँ ही करते रहे, जगत को बदलने का प्रयत्न उन्होंने नही किया। अत ब्रह्म-ज्ञान वातावरण को बदलने में असमर्थ है।

अरविन्द की इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या कितनी अवैज्ञानिक और अन्तर्विरोधो से ओत-प्रोत है। एक ओर तो वे बुद्धिवाद की ऐतिहासिक आवश्यकता समझाते हैं और दूसरी ओर बर्बरकालीन तत्त्वों का आधुनिक काल मे पुनरुभ्युदय दिखाते हैं।

---

[1] देखिए—Civilisation and Barbarism in the Human Cycle, page 86-88.

इतिहास अपने को दुहराता है यह सिद्धान्त अति प्रसिद्ध है परन्तु इसका दुरुपयोग इस प्रकार किया गया है कि जर्मनी, इटली व रूस मे प्राचीन बर्बरतावादी प्रवृत्तियों का अभ्युदय हो रहा है। हम जिसे "फिलस्तीन-सभ्यता" कहते हैं[१] उसीसे मिलती-जुलती सभ्यता का उदय रूस, जर्मनी, इटली में हुआ है। इस सभ्यता ने इन देशों में "सनसनीवाज" (Sensational man) मनुष्य को जन्म दे दिया है। सनसनीवाज का लक्षण है कि वह मानसिकता प्रधान होता है, प्रत्येक विषय में उसकी जानकारी होती है, वह बहुत पढ़ता है, वह नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, विज्ञान, राजनीति आदि के विषय में अधिक सोचता है, वह कला व काव्य के विषय में कम जानता है परन्तु उसने सुन रखा है कि इनका भी कुछ उपयोग है, वह अखबार, मासिक-पत्र खूब पढ़ता है, विज्ञान उसके जीवन को नई मशीनों, नई खोजों से समृद्ध कर देता है, वह स्त्रियों को मताधिकार देता है, वह सघराज्य-व्यवस्था, निरंकुश राज्य-व्यवस्था, वर्ग-संघर्ष, तथा सर्वहारा-अभ्युदय में विश्वास करता है। यह बर्बरतावाद रूस, जर्मनी व इटली में उदित हुआ है। लेनिन, हिटलर व मुसोलिनी इसके नेता हैं।

आपने देखा अरविन्द को उनके सुपरमाइण्ड ने कैसा महान् इतिहास सिखाया है! इससे हमने सीखा कि बुद्धिवादी युग में सनसनीवाद सम्भव है परन्तु सनसनीवाद बुद्धिवाद के अन्त में व आगामी आध्यात्मिक युग के पूर्व में आता है—

व्यक्तिवाद, बुद्धिवाद	सनसनीवाद	अध्यात्मवाद
Individualism	Sensationalism	Spiritualism
अमेरिका, इङ्गलेण्ड	रूस, इटली, जर्मनी	(भविष्य के गर्भ में)

स्पष्ट है कि यदि उक्त विभाजन को अरविन्द मानते हैं तो उनका पूर्व विभाजन गलत हो जाता है जिसमें वह अर्ध-बुद्धिवाद,

[१] Roughly, philistine was the man who lives out-wardly civilised life, possesses all its parapher-nalia, has and mouths the current stock of opinions prejudices, conventions, sentiments exercises no free intelligence vulgarises everything that he touches ...

बुद्धिवाद व ऊर्ध्व-बुद्धिवाद इन सोपानों में इतिहास का विभाजन करते हैं। क्योंकि बुद्धिवादी युग में सनसनीवाद असम्भव है यदि यह कहो कि बुद्धिवाद के दो भाग हैं—(१) अमेरिका, इङ्गलैण्ड का बुद्धिवाद, (२) रूसी पतित बुद्धिवाद, तो विभाजन को वैज्ञानिक बनाने के लिए "इतिहास अपने को दुहराता है" यह पूर्व सिद्धान्त छोड़ना होगा और यदि यह कहो कि यह सिद्धान्त भी गलत नहीं है तो यही क्यों न मान लिया जाय कि पूर्व युग (अबुद्धिवादी) युग में दुर्बुद्धिवाद की जो धारा थी, उसका अभ्युदय अन्तर्चेतनावादियों में हो रहा है और अरविन्द उसका प्रचार कर रहे हैं।

अरविन्द तटस्थ होकर इतिहास को देख ही नही सकते क्योंकि उन्हें अपनी बात सिद्ध करनी है कि सारा विकास ऊर्ध्व-चेतना की ओर उसी प्रकार जा रहा है जैसे कोई 'उन्माद' का रोगी कहे कि सारा विकास उन्माद की ओर हो रहा है। उन्मादवादी की दृष्टि से इतिहास की व्याख्या यों होगी—

प्रथम युग —	द्वितीय युग —	तृतीय युगः—
उन्माद का	बुद्धिवादी युग	आगामी युग मे
आदिम रूप	उन्माद का ह्रास	आगत समन्वित
	सभ्यता का पतन	उन्माद-युग

उन्माद का रोगी होश में आने से घबड़ाता है। अरविन्द व पन्तजी ऐसे ही 'उन्मादवाद' का प्रचार करते है और हृदय से विश्वास करते हैं कि बढ़ती हुई वैज्ञानिक बुद्धि किसी बौद्धिक युग की ओर नही आध्यात्मिक उन्मादवादी युग की ओर सकेत करती है।

इस 'उन्माद' को अरविन्द 'दर्शन' कहते हैं और आदर्श व आदर्शवादियों को वह दिव्य सत्ता के खोजी व सहायक मानते हैं।

Ideals and idealists the most powerful diviners and assistants of its purposes.

आदर्शवादियों की सबसे बड़ी विशेषता है, मनमाने विभाजन की प्रवृत्ति, क्योंकि इस अवैज्ञानिक विभाजन द्वारा ही आदर्शवाद की सिद्धि की जाती है। अरविन्द बुद्धि (Intellect) व विशेष बुद्धि (Reason) में भेद करते है और 'रीजन' को मनुष्य की स्वतन्त्र निर्णय-शक्ति के रूप में मानते हैं जो बुद्धि से बड़ी है। परन्तु विशेष

बुद्धि भी ब्रह्म को समझने मे असमर्थ है, वह विज्ञान के क्षेत्र मे तो खूब कार्य करती है परन्तु ब्रह्म के विकास में वह कुण्ठित हो जाती है, अत[1] ब्रह्म को जानने का मार्ग है अंतर्चेतना (Intuition)। इससे हम ब्रह्म को समझ लेते हैं कि ब्रह्म को अतर्चेतना से ही अनुभव का विषय बनाया जा सकता है।

इस अवैज्ञानिक विभाजन द्वारा सिद्ध कर दिया गया कि अज्ञात रहस्यों को समझने की पद्धति यदि ठीक होगी तो वे रहस्य हमे ज्ञात हो सकेंगे। अत अरविन्द का विश्वास है कि विज्ञान चूँकि बुद्धि का प्रयोग करता है अत उसके द्वारा कभी अज्ञात रहस्यों का ज्ञान नही हो सकता। अत भौतिकवादियों का यह कहना गलत है कि जब विज्ञान ब्रह्म व आत्मा की सत्ता सिद्ध कर देगा तब हम उनमे विश्वास करने लगेंगे। क्योंकि ब्रह्म-आत्मा को जानने की बुद्धिवादी पद्धति कभी भी सफल नही हो सकती। अत वैज्ञानिक युग मे अतर्चेतनात्मक आन्दोलन की आवश्यकता है।

मैंने पहले ही कहा है कि उक्त मानसिक शक्तियों को परस्पर विरोधी वर्गों में बाँटना अन्याय है। फिर अतर्चेतना भी वैयक्तिक वस्तु है, उससे एक ही निर्णय निकले, यह सम्भव नही। उससे अज्ञात सत्ता का निषेध भी सम्भव है क्योंकि अनीश्वरवादी अतर्चेतना को मानकर भी अनीश्वरवादी, अनात्मवादी रहे हैं और साथ ही वे योगी भी रहे हैं अत अतर्चेतना भी निरपेक्ष तत्त्वों का ज्ञान नहीं कराती। हाँ, वह एक घोर वैयक्तिक, काल्पनिक मानसिक जगत का निर्माण करती है जिसे सत्य समझकर मनुष्य सामाजिक कार्यों से बड़ी सुविधा से विरत हो सकता है। दिवा-स्वप्न इसका प्रमाण है और स्वप्न सदा मनोहर परन्तु अयथार्थ होते हैं।

अरविन्द के अनुसार बुद्धिवादी इसलिये सत्य को नहीं समझ सकता क्योंकि प्रथम उसका यह विश्वास है कि केवल वही सही है और

[1] If the reason is not the sovereign master of our being not even intended to be more than an intermediary or minister, it can not succeed in giving a perfect law to the other estates of the realm Human Cycle, page 124

सब गलत है। दूसरे मानवीय बुद्धि केवल सीमित, प्रत्यक्ष, पृथक का विश्लेषण करती है, समग्र रूप में नही देखती। वह पदार्थ को देखती है, पदार्थ के मूल में नही जाती।[1]

स्पष्ट है दोनों धारणायें गलत हैं। बुद्धिवादी इसलिए अपने को सही मानता है क्योंकि वह जो कुछ कहता है उसका साधारणीकरण-समाजीकरण कर सकता है और अनेक स्पष्ट प्रमाण उसके कथन को पुष्ट करते हैं, जबकि अध्यात्मवादी अस्पष्ट, अज्ञात कल्पनाओं का कभी सामाजीकरण नही कर सकते। दूसरे बुद्धि वस्तु के मूल तक जाने का प्रयत्न न करती तो 'पदार्थ' की खोज सम्भव न होती और आज भी वह उस दिशा में सलग्न है। हाँ, यह अवश्य है कि वह सत्य की खोज करने के बदले सत्य के सम्बन्ध में कल्पनाओं को स्वीकार नही करती। यदि इसे आप अनुचित समझते हैं तो अबुद्धिवादी पद्धति का समर्थन हो सकता है। सर्वदा से कल्पनावादियों ने बुद्धि को कोसा है क्योंकि उनकी काल्पनिक सृष्टि का वास्तविक रूप बुद्धि ही स्पष्ट करती है।

अरविन्द को इस बात का घोर पश्चाताप था कि आज के मानव ने बुद्धि को क्यों स्वीकार कर लिया। उन्हें अर्थ-शास्त्र, समाज शास्त्र व विज्ञान की इस सभ्यता का उद्देश्य केवल मन व जीवन (life) के स्तरों तक ही सीमित दिखाई देता था, आत्मा के लिए उपयोगितावादी युग में भोजन कहाँ? अत. उसका भी प्रबन्ध होना ही चाहिए।

[1] This truth is hidden from the rationalist because he is supported by two constant articles of faith, first that his own reason is right and the reason of others who, differ from his, is wrong
the second article of faith of the believer in reason is also an error and yet contains a truth. The reason can not arrive at any final truth because it can neither get to the root of things nor embrace the totality of their secrets, it deals with the finite, the separate, the limited aggregate and has no measure for the all and the infinite.

—The Human cycle, page 134.

कहना न होगा कि यह दृष्टिकोण पुराना है। सदा से अध्यात्मवादी भौतिक-विकास की निन्दा करते आए हैं।

अरविन्द के अनुसार जीवन के स्तर को संतुष्ट करने वाले, भावनावादी, उपयोगितावादी, इच्छावादी (Vital being) व्यक्ति का जन्म १६ वीं शताब्दी में हुआ जबकि विज्ञान का द्रुततर विकास हुआ। २० वी शताब्दी में दार्शनिक स्पष्टता से अनुभव करने लगे कि विज्ञान हमें आत्मिक-विकास की ओर उन्मुख नहीं होने देता। अत अब उसी आत्मवादी युग की ओर हम चलेंगे और भौतिकवाद व दर्शन का समन्वय हो जायगा। प्राचीन व्यवस्था मे परिवारों ने व्यक्ति को दबाया। आज के युग में समाज व्यक्ति के विकास पर हावी हो रहा है। रूस की सङ्घवादी व्यवस्था मे समाज के आगे व्यक्ति के गला घोंटने का कार्य बड़ी तत्परता से हो रहा है। इतिहास की कितनी सुन्दर व्याख्या है जिसका एकमात्र उद्देश्य है साम्यवाद से भय और उसके विरुद्ध सशास्त्र प्रचार।

मार्क्सवाद के अनुसार जो भविष्य की कल्पना की गई है उसे अरविन्द केवल इसलिए नहीं मानते क्योंकि उसमे उनके ऊर्ध्व-चेतन की चर्चा मार्क्स व ऍगिल्स ने नहीं की। (देखिए The Human cycle पृष्ठ १८३) और यदि यह कहे कि अन्तत भविष्य की कल्पना तो हो ही रही है चाहे वह आत्मवादी न हो तो अरविन्द उत्तर देते हैं कि यह प्रयत्न तो अच्छा है क्योकि यह प्रयोग भी हरि-इच्छा से ऊर्ध्व-चेतन की ओर ही लिए जा रहा है। अत चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ब्रह्म जीव के भीतर इसीलिए स्थित है कि मनुष्य अपने को पहचान ले। और यह तभी सम्भव है जब मनुष्य बाह्य व आन्तरिक दोनों क्षेत्रों पर पूर्ण विजय करले। चूँकि भौतिकवाद केवल बाह्य-प्रकृति पर विजय का उपदेश देता है तो वह आत्मानुशासन व आत्मज्ञान का सहायक ही है, विरोधी नहीं और प्रकृति पर विजय के लिए आन्तरिक शासन के निषेध की आवश्यकता अवश्य पड़ती है क्योंकि जो व्यक्ति भीतर देखता है वह स्वभावत बाहर उसी तत्परता से नहीं देख सकता। अत विज्ञान-युग का व्यक्ति भीतर से छुटकारा पाकर बाह्य प्रकृति पर विजय-कार्य में मग्न है। अत यह ऐतिहासिक विकास का एक सोपान मात्र है। इसके बाद मनुष्य आन्तरिक शासन की ओर उन्मुख होगा और तब अन्तर व बाह्य में सन्तुलन उपस्थित हो जायगा।

यही ऊर्ध्व-चेतन-युग (Supra-mental Age) होगा जिसमे ऊर्ध्व-चेतन-जाति (Supra-mental Race) का विकास होगा।

अरविन्द मे कितना भयङ्कर अन्तर्विरोध है। अभी कह चुके हैं कि बुद्धिवाद का पतित रूप रूसी सङ्घवाद में दिखाई पड़ता है और साथ ही वह अब यह भी कहते हैं कि मार्क्सवादियों ने जो "प्रकृति को जीतो" का नारा लगाया है वह आध्यात्मिक विकास में सहायक ही होगा।

आदर्शवादियों का एक और प्रसिद्ध अस्त्र यह है कि वे धार्मिकता को प्रवृत्ति (Instinct) के रूप मे स्वीकार करते हैं। चूँकि मध्य-युग के धार्मिक जल्दबाज थे, अतः वे जल्दी ही समाधान पाने के इच्छुक रहे। उन्होंने जड़ का निषेध कर चेतन को ही स्वीकार किया। अतः इसका घोर विरोध वैज्ञानिक युग में होना प्रारम्भ हुआ। परन्तु यह निश्चित है कि मनुष्य की धार्मिकता की प्रवृत्ति नष्ट नहीं हो सकती। केवल उसका रूप बदल जाता है। धार्मिक प्रवृत्ति मनुष्य को जन्म से ही मिली है,[1]। धर्म के भी दो रूप हैं (१) सच्चा धर्म, (२) धर्मवाद (Religionism) सच्चा धर्म अध्यात्मवादी होता है और धर्मवाद साम्प्रदायिक व बाह्याचारवादी होता है। इनमें दूसरा रूप नष्ट हो सकता है परन्तु पहला नहीं। परन्तु है आवश्यकता दूसरे की भी क्योंकि बाह्याचार भी सूक्ष्म ब्रह्मज्ञान की ओर हमे ले चलता है, हममे पात्रता उत्पन्न करता है, फिर समाज के निचले स्तर वालों के लिए तो यह आवश्यक है ही, मूर्तिपूजा आदि रूप सूक्ष्मता की ओर ले जाने के लिए ही हैं।

स्पष्ट है कि अरविन्द यहाँ सनातन धर्मवादी की तरह प्रत्येक संस्कार की रक्षा करने की प्रतिज्ञा किये हुए हैं और प्रत्येक मूर्खता की इसलिए उपयोगिता स्वीकार करते है क्योंकि मूर्खता भी विद्वत्ता के

[1] This revolt in its extreme form tried to destroy religion altogether, boasted indeed of having killed the religious instinct in man—a vain and ignorant boast, as we now see, for the religious instinct in man is most of all one instinct in him that can not be killed, it only changes its form.

(The Human Cycle, page 175)

लिए आवश्यक सोपान है। मूर्खतापूर्ण आचारों की रक्षा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि मूर्खों के लिए सहसा पूर्णता की स्थिति पर पहुँचना असम्भव है। अत आचारों की भी उपयोगिता है।

इस प्रकार अरविन्द अपने तीनों सोपानों को स्पष्ट कर आध्यात्मिक युग के अवतरण मे विश्वास करते है। प्रथम, अर्धबुद्धिवादी युग में (Infra rational age) मनुष्य स्वभावत ही चिरन्तन सत्ता से परिचित था परन्तु जीवन की ओर उसका ध्यान कम था। अत संकुल सामाजिक जीवन का विकास प्रथम सोपान मे असम्भव था। द्वितीय बुद्धिवादी युग आया जिसमे बुद्धि का विकास हुआ और उसीको परीक्षा का आधार माना गया और मिश्रित सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ और अब बुद्धिवादी युग के विकास के पश्चात् आन्तरिकता के आधार पर ऊर्ध्व-बुद्धिवादी युग (Supra-intellectual age) या अन्तर्चेतनात्मक युग का विकास होगा जिसमे प्राचीन व मध्य युग की तरह सत्ता का ज्ञान रहस्यवादी पद्धति—मूर्च्छा, उन्माद, आदि द्वारा न होकर बुद्धि को बीच का आवश्यक सोपान बना कर होगा।[१]

अरविन्द के अनुसार जब बुद्धि की प्रक्रिया विश्लेषण करने, पदार्थ को खण्ड-खण्ड करके देखने, सीमित, संकुचित, अपूर्ण को समझने-समझाने मे प्रयुक्त की जाती है तब उसी बुद्धि का आध्यात्मिक सत्ता को समझाने के लिए सोपान मानने का क्या उद्देश्य है? अरविन्द की विशेषता है कभी ग्रहण, कभी त्याग। बुद्धि का ग्रहण व त्याग का यह रूप अस्पष्ट है। इससे कही अधिक वैज्ञानिक शङ्कराचार्य

---

[१] That will not be done by any rule of infra-rational religious impulse and ecstasy, such as characterised or rather darkly illumined the obscure confusion and brute violence of the Middle Ages, but by a higher spiritual living for which the clarities of the reason are a necessary preparation and into which they too will be taken up, transformed, brought to their invisible source

(The Human Cycle, page 206)

थे जिन्होंने स्पष्ट कहा था कि चेतन-तत्त्व के साक्षात्कार के लिए ज्ञान की आवश्यकता है और ज्ञान का कार्य यह है कि वह यह समझाए कि सत्य क्या है, जो सत्य नहीं है उसे सत्य से विलग करदे, उसका निषेध करदे। अतः जगत का निषेध कर, उसे केवल व्यावहारिक रूप मे मान कर आत्म साक्षात्कार का उपदेश शङ्कर ने दिया था। निरपेक्ष चेतना के लिए सापेक्ष की आवश्यकता नही हो सकती। निरपेक्ष ही निरपेक्ष को समझ सकता है। आत्मा ब्रह्म को समझाने मे समर्थ है क्योंकि वह भी ब्रह्म ही है। भ्रम दूर होते ही स्वरूप स्थिति हो जाती है। यह है दर्शन का निर्दोष रूप।

परन्तु अरविन्द को जड़-चेतन दोनों लपेट में लेने है और सो भी संसार में अब तक विकसित सभी भौतिक विज्ञानों को साथ लेकर अतः वह उलझन खड़ी कर लेते हैं और फॅस जाते हैं। एक ओर कहा कि बुद्धिवादी युग चरम अवस्था मे पहुँच कर अध्यात्म की ओर मुड़ेगा फिर कहा नहीं, बुद्धिवाद का पतन रूस मे हो रहा है, फिर कहा बुद्धिवाद की भी अध्यात्म-ज्ञान के लिए आवश्यकता है, बस इसे ऊर्ध्वता में बदलना है, फिर कहा, ब्रह्म बुद्धि से भिन्न पद्धति पर मिलता है और वह भिन्न पद्धति है अतर्चेतना या स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान की। अत. उसी के अभ्यास की आवश्यकता है। सीधी बात यह थी कि बुद्धि का निषेध कर अतर्चेतना को ही केवल माध्यम मान लेना चाहिए था या शङ्कर की तरह ज्ञान द्वारा ही सत्य-बोध स्वीकार करना चाहिए था परन्तु अरविन्द को बुद्धिवाद का त्याग भी अभीष्ट है और ग्रहण भी। अत 'समन्वय' को चाह मे वे उलझनों की सृष्टि करते हैं। भौतिक विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान का निश्चित रूप से आध्यात्मिक ज्ञान के साथ समन्वय सम्भव नहीं है। परन्तु अरविन्द को 'समन्वय' स्थापित करना ही है चाहे वह किसी भी मूल्य पर हो। इसीलिए अरविन्द-दर्शन उलझन, तर्क हीनता का और व्यवस्था के अभाव का घोल वन गया है।

बुद्धि व अतर्चेतना के क्षेत्र अलग-अलग थे। अत शङ्कर व नागार्जुन की तरह व्यावहारिक सत्ता व पारमार्थिक सत्ता के भेद करने से दोनों के कार्य अलग-अलग हो जाते और अरविन्द का कार्य सहज हो जाता। परन्तु बुद्धि को अपूर्ण मानकर भी उसका यदि कुछ भी उपयोग अरविन्द न दिखाते तो पूर्ण निषेध हो जाता और यह उन्हें

लिए आवश्यक सोपान है। मूर्खतापूर्ण आचारों की रक्षा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि मूर्खों के लिए सहसा पूर्णता की स्थिति पर पहुँचना असम्भव है। अत आचारों की भी उपयोगिता है।

इस प्रकार अरविन्द अपने तीनों सोपानों को स्पष्ट कर आध्यात्मिक युग के अवतरण मे विश्वास करते है। प्रथम अर्धबुद्धिवादी युग में (Infra rational age) मनुष्य स्वभावत ही चिरन्तन सत्ता से परिचित था परन्तु जीवन की ओर उसका ध्यान कम था। अत संकुल सामाजिक जीवन का विकास प्रथम सोपान मे असम्भव था। द्वितीय बुद्धिवादी युग आया जिसमे बुद्धि का विकास हुआ और उसीको परीक्षा का आधार माना गया और मिश्रित सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ और अब बुद्धिवादी युग के विकास के पश्चात् आन्तरिकता के आधार पर ऊर्ध्व-बुद्धिवादी युग (Supra-intellectual age) या अन्तर्चेतनात्मक युग का विकास होगा जिसमे प्राचीन व मध्य युग की तरह सत्ता का ज्ञान रहस्यवादी पद्धति—मूर्च्छा, उन्माद, आदि द्वारा न होकर बुद्धि को बीच का आवश्यक सोपान बना कर होगा।[१]

अरविन्द के अनुसार जब बुद्धि की प्रक्रिया विश्लेषण करने, पदार्थ को खण्ड-खण्ड करके देखने, सीमित, संकुचित, अपूर्ण को समझने-समझाने मे प्रयुक्त की जाती है तब उसी बुद्धि का आध्यात्मिक सत्ता को समझाने के लिए सोपान मानने का क्या उद्देश्य है ? अरविन्द की विशेषता है कभी ग्रहण, कभी त्याग। बुद्धि का ग्रहण व त्याग का यह रूप अस्पष्ट है। इससे कही अधिक वैज्ञानिक शङ्कराचार्य

[१] That will not be done by any rule of infra-rational religious impulse and ecstasy, such as characterised or rather darkly illumined the obscure confusion and brute violence of the Middle Ages, but by a higher spiritual living for which the clarities of the reason are a necessary preparation and into which they too will be taken up, transformed, brought to their invisible source

(The Human Cycle, page 206)

दिया है। जबकि वास्तविकता यह है कि मध्य-युगीन दार्शनिकों ने उसे अच्छी तरह सुलझाया था भले ही उनके निर्णय कल्पनाओं पर आधारित थे परन्तु उनके पीछे तर्क था, व्यवस्था थी, स्पष्टता थी। अरविन्द के यहाँ इन सबका अभाव है पर वह कार्य वही करते हैं जो मध्य-युगीन दार्शनिक करते हैं। मनुष्य को अंध-विश्वासी बनाने में अरविन्द-दर्शन आज सक्रिय सहयोग दे रहा है। मध्य-वर्ग के कुछ व्यक्ति उससे बुरी तरह प्रभावित हो गये हैं क्योंकि उसमें उनके अवशिष्ट प्राचीनतावादी आस्तिक संस्कारों की आधुनिक पद्धति पर वैज्ञानिकता सिद्ध कर दी गई है। पन्तजी इसी द्वितीय वर्ग में आते हैं और उनकी समझ के पीछे उनके संस्कार ही हैं। इसी वर्ग में वे विचारक भी हैं जिन्हें भारतवर्ष की मौलिकता सिद्ध करने का चाव है, चाहे वह मौलिकता अबुद्धिवाद का ही उपदेश क्यों न देती हो। मौलिकतावादियों के मन के भीतर राष्ट्रीयता का संकुचित रूप अवस्थित है। अत ऐसे लोग सदा ऐसा प्रयत्न करते हैं कि मार्क्स, ऍगिल्स की बात हम यदि स्वीकार कर लेते हैं तो हमारा बौद्धिक दिवालियापन प्रकट हो जाता है। अत आवश्यक है कि कोई ऐसी विचारधारा हो जो भारतीय हो, जिसमे सबका समन्वय हो जाय। ऐसे मौलिकतावादी भी अरविन्द-दर्शन को अनुपम दर्शन मानते हैं। मैं यह नही कहता कि अरविन्द मेधावी नही थे, मेधावी की परिभाषा हमारे यहाँ यही रही है कि वह कुछ कमाल दिखाए। शङ्कर मेधावी थे क्योंकि उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वेद उपनिषदादि में 'मायावाद' ही उपदेशित है। रामानुज मेधावी थे क्योंकि उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वेद-उपनिषदादि में चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का ही वर्णन है, इसी प्रकार वल्लभ, मध्व, निम्बार्क भी मेधावी थे। अरविन्द भी मेधावी थे क्योंकि उन्होंने वेद-उपनिषद गीतादि की अपने दृष्टिकोण से व्याख्या कर दी। एक कार्य और बहुत बडा किया कि मनोविज्ञान, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र इतिहास, समाज-शास्त्र सभी के ज्ञान को तोड़-मरोड़ कर दार्शनिक चौखटे में कस दिया ताकि किसी को ब्रह्म के सम्बन्ध मे शङ्का न हो, किसी को वेद-उपनिषदादि की प्रामाणिकता में, उनकी सीमाओं के सम्बन्ध में शङ्का न हो, कहीं लोग उनके विपरीत न चले जाँय नहीं तो प्रलय हो जायगी। इससे भी बड़ा कार्य मेधावी अरविन्द ने यह

स्वीकार न था। अत उन्होंने बुद्धि को भी बीच का माध्यम मान लिया और उसे अंत मे अतर्चेतना मे ही बदलने का परामर्श दिया। यदि अतर्चेतना की विरोधिनी बोध वृत्ति को अतर्चेतना मे बदला जा सकता है तो अतर्चेतना को बुद्धि मे क्यों नही बदला जा सकता? यदि यों सोचा जाता तो अरविंद भौतिकवाद के समर्थक बन जाते।

अरविन्द-दर्शन मे बुद्धि व अंतर्चेतना का मिश्रण कैसे सम्भव हुआ? विभाजन-वाद की पद्धति पर। बुद्धि के दो भेद हैं—(१) अशुद्ध बुद्धि (२) शुद्ध बुद्धि। अशुद्ध बुद्धि विज्ञान के क्षेत्र मे कार्य करती है। शुद्ध बुद्धि द्वारा व्यावहारिक जगत को सोपान के रूप मे स्वीकार कर हम ब्रह्म की ओर बढ़ सकते है। यह है अरविन्द-दर्शन के समन्वय का आधार। इस प्रकार विज्ञान व दर्शन के समन्वय में क्या कमाल है यह समझ में नही आता। क्योंकि यह तो दार्शनिक सदा से करते आए हैं। सांसारिक ज्ञान अशुद्ध है और पारमार्थिक शुद्ध। तब मध्ययुगीन दार्शनिकों की पद्धति को चुपचाप स्वीकार करते हुए उसकी निन्दा भी करते जाना यह कहाँ की महानता है? यदि विज्ञान में अशुद्ध बुद्धि का प्रयोग होता है और ब्रह्म-ज्ञान में शुद्ध बुद्धि का तो आप में और मायावादियों के निर्णयों में पद्धति को छोड़कर, उद्देश्य की दृष्टि से क्या अंतर है? और यदि अतर नही है तो भौतिकवाद का क्या दोष जो स्पष्टत अध्यात्मवादियों की कल्पनाओं और असामाजिक व अवैज्ञानिक निर्णयों को स्वीकार नही करता।

अरविन्द का समन्वय मध्य युगीन दार्शनिकों के निर्णयों से कम व्यवस्थित, कम तर्क-सगत तथा सामाजिक जीवन के लिए अधिक खतरनाक है। क्योंकि मायावाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि स्पष्ट रूप से जगत को महत्ता नही देते। अरविन्द भी वही कार्य करते हैं परन्तु इस प्रकार जिसमे उनका उद्देश्य छिपा रहे, स्पष्ट न हो जाय। अत यह सम्भावना बढ़ जाती है कि सामान्य व्यक्ति पर उसका कुप्रभाव मध्ययुगीन दर्शनों से अधिक पड़े। आप मध्य-युगीन दार्शनिकों के स्पष्ट और एक पक्षीय समर्थन को सुविधा से समझ कर उससे बच सकते हैं परन्तु अरविन्द के घोल मे सभी रग रहने से यह सम्भावना है कि आप सभी वस्तुओं को पाकर कहीं भटक न जाँय। यह न कहने लग जाँय कि वस्तुत अरविन्द ने ऐसा समाधान प्रस्तुत कर ही दिया जिसने जड़ व चेतन की प्राचीन समस्या को सुलझा

दिया है। जबकि वास्तविकता यह है कि मध्य-युगीन दार्शनिकों ने उसे अच्छी तरह सुलझाया था भले ही उनके निर्णय कल्पनाओं पर आधारित थे परन्तु उनके पीछे तर्क था, व्यवस्था थी, स्पष्टता थी। अरविन्द के यहाँ इन सबका अभाव है पर वह कार्य वही करते हैं जो मध्य-युगीन दार्शनिक करते है। मनुष्य को अंध-विश्वासी बनाने में अरविन्द-दर्शन आज सक्रिय सहयोग दे रहा है। मध्य-वर्ग के कुछ व्यक्ति उससे बुरी तरह प्रभावित हो गये हैं क्योंकि उसमे उनके अवशिष्ट प्राचीनतावादी आस्तिक संस्कारों की आधुनिक पद्धति पर वैज्ञानिकता सिद्ध कर दी गई है। पन्तजी इसी द्वितीय वर्ग में आते है और उनकी समझ के पीछे उनके संस्कार ही हैं। इसी वर्ग में वे विचारक भी हैं जिन्हें भारतवर्ष की मौलिकता सिद्ध करने का चाव है, चाहे वह मौलिकता अबुद्धिवाद का ही उपदेश क्यों न देती हो। मौलिकतावादियों के मन के भीतर राष्ट्रीयता का सकुचित रूप अवस्थित है। अत ऐसे लोग सदा ऐसा प्रयत्न करते है कि मार्क्स, ऍगिल्स की बात हम यदि स्वीकार कर लेते हैं तो हमारा बौद्धिक दिवालियापन प्रकट हो जाता है। अत' आवश्यक है कि कोई ऐसी विचारधारा हो जो भारतीय हो, जिसमे सबका समन्वय हो जाय। ऐसे मौलिकतावादी भी अरविन्द-दर्शन को अनुपम दर्शन मानते हैं। मैं यह नहीं कहता कि अरविन्द मेधावी नही थे, मेधावी की परिभाषा हमारे यहाँ यही रही है कि वह कुछ कमाल दिखाए। शङ्कर मेधावी थे क्योंकि उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वेद उपनिषदादि मे 'मायावाद' ही उपदेशित है। रामानुज मेधावी थे क्योंकि उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि वेद-उपनिषदादि मे चिदचिदाविशिष्ट ब्रह्म का ही वर्णन है, इसी प्रकार बल्लभ, मध्व, निम्बार्क भी मेधावी थे। अरविन्द भी मेधावी थे क्योंकि उन्होंने वेद-उपनिषद् गीतादि की अपने दृष्टिकोण से व्याख्या कर दी। एक कार्य और बहुत बड़ा किया कि मनोविज्ञान, भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र इतिहास, समाज-शास्त्र सभी के ज्ञान को तोड़-मरोड़ कर दार्शनिक चौखटे में कस दिया ताकि किसी को ब्रह्म के सम्बन्ध मे शङ्का न हो, किसी को वेद-उपनिषदादि की प्रामाणिकता में, उनकी सीमाओं के सम्बन्ध में शङ्का न हो, कहीं लोग उनके विपरीत न चल जाँय नहीं तो प्रलय हो जायगी। इससे भी बड़ा कार्य मेधावी अरविन्द ने यह

किया कि उन्होंने भौतिकवाद बनाम मार्क्सवाद का खण्डन कर, जनता के शत्रुओं के हाथों में शङ्कर, नागार्जुन, रामानुज आदि के दार्शनिक बमों के अतिरिक्त एक नए परमाणु बम को दे दिया जिसकी धमकी देकर अमेरिका द्वारा जनवादी देशों को बराबर डराया जाता है। यह है अरविन्द-दर्शन के पीछे छिपी हुई मेधा का चमत्कार।

इस अन्धविश्वासी दार्शनिक परम्परा के प्रचार का सङ्गठन कैसे हो ? इस पर भी अरविन्द ने विचार किया है। संक्रान्ति-काल में केवल कुछ अन्तर्चेतनावादी ही इससे परिचित होंगे। परन्तु धीरे-धीरे अन्य लोग आकर्षित होते जायँगे। वैयक्तिक चिन्तन का विकास होता जायगा। ऐसे लोग स्वयं समाज का सङ्गठन कर लेंगे। ग्रीक-सभ्यता के इतिहास से हमें शिक्षा मिलेगी कि किस प्रकार उस युग में कुछ सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति समाज के नेत्र बनकर कार्य करते थे। आध्यात्मिक युग में कुछ रहस्यवादी होंगे और ये लोग अन्य सामान्य जनों के हृदय में यह अलक्षित ज्योति जगा देंगे कि समाज शुद्ध होता जायगा, प्रागैतिहासिक वैदिक-युग में भी यही दशा थी इसीलिए वह सभ्यता विचित्र थी, आदर्श थी, सुखी थी, सन्तुलित थी, अब उसी परम्परा का प्रचार आवश्यक है। आधुनिक युग में ऋषियों-मुनियों का स्थान बहुसंख्यक लेखक ले लेंगे और इस प्रकार सारी मानवता को अध्यात्म की ओर ले जायँगे जैसाकि ग्रीक-सभ्यता में सोफिस्ट लोगों ने किया था।[1]

अरविन्द द्वारा इसी उपदेशित आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसार का कार्य उपनिषद् युग के महर्षियों के अभाव में अब इस कवि-काल में श्री सुमित्रानन्दन पन्त बड़ी निष्ठा से कर रहे हैं।

[1] In this stage pure reason and pure spirituality will not govern the society or move large bodies of men, but will be represented, if at all, by individuals at first few, but growing in number as these two powers increase in their purity and vigour and attract more and more votaries there will be great mystics capable of delving into the profound and still occult psychological possibilities of our nature ....in prehistoric India, we see it takes a peculiar and

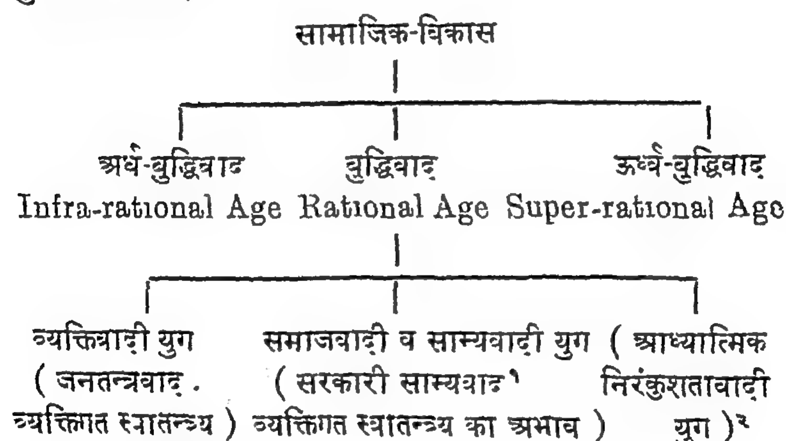
बुद्धि व अन्तर्चेतना के समन्वय के युग में आध्यात्मिकता का प्रचार कैसे होगा, उसका रूप क्या होगा, यह स्पष्ट होगया। परन्तु आज भी एक कार्य और शेष रह गया और वह यह कि रूस के सङ्घवाद की निन्दा अभी पूर्णतया नही हो सकी। अरविन्द इस कार्य के लिए बुद्धि (Reason) को तीन सोपानों मे बाँटते हैं—

प्रथम सोपान—व्यक्तिवादी युग।

द्वितीय सोपान—समाजवादी, साम्यवादी युग।

तृतीय सोपान—आध्यात्मिक-निरंकुशतावादी युग।

इस सारे विकास व सोपानवाद को इस प्रकार रख लेना सुविधा-जनक होगा—



अर्ध-बुद्धिवादी युग मे बुद्धि का विकास नही हुआ था। तब

---

unique turn which determine the whole future trend of the society and made Indian civilisation a thing apart and of its own kind in the history of Human race As reason and spirituality develop the solitary individual thinkers are replaced by a great number of writers, poets, thinkers, rhetoricians, sophists (The Human cycle, page 208, 209, 210)

[1] Governmental communism

[2] Anarchistic Age (in Higher sense of that much abused word)

अन्तर्चेतना का प्रयोग होता था। बुद्धिवादी युग में समाज के सङ्गठन पर ध्यान गया, नियमो की खोज प्रारम्भ हुई। तर्कसङ्गतता का ध्यान रखा जाने लगा। यह कहा गया कि सारी जनता को शिक्षा दी जाय, सभी को अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने की सुविधाएँ दी गईं। वह जनतन्त्रवाद का युग था (प्रागैतिहासिक युग के बाद अरविन्द सहसा जनतन्त्रवाद पर आ जाते हैं। बीच की शृङ्खलाओं का वर्णन नही करते और सामन्तवाद को भी बुद्धिवादी युग मे गिनते है जबकि सामन्तवादी व पूँजीवादी जनतन्त्रवाद मे स्पष्टत मौलिक भेद है) परन्तु जनतन्त्रवाद मे आम शिक्षा कर देने पर भी सभी बुद्धिमान नही हो सकते, फिर यदि बुद्धि विकसित भी हो तो उसका स्वभाव है मतभेद। अत जनतन्त्र मे मतैक्य नही दिखाई पडता। अत बुद्धि-वादियो का शासन जनता के नाम पर होने लगता है। दूसरे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मिल जाने से वर्ग-सङ्घर्ष प्रारम्भ हो जाता है। तीसरे पार्टी के आधार पर अनेक झगड़े खडे होने लगते हैं। इन कठिनाइयों से युद्ध, अशान्ति आदि का जन्म होता है। यह जनतन्त्रवाद की अर-विन्दीय आलोचना हुई।

इन कठिनाइयों को क्रमश आत्म-शिक्षा, बुद्धि-विकास तथा राष्ट्रीयता के द्वारा किसी सीमा तक हल कर सकते हैं परन्तु अधिक समय तक नही। अत जनतन्त्रवाद मे वर्ग-सङ्घर्ष तीव्र होता जाता है। और सर्वप्रथम जनतन्त्रवादी समाजवाद की स्थापना होती है। समाज वाद वर्ग-सघर्ष को अपना आधार बनाता है परन्तु दुर्भाग्य से उद्योगो के विकास में यह विश्वास करता है। अत इसका रूप औद्योगिक व आर्थिक व यान्त्रिक होता जाता है। अत समाजवाद का वास्त-विक रूप छिपता जाता है। जनतन्त्र की शासित अर्थ-व्यवस्था को समाजवाद अपनी सङ्गठित सघ-व्यवस्था के द्वारा अपदस्थ करता है। परन्तु सकुल आर्थिक व्यवस्था व औद्योगीकृत समाज मे विषमता की वृद्धि अवश्य होगी और वस्तुत रूस में हो रही है परन्तु उसे दबाने के लिए केन्द्रीय कठोर अनुशासन की आवश्यकता पडती है। अत जनतन्त्रवाद मे प्राप्त व्यक्तिगत स्वतत्रता को छीनना पडता है और औद्योगीकरण के क्षेत्र मे जनतन्त्रवादी देशों के साथ प्रतियोगिता के कारण समाजवादी व्यवस्था को अन्य सारे कार्य महत्त्वहीन लगते हैं। परिणाम यह होता है सकुल अर्थ व्यवस्था मे समता का अर्थ

"अवसर की समता" (Equality of opportunity) दी जाती है परन्तु जब तक समाज स्तर की (Equality of status) समानता नही देता है तब तक समता का रूप सच्चा रह ही नही सकता। अत. समाजवाद व्यक्तिगत पूँजी का नाश करता है। तब पूँजी किसे दी जाय, समाज को, अर्थात् सरकार को। मतलब यह कि इस व्यवस्था मे सारी वस्तु सरकार के हाथ मे पहुँच जाती है। सरकार पर मनुष्यों का अधिकार ही होता है और जो मनुष्य है उसमे कमजोरियाँ भी हो सकती है। अत' केन्द्रित शासन सत्ता धीरे-धीरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीनती चली जाती है। व्यक्ति को पूर्णतया समाज के अधीन कर दिया जाता है, उसके व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की चिंता ही किसे हो सकती है। साम्यवाद में व्यक्तित्व पर अधिक आघात होते है,[1] जनतन्त्रवाद मे कम। अत समाजवादी जनतंत्रवाद के तत्त्वो को मिला भी लेते है। परन्तु इस समन्वय से ही समाजवादी विश्व भर मे कमजोर पड़ते गए। इस प्रकार जनतन्त्रवाद के पश्चात् विकसित समाजवादी जनतन्त्रवाद तथा संघवाद (collectivism & communism) दोनों अपने अन्तर्विरोधों से एक तीसरी व्यवस्था को जन्म देंगे और चूँकि समाजवादी, साम्यवादी व्यवस्थाओं में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नाश हो जाता है तथा भौतिकता पर ही ध्यान केन्द्रित हो जाता है, अत' तीसरी व्यवस्था आध्यात्मिक निरंकुशता अथवा आध्यात्मिक एकतन्त्रवाद के आधार पर विकसित होगी।

इस सारे विवेचन का आधार यह है कि अरविन्द ने कोरी वैयक्तिक दृष्टि का ही यहाँ उपयोग किया है। अरविन्द जनतन्त्रवाद (democracy) को अच्छा समझते हैं क्योंकि उसमे व्यक्तिगत

[1] In fact the claim to equality like the thirst for liberty is individualistic in its origin the collectivist trend, the state idea have rather the opposite tendency, they are self compelled to take up more and more the compulsory management and control of the mind, life, will, action of the community and the individual's as part of it—until personal liberty is pressed out of existence.

(The Human Cycle, page 226)

स्वतन्त्रता अधिक रहती है परन्तु वे यह नही देखते कि अमेरिका व इंगलैण्ड जैसे देशों में खुली प्रतियोगिता की छूट देकर किस प्रकार इन देशों ने विश्व के अनेक देशों का शोषण किया है। आश्चर्य तो यह है कि जिस जनतन्त्रवाद की वह प्रशसा करते हैं और जिसे बुद्धिवादी युग का वह आदर्श मानते हैं उसी व्यवस्था ने युद्ध, अशान्ति, साम्राज्यवाद, जातिवाद, शोपण आदि पर एकाधिकार कर रखा है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नामभर जनतन्त्रवाद मे रहता है। उसके नाम पर एक ओर तो शोषक वर्ग को शोषण की खुली छूट रहती है और दूसरी ओर एक पार्टी व एक नेता का विचार व्यवस्था, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर एकाधिकार रहता है। परन्तु इन दोपों की ओर अरविन्द का ध्यान गया न हो ऐसी बात नही पर वे उस पर जोर नहीं देते। क्योंकि वे वैयक्तिक दृष्टि से इतिहास को देखते है। वे यह नही देखते हैं कि जनतन्त्रवाद मे तो आध्यात्मिक विकास पर रोक नही लगती, धर्म प्रचार की पूरी आजादी रहती है परन्तु साम्यवादी व्यवस्था मे यह सम्भव नहीं होता। चूँकि उन्हे समाज की चिन्ता नहीं, उन्हे तो अध्यात्म की चिन्ता है। अत जो व्यवस्था समाज के यथार्थ दु ख को दूर करने के लिए सामूहिक रूप से योजनाबद्ध रूप मे सारे समाज का निश्चित लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाती है उसे वे व्यक्तिगत अधिकारों की हत्या मानते हैं। यों रूस, व चीन मे भी व्यक्तिगत रूप से धर्म-पालन पर रोक नहीं है परन्तु धार्मिक सनक को राष्ट्रीय योजनाओं में बाधक होते समय सरकार बरदास्त नही करती और अरविन्द के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की परिभाषा ही यही है कि सामूहिक रूप से होने वाले कार्यों मे व्यक्ति को काम करने के लिए विवश न किया जाय। अत वे व्यक्ति की निरकुशता को ही व्यक्तिगत अधिकार समझते हैं। यही कारण है कि उनका सारा विवेचन घोर वैयक्तिक हो गया है। अफ्रीका, एशिया, आस्ट्रेलिया तथा योरोप के कमजोर देशों मे एकाधिकार चाहने वाले अमेरिका व इगलैण्ड के व्यापारी तो उन्हे पसन्द है परन्तु रूस व चीन की जनवादी पद्धति उन्हे पसन्द नहीं है। इसलिए उनका 'दर्शन' वैयक्तिक निरंकुशता का प्रचारक है। 'अध्यात्म' शब्द जोड देने से वस्तु का रूप नहीं छिप सकता। समाजवादी पद्धति के विरोध मे जो उनका सबसे बड़ा तर्क है वह यह है कि चूँकि समता भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ही तरह व्यक्तिगत वस्तु है अत समतावादी

देशों मे समता के नाम पर जब समाजवादी देश अनिवार्य रूप से व्यक्ति के अधिकार छीन लेते हैं तो व्यक्ति विद्रोह अवश्य करेगा फलत. 'आध्यात्मिक निरंकुशता' स्थापित हो जायगी। विचित्र तर्क है! सभी जानते हैं कि समता व स्वतन्त्रता का अनुभव व्यक्ति को ही होता है—

परन्तु व्यक्ति अपने तथा समाज के बीच जो सम्बन्ध स्थापित करता है उसमें यह बात निश्चित करनी पड़ती है कि कहाँ तक उसे समाज के लिए अपने निजी अधिकारों को छोड़ देना चाहिए। आप कहेंगे कि समाजवादी देशों मे इसका निर्णय सरकारें करती हैं।[1] अतः जनता की अनिच्छा से ही उसके व्यक्तिगत अधिकार छीन लिए जाते हैं यदि ऐसा हो तो ऐसी व्यवस्था एक दिन भी नही चल सकती जबकि १६१८ से लेकर १६५६ तक समाजवादी सरकार बराबर अपना कार्य कर रही है और चीन मे भी अब जनवादी सरकार स्थापित होगई है। आप कहेंगे कि यह प्रचार का परिणाम है। उत्तर होगा कि प्रचार तो आप भी अध्यात्मवाद, जनतन्त्रवाद का करते हैं। जनता मूर्ख नही होती जैसा आप समझते हैं, जनता जानती है कि साम्राज्यवाद किस व्यवस्था ने फैलाया, व्यापार पर एकाधिकार कौन व्यवस्था चाहती है? वर्ण व जाति के आधार पर अफ्रीका मे राज्य कौन व्यवस्था कर रही है, आदिवासियों के साथ अमेरिका में कौन व्यवस्था भेद-भाव करती है, सैनिक संगठन कौन करती है, राष्ट्र-सघ को हाथ की कठपुतली कौन गुट बनाए हुए है? नि शस्त्रीकरण योजना को कौन व्यवस्था अस्वीकार करती है? चाँगकाई शेक जैसे देशद्रोही को किसने पाल रखा है आदि आदि। अत जनता के अधिकार छीन कर उसे भेड़-बकरी की तरह नहीं रखा जा सकता। जनता को सगठित करने के लिए, लोक कल्याणकारी योजनाओं के संचालन के लिए यदि अवांछनीय अवैज्ञानिक निरंकुशता को साम्यवादी सरकारें बरदाश्त नहीं करती, व्यक्ति को सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं करती तो अरविन्द कों

---

[1]The only liberty left at the end would be the freedom to serve under the rigorous direction of the state authority —Human Cycle, page 227

लगता है कि साम्यवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नाश करती है अतः इतिहास एक आध्यात्मिक एकतन्त्रवाद की ओर बढ़ रहा है।

अरविन्द समाजवाद का विरोध करते हैं, बुद्धि (Reason) का विरोध करते है, यही नही समाज-शास्त्र व इतिहास का भी विरोध करते हैं। किस प्रकार ज्ञात या अज्ञात रूप से वैयक्तिक चिंतन प्रतिक्रियावादी होजाता है इसका सबसे अच्छा उदाहरण अरविन्द-दर्शन है।

"Sociology does not help us, for it only gives us the general story of the past and the external conditions under which communities have survived. History teaches us nothing. it is a confused torrent of events and personalities" (The ideal of Human unity, page 18, Quoted by Bhavani sen in the New Age, July 1955)

पाठक देखे कि अरविन्द क्यों समाजवाद का विरोध करते हैं? वैयक्तिक स्वतन्त्रता के नाश के भय से, अर्थात अध्यात्मवाद के विरोध के कारण समाजवादी राक्षस हैं, और चूॅकि समाजवादियों का आधार समाज-शास्त्रीय व ऐतिहासिक व्याख्याएँ है अत. समाज-शास्त्र व इतिहास झूॅठे हैं, क्यों? क्योंकि इतिहास व समाजशास्त्र संस्थाओं व व्यक्तियों की वाह्य दशाओं का वर्णन करते है, आन्तरिक दशाओं का वर्णन नही करते।

यदि इतिहास व समाजशास्त्र कुछ नहीं सिखाते तो आप सामाजिक विकास का वर्णन किस आधार पर कर रहे है? अरविन्द उत्तर देंगे 'आन्तरिक आधार पर'। और यह हम पहले ही कह चुके हैं कि आदर्शवादी समाज के विकास का वर्णन आन्तरिक आधार पर अर्थात् वैयक्तिक पद्धति पर करते हैं और वैयक्तिक पद्धति पर इतिहास व समाजशास्त्र का वर्णन सदा व्यक्तिगत ही होगा क्योंकि वैयक्तिक दृष्टिकोण अपने अनुसार इतिहास को देखता है, सापेक्ष दृष्टि से नहीं देखता। निरपेक्षतावादी जब निरपेक्ष दृष्टि से इतिहास का विवेचन करता है तो परिणाम अंत मे सदा एक ही निकलता है—समाजवाद का विरोध अर्थात् प्रतिक्रियावाद। इसी प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ है कि अरविन्द—

१—समाजवाद को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहर्त्ता मानते हैं।
२—बुद्धि (Reason) को व्यक्ति का बधन स्वीकार करते हैं।
३—साम्यवादी व्यवस्था व नाजीवाद में अन्तर नही करते।
४—आदिम साम्यवाद से जनतन्त्रवाद तक विकास बौद्धिक आधार पर मानते है परन्तु समाजवाद आते ही बुद्धि (Reason) का पतन मानते हैं।
५—व्यक्ति का दुश्मन साम्राज्यवादी अमेरिका इंगलैंड के जनतन्त्रवाद को नही रूस व चीन के समाजवाद को मानते हैं।[१]

पाठक देखें कि अरविन्द के "सुपर मांइड" ने योग साधना के क्षणों मे उन्हे कौन सा पाठ पढ़ाया है। दिव्य-ज्ञान का सारा रूप यहाँ स्पष्ट है।

इसी दिव्य ज्ञान ने आकाश मे उतर कर अरविन्द से यह कहने के लिए प्रेरणा दी है—"Still its (of communism) spirit is a rigorous totalitarianism on the basis of the dictatorship of the proletariate, which amounts in fact to the dictatorship of the communist party in the name or on behalf of the proletariate . . In Russia the Marxist system of socialism has been turned almost into a gospel[२]

फिर भी अरविन्द को सङ्घवाद (Collectivism) मे एक बात अवश्य प्रिय प्रतीत हुई और वह यह कि सङ्घवादी अज्ञात रूप से यह मानता है कि प्रत्येक सङ्घ के पीछे एक "सामूहिक आत्मा" (Collective being) रहती है और चूँकि यह 'सामूहिक आत्मा' है अत स्वाभाविक रूप से इसकी खोज सामूहिक बुद्धि (Collective Reason) कर सकती है। इसे आप प्रशसा न समझ लें क्योंकि अरविन्द का उद्देश्य यहाँ यह है कि मनुष्य का विकास 'आत्म-

[१] Democratic liberty tried to minimise this suppression, it left a free play for the individual and restricted as much as might be the role of the state. —Human Cycle, page—235

[२] The Human Cycle, page 229.

ज्ञान' के लिए हो रहा है अत: सङ्घवाद के रूप मे जब वह बाह्य रूप से "सामूहिक आत्मा" की खोज कर लेगा और जब केवल बाह्य-समतावादी व्यवस्था असफल हो जायगी तब मनुष्य आन्तरिक रूप से भी समूह व व्यक्ति मे व्याप्त आत्मा की खोज के लिए उद्यत हो जायगा और तब जो व्यवस्था बनेगी वह बाह्य व आन्तरिक दोनों रूपों से सन्तुलित होगी।

कैसी विडम्बना है! पहले कहा कि सङ्घवाद में बुद्धि का पतन होगा और अब कहा जा रहा है कि सङ्घवाद में भी व्यक्ति अज्ञात रूप से सामूहिक आत्मा की खोज बाह्य रूप में कर रहा है। और साथ ही यह भी कहा जा रहा है कि स्टेट गवर्नमेन्ट के विकास होने पर वास्तविक अत्याचार प्रकट होता है—अर्थात् शासन जितना ही केन्द्रित होगा उतना ही अत्याचार बढ़ेगा।[1]

अरविन्द के अनुसार शासन को केन्द्रित करते जाने का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति की अपनी मौलिकता समाप्त हो जाती है और सरकार कुछ बुद्धिवादियों के हाथ मे रह जाती है। ये बुद्धिवादी, जनता विद्रोह न करे, इसलिए एक विशेष प्रकार की संकुचित करने वाली शिक्षा देते हैं और मनुष्य के सर्वाङ्गीण विकास का विरोध करते हैं अर्थात् व्यक्ति को केवल हृदय व बुद्धि के स्तर पर ही रहने देते हैं, बुद्धि के परे रहस्यमय शक्तियों से परिचित नही होने देते। साहित्य, कला आदि द्वारा साम्प्रदायिक व संकुचित शिक्षा का प्रसार सरकार द्वारा ही होता रहता है। अत सङ्घवादी सरकारे व्यक्ति को एक विशेष प्रकार के यान्त्रिक व्यक्तित्व से युक्त कर देती है। चूँकि विश्वात्मा इसे सदा के लिए सहन नही कर सकती, अत उसकी प्रेरणा से व्यक्ति अन्ततोगत्वा सङ्घवादी सरकार से अवश्य विद्रोह करेगा और अपने सर्वाङ्गीण विकास की ओर बढ़ेगा।

यदि यह कहा जाय कि सङ्घवादी व्यवस्था मे जनतान्त्रिक प्रवृत्तियों को मिला दिया जाय अर्थात् व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा भी की जाय तब तो सन्तुलन आ जायगा? अरविन्द के अनुसार तब भी उद्धार न होगा क्योंकि सङ्घवादी सरकारे मनुष्य के दृष्टिकोण को

[1] As the state government develops, we have a real suppression or oppression (H. C page 235)

मूलत बदलने की कोशिश करती है और व्यक्ति को जिस साँचे मे वे ढाल देती हैं, वह साँचा संकुचित है। अतः सङ्घवाद किसी भी रूप में सफल नही होता। इसलिए आध्यात्मिक निरकुशतावाद की आवश्यकता अवश्य रहेगी।[१]

मतलब यह कि अरविन्द को साम्यवाद के प्रत्येक रूप से घोर घृणा है क्योंकि वह अध्यात्मवाद का विकास नही होने देता। चूँकि आत्मवाद का विकास रोका नही जा सकता क्योंकि ब्रह्म की प्रेरणा से मनुष्य जितने भी प्रयत्न करता है, उन सबका एक ही उद्देश्य है, "आत्म परिचय"। साम्यवाद इस "स्वरूप ज्ञान" का बाधक बनता है इसलिए वह समाप्त होकर ही रहेगा। अत. सङ्घवाद के पश्चात् आध्यात्मिक निरकुशतावादी व्यवस्था का विकास अवश्य होगा।

प्रश्न यह है कि क्या आध्यात्मिक राज्य-व्यवस्था में समाज का ध्यान रखा जायगा? क्योंकि आध्यात्मिक वातावरण मे व्यक्तिगत अह का विकास इतना अधिक हो सकता है कि वह किसी प्रकार के अनुशासन को स्वीकार न करे। इस व्यक्तिगत उच्छृङ्खल अहं पर केवल सङ्घवाद ही शासन कर उसे सामाजिक बना सकता है। कम से कम सङ्घवाद व्यक्तिगत अह को "सामूहिक-अह" में अवश्य बदल देता है। क्या आगामी अध्यात्मवादी राज्य मे व्यक्तिगत अहं पूर्ण निरंकुश व असामाजिक न बन जायगा? (देखिये, पृष्ठ २४०)

अरविन्द ने स्वय ये शङ्काएँ प्रस्तुत की हैं और इसके उत्तर मे

[१] But the inner difficulty would not disappear even if the socialistic state became really democratic any true development of that kind would be difficult indeed and has the appearance of a chimera for collectivism pretends to regulate life not only in its fundamental principles and its main lines ... but in its details, it aims at a thorough-going scientific regulation, and an agreement of the free reasoned will of millions in all the lines and most of the details of life is a contradiction in terms (page 237)

वह कहते है कि अध्यात्मवादी राज्य मे व्यक्तिगत अहं का विकास अध्यात्मवादी साधना के आधार पर होगा। व्यक्तिगत अहं तभी असामाजिक व उच्छृङ्खल होता है जब उसको केवल मानसिकता तक ही सीमित कर दिया जाता है। संघवादी व्यवस्था मे 'सामूहिक बुद्धि' का विकास केवल मानसिकता (Mentality) तक ही सीमित कर दिया जाता है अत आत्मा विद्रोह करती रहती है। जब व्यक्तिगत अहं आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख हो जायगा तो वह स्वय लोक-कल्याण की ओर उन्मुख होगा, वह उच्छृङ्खल नही होगा, वह कोई असामाजिक कार्य नही कर सकता। इसी अवस्था की ओर गीता म कृष्ण ने सकेत किया था (लोकसग्रहमेवापि सपश्यन्कर्तुमर्हसि)। अत सामाजिक कार्य बराबर होते रहेंगे। सामाजिक कार्य व व्यक्तिगत साधना का विरोध मिट जायगा। सामाजिक कार्यों को भी व्यक्तिगत साधना का ही एक अङ्ग बना लिया जायगा।

कितना सुन्दर स्वप्न है! काश यह सच्चा होता! उपनिषद्-युग आत्मवादी था परन्तु उस युग की व्यवस्था मे दासो का जीवन पशुओं से भी बदतर था। उस युग में शूद्र व कमकर वर्ग उच्च-वर्गों से पीड़ित था। अकाल पड़ते थे और बहु-विवाह जैसी प्रथाएँ थी। वर्ण-वाद, जातिवाद आदि अनेक बर्बर तत्त्वों से समाज युक्त था। उच्चवर्ग को कमकर वर्गों को भी मानसिक समानता देने के लिए विवश होना पडा था, यही आत्मवाद था। परन्तु अरविन्द को इससे कोई तात्पर्य नही। उनके आध्यात्मिक राज्य में अवश्य सन्तुलन हो जायगा। समन्वय के नाम पर जितने बड़े झूठ की स्थापना अरविन्द ने की है वह अन्यत्र कही दिखाई नही पडती।

अरविन्द की अभीप्सित आदर्शवादी निरंकुशता पूर्णतया निर्दोष होगी। इसे आदर्शवादी साम्यवाद (Free Communism) भी कहा जा सकता है परन्तु अधिक अच्छा हो यदि अरविन्द के अनुसार हम इसे सम्प्रदायवाद (Communalism) कहे, अध्यात्म-वादी सम्प्रदायवाद! इसमे स्वतन्त्र व्यक्ति अपनी इच्छा से रहेगा, इसमें विवशता नही, सहयोग का विकास होगा। यदि कहो कि पर-लोक पर जोर देने से इस लोक का कार्य कमजोर होगा तो अरविन्द कहते हैं कि अध्यात्मवादी स्वतन्त्रता स्वय पूर्ण समाज का विकास कर लेगी।

It is a spiritual, an inner freedom that can alone create a perfect human order. It is a spiritual, a greater than the rational enlightenment that can alone illumine the vital nature of man and impose harmony on its self-seeking antagonism and discords. —Human Cycle, Page 245

इसका उत्तर यह है कि यदि अध्यात्मवादी प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास होने पर स्वय आदर्श समाज की स्थापना हो जायगी और मनुष्य के प्राण, मन आदि स्तरों से होने वाले कार्यों मे सन्तुलन आ जायगा तो प्राचीन युगों मे अरविन्द के अनुसार तत्त्व-द्रष्टा दार्शनिक यह कार्य क्यों नही कर सके या वे जान-बूझकर बर्बर समाज मे रहना चाहते थे ? क्यों मुट्ठी भर दार्शनिक विराट जन-समूह को नही बदल सके ? जनता की मूर्खताओ, दुर्दशाओं, उत्पीड़नों व सामाजिक कुत्सित प्रवृत्तियो को दूर करने के प्रयत्न करने से कैसे विरत रहे या प्रयत्न करने पर भी सफल क्यो नही हो सके ? अन्तत. बर्बर युग मे रहस्यदर्शियों को क्या पूर्ण समाज के निर्माण से परहेज था या दैवी प्रेरणा से उन्होंने ऐसा नही किया या दैवी प्रेरणा पक्षपात से युक्त थी जिसने विकास को इतना एकाङ्गी कर दिया था ? क्यों उसने ऋषियों को ऐसी प्रेरणा नही दी जिससे वे आन्तरिक विकास के साथ-साथ तभी समाज को भी आदर्श रूप दे देते ? यदि ऋषि, महर्षि अन्तर्चेतना के उच्च स्तर पर पहुँच चुके थे तो समाज निर्माण की साधारण सी बाते वे क्यों नही समझ सके ? आर्यसमाजी तो यह भी मानते है कि वैदिक युग मे सारे वैज्ञानिक आविष्कार भी हो चुके थे परन्तु अरविन्द तो नही मानते। वे तो केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही बर्बर-युग को पूर्ण मानते हैं। तब अन्तर्चेतना के बल पर क्रान्त द्रष्टा ऋषि विमानादि का आविष्कार क्यों नही कर सके ? उपनिषद् के ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्रियों में सम्पत्ति का विभाजन करते है। राजा अनेक ऋषियो के साथ अपनी अनेक कन्याओं का विवाह कर देते हैं। घरेलू दास, शिल्पी, शूद्रों, कृषि पर कार्य करने वाले दासों के अनेक उल्लेख आते हैं। क्या इससे अच्छी व्यवस्था का निर्माण तत्त्व-द्रष्टा नही कर सकते थे ? इसका अर्थ यह हुआ कि व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना विकसित होने पर समाज भी उच्चकोटि का हो

यह आवश्यक नही, तब आपके आदर्शवादी निरकुश राज्य मे वैयक्तिक साधनाओ में प्रत्येक व्यक्ति कैसे सामाजिक हो जायगा ?

पाठक देखे कि वैयक्तिक चेतना को निरपेक्ष मान लेने के परिणाम-स्वरूप ही ये भ्रम अरविन्द को हुए हैं। इतिहास व्यवस्था को देखता है और व्यक्ति की चेतना पर उसके प्रभाव को देखता है तथा विकसित होती हुई व्यवस्था में विकसित चेतना के कार्य का विवरण देता है। अत मार्क्सवादी व्याख्या आदिम युग से आज तक की विकास की कड़ियों को स्पष्ट समझा देती है जब कि अरविन्द की व्याख्या अधूरी, एकाङ्गी व अस्पष्ट हो जाती है।

भारत में दास प्रथा के पश्चात् कृषि व्यवस्था आ कर स्थिर हो गई और अँगरेजों के आने के पश्चात् उसमे परिवर्तन हुआ। यों समय-समय पर व्यापारिक सन्तुलन के बदलने से कुछ अन्तर होता रहा परन्तु सामान्यत कृषि-व्यवस्था ही यहाँ मुख्य रही। अत स्थिर व्यवस्था में अनेक दार्शनिकों ने स्थिर आत्मा के दर्शन किए। वे समाज की गतिशीलता को, व्यक्ति व समाज के द्वन्द्व को, वर्ग, वर्ण, धनी, निर्धन, शोषक, शोषित, उत्पादन और उपभोग की समस्याओं को स्थिर समझ कर अनेक दार्शनिक कल्पनाओं मे लीन रहे। वे वैयक्तिक चिन्तनो मे डूबे रहे और व्यक्ति की मुक्ति का एक मात्र साधन वे वैयक्तिक साधनाओं को समझते रहे। सर्वप्रथम मार्क्स ने बताया कि मनुष्य का यथार्थ दु ख व्यवस्था-जन्य है, चिन्तन-जन्य नहीं है। उसने व्यवस्थानुसार बदलते चिन्तन के स्वरूप का विश्लेपण किया और व्यक्तिगत चेतना का बदलती हुई व्यवस्था मे क्या कृतित्व रहता है इसका उल्लेख किया यह है इतिहास की यथार्थ व्याख्या। इसी के द्वारा हम समाज के विकास को, मनुष्य की सकुल गतिविधियों, कला, धर्म, दर्शन, युद्ध सन्धि, वर्ग, वर्ण, जाति, सङ्गठन, राज्य, सामाजिक प्रथा आदि प्रत्येक वस्तु की यथार्थ व्याख्या कर सकते हैं।

परन्तु अरविन्द उस व्याख्या को स्वीकार न कर चिन्तन को निरपेक्ष मानकर "आध्यात्मिक चेतना स्वय परिपूर्ण समाज का निर्माण कर लेगी" इस निर्णय पर पहुँचे है जो इतिहास के विकास के विरुद्ध है। मनुष्य का चिन्तन तभी गतिशील बनता है जब कि वह सामाजिक होता है। वैयक्तिक चिन्तन किसी आगामी युग मे स्वय सामाजिक हो जायगा, यह अब तक के इतिहास के विरुद्ध तथ्य है।

अब तक किसी भी युग मे आध्यात्मिक चेतना परिपूर्ण समाज को जन्म नही दे सकी। तत्त्व-द्रष्टाओं की कल्पनाओं ने मनुष्य की सामाजिक समस्याओं को न सुलझा कर उसे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न अवश्य किया। गौतम बुद्ध जैसे विचारक वैयक्तिक दृष्टिकोण के कारण आत्मा-परमात्मा का निषेध कर के भी कर्मवाद का समर्थन करते रहे जिससे उच्च वर्गों की सत्ता अक्षुण्ण रही और उत्पादक वर्ग की दशा न सुधर सकी। अत गौतम भी मनुष्य की मुक्ति को साधनाओं मे खोजने का उपदेश करते रहे। और यही आदर्शवादी दृष्टिकोण अरविन्द ने हमारे सम्मुख रखा है जो अपनी असामाजिकता के कारण अग्राह्य है। 'समन्वय' के नाम पर असामाजिक चिन्तन को स्वीकार नही किया जा सकता।

परन्तु अरविन्द का सारा ध्यान केवल व्यक्तिगत चिन्तन पर ही केन्द्रित रहता है और इस निरपेक्ष वैयक्तिकता की रक्षा के लिए अरविन्द सापेक्षतावादी तथा यथार्थवादी विचारकों पर तरह-तरह के आक्षेप करते हैं—

Thinkers, historians, sociologists who belittle the individual and would like to lose him in the mass or think of him chiefly as a cell an atom (Page 274)

अरविन्द के अनुसार आगामी आध्यात्मिक युग में विज्ञान का कार्य जड-पदार्थ व चेतन-तत्त्व के बीच के विरोध को कम करना होगा, अनेक मनोवैज्ञानिक रहस्यों का ज्ञान किया जायगा, भौतिक-साधनाओं द्वारा मनुष्य की अज्ञात शक्तियों का विकास किया जायगा। विश्वविद्यालयों में आध्यात्मिक साधनाएँ व्यावहारिक व सैद्धांतिक रूप से प्रसारित होंगी (शायद उस युग मे विषयों के विविध ज्ञान की जगह केवल अरविन्द-दर्शन पर व्याख्यान अधिक होंगे क्योंकि अन्य दर्शन व्यर्थ हो जाएँगे)। अरविन्द के अनुसार ईश्वर अपने सम्बन्ध मे मनुष्य को ज्ञान देने के लिए प्रतीक्षा कर रहा है।[1] मार्क्सवादियों ने उसे रोक रखा है और वे भविष्य मे उसी ईश्वर के रास्ते में रोडे बनना चाहते हैं। ईश्वर इस गुस्ताखी का बरदास्त नही कर सकता। अत. आगामी अध्यात्मवाद बस आने ही वाला है, उसी के लिए प्रयत्न करना आज के व्यक्ति का मुख्य कर्त्तव्य है और इस पुण्य कार्य के

[1] God is only waiting to be known

लिए भौतिकवादियों का विरोध अनिवार्य है। अध्यात्मवादी युग मे यह विरोध शान्त हो जायगा, सक्रान्ति-काल में अवश्य यह रहेगा।[1]

यदि यह पूछा जाय कि 'आगामी अध्यात्मवाद' को पूर्ण कैसे मान लिया जाय? यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि अरविन्द के कथन मे सत्यता है? अथवा यह कैसे आशा की जाय कि यह सब सम्भव भी हो सकेगा या नहीं?

अरविन्द उत्तर देते हैं कि अवश्य ऐसी आशा करनी चाहिए क्योंकि बौद्धिक युग का सारा प्रयत्न मानसिकता (Mentality) के आधार पर हुआ है और इसलिए आगामी आध्यात्मिकता एक तर्कसगत तथ्य है। यदि अतर स्थित प्रकाश बढ़ता जायगा, यदि अध्यात्मवादियों की संख्या बढ़ती जायगी (जैसा कि हो रहा है) तो मनुष्य के भीतर जो शक्ति छिपी हुई है, जिसे मानसिकता ने आवृत्त कर लिया है, जिसका कुछ-कुछ आभास जब-तब मनुष्य को होता है वह शक्ति 'अवतार' के रूप मे मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मा मे अवतरित होगी। कुछ विशिष्ट जागृत आत्माओं में इस अवतार के उतरते ही इस सक्रान्तिकाल में अध्यात्मवादी प्रवृत्तियाँ प्रचारित व प्रसारित होंगी और उन विशिष्ट आत्माओं से अन्य सामान्य आत्माएँ यह शक्ति ग्रहण करती जाँयगी।

If the light that is being born increases, if the number of individuals who seek to realise the possiblity in themselves and in the world, grows large and they get nearer the right way, then the spirit is here in man, now a concealed divinity, a developing light and power, will descend more fully as the 'Awatar' of a yet unseen and unguessed godhead from above into the soul of mankind and into the great individualities in whom the light and power are the strongest There will then be fulfilled the change that will prepare the transition of human

[1] पन्तजी ने हिन्दी भाषी जनता में नूतन अध्यात्मवादी राज्य के लिए प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया है और चूँकि इसके लिए मार्क्सवाद का विरोध अनिवार्य है अतः यह कार्य भी वह पूरी शक्ति के साथ कर रहे हैं।

life from its present limits into those larger and purer horizons. (The Human Cycle, page 299-300)

यह है वैयक्तिक दृष्टिकोण का अंतिम निर्णय। आध्यात्मिक युग के लिए जो प्रयत्न कर रहे हैं उनकी आत्मा में अवतार के रूप में ब्रह्म अवतरित हो गया है। अरविन्द व पतजी ऐसे ही कुछ विशिष्ट व्यक्ति हैं जिन्हें यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है। ये विचारक ही भौतिकवाद व आगामी अध्यात्मवादी युग के बीच के इस संक्रान्ति-काल में आगामी युग के लिए दिव्य प्रेरणा से दिव्य ज्ञान का प्रसार रहे है। चूँकि इस युग में 'मार्क्सवाद' से खतरा अधिक बढ़ गया है। अत अरविन्द व पन्तजी को ब्रह्म ने उसके विरुद्ध प्रचार करने का कार्य सौंप दिया है। ये विचारक जनता को चेतावनी दे रहे हैं कि जङ्गबाज अमेरिका व इगलेण्ड से खतरा नहीं है, खतरा साम्यवादियों से है क्योंकि ये तामसी स्वभाव के लोग हिंसक व वर्गवादी हैं और आत्मा परमात्मा को स्वीकार नही करते हैं जबकि जनतन्त्रवादी देश आस्तिक हैं, मन्दिर, मस्जिद, व चर्च को मानते हैं। अत. धर्म की ग्लानि हो रही है और साधुओं की रक्षा के लिए तथा दुष्ट साम्यवादी दल के नाश के लिए कुछ विशिष्ट आत्माओं में "सुपर माइण्ड" का अवतार होगया है। अत जनता को विश्वास रखना चाहिए कि साम्यवाद अधिक दिन नही चल सकता, हम लोग अध्यात्मवाद की देहली पर ही खड़े हुए हैं। ये जो अनेक व्यवस्थाएँ बनती बिगड़ती रही हैं, उनका एकमात्र उद्देश्य अज्ञात रूप से इसी "सुपरमाइंड" को जानने का ही रहा है। व्यवस्था तो मनुष्य की चेतना की ही उपज है। अतः व्यवस्था से चेतना कैसे शासित हो सकती है। आज वही निरपेक्ष चेतना जग रही है और इस चेतना की ज्योति को और भी अधिक जगाने के लिए सास्कृतिक आन्दोलनों की आवश्यकता है, जिनका उद्देश्य न केवल अध्यात्मवाद का प्रचार करना है अपितु अध्यात्मवाद के रास्ते के सबसे बडे कण्टक मार्क्सवाद को 'झींगुर की झनकार" के समान तुच्छ समझ कर केवल कान में अगुली देकर बैठ रहना काफी नहीं है बल्कि मार्क्स व एंगिल्स जैसे झींगुरों के रुद्ध स्वरों को आध्यात्मिक साधना के कोलाहल धर्म के शङ्खनाद तथा साधना के अनहद नाद मे सदा के लिए दबा देने की अवश्यकता है।

यह निर्णय तभी प्राप्त हो सकता है जब यह मान लिया जाय कि चेतना निरपेक्ष है और उसी से व्यवस्था की सृष्टि होती है। यही कारण है विकास के नाम पर अरविन्द "समाज की सृष्टि" के सिद्धान्त का समर्थन कर जाते हैं। यदि वह यह स्वीकार कर लेते कि व्यवस्था से चेतना का रूप शासित होता है और व्यवस्था मे परिवर्तन आध्यात्मिक कारणों से नही, भौतिक कारणों से, उत्पादन-साधनों के विकास आदि से होते हैं तो अरविन्द यथार्थ निर्णय पर पहुँचते परन्तु ऐसा सम्भव नही हो सका। अतः अरविन्द की समाजशास्त्रीय व्याख्या एकाङ्गी, अपूर्ण, अध्यात्मवादी, काल्पनिक, अवैज्ञानिक व असंगत है।

अरविन्द की इन असंगतियों की ओर पत जी का ध्यान क्यों नही गया इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि पन्तजी की बुद्धि को मार्क्सवाद ने सतुष्ट करने की तो कोशिश की थी परन्तु उनके हृदय व कल्पना-उर्वर मस्तिष्क को वहाँ शांति नही मिली क्योंकि पतजी अपने आस्तिक सस्कारों पर कभी विजय नही पा सके। बुद्धि की माँग पर संस्कारों की बलि सभी नहीं चढा पाते। संस्कारी मन संस्कारों के प्रति अत्यधिक कोमल रहता है। अत सामाजिक सत्य को स्वीकार करते समय, अवशिष्ट व्यक्तिगत सस्कारों को न्यौछावर करते समय जिस साहस की आवश्यकता होती है वह एक कल्पना प्रिय कोमल कवि के लिए शक्य नही हो सका। फिर पुनरुत्थानवादी कवि के लिए वह और भी सम्भव नही है क्योंकि मार्क्सवाद एक विदेशी दर्शन के रूप में पंतजी जैसे कवि के लिए उपस्थित होता है और जब अरविन्द दर्शन के समन्वयवाद को पतजी ने पढा तो उन्हे लगा कि यह एक ऐसा दर्शन था कि जिसमे सस्कारों की भी रक्षा हो सकती है और सामाजिक दृष्टि भी सुरक्षित मिलती है, जहाँ किसी का भी निषेध न करना पड़े और सबका निषेध होकर भारतीय प्रकाश ऊपर आजाय, इससे श्रेष्ठ 'दर्शन' दूसरा कौन सा होगा? यही कारण है कि पतजी ने अरविन्द-दर्शन को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। पन्तजी ने अन्य सभी दर्शनो से समझौता किया है। गान्धीवाद व मार्क्सवाद के साथ समझौते के रूप को हम पीछे दिखा चुके है परन्तु अरविन्द-दर्शन के सम्मुख उन्होंने 'समर्पण' किया है। बर्गसाँ ने कहा था कि भविष्य की कल्पना

करते समय कवियों व वैज्ञानिकों के बीच दार्शनिकों को मध्यस्थता करनी चाहिए। (Philosophers should mediate between the scientists and the poet and use his imagination freely)[1] अरविन्द ने अपनी दिव्य कल्पना का प्रयोग करके बर्गसाँ की इच्छा पूरी की है[2] और पन्तजी ने उसे इसलिए स्वीकार किया कि उसे स्वीकार कर लेने से उन्हे कल्पना का स्वतन्त्र प्रयोग करने की निर्बाध स्वतन्त्रता मिल गई है। पन्तजी जैसे कल्पनाशील कवि को

[1] A History of Modern Philosophy

[2] अरविंद के सुन्दर स्वतंत्र, अध्यात्मवादी भविष्य में आशा व विश्वास कुछ बुरी बात नहीं परन्तु 'भविष्य कल्पना' वर्तमानकाल के तथ्यो पर आधारित होनी चाहिए, इतिहास के मोड़ को समझना चाहिए और चूँकि इतिहास का मोड़ सब्जैक्टिव नहीं होता, आब्जैक्टिव होता है अतः किसी ऐसे भविष्य की कल्पना पंत व अरविन्द नहीं कर सकते जो आंतरिकता के आधार पर किया गया हो। अतः निरपेक्ष्य भविष्य की कल्पना एक व्यक्तिगत वस्तु है। मार्क्सवाद की भविष्य-कल्पना इसलिए ऐतिहासिक तथ्य है क्योंकि वैज्ञानिक तथ्य व सामाजिक सत्य साथ-साथ वहाँ स्वीकृत किए गए हैं। मनुष्य के भविष्य में मार्क्सवादी भविष्य कल्पना 'प्रयोग' 'प्रकृति पर विजय' तथा 'समाज के विकास' के नियमों पर निर्भर है। यह विश्वास अरविन्द व पंत के उस विश्वास से भिन्न है जिसमें केवल विश्वास, विश्वास के लिए है, जो केवल इसलिए विश्वास करता है क्योंकि वह आध्यात्मिक सत्ताओं पर अविश्वास या सन्देह नहीं कर सकता तथा जिसका आधार केवल भावना है, जो 'सब्जेक्टिव' है, जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरोध पर आश्रित है। यही कारण है अरविन्द व पंतजी जैसे विचारक विज्ञान व समाजशास्त्र के सम्बन्ध में संदेह व उलझनों को उत्पन्न कर मनुष्य की जाग्रत बुद्धि को पुनः अंधविश्वासों की ओर मोड़ देना चाहते हैं। और इस कार्य के लिए वे 'भारतीयता' का आधार खोजते हैं ताकि भारतीय मस्तिष्क राष्ट्रीयता के नाम पर बुद्धि का समर्पण करदे, बुद्धि का कोई प्रयोग न करे। इसलिए इनके दर्शन में बुद्धि को तुच्छ तथा अन्तर्चेतना को दर्शन का मुख्य आधार माना गया है। परन्तु जनता इतनी मूर्ख नहीं है, वह शङ्कर, रामानुज, नागार्जुन, वाचस्पति आदि प्रतिभाओं के दर्शन के भी स्वरूप को समझ चुकी है अतः बुद्धि-विरोधी अरविन्द-दर्शन के अध्ययन में बुद्धि का प्रयोग न करने की बात मानले यह सम्भव नहीं दिखाई पड़ता। —लेखक

यथार्थ की कटुता से भविष्य की मनमानी मनोहारिता स्वभावतः ही प्रिय होती है। अत उन्होंने अरविन्द-दर्शन को स्वीकार कर पैगम्बरी प्रवृत्तियों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया है। उसमे स्वप्न का सौन्दर्य अवश्य है, सत्य का नही। स्वप्नवादी कवि सदा कल्पित मनोराज्य (यूटोपिया) में विचरण करते रहे है। पन्तजी भी आज-कल ऐसे ही कल्पित राज्य को पृथ्वी पर उतारने मे दत्तचित्त हैं। इस कल्पित राज्य को ही हम 'यूटोपिया' कहते है और प्रत्येक 'यूटोपिया' दार्शनिक आधार पर ही खडा किया जाता है। यूटोपियावादी समाज के विकास के लिए तथ्यों को नहीं देखते, व्यवस्था के विकास के कारणों को नहीं खोजते, वे समाज के विकास की कल्पना एक अज्ञात शक्ति की शुभ प्रेरणा पर आधारित करते है।

All Utopianism is metaphysical Utopians in trying to recast society do not proceed from the development proper to it, or from those motive forces which are created by the capitalist order it self, but from a good plan, which was devised one day by a gifted man पत के लिए अरविन्द ऐसे ही gifted man मेधावी—दिव्य शक्ति सम्पन्न—थे जिन्होंने भविष्य की इतनी सुन्दर कल्पना की।

अरविन्द का इतिहास व समाजशास्त्र का उपर्युक्त विवेचन इसीलिए अन्तर्विरोधों व असङ्गतियों से ओत-प्रोत हो गया क्योंकि अरविन्द ने यह स्वीकार नही किया कि पदार्थ स्वयमेव विकसित हो सकता है और पदार्थ के विकास के दौरान मे नवीन गुणों का, चेतना के विभिन्न रूपों का विकास हो सकता है। अत अरविन्द ने पदार्थ को ब्रह्म की शक्ति का एक रूप माना और उसमें चेतन-तत्त्व को पहले से ही अवस्थित माना। इसी प्रकार सामाजिक विकास मे वह यह स्वीकार नहीं कर सके कि एक व्यवस्था के भीतर से नूतन व्यवस्था का विकास सम्भव है। उन्होंने व्यवस्थाओं की सृष्टि स्वीकार की, विकास नहीं क्योंकि उनके अनुसार मानवीय-चेतना जिस व्यवस्था की कल्पना करती है, वैसी ही व्यवस्था वह रच लेती है और कल्पना करना चेतना का कार्य है। इस प्रकार मानवीय चेतना जो पदार्थ के बन्धन मे ब्रह्म की इच्छा से बन्द हो गई है, अपने

मूल स्वरूप को पाने के लिए, तरह-तरह के अनुभव करने के लिए, नाना प्रकार की व्यवस्थाओ की कल्पना करती रही है और उस कल्पना के मूल में ब्रह्म की प्रेरणा रही है ताकि मानवीय-चेतना सब प्रकार के अनुभय करले। क्योंकि जब तक वह परस्पर विरोधी अनुभवों से न गुजरेगी तब तक वह समन्वय की ओर नहीं मुड सकती। आदिम व्यवस्था मे उसे ब्रह्म का ज्ञान था परन्तु पूर्णता के लिए अन्य शक्तियों के विकास की आवश्यकता थी। अत बुद्धि का अभ्यास बुद्धिवादी युगों मे किया गया। बुद्धिवाद ने जनतन्त्रवाद को जन्म दिया जिसका पतित रूप साम्यवाद मे देखने को मिला परन्तु बुद्धिवादी प्रयत्न से मानवीय चेतना ऊब गई है। बुद्धिवाद के पतित रूप मे आत्म-चेतना का निषेध ही कर दिया गया। अतः अन्तर-स्थित चेतन ब्रह्म की प्रेरणा से तथा ब्रह्म जिनमे उतर आया है, उन अध्यात्मवादियों की प्रेरणा से अपने भूले हुए रूप को पाने के लिए पुनः नूतन अध्यात्मवादी व्यवस्था की सृष्टि करेगी और बाह्य व आन्तरिक उन्नति मे समन्वय हो जायगा।

अरविन्द व पन्तजी जैसे कल्पनावादी अवैज्ञानिक विचारकों के सम्बन्ध में "जान लेविस" के वे शब्द हमे याद रखने चाहिए जो उसने Dingle के विषय में कहे हैं कि जो दर्शन भावना के द्वारा अन्तर्चेतना को स्वीकार करता है वह बौद्धिक समीक्षा से सदा डरता है। दर्शन के क्षेत्र मे जिस "अनुभूति" को प्रमाण माना जाता है उसे कभी भी बुद्धि को सन्तुष्ट करने वाली 'अनुभूति' के रूपमें नहीं दिखाया जा सकता। अतः Dingle, अरविन्द तथा पन्त जैसे विचारकों की प्रतिभा की प्रशसा भी करना चाहिए परन्तु जिस प्रकार प्लेटों ने अपने जनतन्त्रवादी कवियों को अन्य नगरों में भेजने का सुझाव रखा था वही सुझाव अरविन्द व पन्त के सम्बन्ध मे स्वीकृत होना चाहिए ताकि महान प्रतिभाएँ हमें पथभ्रष्ट न कर सकें।

Philosophy began precisely in the separation of rational enquiry from emotionally held intuition Philosophy has ever since been unwilling to exalt convictions which are merely 'experienced' to the level of convictions which can be shown to be reasonable Hence when Dingle comes to us to display

his talents, we are tempted to treat him as the citizens of plato's republic treated the poet, paying him reverence as a sacred, admirable and charming personage, but sending him away to another city, where his inspiration will no longer lead us away (John Lewis in Marxism and Irrationalists, page 83)



काव्य-कला और अरविन्द-दर्शन

पन्तजी के नूतन काव्य मे प्रयुक्त विचारधारा के मुख्य स्रोत और अरविन्द-दर्शन के विस्तृत विवेचन के पश्चात् अब हम उनकी काव्य-कला का अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। पन्तजी की कविता-सरिता का विस्तार अधिक है। पल्लव-कालीन काव्य-कला से 'उत्तरा' और 'अतिमा' तक उनकी काव्य-सरिता की अनेक गतियों, स्थितियों व स्वरूपों के दर्शन होते हैं। इस पुस्तक में मुख्यत नवीन काव्य-कला का ही अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा परन्तु विषय-वस्तु को स्पष्ट करने तथा नूतन काव्य-कला के प्रवाह को अविच्छिन्न रूप से देखने के लिए पिछली काव्य-कला को भी पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता होगी। अत' पल्लव-ग्राम्या-कालों की कला पर भी विहङ्गम दृष्टि डालकर ही हम नूतन काव्य-कला का विवेचन करेंगे।

पन्तजी की नूतन काव्य-कला पर विचार करने के पूर्व यह अति आवश्यक होगा कि हम कला और सौन्दर्य के सम्बन्ध मे अरविन्द के विचारों से परिचित हो लें ताकि कवि के प्रेरणा-स्रोत से परिचित हो लेने पर कवि के काव्य-सौन्दर्य को समझने मे सुविधा हो। इसलिए सर्वप्रथम हम कला के प्रति अरविन्द के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करेंगे, तत्पश्चात् पिछली काव्य-कला का संक्षेप मे निर्देश कर तब नूतन काव्य-कला का अध्ययन करेंगे।

अरविन्द ने The Human Cycle नामक पुस्तक के चतुर्दश अध्याय में "ऊर्ध्व-बौद्धिक सौन्दर्य" पर कुछ विचार प्रकट किए हैं। अरविन्द के अनुसार दिव्य सत्ता की खोज ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है। इस खोज मे मानवीय बुद्धि बाधा के रूप मे उपस्थित होती है क्योंकि मन के स्तर से उत्पन्न होने वाली बुद्धि-सत्य को खण्डों में विभाजित कर वस्तु के अध्ययन मे निमग्न रहती है। बुद्धि का स्वभाव ही

विभाजन है, वह समग्र दृष्टि से समग्र सत्य को नही देख पाती। अत बुद्धि पर अनुशासन की आवश्यकता है। यह कार्य अन्तर्चेतना से ही सम्भव है। इसके साथ-साथ मनुष्य की प्रवृत्ति, भावना आदि भी बुद्धि पर अनुशासन माँगती हैं और दिव्यता की ओर उन्मुख होना चाहती हैं। अत सीमित चेतना के क्षेत्र मे विज्ञान, दर्शन, कला आदि का विकास होता है। इनके द्वारा दिव्य जीवन की तैयारी होती है।

बुद्धि का कार्य सत्य की खोज करना है। इस बुद्धि के दोनों ओर दो शक्तियाँ और हैं। प्रथम सौन्दर्य की इच्छा, द्वितीय शिवत्व की इच्छा। सौन्दर्य का सम्बन्ध मनुष्य की भावना से है और शिवत्व का नैतिक जीवन से। जिस प्रकार समग्रता की ओर ले जाकर हम बुद्धि को ऊर्ध्व-बुद्धि मे बदल सकते हैं उसी प्रकार सौन्दर्य-प्रियता की भावना का विषय "दिव्य-सत्ता" को बना कर हम निरपेक्ष सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं और इसी प्रकार शिवत्व की इच्छा का विषय ब्रह्म को बना कर आध्यात्मिक नीति का निर्माण कर सकते है।

सामान्यत. सौन्दर्य प्रियता राग-वृत्ति को जगा कर सासारिकता व ऐन्द्रिकता में निमग्न कर देती है परन्तु यदि सौन्दर्य का आधार अचिन्तन सत्ता हो तो असीमित सौन्दर्य की सृष्टि से, भावना का विषय दिव्य होने से सौन्दर्य-प्रियता भी दिव्य-जीवन में सहायक हो सकती है। उच्चकोटि के सौन्दर्य की सृष्टि, सौन्दर्य-प्रियता, तथा जीवन को सुन्दर बनाने का प्रयत्न उच्चकोटि के समाज मे ही सम्भव है। समाज का निर्माण अन्तर्चेतना के विकास द्वारा जब सम्भव होगा तभी उच्चकोटि के सौन्दर्य का ही वर्णन होगा। काव्य कला चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य सभी के सौन्दर्य-मापदण्डों मे क्रान्ति हो जायगी पर यह कल की बात है।

सामान्यत सौन्दर्य जीवन से उत्पन्न होता है। यह एक मूल प्रवृत्ति है। सौन्दर्य की सृष्टि करना, उससे प्रेम करना, उससे आनन्द ग्रहण करना मनुष्य का स्वभाव है। सामान्य मानव की सामान्य इच्छा-अभिलाषाएँ जब अभिव्यक्त होती हैं तब न उनसे परिष्कार मिलता है, न आत्मोन्नयन। समीक्षा व विवेचन भी अधूरे व एकाङ्गी होते है। फलत बुद्धिवादी आलोचक उसे शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। परन्तु सौन्दर्य का सम्बन्ध बुद्धि से बहुत कम है। अत भूलों पर भूलें होती हैं। बाह्य नियम बनते हैं और नियमों को

पूर्ण करने के लिए कलाकार विकल होते रहते हैं। इससे सौन्दर्य का पतन होता जाता है परन्तु जहाँ भी सौन्दर्य की महान सृष्टि होगी वहाँ बुद्धि का अतिक्रमण कर कलाकार की अन्तर्चेतना जीवित हो उठी होगी। अत कला के क्षेत्र में बुद्धिवादिता का एकाधिकार समाप्त होना चाहिए। बुद्धि कविता नहीं करती। कलाकार को बुद्धि से नहीं ऊर्ध्व-चेतना से प्रकाश मिलता है। अत' कविता के लिए अन्तर्दृष्टि तथा प्रेरणा की अधिक आवश्यकता है।[१] बुद्धि की आवश्यकता कलाकार को केवल सीमित रूपमें ही अनुभव होती है। भावना व अन्तर्दृष्टि को किस प्रकार सुव्यवस्थित रूपसे रखा जाय, इस कार्य मे बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है किन्तु अन्तर्दृष्टि की जगह यदि कवि बौद्धिक पद्धति पर चलेगा तो कला का पतन निश्चित है।

प्रतिभा ऊर्ध्व-बुद्धिवादिनी होती है—अर्थात् प्रतिभाशील व्यक्ति वह है जिसे कुछ नयी सूझें, नई-नई भावनाएँ, उक्तियाँ, पद्धतियाँ सहसा ही प्राप्त होती रहें, जिसकी अन्तर्दृष्टि गहरी हो—यह है प्रतिभा की पद्धति। बुद्धिवादी की पद्धति इससे भिन्न है। बुद्धिवादी व्यवस्था, विभाजन, छान-बीन, वाद-विवाद आदि में अधिक रस लेता है। अत. कलाकार की वह पद्धति नहीं है इसलिए कला को बुद्धि-वादिता से दूर रखना चाहिये।

Genius, the true creator, is always suprarational in its nature . . least mixed with any control of the mere intellectuality and least often drops from its heights of vision and inspiration into reliance upon the always mechanical process of

[१] The creation of beauty in poetry and art does not fall within the sovereignty or even within the sphere of the reason. The intellect is not the poet, the artist, the creator within us, creation comes by a suprarational in flux of light and power which must work always if it is to do its best, by vision and inspiration.

—The Human Cycle. Page 152,

intellectual construction. . .. . when it (Genius) proceeds by means of the intellect, it constructs, but not creates [1]

बुद्धि निर्माण कर सकती है, सृष्टि नही। सृष्टि करना तो प्रतिभा का कार्य है।

बुद्धि की सफलता शिल्प-रचना मे हो सकती है परन्तु उसकी सफलता बाह्य है आन्तरिक नही। आन्तरिक सफलता प्रतिभा के द्वारा मिलती है। अनेक देशों में विभिन्न युग ऐसे रहे हैं जिनमे कला के क्षेत्र मे बुद्धि की प्रधानता रही है। परन्तु ऐसी कलाओं मे कभी आन्तरिक व गम्भीर सौन्दर्य के दर्शन नही होते। सच्चा सौन्दर्य जीवन की आलोचना में नही, ईश्वर, मनुष्य, जीवन तथा प्रकृति के रहस्यों के उद्‍घाटन मे अवस्थित रहता है। वस्तु के बाह्य सत्य, बाह्य रूप अङ्कन में सच्चा सौन्दर्य नहीं अपितु सत्य की खोज करने में सौन्दर्य रहता है। बाह्य-रूप के भीतर जो प्रकाश छिपा रहता है उसे अनावृत कर अभिव्यक्त करना कलाकार का कार्य है। अत कला का कार्य केवल अनुकरण नही है जैसा प्राचीन यूनानी दार्शनिक समझते हैं। वस्तु का यथातथ्य चित्रण (Reproduction) सौन्दर्य नही है अपितु वस्तु के द्वारा संकेतित सत्य की खोज करना सौन्दर्य की शुद्ध प्रक्रिया है। सौन्दर्य, सन्तुलन, सामञ्जस्य शुद्ध प्रक्रिया मे ही रहता है, यह मापदण्ड कृत्रिम है, वस्तु मे स्थित सौन्दर्य छिपा रहता है पर वह केवल कवि की अन्तर्दृष्टि की पकड़ मे ही आता है। अन्य व्यक्ति सन्तुलन व सामञ्जस्य आदि बाहरी बातों का ध्यान रख कर यदि उस वस्तु का अनुकरण करे तो वह सौन्दर्य उत्पन्न नही कर सकता।

शिल्प, बुद्धि, रुचि-विशेष (Taste) की प्रधानता होने पर हम ऐसी कला को क्लासीकल कला कहते हैं। वस्तुत ऐसा विभाजन शुद्ध नही है क्योंकि क्लासीकल कला भी सार्वभौमिक सौन्दर्य व सत्य का साक्षात्कार कराती है। इसी प्रकार रोमाण्टिक कला का कार्य यह रहा है कि वह वैयक्तिक दृष्टि से मार्मिक प्रतीत होने वाली सुन्दरता का उद्‍घाटन करे। वस्तुत उच्च कला मे क्लासीकल व रोमाण्टिक तत्त्व सन्निविष्ट रहते हैं। किसी एक तत्त्व की अधिक प्रधानता होने पर ही उपर्युक्त विभाजन किया जाना चाहिए।

[1] The Human Cycle, Page 152.

क्लासीकल कला व समीक्षा में प्राय बुद्धि को अधिक महत्त्व दिया जाता है। शास्त्र-निर्माण की परम्परा इसीलिए चली कि यह मान लिया गया कि कला पर ऐसा व्यक्ति भी विचार प्रकट कर सकता है जो बुद्धिवादी अधिक हो, स्रष्टा कम या बिल्कुल नहीं। परिणाम यह हुआ कि क्लासीकल कला को ध्यान मे रख कर शास्त्राचार्यों ने नियमों के पहाड़ खड़े कर दिए (हमारे यहाँ भरत से लेकर पण्डित-राज जगन्नाथ तक की समीक्षा में यद्यपि बहुत से उपयोगी सिद्धान्त है तथापि विभाजन की प्रवृत्ति को जिस प्रकार चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया, वैसा शायद ही कहीं किया गया हो)।

अत कला के क्षेत्र में आतरिक न्यायाधीश के रूप में स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान अधिक सहायता करता है। आचार्यों की नियम-सूची बाधक अवश्य बन जाती है। कलाकार का कार्य है कि वह वस्तु के स्वरूप व स्वभाव को अभिव्यक्ति दे। केवल स्वरूप का अङ्कन कविता नहीं—आन्तरिक स्वरूप का भी उद्‌घाटन होना चाहिए। इसी प्रकार वस्तु की प्रकृति व प्रवृत्ति का भी अङ्कन होना चाहिए। शक्ति व सौन्दर्य बाहरी वस्तुएँ नहीं हो सकतीं। अतः सौन्दर्य वस्तु के भीतर है और वस्तु के भीतर के सौन्दर्य को कलाकार अपने आन्तरिक सौन्दर्य को जागृत करके ही समझ सकता है, प्रकाश से ही प्रकाश की खोज हो सकती है, अंधकार को भी प्रकाश ही दूर कर सकता है अत कलाकार को आंतरिक प्रकाश जागृत करने की आवश्यकता है। समीक्षक की भी यही पद्धति है। कोरा बौद्धिक विश्लेषण व्यर्थ है यद्यपि समीक्षक को एक सीमा तक ज्ञान को व्यवस्थित रूप में उपस्थित करने के लिए उसकी भी आवश्यकता है। परन्तु कलाकार की मानसिक स्थिति तक पहुँचने की शक्ति न होने पर समीक्षक बाहरी सतह पर ही हाथ-पैर पीटता रहता है। अत समीक्षक को भी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है।

यह अन्तर्दृष्टि कलाकार के अन्त करण में ऊर्ध्व-चेतना के स्तरों से उतरती है, जो कलाकार की मानसिक स्थिति को उच्चता की ओर ले चलती है और मर्म-भेदिनी प्रज्ञा को जागृत कर देती है। अत वस्तु पर दृष्टि पड़ते ही वह उसकी तह तक पहुँच जाता है। इस दृष्टि से प्राप्त सत्य व सौन्दर्य के वर्णन के पश्चात् जब कलाकार पुन साधारण मानसिक स्थिति को प्राप्त करता है तो वह बुद्धि का प्रयोग कर अपनी रचना का विवेचन कर सकता है परन्तु

तब भी अन्तर्दृष्टि का स्पर्श रहने पर ही विवेचन शुद्ध होगा। समीक्षक को भी अन्तर्दृष्टि का अभ्यास करना चाहिए।

समीक्षा का सारा इतिहास यह बताता है कि प्रारम्भ में कला के प्रभाव की प्रतिक्रिया स्वरूप समीक्षक अपने ऊपर पड़े प्रभाव का वर्णन करता था परन्तु जैसे जैसे बुद्धि के हाथों मे कला का अञ्चल आता गया, समीक्षक विभाजन व विवेचन मे बौद्धिक प्रक्रिया को श्रेष्ठ समझता गया। अत. उससे अतर्दृष्टि ने विदा ले ली। समीक्षक को अंतर्चेतना का नही, अनेक सिद्धान्तों के रटने का अभ्यास होता गया अत' वह अनेक वादों, विवादों, सिद्धान्तों का भारवाही तो बन गया परन्तु उसने उस आन्तरिक शक्ति व रुचि का विकास नही किया जिससे वह कलाकार की मानसिक स्थिति के साथ अपना सामंजस्य बैठा सके। अत. यान्त्रिकता का नाम ही आलोचना होता गया। विशेषकर शिक्षा के क्षेत्र में यह दोष बहुत बढ गया[१] अनेक समीक्षा के सिद्धान्तों का विकास होता गया। समीक्षा का कार्य जहाँ विभाजन व विवेचन करना है वहाँ कलाकार के मन को समझना भी उसी का कार्य है। उसका कार्य कला द्वारा प्राप्त प्रभावों का विश्लेषण करना भी है। इस प्रकार का प्रयत्न तभी सम्भव होगा जब कि समीक्षक उसी अतर्दृष्टि को जगाए जो कलाकार के मन में अवस्थित रहती है।

कला का आनन्द आत्मिक आनन्द है, वस्तु व द्रष्टा की आत्माएँ जब तक एक नही हो जाती तब तक न कला की सृष्टि हो सकती है, न समीक्षा ही सम्भव हो सकती है। समीक्षक जब तक वही आनन्द अनुभव नही करता जो कवि ने रचना के क्षणों में किया है तब तक समीक्षा गलत होगी। अत कला व समीक्षा दोनों को अंतर्चेतनात्मक (intuitive) होना ही चाहिए। बुद्धि के अधूरे कार्य को अतर्चेतना द्वारा पूरा करना चाहिए। इस प्रकार जिस अतर्चेतना से धर्म के क्षेत्र मे उपास्य की, ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञेय की तथा साधना के क्षेत्र मे साध्य की खोज होती है, उसी अन्तर्चेतना से कला के क्षेत्र मे

[१] This brings in the long reign of academic criticism superficial, technical, artificial governed by the false idea that technique is the most important part of creation. (The Human Cycle, page 157)

सौन्दर्य की भी खोज होती है। अत सौन्दर्य व सत्य को पाने की क्रिया एक है क्योंकि सत्य, सौन्दर्य व शिव एक ही सत्ता के तीन रूप है।

सौन्दर्य-भावना के तीन स्तर पाए जाते है। प्रथम सोपान मे हमे शैली, भाषा आदि का सौन्दर्य अधिक प्रिय होता है। द्वितीय सोपान मे कलाकृति के विचार, भाव, कल्पना तथा कला-पक्ष व भाव पक्ष के सामञ्जस्य को हम आदर्श मानते है। अभी इसी द्वितीय सोपान तक हम उन्नति कर सके है, इससे आगे हम नहीं बढ़ना चाहते। परन्तु सौन्दर्य का एक तृतीय स्तर और है जिसमें वस्तु के भीतर के निरपेक्ष शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। इस सौन्दर्य को इन्द्रियाँ नहीं जानतीं, सामान्य इन्द्रिय-बोध से तथा प्रवृत्तियो (Instincts) से यह परे है। अत इस सौन्दर्य का अतीन्द्रिय सौन्दर्य (Supersensious beauty) कह सकते है। बुद्धि भी इसे नहीं समझा सकती क्योंकि वह ऊर्ध्व-बुद्धि का स्तर है (Super rational) केवल आत्मा के द्वारा ही—अन्तर्चेतना—अन्तर्प्रकाश—स्वय-प्रकाश्य ज्ञान ही इस शाश्वत सौन्दर्य (Absolute beauty) को समझा सकता है, इसका उद्घाटन कर सकता है। जब इस अन्तर्चेतना के बल पर हम उस सार्वभौमिक, शाश्वत, निरपेक्ष, अतीन्द्रिय सौन्दर्य की आत्मा का बोध कर पाते हैं तो प्रत्येक लघु व महान वस्तु में निहित सौन्दर्य की झलक पाकर हम मुग्ध हो जाते हैं। तब यह सौन्दर्य हमे पुष्पों की मुस्कान मे ही नहीं, पात्रों के विभिन्न चरित्रों, घटनाओं, जीवन की विविधताओं, विचार की विचित्रताओं आदि सभी तथ्यों व कल्पनाओं में सौन्दर्य ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। सच्चा कलाकार इसीलिए सत्य का साक्षात्कार करता है। चूँकि सत्य (ईश्वर) व सौन्दर्य सर्वत्र व्याप्त है, विभिन्नताओं व विविधताओं मे वही दिव्य-सौन्दर्य व्याप्त है, अत. उसी 'सुन्दर' की झलक चारों ओर दिखाई पड़ने लगती है। अत उच्चतम सौन्दर्य की खोज वस्तुत. ईश्वर की खोज है जो उच्चतम सत्य है। सौन्दर्य की सृष्टि करना वस्तुत' आत्मा मे स्थित ब्रह्म की शक्ति व मूर्ति को बाहर निकाल कर रखना है।[1]

[1] To find highest beauty is to find God, to reveal, to embody, to create, as we say, highest beauty is to bring out of our souls the living image and power of God. (The Human Cycle, page 160)

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी काव्य को आवेगमय स्थिति का परिणाम न मान कर, समाधि-जन्य मानसिक स्थिति का परिणाम मानते है। हमारे यहाँ जिस मधुमती भूमिका का विचार हुआ है, वह कवि की रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से नही हुआ। अपितु काव्य के श्रवण से उत्पन्न आनन्द-भोग की अवस्था के विश्लेषण के लिए हुआ है। कविता सुनकर या नाटक देख कर जब हम तन्मय हो जाते हैं, वैयक्तिक तत्त्वों का विलयन हो जाता है तो सत्व की उद्रेकावस्था में, यह मानसिक स्थिति योग की मधुमती भूमिका से मिलती-जुलती पाई जाती है। परन्तु वह बिल्कुल योग की अवस्था है, यह नही माना जा सकता। काव्यानन्द की स्थिति मे अनुभूति एक विशेष प्रकार की होगी और योग में दूसरे प्रकार की। दोनों मे मनोवैज्ञानिक अन्तर बराबर रहेगा।

इसी प्रकार कविता लिखते समय कवि क्या किसी गूढ़ अन्तचेंतना के कुण्ड में गोते लगाता है जहाँ अन्य सब चेतना के लौकिक रूप नही पहुँच पाते? उत्तर होगा 'नहीं'। उस समय भी कवि की अन्तर्दृष्टि एक ओर जागृत रहती है और रूप-निर्माण, क्षमा, प्रज्ञा, दूसरी ओर, तथा आवेशमय स्थिति तीसरी ओर। ऐसा नही होता कि चेतना के ऊर्ध्व-शिखर पर अन्य चेतना के रूपों—कल्पना, भावना का सम्बन्ध ही टूट जाता हो। यदि ऐसा होता तो कविता का स्वरूप अस्वाभाविक होता। अत यह स्थापित हुआ कि कम से कम कविता करते समय जागृत अन्तर्दृष्टि के समय कल्पना व भावना का सन्निवेश हो सकता है। सृजन के लिए तीनों की आवश्यकता है।

प्रश्न यह है कि इन तीनों मे सृजन के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी कौन है? तो उत्तर होगा कि ये तीनों मानसिक शक्तियाँ है, इन्हे सर्वथा निरपेक्ष रूप मे नही देखा जा सकता। फिर भी विवेचन की सुविधा के लिए मानसिक शक्तियों का विभाजन कर लिया जाता है, परन्तु यह विभाजन केवल सुविधा के लिए किया जाना चाहिए अन्यथा अव्यवस्था फैलेगी। इस विभाजन के द्वारा हम कहते हैं कि हमारे भीतर 'आत्मा' मुख्य है जो तटस्थ है। कल्पना व भावना मन की वस्तुएँ है, परन्तु आत्मा तटस्थ होकर वस्तु को देख सकती है। अत अन्तर्दृष्टि का सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मिक ज्ञान अन्तर्चेतनात्मक (Intuitive) होता है, उसके पूर्वापर क्रम को नहीं

समझा जा सकता। वस्तु के साथ व्यक्तिगत सुख दुःखात्मक सम्बन्ध हटते ही अर्थात् आत्मा के ऊपर पड़े हुए आवरण के अलग होते ही आत्मा सहसा प्रकाशित हो जाती है और इन क्षणों मे अप्रत्याशित रूप में हमे कुछ नए तथ्य, नए विचार, नए सत्य सूझते हैं, यही अन्तर्दृष्टि कहलाती है। कविता करते समय यही आत्मिक प्रकाश नवीन-नवीन तथ्यों, शब्दों, रूपों आदि को सुझाती है। यही 'सूझ' व 'पकड़' कहलाती है। सृजन के लिए यही उत्तरदायी है। यह सहसा ही जाग पडती है। तटस्थता की स्थिति में—वस्तुओं के साथ निजात्मक सम्बन्ध न रहने पर वह स्वयं प्रकाशित होने लगती है।

पाठक देखे कि यह उक्त विभाजन-आत्मा व मन का विभाजन समझने-समझाने के लिए है, वस्तुत मानसिक शक्तियों का—बुद्धि, कल्पना, भावना, स्वय प्रकाश्य ज्ञान आदि के संघात का नाम ही आत्मा है, मनोविज्ञान भी यही बताता है। इन मानसिक शक्तियों मे परस्पर सम्बन्ध रहता है और ये एक दूसरे को प्रभावित करती रहती हैं। यथा कल्पना के पीछे भावना, भावना के साथ बुद्धि, बुद्धि के साथ भावना व कल्पना दोनों मिली रहती हैं। नामकरण प्रधानता के कारण होता है। अत जिसे हम अतर्दृष्टि कहते हैं वह यद्यपि तटस्थता के क्षणों में उत्पन्न होती है परन्तु कम से कम कवि की अतर्दृष्टि के लिए न मधुमती भूमिका वाली अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है न साधना के गहरे गर्तों में उतरने की। कालिदास, हर्ष, सूर, तुलसी, शेक्सपियर, शैली आदि की कविता इसका प्रमाण है। सृजन के क्षणों में तटस्थता के क्षणों मे वही अंतर्दृष्टि कवि के काम की होगी जिसके साथ थोड़ा बहुत भावना व कल्पना का सम्बन्ध बिठाया जा सके अन्यथा दिवास्वप्न या आध्यात्मिक ऊहापोह प्रस्तुत होगा कविता नही। परन्तु दार्शनिक मानसिक शक्तियों का विभाजन व्यावहारिक रूप मे न कर आत्यंतिक रूप मे करते हैं, बिना 'आत्मा' को निरपेक्ष्य बताए वे कुछ समझा ही नही पाते क्योंकि वे समझते हैं कि यही एक ऐसी पद्धति है, (निरपेक्षतावादी पद्धति) जिससे सब प्रकार के अनुभवो को समझाया जा सकता है। अत उनके अनुसार 'आत्मा' ही स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान का तथा इसे 'रिसीव' करने वाली आत्मा का मानसिक शक्तियों के साथ नित्य सम्बन्ध नही है। आत्मा चाहे तो मानसिक शक्तियों की सहायता ले, यदि न चाहे तो न ले। प्रथम स्थिति मे जब

आत्मा बुद्धि, भावना व कल्पना की सहायता लेती है तो कला का जन्म होता है और जब आत्मा मन की सहायता नही लेती तो समाधि की अवस्था रहती है। अत. कवि व आलोचक को इसी निरपेक्ष नियमों से परे, सर्व समर्थ- देश, काल से स्वतत्र स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान का विकास करना चाहिए। वैदिक ऋषियों ने इसी ज्ञान के बल पर वैदिक कविता का सृजन किया था, जिसका अर्थ अब इसीलिए समझ मे नहीं आता क्योंकि विचारक बुद्धि से, भावना से या अपनी कल्पनाओं से (उदाहरण के लिए ऐतिहासिक कल्पनाओं से) वेद को समझने का प्रयत्न करता है। यदि वैदिक कविता को समझना चाहते हो तो इसी स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान के द्वारा ही समझो, इतिहास, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, बुद्धिवाद, इसमें सहायता नहीं कर सकता।

वेदों और उपनिषदों के बाद जो कविता हुई है उसमें मनुष्य के मन की अभिव्यक्ति हुई है जो चेतना के नीचे स्तर हैं। मात्र, आशा, अभिलाषा, लालसा, जिज्ञासा, आदि के चित्रण या वस्तु के बाहरी अंकन सामान्य कविता का ही सृजन कर सकते हैं, उनसे मंत्र का सृजन नहीं हो सकता अत अब हमे फिर उसी स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए जिसके लिए योग की आवश्यकता है और इस ज्ञान से जो कविता होगी उसमे अलौकिक अनुभव प्राप्त होंगे। उसमें कल्पना व भावना के लिए एक नूतन जगत मिल जायगा और उसका विषय 'ब्रह्म' होगा। कवि की व्यक्तिगत चेतना मे परब्रह्म का अवतरण होगा, शिव, सौन्दर्य व सत्य का मिलन हो जायगा और कविता भविष्य की कविता होगी[1]।

स्पष्ट है कि अरविन्द एक विशेष प्रकार की कविता के पक्षपाती हैं जिसमे निरपेक्ष स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान की प्रधानता होगी अन्य मान-सिक शक्तियाँ गौण हो जायँगी और इसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी तथा उनके शिष्य पंत जी की कविता स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान से परिपूर्ण रहने पर भी उस गहराई या ऊँचाई पर ले जाती है जहाँ भावना का आक्सीजन कम हो जाता है और दम घुटने लगता है। योग के सारे यत्र सभी को सुलभ नहीं हो सकते, अत भविष्य मे भी यदि सब योगी हो गए तब तो ठीक है अन्यथा गह-राई व ऊँचाई पर उतरने-चढने के स्थान पर भविष्य के लोग पुस्तकालयों

[1] देखिए Future poetry—by अरविन्द

से वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर, शैली, कीट्स, प्रसाद, रवीन्द्रनाथ तथा पन्तजी पिछली रचनाओं को अपने कार्डस् पर नहीं लेंगे, ऐसा कहना गलत होगा। क्योंकि ऊर्ध्व-चेतना यदि मानसिक शक्तियों के साथ सामञ्जस्य रखकर नहीं चलती तो कविता का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है, उसमें एकांगिता आ जाती है, उसमे सभी उपकरणों का सामञ्जस्य रह ही नही सकता। अत. अरविन्द की 'भविष्य-कविता' (Future poetry) की कल्पना वैज्ञानिक नहीं है। भविष्य कविता के स्वरूप निर्धारण मे अरविन्द ने लोक मानस को न देखकर व्यक्तिगत रुचि की विशेष सहायता ली है और इस प्रकार प्रत्येक विभिन्न व्यक्तिगत रुचि रखने वाला कह सकता है कि अमुक प्रकार की कविता ही भविष्य-कविता होगी। मेरे एक मित्र कहते हैं कि भविष्य के भोजन मे सिर्फ रसगुल्ले ही रह जायँगे, क्योंकि भविष्य में लोग इतने मूर्ख हो ही नहीं सकते कि रसगुल्लों के अलावा और किसी चीज को पसन्द करें।

अरविन्द कविता का मर्म पहचानते समय बस केवल स्वय प्रकाश्य ज्ञान को ही पहचानते हैं। उनके अनुसार वे लोग मूर्ख हैं जो कविता को केवल कल्पनाजन्य सौन्दर्यात्मक आनन्द मानते हैं। काव्यानन्द मनोरञ्जन नहीं है, आत्मरञ्जन है। वह न तो ऐन्द्रिक आनन्द है, न काल्पनिक आनन्द है, न बौद्धिक आनन्द, बल्कि शुद्ध आत्मानन्द है।[1] क्योंकि न तो बुद्धि, न कल्पना, न श्रवण, काव्यानन्द के प्राप्तकर्त्ता हैं, न वे काव्यानन्द के स्रष्टा हैं। स्रष्टा तो आत्मा ही है। अत यही मुख्य है, अन्य सब गौण। (पाठक देखें कि किस प्रकार अरविन्द काव्य के मूल उपकरणों का सामञ्जस्य न कर के स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान को निरपेक्ष मान बैठे हैं—लेखक)

उच्चतम काव्यानन्द तभी उत्पन्न होगा जब कि कवि की आत्मा के सङ्कल्पों का वर्णन होगा और आत्मा का सम्बन्ध सर्वदा परमात्मा से ही होता है, जगत से तो वह तटस्थ है। अत अलौकिक अनुभवों की व्यञ्जना ही उच्चतम कला हो सकती है, ऐन्द्रिकता के लिए उसमे

---

[1] संस्कृत के बुद्धिवादी आचार्य काव्यानन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहते हैं, यह अरविन्द के अनुसार भूल थी क्योंकि काव्यानन्द तो वस्तुतः ब्रह्मानन्द ही है—लेखक

स्थान कहाँ है ? जगत के पदार्थों से सम्बन्धित आनन्द का समाहार भी उसी महानन्द मे होना चाहिए अन्यथा कविता का कार्य अधूरा ही होगा या वह सामान्य मनोरञ्जन ही करेगी, दिव्य आनन्द की जननी वह नही हो सकती।

इस स्थापना को स्वीकार करना असम्भव है परन्तु जो इसे नही मानेंगे वे मेरी तरह यही कहेंगे कि कविता मे सभी उपकरणों—बुद्धि, भावना, कल्पना का सामञ्जस्य होना चाहिए और सर्वदा सभी भावनाओं का आध्यात्मिक आनन्द के लिए ही साधन रूपमे प्रयोग हो, यह भी आवश्यक नहीं। क्योंकि कविता का सम्बन्ध मनुष्य के पूर्ण मानसिक जगत से होता है। उसकी व्यापकता को भुलाकर किसी एक मानसिक शक्ति की ही व्यञ्जना करने लग जाना एकाङ्गिता है। परन्तु तब अरविन्द उत्तर देंगे यह विवेचन बौद्धिक विवेचन है और बुद्धि कभी भी स्वयं प्रकाश्य ज्ञान को नही समझ सकती। मतलब यह कि अरविन्द की एकाङ्गिता का विरोध बुद्धि से असम्भव है और चूँकि स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान आलोचक के पास हो ही नही सकता क्योकि वह तो बुद्धि के बाद की वस्तु है, अत आलोचक को चुपचाप अरविन्द-वाद को स्वीकार कर लेना चाहिए।

परन्तु स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान निरपेक्ष नही है, बुद्धिवादियों मे कल्पना व अन्तर्द ष्टि दोनों रह सकती हैं, बराबर रहती हैं क्योंकि बुद्धि का अन्य मानसिक शक्तियों से विरोध नही है। जगत को माया समझने वाले अद्वैतवादी, भयङ्कर रूप से तार्किक होने पर भी भक्ति के आवेश में विह्वल होते रहे हैं और सो भी इसी भारतभूमि पर। अत बुद्धिवादी अन्तर्द ष्टि का शत्रु हो यह अनिवार्य नही।

अरविन्द के अनुसार बुद्धिवादिता कविता के लिए खतरनाक भी है। आदिम युगों मे बुद्धि आज की तरह यान्त्रिक नहीं थी, बौद्धिक जडता का तब अभाव था, सत्य के सर्वाङ्गों को देखने की शक्ति तब अधिक थी क्योंकि तब सत्य को जानने का साधन अचूक अन्तर्द ष्टि थी, वैज्ञानिक विश्लेषण नही, जो आज का फैशन है। तब भाषा का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। अत शब्द का बौद्धिक रूप जिसमे शुद्धता का ध्यान अधिक रहता है, कम था, यान्त्रिक बौद्धिकता का विकास भाषा के विकास के साथ-साथ ही हुआ। उदाहरण

लीजिए। "वृक" का अर्थ है फाड़ने वाला। 'वृक' कहते ही फाड़ने की अनुभूति होती है। 'वृक' कहते ही लगता है कि कोई चीर-फाड़ कर रहा है। यह अर्थ 'वृक' शब्द की ध्वनि पर निर्भर है। इस प्रकार के ध्वन्यात्मक अर्थों ने आदिम भाषा को महान शक्ति दी थी। आगे इसका अर्थ "भेडिया" होगया और बुद्धि का विकास होने पर इसका ध्वन्यात्मक अर्थ भूलकर केवल कोषों में इसका 'भेड़िया' अर्थ ग्रहीत हो गया। बुद्धिवादी कवि "वृक" का प्रयोग करते समय केवल भेड़िया का अर्थ अपने सम्मुख रखेगा, वह ध्वनि पर ध्यान न देगा अत कविता हीन हो जायगी अत बुद्धि का विकास भाषा में स्पष्टता व वैज्ञानिकता तो लाता है, परन्तु कवित्व शक्ति कम हो जाती है क्योंकि शब्द का मौलिक अर्थ, ध्वन्यात्मक अनुभूति बुद्धि के प्रपञ्च में छिप जाती है और ध्वनि की व्यञ्जना-शक्ति की ओर कवि ध्यान नहीं देते। फलत. शब्दों के निश्चित अर्थों के द्वारा विचारों को व्यक्त करने की कला विकसित होती जाती है और इस प्रकार शब्दों की शक्ति नष्ट होती है। कविता में भी विचार की प्रधानता होने लगती है अत कला का ह्रास होने लगता है। जबकि कविता शब्द के अनिश्चित अर्थों से ध्वनित होती है और इन अनिश्चित ध्वन्यात्मक अर्थों को बुद्धिवादी भुला देते हैं। इसी प्रकार विश्लेषणवादी विद्वान उन अनिश्चित एवं व्यञ्जनापूर्ण अनुभवों का वर्णन नहीं करते जो हमारी आत्मा के धर्म हैं अपितु विचारों का वमन करते हैं जो अनुभूत नहीं हैं, बाहर से लाए गए हैं। अत. शब्द के साथ-साथ अनुभावों के प्रारम्भिक रूपों का वर्णन करना चाहिए और ये प्रारम्भिक अनुभव यदि देखने हों तो वेदों को पढ़ना चहिए, जहाँ शब्द का मौलिक तथा ध्वन्यात्मक रूप विद्यमान है और जहाँ अनुभवों का मौलिक रूप मिलता है। शब्द व अनुभव के प्रारम्भिक ध्वन्यात्मक अनिश्चित रूपों को विस्मृत कर देने से तथा वैज्ञानिकता का विकास होने से गद्यमयता का प्रचार बढ़ता है।

गद्य में व्यवस्था, निश्चितता, स्पष्टता, तथा शुद्धता का अधिक ध्यान रखा जाता है व्यञ्जना व ध्वनि (Sound) का कम। अत बुद्धिवादी युग के लिए गद्य अनुकूल पड़ता है। कविता में भी यही गद्यमयता आ जाती है इसलिए कविता का बुद्धि के आग्रह से बचाने की आवश्यकता है।

शब्द की ध्वनि को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए, कविता में अनुभूति प्रधान होनी चाहिए—इन बातों का विरोध कोई नही कर सकता परन्तु जिस प्रकार 'वृक' में चीरने-फाड़ने की ध्वनि छिपी हुई है और उसकी पहचान अभीष्ट है, उसी प्रकार यह आवश्यक नही कि अनुभूतियों के उन अनिश्चित आदिम रूपों की व्यञ्जना ही कवि का एकमात्र लक्ष्य है जिनका वर्णन वेदों व उपनिषदों मे मिलता है। विचारों का वर्णन कविता का उद्देश्य नहीं, यह भी ठीक है, परन्तु कविता विचारों की व्यञ्जना से सर्वथा रहित हो, या फिर उसमे केवल आध्यात्मिक विचार ही हों, ऐसा कहना अनुचित है। मनुष्य की विकसित मानसिक भूमि आदिम काल की अविकसित, अनिश्चित, रहस्यपूर्ण, सांकेतिक, अस्पष्ट भाव-भूमि को कविता का लक्ष्य भविष्य मे भी स्वीकार करेगी। इसमे सभी विकसित प्राणियों को सन्देह ही होगा अत: कविता में रहस्यमय अनुभवों का ही वर्णन हो यह आवश्यक नही। यह ठीक है कि जीवन के नाना दृश्यों व अनन्त स्तरों की अभिव्यक्ति कविता ही कर सकती है, गद्य नही। क्योंकि गद्य में लचक न होने से सूक्ष्म अनुभवों का वर्णन नही हो पाता, शब्द की सांकेतिक शक्ति से व प्रतीकात्मकता से कविता यह कार्य कर सकती है परन्तु इसका अर्थ यह कैसे हुआ कि आदिम अनुभूतियों, रहस्यवादी भावनाओं का वर्णन ही कविता का एकमात्र उद्देश्य है या अन्तर्चेतना के विस्तृत वस्त्र को व्यक्तिगत चेतना के गज से नापते रहना ही कवि-कर्म है। यदि कहो कि कविता का उच्चतम लक्ष्य तो ब्रह्मानन्द का वर्णन ही होगा, ऐसा मानना चाहिए, तो उत्तर होगा कि कविता से योग के साधनों का काम आप लेना चाहे तो यह आपकी व्यक्तिगत रुचि है, जीवन की पार्थिव अनुभूतियों को अधिकाधिक मानवीय व सामाजिक बनाना ही कवि का मुख्य उद्देश्य है और यही कवि का लक्ष्य भी है।

जीवन के क्षेत्र से पाठकों को निकाल कर अलौकिक अनुभवों की दुर्गम घाटियों की सैर करने से जो आनन्द मिलता है वह या तो 'अद्भुत' का सृजन करेगा या ब्रह्म के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर शृङ्गार आदि भावनाओं का और ऐसी अनुभूतियों मे बराबर भावना का आनन्द मिलता रहेगा। अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मातिसूक्ष्म व महान् से महान् होने पर भी भावना से रहित हुई और कविता का

नाश हुआ। अन आचार्यों ने काव्य के उपकरणों के सामञ्जस्य पर जोर दिया था और काव्य के वर्ण्य विषयों के निर्णय में कभी यह नहीं कहा कि काव्य वही उच्चतम होगा जहाँ उसका वर्ण्य विषय आदिम रहस्यवादी भावनाएँ होंगी।

अरविन्द के अनुसार वाणी में एक तो बाह्य-तत्त्व रहता है और दूसरा आन्तरिक तत्त्व। उदाहरण के लिए विचार (Thought) में बौद्धिक अश रहता है जिसे बुद्धि निश्चित रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। वह विचार का बाह्य अंश है किन्तु इसके साथ ही विचार का एक मूल-अश (Soul-idea) भी रहता है जो मुख्य है। इसी प्रकार 'भाव' मे भी बाह्य-भावना व आन्तरिक-भावना ये दो अंश रहते हैं। केवल भाव के लिए कवि कविता नहीं लिखता वह तो भाव की आत्मा (the soul of the emotion) के लिए लिखता है, इसीलिए अन्य सहृदय उसे स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जीवन व प्रकृति का वर्णन जीवन व प्रकृति के वर्णन के लिए नहीं, आन्तरिक सत्य के लिए होता है। अत कविता का मर्म आन्तरिक सत्य है जिसे आजकल भुला दिया गया है। यही आन्तरिक-विचार, आन्तरिक भाव व आन्तरिक सत्य कविता का मर्म (The essence of poetry) है। यह आन्तरिक सत्य स्वयं सौन्दर्य, शिव व आनन्द है, इसी की व्यञ्जना ध्येय है। इसी कारण सौन्दर्य को सत्य और सत्य को आनन्द कहा जाता है। इसी आनन्द के स्पर्श से, इसी सौन्दर्य के स्पर्श से वस्तु शाश्वत आनन्द का विषय बनती है। यही आत्मा के सुप्त आनन्द को जगा देती है और निगूढ सत्यों के उद्घाटन की ओर हमे उन्मुख कर देती है। इसकी व्यञ्जना गद्य द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि गद्य में सांकेतिकता, शब्द-ध्वनि तथा सूक्ष्मता व प्रतीकात्मकता के लिए स्थान नहीं है। अनिश्चित शब्दावली का प्रयोग कविता मे ही हो सकता है जो अपनी ध्वनि-शक्ति के द्वारा निगूढ सत्य का साक्षात्कार करा देती है।

उपर्युक्त परिच्छेद में अरविन्द के कथन को पढ़ कर कोई भी कह सकता है कि कविता व जीवन के प्रति यह दृष्टि कुछ नवीन नहीं है। हम इस शब्दावली को सहन करते-करते अभ्यस्त हो गए हैं। भाव व विचार के ये मनमाने विभाजन न तो यहाँ मान्य हुए हैं, न अन्यत्र हो सकते हैं। दार्शनिक दृष्टि मे यह कहा गया है कि सब कुछ

ब्रह्ममय है, उसी की खोज हो रही है, ये जो चारों ओर घात-प्रतिघात हो रहे है, वाणी, क्रिया व ज्ञान के अनेक ऊहापोह हो रहे है, वे सब उसी निगूढ सत्य की खोज के लिए हो रहे है। यह सब ठीक है परन्तु काव्य पर विचार करते समय आचार्य इस धरती पर खड़े हो कर ही विचार करते हैं और 'डबल-भाव' को कल्पना न कर वे भाव की सामान्यता के आधार पर काव्य का मुख्य कार्य भाव-जाग्रति मानते हैं। अत उनकी बात गृहणीय है। वस्तुत अरविन्द कविता के वर्ण्य-विषय पर आग्रह करते हैं और जीवन के नाना क्रिया-कलापो को महत्त्व नही देना चाहते। इसीलिए हमने कहा था कि व्यक्तिगत रुचि के कारण उनकी भविष्य-कविता एक विशेष प्रकार की कविता होगी। हिन्दी के अन्य कवियों पर तो प्रभाव नही पडा किन्तु दुर्भाग्य से पन्तजी पर इसका प्रभाव इतना अधिक पड गया कि वह जीवन की मार्मिक छवियों का अङ्कन छोड कर अन्तर्चेतना की गूढ खत्तियों की गहराई नापने मे ही निमग्न हो गए परन्तु अरविन्द की योग-साधना ने जो गहराई उन्हे दे दी थी वह पन्तजी को सुलभ नही थी। अत अरविन्द के बुद्धि-विरोधी आन्दोलन का पन्तजी पर यह तो प्रभाव पडा कि अन्तर्चेतना के सम्बन्ध में उन्होंने बुद्धि से नही सोचा परन्तु कविता के क्षेत्र में भावना के स्थान पर बुद्धिवादिता का तूर्यनाद होने लगा और कविताओं के नाम पर सिद्धान्तों के चिढ़ाने वाले छायानुवादों की घोषणाएँ होने लगी।

वस्तुत जिस प्रातिभ ज्ञान या स्वयं प्रकाश्य ज्ञान को क्रोचे ने कविता के लिए मुख्य माना था उसी को अरविन्द अपने ढङ्ग से प्रति-प्रादित करते हैं और चूँकि वेदों व उपनिषदों के शब्दों को उन्होंने प्रतीकात्मक रूप मे ग्रहण किया है और अनेक गूढ रहस्यात्मक अर्थ किए हैं, अतः वेदो व उपनिषदों की कविता को ही वह आदर्श मानते हैं। हम पिछले पृष्ठो में इस विचार-धारा की सीमाएँ बतला चुके हैं। अब भविष्य-कविता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में और भी विस्तार से बतलाते है।

अंतर्चेतनात्मक युग में कविता का रूप क्या होगा? यदि यह पूछा जाय तो उत्तर होगा कि उस युग की कविता वैदिक मंत्रों से मिलती-जुलती होगी। मन्त्र की यह विशेषता है कि उसमें आतरिक सत्यों का उद्घाटन व वस्तुओं के अंतर में स्थित सत्य की खोज करने

वाली अन्तर्दृष्टि (Vision) पाई जाती है। और यह उद्‌घाटन-शक्ति व अतर्दृष्टि अपने पूरे भावात्मक लयात्मक व ध्वन्यात्मक रूपों में मंत्रों मे व्यक्त हो सकी है अत मत्र ही उच्चतम् कविता का आदर्श होगा। अनुभूति, अतर्दृष्टि, सत्य शोधन लय व छन्द ही कविता के उपकरण हैं। मत्रों मे ये सब तत्त्व एक साथ मिलते हैं। देखने, सुनने, अनुभव करने व व्यक्त करने में पूरा एकात्म्य वहाँ दिखाई पडता है। 'सत्य' को देखकर उसकी (अतर्दृष्टि) अभिव्यक्ति अनिवार्य हो जाती है और अनुभूति तो देखने के साथ ही सम्प्रक्त है। अत मत्र ही उच्चतम् कविता है (The highest out-bursts of a really great poetry)

कविता मत्र तभी बन सकती है जबकि वह आंतरिक सत्य को शब्दायमान करती है। इसीलिए वेद व उपनिषदों के ऋषियों ने घोषित किया था कि वे ही मत्रवेत्ता थे। अग्नि, सूर्य, वरुण, द्यावा-पृथिवी का स्तवन बाह्य वस्तुओं का स्तवन नहीं है अपितु आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति के लिए ये वस्तुएँ प्रयुक्त हुई है क्योंकि इनके माध्यम से ही सत्य तक पहुँचा जा सकता है।

इसलिए अरविन्द कहते है The mantra in other words is a direct and most heightened and most divinely burdened rhythmic word it is a Supreme rhythmic language which seizes hold upon all that is finite and brings into each the light and voice of its own infinite [2]

अर्थात् प्रत्यक्ष उच्चतम, गम्भीरतम, दिव्यता मे ओत-प्रोत छन्दोबद्ध शब्द का नाम मन्त्र है। यह वह उच्च छन्दोबद्ध भाषा है जो ससीम मे असीम की खोज कर उसकी अभिव्यक्ति करती है।

आधुनिक युग बुद्धि से पीड़ित है, भविष्य में कविता वैदिक मन्त्रों मे विकसित होगी और बुद्धि व सामान्य कल्पना का स्थान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि ले लेगी। कविता का यही सिद्धान्त है।

यह सिद्धान्त तभी लागू हो सकता है जब मनुष्य देवत्व का

---

one act Nor could the living of the truth in oneself which we mean by realisation, be separated from either. (The Future Poetry, page 280)

[2] The Future Poetry, page 281.

अनुभव करे, जब वह परब्रह्म की गोद में है, ऐसा अनुभव करे। मंत्र-युग के आने में सबसे बड़ी बाधा भौतिकवाद की है क्योंकि इसका आधार शुद्ध स्थूल बुद्धिवाद होता है। उपयोगितावादी होने से वाणी का स्तर गिर जाता है।[1] कहीं-कहीं प्राचीन मंत्र-युग की ओर कवि उन्मुख हो रहे हैं (यथा सुमित्रानन्दन पन्त)—यह शुभ लक्षण है। भविष्य में मंत्र-द्रष्टा कवि ही अधिक होंगे। इस संक्रान्ति-काल में हमने फिर सत्य की पहचान शुरू करदी है, बुद्धि के द्वारा ही सही, परन्तु आगे विज्ञान में अन्तर्चेतना को साधन मान लिया जायगा और तब ब्रह्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। प्राचीन युगों में तो कुछ लोग ही इस दिशा में कार्य करते थे परन्तु भविष्य में प्रत्येक व्यक्ति अनुभूति का मार्ग पकड़ लेगा, तभी सच्ची कविता का विकास होगा। मंत्र-युग का पुनरुद्धार हो जायगा।[2]

[1] अरविन्द को सबसे अधिक शिकायत भौतिकवाद से ही है। यह आप यहाँ भी देख सकते हैं। यद्यपि वह कुत्सित भौतिकवाद व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में अन्तर नहीं मानते।

[2] हमने पिछले पृष्ठों में देखा है कि किस प्रकार अरविन्द एक विशेष प्रकार की कविता के पक्षपाती हैं। इसको समझने के लिए वह भाव व आनन्द में अन्तर करते हैं और भावात्मक कविता को निम्न स्तर की कविता मानते हैं। भाव का तात्पर्य है कि मनुष्य के सुख, दुःख, आशा, अभिलाषा आदि का चित्रण हो। विभिन्न मानसिक अवस्थाओं का चित्रण ही साधारणीकृत होकर शुद्ध काव्यानन्द में बदल जाता है और आनन्द ही कविता का लक्ष्य है। सभी संस्कृत काव्य-शास्त्री यही बतलाते हैं। परन्तु अरविन्द ज्ञान के द्वारा जागृत शुद्ध आध्यात्मिक 'आनन्द' को ही वस्तुतः कविता का मर्म ठहराते हैं, जो केवल कुछ साधकों की वस्तु है। शान्त-रस को हमारे यहाँ 'रस' मानते समय बहुत बड़ा विवाद रहा है, यह सभी जानते हैं। शान्त रस को रस मान लेने पर भी अन्य सामान्य भावनाएँ काव्य में वर्णित होकर किस प्रकार 'ब्रह्मानन्द सहोदर' में बदल जाती हैं, यह सब समझते हैं। इससे अच्छी वैज्ञानिक व्याख्या कम से कम अब तक और कहीं नहीं मिलती। परन्तु अरविन्द मानवीय जीवन के इस वृहत अंश को एक ओर रखकर केवल दिव्य आनन्द को ही काव्य का मुख्य विषय मानते हैं, या फिर उसमें सब अनुभूतियों का समाहार चाहते हैं जो अनिवार्य नहीं माना जा सकता। यदि दिव्य आनन्द को काव्य का मर्म (essence) माना गया होता तो वेद व उप-

इस मन्त्र युग की ओर ले जाने वाली कविता के प्रथम लक्षण ह्विटमैन, कारपेंटर, ए० ई० तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर में देखे जा सकते

निषद् को काव्य की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया होता परन्तु भारतीय परम्परा ने वाल्मीकि को ही प्रथम कवि माना है। क्रौंच पक्षी को देखकर विरह कातरवाणी में आध्यात्मिक आनन्द की व्यञ्जना नहीं हुई है, मानवीय सहानुभूति व करुणा मुखरित हो उठी है जो काव्य की भावभूमि है, और इस भावभूमि को अरविन्द गौण वस्तु या सहायक मात्र मानते हैं। इसी प्रकार यथार्थवादी काव्य के मूल में भी करुणा ही विद्यमान है, उसको भी अरविन्द गौण मानते हैं। यह ठीक है कि वह जीवन व प्राण-शक्ति के स्तरों को स्वीकार करते हैं परन्तु उसी प्रकार जैसे आर्यों ने शूद्रों को स्वीकार किया था, जो निन्दनीय है। अतः अरविन्द की विचारधारा काव्य की आत्मा 'भाव' पर ही आघात करती है। यह भी ठीक है कि काव्य के रस को 'रसो वै स.' से हमारे यहाँ पंडितराज तक आते-आते जोड़ दिया गया था परन्तु काव्य पढ़ने से आनन्द क्यों मिलता है? वह आनन्द साधारणीकृत क्यों होता है? लौकिक अनुभव व काव्यानुभव में क्या अन्तर है? इसे समझाने के लिए ही काव्य-रस का सम्बन्ध ब्रह्मानन्द से जोड़ दिया गया था। अभिनवगुप्त ने ब्रह्मानन्द के समान बताकर भी काव्य के आनन्द को लोकानुभव व ब्रह्मानन्द के बीच में ही स्थापित किया था, अत वही अधिक सारपूर्ण प्रतीत होता है। अरविन्द योगी थे, अतः योग के आनन्द व अनुभवों को समर्थ शैली में बड़ी गहराई से वर्णन कर सकते थे। परन्तु उस काव्य को पढ़कर अन्तर्चेतना की पूरी गहराई के अनुभव के बावजूद भी मनुष्य का हृदय तो भूखा ही रह जाता है। कवि स्थूल व सामान्य वासनाओं को झंकृत कर उन्हें उच्च धरा-तल पर ला देता है, परन्तु ऐन्द्रिक ज्ञान से उसका सम्बन्ध बराबर बना रहता है। काव्य में रूपों, रङ्गों, विचारों व भावनाओं व कल्पनाओं का आनन्द मिलता है जो अन्यत्र नहीं मिलता, इसीलिए उसका इतना अधिक महत्व है। इसे आप उसी प्रकार समाधिजन्य आनन्द का वाहक बना सकते हैं जैसे राजनीति व धर्म की आवश्यकताओं का। परन्तु न तो इससे यह सिद्ध होगा कि धर्म या राजनीति कविता है न और यह कि दर्शन व योग के अनुभवों की अभिव्यक्ति को ही कविता कहते हैं। वस्तुत. दोष उस अतिवादी आदर्श-वाद का है जो 'समन्वय' का नाम तो लेता है परन्तु जो समन्वय इस ढङ्ग से प्रस्तुत करता है जिससे कभी भी समन्वय सम्भव न हो सके।

हैं। इन कवियों में ऋषित्व के भी दर्शन होते हैं।[1] (पन्तजी को यदि यह प्रमाणपत्र मिल जाता तो कितना अच्छा होता ?)

कविता के लिए पाँच शक्तियों की आवश्यकता है—सत्य, सौन्दर्य, आनन्द, जीवन व आत्मा। बुद्धिवादी भौतिकवादी युग में बुद्धि द्वारा जो खोज होती रही है वह हमें अब सन्तुष्ट नहीं कर सकती। अब हम शीघ्र ही इन पञ्च तत्त्वों से युक्त वाणी के युग मे प्रवेश करेंगे।

प्रश्न होगा कि प्राचीन मन्त्र-युग में व आगामी मन्त्र-युग मे कुछ अतर होगा ? अरविन्द कहते हैं कि प्राचीन मन्त्र-युग केवल कुछ ऋषियों के लिए ही था, आगामी सब के लिए होगा। दूसरे आज जो जीवन व श्रम (क्रिया) का इतना महत्त्व बढ़ गया है वह आगामी मन्त्र-युग में कविता को एक नूतन शक्ति देगा जिसमें जीवन का निषेध न होगा। आज की कविता का उद्देश्य है कि वह इस नूतन युग का अभिनन्दन करे और जनता मे आशा का सञ्चार व प्रचार करे। कलाओं द्वारा ही यह कार्य सम्भव है, (पन्तजी आजकल यही कार्य कर रहे हैं)। कविता ही सूक्ष्म व स्थूल के बीच, आत्मा व जीवन के बीच की मजबूत कडी है। अत' जीवन को याद कर वह आत्मा को अधिक समय तक नहीं भुला सकती। आगामी युग मे सत्य व जीवन की मध्यस्थता का कार्य कविता बराबर करेगी। उपर्युक्त पञ्च-तत्त्वों का तब समन्वय कविता मे प्रतिबिम्बित हो उठेगा। किसी भी कविता मे इनमें से किसी न किसी एक या अधिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है परन्तु सभी तत्त्व मन्त्र-युग मे ही मिल सकेंगे। आज के युग मे जीवन के प्रति प्रेम की व्यञ्जना हो रही है। परन्तु इस जीवन के प्रति प्रेम मे आसक्ति, उत्पीडन, उच्छृङ्खलता, महत्त्वाकांक्षा व तृष्णा अधिक है।

भविष्य मे कविता मे जीवन, प्रकृति सभी की व्यञ्जना होगी परन्तु उसका सम्बन्ध दिव्यता के साथ बना रहेगा। यदि यह उच्चता की ओर जायगी तो उसमे जीवन सम्प्रक्त रहेगा और जीवन के विविध पत्तों का चित्रण कविता करेगी तो उसमे आध्यात्मिक सत्य के रङ्ग मिश्रित होंगे अत नवनीता होगी। नए-नए छन्दों, ध्वनियों व शैलियों के आविष्कार होंगे।

---

[1] The Future Poetry, Page 285

कविता का सत्य—सत्य के सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार हैं। कुछ लोग कविता का सम्बन्ध सौन्दर्य से ही मानते हैं। परन्तु कवि वही सफल होता है जो बाह्य सौन्दर्य-चित्रण का समाहार आन्तरिक सौन्दर्य में—दिव्य-सौन्दर्य में करता है। वर्तमान युग यथार्थवाद व प्राण शक्ति-प्रधानता का युग है। 'जो देखो उसका चित्रण करो' यही इसका मूलमन्त्र है। किन्तु इसमें सौन्दर्य का सृजन न होकर शक्ति की अभिव्यक्ति होती है।[1] इसमें कुत्सितता का चित्रण होने लगता है और रुचि का स्तर गिर जाता है (इस प्रकार यथार्थवादी सत्य का चित्रण व यथार्थवादी कला का स्वरूप वाञ्छनीय नहीं रहा)।

दूसरी ओर प्राचीन शास्त्रीय लोग हैं जो शिल्प, कल्पना के वैचित्र्यों व बुद्धिवादिता पर जोर देते हैं। ये भी सङ्कीर्णतावादी हैं।

अरविन्द के अनुसार कविता के सत्य को न आदर्शवादी शास्त्री समझते हैं न यथार्थवादी बुद्धिवादी। सत्य तो शाश्वत है और उसका न कल्पना से वैर है न यथार्थ से क्योंकि सब, सभी कुछ उसी सत्य के ही रूप हैं। कविता में वही सत्य अपनी विशेष पद्धति पर व्यक्त होता है। तभी कविता उपदेश से अलग हो जाती है। वर्ड्सवर्थ व ड्राइडन के उपदेश उनकी अच्छी कविताओं से अलग पहचान लिए जाते हैं। दार्शनिक, सुधारक, उपदेशक व कवि का सत्य एक है परन्तु पद्धति भिन्न है। कवि रूपों का दर्शन अरूप की ओर संकेत करने के लिए करता है जबकि दार्शनिक इसे विश्लेपण व तर्क की पद्धति पर अप-

[1] And we are even told that poetry to be faithful to life must manage not only her seeing and expression, but her rhythmic movement so as to create some subjective correspondence with life reproduce every bang and stumble and shuffle and thump of the vital steps, and then we shall get a quite new, large and vigourous music and in composition with its sincere and direct power the old melodies will fade into false and flimsy sweetness of insipid artifice. (The Future Poetry, page 294)

नाता है और वैज्ञानिक प्रयोग की पद्धति पर। तीनों अन्त में एक जगह पर ही मिल जाते हैं।

कविता प्रेरणा, सौन्दर्य व आनन्द का मार्ग पकड़ती है। आत्मा को आनन्द देना ही इसका मुख्य कर्त्तव्य है। कविता के दो उद्देश्य हैं (१) प्रारम्भिक (२) अंतिम। प्रारम्भिक रूप में कविता बाह्य सौन्दर्य का चित्रण करती है और अंतिम रूप मे आंतरिकता व सूक्ष्मता की ओर अग्रसर हो जाती है और सत्य की अनुभूति कराती है। कविता जीवन का छन्दोबद्ध गान है परन्तु सतही जीवन का नहीं, सूक्ष्म व आंतरिक जीवन का। सतही जीवन के चित्रण मे शक्ति तो होगी परन्तु स्थायी सौन्दर्य नही होगा (जैसा कि यथार्थवादी कविता में होता है)। उसमे एकांगिता आ जाएगी। वस्तुतः इसके प्राण के स्तर (Vital & Life) से रचना होती है जो अपने में मूल्यवान होकर भी अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बहुत समय तक मनुष्य को इसमें सीमित नहीं रखा जा सकता। भविष्य की कविता में बाह्य सौन्दर्य का यथार्थ चित्रण कम हो जायगा।

आनन्द व सौन्दर्य—सत्य व जीवन-शक्ति कविता के लिए अपर्याप्त हैं। जीवन का उद्देश्य आनन्द है। सौन्दर्य आनन्द का घनीभूत रूप है। कविता में सत्य से भी अधिक इनका महत्त्व है। इसीलिए वेदों मे वस्तु रूप की उपासना व स्तवन है। बुद्धिवादियों ने धार्मिक कविता कहकर वेदों को टाल दिया है और वाल्मीकि, कालिदास को ही कवि माना है। परन्तु सच्चा सौन्दर्य व आनन्द मन्त्र-युग में ही मिलता है।[1] पर्शियन कविता मे ऐन्द्रियता अधिक है, ग्रीक कविता में क्रिया व बुद्धयात्मकता की परन्तु मन्त्र-युग मे कविता का स्तर इन सबसे अधिक उच्च है। क्योंकि हमारे यहाँ सत्य का साक्षात्कार उच्च मानसिकता की अपेक्षा रखता है। हम प्राण व मन के स्तरों से ऊँचे उठकर ही सत्य व सौन्दर्य की सृष्टि करना सीखते रहे हैं। मन्त्र-युग की यही विशेषता है।

---

[1] But the miracle of these antique writings is their perfect union of beauty and power and truth

(The Future Poetry, page 333)

कविता की आत्मा व शिल्प—चूँकि भविष्य में कविता का उद्देश्य आध्यात्मिक, शाश्वत आनन्द की व्यञ्जना होगी अत: उसकी विधाओं में भी अन्तर आएगा। आत्म-अभिव्यक्ति के लिए गीति व गीत ही सबसे सुन्दर साधन है। क्योंकि सूक्ष्म को सहज रूप से उसकी आवेगमय स्थितियों में व्यक्त किया जा सकता है। सूक्ष्म अनुभूतियों को गीतियों में ही कहा जा सकता है। आत्मा की छटपटाहट, मूर्च्छना, उन्माद, उल्लास आशा व उद्वेग गीति के माध्यम से ही व्यक्त होगा। सङ्गीत व आवेग दोनों रहने पर ही गीतियाँ सफल होती हैं। महाकाव्यों में भी गीति की प्रधानता होगी, सङ्घर्ष मे रत प्राणियों की मानसिक स्थितियों को भी गीतियों द्वारा गाया जा सकता है। अतः गीति (Lyric) ही सत्य के सबसे अधिक निकट पहुँचाने वाली है।

गीतियों के लिए भावना की सचाई की सबसे अधिक आवश्यकता है (पन्तजी मे इसी का सबसे अधिक अभाव है, इस कमी को वह सङ्गीत व कल्पना से पूरा करते हैं)। अब तक जो गीतियाँ लिखी गई हैं उनमे भाव तो है परन्तु आनन्द कम है। मन्त्र युग की कविता में दिव्य आनन्द का वर्णन है। भाव से भी ऊँचा स्तर आनन्द का है अत भविष्य मे उसी की अनुभूति होगी और तभी दिव्य सौन्दर्य का जन्म होगा।

नाटकों मे दु खान्त नाटक व्यर्थ हो जाएँगे क्योंकि आनन्द तो आशा का जनक होता है। सङ्घर्परत मनुष्य की वेदनाओं का वर्णन जीवन का लक्ष्य कैसे हो सकता है। आजकल नाटकों में भी बौद्धिकता बढ़ गई है, यथा समस्या नाटकों में। उनमें या तो कोरा यथार्थ चित्रण होता है या भावना का ऊहापोह। यह सब समाप्त हो जायगा। आत्मा के सूक्ष्म नाटक को अपने नाटकों में उतारने का कार्य प्रचलित हो जायगा। बाह्य सङ्घर्षों के उतार-चढ़ाव समाप्त होंगे। आन्तरिक द्वन्द्वों का चित्रण अधिक होगा।

कथात्मक काव्यों मे क्रिया व घटनाओं का प्राय अभाव होगा वातावरण का चित्रण भी कम होगा। आन्तरिकता का चित्रण अधिक होगा। विस्तृत विवरणों के स्थान पर चित्रण मे गहराई व सूक्ष्मता अधिक होगी।

शब्द, लय व छन्दों में भी परिवर्तन होगा। आज की भाषा में

विवरण, विश्लेषण, यथातथ्य चित्रण, कथन तथा निश्चितता पूर्वक उद्धरण की तो शक्ति रही है परन्तु उसमे ध्वनि व साकेतिकता का अभाव हो गया है।

शब्द की अगणित शक्तियाँ लुप्त हो गई है। भविष्य मे वाक्-शक्ति पुन जागृत होगी। तान्त्रिकों का विश्वास है कि वाक्-शक्ति स्फुरित होकर अनेकानेक रूप धारण करती है। उसे निश्चित अर्थ में नही बाँधा जा सकता। 'पश्यन्ती' शक्ति सूक्ष्म वाक्-शक्ति है। योग-साधना द्वारा ही हम इसे सुन सकते है परन्तु सांसारिक अनुभवो के कारण सूक्ष्म 'पश्यन्ती' शक्ति को हम भूल जाते हैं। प्रत्येक कण-कण मे जो सूक्ष्म नाद स्फुरित हो रहा है उसे इसी पश्यन्ती शक्ति से ही हम सुन सकते हैं। इसके भी कई स्तर हैं, स्थूल व सूक्ष्म। सूक्ष्म नादात्मक शक्ति से ही हम सूक्ष्म अनुभवों का वर्णन कर सकते हैं, दोनो के उदाहरण लीजिए—

Whate'er he did, was done with so much ease,
in him alone 'twas natural to please—

—Dryden

The waves beside them danced, but they
Out-side the sparkling waves in glee
A poet could not but be gay
In such a Jocund Company

प्रथम मे गद्यात्मकता है वह भी स्थूल। दूसरी रचना मे सूक्ष्मता का प्रारम्भ हो जाता है अत उसमे शब्द कुछ संकेत करते हैं। इसी प्रकार वाणी के अनेक स्तर होते हैं। भविष्य में सूक्ष्म व सांकेतिक शब्दावली का ही प्रयोग रह जायगा।

लय—कविता की पहली शर्त है लय। केवल लय के कारण ही कविता अर्थ व कल्पना के अभाव में भी जीवित रह सकती है। परन्तु यह लय छन्द के कारण, मात्रा व वर्णों की नियमित मात्रा से भी आती है और कवि की वाणी के आवेग के कारण भी। वस्तुत छन्दात्मक लय के विना भी काम चल सकता है परन्तु कवित्व पूर्ण प्रवाह (Poetic Movement) के विना काम नही चल सकता। कवित्व पूर्ण प्रवाह कभी-कभी छन्द की भी चिन्ता नही करता,

छन्द इसमे बाधक भी हो सकता है और सहायक भी। अत' यही कविता के लिए अनिवार्य है। परन्तु छन्द आन्तरिक प्रवाह के लिए बाह्य आवश्यकता है। ह्विटमैन व कारपेन्टर ने छन्दों का बन्धन तो हटा दिया परन्तु इससे छन्दों का महत्त्व घटा नहीं क्योंकि छन्द हीन कविता अभी तक छन्दोबद्ध कविता से अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित नही कर पाई।

छन्द का आविष्कार सूक्ष्म मनोविज्ञान को ध्यान मे रखकर किया गया था। वेद मे तभी छन्द अनिवार्य है। सृष्टि की आत्मा छन्द में आबद्ध होकर ही अवतरित हुई है। छन्द केवल कुशलता का ही प्रतीक नहीं है वह ध्वनि का शरीर है, ध्वनि को व्यवस्थित रूप से उपस्थित करने के लिए उसका प्रयोग होना ही चाहिए। आत्मा से जो सङ्गीत उत्पन्न होता है वह व्यवस्था चाहता है, अव्यवस्थित तो यहाँ इस सृष्टि मे कुछ भी नहीं है अत छन्द अनिवार्य है। छन्द व आन्तरिक प्रवाह दोनों मिलकर जो सङ्गीत व गति उत्पन्न करते हैं उससे सरस्वती अपने को सार्थक समझती है। इन्हीं दोनों की सहायता से मन्त्र सिद्धि होती है।

भविष्य-कविता के लिए उपर्युक्त आवश्यकताओं के अतिरिक्त नए प्रतीकों की भी आवश्यकता होगी। कथन के अनेक विधान स्वय आविष्कृत होंगे।

कला का संक्रान्ति युग—आज मनुष्य का मस्तिष्क भौतिकवादी बुद्धिवाद से अन्तर्चेतनात्मक युग की ओर जाने के लिए धीरे-धीरे अपने को तैयार कर रहा है, अनेकानेक शकाओं का समाधान हो रहा है और प्रयोगों व तर्कों का अनवरत सङ्घर्ष चल रहा है परन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट हो चला है कि वर्तमान कालीन बुद्धिवाद व भौतिकवाद सच्चा समाधान नहीं है। एक ओर वस्तुएँ बढ़ रही हैं, अधिकार मिल रहे हैं, सङ्गठनों व सरकारों की शक्ति बढती जा रही है और दूसरी ओर मनुष्य का मन छटपटा रहा है, उसके भीतर वह प्रकाश धीरे-धीरे जागृत हो रहा है जिसे वह बलात् टालता रहा है। अत यह संक्रान्ति युग है, कला व कविता मे भी इस की प्रतिध्वनि सुनाई पड रही है। अब आनन्दवादी मन्त्र-युग की कविता के लिए कल्पना, बुद्धि, व भाव के भी ऊपर दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति का युग आ रहा है, उसकी तैयारी धीरे-धीरे परन्तु दृढ़ता के साथ पूर्वी देशों मे हो रही

है। कविता इसी पुण्य कार्य में अपने को युगानुरूप बदलती हुई इस संक्रान्तिकाल में नए युग का स्वागत करने जारही है। अब उसे कुत्सित यथार्थवाद, कल्पनावाद, बिम्बवाद, प्रभाववाद, ऐन्द्रिकता, उत्तेजना, प्रचार, उपदेश, प्रयोगवाद आदि से ऊपर उठना है और आत्मा के दिव्य सङ्गीत की अभिव्यक्ति के लिए मनोरञ्जन की जगह आत्म-रञ्जन का पवित्र पथ अपनाना ही होगा। कविता तब 'मंत्र' में परिणत हो जायगी।

अरविन्द अध्यात्मवादी विचारक थे। अत सौन्दर्य शास्त्र के सम्बन्ध में उनकी कुछ मान्यताएँ गम्भीर तथा कुछ मान्यताएँ ग्रहणीय होने पर भी आध्यात्मिक अति की ओर ले जाने वाली हैं। अध्यात्मवादी समाज की स्थिर सत्ता में ही—प्रत्येक वस्तु में—आनन्द खोजने के पक्षपाती होते हैं। अत सौन्दर्य द्वारा सत्य के साक्षात्कार को ही वह उच्चतम सौन्दर्य मानते हैं। इतिहास गवाह है कि कला मनुष्य के जीवन में परिवर्तन लाने में एक प्रवल साधन रही है। कला द्वारा जीवन वदलने के लिए जीवन के कुरूप और कुत्सित तथा सम्भावित और सुन्दर दोनों पक्षों का चित्रण होना चाहिए। कलाकार कुत्सित का चित्रण इसलिए नहीं करता कि कुत्सित भी आनन्ददायक होता है अध्यात्मवादी को तो कुत्सित मे भी आनन्द खोजने की प्रवृत्ति रहती है। वह कुत्सित को स्थिर और गतिविहीन मानता है परन्तु यथार्थवादी विचारक को कुत्सित का-नाश करना होता है। अत. वह निर्मम होकर कुत्सित का चित्रण करता है और सम्भावित सत्य का भी वर्णन करता है ताकि उसके प्रति पाठक में प्रेरणा जागृत हो। इसके साथ-साथ जीवन के प्रति जागरूक यथार्थवादी मनुष्य के इन्द्रिय वोध व भावना के स्तर को ही माध्यम वनाता है। अतीन्द्रिय अनुभवों को जागृत करने करने का लक्ष्य यदि कलाकार अपने सम्मुख रखे तो वह साम्प्रदायिक वस्तु वनती जाती है क्योंकि सामान्य हृदय भावना व इन्द्रियों के माध्यम से ही सकेतो व प्रभावों को ग्रहण करता है। भावना का जगत ही कर्म का प्रेरणा-स्रोत है—यह मनोविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है। जगत का वोध इन्द्रियों के द्वारा ही होता है अत' कवि विभिन्न रङ्गों, रूपों, ध्वनियों, सुगन्धियों तथा स्पर्शों का वर्णन कर मानवीय ऐन्द्रिक जगत को परिमार्जित, समृद्ध, उच्च तथा सस्कृत वनाता है। ऐन्द्रिकता का अर्थ विलासिता कभी नहीं होता। रूपों व रगों के वर्णनों के द्वारा

मनुष्य प्रवृत्तियों की अन्धता से ऊपर उठता है। इसीलिए कला का क्षेत्र भावना व इन्द्रियबोध तक सीमित माना गया है, कवि अनेक भावनाओं, कल्पनाओं व ऐन्द्रिक बोधों को जगाता है। अरविन्द के अतीन्द्रियतावाद को हम केवल 'दार्शनिक कविता' के विवेचन के लिए ही उचित मान सकते हैं। अरविन्द की उच्च मानसिक स्थिति ने सामान्य मानव हृदय का ध्यान नहीं रखा। अतः उनके मापदण्ड अध्यात्मवाद पर आधारित होने के कारण एकाङ्गी हैं। हाँ, भविष्य की बात दूसरी है। अन्तर्दृष्टि के बल पर यदि कोई यह कहे कि भविष्य में कविता का अमुक स्वरूप ही ग्रहीत होगा तो हम प्रतीक्षा करने की प्रार्थना करने के अतिरिक्त और क्या कर सकते हैं। किन्तु जहाँ तक मानवीय बुद्धि अनुमान कर पाती है वहाँ तक यही प्रतीत होता है कि भविष्य की कला में ऐन्द्रिकता का परिष्कार तो कम या अधिक अवश्य होता रहेगा परन्तु इसकी भी कोई मात्रा निश्चित नहीं की जा सकती, परन्तु यह असम्भव है कि कला रहस्य की खोज का पर्याय हो जाए क्योंकि कला के विकास का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जिन कवियों को—वाल्मीकि, तुलसी, सूर, मिल्टन, आदि को अरविन्द जैसी ही अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी उनकी कला में भी मानवीय भावना व इन्द्रियों को ही साधन बनाया गया है। श्रेष्ठ बनने, किसी सत्य के प्रति संकेत करने, अनुभूति-मय उल्लास का प्रेषण करने के लिए जब भी कलाकार मनुष्य के पास जाता है या जाएगा। तब वह अवश्य उसके भावना के स्तर को ही स्पर्श करने का प्रयत्न करेगा और यह अरविन्द को स्वीकार नहीं है क्योंकि उनकी दृष्टि से कला को अतीन्द्रिय होना चाहिए। यही अतिवाद है। गहराई, रहस्योद्घाटन, सार्वभौमिकता, मर्मभेदनी दृष्टि (Vision) का अर्थ यह तो नहीं होता कि कलाकार निरपेक्ष ब्रह्म को सर्वत्र टटोलता फिरे और वह जीवन के अनन्त क्षेत्र को सीमित कर दे। ज्ञान का कार्य भ्रम का नाश है, भ्रम की सर्वत्र खोज नहीं। इसी प्रकार कला का भी कार्य मनुष्य को अधिक मानवीय, अधिक सस्कृत, अधिक कोमल, अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों के प्रति अधिक सन्तुलित जीवन का इच्छुक, अधिक सम्वेदन शील और अधिक सहृदय बनाना है और यह कार्य तभी सम्भव है जब कलाकार भावना व इन्द्रिय बोध के सहज मानवीय मार्ग से विचलित न हो। मनुष्य कभी भी पूर्णतया साधक नहीं

वन सकता, उसकी इच्छा, अभिलाषा, आशा, निराशा, कुरूपता, सुरुचि का चित्रण करना तथा साथ ही उसके भविष्य को उसके सम्मुख उतारना ही कलाकार का कार्य है। अरविन्द का सौन्दर्य-शास्त्र 'स्थित-प्रज्ञ', 'निर्द्वन्द्व', 'निरपेक्ष' और अवाङ्मनसगोचर सत्ता के ध्यान में रत समाधिस्थ विचारकों के लिए है। मानव समाज से उसका उतना सम्बन्ध नही है। इसीलिए क्लासीकल कला व रोमाण्टिक काव्य-कला में भेद कर वे वैयक्तिकतावादी रोमाण्टिक प्रवृत्तियों का पोषण करते हुए दिखाई पड़ते हैं, जिसमें कलाकार की सनक को मौलिकता के नाम पर प्रश्रय मिलता है। पूर्व कल्पित सत्ता के सर्वत्र दर्शन करना एक वस्तु है और नाना विधियों से वस्तु के अन्तर्सौन्दर्य की खोज दूसरी वस्तु है। वस्तुओं के आन्तरिक सौन्दर्य की विभिन्न छवियों को नाना प्रकार से अङ्कित करने वाले कवि वाल्मीकि, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, चन्द्र, सूर, तुलसी, जायसी, प्रसाद, महादेवी, और स्वयं ग्राम्याकाल तक पन्तजी भी मनुष्य के भावना व इन्द्रिय-जगत को समृद्ध बनाते रहे हैं। तुलसी व सूर की आध्यात्मिकता नही, जीवन से उनका प्रेम उन्हे महान कवि बनाता है। यदि वे कोरे चिरन्तन सत्तावादी होते, जीवन का वर्णन उन्होंने काव्य की स्वाभाविक पद्धति पर न किया होता तो वे दार्शनिक के रूप मे भले ही स्वीकृत हो जाते, कवि रूप मे उन्हे कौन पूछता? इसी प्रकार चित्रकला, स्थापत्य-कला, सङ्गीत-कला, मूर्तिकला की भी दशा है। सङ्गीत भावनाओं को जगाता है, यथा विरह, मिलन, सङ्घर्ष, भय, निराशा, आश्चर्य आदि-आदि। इससे हम मुग्ध हो जाते हैं चाहे उसकी शास्त्रीयता को न भी समझते हों। इसीलिये आध्यात्मिकता को भी भावना का अञ्चल पकड़ना पड़ा। सारे रहस्यवादी कवि भावना व इन्द्रियबोध के माध्यम से ही आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन करते हैं। सूफी कवियों ने भी कभी अतीन्द्रियतावाद की घोषणा नहीं की, उनकी कविता मनुष्य के लिए उपयोगी बनी रही। अरविन्द के मापदण्ड के अनुसार जो कलाकृति बनेगी वह 'उत्तरा' के समान नीरस और जीवन विहीन होगी, क्योंकि कवि ऊर्ध्व-चेतना के स्तर पर चढ कर बोलेगा और यह काव्य की पद्धति के विरुद्ध है। आप बात कही की करिए, पर रहिए भावना के ही क्षेत्र में, कविता समझ में आती रहेगी परन्तु यह सीधी बात अध्यात्मवाद के विरुद्ध पडती है, क्योंकि प्रतिभा का तो कार्य ही यह है कि वह पूर्व निश्चित तथ्य को

अस्वीकार करें। रहस्यदर्शी बहुत से हुए हैं, इतने अधिक कि गिनना कठिन है, देश में भी विदेश में भी, परन्तु सभी रहस्यदर्शियों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभवों को भी मनुष्य की भावना का माध्यम बनाने पर जोर दिया है। आत्मा व परमात्मा में मानवीय सम्बन्धों की कल्पना कर रहस्य का भी वे सफलतापूर्वक साधारणीकरण कर सके हैं। कबीर 'बहुरिया व दूल्हा' के माध्यम से तथा सूफी कवि प्रेमी व प्रेमपात्रों के बहाने से अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को व्यक्त करते रहे हैं। अतः मीरा व महादेवी, कबीर व दादू के साथ विचार की दृष्टि से असहमत होने पर भी उनके काव्य से हमें आनन्द मिलता है। अरविन्द जिसे अन्तर्चेतना का उच्चस्तर कहते हैं वह दुरारूढ़ कल्पना का स्तर है और कल्पना से प्राप्त तथ्य तभी साधारणीकृत हो सकते हैं जबकि वे भावना का अञ्चल पकड़ें। परन्तु तब कविता ऐन्द्रिक होगी, भावात्मक होगी, कोरी कल्पनात्मक तथा अत्यधिक प्रतीकात्मक नहीं होगी। भावना, कल्पना, ऐन्द्रिकता, विचार इनमें से किसी एक का पूर्ण निषेध सम्भव नहीं है। सामञ्जस्य की पुकार लगाने वाले अरविन्द 'दार्शनिक कविता' का समर्थन दार्शनिक होने के कारण कर गए हैं। उन्होंने जन-साधारण का ध्यान नहीं रखा। हमारे यहाँ सहृदयों में सन्यासियों व तार्किक दार्शनिकों की गणना कभी नहीं की गई।

— ❀ —

पन्तजी की काव्य-कला का विकास

पन्तजी ने १६२३ ई० मे दर्शन-शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। उसके पूर्व 'ग्रन्थि', 'वीणा' तथा 'पल्लव' की अनेक सौन्दर्यवादी कविताऍ लिखी जा चुकी थी। १६२३ के पूर्व पन्तजी की रचनाओं में संस्कृत काव्य-कला का प्रभाव 'ग्रन्थि' मे तथा योरोप की रोमांटिक काव्य-कला तथा उसी से प्रभावित रवीन्द्र-काव्य-कला का प्रभाव 'वीणा व पल्लव' में दिखाई पड़ता है। मुख्यत. 'पल्लव' की कविताओं पर पर "शैली-टेनीसन की कल्पना, सौन्दर्य-बोध, स्वर-वैचित्र्य" आदि का प्रभाव था। जीवन व जगत—नारी, प्रेम, प्रकृति, समाज आदि के सम्बन्ध में भी पन्तजी का दृष्टिकोण रोमाटिक कवियों की ही तरह बन चुका था। इस काल की कविता की सबसे बडी विशेषता कल्पना, कोमलता तथा नूतन रोमांटिक शैली का प्रयोग है। इसीलिए ये कविताऍ एक ओर जीवन व जगत के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण तथा दूसरी ओर नूतन काव्य-शैली के प्रयोग के कारण द्विवेदी युग की कविताओं से भिन्न प्रतीत होती हैं। मुकुटधर पाण्डेय, गुप्तजी, गोपालशरणसिंह आदि द्विवेदी युग के कवियों का दृष्टिकोण एक ओर तो सुधारवादी तथा पवित्रतावादी (Puritan) था तथा दूसरी ओर इनकी शैली इतिवृत्तात्मक व उपदेशात्मक थी। अत उस काव्य से पन्तजी की नूतन कविता अपनी नूतन लाक्षणिता, मानवीयकरण, विशेषण-विपर्यय तथा सांकेतिकता के कारण एक ओर तथा रोमाण्टिक दृष्टि से वस्तु को देखने के कारण दूसरी ओर से भिन्न प्रतीत होती है।

रोमाण्टिक प्रवृत्ति का मुख्य लक्षण विस्मय की भावना है, और विस्मय-भावना तब उत्पन्न होती है जब कवि एक काल्पनिक आवरण चढ़ाकर वस्तु को देखता है। एक सामान्य प्रस्तर खण्ड मे द्विवेदी युग के कवि को कोई आकर्षण नहीं था परन्तु रोमाण्टिक

कवि एक नक्षत्र को, एक लहर को, एक पक्षी को, एक शाखा को, एक पुष्प को देखकर चकित होकर अपना विस्मय प्रकट कर सकता है और इस विस्मय की भावना से उस प्रस्तर खण्ड, लहर आदि में एक रहस्यमय सौन्दर्य नि सृत हो सकता है। वस्तु को यथार्थ दृष्टि से देखने पर वह उपयोगी या अनुपयोगी प्रतीत होती है, उसके साथ उसकी हानिकारिता या लाभदायकता का दृष्टिकोण द्रष्टा के दृष्टि-बिन्दु में रहता है परन्तु उसी वस्तु को एक प्रकार से तटस्थ होकर[1] इस प्रकार देखने में जैसे वह आज सर्व प्रथम देखी जारही हो, जैसे वह किसी अज्ञात लोक से आरही हो तो नवीन-नवीन संकेत, उस वस्तु की नवीन-नवीन छवियाँ मन में उतरने लगती है। यह है कल्पना के आधार पर विस्मय की भावना का रोमाण्टिक प्रयोग। पन्तजी ने 'बाल-विहंगिनी', 'नक्षत्र' तथा 'छाया' आदि में इसी भावना का प्रयोग किया है। अत इन वस्तुओं के अनेक रहस्यमय रूप हमारे सामने खुलते चले जाते हैं। यह दृष्टि द्विवेदी युग के कवियों को प्राप्त नहीं थी। वे या तो वस्तु परिगणन कर सकते थे यथा प्रियप्रवास के नवम् सर्ग में मिलता है या वस्तु का यथातथ्य चित्र उतार सकते थे। कल्पना का आवरण चढ़ा कर वस्तु को विस्मयपूर्वक देखने की प्रवृत्ति द्विवेदी युग के कवियों में नहीं दिखाई पड़ती।

एक शिशु यथार्थ दृष्टि से देखने से एक शिशु है। अनेक शिशुओं के बार-बार दर्शन से शिशु की विशिष्टता भी शायद हमारी चेतना-परिधि से लुप्त हो जाती है परन्तु जब वर्डसवर्थ 'शिशु' को विस्मय की भावना से अपने को मुक्त कर देखता है तो उसी 'शिशु' से कितनी मुग्धता, कितनी विशिष्टता, कितनी छवि, कितनी मनोहारिता तथा कितने संकेत व सुझाव नि सृत होते है। यह उनकी 'शिशु' शीर्षक कविता से स्पष्ट है। विस्मय मुग्धता को उत्पन्न करता है। मुग्धता तन्मयता की पूर्व स्थिति का नाम है। तन्मयता मे तटस्थता का भाव लुप्त हो जाता है परन्तु मुग्धता में तटस्थता बराबर बनी रहती है। यही तटस्थ होकर वस्तु-दर्शन की प्रवृति रोमाण्टिक कवियो की

---

[1] Aesthetic interest is itself a detachment though it is not the kind of detachment that it is commonly supported to be.

एक विशेषता है। यही कारण है कि पन्तजी १६२२ ई० के पूर्व विशेष-कर 'वीणा' व 'पल्लव' मे इतना सौन्दर्य उत्पन्न कर सके।

जहाँ विस्मय की भावना सामान्य वस्तु मे असामान्य आकर्षण उत्पन्न कर देती है वही उसका आधार कल्पना होने के कारण वह भावना के ज्वार पर थपकी भी देती है और जहाँ दोनों क्रियाएँ साथ-साथ चलती है वहाँ वस्तु का वर्णन अवश्य परम्परागत हो जाता है। अर्थात् वस्तु की अनेक विशिष्टताओं के उद्घाटन के स्थान पर उस पर भावना का रङ्ग चढ़ जाता है। भावना जैसी होगी वस्तु भी वैसी ही प्रतीत होगी। सुख की मानसिक स्थिति में प्रकृति सुखकारिणी व दुःख की स्थिति मे वह दुःख उद्दीपनी प्रतीत होगी। यह स्थिति पन्तजी की 'उच्छ्वास' शीर्षक कविता मे दिखाई पड़ती है। इस कविता मे कवि भावना से जहाँ तटस्थ होकर पर्वत की छवियों का अङ्कन करता है वहाँ तो वह छवि-अङ्कन कर पाता है परन्तु जहाँ वह भावना से संयुक्त होकर देखता है तो प्रकृति उद्दीपन के रूप मे ही प्रस्तुत होती है।

भावना की संयुक्तावस्था—

मेरे आँसू गूँथ फैल गम्भीर मेघ-सा
आच्छादित करले सारा आकाश।

भावना से तटस्थता की अवस्था—

उड़ गया अचानक लो भूधर
फडका अपार पारद के पर
रव शेष रह गए है निर्झर
है टूट पडा भू पर अम्बर।

रोमान्टिक प्रवृत्ति का एक और रूप—शुद्ध कल्पना का प्रयोग भी है—अर्थात् कवि केवल कल्पना के कौशल को प्रकट करे। कल्पना अनेक अप्रस्तुतों को लाकर एकत्रित कर सकती है। एक वस्तु को देखकर पूर्व परिचित अनेक वस्तुओं से मिलती-जुलती वस्तुओं को मानसिक क्षितिज पर ला सकती है। सादृश्य, साधर्म्य, आकार तथा व्यक्तित्व के आधार पर अनेक रूपों की भीड़ इकट्ठी कर सकती है। शुद्ध कल्पना का प्रयोग भी छायावाद की अपनी विशेषता है।

शुद्ध कल्पना के बल पर ही सूर, केशव ने अप्रस्तुतों का विशद विधान अपनी कविता में किया है। कल्पना के इस प्रकार के प्रयोग में विस्मय व मुग्धता की व्यञ्जना की प्रवृत्ति कम रहती है एक चित्र को देखकर उसके समान चित्र की अवतारणा की प्रवृत्ति अधिक होती है। पन्तजी इस कला में शायद सबसे अधिक दक्ष हैं केवल प्रसाद को छोड़कर। प्रसाद ने रूप-वर्णन में कहीं-कहीं शुद्ध कल्पना का प्रयोग किया है और कल्पना के शुद्ध प्रयोग में कवि से ऐसी आशा की जाती है कि वह जिस वस्तु का वर्णन कर रहा है यदि वैसा चित्र प्रकृति में न मिले तो अपनी कल्पना के प्रयोग द्वारा प्रकृति में प्राप्त वस्तुएँ लेकर एक नए चित्र का निर्माण करले, भले ही वह प्रकृति के विरुद्ध हो, काव्यशास्त्र में इसे ही 'कवि प्रौढोक्ति सिद्धि' कहा गया है—प्रसाद के इस रूप वर्णन को देखिए—

चञ्चला स्नान कर आवे, चन्द्रिका पर्व में जैसी।
उस पावन तन की शोभा, आलोक मधुर थी वैसी॥—आँसू

शुद्ध कल्पना-प्रयोग का यह सुन्दरतम् उदाहरण है। शुभ्रता व शीतलता का जहाँ एक साथ संयोग हो, प्रकाश व मधुरता का जहाँ एकान्त मिलन हो, दीप्ति व मनोहारिता का जहाँ एक साथ अभिसार हो, कांति व कोमलता की जहाँ एक साथ छटा हो वहाँ कवि क्या करे? शुभ्रता, प्रकाश, दीप्ति, कांति के लिए चञ्चला उपमान भी उपयुक्त है परन्तु दोनों का संयोग प्रत्यक्ष प्रकृति का विरोध है। परन्तु कवि का उद्देश्य तो वर्ण्य वस्तु के छवि का अङ्कन है। ऐसा अङ्कन कि पाठकों के हृदय में उसका स्पष्ट रूप उतर आए। अत चाहे चञ्चला व चन्द्रिका का संयोग प्रकृति में असम्भव हो, कवि की कल्पना में सम्भव हुआ। यही सम्भावित सत्य है, कैसा था प्रिया का रूप! यह तो कहना कठिन है परन्तु कल्पना करिए कि यदि चञ्चला चन्द्रिका में स्नान कर आपके सम्मुख उपस्थित हो जाए तो उस समय जो सौन्दर्य 'चञ्चला' में प्रस्फुटित हो उठेगा वैसा ही सौन्दर्य मेरी 'प्रिया' का था। अब सौन्दर्य का साधारणीकरण होगया—यह है 'कवि प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध।' इसमें प्रकृति के विरुद्ध भी वस्तुओं की सत्ता कवि की कल्पना में होती है।

पन्तजी में शुद्ध कल्पना के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। शुद्ध कल्पना तन्मयता नहीं भव्यता व वैचित्र्य को जन्म देती है।

वारि वेलि सी फैल अमूल।
छा अपत्र सरिता के कूल॥
विकसा औ सकुचा नवजात।
बिना नाल के फेनिल फूल॥

वारि-वीचि (पल्लव)

यहाँ कवि की कल्पना ने बिना नाल के फूल व जल की लता के उपमानों से लहर के रूप को मूर्त कर दिया है।

पुनश्च

स्वर्ण गगन सा एक ज्योति से,
आलिङ्गित जग का परिचय॥
इन्दु विचुम्बित वाल-जलद सा।
मेरी आशा का अभिनय॥ —बालापन

"चन्द्र से चुम्बित बादल" इस प्रयोग से कवि ने यहाँ आशाओं की अमूर्तता को मूर्त रूप दिया है।

कल्पना के दूसरे प्रकार का प्रयोग अनेक उपमानों की भीड़ एकत्रित करने मे दिखाई पडता है। इसमें 'कौशल' की प्रवृत्ति अधिक रहती है, भावना का सूत्र पतला पडता जाता है और वर्ण्य वस्तु को देखकर अनेकानेक रूपों की समष्टि प्रस्तुत हो जाती है। फलत: वर्ण्य-वस्तु के वर्णन मे अनेक रूपों की चित्र-शाला प्रस्तुत हो जाती है। पन्त जी में कल्पना का इस प्रकार का प्रयोग अपेक्षाकृत पूर्व वर्णित प्रकारों से अधिक दिखाई पडता है—

क्रियाओं को सम्मुख लाकर वस्तु का यथार्थ रूपाङ्कन—

छपी सी, पी सी, मृदु मुस्कान—
छिपी सी, खिंची सखी सी साथ।

—उच्छ्वास

वारि-विलास कविता मे कल्पना के बल पर लाई गई उपमाओं को देखिए—

१—गूढ साँरा सी अति गति हीन
२—सजल कल्पना सी
३—शैशव स्मिति सी
४—वारि वेलि सी
५—छुई मुई सी

६—स्वर्ण-स्वप्न सी,
७—मधुर वेणु सी,
८—तुम इच्छाओं सी उपमान,
९—मुग्धा की सी मृदु मुस्कान,
१०—स्वर्गिक सुख की सी आभास,
११—दिव्यमूर्ति सी आ तुम पास,
१२—सिन्धु-गिरा सी अगम अनन्त,
१३—खेल-मिचौनी सी,
१४—तुम फिर-फिर सुधि सी सोच्छ्वास,
१५—ज्वाला सी पाकर वातास,
१६—ओ अकूल की उज्ज्वल हास,
१७—अरी अतल की पुलकित श्वास,
१८—चिर शाश्वत की अस्थिर लास।

मुख्य रूप से अप्रस्तुतों की भीड़ अनङ्ग, स्वप्न, छाया, नक्षत्र, बादल, बालापन, स्याही की बूँद आदि शीर्षक कविताओं में अधिक दिखाई पड़ती है। इनमें भी नक्षत्र, बादल व स्याही की बूँद में विशेषकर 'स्याही की बूँद' में कल्पना-कौशल अति की अवस्था तक पहुँच गया है। 'स्याही की बूँद' के अन्त में स्पष्टतः कवि ने अपनी कल्पना को ही काव्य-रचना का मुख्य हेतु कहा है—

"योग का सा यह नीरव तार,
ब्रह्म माया का सा संसार,
सिन्धु सा घट में—यह उपहार
कल्पना ने क्या दिया अपार।"

यद्यपि १९२३ के बाद पन्त की कविता में मोड़ आ जाता है परन्तु कल्पना के बल पर रूपाङ्कन की प्रवृत्ति-प्रधान कविताओं को 'वीणा-पल्लव काल' की कविताओं के क्रोड में देखना चाहिए। 'गुञ्जन' की ऐसी कविताओं में 'एक तारा' (मात्र रूप वर्णन का अंश), 'चाँदनी', 'अप्सरा' तथा 'नौका-विहार' उल्लेखनीय है। परन्तु अन्य कविताओं में रूप वर्णन करते समय भी कवि की वृत्ति गम्भीर हो गई है। अतः वहाँ मात्र कल्पना का प्रयोग न होकर हृदय की वृत्ति भी मिल गई है जिसे हम यथा स्थान देखेंगे।

'कल्पना-कौशल' के दो अर्थ हो सकते है—(१) कवि यह दिखाना चाहे कि वर्ण्य-वस्तु को देख कर वह कितनी दूर तक, किस अज्ञात क्षेत्र तक जा सकता है। (२) कवि वस्तु के रूप, गुण, आकार, स्वभाव को मूर्त रूप देने के लिए अप्रस्तुत विधान करे।

पन्तजी के प्रारम्भिक काव्य में ये दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं। ऐसी कविता शायद एक भी नही मिलती जिसमें केशवदास की तरह केवल कल्पना-कौशल दिखाया गया हो। परन्तु प्रधानता की दृष्टि से ऐसी कविताएँ बताई जा सकती है जिनमे केवल कल्पना का चमत्कार प्रधान हो या केवल मूर्तता लाने के लिए कल्पना का प्रयोग किया गया हो। कहना न होगा दूसरा रूप सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से अधिक ग्रहणीय माना जाता है। कल्पना का मात्र चमत्कार जिसमें यह ध्यान न रखा जाय कि लाए जाने वाले उपमान वर्ण्यवस्तु के साथ कोई सम्बन्ध रखते हैं या नहीं, हम इन कविताओं मे देख सकते है— 'छाया' शीर्षक कविता—

१—उपमा सी।

२—भावुकता सी।

३—भावाकुल भाषा सी।

४—गूढ़ कल्पना सी (यह प्रयोग किसी भी वस्तु के साथ लगाया जा सकता है, कवि ने ऐसा कई स्थान पर प्रयोग किया है)।

५—ऋषियों के गम्भीर हृदय सी।

६—बच्चों के तुतले भय सी।

७—मौन अश्रुओं के अञ्चल सी।

८—मदिरा सी, मादकता सी (एक ओर करुणा के रूप में कवि देखता है, दूसरी ओर मदिरा के समान भी वह छाया को बतलाता है। यह विभिन्न दृष्टिकोण से छाया का दर्शन नहीं, कल्पना के बल पर नाना प्रकार के उपमान समेट लाने की प्रवृत्ति का परिचय है)

९—वृद्धावस्था की स्मृति सी।

१०—त्रिभुवन के नयन चित्रसी।

उपर्युक्त उपमान 'छाया' के स्थान पर अन्धकार गोधूलि, वर्षा-दिवस, सन्ध्या आदि अनेक वस्तुओं के वर्णन मे प्रयुक्त हो सकते हैं। इनमे न तो छाया को देखकर जाग्रत भावना विशेष को मूर्त रूप मिलता है न इन्हे कविता से अलग कर देने से सौन्दर्य का अभाव

होता है परन्तु यदि 'छाया' से निम्नलिखित अप्रस्तुतों को अलग कर दिया जाय तो इस कविता का सौन्दर्य समाप्त हो जायगा—

१—वात-हता विच्छिन्न लता
२—जर्जरिता, पददलिता
३—धूलि-धूसरित मुक्त-कुन्तला
४—हाय! तुम्हे भी त्याग गया क्या, अलि! नल-सा निष्ठुर
कोई
५—दुखविधुरा
६—तुम पथ-श्रान्ता द्रुपत-सुतासी
७—पछतावे की परछाईं सी
८—आँखमिचौनी सी असीम की
९—सखि! भिखारिणी सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अञ्चल

उपमानों की भारी भीड़ 'नक्षत्र' नामक कविता में भी एकत्र की गई है। इस कविता में भी अनेक उपमान ऐसे हैं जिन्हे किसी भी वस्तु के वर्णन में रखा जासकता है। कहीं-कहीं वर्ण-गुण को न देख कर आकार-साम्य के आधार पर ही 'नक्षत्र' को 'उलूक' तक कहा गया है। 'शुचि' शब्द सयुक्त कर देने से कल्पना में सौन्दर्य नहीं आसका। ''स्याही की बूँद' कल्पना के दुरुपयोग को भी व्यक्त करती है। यहाँ कवि-कल्पना नहीं कौतुकी कवि की शिशुता का चञ्चल प्रदर्शन मात्र दिखाई पडता है—

एकटक, पागलसा यह आज
अपरिचितसा, वाचकसा कौन
यहाँ आया छिप-छिप निर्व्याज
मुग्ध सा, चिन्तितसा, जड-मौन
सजनि यह कौतुक है या रास ?

—'स्याही की बूँद' से

परन्तु स्याही के बूँद को भी इस असामान्य दृष्टि से देखने में यहाँ यद्यपि कल्पना-कौतुक मात्र का प्रदर्शन है तथापि यहाँ हमारी प्रथम स्थापना अर्थात् विस्मय पूर्वक वस्तु-दर्शन की रोमांटिक प्रवृत्ति अवश्य सुरक्षित है—

कल्पना का दूसरा रूप वर्ण्य वस्तु को अधिकाधिक मूर्तता व चित्रात्मकता देने के प्रयत्न में दिखाई पडता है। इस कला मे पन्तजी आधुनिक कवियो मे अद्वितीय कवि है। प्रसादजी के चित्रों मे संकेतात्मकता अधिक है, निराला मे अस्पष्टता व सघनता, महादेवी मे बारीकी बढ़ गई है परन्तु पन्तजी के चित्रों मे स्पष्टता भी है और वस्तु के आकार, गुण, स्वभाव आदि को पाठकों के हृदय मे उतार सकने की क्षमता भी अधिक है।

कल्पना के बल पर न केवल चित्र को उभार कर पाठक के लिए प्रेषणीय बनाया जा सकता है, अपितु कल्पना के बल पर लाए गए उपमानों के चयन मे कोमलता व कठोरता का भी ध्यान रखा जा सकता है। पन्तजी ने कोमल चित्रों की सृष्टि की है। इस सम्बन्ध मे इतना स्मरणीय रहना चाहिए कि पन्तजी ने कोमलता की रक्षा के लिए वर्ण्य वस्तु की भी कोमलता का ध्यान रखा है। अत उन्हे उपमान भी कोमल चुनने पड़े है और यही उनकी 'सुरुचि' के भी अनुकूल पड़ता है। अत ऐसे कोमल चित्रो की समष्टि पन्तजी के काव्य मे दर्शनीय हो गई है—

१—खिल उठी राओ सी तत्काल, पल्लवों की यह पुलकित डाल।
२—बाल्य सरिता के कूलों से, खेलती थी तरग सी नित (उच्छ्‌वास)
३—मेरा मधुकर सा जीवन, कठिन कर्म है, कोमल है मन॥ ,,
४—मै मन्दहास सा उसके, मृदु अधरों पर मँडराया॥ ,,
५—पटकता भी है तो गुण से, खींचने को चकई सा पास। ,,
६—सिडी के गृढ हुलास।
७—ढाल सा रखवाला शशि आज, होगया है हा असि सा वक्र। ,,
८—बालकों का सा मारा हाथ, कर दिए विकल हृदय के तार। ,,
९—गल गया मन मिश्री का कन। (आँसू)
१०—तडित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार, उर चीर। (आँसू)
११—पटक रवि को बलि सा पाताल,
एक ही वामन पग मे—
लपकता है तमिस्र तत्काल,
धुएँ का विश्व विशाल। (आँसू)

१२—पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि—
सरल शुक सी सुखकर सुर में।
१३—खैंच ऐंचीला भ्रू सुर चाप,
शैल की सुधि यों बारम्बार।
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार॥
जलद-पट सा दिखला मुख चन्द्र,
पलक पल पल चपला के मार।
भग्न उर पर भूधर सा हाय,
सुमुखि! धर देती है साकार॥
१४—चाँदनी का स्वभाव में वास,
विचारों में बच्चों की साँस।
१५—कनक छाया में जबकि सकाल,
खोलती कलिका उर के द्वार। (मौन-निमन्त्रण)
१६—विपिन में पावस के से दीप,
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव। (मुसकान)
१७—कभी लोभ सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति सी होकर पीन। (छाया)
१८—चिकनी चुपड़ी उपल राशि यह,
नीली पीली लाल।
बाल लीला सी मेरी आज,
खो चुकी निर्मलता का साज॥ (वीणा)
१९—कामना से मा की सुकुमार, स्नेह मे चिर साकार
मृदुल कुड्मल से जिसे न ज्ञात, सुरभि का निज संसार (शिशु)

इस प्रकार अनेक कोमल कल्पनाओं का प्रयोग किया गया है जिससे पाठक के सम्मुख वर्ण्य वस्तु का चित्र स्पष्ट रूप से स्फुरित हो जाता है। 'बादल', 'नौका-विहार' कविताएँ इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-काव्य की अमर रचनाएँ हैं। नौकाविहार में ही कम से कम २० कोमल चित्रों की सज्जा दर्शक का मन मोह लेने के लिए पर्याप्त है। कल्पना का यह विलास द्विवेदी युग में कहाँ था?

पन्तजी के प्रारम्भिक काव्य में कल्पना के द्वारा वस्तु में प्रतीत होने वाली सुन्दरता का ही इसीलिए इतना सुन्दर चित्रण हो सका

क्योंकि कवि ने उन्हे दूर से चित्रकार की आँखो से देखा है। दूर से देखने पर रेखाएँ अधिक भावपूर्ण होती हैं। इसके अतिरिक्त उनकी बाह्य मुद्राओं का, उनके आप-पास, ऊपर-नीचे स्थित वस्तुओं का विभिन्न स्थानों पर अपने को रखकर—विभिन्न दृष्टिकोण से अङ्कन करने का प्रयत्न किया गया है। अत वस्तु के सौन्दर्य-अङ्कन में सामञ्जस्य उत्पन्न हो गया है। यथा पर्वत का अङ्कन करते समय पर्वत की विराटता का, उसके ऊपर बादलों के चञ्चल वितान का, उडते हुए कुहरे का, चमकती विद्युत का, संचरणशील पवन का, उन पर उगे हुए वृक्षों तथा उन पर स्थित सरोवरों और घाटियों का, फूलों व वृक्षों आदि का, साङ्गोपाङ्ग चित्रण तथा उपर्युक्त वस्तुओं की सारी स्थितियों का अर्थात् स्थिरता तथा गत्यात्मक दोनों स्थितियो का वर्णन होने के कारण पूरा चित्र बोल उठता है,। "पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश" से चित्र की गत्यात्मकता स्पष्ट है। इसी प्रकार "नौका-विहार" में चलती हुई नौका से विभिन्न स्थिर, गति शील वस्तुओं का साङ्गोपाङ्ग चित्रण भव्य और मोहक हो गया है। स्थिर वस्तुओं यथा 'नक्षत्र' व 'एकतारा' में झलमलाहट व दीप्ति के वर्णन द्वारा गति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है।

कुछ वस्तुओं के वर्णनों मे जिनका व्यापक रूप-चित्रण नही किया गया, विस्मय प्रकट करते हुए "आत्मीयता" प्रकट की गई है। आत्मीयता मन की कोमलता का परिणाम है।[1] कोमल प्रकृति के व्यक्ति की

---

[1] मार्दव-आत्मीयता की सुन्दरतम अभिव्यक्ति के लिए 'वीणा' का स्थान हिन्दी में अन्यतम है। 'वीणा' मे बङ्गालियों जैसी भावुकता ओत-प्रोत दिखाई पड़ती है। कवि ने स्वय अपने को एक बालिका के रूप में चित्रित किया है। बालिका के हृदय की सहजता, कौतूहल व कोमलता की छटा सूर के पदों के बाद यहीं दिखाई पड़ती है। एक विशेष प्रकार का भोलापन भी उपर्युक्त वृत्तिया के साथ उसमे मिला रहता है। भोलेपन का अभिनय 'हाव' की श्रेणी मे माना जाता है और अभिनेत्रियाँ तथा युवतियाँ भोलेपन के अभिनय का प्रभाव समझती हैं परन्तु उस अभिनय मे सहजता नहीं होती। अत. उससे उनका कौशल प्रकट हो जाता है। वीणा में यह दोष नहीं मिलता। ऐसा लगता है कि सचमुच कोई बालिका अपनी माँ से विविध प्रश्न पूछ रही हो। 'वीणा' की प्रत्येक कविता में अनेक प्रश्न हैं परन्तु दार्शनिक

चेतना की परिधि बहुत विस्तृत होती है, यह सम्भव है कि उसकी कोमलता उसकी चेतना परिधि में आने वाली प्रत्येक वस्तु को बराबर मात्रा में न मिले परन्तु जिस पर वह केन्द्रित हो जाती है उस वस्तु के साथ आत्मीयता अवश्य घनीभूत हो जाती है। मात्र कौतूहल प्रकट करने अर्थात विस्मय विमुग्ध होकर देखने और वस्तु विशेष के साथ तदाकार हो जाने में बहुत अंतर है। सूफी कवि जहाँ प्रकृति का वर्णन करते हैं, वहाँ दो रूप दिखाई पड़ते हैं—१-प्रकृति के भीतर प्रियतमा का प्रतिबिम्ब-दर्शन, २-प्रिय के वियोग में स्वयं प्रकृति के वियोग का वर्णन।

प्रश्नों व कवित्वपूर्ण प्रश्नों में क्या अन्तर होता है यह 'वीणा' में देखना चाहिए,—

वे मोती जो दिखलाए थे तूने ऊषा के वन में,
उन्हें लोग यदि ले लेंगे तो मलिन न होगा मेरा मुख
तू कितनी प्यारी है मुझको, जननि कौन जाने मुझको
यह जग का मुख जग को दे दे अपनाने को क्या सुख क्या दुख

× × ×

जब मैं ऋतुपति के उपवन में मा के सँग थी गई प्रभात,
मैंने पूछा—माँ पूजा को, मैं भी माला गिर्माऊँ!
मा ने सुनी मुझे नहीं दी, कहा—अभी तू बच्ची है!
'मा' क्या डालूँ गले और तब? क्या बाँहों को लपटाऊँ?
हाँ ले मेरा हार यही है, यही तुझे पहनाऊँगी।
दोनों बाँहें गले डालकर, मैं अञ्चल में छिप जाऊँ॥

—वीणा

इसी प्रकार अनेक कविताओं में बालिका की अस्फुट भावनाओं का चित्रण पूरी सहृदयता से किया गया है। नूतन बोली के प्रयोग तथा प्रकृति के प्रति स्वाभाविक प्रेम से इन कविताओं में एक अद्‌भुत सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। 'बालविहगिनी' (१९१९) कविता भी वीणा में दी गई है। वैसे वीणा की अधिकतर कविताएँ १९२० के पूर्व की हैं। द्विवेदी युग व छाया-युग के सन्धि युग को समझने के लिए वीणा का पठन अनिवार्य है। काश! पन्तजी वीणा व पल्लव में व्यक्त सहृदयता को जीवन भर रख पाते परन्तु दर्शन का स्पर्श मात्र कला के सौन्दर्य को विकृत कर देता है, कीट्स की यह बात जैसे पूर्णरूपेण पन्तजी पर सार्थक बैठती है।

प्रथम में, सामान्य जिज्ञासा की स्थिति से आगे की स्थिति है और प्रकृति माध्यम-मात्र है। परन्तु दूसरी स्थिति में प्रकृति व कवि में कोई अन्तर नहीं रह जाता। समुद्र की ओर भागती हुई सरिता के रूप में उसकी आत्मा ही भागती हुई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार प्रकृति जब मित्र के अनुराग से रँगी दिखाई पड़ती है तब भी यही स्थिति होती है। पन्त की स्थिति प्रारम्भिक कविताओं में दूसरी है। यहाँ प्रकृति के प्रति 'आत्मीयता' मात्र है, प्रकृति की वस्तु अपनी सी जान पड़ती है, वह हमसे अलग नहीं है, यह साधक की मनःस्थिति नहीं है, रोमांटिक कवि की मानसिक स्थिति है—वस्तु को देखकर उससे प्रेम करना, उसके देखने की इच्छा करना, उस पर मुग्ध होना, उसके लिए नारी के बाल-जाल में लोचन उलझाने को तैयार न होना, उससे सुख-दुःख की बात करना, कभी-कभी उसके माध्यम से अपने सुख-दुःख को व्यक्त करना, कभी उसे देखकर शिशु की तरह, माता की तरह, सखी की तरह, प्रेमी की तरह उल्लसित होना, यह है पन्त की मानसिक स्थिति जो प्रकृति के प्रति उनकी 'आत्मीयता' के स्वरूप को स्पष्ट करती है। कोमल मन अपने से भिन्न वस्तु में मन रमाता है, कठोर मन अकारण ही उसे अलग करना चाहता है। कोमलता का स्वभाव है स्वयं आकर्षित होना, कठोरता का स्वभाव है पास न आने देना, पास आने पर दुतकार देना। पन्त व वर्डसवर्थ की प्रथम स्थिति थी और डा० जानसन की दूसरी (प्रकृति के सम्बन्ध में)। इस सामान्य आत्मीयता के स्वरूप को जिसका आधार कोमलता है, हम इन पंक्तियों में देख सकते हैं—

> मुस्कराते गुलाब के फूल!
> कहाँ पाया मेरा बचपन?
> सुभग! मेरा भोला बचपन!
> धूलि से भरा स्वभाव दुकूल,
> मृदुल छवि पृथुल सरलपन
> स्वविस्मित से गुलाब के फूल
> तुम्हीं सा था मेरा बचपन!

यहाँ 'स्मरण' भावना जागृत हो जाने से कोमलता के क्षणों में अपने शिशुरूप व शिशु गुलाब के रूप में हलका सा तादात्म्य दिखाया गया है। शिशुओं में इस प्रकार का तादात्म्य बराबर दिखाई पड़ता है।

इसी तादात्म्य या आत्मीयता का परिणाम है, 'क्रीड़ा'। पन्तजी के प्रारम्भिक काव्य में ऐसी क्रीड़ा और विलास सर्वत्र मिलता है—

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मा—
वह अपनी वय-वाली में?
सजा हृदय की थाली में—
क्रीड़ा, कौतूहल, कोमलता
मोद, मधुरिमा, हास, विलास,
लीला, विस्मय, अस्फुटता, भय,
स्नेह, पुलक, सुख, सरल-हुलास!
ऊषा की मृदु लाली में। —वीणा

ऊपर बताए सारे गुण प्रकृति में कवि ने देखे है और उन्हे पहचान कर अपना मनोविनोद किया है। "सखी मधुकरी" के साथ सखी (पन्त) की मनुहार मे भी इसी कोमलता—आत्मीयता—हलके तादात्म्य तथा क्रीडा व कौतूहल आदि की व्यञ्जना है—

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना, कुछ-कुछ मधु पान!
नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनो के अधरों को चूम,
मुदित, कवि सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि! जग मे घूम.
पिलादो ना, तब हे सुकुमारि!
इसी से थोड़े मधुमय गान,
कुसुम के खुले कटोरों से
करादो ना, कुछ-कुछ मधु पान।

हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के प्रति इस प्यार तथा सामान्य मानवीकरण (अलङ्कार मात्र) में अन्तर होता है।[1]

[1] वर्डसवर्थ की प्रकृति के प्रति आत्मीयता व आनन्द को देखिए—
I leap up with joy when I behold the rainbow.

जो विचारक छायावाद को मात्र शैली के रूप में देखते हैं, वे छायावादी कवियों की रोमांटिक प्रवृत्ति को न समझ कर, प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण की उपेक्षा कर छायावाद के साथ अन्याय करते हैं। छायावादी कवि की मानसिक स्थिति को समझना चाहिए। यह मानसिक स्थिति सारे संस्कृत व मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे नहीं मिलती। शैली का साम्य तो कभी प्राचीन कवियों तक में दिखाई पड जाता है, तब क्या प्राचीन कवियों को छायावादी कहा जायगा? प्रकृति का तटस्थ अङ्कन प्राचीन युग में भी हुआ है, यह सभी जानते हैं परन्तु प्रकृति के प्रति उपर्युक्त कौतूहल व कोमलता के प्रति झुकाव योरोप के रोमांटिक कवियों की देन है, इसे स्पष्ट स्वीकार करना चाहिए जिससे प्रेरित होकर छायावादी कवियों ने और मुख्यत. पन्त ने प्रकृति का इतना भव्य चित्रण किया। सामान्य वस्तु के प्रति प्रेम पाठक की चेतना का विस्तार करता है, जो कविता का लक्ष्य है। कविता जीवन का चित्रण भी है और जीवन का निर्माण भी है। जीवन के स्थायी मूल्यों मे स्थायी परिवर्तन कविता ही कर सकती है। ललित कलाओं ने सभ्यता के विकास के साथ-साथ भौतिक उन्नति तथा आध्यात्मिक उन्नति भी की है कि जिसने भावनाओं को अधिक व्यापक, सन्तुलित, मधुर, कोमल व उदात्त बनाया है, हमारे इन्द्रिय-बोध को विस्तृत किया है। उसे उदात्त सौन्दर्य के पहचान करने की शक्ति दी है। पशुओं मे भी रूपों व रङ्गों के प्रति प्रेम होता है पर वह अविकसित अवस्था मे, प्रवृत्ति (instincts) का परिणाम होता है। कविता रूप रङ्गों, स्पर्शों, ध्वनियों, सुगन्धों से युक्त नाना वस्तुओं का वर्णन करती है। वस्तुओं के आन्तरिक व बाह्य सौन्दर्य को व्यक्त करती है अत हमारे नेत्र सामान्यत उस रूप को नहीं देख पाते। कवि उस वस्तु-निहित सौन्दर्य को देख कर हमे भी देखने के लिए विवश करता है। जिन ध्वनियों को सुन कर भी हम नहीं सुनते, सङ्गीतज्ञ उनकी ओर हमारे कानों को आकर्षित करता है, जिन स्पर्शों को, रेखाओं को, मुद्राओं को, संकेतों को हम नहीं जान पाते, कलाकार उन्हे खोज कर सम्मुख रखता है। पन्तजी के प्रारम्भिक काव्य मे उच्चकोटि का ऐसा ही सौन्दर्य बोध दृष्टिगोचर होता है। यह सौन्दर्यबोध द्विवेदी युग के लिए प्राय अपरिचित था। मात्र वर्णन या विवरण देने वाले कवि इस सूक्ष्म सौन्दर्य अङ्कन से

तया परिचित नहीं थे अत इस दृष्टि से प्रसाद, पन्त, निराला व महादेवी की काव्य-कला सर्वदा स्मरणीय रहेगी।

सौन्दर्य-बोध का पन्तजी के काव्य में बराबर विकास मिलता है। विकास का अर्थ उन्नति या अवनति नहीं है। नूतन-काव्य में ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रारम्भिक काव्य में प्राप्त सौन्दर्य-बोध से भी अधिक कौशल से सौन्दर्य का अङ्कन हुआ है। हम ऐसे सौन्दर्य-बोध को यथा स्थान देखेंगे।

रोमाण्टिक काव्य की मुख्य प्रवृत्ति कल्पना व विस्मय की भावना का विश्लेषण कर के हमने यह देखा कि किस प्रकार पन्तजी की कविता के निर्माण में उसका हाथ रहा है। पन्तजी की काव्य-कला की कल्पना ही कुञ्जी है। कल्पना के बिना पन्त की काव्य-कला नहीं चल सकती। कल्पना के इस अतिरेक ने जहाँ गतानुगतिक काव्य से भिन्न कोटि के काव्य की सृष्टि में सहायता की वहाँ काव्य में भाव का अभाव भी स्पष्टतः खटकने लगा। स्वय पन्तजी ने यह स्वीकार किया है। आगे चल कर उनकी बुद्धि को आवेश आया है। उनका हृदय कभी भी कविता मे खुल कर व्यक्त नहीं हुआ। जिस कवि ने वर्डसवर्थ व शैली से प्रकृति-प्रियता व कल्पना-प्रियता ग्रहण की उसने 'शैली' जैसे भावुक कवि से उद्गारों को खुल कर व्यक्त करना नहीं सीखा—यह आश्चर्य की बात है। परन्तु व्यक्ति की ग्राहिका शक्ति उसके सस्कारों के अनुकूल होती है। पन्तजी कल्पनाशील कवि है, स्वभाव से ही अपने उद्गारों को व्यक्त करने वाले जीव नहीं हैं[1] अत उनकी

[1] योरोप के रोमाटिक कवियो में भावानात्मक उत्साह Expense of enthusiasm पूरी मात्रा में मिलता है। कीट्स, शैली, बायरन, की कविता इसका प्रमाण है। पन्त में अन्य सारी प्रवृत्तियाँ सुरक्षित हैं परन्तु 'जोश' का अभाव है। प्रसाद व निराला में भावनात्मक उत्साह पन्त से अधिक पाया जाता है। निराला में तो उद्गार व्यक्त करने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है, इसका कारण यह है कि, 'प्रसाद' पर योरोप का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा था, निराला को अलबत्ता बँगला के माध्यम से वह मिल चुका था (जुही की कली प्रमाण है, इसमे भी भावनात्मक उत्साह कम है, चित्रण की बारीकी व कल्पना का प्रयोग अधिक) अत 'प्रसाद' के काव्य में सस्कृत की प्रवृत्ति सर्वाधिक रूप से सुरक्षित है, इसीलिए 'प्रसाद' की शैली के क्षेत्र

प्रारम्भिक व सभी कविताओं में भावना का अभाव मिलता है। यों अपवादस्वरूप कविताएँ बराबर मिलती है, परन्तु निर्णय तो समग्र रूप से देख कर ही किया जाता है।

विस्मय की भावना के दो रूप योरोप के रोमाटिक काव्य व छायावादी काव्य में दिखाई पड़ते हैं। प्रथम रूप तो हम ऊपर दिखा चुके हैं, प्रकृति को विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखने वाले रूप को। दूसरा रूप सर्ववादी चेतना के परिणाम स्वरूप दिखाई पड़ता है। प्रकृति के पीछे छिपी रहने वाली सत्ता के सम्बन्ध मे कौतूहल की अभिव्यक्ति प्रत्येक रोमाटिक व छायावादी कवि में दिखाई पड़ती है पन्तजी की पल्लव, गुञ्जन कालीन कविताओं में भी बराबर यह प्रवृत्ति दिखाई पडती है। कुत्सित नागरिक जीवन के प्रति विरक्ति के परिणामस्वरूप रूसो के "प्रकृति की ओर लौट चलो" नारे से रोमाँटिक कवियों मे प्रकृति के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ था जिसकी ओर क्लासीकल व रोमाँटिक युग की संधि-युग के कवि गोल्डस्मिथ, कूपर आदि संकेत कर चुके थे। वर्डसवर्थ, शैले व वायरन ने इस 'प्रकृतिवाद' को पूर्णता दी। दूसरा कारण था प्लेटो का सर्ववाद (Pantheism)। वर्डसवर्थ, कालरिज और मुख्यत' 'शैली' पर सर्ववादी चेतना का अप्रतिम प्रभाव था अत' शैली के प्रकृति वर्णनों मे प्रकृति के पीछे छिपी हुई सत्ता के सम्बन्ध मे जिज्ञासा के भाव एवं कभी-कभी उस सत्ता के साथ रहस्य की भावना के दर्शन होते हैं।[1]

अर्थात् विस्मय व रहस्य भावना के दो कारण थे—भ्रष्ट नागरिक जीवन से घृणा तथा सर्ववादी चिन्तन का प्रभाव।

में छायावाद का महत्त्व अधिक स्वीकार करते थे। वे इसीलिए 'विच्छित्ति' को ही छायावाद कहते रहे 'यद्यपि वेदना की विवृति' आदि कवि के वैयक्तिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को छायावाद के लिए आवश्यक मानते थे—

देखिए "काव्य-कला और निबन्ध"—प्रसाद

[1] His love for her (Nature) became Spiritualised and Coexistant with the love of man He found in Nature a deep mystic Significance

—A History of English Literature.

पन्तजी ने रोमांटिक कवियों को पढ़कर प्रकृति से प्रेम करने की प्रेरणा ग्रहण की और चूँकि द्विवेदी-युग केवल वर्णन व विवरण का युग था अत उस समय प्रकृति के प्रति यह दृष्टिकोण सर्वथा नवीन था। अत कालरेज व वर्ड्सवर्थ के Lyrical ballads ने जो कार्य अंग्रेजी मे किया, वही कार्य हिन्दी काव्य मे 'पल्लव' की भूमिका व काव्य ने।

दूसरी ओर पन्तजी पर रवीन्द्र, विवेकानन्द का अप्रतिम प्रभाव था और रवीन्द्र सिद्धान्तत सर्ववादी थे—प्रकृति के माध्यम से अलक्षित चिरन्तन, अव्यक्त सत्ता के रहस्य को व्यक्त करने वाले। अत पन्तजी के काव्य मे भी सर्ववादी चेतना बराबर मिलती है परन्तु जिस प्रकार रोमांटिक काव्य मे सर्ववादी चेतना सौन्दर्य बोध के विरुद्ध न पड़कर उसकी सहायक ही बनी क्योंकि उसके प्रति जिज्ञासा या संकेत मात्र ही व्यक्त होते रहे। 'ब्लेक' की तरह 'शैली' ने रहस्यवाद से ओत-प्रोत कविताएँ नहीं लिखीं, उसी प्रकार पन्तजी का सर्ववाद एक दार्शनिक का स्वर धारण न कर सका। वह प्रारम्भिक काव्य मे रहस्यवादी कवि के रूप में उस मात्रा मे नही आते जिस मात्रा में प्रसाद व महादेवी तथा 'गीतिका' मे निरालाजी दिखाई पडते हैं। चूँकि निराला पर रवीन्द्र का अत्यधिक प्रभाव था अत 'गीतिका' व 'अनामिका' के अनेक गीतों मे निराला का रूप शुद्ध रहस्यवादी दिखाई पड़ता है। 'परिमल' की कविताओं में निराला का जैसा दार्शनिक रूप व्यक्त होता है, वीणा पल्लव की कविताओं मे पन्तजी का रूप नहीं दिखाई पड़ता। मतलब यह है कि पन्तजी ने पल्लव-काल की कविताओं में रहस्य के स्पर्शों का जिज्ञासा व कौतूहल का वर्णन अवश्य किया है परन्तु साम्प्रदायिक रहस्यवादी रूप उन्हे नही प्राप्त हो सका जैसा कि नूतन काव्य युग मे उन्हे प्राप्त हुआ। रहस्य के सम्बन्ध में विस्मय की भावना यत्र-तत्र उनसे अवश्य व्यक्त हुई है यथा निम्नलिखित उदाहरणों मे—

जिज्ञासा— न जाने कौन अये द्युतिमान
जान मुझको अबोध, अज्ञान
सुझाते हो, तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रों में गान
अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

—"मौन निमन्त्रण"

पुनश्च

मानस की फेनिल लहरों पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
रजत-स्वर्ण में लिखतीं अविदित
तारक लोकों की शुचि बात ?

रहस्य स्पर्श— कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ा कर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर, मुझको उस पार,
नहीं रखती जग का मैं ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान !
रोकने पर भी तो सखि ! हाय !
नहीं रुकती तब यह मुस्कान !

'सर्ववाद' का दूसरा रूप प्रारम्भिक कविताओं मे एक दूसरे प्रकार मे भी देखा जा सकता है। जिस प्रकार 'प्रसाद' जी अपने लौकिक वियोग को अलौकिक बनाया करते थे उसी प्रकार पन्त जी के काव्य "ग्रंथि" मे भी लौकिक प्रेम को सृष्टि व्यापी विरह के रूप मे आगे की कविताओं मे चित्रित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। कवि व्यक्तिगत विरह मे अश्रु बहाता है, काव्य का मुख्य कारण भी वेदना को स्वीकार करता है परन्तु वह जायसी की तरह, रवीन्द्र व प्रसाद की तरह सर्वत्र उसी वेदना से प्रकृति के कण-कण को व्यथित पाता है—

विश्व वाणी ही है क्रन्दन—
विश्व का काव्य अश्रुकन ।

और फिर

गगन के भी उर मे हैं घाव
देखतीं ताराएँ भी राह
बँधा विद्युत-छवि मे जलवाह
चन्द्र की चितवन मे भी चाह
दिखाते जड़ भी तो अपनाव
अनिल भी ठण्डी भरती आह (आँसू)

दार्शनिकता व रहस्य की प्रवृत्ति गुञ्जन की कविता मे बढ़ती है। पर उसकी चर्चा हम बाद को करेंगे।

इस प्रकार विस्मय-भावना के दोनों रूप पन्त जी के प्रारम्भिक काव्य मे दृष्टिगोचर होते है। वस्तु को देखकर जब केवल वाह्य रूप का अंकन होता है, या मात्र उद्दीपन या पृष्ठभूमि के रूप मे उसका चित्रण होता है तो विस्मय का यह रूप कवि में नही दिखाई पड़ता। कल्पना सौन्दर्य का भी आधार है और दर्शन का भी। वस्तु के साथ कल्पना का सयोग होते ही वस्तु का वास्तविक रूप (उपयोगी, अनुपयोगी) छिप जाता है, उसका मनमोहक रूप (जो भी कवि को प्रिय हो) हमारे सम्मुख आजाता है, यह हम कह चुके हैं। और जिस प्रकार शिशु वस्तु को उलट पुलट कर देखता और उसके सम्बन्ध में जानना चाहता है, जिस प्रकार उसके मन मे "क्या है" यह भावना छिपी रहती है उसी प्रकार दार्शनिक विस्तृत जगत को देखकर अनेक प्रश्नों से सहसा ही सयुक्त हो जाता है और जब विज्ञान और बुद्धि उसका उत्तर नहीं दे पाती तो दार्शनिक अपनी कल्पना से अधिक से अधिक बुद्धि सङ्गत (अपनी शक्ति भर) व्याख्या सोचता है। अपनी व्याख्या के विरुद्ध जाने वाले तर्कों को सोच सोचकर अपनी व्याख्या को अधिक से अधिक बुद्धि सङ्गत बनाता है। परन्तु 'दार्शनिक' की विचारधारा का आधार कल्पना ही होती है। अत. वस्तु पर होने वाली कवि-शिशु की प्रतिक्रिया व दार्शनिक-शिशु की प्रतिक्रिया में इस दृष्टि से कोई अंतर नही है। चूँकि सर्ववादी चेतना ऐसा ही काल्पनिक समाधान था, जिसे प्राचीन दार्शनिकों ने कल्पित किया था, जो निश्चित रूप से वैज्ञानिक कम कवित्वमय अधिक था अत प्रकृति के प्रति विस्मय की भावना की स्थापना मे सर्ववादी चेतना ने और भी सहायता की। अत पन्तजी की कविता मे रोमाँटिक कवियों की तरह प्रकृति के प्रति विस्मय की भावना व सर्ववादी भावना दोनों के दर्शन होते हैं। यह सर्ववादी भावना दार्शनिक विचारधारा के रूप मे तो द्विवेदी युग के कवियों हरिऔध, गुप्तजी आदि के पद्यो मे जब तब व्यक्त होती थी। परन्तु जिस प्रकार छायावादी कविता में प्रकृति के प्रति विस्मय की भावना व जगत के प्रति विस्मय की भावना तथा एक ही वस्तु मे दोनों का सामञ्जस्य हो सका था, एक ही लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम का भी पर्याय हो सका था, वह कभी भी

पिछले काव्य मे सम्भव नही हो सका। अत. छायावादी काव्य पिछली कविता से कट कर अलग हो गया था।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि रोमाण्टिक कविता की मुख्य भावना 'विस्मय' है। विस्मय विमुग्ध दृष्टि से ही सामान्य में असामान्य सौन्दर्य के दर्शन हो सकते हैं। मैंने विस्मय का सम्बन्ध कल्पना से दिखलाया है। कल्पनात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता होने पर ही यह विस्मय उत्पन्न होता है। प्रश्न यह है कि क्या विस्मय व कल्पना एक वस्तु हैं ? उत्तर होगा, कल्पना का परिणाम विस्मय है और विस्मय का परिणाम 'आनन्द'। वस्तु के प्रति भावात्मक सम्बन्ध की प्रक्रिया में, यह वस्तु मेरी है, यह वस्तु मेरी नही है, यह सुखकर है, वह दुखकर है आदि अनुभव होते हैं। इस प्रकार वस्तु को देख कर सुखात्मक भावना भी उत्पन्न हो सकती है और दु.खात्मक भावना भी। पर ऐसी अवस्था मे वस्तु प्रधान नही होती। जीवन का सङ्घर्ष तथा उस सङ्घर्ष मे मनुष्य की मानसिक स्थिति मुख्य होती है। 'प्रिय' निकट है, तो सयोग की अवस्था है। इस अवस्था मे परिस्थिति आनन्दमय है। अत. इस स्थिति में प्रकृति की वस्तुओं को देखते समय वस्तु मुख्य नही, सयोगावस्था मे उत्पन्न मानसिक स्थिति मुख्य है। अत. वस्तु भी सुखकर प्रतीत होगी। उससे सुख की भावना उद्दीप्त होगी—पुष्प हँसता हुआ, चन्द्रमा मुस्कराता हुआ, पल्लव पास बुलाता हुआ, लहर स्नेह का सन्देश देती हुई, ज्वार प्रेमिल उद्‌गारों को प्रकट करता हुआ—इसी सयोग की परिस्थिति में दिखाई देगा। दु.खात्मक स्थिति में, शोक विरह आदि में प्रकृति दुःख का उद्दीपन करेगी। ऐसी स्थिति में मानसिक स्थिति मुख्य है, वस्तु गौण। परन्तु जब हम किसी ऐसी मानसिक स्थिति विशेष में नही होते, उनसे तटस्थ रहते हैं और किसी वस्तु को देखते हैं और उसमे सौन्दर्य की खोज करते हैं तो कल्पना की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है अर्थात् हम उस वस्तु मे सौन्दर्य का सृजन करते हैं, चाहे वस्तु में सौन्दर्य न भी हो, यह दृष्टिकोण विषयीगत सौन्दर्य होगा। सौन्दर्य कवि के मन मे स्थित है, उसे वह कल्पनात्मक प्रक्रिया मे वस्तु पर प्रक्षिप्त करेगा। अत सामान्य व असामान्य, सुन्दर, असुन्दर दोनो वस्तुओ मे अनेकानेक सौन्दर्य-राशियो का सृजन होता जायगा। फलत. इस स्थिति मे वस्तु के प्रति 'अद्‌भुत' की भावना जग जायगी और 'अद्‌-

भुत' की भावना का संयोग होने से आनन्द की उत्पत्ति होगी। संस्कृत के एक अलङ्कारवादी आचार्य ने जब सारे आनन्द का स्रोत 'अद्भुत' को माना था (भामह ने) तो जैसे अज्ञात रूप से वह कल्पनाजन्य आनन्द पर ही विचार कर रहा था।

कुछ विद्वान् रोमाण्टिक काव्य का आधार कल्पना से अधिक 'विस्मय' को मानते हैं। वह तो ठीक है, परन्तु विस्मय व कल्पना का सम्बन्ध नहीं दिखाते, इससे उलझन उत्पन्न होती है, क्योंकि यदि रोमाटिक काव्य मे केवल असामान्य को देखकर उससे उत्पन्न 'अद्भुत' की भावना का चित्रण होता तब तो कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता (क्योंकि 'अद्भुत' को हमारे यहाँ भी एक स्थायीभाव माना गया है) परन्तु इस स्थायीभाव की सीधी प्रतिक्रिया छायावादी काव्य पर लागू नहीं होती। राम महान हैं, उनमे शिव, सत्य और सौन्दर्य का योग है, उन्हे देखकर कोई भी व्यक्ति चमत्कृत होजाता है और वाल्मीकि व तुलसी भी चमत्कृत हो जाते है। अत' उनके गुणों, स्वभाव व शील का चित्रण करते समय अद्भुत भावना का वर्णन पाठकों मे 'अद्भुत' रस का साधारणीकरण कर देगा। परन्तु रोमाण्टिक प्रवृत्ति मे एक बात और अधिक यह है कि इसमें सामान्य में असामान्य का दर्शन कैसे हो जो विस्मय की भावना जागृत हो जाय—यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका एकमात्र उत्तर यह है कि सामान्य वस्तु को कल्पना की आँखों से देखिए। अनन्त सौन्दर्य वस्तु मे उत्पन्न हो जायगा और फलत. विस्मय की भावना जागृत हो जायगी और तब आनन्द की उत्पत्ति होगी। रोमाण्टिक प्रवृत्ति यही है। अत विषयीगत सौन्दर्य (Subjective beauty)[1] में सौन्दर्य का सृजन कवि करता है, वह केवल वस्तु मे प्राप्त स्वाभाविक सौन्दर्य का ही चित्रण नहीं करता (यद्यपि इसे भी करता है)। अत. कल्पना के आधार पर विस्मय की भावना विषयीगत सौन्दर्य की जननी है। इसमे कवि अपने 'स्व' का वस्तु पर आरोपण करता है और तब अनेक छवियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रक्रिया में किलक. कौतूहल, जिज्ञासा, विस्मय, वैचित्र्य आदि भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। पन्तजी की बालविहङ्गिनी, नक्षत्र, स्याही की बूँद आदि रचनाओं में यह प्रक्रिया देखी जा सकती है।

[1] Beauty lies in the mind of the beholder.

'विस्मय' व 'विचित्र' की भावना के मूल में ज्ञान प्राप्त करने की भावना भी रह सकती है। दार्शनिक विश्व को इसी दृष्टि से देखना है। विराट व विविधतापूर्ण विश्व को देख कर विचारक के मन में जो विस्मय की भावना उत्पन्न होती है, क्या उसका कोई रूप रोमाण्टिक कवियों में पाया जाता है ? उत्तर होगा, अवश्य पाया जाता है क्योंकि जैसा पहले कहा गया, रोमाण्टिक काव्य के पीछे सर्ववादी चिन्तन था। विराट विश्व को देख कर महत् आश्चर्य की भावना की प्यास सर्ववादी चिन्तन से ही पुष्ट होती थी। अत 'बुद्धयात्मक कौतूहल' (Intellectual curiosity) भी रोमाण्टिक कवियों की मुख्य विशेषता है। इस बुद्धि-गत कौतूहल व कल्पना-गत कौतूहल मे सूक्ष्म अन्तर दिखाई पडता है। कल्पना-जन्य कौतूहल में प्रथम कवि कल्पना के द्वारा वस्तु को देखता है तब विस्मय-भावना उत्पन्न होती है। इसके लिए वस्तु भी विराट हो, सुन्दर हो, विचित्र हो, अद्भुत हो—यह अनिवार्य नही, परन्तु 'बुद्धिगत कौतूहल' तब जगता है जब कि विराट विश्व मे विविधात्मकता देख कर जब हम उसे जानना चाहते हैं, या वस्तु मे प्राप्त स्वाभाविक और मूर्त (Objective) सौन्दर्य को देख कर जब हमारे मन मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह 'सौन्दर्य' अन्तत. कहाँ से आ रहा है, इसका कारण क्या है ? यह है बुद्धयात्मक कौतूहल, शैली, कीट्स, बायरन, वर्डस्वर्थ सभी में यह कौतूहल दिखाई पड़ता है, चूँकि सौन्दर्य का मूल खोजने की प्रबल प्यास कवि के मन मे जगती है अत उस मूल स्रोत के जानने की भावना जाग्रत हो जाती है, जिसका समाधान 'प्लेटो' ने योरोप मे तथा 'अद्वैतवाद' ने भारतवर्ष मे किया था। सभी छायावादी कवि अद्वैतवादी हैं। एक ही चेतना का सर्वत्र दर्शन करने वाले, विवेकानन्द, रामतीर्थ, रवीन्द्र ने इस अद्वैतवाद की छायावादियों को यह दृष्टि दी थी और फिर प्रसाद, महादेवी, पन्त ने स्वय उपनिषदों आदि का मनन किया था। अत बुद्धयात्मक कौतूहल भी छायावाद की प्रमुख विशेषता है।

सामान्यत छायावादी कवि बुद्धि-गत कौतूहल की परिधि मे ही रहता है किन्तु जहाँ वह आगे बढता है और उस अलक्षित सत्ता के अस्तित्व को वस्तु के पीछे केवल आभास के रूप में न देख कर उससे तादात्म्य करना चाहता है, या उससे मिलन व विरह की अवस्थाओं

का वर्णन करता है, वहाँ रहस्यवाद की स्थिति आ जाती है। छाया-वादी कविता में ऐसी रहस्यवादी रचनाएँ अनेक हैं। अत मानसिक-स्थिति की दृष्टि से ऐसे स्थानों पर हमें छायावाद को रहस्यवाद से अलग करना चाहिए। सामान्यत छायावाद में दोनों प्रकार की कविताओं को परिगणित कर लिया जाता है जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल व डा० रामकुमार वर्मा ने किया है। बुद्धिगत कौतूहल के उदाहरण के लिए पन्तजी की 'मौन निमन्त्रण' कविता उपस्थित की जा सकती है।

इस 'विस्मय' की भावना के लिए सामाजिक स्थिति उत्तरदायी है। भारत में अँगरेजों के आने के पश्चात् औद्योगीकरण से, अँगरेजी शिक्षा के माध्यम से, 'मशीन युग के सौन्दर्य-बोध' के प्रचार से, प्राकृतिक दर्शन (Natural philosophy) के प्रति बढ़ते हुए आकर्षण से, नवीन सामाजिक व्यवस्था के बन्धनों से ऊब कर प्रकृति के अञ्चल में शरण खोजने की भावना से, बढ़ते हुए विज्ञान के प्रति प्रेम से यह विस्मय की भावना उत्पन्न हुई थी। छायावाद पूँजीवादी व्यवस्था की प्रथम अवधि अर्थात् सामन्तवाद को तोड़ने वाले पूँजीवाद के प्रगतिशील युग की कविता का युग था अत उसमें सामन्ती मान्यताओं के विरुद्ध अनियन्त्रित विद्रोह की भावना मिलती है। सामन्ती समाज से विद्रोह करने वाला कवि जब किसी ठोस विचार-दर्शन को सम्मुख नहीं पाता तो वह प्रकृति की शरण खोजता है। उधर 'रूसो' ने प्रकृति की ओर लौट चलने का नारा लगाया भी था उससे भी छायावादी कवियों को प्रेरणा मिली। अत छायावाद में प्रकृति को जानने की, प्रकृति के प्रति तादात्म्य की, उसे अपने-अपने सुख-दु.ख की माध्यम बनाने की, उसके सौन्दर्य के विश्लेपण की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है।

वैयक्तिकतावाद (Individualism):—व्यक्तिवाद का आधार व्यक्तित्व की, दृष्टिकोण की, भावना की, प्रतिक्रिया की निरपेक्षता है। व्यक्तित्व तब व्यक्तिवाद का शिकार होता है जब व्यक्ति चिन्तन-प्रक्रिया का केन्द्र केवल अपने 'स्व' को बनाता है। अपने को निरपेक्ष महत्त्व देने का परिणाम असन्तुलित जीवन-पद्धति है। व्यक्तिवाद का शिकार व्यक्तित्व अपने 'स्व' के चारों ओर एक असम्भावनीय गरिमा, अपरिमित सेवा, अनन्त सम्मान, अतिशय संवेदना, दुर्दमनीय अहं को लपेट लेता है। फलत व्यक्तिवाद समाज के अन्य समान

मेधा वाले व्यक्तियों से भी अपने को कुछ अनुपम स्थिति मे पाता है। यह स्वाभिमान की स्थिति नही है, अपरिमित अभिमान की स्थिति है। ऐसे व्यक्तियों मे असाधारण अह का स्फुरण हो जाता है और ऐसे व्यक्ति समाज मे अपना सामञ्जस्य नही खोज पाते। फलत' व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का विकास होने लगता है, ऐसी विचार-प्रक्रिया का विकास होता है जो पूर्व की विचार-प्रक्रिया के विपरीत होती है, और विचार की ऊष्मा भावना की ऊष्मा मे बदल जाती है। व्यक्ति-वादी की भावना का ज्वार भी तत्कालीन समाज के लिए असहनीय हो उठता है। अत व्यक्तिवादी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के लिए, अपने दृष्टिकोण के लिए, अपनी भावना के लिए चारों ओर से लाछित होता है परन्तु इसमे व्यक्तिवादी व्यक्ति का अह कचोट खाकर और भी अतिवाद की ओर अग्रसर होता है। ऐसा व्यक्ति स्वस्थ, सन्तुलित विचार-दर्शन के अभावस्वरूप जब समाज को अपने अनुकूल नही बना पाता तो उसके मन मे खीझ, निराशा, पलायन की भावना सहज ही उत्पन्न होने लगती है। परन्तु इनसे भी उसका अहं दमित नही होता वह भविष्य के स्वप्नों मे निमग्न हो जाता है, वह काल्पनिक स्थिति में जीवित रहने लगता है, विचित्र स्वप्नों को सृष्टि करता है। वह वस्तुत विश्वास करता है कि इसी ओर संसार का विकास हो रहा है, इसी दिशा की ओर बढने में मानवता का कल्याण निहित है। वह समाज से जो माँग करता है और वह जब समाज पूरी नही करता तो उन वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए समाज को त्याग कर ऐसे लोक मे बसना चाहता है जहाँ "वह और उसकी इच्छा पूर्ति के साधन" ही रहे। इसी को पलायनवाद, कहा जाता है।

छायावादी 'व्यक्तिवाद' का विकास सामन्तवादी परिस्थि-तियों के विद्रोह के रूप मे हुआ था। २० वी शताब्दी के प्रथम दशक के बाद व्यक्तिवाद के दर्शन साहित्य मे दिखाई पड़ते है। यद्यपि भारत के ग्रामों मे सामन्तवादी प्रथा सामन्तवादी वातावरण आज तक पाया है परन्तु नगरों मे औद्योगीकरण के कारण पूँजीवाद का विकास अँगरेजों के राज्य मे अवश्य हो रहा था साथ ही आधुनिक सहशिक्षा, वैज्ञानिक शिक्षा, नए उद्योग-धन्धों की नई व्यवस्था सरकारी, नौकरियाँ, औद्योगीकरण के फलस्वरूप नए सामाजिक सम्बन्ध आदि परिस्थितियों ने मध्ययुगीन सामाजिक

सम्बन्धों मे परिवर्तन करने की समस्या को उत्पन्न कर दिया था परन्तु सामन्तकालीन मान्यताएँ जर्जर रूढ़ियों के रूप मे तत्कालीन समाज मे अपना घर कर चुकी थीं। अत. योरोप के पूँजीवाद के अभ्युदय के युग में उत्पन्न होने वाली रूसो, गाडविन की विचारधाराओं से प्रभावित रोमाण्टिक कवियों की कविताओं के पाठ से तथा रवीन्द्र के प्रभाव से द्विवेदी युगीन आचारवादी, सुधारवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध छायावादी कवियों ने विद्रोह किया। पूँजीवाद का आधार व्यक्तिवाद होता है, व्यक्ति निजी साहस के बल पर बड़े-बड़े कारखाने खड़ा करता है, व्यापार पर एकाधिकार करना चाहता है, बड़े जमीदार व सामन्त इसमे बाधक होते हैं जिन्हें मध्य-युग मे ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। उद्योग मे स्त्री-पुरुषों के श्रम को खरीदा जाता है। सामन्त-युग में नारी व्यक्तित्व विहीन होती है, उसे श्रम के अधिकार का तो प्रश्न ही नहीं, पति की मृत्यु के पश्चात् जीवित रहने का भी अधिकार नहीं होता। पति की विलासिता की भावना को सतुष्ट करने, पुन्नाम नर्क से उद्धार करने तथा सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही नारी पुरुष से आर्थिक संरक्षण पाती है। स्पष्टत ये भावनाएँ पूँजीवाद के विकास के लिए घातक है। उच्छिन्न यौन सम्बन्ध सामन्तवाद मे वर्जित होते हैं। जाति, बिरादरी, वर्ण आदि के बन्धनों मे विवाह प्रथा सीमित हो जाती है, पूँजीवाद के लिए यह भी खतरनाक है क्योंकि व्यक्ति को बिना इस प्रकार की स्वतन्त्रता दिए हुए उद्योगो का कार्य चल ही नहीं सकता। वर्ण व जाति के बन्धन श्रम बेचने के लिए मनुष्य को रोक देते है, विशेषत. उन उच्च वर्ण वालो को जो दूसरे वर्णों पर महत्त्व स्थापित कर लेते हैं। अत इस वर्ण, जाति की मान्यता को भी समाप्त कर देना अनिवार्य हो जाता है। संयुक्त परिवार प्रथा भी उद्योगों के विकास में महान बन्धन है जो सामन्तवाद का मुख्य आधार रही है, क्योंकि इस प्रथा मे सभी व्यक्ति व सभी स्त्रियाँ कार्य करने पर विवश नहीं होतीं, औद्योगीकरण के लिए तो श्रम चाहिए और संयुक्त परिवार प्रथा मे कुछ व्यक्तियों के श्रम पर ही अन्य सदस्य अवलम्बित होते हैं। इसीलिए संयुक्त परिवार प्रथा में विनय, अनुशासन एक दूसरे के लिए त्याग तथा भोजन, वस्त्र, प्रेम आदि की स्वतन्त्रता को कम से कम करने की शिक्षा दी जाती है। पूँजीवाद में इसलिए "वैयक्तिक स्वतन्त्रता" का स्वर तीव्र होता है।

सामन्तों के अधीन अर्ध-दासों जैसे कृषकों व भूमिहीन सेवकों को स्वतन्त्रता देने के लिए पूँजीवाद प्रतिज्ञाबद्ध होता है।

अत औद्योगीकरण के विकास की मुख्य आधार-शिला है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता। प्रत्येक क्षेत्र मे जब तक वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं दी जाती तब तक न तो सामन्तवादी व्यवस्था से, सामन्तवादी संस्कारों से जनता की मुक्ति ही हो सकती और न श्रम की खरीद ही सम्भव हो सकती है। अत पूँजीवाद के प्रारम्भिक सोपानों मे 'अहं' भावना का विकास होता है—दुर्दमनीय अहं जो सामन्तवाद की मान्यताओं से मुक्ति दिलाने के लिए आवश्यक है। साहित्य में, कला मे विद्रोह की पुकार तीव्र हो जाती है। झटके से पूँजीवादी युग सामन्ती बन्धनों को तोडने के लिए एक आवेग उत्पन्न करता है। और यह 'आवेग व अह' सर्वत्र साहित्य मे ध्वनित होने लगता है।

किन्तु यह पूँजीवाद के विकास की सामान्य कहानी है। भारत मे पूँजीवाद का विकास धीरे-धीरे हुआ। देशी राज्यों में गति प्राय अत्यधिक मंद रही। परन्तु तो भी अँगरेजी शासन में सामन्तवाद से देश आगे बढा। अत बदली हुई परिस्थितियों में जागृत मस्तिष्कों को योरोप का रूमानी काव्य जिसने इँगलैण्ड मे सामन्तवाद के नाश में अज्ञात रूप से सहायता दी थी, पढ़ा गया। अत. यहाँ भी वैसे ही अहं-आवेगवादी—कल्याणवादी—विद्रोहवादी व्यक्तित्त्व दिखाई पडने लगे। परन्तु इँगलैण्ड के रोमानी कवियों व हिन्दी के रोमानी कवियों मे एक अन्तर यह रहा कि यह देश पराधीनता से पीड़ित था अत यहाँ रोमानी उल्लास व उमंग के साथ प्रकृति की सुन्दरता का अङ्कन तो किया गया, वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्रचण्ड पुकार भी उठाई गई परन्तु निराशा, पराजय, पलायन, पुनरुत्थानवाद के स्वर अपेक्षाकृत छायावादी काव्य मे अधिक सुनाई पड़ने लगे। व्यक्तिवाद गा रूढिवाद का घोर शत्रु तो होता है परन्तु जब समाज मे निराश होता है तो स्वप्न व पलायन की ओर जाता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है परन्तु राजनैतिक पराजय ने निराशा के स्वर को और भी तीव्र कर दिया। अत. दिवा-स्वप्नों के साथ-साथ दिवान्धता को भी प्रश्रय मिला और इसलिए द्विवेदी-युग की आचारवादी प्रवृत्ति के प्रतिकूल जो उन्मुक्त प्रेम का आक्रोश उत्पन्न हुआ उसकी ऊष्मा न सह पाकर प्रकृति के माध्यम से ही अपने सुख-दुःखों को

व्यक्त करने के पन्थ पर आगे बढ़ते गए—विचार जब कल्पना व आवेग का पथ-प्रदर्शन नहीं करता तो कल्पना स्वैरिणी हो जाती है और आवेग उन्माद में बदल जाता है। उत्तरकालीन छायावादी काव्य में यही स्थिति दिखाई देती है।

इस सामाजिक पृष्ठभूमि के समझ लेने के पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि क्यों निराला, पन्त, प्रसाद व महादेवी और उसके बाद बच्चन, नरेन्द्र की कविताओं का केन्द्र 'मैं' बन गया। पूँजीवाद इस 'मैं' के चारों ओर ही कवि को घूमने के लिए विवश कर देता है क्योंकि कवि, समाज के एक सदस्य होने के नाते सामन्ती मान्यताओं को बर्दाश्त नहीं कर पाता। अतः वह अपनी आशा, आकांक्षाओं का, अपनी आंतरिक महत्त्वाकांक्षाओं, सामन्तवादी समाज की होने वाली प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है। वह चारों ओर कठोर अनुशासन देखता है। प्रेम के क्षेत्र में उसे साथी चुनने की स्वतन्त्रता नहीं, क्योंकि जाति, वर्ग, वर्ण आदि के बन्धन हैं। कार्य के क्षेत्र में भी असीम अंकुश है, विधि है, निषेध है, रूढ़ियाँ हैं, राजनैतिक परतंत्रता है। तब कवि अन्तर्मुखी होता जाता है और एक ओर तो खुल कर अपनी भावनाओं का वर्णन करता है और दूसरी ओर भविष्य के स्वप्न देखता है। प्रकृति को विस्मय की भावना से देखता है कि हे बाल विहगिनी! तूने यह गाना कहाँ से सीखा है, मुझे भी ऐसा ही उन्मुक्त गीत गाना सिखा दे। यह मानसिक स्थिति कवि की होती जाती है। चूँकि अँगरेजों से लड़ना है अतः अतीत पूजा आवश्यक है, राष्ट्रपिता की भावना की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। अतः कविता में एक ओर तो राष्ट्रीयता की पुकार मचती है। दूसरी ओर "भूतियों का दिगन्त छवि-जाल पुरातन काल" वर्णित होता है। तीसरी ओर आशा-निराशा, मिलन, विरह का आवेगमय आर्तनाद अभिव्यक्त होता है और जब आवेग की प्रतिध्वनि जड़ समाज से, साम्राज्यवादी सिंहासन से, समाज के बन्धनों में जकड़ी "पिया" की देहली से तथा स्थूल नियमों की शृंखलाओं से टकरा कर लौट आती है, कोई समाधान नहीं लाती तो कवि भविष्य के सुख स्वप्नों में (पन्त) मन के काल्पनिक आनन्द में (प्रसाद), रोग को ही औषधि मान कर संतुष्ट हो जाने में (महादेवी) तथा चिल्ला चिल्ला कर विक्षिप्त हो जाने में (निराला) मग्न होते जाते हैं। यह है पूँजीवादी युग में

वैयक्तिकतावाद की चरम परिणति, जो आज हमारे सन्मुख उपस्थित है। पूँजीवाद के प्रारम्भ में जिस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का कवि आह्वान करता है, वह छलना मात्र होती है क्योंकि पूँजीवाद सामन्ती बन्धनों से मुक्ति देकर एक अधिक दु:खदायी बन्धन में रखकर कवि को तड़पने के लिए छोड़ देता है और वैयक्तिकतावादी प्रवृत्ति समाज के बदलने के सक्रिय आन्दोलन में भाग न लेकर, वैयक्तिक आशा-निराशा व अहवाद को व्यक्त करते रहने के लिए मजबूर हो जाता है। अतः व्यक्तिवादी के लिए सङ्घर्ष से पलायन अनिवार्य हो जाता है। कामायनी में मनु इसीलिए काल्पनिक आनन्द के लिए "नर्तित नटेश" की ओर भागता है, पन्त जी अरविन्द के अञ्चल में शरण खोजते हैं और वस्तुत यह विश्वास करते हैं कि नया युग अतश्चेतना के मार्ग पर जा रहा है। महादेवी विरह का पग धीरे-धीरे उठाती हैं क्योंकि सदा गंतव्य पर पहुँचने का भय रहता है, क्योंकि उनकी यह समझ में ही नही आता कि गंतव्य पर पहुँच कर क्या होगा? यह दिशाहीनता वैयक्तिक अहंवादी के लिए अनिवार्य है।[1]

---

[1] "इस युग में मानवता की पीड़ा, परतन्त्रता और विवशता के विरुद्ध एक तीव्र भावावेश मिलता है, किन्तु प्रयत्नहीनता के कारण वह जैसे छटपटाहट, वेदना, टीस और कष्ट दायक "कुरेद" में बदल जाता है। एक ओर रोमांटिक कवि क्रान्ति का आवाहन करता है, दूसरी ओर प्रेम के उन्मुक्त गीत गाता है, प्रेम की प्रतिमा नारी को दिव्य, स्वर्गीय ही नहीं बल्कि उससे भी महान् सत्ता समझता है। उसके सौन्दर्य को कौतूहल, विमुग्धता व भावावेश से देखता है। इस दृष्टि की प्रतिक्रिया स्वरुप जीवन-संघर्ष से विलगाव की चाह को व्यक्त करता है। मनुष्य पर किसी भी प्रकार के बन्धन को वह असहनीय व हानिकर मानता है किन्तु जीवन व जगत के सम्बन्धों के प्रति उसका दृष्टिकोण घोर आदर्शवादी अतः एकांगी रहता है। अव्यवहारिक आदर्शवादिता का परिणाम एकांगिता होती ही है और उसके परिणामस्वरूप पलायनवादी साहित्य का जन्म होता है—"महाकवि निराला" —विश्वम्भरनाथ उपाध्याय पृष्ठ १७। काडवेल ने भी लिखा है कि पूँजीवाद के प्रारम्भ में जो स्वतन्त्रता कवि में आनन्द का सञ्चार करती थी, वही आगे उसके लिए बन्धन बन जाती है, अत पूँजीवादी परिस्थिति को और भी अधिक-प्रतिकूल समझ कर धीरे-धीरे कवि संघर्ष से पलायन करता जाता है।

जहाँ पूँजीवादी चिन्तनशीलता सामन्तवादी मान्यताओं का विरोध करती है, वहाँ वह सामन्तवादी कला के मापदण्डों का भी विरोध करती है, अपने से पूर्व छन्द, भाषा, अभिव्यञ्जना-पद्धति आदि सभी क्षेत्रों में कलाकार पूँजीवादी चेतना का घोर विरोध करता है। 'पल्लव' की भूमिका इसका ज्वलन्त उदाहरण है। मशीन-युग में सामन्तवादी स्थूल रीति-परम्परा पर विकसित काव्य-कला के स्थान पर हमें सूक्ष्म-सौन्दर्य-बोध (जिसका हमने पीछे विवेचन किया है) मिलता है। स्थूल अभिव्यञ्जना-पद्धति के स्थान पर बारीक कला का विकास होता है। स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह का यही सामाजिक कारण है। नूतन-शिल्प-विधान से कविता-कामिनी की सजावट में और बाजारों में किसी धनपति की नूतन टेकनीक से बनी हुई वस्तुओं से सजी दूकानों में कोई अन्तर नहीं होता। जिस प्रकार पुराने चर्खे. दीपक, हल तथा ऐसी ही अन्य सामग्री के स्थान पर नई मशीनें आ जाती हैं वैसे ही आन्तरिकता प्रधान कवि की अभिव्यक्ति में नूतन सूक्ष्म-सौन्दर्य का विकास होता है। जिस प्रकार सामन्तवादी हल, चर्खे आदि पर लगने वाले नियमों से हम नवीन मशीनों का मूल्याङ्कन नहीं कर सकते, ठीक उसी प्रकार सामन्त-काल में विकसित नायिकाभेद, नख-शिख वर्णन, उद्दीपनवाद, परकीयावाद, अष्टयामवाद आदि बाहरी परम्परावाद से उस नूतन काव्य का मूल्याङ्कन नहीं हो सकता और न द्विवेदी युग के उपदेशवाद, विधि-निषेधवाद, इतिवृत्तवाद आदि के द्वारा ही हम उस काव्य का मूल्याङ्कन कर सकते हैं।

इस परिस्थिति में रख कर पन्त के प्रारम्भिक-काव्य को देखने से स्पष्ट है कि पन्तजी एक वैयक्तिकतावादी अतः आदर्शवादी तथा कल्पनावादी कवि हैं। उनके आदर्शवाद का रूप तो प्रारम्भिक कविता में 'सर्ववाद' व 'प्रकृतिवाद' के रूप में मिलता है परन्तु उनकी वैयक्तिकतावाद की प्रतिध्वनि उनकी निजी भावनाओं की अभिव्यक्ति में देखी जा सकती है।

पन्तजी अपनी मानसिक स्थिति पाठकों के सम्मुख रखते हैं कि किस प्रकार वह अन्तर्मुखी वृत्ति के जागृत हो जाने के कारण, केवल सौन्दर्य की खोज में ही रत रह सकते हैं। कर्म की कठोरता वह नहीं सह सकते, वह गत-युग का आचार-वादिता व स्थूल ऐन्द्रियता के स्थान

पर सूक्ष्म सौन्दर्य के मधु की खोज कर सकते हैं। जहाँ सौन्दर्य बाह्य दृष्टि से दर्शित नही होता वहाँ भी अपनी सौन्दर्य दृष्टि से आन्तरिक सौन्दर्य का प्रक्षेपण कर नूतन सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं। कौतूहल व जिज्ञासा की मानसिक स्थिति मे रह कर जड प्रकृति के साथ "मिल कर गले जुड़ा ले प्राण" की भावना का विस्तार कर सकते हैं परन्तु फिर सङ्घर्ष के प्रकाश को न सह कर 'प्रियतम' मे अन्तर्धान होना चाहते हैं, यही उनका तन, मन, प्राण है, यही ध्यान है, यही अभिमान है, बस सङ्घर्ष का सामना वह नही कर सकते।

मधुरिमा के मधुमास !
मेरा मधुकर का-सा जीवन,
कठिन कर्म हैं, कोमल है मन,
विपुल मृदुल-सुमनों से विकसित,
विकसित है विस्तृत जग-जीवन,
यही हैं मेरे तन, मन, प्राण,
यही है ध्यान, यही अभिमान,
धूलि की ढेरी मे अनजान,
छिपे हैं मेरे मधुमय गान। —उच्छ्वास

वैयक्तिकतावादी कवि विरह की स्थिति में घोषणा करता है कि प्रथम कवि वियोगी अवश्य होगा और आँखों से चुपचाप कविता बहने लगी होगी। पूँजीवादी युग का भ्रम कितना स्पष्ट है। कविता मनुष्य के मस्तिष्क को एक विशेष प्रक्रिया से परिवर्तित करती है, प्रेम के गीत गाने से, हमारी भावना का उदात्तीकरण अवश्य होता है, गोपियाँ, नागमती, मीरा, महादेवी का विरह इसका प्रमाण है परन्तु यह एक बात हुई, जीवन की अनेक वृत्तियों पर यही नियम घटित कर देना अनुपयुक्त है। पर अतिवाद व्यक्तिवाद की पहली शर्त है।

वैयक्तिक सुख दुःख की अभिव्यक्ति सिद्धांत के रूप में—

हाय ! मेरा जीवन
प्रेम "औ" आँसू के कन
आह, मेरा अक्षय धन
अपरिमित सुन्दरता "औ" मन (उच्छ्वास—२)

निराशा—बुद्बुदों मे लहरों मे, मेरे व्याकुल गान।
फूट पड़ते निःश्वास समान, किसे हा ! पर उनका ध्यान

दु:खवाद—बिना दु:ख के सब सुख नि:सार
बिना आँसू के जीवन भार

पूँजीवादी व्यवस्था मे कवि सामाजिक सम्बन्धों को नहीं समझ पाता, अत: वह सामाजिक दु:ख को एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार कर लेता है, और वह सुख दु:ख के सामञ्जस्य को खोजता है, सामञ्जस्य खोजने की प्रवृत्ति 'गुञ्जन' में दिखाई पड़ती है। वैयक्तिक दु:ख का निदान जब कवि को नहीं मिलता तो वह उसे दूर करने का प्रयत्न नहीं करता अपितु उससे समझौता करता है। दु:ख को दूर करने के स्थान पर वैयक्तिक रूप से क्षमा, दया के प्रयोग द्वारा उसे दूर करने का उपाय समझाता है। यह वैयक्तिक दृष्टिकोण 'गुञ्जन' में सर्वत्र दिखाई पडता है। वैयक्तिक समाधान खोजने का परिणाम यह हुआ है कवि एकातिक साधना[1], ब्रह्म के साथ तादात्म्य तथा सर्ववाद को अपनाने पर जोर देता है। वह एक ओर तो "जीवन के मधु सचय" मे "उन्मन" दिखाई पडता है तो दूसरी ओर बिना दु:ख के विकल हो उठता है। वह समझता है कि दु:ख के बिना सुख-दु:ख की आँख मिचौनी कैसे पूरी होगी, समाधान भी बाहर नहीं है—

जीवन की लहर लहर से, हँस खेल खेल रे नाविक!
जीवन के अंतस्तल मे, नित बूड़ बूड़ रे नाविक!

—गुञ्जन पृष्ठ १०

अत: दु:ख का अपनाना ही एक मात्र शिक्षा है, दु:ख दूर करने का उपाय खोजना व्यर्थ है—"मै सीख न पाया अब तक सुख से दु:ख को अपनाना" कवि सामाजिक स्तर से हटकर इच्छा व इष्ट के प्राचीन द्वन्द्व मे उलझ जाता है। वह इच्छाओं के मिथ्यापन से उनके भ्रम को मिटा कर अद्वैतवाद की स्थिति में उड़ने लगता है। यह सुख-दु:ख बाहर नहीं है, मन के भीतर ही स्थित है—

निज सुख से ही चिर चञ्चल धन
मैं हूँ प्रतिपल उन्मन, उन्मन —गुञ्जन, पृष्ठ १८

पन्त आशावादी कवि हैं, यद्यपि उन्हे कोई समाधान नहीं मिलता, फिर भी जग के द्वन्द्वों से जनता को कभी तो मुक्ति मिलेगी ही, ऐसी उनकी आशा अवश्य है। परन्तु इस आशा का आधार तो ईश्वर

[1] तप रे मधुर मधुर मन—गुञ्जन

ही हो सकता है, निर्बल के बल राम यही हैं—

नव-आशा, नव-अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे।

'गुञ्जन' को तुलसी की 'विनय-पत्रिका' की परम्परा मे रख कर पढ़ना चाहिए। तुलसी को अनन्त-सत्ता पर अनन्त विश्वास था, वैयक्तिक दृष्टि किस प्रकार अनन्त शून्य की ओर ले जाती है, यह द्रष्टव्य है। ईश्वर एक सुन्दर विश्वास है और सुन्दर विश्वासो से ही जीवन बनता है। बहुत ठीक! यदि विश्वास निरपेक्ष है, समाज को बदलने की शक्ति यदि वैयक्तिक विश्वासों में है, सङ्गठित प्रयत्न मे नहीं, तो कहना ही होगा—

सुन्दर विश्वासों से ही, बनता रे सुखमय जीवन।

यदि सुन्दर विश्वास हों तो सर्वत्र ही सुन्दरता दृष्टिगोचर होने लगे। गुञ्जन के एक ओर सुख-दु:खवाद तथा दूसरी ओर इस सुन्दरवाद को देखकर इस भयङ्कर सामाजिक व्यवस्था पर कितना क्रोध उत्पन्न होता है जो व्यवस्था पन्त जैसे कलाकारो को कितनी मधुर छलनाओं की गोद मे सुलाकर केवल 'स्वप्न-दर्शन' सिखाती है। 'जो कवि मनुष्य से प्रेम करता है'[1], जो उसे सुन्दरतम मानता है वह उसकी अकिञ्चनता पर आँसू व हंसी के सामञ्जस्य का उपदेश देता है, सिर्फ इसलिए कि सुख दु:ख मन की कल्पनाएँ है। सुखी-दु:खी होना मन पर निर्भर है, किसी वाह्य व्यवस्था पर नहीं। ऐसी ही मानसिक स्थिति में अद्वैतवादी चिन्तन ने छायावादी कवियों को शरण दी थी जहाँ से सारे उत्तर मिल जाते थे। वाह्य परिस्थिति को अपरिवर्तित ही रखकर, सौन्दर्य, उल्लास व आनन्द मे मग्न होने के लिए सर्ववादी चिन्तन सर्वश्रेष्ठ है। 'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे जगत के क्रन्दन का यथार्थ चित्रण कवि करता है। यहाँ कवि दर्पण के समान अज्ञात रूप से जनता के दैन्य दु:ख का चित्रण कर जाता है परन्तु उस कविता का अन्त तो ब्रह्मानन्द मे तथा गुञ्जन का प्रारम्भ सुख-दु:ख के सामञ्जस्य मे होता है। पन्तजी के लिए ही नहीं, प्रसाद व महादेवी के लिए भी यही स्वाभाविक था। तीनों कवि सामञ्जस्यवादी, दु:खवादी और आनन्दवादी एक साथ! घोर वैयक्तिक कल्पना का अन्त यहीं होता है—

[1] गुञ्जन पृष्ट २८

कल्पना तुममे एकाकार—कल्पना में तुम आठो याम।
तुम्हारी छवि मे प्रेम अपार, प्रेम मे छवि अभिराम।

और प्रसादजी भी यहाँ पहुँचे थे—

सुख सहचर, दु ख विदूषक,
परिहास पूर्ण कर अभिनय।
सबकी विस्मृति के पट मे,
छिप बैठा था अब निर्भय।
—कामायनी—आनन्द सर्ग

सुख व दु ख मे सामञ्जस्य खोजना या सुख-दु ख को अभिनेता मान कर सुखात्मक भावनाओं की वैयक्तिक सृष्टि स्वीकार कर केवल उन्हे अभिनय रूपमें स्वीकार करना तथा उन्हे 'विस्मृति के पर्दे' मे छुपा-देना एक ही बात है। व्यक्तिवाद का परिणाम सर्वदा ऐसी ही एकाङ्गिता होती है। व्यक्तिवादी अपनी व्यक्तिगत आकाक्षाओं को सिद्धान्त वाक्य बनाकर कहने में अभ्यस्त होता है परन्तु कर्म के प्रवाह में डूब मरने के भय से वह उसमें नहीं कूदता—

आयेगी मेरे पुलिनों पर,
वह मोती की मछली सुन्दर ?
मैं लहरों के तट पर बैठा,
देखूँगा उसकी छवि जी भर। —गुञ्जन, पृष्ठ ६३

विचार की वैयक्तिकता के साथ-साथ अब भावना की वैयक्तिकता देखिए। छायावाद मूलत रोमाण्टिक काव्य है, प्रकृति के प्रति उसके कल्पनात्मक दृष्टिकोण की चर्चा हम कर चुके हैं। हमने यह भी कहा है कि छायावादी कवि प्रकृति को सुख-दु.ख की अभिव्यक्ति का माध्यम भी बनाता है। चूँकि छायावादी कवि रोमाण्टिक प्रेम-भावना को व्यक्त करना चाहते थे अत जहाँ उन्होंने प्रेम का विषय ब्रह्म को बनाया वहाँ भी प्रकृति के माध्यम से ही उसे व्यक्त किया और जहाँ लौकिक प्रेम की व्यञ्जना की, वहाँ भी प्रकृति के माध्यम से व्यक्त किया।

रोमानी कवियों में जैसा आवेग प्रेम को व्यक्त करते समय दिखाई पड़ता है वैसा अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ता; विशेषत. वियोग के चित्रण मे, यों मिलन जन्य स्थितियों का सूक्ष्म व सांकेतिक वर्णन

बराबर मिलता है। सामन्तवादी कविता—रीतिकालीन कविता—में नारी के स्थूल सौन्दर्य का वर्णन होता था, पुनर्जागरण के युग मे सुधारवादिता का स्वर तीव्र होता गया, भारतेन्दु युग तक किसी प्रकार रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ घिसटती रही परन्तु द्विवेदी-युग में नारियों को आर्यसमाजी दृष्टिकोण से देखा गया, समाज-सेविका के रूप मे। प्रिय-प्रवास की राधा इसका उदाहरण है, जहाँ प्रेमिका राधा आर्य-समाजी पाठशाला मे दीक्षित छात्रा सी जान पड़ती है। मध्ययुगीन वीरांगनाओं के चित्रण में केवल नारियों के दर्प की प्रशसा की गई है। सुधारवादी व आचारवादी युग मे प्रेम सम्बन्धों को व्यक्त करना असास्कृतिक मान लिया गया था। यह रीतिकालीन दृष्टिकोण के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी परन्तु छायावाद का प्रारम्भ प्रेम के उन्मुक्त चित्रण से हुआ ('प्रसाद' का प्रेम-पथिक और चित्राधार, 'निराला' की जुही की कली आदि कविताएँ द्रष्टव्य हैं)। छायावादी कवि का विद्रोह प्रेम से नही, स्थूल प्रेम से था। अत मानसिक प्रेम की व्यञ्जना मुक्त रूप से होने लगी। ऐसा प्रेम जिसमे रमणीयता की प्रशसा हो, नारी की गरिमा व गौरव की अभ्यर्थना हो, जिसमे प्रेमिका का स्पर्श स्वर्गिक माना जाय, जिसमे प्रेम-मदिरा की धारा गङ्गाजल से भी अधिक पवित्र स्वीकार की जाय, जिसमे नारी को दिव्य रूप में अङ्कित किया जाय, ऐसे प्रेम मे नख-शिख वर्णन की आवश्यकता नहीं थी। इस प्रेम में आवश्यकता थी, रूप की अनु-पमता, दिव्यता व रमणीयता के वर्णन की। छायावाद रमणीयता-वादी सम्प्रदाय है। नारी की भी रमणीयता प्रकृति की अन्य वस्तुओ की तरह प्रशसित हुई, नारी को भी विस्मय-विमुग्ध नयनों से देखा गया, जैसे युगों के पश्चात् पहली बार पुरुष ने नारी को देखा हो। प्रेम करने के अधिकार की मुक्त घोषणा की गई। निराला व पन्त मे उन्मुक्तता अधिक रही, विशेषकर निराला में। परन्तु 'प्रसाद' को व्रीडाभाव दबाता था। अत वह दूर से ही नारी के सौन्दर्य को देख कर मुग्धावस्था मे जैसे चुपचाप उसके रूप उतारते, प्रेम-निवेदन करने मे सकुचाते थे। महादेवी मे तो घुटन और भी अधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है। समाज के कठोर अनुशासन के युग मे प्रेम का ऐसा ही चित्रण सम्भव था, जिसमे नारी की मोहकता का, दिव्यता का, रम-णीयता का व महिमा का गान होता था परन्तु भोग की भावना से

पन्त व प्रसाद दोनों कवि भयभीत दिखाई पड़ते हैं। अतः छटपटाहट, मूर्च्छा, उन्माद, करुणा, कसक, जितनी प्रसाद व महादेवी में दिखाई पड़ती है उतनी निराला में नहीं।

पन्तजी में भी रमणीयता के अङ्कन का चाव अधिक मिलता है। इसीलिए प्रेम-भावना की इस सूक्ष्मता, सांकेतिकता तथा दैवीकरण के विरुद्ध वैयक्तिकतावादी कवियों—बच्चन, अंचल व नरेन्द्र में घोर प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार पन्त, निराला, प्रसाद, महादेवी के सीमित अहंवाद का रूप भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय आदि के असीमित अहंवाद में दिखाई पड़ता है जो पूँजीवाद के ध्वंसशील समय के कवि हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म व दमित प्रेम-भावना का और असामाजिक उन्मुक्तता का कुत्सिततम रूप "अञ्चल" की कविता में दिखाई पड़ता है।[1]

परन्तु प्रथम दौर के छायावादी, रीतिकालीन व द्विवेदी युगीन प्रवृत्तियों का विरोध करके भी तात्कालिक सामाजिक अनुशासन के कारण अपनी दमित प्रेम भावना को सांकेतिक रूप से, प्रकृति के माध्यम से, अलौकिक प्रेम-भावना के माध्यम से व्यक्त करते रहे। प्रसाद का 'आँसू' इस द्वन्द्व का साथ ही लौकिक को अलौकिक प्रेम में बदलने के कहीं सफल और कहीं असफल प्रयत्न का सुन्दर उदाहरण है। पन्तजी भी एक ओर लौकिक प्रेम का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर उसे अलौकिक भी बनाते हैं। यही प्रवृत्ति सन्धि-युग के कवि माखनलाल चतुर्वेदी में भी दिखाई पड़ती है। 'पल्लव' व गुञ्जन की अनेक कविताओं में प्रेम को सूक्ष्म, सांकेतिक व अलौकिक रूप में चित्रित करने का प्रयत्न बराबर मिलता है। नारी के सम्बन्ध में स्थूल प्रेम का कठोरतम विरोध 'पल्लव की भूमिका' में पाया जाता है, पन्तजी के दृष्टिकोण को समझने के लिए यहाँ एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

"शृङ्गार प्रिय कवियों के लिए शेष क्या रहा गया? उनकी अपरिमेय कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर नायिका के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से लिपट गई। बाल्यकाल से वृद्धावस्था पर्यन्त—जब तक कोई चन्द्रवदनि मृगलोचनी तरस खाकर उनसे 'बाबा' न कहदे—उनकी रस लोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल

[1] अपराजिता, मधूलिका आदि द्रष्टव्य।

नख से शिख तक, दक्षिणी-ध्रुव से उत्तरी-ध्रुव तक यात्रा कर सकी! एक ही शरीर-यष्टि में सारा ब्रह्माण्ड देख लिया! इन वीरों ने ऐसा सम्मोहन अस्त्र देश के आकाश में छोड़ा कि सारा देश कामिनीमय हो गया! आर्य नारी की एकनिष्ठ, निश्चल पवित्र प्रतिमा वासनाओं के असंख्य रङ्गविरङ्गी बिम्बों में बदल गई, जिनकी भूल भुलइयाँ में अपनी सरल सुशील सती को पहचानना कठिन होगया।

नारी के प्रति सामन्तवाद के वासनामय दृष्टिकोण की इससे अधिक कठोर भर्त्सना नहीं हो सकती, कुटनियों के जाल से प्रत्येक स्त्री अभिसारिका हो गई तब अपनी सरल सुशील सती कहाँ? पन्तजी ने यहाँ नारी के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण का पुनश्च तीव्र विरोध किया है।

"और इनकी वियोग वह्नि ने क्या किया? सकल सद्भावनाओं के सुकुमार पौधे जल कर क्षार हो गए, शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार भस्म होगये, पवित्र प्रेम का चन्दन-पंक सूख गया, भारत का मानस भी दरक गया और उसकी सती इन कवियों की नुकीली लेखनी से उस गहरी खुदी हुई दरार में समा गई, शक्ति की कमर झुक गई, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड गया।'

स्पष्ट है कि नई व्यवस्था में नारी के प्रति प्राचीन दृष्टिकोण अवश्य परिवर्तित होता है और वह हुआ भी। प्रेम का वर्णन तो हुआ परन्तु सूक्ष्मता व सांकेतिकता आगई। 'प्रसाद' आदि कवियों को रवीन्द्र व योरोपीय रोमानी कवियों ने तथा सूफी कवियों ने चुपचाप यह सिखा दिया था कि नारी के प्रति आकर्षण इस ढङ्ग से व्यक्त किया जाये कि ऐसा प्रतीत हो कि यह आकर्षण ब्रह्म के प्रति प्रकट किया जा रहा है—एक ही तीर में दो पक्षी! इसमें सामाजिक मर्यादा का प्रश्न भी हल होता था और द्विवेदी युगीन आचारवाद का भी विरोध हो जाता था तथा साथ ही प्रेम के स्थान पर अमूर्त प्रेम की प्रतिष्ठा भी हो जाती थी। चूँकि छायावादी युग में सहशिक्षा व उद्योग-धन्धों की नई परिस्थितियों ने नारी-पुरुष को साथ ला पटका था अब प्रेम की अभिव्यक्ति भी आवश्यक थी। शैले, कीट्स, व बायरन की मादक व दिव्य दोनों प्रकार के प्रेम की कविताएं सम्मुख थीं, रवीन्द्र के गीतों पर नोबेल पुरस्कार तक मिल चुका था अब किंचित् रहस्यवादी रूप देकर प्रेम का वर्णन चल पड़ा—कभी-कभी यह रहस्यवादी रङ्ग कविता के अन्त में आता था,

कभी प्रारम्भ से ही इस ढङ्ग से लौकिक-प्रेम का वर्णन होता कि साथ ही साथ (यदि पाठक चाहे) अलौकिक प्रेम भी झलकता चले (यह प्रवृत्ति उर्दू के प्रभाव के कारण प्रसाद मे सर्वाधिक रूप से मिलती है)। परिणाम यह हुआ कि लौकिक-अलौकिक प्रेम-वर्णन एक-सा प्रतीत होने लगा और इसीलिए आगे चलकर सुन्दर से सुन्दर रहस्य-वादी कविताएं रची गई। रोमाटिक कवि एक बात अच्छी तरह जान गए थे—सर्वत्र अस्फुट रहना, विना रङ्ग भरे हुए रेखाओं को छोड़ देना, और कभी-कभी रेखाओं से अधिकाधिक संकेत कराना। अस्फुटता में एक विशेष सम्मोहन होता है, अस्फुटता, स्पर्श का भय, उपभोग की कम प्रवृत्ति, सम्मोहित होने की दशा मे अपनी मानसिक स्थिति बताने तथा रूप पर भ्रमर के समान दूर से ही गूँज भरने की भावना यहाँ अधिक मिलती है। इसीलिए छायावादी सौन्दर्य अपनी अस्फुटता, रहस्यमयता तथा सांकेतिकता के कारण मशीन-युग के बारीक उत्पादन की तरह अधिक सुन्दर प्रतीत होता है। सामाजिक दृष्टि से छायावादियों का दृष्टिकोण रीतिकालीन व द्विवेदी युगीन कवियों से अधिक उदात्त था परन्तु फिर भी वह दृष्टिकोण स्वस्थ न था क्योंकि अन्तत. उसके नीचे तूफान को भीतर ही बन्द करने की प्रवृत्ति पाई जाती है जिसका परिणाम हुआ हालावाद और मांसलवाद। यदि छायावाद स्वस्थ दृष्टिकोण रखता तो ऐसे विस्फोट न हुए होते जिनमे रीतिकाल से भी अधिक अनुत्तरदायी भावनाएँ वमन की गई। अञ्चल जैसे कवियों के लिए (उस युग में) पुलिस की आवश्यकता है, आलोचकों की नहीं। अस्तु

अब पन्त मे नारी के प्रति उनके वैयक्तिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति देखिए—

नारी के प्रति प्रेम भावना का प्रथम रूप पंत जी की 'ग्रन्थि' में दिखाई पडता है। यहाँ पूर्णतया रोमानी दृष्टिकोण का परिचय नहीं मिलता परन्तु प्रेम भावना की मुखरता (जो द्विवेदी युग मे एक अपराध सी समझी जाती थी) तथा स्थूल सौन्दर्य-अकन के साथ-साथ मानसिक प्रेम की व्यंजना अवश्य प्रारम्भ हो जाती है। प्रेम मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों मे से एक प्रवृत्ति है। प्राचीन विचारकों ने तो 'रति' के अनेक रूपों मे ही अन्य भावनाओं का वर्णन किया है परन्तु उन्होंने 'रति' शब्द का व्यापक अर्थ किया है। मनुष्य की सारी क्रियाओं के

पीछे आकर्षण या विकर्षण—रति और विरति—राग और द्वेष ये ही दो भावनाएँ प्रधान दिखाई पड़ती है अन्य भावनाएँ इन्ही के विविध विकसित रूप मात्र हैं। यही आकर्षण नारी व पुरुष के बीच 'रति' शब्द से भी व्यंजित होता है और साथ ही सभी 'आकर्षण' से सम्बन्धित—रागात्मक भावनाएँ श्रद्धा, सहानुभूति, भक्ति, उत्साह, विस्मय आदि 'रति' शब्द से कथित हो सकती हैं। रीतिकाल मे 'रति' को संकुचित अर्थ में—केवल नारी व पुरुष के बीच आकर्षण के अर्थ मे ग्रहीत किया गया और केवल 'रति' की ही वर्णना—रति के प्रवृत्यात्मक (instictive) रूप की ही व्यञ्जना होती रही—अर्थात् 'रति' का वर्णन इस प्रकार किया गया जिससे रति के उच्च रूप 'प्रेम' की व्यञ्जना कम हुई, ('देव' आदि कवियों में वह अवश्य हुई) विलास को उद्दीप्त करने की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। सौन्दर्य व विलास का भेद लुप्त होता गया। पुष्प के सौन्दर्य को देख कर कवि जिस प्रकार आनन्दित होता है, नारी के सौन्दर्य को देखकर भी उसी सौन्दर्य भावना से वह युक्त हो सकता है। ऐसा कवि नख-शिख वर्णन की परम्परा न अपना कर नारी को सौन्दर्य की एक एकाई के रूप मे देखेगा। परिणामतः उसके वर्णन मे सौन्दर्य-अङ्कन सूक्ष्म होगा। वह रूप के प्रभाव, दीप्ति, कान्ति, उल्लास का वर्णन अधिक करेगा। अनासक्त दृष्टि से ही इस प्रकार का सौन्दर्य उत्पन्न होता है। इस सौन्दर्य मे कोमलता व रमणीयता को तराजू पर तोलने का प्रयत्न नहीं होता जैसा कि रीतिकाल मे हुआ अपितु इसमे कोमलता व रमणीयता आदि को देखकर हृदय की सामान्य आनन्द वृत्ति को सतुष्ट करने की प्रक्रिया रहती है और यह पद्धति सामाजिक दृष्टिकोण के अनुकूल पड़ती है। सौन्दर्य को विलास का साधन मान कर उसका वर्णन करना सामन्तकालीन प्रवृत्ति है। पुष्प को देखकर मुग्धता उत्पन्न होती है, उसके रूप की अनुपमता को देखकर विस्मय व आनन्द उत्पन्न होता है। जिस प्रकार एक चित्र मे रेखाओं के सामञ्जस्य को देखकर तथा उनके द्वारा सकेतित भाव भंगिमाओं या तथ्य विशेष की ओर हमारा मन चला जाता है और हम चित्र पर मुग्ध हो जाते हैं उसी प्रकार नारी के सौन्दर्य को देखकर हम मुग्ध हो सकते है। सौन्दर्य मे एक सीमा तक तटस्थता आवश्यक है। मछली को एक मछुआ देखता है और एक कवि भी पर दोनो मे जो अन्तर है वह।

अतर रीतिकालीन दृष्टिकोण व छायावादी दृष्टिकोण में दिखाई पड़ता है। चूँकि छायावादी सौन्दर्य-भावना परिस्थितियों के प्रभाव से अधिक सूक्ष्म, अधिक सांकेतिक, अधिक मानसिक और अधिक मार्मिक थी अत छायावाद मे नारी-सौन्दर्य का रूप पिछली कविता में अभिव्यक्त रूप से भिन्न मिलता है।

'ग्रन्थि' में सौन्दर्य-वर्णन की पिछली पद्धति को पूर्णतया कवि नहीं छोड़ सका। अत यहाँ स्थूलता-सूक्ष्मता के सयोग से 'ग्रन्थि' को हम 'छायावादी नख-शिख-प्रधान कविता' कह सकते है परन्तु जैसा मैंने पहले कहा कि 'ग्रंथि' प्रथमकालीन प्रयास था। अतः पूर्व-युगों की कला-पद्धति से इतनी शीघ्रता से कोई कवि अलग नहीं हो सकता था। स्वयं प्रसाद जी ने 'चित्राधार' व 'प्रेम-पथिक' मे प्रेम-वर्णन की गतानुगतिक पद्धति अपनाई थी, जिसे वाद मे नूतन-सौन्दर्य बोध से शुद्ध किया था।

सौन्दर्य को देखने के लिए जिस अनासक्त दृष्टि की चर्चा हमने ऊपर की, वह छायावाद मे दिखाई अवश्य पडती है परन्तु फिर भी छायावादी कवि चूँकि कठोर सामाजिक अनुशासन के विरुद्ध क्रान्ति कर रहा था; अत. प्रेम के सम्बन्ध में उच्छृङ्खल स्वतन्त्रता भी चाहता था। प्रेमिका के साथ नन्दन-विहार की भावना से छायावादी मन.स्थिति इतनी आवृत हो चुकी थी कि वह नारी को न तो उसके अनेक सामाजिक रूपों मे देख सका, न जीवन-सङ्घर्ष मे सहचरी के रूप मे। अधिकांश मे वह उसे 'विलासिनी' से अधिक 'रमणी' (रमणीयता का आधार) के रूप मे देखता रहा। 'प्रसाद' भी कामायनी मे जाकर अपने को सम्हाल सके। परिणाम यह हुआ कि उन्मुक्त प्रेम की भावना अनुशासन के कारण एक ओर तो दार्शनिक प्रेम—रहस्यवाद के रूप मे प्रवाहित होने लगी, नारी के प्रति स्वस्थ प्रेम-भावना के स्थान पर दिव्य सत्ता के रूप में उसका वर्णन हुआ। इसलिए सर्ववादी चिन्तन-पद्धति ने पुन कवि की सहायता की और कवि की हृदय-स्थित रति-भावना को प्रकृति पर आरोपित करने का व्यापक चित्रपट मिल गया। प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं—संध्या, जुही की कली, गंगा आदि को नारी के रूप में ही देखा जाने लगा जिसमें रहस्य-भावना का वेष्टन भी साथ-साथ मिल गया और दूसरी ओर नारी के सौन्दर्य का, सहमी हुई, सङ्कोच से अस्फुट वनी हुई दृष्टि

व शैली के माध्यम से चित्रण होने लगा। रोमानी कविता की मुख्य-प्रवृत्ति यह प्रेम की भावना भी होती है। प्रेम के क्षेत्र में भी गतानुगतिकता के प्रति विद्रोह के कारण तथा समाज के अनुशासन को उखाड़ फेंक सकने की क्षमता न होने के कारण कवि अन्तर्मुखी होकर कभी अपने अवचेतन में स्थित रागात्मक भावना को प्रकृति के माध्यम से अर्थात् प्रकृति पर अपनी चेतना का आरोप कर मानवीयकरण की पद्धति पर व्यक्त करता है और कभी उसे रहस्यवाद की पद्धति से अपनाता है जिसमें उसके लौकिक-प्रेम की असफलता को दिव्य आधार मिल जाता है।

इस प्रकार रोमानी कविता मे 'प्रेम' एक सम्प्रदाय बना लेता है और अपने संकुचित रूप मे जगत को नारीमय समझता हुआ कहीं दूर सङ्घर्ष से विरत होकर नीड बनाकर बस रहने की कामना करता है। जिस प्रकार कवि का अहं समाज से टकरा कर जब समाज को नहीं बदल पाता और तब यदि वह विक्षिप्त नहीं हो जाता तो सङ्घर्ष से विरत होकर पलायन की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार प्रेम के क्षेत्र मे भी—एक सीमा तक अनासक्त होकर नारी-रूप का अधिक सूक्ष्म, मानसिक और मार्मिक बनाता हुआ वैयक्तिकतावादी कवि अपनी राग-पिपासा को असन्तुष्ट पाकर समाज की ओर से और समाज के भय से[1] प्रेमिका की ओर से 'मौन' के रूप मे उत्तर पाकर पलायन की ओर अग्रसर होता है। इस प्रकार विचार, अहं तथा प्रेम तीनों क्षेत्रों मे रोमानी कवि की अन्तिम परिणति 'पलायन' मे ही होती है। सुख-स्वप्न की कोरी कल्पनाएँ कर उनमे बस रहने की कामना कर 'दर्शन' के नाम पर उन्हे ही शाश्वत सत्य मानना, सघर्ष से बचकर समाज को बदलने के स्थान पर उससे दूर जाकर उपेक्षा द्वारा उससे प्रतिशोध लेना यह पलायनवाद नही तो और क्या है? पन्त को अरविन्द-दर्शन मे तथा प्रसाद को 'आनन्दवाद' मे इसीलिए चारों ओर से सुरक्षा व शान्ति दृष्टिगोचर होती है, जबकि महादेवी पीडा में ही मग्न रहना चाहती है। पीड़ा मे मग्न रहना, उसे

[1] वह स्पृहा सकोच का सुन्दर समर, अधर कम्पित कपोलों पर युगल।
एक दुर्बल लालिमा में था बहा, विश्व विजयी प्रेम औ यह भीरुता॥
पन्त में यह 'भीरुता' उनकी सबसे प्रमुख विशेषता है।

सिद्धान्त रूप मे स्वीकार करना रोग को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करना है यह हम कह चुके हैं। निराला भी अपने समय-समय पर सिंहनाद के साथ-साथ 'अर्चना' मे ही अधिक आनन्द पाते हैं। पन्त व निराला में जो वाद में परिवर्तन आए वे उनके यथार्थवादी 'दर्शन' के अध्ययन के परिणाम थे—

हास-सरिता में सरोजों से खिले, गाल के गहरे गढ़ों को मधुप से।
चुम्बनों से ही नही जिसने भरा, उस खिली चम्पाकली ने क्या किया॥

—ग्रन्थि, पृष्ठ २४

यह है अन्तर्मन की स्थिति और बाह्य-रूप अङ्कन का स्वरूप। अब जब यह असम्भव प्रतीत हुआ तो इसको दार्शनिक रूप दिया गया—

अनिल कलिपत कमल-कोमल गात को
अक भर कर रसिक! किसकी चाह की।
बॉह तृप्ति हुई? तुहिन जल से हसित
किसलयों को चूम किसका मन बुझा?

—ग्रन्थि, पृष्ठ २४

इससे यह छायावादी निर्णय निकाला गया कि चूँकि सम्भोग से तृष्णा नहीं बुझती है अत. उसे सयमित रूप में बुझाने के स्थान पर कभी न बुझाना अधिक उचित है। यह है समस्या को साम्प्रदायिक दर्शन का आवरण पहनाना। प्रेम क्या है—न जाने क्या है? प्रेम करने की स्वतन्त्रता क्यों नही है? नियति के कारण। ये जो अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं, इन्हें भोगना चाहिये या इनसे अलग रहना चाहिए? अलग रहना चाहिए। क्यों? क्योंकि भोगने से भोग की लिप्सा और बढ़ती है। परन्तु अलग रहने से भी तृष्णा बढ़ती है तब क्या करना चाहिए? उत्तर होगा—बढ़ती हुई तृष्णा को दबाना चाहिए और प्रकारान्तर से मन की कामनाओं को व्यक्त करना चाहिए क्योंकि दुर्दमनीय कामना व्यक्त अवश्य होगी, परन्तु उसे अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करना चाहिए। और जब उससे ज्वाला मे घृत का कार्य हो तो तड़पते रहना चाहिए क्योंकि वेदना की ज्वाला पवित्र है। वेदना ही संसार का आधार है, वेदना में धीरे-धीरे तपना ही सबसे बड़ी तपस्या है। यह वेदना नियति की कृपा से मिलती है, अतः इसे वरदान समझना चाहिए। प्रेम के क्षेत्र मे यह है छायावादी चित्त-वृत्ति व उसका उसी

के द्वारा समाधान । इसीलिए वेदना का प्रबल आग्रह छायावादी कवियों मे दिखाई पड़ता है। पन्त, प्रसाद, महादेवी सभी को वेदना ही सर्वाधिक प्रिय है। क्योंकि वेदना से मुक्ति पाने का उपाय नियति के कर में है और नियति हमारे करों मे है नही, हम ही नियति के करों में है, इसलिए छायावादियों को एक ओर तो जगत नारीमय दिखलाई पड़ता है तो दूसरी ओर समाज से लड़ने के स्थान पर अतृप्ति और हाहाकार को ही सिद्धान्त रूप से स्वीकार करना पड़ता है, और समाज के सम्बन्धों को न समझ सकने से "नियति" को स्वीकार करना पड़ता है और उसका परिणाम होता है "पलायन"—वेदना व नियति पलायन की पुत्रियाँ हैं, पलायन के बिना दोनों व्याकुल रहती है।

विश्व- यह कैसी मनोहर भूल है
मधुर दुर्बलता । कई छोटी बड़ी
अल्पताएँ जोड, लीला के लिए
यह निराला खेल क्या विधि ने रचा ?—ग्रन्थि पृष्ठ ४०

वैयक्तिक दृष्टिकोण से देखने के परिणाम से ही यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। कुछ न समझ में आने पर तात्कालिक मन स्थिति को इस प्रकार कवि ने स्वीकार किया है—

वेदना के ही सुरीले हाथ से, है बना यह विश्व, इसका परम पद।
वेदना का ही मनोहर रूप है, वेदना का ही यह स्वतन्त्र विनोद है।
—ग्रन्थि—पृष्ठ ४२।

चूँकि वेदना को छोड़ कर अन्य कोई स्थान ऐसा नही जहाँ कवि सात्वना पा सके अत.—

वेदना से भी निरापद क्या अहा !
और कोई शरण है संसार में ?
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा
निष्कपट—साम्राज्य है क्या स्वर्ग का ?

और इसी वेदनामय मानसिक स्थिति का प्रक्षेपण कर छायावादी कवि चराचर जगत को भी वेदनामय देखने लगा—

या किसी के प्रेम-वञ्चित-पलक की
मूक जड़ता है ? पवन में विचर कर

पूछती है जो सितारों से सतत
प्रिय! तुम्हारी नींद किसने छीन ली?
यह किसी के रुदन का सूखा हुआ
सिन्धु है क्या? जो दुखों की बाढ़ में
सृष्टि की सत्ता डुबाने के लिए
उमड़ता है एक नीरव-लहर में!—ग्रन्थि—पृष्ठ ४५

वर्ग-वादी समाज में सिर टकराने वाली भीरु क्रान्तिकारिता से उत्पन्न आर्तनाद का नवीन शैली में चित्रण ही छायावाद है। बन्धनों को तोड़ फेंकने की ध्वनि जब उपेक्षित होती है, तभी छायावादी वेदना वाद का जन्म होता है, जो व्यक्ति के सुख-दुःख की कहानी कहता है, जो अन्त में अश्रु का उपहार युग के चरणों पर चढ़ाता है—

कुटिल भावी के अँधेरे कूप में—
और कितने हैं अभी आँसू छिपे!
छलकती आँखें उन्हें प्रिय, फिर कभी
भेंट देंगी कर-कमल में आपके

इन कोमल किसलयी हृदयों वाले कवियों पर तात्कालिक समाज की कठोर प्रतिक्रिया देखकर कितनी करुणा उत्पन्न होती है! उस युग की सारी व्यवस्था-जन्य क्रूरता का सफल चित्रण इन कवियों में पाया जाता है।

'ग्रन्थि' में जिस वेदना, नियतिवाद तथा समझौतावाद के दर्शन होते हैं, उन्हीं का विकास आगे 'पल्लव' में होता है। अतः प्रारम्भिक होकर भी पन्त की आत्मा को स्पष्ट करने के लिए 'ग्रन्थि' का महत्त्व अक्षुण्ण है।

सौन्दर्य का सूक्ष्म अङ्कन—

सुरीले, ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
रँगीले, गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
खेलती थी तरङ्ग सी नित
मैं मन्द हास सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया —'पल्लव'

प्रेम का व्यापक रूप-दर्शन—

दीप के बचे विकास!
अनिल सा लोक-लोक में
हर्ष में और शोक में
कहाँ नहीं है, स्नेह?
साँस सा सबके उर में?

द्विवेदी युगीन आचारवाद के विरुद्ध विद्रोह—

कभी तो अब तक पावन प्रेम-
नहीं कहलाया पापाचार

प्रकृति में प्रक्षिप्त मानसिक स्थिति—

गगन के भी उर में है घाव
देखती ताराएँ भी राह
दिखाते जड़ भी हैं अपनाव
अनिल भी भरती ठण्डी आह

'अनङ्ग' शीर्षक कविता में पन्तजी ने प्रकृति और सौन्दर्य के सम्बन्ध को बहुत ही सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है कि किस प्रकार काम-भावना जीवन में सौन्दर्य के प्रवाह को उत्पन्न कर देती है और उसके कितने रूप किस सीमा तक मनोहर हो जाते हैं—

ऐ असीम सौन्दर्य राशि में—
हृत्कम्पन से अन्तर्धान।
विश्वकामिनी की पावन-छवि,
मुझे दिखाओ, करुणावान!

छायावाद में ससीम व असीम सौन्दर्य राशि की अलग-अलग व सयुक्त छवियों, अनासक्ति व आसक्ति से जन्य सौन्दर्य के विभिन्न रूपों, विषय व विषयीगत सौन्दर्य की विविध भङ्गिमाओं का अद्भुत सयोग मिलता है। तटस्थ चित्रणों (जिसकी वकालत 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया' कविता में है) के पीछे प्रकृति-दर्शन तथा विषयीगत सौन्दर्य के पीछे रोमानी सौन्दर्य-बोध की भावना थी यह हम कह चुके हैं।

प्रेम का रहस्यवादी रूप—

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढ़ा कर लहरों से निज हाथ
बुलाते फिर मुझको उस पार
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान
और हँस पड़ती हूँ अनजान
रोकने पर भी तो सखि! हाय
नहीं रुकती तब यह मुस्कान

नारी रमणीयता के प्रति आकर्षण की चरम-सीमा—

धरे लहरे रेशम के वाल—
धरा है सिर पर मैंने देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृङ्गार
स्वर्ण का सुरभित भार।

योरोप के रोमानी कवियों में 'शैली' की दृष्टिकोण से ही पन्त ने नारी को देखा। नारी के प्रति यह दृष्टिकोण रीतिकालीन व द्विवेदी कालीन दृष्टिकोण से मूलतः भिन्न है —

स्वप्नमयि! सुन्दरतामयि!
तुम्हारे रोम रोम से नारि
मुझे है स्नेह अपार
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान
तुम्हीं स्वर्गिक आभास
तुम्हारी सेवा मे अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान
देवि! मा, सहचरि! प्राण

इसी दृष्टिकोण के बल पर ही पल्लव की भूमिका मे कवि ने विलासितावादी रीतिकालीन दृष्टिकोण की घोर आलोचना की थी— यह बात दूसरी है कि छायावादी कवि घोषणा करके भी 'नारी' को केवल 'प्राण' के रूप में ही वर्णित कर सका परन्तु उसके प्रेम में परिस्थितियों के कारण निराशा, वेदना, छटपटाहट, दैवीकरण, पलायन आदि भावनाएँ रहने पर भी वह प्रेम रीति कालीन प्रेम से अधिक

संस्कृत व द्विवेदी युगीन जड़वाद से अधिक प्रगतिशील था—प्रेम का समर्थन छायावादियों ने पूरी शक्ति से किया।

'गुञ्जन' मे यद्यपि कवि अपने प्रेम की उद्दाम भावना को थपकी देने की कोशिश करता है परन्तु वह संयम की अँगुलियो से खिसक खिसक कर जैसे निकल पडती है—"भावी पत्नी के प्रति", "गृह काज" "अप्सरा" कविताएँ पठनीय हैं—

दिव्य लौकिक प्रेम का सयुक्त चित्रण—

विश्व-सुषमा ही का शृङ्गार।
दृगो मे छा जाता सोल्लास॥
व्योम बाला का शरदाकाश।
तुम्हारा आता जब प्रिय-ध्यान॥

(भावी पत्नी के प्रति)

प्रेम की उन्मुक्त अभिव्यक्ति—

आज रहने दो यह गृह काज,
प्राण! रहने दो यह काज
आज दो प्राणों का दिन मास
आज संसार नही, संसार
आज क्या प्रिये, सुहाती लाज
आज रहने दो सब गृह काज!

'गुञ्जन' मे नारी के 'रूप' की प्रशंसा करता हुआ कवि तृप्त नहीं होता। प्रकृति का सारा सौन्दर्य, मन का सारा अनुराग, पूरे आवेग के साथ नारी के सम्मुख निवेदित होता है। यह 'आत्म-निवेदन' नारी के प्रति 'रति' की नवधा-भक्ति मे से एक रूप माना जा सकता है—

कल्पना तुम में आठों याम।
कल्पना मे तुम आठो याम॥
तुम्हारी छवि में प्रेम अपार।
प्रेम मे छवि अभिराम।—गुञ्जन, पृष्ठ ५७

दूतियों के द्वारा नायिकाओं को पथ-भ्रष्ट करने व स्वय अपने प्रेम के समर्पण द्वारा नारी के हृदय को जीतने के प्रयत्न में अंतर है, छायावाद में दूसरे प्रकार का प्रयत्न है।

छायावाद में नारी का रूप ही सौन्दर्य का मापदण्ड बन गया था। पन्तजी ने "बाले! तेरे बाल जाल मे कैसे उलझा लूँ लोचन" कहा था। यह प्रकृति में सौन्दर्य व सुख खोजने की भावना थी। जीवन मे सुख के अभाव के कारण प्रकृति मे सुख खोजने का प्रयत्न ही 'प्रकृति दर्शन' सिखाता है। जीवन की कुत्साएँ—व्यवस्था जन्य कुत्साएँ मनुष्य से प्रकृति में सुख की खोज कराती है, यह पूँजीवादी भ्रम है। यह भ्रम शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और मनुष्य को भ्रान्ति-विनाश के पश्चात् घोर निराशा होती है जिसकी व्यञ्जना बराबर छायावाद में मिलती है। पन्त जी ने नारी सौन्दर्य से अधिक प्रकृति-सौन्दर्य को महत्ता देने के साथ साथ यह भी कहा था—

छोड़ अभी से इस जग को?

अर्थात् बाल-जाल मे लोचन विद्ध करने को बस अभी मन नहीं चाहता, कुछ समय पश्चात् इससे भी कुछ परहेज न होगा अत यह समझना चाहिए कि मुख्यत छायावाद मे नारी के सौन्दर्य को ही सौन्दर्य का मापदण्ड माना गया, समग्र रूप से विचार करने पर यही निश्चय होता है। क्योंकि यद्यपि तटस्थ प्रकृति के चित्रण पन्त जी मे मिलते हैं तथापि प्रकृति को भी नारी के रूप में ही देखने की प्रवृत्ति भी पन्त जी मे बहुत मिलती है। इस दिशा में एक तो प्राचीन उद्दीपन प्रणाली का भी कवि ने प्रयोग किया है और दूसरे प्रकृति की वस्तुओं को नारी रूप मे भी देखा है। जो कवि नारी-रूप के प्रति आकर्षण के कारण स्वयं अपने को ही नारी-रूप मे चित्रित करता है, स्वयं अपने वेश-विन्यास में नारी-रूप का अनुकरण मानता है, वह कवि प्रकृति को भी सर्वदा तटस्थ रूप में नही देखता रह सकता—

नीले नभ के शतदल पर, वह बैठी शारद हासिन।
मृदु करतल पर शशि मुखधर, नीरव, अनिमिल एकाकिन।

किन्तु साथ ही प्रेम के दैवीकरण की भी प्रवृत्ति थी अत. चन्द्रिका रूपी कामनी की निरूपता का भी वर्णन होना चाहिए—

वह खड़ी दृगों के सम्मुख, सब रूप, रेख रङ्ग उज्ज्वल।
अनुभूति मात्र सी उर मे, आभास शान्त, शुचि, उज्ज्वल॥
यह है, वह नही अनिर्वच, जग उसमे, वह जग में लय॥

भाव यह कि पन्त जी ने रूप-रङ्गों का भी वर्णन मार्मिक रूप से किया है और उनके प्रभाव स्वरूप उत्पन्न होने वाली "अनुभूति"

का भी, चाहे भले ही उस "अनुभूति" का एक छोर वह ब्रह्म के अञ्चल से बाँध देते हों। सूक्ष्म रूपांकन की प्रवृत्ति का सुन्दरतम उदाहरण है "अप्सरा', मानों इस कविता में सौन्दर्य की निराकार देवी का अवतार हो गया हो। जब कवि के मन में अरूप परन्तु सुन्दर वस्तु को वर्णन करना होता है तो वह कल्पना व स्मृति से कार्य लेता है। कल्पना से नए-नए रूप गढ़कर उनका 'अप्सरा' पर आरोप किया गया है और प्रचलित दन्त कथाओं का स्मरण दिला कर पाठकों के चित्र में निरूप अप्सरा को साकार किया गया है। 'अप्सरा' में आकर पन्तजी द्वारा नारी-रूप-अकन सूक्ष्मतम् हो गया है।

रूप के प्रति प्यास तो स्वाभाविक है परन्तु छायावादी कविता में उसके प्रति आवेगमय प्रतिक्रिया द्विवेदी-युगीन आचारवादिता के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न हुई थी। मशीन-युग सूक्ष्मता व बारीकी की ओर बढ़ता है। वर्गवादी समाज में वैयक्तिक प्रतिक्रिया ठोस यथार्थ के आधार पर खड़ी न होकर जब बेतहाशा आवेगमयी होती जाती है तब सूक्ष्म होती जाती है। छायावाद मध्य वर्गीय स्वप्नों को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। उसके स्वप्न व आवेग सूक्ष्म होते होते सामन्तवादी स्थूलता का विरोध करते करते स्वयं स्थूल आधार न पाकर जनता से सम्पर्क खो बैठते हैं और अपने में प्रतिक्रियावादी होते जाते है। यही कारण है कि युगानयुगों से पीड़ित नारी के प्रति छायावादी दृष्टिकोण अत्यधिक कोमल, भावुकता से ओतप्रोत होने पर भी ठोस धरातल पर नारी की समस्या को न समझ कर उसे एक ओर तो अवशिष्ट सामन्ती संस्कारों के अनुकूल तृष्णा की दृष्टि से देख देख कर तड़पता रहा और दूसरी ओर सामाजिक सम्बन्धों को न समझ पाने के कारण नारी को इस प्रकार देखता रहा जैसे वह इस लोक की कोई वस्तु न होकर किसी दिव्य लोक से पृथ्वी पर अवतरित हो गई हो। विस्मय व कौतूहल जागृत कर देने वाली अद्भुत स्वप्न-लोक मे विचरने की भावना इसीलिए बद्धमूल होती गई और "कोलाहल की अवनी छोड़कर" नाविक से निर्जन नीड़ में बसने की योजना बनाई गई। उन योजनाओं में भी यह विशेष रूप से कहा गया कि नाविक 'भुलावा' देकर उसे ले चले क्योंकि भ्रान्ति ही मनोहर होती है। स्वप्न-भंग हो जाने पर दुःख ही दुःख है। अत छायावादी वृत्ति वस्तु को स्वप्निल दृष्टि से देखती है। नारी को

भी उसके सामाजिक संदर्भ मे न देखकर उसी स्वप्निल दृष्टि से देखा गया है। परिणामत. स्वप्नलोक की तैयारी अवश्यम्भावी होती गई। आदर्शवादी विचार धारा ने जिस एक सर्व शक्तिमती सत्ता का दान इन कवियों को दिया था, उसका नारी के साथ अभेद स्थापित करने तथा नारी + ब्रह्म के संयुक्त रूप के साथ तादात्म्य की भावना ने इन कवियो को रहस्यवादी दृष्टि का दान किया फलत: यथार्थ जगत से सम्बन्ध टूटता गया, रीतिकाल की स्त्री को उस युग के कवि ने जैसा देखा वैसा चित्रित किया था, परन्तु छायावाद मे नारी जैसी थी वैसा चित्रण न हो सका वह जैसी उस सामाजिक व्यवस्था में प्रतीत हुई, चित्रित की गई। चूँकि पूँजीवादी स्वतन्त्रता भ्रममयी होती है, अत: प्रेम की स्वतन्त्र घोषणा तो की गई परन्तु उससे नारी को जो व्यक्तित्व दिया गया वह भ्रान्ति का परिणाम था, इसीलिए कविता की छलना मे सत्य को समझ कर भी शायद कविता में न समझाने वाली महादेवी को "शृङ्खला की कड़ियाँ" लिखनी पड़ी, जो नारी के प्रति छायावादी भ्रम को समझाने के लिये पठनीय है। परन्तु उसमें भी कवयित्री समस्या का निर्देश कर के भी 'निदान' व 'औषधि' की यथार्थता की ओर न जा सकी।

रोमानी-कविता पुनर्जागरण काल की कविता है। पुनर्जागरण व पुनरुत्थानवाद मे अंतर है। पुनर्जागरण का अर्थ यह है कि कोई समाज जब अपने भूत काल के कृतित्व को विस्मृत कर देता है और किसी परिस्थिति विशेष में जब वह उसकी ओर उन्मुख होता है तो वह अपने पूर्ववर्ती कृतित्व का पुनरुद्धार करता है, उसके प्रकाश का अनुभव करता है, उसको अपने वर्तमान काल के लिए उपयोग करता है, पुनर्जागरण के युग मे सुप्त सामाजिक या राष्ट्रीय चेतना अपने जातीय व्यक्तित्व का स्मरण कर उसका पुनरुद्धार करती है। भारतेन्दु-द्विवेदी-युग तथा छायावादी-युग ऐसे ही युग थे। इन युगों मे योरोपीय संस्कृति व साहित्य के समानान्तर स्वदेशी दर्शन, साहित्य व संस्कृति की ओर देश का ध्यान गया और उसके उद्धार के प्रयत्न होने लगे। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफीकल सोसाइटी, राम-कृष्ण विवेकानन्द मिशन आदि ने पुनर्जागरण का कार्य बड़े वेग से किया। बहुत सी बातों में स्वय विदेशी विद्वानों ने हमें पुनर्जागरण की ओर आकर्षित किया, यथा कालिदास, वैदिक व उपनिषद साहित्य

जब संस्कृत भाषा आदि की महत्ता पर योरोपीय विद्वानों ने लिखा तो हमारी जागृत चेतना और द्रुततर हो गई और हममें यह स्वाभिमान उत्पन्न हुआ कि हमारे साहित्य, संस्कृति, दर्शन आदि योरोप से अधिक महान है। अङ्गरेजों ने हमारे भीतर जो 'हीनता' की भावना उत्पन्न करदी थी, उसका नाश पुनर्जागरण काल मे होने लगा था। परन्तु पुनर्जागरण काल मे पुनरुत्थानवाद का भय सर्वदा रहता है। अपनी संस्कृति का पुनरुद्धार करना, उसकी रक्षा करना, उससे प्रेरणा ग्रहण करना उस पर गर्व करना पुनर्जागरण काल की विशेषता है। साथ ही यह एक भय भी है कि हम कहीं 'पुनरुत्थानवादी' न बन जाँय, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति मे हम प्राचीन निष्कर्षों व प्राचीन सिद्धान्तों को लागू करने का प्रयत्न न करने लगे। भूत काल के प्रति समीक्षात्मक भक्ति (critical devotion) आवश्यक है, पुनरुत्थानवाद इसके विपरीत अंध-श्रद्धा दिखाता है। चूँकि भारतेन्दु-युग व द्विवेदी युग में भविष्य-समाज की कल्पना स्पष्ट न थी अतः यही स्वाभाविक था कि प्राचीन व्यवस्था व प्राचीन संस्कृति का नवीन युग में पुनरुत्थान ही स्वीकार कर लिया जाय। परिणाम यह हुआ कि आर्य समाज जैसी संस्थाओं ने प्राचीन काल को सम्पूर्ण दृष्टियों से आदर्श-युग माना और मुख्यत वैदिक-युग के आदर्शों को इस युग के लिए आदर्श बताया। वैदिक-युग को प्रत्येक दृष्टि से निर्दोष व पूर्ण सिद्ध करने का प्रयत्न होने लगा। जो आर्य समाज से प्रभावित नही थे उन पर यह प्रभाव हुआ कि वे प्राचीन हिन्दूवाद-सनातन धर्म को वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक व मनोवैज्ञानिक सभी दृष्टियों से निर्दोष व पूर्ण सिद्ध करने लगे। यह प्राचीन सामन्तवादी सस्कारों के पुनरुत्थान का प्रयत्न था और यह अंतर्विरोध बराबर बना रहा।

पन्त, निराला व महादेवी आदि छाया-युग के कवियों में 'पुनर्जागरण' का उत्साह पूर्ण मात्रा में दिखाई पडता है। और इन सभी कवियों मे साथ-साथ "पुनरुत्थानवाद" के तत्त्व भी मिलते है परन्तु चूँकि पन्तजी की चिन्ताधारा विकसित रही है अत मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित होकर वे पुनरुत्थानवादिता से बचकर इतिहास के प्रकाश में प्राचीन व मध्यकाल का विश्लेषण करने लगे (देखिए आधुनिक कवि की भूमिका)। परन्तु उनमें पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ से ही थी। अतः मार्क्सवादी प्रभाव के युग में

वे पुन प्रदीप्त हो उठी। अरविन्द ने पुनरुत्थानवाद का दार्शनिक रूप देकर उसे इस ढङ्ग से उपस्थित किया जिससे पन्त की कल्पना उधर जापड़ी और अपनी नई कविताओं में 'प्राचीनतावाद' का पुन समर्थन करने लगे। मध्यकाल के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखने वाले कवि ने प्राचीन वैदिककाल के प्रति समर्पण कर दिया। यह है पन्त में पुनरुत्थानवाद का विकास। 'प्रसाद' ने नाटकों में प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को वाणी दी, और तात्कालिक समस्याओं का समाधान इतिहास मे खोजा, परन्तु भविष्य के सामाजिक चिन्तन का रूप अस्पष्ट रहने से उनमें भी पुनरुत्थानवादी सुझाव बराबर मिलते हैं। पन्त की पूर्ववर्ती कविताओं में इस पुनरुत्थानवाद का प्रभाव इसलिए भी दिखाई पड़ता है कि कवि जब समस्या का समाधान नही खोज पाता तो या तो प्रकृति में पूर्णतया समाधान खोजता है[1] या गत-युगों का स्मरण करता है जिसके प्रति मोह स्वाभाविक हो जाता है। वर्तमान की कटुता विस्मृत करने के लिए गत-युगों का स्मरण अनिवार्य हो जाता है। अतीत के प्रति ऐसा ही मोह शैली व कीट्स में भी दिखाई पडता है, मुख्यत. कीट्स पर उसका बहुत अधिक प्रभाव है। पन्तजी ने भी अतीत के प्रति ऐसा ही भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लिया—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त छवि जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल
राशि राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार
अये विश्व का स्वर्ण-स्वप्न, सस्मृति का प्रथम प्रभात
कहाँ वह सत्य, वेद-विख्यात
दुरित, दुख, दैन्य न थे जब ज्ञात
अपरिचित जरा मरण भ्रू-पात—परिवर्तन (पल्लव)

कोई भी निष्पक्ष समाज-शास्त्री यह मानने को प्रस्तुत न होगा कि वैदिक-युग में दुरित-दु ख आदि ज्ञात न थे। वह सुख का स्वर्ण-युग था।

[1] "तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे पूर्ण विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था।"—आधुनिक कवि की भूमिका, पृष्ठ ६

छायावाद मे राष्ट्रभक्ति के अनेक स्वर सग्रथित मिलते हैं। देश की प्राकृतिक सुषमा का मुग्ध होकर इन्हीं कवियों ने अङ्कन किया है। राष्ट्रीय-दर्शन व संस्कृति का अध्ययन कर इन्होंने उसे वाणी दी। जिस प्रकार रवीन्द्र में उपनिषदों व कबीर आदि सन्तों की रहस्यमय वाणी की गूँज सुनाई पड़ी थी और इस वाणी ने राष्ट्रीयतावाद को पुष्ट किया था क्योंकि आत्मा-परमात्मावाद को आधुनिक शैली में व्यक्त करने पर उपनिषदों की वाणी को अनुगूँज के रूप में ही इसे स्वीकार किया गया था। इसी प्रकार पन्त, प्रसाद, निराला व महादेवी में भी भारतीय दर्शन की अभिव्यक्ति मिली। विशेषत एकतारा, नौका-विहार आदि कविताओं मे स्पष्टत. पन्तजी ने अपने दार्शनिक रूप को घोषित किया, प्रकृति की वस्तुओं को न केवल नारी के सौन्दर्य से मण्डित करके देखा गया अपितु उससे दार्शनिक रहस्यों की भी अभिव्यक्ति की गई। बादल, अप्सरा, अनङ्ग आदि कविताओं मे भी कवि ने सास्कृतिक वातावरण प्रस्तुत किया है। विवेकानन्द के पुनर्जागरण की भावना की अभिव्यक्ति पन्तजी के पूर्ववर्ती काव्य मे सर्वत्र दिखाई पड़ती है। मुख्यत अप्रस्तुत विधान सास्कृतिक वातावरण प्रस्तुत करने में अवश्य सहायक होता है। पन्तजी को 'नक्षत्र' इन रूपो मे प्रतीत होता है—

सूर-सिन्धु! तुलसी के मानस
मीरा के उल्लास अजान

और 'छाया'—

हाय! तुम्हे भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई।

इसी सांस्कृतिक अप्रस्तुत विधान से सूक्ष्म सकेत भी साधारणीकृत हो गए हैं। परन्तु यह सब होने पर भी पन्तजी मे 'विदेशी सत्ता' के विरुद्ध प्रत्यक्ष पद्धति पर विद्रोह की भावना को व्यक्त नही किया गया। प्रसाद व निराला में राष्ट्रीयता का स्वर अधिक तीव्र दिखाई पडता है। पन्त की कल्पना प्रकृति के सौन्दर्य पर तथा किशोर कोमल भावनाओं के व्यक्त करने में अधिक मग्न दिखाई पड़ती है।

द्विवेदी-युग के 'हिन्दूवाद' की जो प्रतिध्वनि राष्ट्रकवि गुप्तजी में सर्वत्र दिखाई पड़ती है वह छायावादियों में नही दिखाई पड़ती। निराला के 'शिवाजी के पत्र' मे भी केवल वीरत्व के उन्मेष का ही अधिक प्रयत्न है। 'प्रसाद' जी के यहाँ भी सकुचित हिन्दूवाद नही

दिखाई पड़ता जिसकी घोषणा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों मे सुनाई पड़ती है, जहाँ पुनरुत्थानवाद का तीव्रतम रूप चित्रित है। लक्ष्मीनारायण मिश्र का दृष्टिकोण सनातन धर्म के प्रति वैसा ही श्रद्धामय है जैसा राहुलजी का बौद्धधर्म के प्रति। परन्तु मिश्रजी राहुल से भी अधिक सङ्कीर्णतावादी हैं। पन्त-प्रसाद में यह सङ्कीर्णतावाद नही दिखाई पड़ता।

अतः छायावाद व्यापक सहानुभूति का चित्रण करता है। सर्ववादी चेतना का उद्घोषक कवि सङ्कीर्ण जातिवाद का समर्थक हो ही नहीं सकता। विश्व भर में चेतन सत्ता का अनुभव करने वाला कवि किसी जाति व धर्म के प्रति पक्षपात का भाव रख ही नहीं सकता इसीलिए छायावादी कवियों में व्यापक सहानुभूति व सार्वभौमिक प्रेम की व्यञ्जना पाई जाती है।

कवि का ध्यान जाति पर नहीं विराट विश्व व सर्वशक्तिमती प्रकृति के रहस्यों पर केन्द्रित था। अत. वह एक ओर तो यह अनुभव करता था—"एक ही तो असीम उल्लास विश्व मे पाता विविधाभास" और दूसरी ओर समर्थ प्रकृति के निरन्तर कार्य-चक्र के एक अङ्ग के रूप में वह जाति, राष्ट्र व समाज को स्वीकार करता था। अत. किसी अज्ञात नियम से जैसे यह सब कुछ स्वयमेव बदल रहा है, सर्वत्र एक पूर्व-निश्चित योजना दिखाई पड़ रही है। अत 'परिवर्तन' ही शाश्वत नियम है। वह सभी वस्तुओं को निश्चित दिशा मे लिए जा रहा है। अत्याचारियों के अत्याचार, जातियों के उत्थान और पतन, राष्ट्रों की पराधीनता व स्वाधीनता, समाज के सुख व दु:ख—ये सब परिवर्तन के द्वारा शासित हो रहे हैं—

हे अनन्त हृत्कम्प! तुम्हारा अविरत स्पन्दन।
सृष्टि-शिराओं में, सञ्चारित करता जीवन॥
सत्य तुम्हारी राजयष्टि, सम्मुख नत-त्रिभुवन।
भूप—अकिञ्चन
अटल शान्ति नित करते पालन! (परिवर्तन)

पन्तजी की पूर्ववर्ती काव्य कला के प्रथम चरण के अनुभूति, बुद्धि व कल्पना के पक्षों को स्पष्ट कर लेने के पश्चात् अब ग्रन्थि-वीणा-पल्लव कालीन भाषा व छन्द आदि पर संक्षेप में विचार कर हम पूर्ववर्ती काव्य के द्वितीय चरण पर विचार करेंगे।

पूँजीवाद के विकसित होने पर जिस प्रकार समाज के सम्बन्धो की नूतन व्याख्या छायावाद में हुई, जिस प्रकार कल्पना, भावातिरेक, नारी, प्रकृति, राष्ट्र, विश्व, धर्म, दर्शन तथा स्वयं अपने सम्बन्ध में नूतन दृष्टिकोण का विकास हुआ था, उसी प्रकार उसका शिल्प-विधान भी कट कर पूर्ववर्ती युग से अलग हो गया। छन्द मुक्त होने लगे, भाषा का संस्कार होने लगा, भाषा की नादात्मकता व चित्र-मयता का विकास हुआ, नूतन अलङ्कारों—मानवीयकरण व विशेषण विपर्यय आदि का प्रयोग बढ़ा, लक्षणा शक्ति व व्यञ्जना से अधिक काम लिया जाने लगा और प्राचीन उपमा रूपकादि के प्रयोगों के साथ साथ प्रतीकात्मक प्रयोग भी बढ़ने लगे। शैली के क्षेत्र में भी छायावाद ने संस्कृत की तत्सम पदावली का प्रयोग किया और अभिव्यक्ति के स्वरूप को रोमानी शैली के अनुकूल ढाला।

काव्य एक अखण्ड अभिव्यक्ति है, सुविधा के लिए हम उसके अलग अलग उपादानों पर विचार कर सकते है परन्तु भाषा व छन्द आदि काव्य के वर्ण्य पक्ष के अनुसार ही संयोजित होते हैं। छायावाद की उन्मुक्त प्रवृत्ति मुक्त छन्दों मे ही व्यक्त हो सकती थी, रूढियो के विरुद्ध लड़ने वाला कवि प्राचीन जड़ छन्द-योजना को उसी रूप में स्वीकार कर ही नहीं सकता था अत छायावाद की अभिव्यक्ति के स्वरूप की परीक्षा के लिए उसके अनुभूति पक्ष पर ध्यान रखना चाहिए। अलङ्कारों व शब्द-योजना के सम्बन्ध मे भी यही बात है, प० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि जिसके पास कुछ कहने को होता है वह अपनी शैली स्वयं खोज लेता है, छायावादियों के पास कुछ कहने को था,[1] अत उन्होंने गतानुगतिक शैली का बहिष्कार किया और अपना मार्ग खोज लिया। रवीन्द्र, रोमाटिक कवियों तथा

[1] नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन स्पन्दन-कम्पन तथा नवीन साहित्य ले आता है और पुराना जीर्ण पतझड़ इस नवजात बसन्त के लिए बीज तथा खाद-स्वरूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्द तंत्री में नूतन ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल देता, नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं, आशाओं के अनुसार उसकी वाणी में से नए गीत, नए छन्द, नए राग, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं। —पल्लव की भूमिका

टैनीसन की काव्य-कला ने एक ओर तथा समृद्ध संस्कृत भापा की समर्थ शब्दावली ने दूसरी ओर इन कवियों को सहायता दी। यह मार्ग द्विवेदी युगीन संस्कृत तत्सम शब्दावली के अन्धाधुन्ध प्रयोग से भिन्न था, क्योंकि इन कवियों का ध्यान शब्द के संगीत पर, कोमलता व साकेतिकता पर रहता था। जिस भावना विशेप को जो शब्द संकेतित कर सकता था, उस स्थल पर उसी शब्द को ये संस्कृत से चुनते थे। प्रिय प्रवास में कठिन शब्दों को समेटने की प्रवृत्ति थी, छायावाद में अपनी रुचि के अनुकूल चुनने की। अत जो शब्द-शिल्प की परिपक्वता, कोमलता, लाक्षणिकता व चित्रमयता छाया-वाद में दिखाई पडी, विशेषकर पन्त में, वह अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती।

नए युग की आशा आकांक्षाओं को व्यक्त करने के लिए तथा यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा असमर्थ थी क्योंकि उसका साहित्य में प्रयुक्त रूप एकरस तथा प्राणहीन हो चुका था परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि ब्रजभाषा मे सुधार असम्भव था क्योंकि यदि ब्रजभापा ब्रज-प्रदेश की वोली न होती तब पन्तजी का यह कहना ठीक था कि "मुझे तो उस तीन-चारसौ वर्षों की वृद्धा के शब्द रक्त-मांस-हीन लगते हों, जैसे भारती की वीणा की झङ्कारें वीमार पड़ गई हों।" चूँकि ब्रजभापा आज भी एक जीवित भापा है अतः उसके रीतिकाल में प्रयुक्त साहित्यिक रूप की एकरसता की विविधता भी दी जा सकती है और ब्रजभापा के नवीन कवियों ने उसे नया रूप दिया भी है। ब्रजभाषा के जन कवियो तथा साहित्यिक कवियों ने रीतिकाल में प्रयुक्त ब्रजभाषा के दोषों को दूर कर उसे पुन. जीवित रूपमे प्रयुक्त किया है और ब्रजभापा का यह रूप अवश्य विकसित होना चाहिए। जिस प्रकार देश की अनेक भापाओं व विभाषाओं मे साहित्य रचना से उस जन-प्रदेश की जनता को सर्वाधिक रूप से प्रभावित किया जा सकता है उसी प्रकार जनपदीय संस्कृतियों व भाषाओं के विकास से देश का सांस्कृतिक जीवन निश्चित रूप से समृद्ध होता है और हो रहा है। अत ब्रजभाषा की खड़ी-वोली विरोधिनी नीति की प्रतिक्रिया में ही पन्तजी ब्रजभाषा पर प्रहार करते गये हैं।[1]

[1] खड़ी बोली का स्थान मुझे साफ, सुथरा, विकास के उपयुक्त जान पड़ता है, और थान जैसे बहुत दिनों से लिपा पुता न हो, श्री हीन बिछाली

पन्तजी के अनुसार कविता की भाषा का प्राण राग है। राग से शब्दों में परस्पर सामञ्जस्य उत्पन्न किया जाता है। परन्तु पन्तजी अपनी सर्ववादी चेतना के परिणामस्वरूप 'राग' को भी नित्यसत्ता की तरह वर्णित करते हैं। पदार्थ ध्वनियों के चित्र मात्र हैं, ध्वनि व राग की अभिव्यक्ति ही सर्वत्र हो रही है, विश्व की क्रिया-प्रतिक्रिया में एक राग, एक लय, एक सम सुनाई पड़ती है। प्रसादजी को भी विश्व में सर्वत्र एक ही सङ्गीत सुनाई पड़ता था, विरोधों को समझ कर उनके नाश की स्थिति में इस प्रकार की विचारधारा का जन्म नहीं होता, अपितु विरोधों को न समझ कर, सामञ्जस्य खोजने की स्थिति में ऐसी विचारधारा का जन्म होता है। परन्तु सामञ्जस्य खोजते-खोजते ये कवि सर्वत्र सौन्दर्य के ही दर्शन करने लगे। सामञ्जस्य का ही नाम सौन्दर्य है। अन्तर्विरोध खोजने वाली दृष्टि के सम्मुख वर्तमान की कुरूपता और भविष्य के सामञ्जस्य खोजने वाली दृष्टि में सर्व-कालों, सर्व देशों तथा सर्व स्थितियों में सौन्दर्य व सङ्गीत के दर्शन किए जाते हैं। अत राग के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण भी सर्ववादी—सामञ्जस्यवादी दृष्टिकोण का ही फल था, अत पन्तजी ने विश्व में व्याप्त राग की विभिन्न अभिव्यक्तियों के रूपमें ही प्रयुक्त होने वाले शब्दों को स्वीकार किया।

"समस्त ब्रह्माण्ड के रोओ मे व्याप्त यही राग, उसकी शिरो-शिराओं में प्रधावित हो, अनेकता मे एकता का सञ्चार करता, यही विश्व वीणा के अगणित तारों से जीवन की अगुलियों के कोमल, कर्कश घात-प्रतिघातों असख्य स्वरों मे फूट कर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के रूप मे व्याप्त हो जाता यही ससार के मानस-समुद्र मे अनेकानेक इच्छाओं-आकांक्षाओं भावना-कल्पनाओं की तरङ्गो मे प्रति फलित हो, सौन्दर्य के सौ सौ स्वरूपों में अभिव्यक्त पाता है। प्रेम के अक्षय मधु मे सने, सृजन के बीज रूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस-शतदल के चारों ओर यह चिर प्रसुप्त स्वर्ण-भृङ्ग एक अनन्त

बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य, वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी—कहत, लहत, हरहु, भरहु-ऐसी लगती हैं जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलतीं न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो।

—पल्लव की भूमिका

गुञ्जार में मँडराता रहता है।[1]

पन्तजी के अनुसार राग का दूसरा अर्थ आकर्षण है, राग के द्वारा ही हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, शब्द के स्वरूप को बिना समझे कविता का समझना—अर्थ को नहीं सौन्दर्य को समझना असम्भव है अतः शब्द का अध्ययन (वैयाकरणों की प्रवृत्ति पर नहीं, सौन्दर्य शास्त्र के आधार पर) पूर्ण जागरूकता के साथ होना चाहिए। एक-एक शब्द में अनन्त भावनायें समाविष्ट रहती हैं। उपमानों की कल्पना में न केवल वस्तु के आकार, गुण व स्वभाव को ध्यान में रखा जाता है अपितु उपमान जिस नाम से कथित होता है, वह नामकरण स्वयं अपने आप में कविता है। संस्कृत की सारी शब्दावली में नामकरण एक विशेष प्रक्रिया पर हुआ है अतः उसमें कवित्व व राग का अंश इतना अधिक हो गया है।

एक शब्द के अनेक पर्यायवाची होते हैं परन्तु वे भिन्न-भिन्न भावनाओं के द्योतक होते हैं। कुछ शब्द किसी विशिष्ट भावना को और कुछ चित्रात्मक मूर्तता के लिए प्रयुक्त होते हैं—वायु, श्वसन, पवन, प्रभञ्जन, अनिल के प्रयोगों में कितना अन्तर है, इसी प्रकार भ्रू, भौंह तथा तरंग, वीचि, ऊर्म्मि आदि प्रयोग भी अपने-अपने में सार्थक हैं।

पन्तजी की कविता मे इस प्रकार की शब्द-साधना अधिक मिलती है। प्रसाद व निराला में ध्वनि का ध्यान तो रहता है परन्तु वे सर्वदा शब्द को वजा-वजाकर प्रयोग नहीं करते अतः प्राय. वहाँ अनगढ़पन मिलता है। शब्द के सौष्ठव, शिष्टता, सांकेतिकता, कोमलता आदि गुणों का जैसा ध्यान पन्तजी ने रखा है वैसा अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ता, यह वात दूसरी है कि उनकी भाषा कोमल भावनाओं की व्यञ्जना के लिए ही अपना एक विशिष्ट रूप वना कर एक रस होगई है। शब्द प्रयोग में श्लक्ष्णता का अधिक ध्यान रखने से जहाँ चिकनी शब्दावली मिली वहीं उसमें वैविध्य न रहा। फिर भी पन्त में शब्द-सार्थकता मिलती है।

'ग्रन्थि' में ही शब्दावली का सार्थक प्रयोग मिलता है—

तरणि के ही सङ्ग तरल तरङ्ग में,
तरणि डूवी थी हमारी ताल में,

[1] पल्लव की भूमिका—पृष्ठ २२–२३।

सान्ध्य-निःस्वन से गहन जल-गर्भ में,
था हमारा विश्व तन्मय होगया।

यहाँ चांचल्य, त्वरा शक्ति व हलकेपन को प्रकट करने के लिए 'तरणि' शब्द का, तीव्र गति वाली द्रवीभूतता को प्रकट करने के लिए 'तरल' शब्द का, हिलकोर करने पर एक पर एक आने वाली क्रिया तथा कुछ गहराई से युक्तता दिखाने के लिए 'तरङ्ग' शब्द का; शून्यता व्यक्त करने के लिए 'नि.स्वन' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'पल्लव' मे शायद ही कोई ऐसी कविता हो जिसमें शब्दावली का प्रयोग करते समय अनुकूल भावनाओं के लिए उनकी उपयुक्तता पर विचार न किया गया हो।

शब्दों की 'ध्वन्यात्मकता' के अनेक रूप पन्त जी में मिलते हैं—

गरज, गगन के गान! गरज गम्भीर स्वरों में
भर अपना सन्देश उरों में '-औ' अधरों में

या

वर्ण वर्ण है उर की कम्पन, शब्द शब्द है सुधि की दशन।
चरण चरण है आह, कथा है कण कण करुण अथाह॥
बूँद में है बाड़व का दाह

प्रथम पद्य में सम्वोधन स्वरों का गाम्भीर्य प्रकट है। दूसरे पद्य में छोटे-छोटे शब्दों का—"वर्ण, वर्ण है" आदि का रुक रुक कर प्रयोग किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वेदना की ओर बढ़ने मे भय लग रहा हो।

इसी प्रकार "खैंच ऐंचीला-भ्रू-सुर चाप" से सुर-धनुष खिचता हुआ सा प्रतीत होता है। "हिला हरियाली का सुदुकूल" कहने से ऐसा लगता है जैसे पवन किसी वृक्ष के अञ्चल को मृदु गति से हिला रहा हो, "झुला झरनों का झलमल हार" कहने से 'हार' की 'झलमलाहट व गति प्रकट हो रही हो'।

भयङ्कर भावनाओं के चित्रण मे शब्दावली का स्वरूप—

शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयङ्कर।
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर॥

यहाँ पर एक भी शब्द हटा कर यदि अन्य शब्दों को रखना चाहे तो अर्थ भले ही मिल जाय परन्तु भावना का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

पन्त जी ने चित्र राग की चर्चा पल्लव की भूमिका में की है, जिसका अर्थ है "भाव और भाषा का सामञ्जस्य"। किसी भावना विशेष का मूर्तीकरण भी हो जाय और साथ ही उसमें ध्वन्यात्मकता व राग का भी स्पर्श रहे, वह भी इस रूप में कि यह वाह्य उपकरण मुख्य न बन जाय, भावना ही मुख्य रहे। जहाँ केवल भावना को अपरिपक्व कला में बाँधा जायगा वहाँ उसका उन्मेष नही होगा किन्तु जहाँ भावना शब्द-शिल्प के लिए बलिदान करदी जायगी, वहाँ तो सुन्दरता रिक्त जैसी प्रतीत होगी, परन्तु जहाँ दोनों का सामञ्जस्य होगा वहाँ कला निखर उठेगी। व्रजभाषा मे वाह्य शोभा के लिए अधिक प्रयत्न होने लगा था, और उसके विरुद्ध "भावातिरेक" को महत्त्व देने की आवश्यकता थी, अतः पन्त ने अलङ्कारों को "वर्ण के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव" कहा, उन्हें वाह्य उपादन मात्र नही माना। भावना, शब्द, अलङ्कार, राग इन सबका सम्मिलित रूप ही काव्य बन जाता है—

"कविता में शब्द व अर्थ की अपनी सत्ता नही रहती। वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं। तब भिन्न-भिन्न आकारों में कटी छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नही मिलता। राग के लेप से उनकी संधियाँ एकाकार हो जाती हैं। उनका अपना रूप भाव के वृहद् स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श उनकी निर्जीवता में जीवन फूँक देता हम उन्हे पाषाण खण्डों का समुदाय न कह ताज महल कहने लगते, वाक्य न कह कर काव्य कहने लगते हैं।"

काव्य के स्वरूप की इससे स्वस्थ व्याख्या और क्या हो सकती है। पन्त जी की कविता कला की दृष्टि से अवश्य ताजमहल का ही स्वरूप प्रस्तुत करती है।

उसमें ताजमहल की तरह वेदना व कला का सामञ्जस्य है परन्तु मशीन-युग के सारे सौन्दर्य बोध को जगमगाहट देने वाला कवि ताजमहल की रचना में ऐसा मुग्ध हुआ कि वह कुटीरों से दूर होता गया। उसकी कला केवल शाहजहाँ के मनोविनोद का साधन बनती गई, जन सामान्य से उसका सम्पर्क टूट गया। मध्य वर्गीय स्वप्नों को ही चित्रित करने की चाह उसमें दिखाई पड़ने लगी।

कला का सामञ्जस्य-जन्य वैभव देखिए:—

कभी उर में अगणित मृदु-भाव।
कूजते हैं विहगों से हाय!
अरुण कलियों से कोमल-घाव।
कभी खुल पड़ते हैं असहाय।
पटक रवि को वलि सा पाताल।
एक ही वामन पग में—
लपकता है तमिस्र तत्काल।
—धुएँ का विश्व-विशाल।

यहाँ विरह-भावना उपमाओं से मूर्त हो उठी है—घाव को अरुण कली कहा गया है। पूरा छन्द सङ्गीतात्मक है, स्थान-स्थान पर उसकी एक स्वरता को तोड़ने के लिए एक पंक्ति को झटके से कम कर देने से और भी सौन्दर्य उत्पन्न हो गया है। भावना अलङ्कार व शब्द-शिल्प का सामञ्जस्य यही है।

किन्तु जैसा कहा कि प्रायः कवि अपने इस सिद्धान्त से दूर चला गया है अतः कल्पना की प्रधानता अधिक होगई है और भावना के संस्पर्श का अभाव हो जाने से नक्षत्र, स्याही की बूँद आदि कविताओं में सन्तुलन नही रह सका। इस सन्तुलन को पूरा करने के लिए कवि ने शब्द-शिल्प पर और भी अधिक ध्यान दिया है जिसकी चरम-सीमा "गुञ्जन" में दिखाई पड़ती है और उससे संतुलन और भी बिगड़ा है क्योंकि शब्द की घिसावट अधिक करने से, उसमे सङ्गीत भरते रहने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ जाने से भाषा का सहज, रूप लुप्त होता है। इसीलिए सूरदास सङ्गीतात्मकता का पूरा-पूरा ध्यान रखने पर भी भाषा की सहजता की उपेक्षा नहीं कर सके। पन्त, निराला, महादेवी व प्रसाद में और इनमें भी (पन्तजी में) यह प्रवृत्ति सीमा को अतिक्रान्त कर गई, अतः काव्य, काव्य न रह कर केवल शब्द सौन्दर्य व सङ्गीत का ही पर्याय होता गया, स्वयं पन्तजी ने पीछे से इसीलिए 'छायावाद' को "अलंकृत सङ्गीत" कहा था।

'सामञ्जस्य' या औचित्य की चर्चा में छन्द पर भी विचार होना चाहिए। पन्तजी के अनुसार "कविता प्राणों का सङ्गीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। छन्द अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर,

निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भरकर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियंत्रित साँसे नियन्त्रित हो जाती हैं।"

मतलब यह कि छन्द से राग मे अनुशासन आ जाता है और अपने इस नियंत्रित रूप में, किनारे में बँधे हुए सरिता-प्रवाह की तरह वह हमारे आनन्द का स्रष्टा बन जाता है। मुक्त छन्द भी छन्द कहलाता है। निराला के मुक्त कहलाने वाले छन्द मे भी प्रवाह का ध्यान रखा जाता है, जिससे पढ़ने मे बाधा नही आती। यदि लय और उसके स्थान-स्थान पर 'अवसान' में परिस्थिति का विचार न किया जाय तो "मुक्त छन्द" केवल 'मुक्त' रह जाय, "छन्द" शब्द का प्रयोग ही समाप्त हो जाय।

पक्ति को छोटा या बड़ा करना चाहिए, किंतु यों ही किसी पंक्ति को छोटा या बड़ा कर देने से 'मुक्त छन्द' न होगा। पन्त जी ने मुक्त छन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह बताई है कि इस छन्द से कविता के गठन Solidity of expression की रक्षा होनी चाहिए। पंक्तियों या पदों के घटाने व बढ़ाने का अधिकार इसलिये दिया जाता है कि भावना की सुगठित अभिव्यक्ति में बाधा न पड़े, व्यर्थ शब्द-व्यय न करना पड़े। परन्तु जो कवि उमड़ती हुई भावना के अभाव में मुक्त छन्द लिखते हैं वे यदि नियमित छन्द ही लिखें तो अधिक अच्छा है क्योंकि तब इससे उनकी कविता कम से कम "पद्य" की संज्ञा अवश्य पा जायगी। भावना का अभाव मुक्त छन्द में सबसे अधिक खटकता है।[1]

पन्त जी क्रियाओं में "है" तथा "अत्यधिक समास-बद्धता" के विरुद्ध हैं। यह तो ठीक है। परन्तु उन्होंने कविता में स्वर वर्णों के

---

[1] "मुक्त छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव व भाषा का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हर गीतिका, पद्धति, रोला आदि छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने से भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच-खाँच कर उसके ढाँचे में फिट करना पड़ता है, कभी पाद पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। [illegible] साम्यवादियों की तरह ये छन्द बाह्य-समानता चाहते हैं। मुक्त काव्य आ[illegible]रिक ऐक्य, भाव जगत के साम्य को ढूँढता है। उसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व दीर्घ हो सकते हैं"।

प्रयोग पर अधिक जोर दिया है, व्यञ्जन वर्ण उनके अनुसार गौण रूप से सहायता पहुँचाते हैं। निराला जी ने पन्त जी की शब्दावली में श, ण, ल, व का प्रयोग अधिक दिखाया है जो निराला जी के अनुसार परुप वर्ण हैं और जिनका प्रयोग कविता मे कम होना चाहिए। निराला ने पन्त जी की कविता से उदाहरण देकर उनमे प्रयुक्त "शणलववाद" को सिद्ध कर दिया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि स्वयं निराला जी की कविता में शणलववाद पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। बात यह है कि भापा को एकरूपता देने का अत्यधिक आग्रह व्यर्थ है। छायावाद की भापा शक्तिहीन इसलिए होगई क्योंकि उसमें कोमल भावनाओं को व्यक्त करने के लिये भाषा के एक विशेप रूप का परिमार्जन किया जाता रहा और अततोगत्वा वह रूप जीवित भाषा के प्रयुक्त रूप से अत्यधिक भिन्न होगया। इसीलिए प्रगतिवादी युग मे भाषा के इस अतिशय अलकृत रूप को स्वीकार नही किया गया।

शब्द-शिल्प के प्रसङ्ग में एक बात कह देना और आवश्यक है कि प्राचीन "अनुप्रास-प्रियता" ने भी भाषा के छायावादी रूप देने में सहायता की। पन्त जी मे अनुप्रास-प्रियता सबसे अधिक मात्रा में पाई जाती है।

अब अलङ्कारों पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए "अलङ्कार भाषा के हाव भाव हैं, अश्रु और पुलक हैं" ऐसा पन्त जी ने कहा है। प्राय यह कहा जाता है कि छायावाद की सबसे बड़ी विशेपता ही मानवीयकरण व विशेषण विपर्यय हैं। इस मत के अनुसार चूॅकि भाषा मे नए प्रयोग शुरू हो गए। अत प्राचीन रुचि के लोग उसे समझ न सके और इसका नाम बॅगला के अनुकरण पर 'छायावाद' पड़ गया। परन्तु जैसा पीछे के विवेचन से स्पष्ट है कि छायावाद शैली मात्र न होकर दृष्टिकोण विशेष है—रोमानी दृष्टिकोण जिसकी जो प्रतिक्रिया जगत, जीव, समाज व प्रकृति पर होती है वह छायावादी कविता में अभिव्यक्त हुई है। उसका अनुभूति-पक्ष भी नवीन है, और शैली-पक्ष भी। परन्तु अनुभूति पक्ष को पुष्ट करने के लिए जिस प्रकार छायावादी कवियों ने भारतीय दर्शन से सहायता ली थी, विशेपकर सर्ववादी चेतना के दार्शनिक आधार के लिए, उसी प्रकार छायावाद शैली के क्षेत्र में नवीन अलङ्कारों का प्रयोग करते हुए भी वे प्राचीन अलङ्कारों का अधिक संख्या में प्रयोग करते है।

विशेषतः छायावाद की नवीन शैली में इस दृष्टि से मानवीयकरण व विशेषण विपर्यय के उदाहरण अधिक मिलते हैं परन्तु प्रतीकात्मक प्रयोग भी छायावाद में बहुत अधिक हुए हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने के लिए साहित्य में एक मात्र उपाय है, प्रतीक-पद्धति को अपनाना। छायावादियों ने यह प्रतीक पद्धति अपनाई है और आगे चल कर पन्त जी का सारा नूतन काव्य प्रतीकात्मक ही होगया है। हम प्रतीकों के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा तो वहीं करेंगे परन्तु यहाँ इतना समझना चाहिए कि छायावाद में सूक्ष्मता के दो ही आधार हैं—१ लक्षणा शक्ति का नूतन प्रयोग, २ प्रतीकात्मकता।

अलङ्कारों में सादृश्य मूलक अलङ्कारों का—उपमा, रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग सर्वाधिक रूप से मिलता है। वैषम्य-मूलक अलङ्कारों में विरोधाभास का प्रयोग अधिक हुआ है। पन्त की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। उन्होंने साँगरूपकों का भी प्रयोग किया है परन्तु कम। उपमा के द्वारा वे चित्र को मूर्त करने में सबसे अधिक दक्ष कवि हैं।

फेन के मोती पिरो सुख सूत में, बुद्‌बुदों सा गीत गा लेवें मधुर।

—ग्रन्थि

यहाँ रेखांकित अंशों में प्रथम दो में रूपक व तृतीय में उपमा है। नवीनता का आभास केवल "बुद्‌बुदों सा" इस नवीन उपमा के कारण प्रतीत होता है।

"स्वप्न के सस्मित अधर पर, नींद में,
एक बार किसी अपरिचित साँस का।
अर्ध-चुम्बन छोड़, मैं झट चौंक कर,
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर सी॥ —ग्रन्थि

यहाँ स्वप्न के मुस्कराते हुए अधरों पर एक अपरिचित साँस का अर्ध-चुम्बन छोड़ा गया है। इसी प्रकार के प्रयोगों से छायावाद शैली के क्षेत्र में प्राचीन कविता से भिन्न हो गया। यहाँ स्वप्न को इस प्रकार चित्रित किया गया है मानो वह नायिका की भी नायिका है क्योंकि स्वप्न के अधरों का साँस से चुम्बन लिया गया है। बात केवल इतनी सी थी कि 'स्वप्न देखा।' परन्तु स्वप्न के मानवीयकरण ने इतना सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया फिर साँस के साथ अपरिचित शब्द लगा कर विशेषण विपर्यय की ध्वनि उत्पन्न करदी गई और चुम्बन-

क्रिया के काल की मात्रा को कम कर देने के लिए 'अर्ध' शब्द लगाया गया। यह नहीं कहा गया कि 'थोड़ी देर चुम्बन करके।' अतः इससे भी वक्रता उत्पन्न हो गई। इस प्रकार 'ग्रन्थि' में ही मानवीयकरण व विशेषण-विपर्यय के जादू से छायावादी शैली का चमत्कार प्रारम्भ हुआ।

'पल्लव' की सुन्दर कविताओं मे 'उच्छ्वास', आँसू, मधुकरी, छाया, परिवर्तन आदि की गणना होती है। प्राचीन व नवीन अलङ्कारों का इनमें बराबर प्रयोग मिलता है। परन्तु उपमा व रूपकों में भी प्राचीन पद्धति के स्थान पर नवीनता के प्रयोग हैं। प्राय स्थूल वस्तुओं की सूक्ष्म उपमाएँ व सूक्ष्म वस्तुओं की स्थूल उपमाएँ देकर नवीनता उत्पन्न की गई है।

स्थूल वस्तु के लिए सूक्ष्म उपमान—

मैं मन्द हास सा उसके मृदु अधरों पर मँडराया।

पुनश्च

उच्चाकांक्षाओं से तरुवर

सूक्ष्म वस्तु के स्थूल उपमान—

खिंची सखी सी साथ —(मुस्कान के लिए)

सूक्ष्म वस्तु के लिए सूक्ष्म उपमान—

विचारों में बच्चों के साँस

—(कोमलता, भोलापन, सरलता तथा निश्छलता के लिए)

'उच्छ्वास' के 'सावन' भाग में लगभग १५ उपमाओं का प्रयोग किया गया है परन्तु आधी से अधिक उपमाएँ स्थूल वस्तु के लिए स्थूल उपमान देने की प्रवृत्ति पर आधारित हैं। इसी प्रकार 'आँसू' में सांगरूपकों, उत्प्रेक्षाओं व उपमाओं का प्राचीन पद्धति पर प्रयोग किया गया है। अतः छायावाद में प्राचीनता व नवीनता का मिश्रण है।

प्रतीकों का प्रयोग छायावादियों की विशेषता मानी जाती है। वस्तुतः नवीन प्रतीकों का प्रयोग छायावादियों की विशेषता है। प्रतीकों के नवीन प्रयोग देखिए:—

"धूल की ढेरी" में अनजान।

छिपे हैं मेरे मधुमय गान॥

यदि जीवन को तरु रूप में वर्णित करने वाला कवि किसलय को बचपन व पुष्प को तारुण्य तथा फल को प्रौढ़ता स्वीकार करता तो कोई नवीन बात न होती परन्तु यहाँ "धूल की ढेरी" को बचपन कहा गया है क्योंकि बच्चे का धूलि से "लरिकाई को साथ" रहता है। पूर्व छायावादी काल में—पल्लव, आँसू, गीतिका काल में 'आँसू' मे प्रतीकों का प्रयोग सर्वाधिक रूप से मिलता है और पन्त में नवीन उपमान-विधान, अँगरेजी के शब्दों के अनुवाद (Golden Smile=स्वर्णिम मुस्कान आदि), अँगरेजी वाक्यों का अनुकरण, लिंगविपर्यय, नए शब्दों का निर्माण आदि गुण विशेष रूपमें मिलते हैं। लक्षणा शक्ति में साध्यवसाना व सारोपा लक्षणा के प्रयोग पन्त मे अधिक मिलते हैं। शुक्लजी ने साध्यवसाना के अधिक प्रयोग पर घोर आपत्ति प्रकट की थी।[1]

पन्तजी की कविता का दूसरा चरण "गुञ्जन से प्रारम्भ होकर ज्योत्सना नाटक में समाप्त होता है। इन रचनाओं में बुद्धि व कल्पना-तत्त्व का प्रयोग अधिक हुआ है, भावना का कम[2]। प्रकृति व मानव

[1] देखिए हिन्दी साहित्य का इतिहास, तथा शब्द शिल्प, अलकार, शब्द-शक्ति आदि के उदाहरणों के लिए देखिए—छायावाद युग (शम्भूनाथ-सिंह) तथा आधुनिक कवि पन्त—(कृष्णकुमार सिनहा) तथा छायावादी कला के दोष-दर्शन के लिए देखिए "छायावाद का पतन"—(डा० देवराज) तथा छायावाद व योरोपीय रोमानी कविता के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए—"हिन्दी के प्रमुखवाद"—वि० ना० उपाध्याय।

[2] "पल्लव गुञ्जन काल के बीच में मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य स्वप्न टूट गया। दर्शन-शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मन्थन पैदा कर दिया। मेरी निजी इच्छाओं में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रतीत हुआ।"

(परिवर्तन शीर्षक कविता पर उपनिषदों के अध्ययन का प्रभाव वही हुआ जो गौतम बुद्ध पर एक मृत व्यक्ति के दर्शन से हुआ था, यौवन व आनन्द क्षणिकता व अनित्यता के कारण विस्मय जन्य सौन्दर्य के स्थान पर निराशा उत्पन्न करने लगे अतः पन्तजी ने लिखा) जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसन्त के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का

जीवन के मधुर रूपों को देख-देख कर मुग्ध होने के स्थान पर 'गुञ्जन' में सुख दु:ख से पीडित जीवन मे सामञ्जस्य खोजने का कार्य अधिक हुआ और 'अप्सरा व ज्योत्सना' मे शुद्ध कल्पना के बल पर 'आशा-वाद' को प्रश्रय दिया गया। पीड़ित व अभिशापित जगत के सुधार व उद्धार के लिए मनोरम कल्पना को अनिवार्य मान लिया गया। हार्दिकता का जो थोड़ा बहुत अश पल्लवकालीन रचना मे दिखाई पडता था उसके स्थान पर दार्शनिकता का आभास आने लगा। परिणाम यह हुआ कि गुञ्जन व ज्योत्सना के गीतो मे हृदय के आवेश के स्थान पर बुद्धि के आवेश (मैं कहूँगा कल्पना के आवेश) का चित्रण अधिक मिलता है।

ग्रन्थि, वीणा, पल्लव युग मे पन्तजी को प्रकृति पर विश्वास था। मै कह चुका हूँ इसके पीछे यह प्रवृत्ति थी कि अभावों से पीड़ित मानव जीवन को प्रकृति में ही सुख मिल सकता है, आनन्द यहाँ समाज में नही है क्योंकि इसका तो इसके ठेकेदारो ने नाश कर दिया है, अत प्रकृति की शरण मे जाओ, वह पूर्ण है, वह न केवल आनन्द होती है अपितु जीवन के लिए सत्य का भी संकेत करती है, अनेक जीवन-सत्यों की प्राप्ति प्रकृति से हो सकती है, अत प्रकृति के अञ्चल को देखो, जिस सौन्दर्य का इस जीवन मे अभाव है वह भी प्रकृति के पास है।

यह प्रवृत्ति आगे कम होती गई और मार्क्सवाद के अध्ययन से पूर्णतया नष्ट हो गई, कवि मानव जीवन के सुख दुःख की समस्या मनोवैज्ञानिक रूप से गुञ्जन में और समाज शास्त्री (कल्पनावादी समाजशास्त्री) के रूपमे 'ज्योत्सना' मे सुलझाता है।

गुञ्जन की काव्यकला को समझने के लिए जीवन-कल्याण के लिए जो 'मनोवैज्ञानिक समाधान' प्रस्तुत किया गया वह इसी बूर्ज्वा

अस्थिपिञ्जर—

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।
वही मधु ऋतु की गुञ्जित डाल,
झुकी थी जो यौवन के भार।
अकिंचनता में निज तत्काल,
सिहर उठती है यौवन भार।

भ्रम पर आधारित है कि सुख दुःख बाहर नहीं, मन के भीतर हैं, यह ठीक है कि समान परिस्थितियों में असन्तुलित मानसिक स्थितियों के व्यक्ति भिन्न भिन्न मात्राओं में सुखी दुःखी देखे जाते हैं और इसके लिए 'संतुलन' की आवश्यकता को सभी स्वीकार करेंगे परन्तु जिस मानव कल्याण की भावना से प्रेरित कवि गुञ्जन में 'समन्वित सुख दुःखवाद' का उपदेश देता है उसका सीधा अर्थ है कि बाह्य स्थिति को बदलने के बिना भी, उससे प्रभावित व्यक्ति की सुख दुःख सम्बन्धी भावनाएँ विश्व कल्याण के लिए केवल संतुलन चाहती हैं, व्यक्ति के सुख के लिए बाह्य जगत् को बदलने का प्रयत्न आवश्यक नहीं है। इस भ्रम के कारण ही 'गुञ्जन' की काव्यकला को प्रस्तुत रूप मिल गया है। और इसीलिए भावनाओं के असन्तुलन को ही दुःख का कारण मान लिया गया है, पूँजी के असन्तुलन को नहीं। अतः जिसे पन्त 'आत्म-कल्याण' कहते हैं वह तो 'एकान्तिक व्यक्तिवाद' की की ओर उन्मुखता" के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और जिसे वे 'विश्व कल्याण' कहते हैं वह प्राचीन संस्कारों से पीड़ित मध्यवर्गीय मन का स्वप्न मात्र है और इस स्वप्न-दर्शन का कार्य सौन्दर्य-कल्पना से लिया गया है जो एक ओर कविता है दूसरी ओर समाज शास्त्र के नाम पर निस्सार बहक।[1] किन्तु यदि यह प्रश्न हो कि क्या कवि विश्व कल्याण की भावना को हृदय से अनुभव करता है ? या केवल सत्य को छिपाना चाहता है ? उत्तर होगा कवि की भावना सच्ची है परन्तु सामाजिक दर्शन को पूर्णतया स्वीकार न करने के कारण उसके आदर्शवादी संस्कार उसे इस निरपेक्ष कल्पना व भावना के समन्वय की ओर ले जाते हैं और बहक प्रारम्भ हो जाती है। सचाई का प्रमाण लीजिए—

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल।
जग-जीवन की ज्वाला में ढल॥
बन अकलुष, उज्ज्वल और कोमल
तप रे विधुर विधुर मन !

[1] गुञ्जन और ज्योत्स्ना में मेरी सौन्दर्य कल्पना आत्म-कल्याण और विश्व-मङ्गल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है। —आधुनिक कवि की भूमिका

किन्तु यहाँ कवि अकलुष बनने की इच्छा करता हुआ यह न समझने के कारण कि कलुष का कारण क्या है, केवल कल्पना के बल पर संतुलन की ओर ले जायगा। जिस प्रकार भक्तिकाल के कवि समाज को बदलने की असमर्थता के कारण 'ईश्वर' पर ही सब कुछ छोड़ देते थे उसी प्रकार कवि समाज को बदलने का उपदेश न देकर और उसके लिए मानव मन में शक्ति व आत्म-विश्वास का सञ्चार न कर, कल्पित 'अकलुषता' की प्राप्ति के लिए योगियों व भक्तों की पद्धति पर सयम व सन्तुलन की शिक्षा देने लगता है। परिणाम यह होता है कि बन्धन को ही वह मुक्ति मान बैठता है क्योंकि बन्धन ही मुक्ति की कामना उत्पन्न करता है। यह मुक्ति मानव-समाज की नहीं, कल्पना मे निमग्न मन की मुक्ति है अत कवि कहता है—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन।
गन्ध हीन तू गन्ध-मुक्त बन॥

प्रश्न हो सकता है कि क्या कवि आशा-निराशा, इच्छा-संयम, पाप, पुण्य, लोभ-त्याग के द्वन्द्व को चित्रित कर अन्त में अच्छे गुणों की विजय दिखलाए जैसा कि विश्व के सारे साहित्य मे पाया जाता है। बाल्मीकि, होमर, गेटे, कालिदास, मिल्टन, तुलसीदास, शेक्सपियर आदि सभी में यही द्वन्द्व चित्रित हुआ है, और इस द्वन्द्व को पढ कर हमारा मन सामाजिक गुणों की ओर आकर्षित होता है। बाह्य परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने के लिए उस साहित्य की सर्वदा आवश्यकता होगी जो आन्तरिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करना सिखाता है, भक्तों, योगियों, रहस्यवादियों तथा कल्पनावादियों तक के साहित्य का इस दृष्टि से जनता के लिए महान् उपयोग है और रहेगा। क्योंकि बाह्य परिस्थितियों पर मनुष्य द्वारा विजय प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी आन्तरिक सघर्षों पर विजय प्राप्ति की समस्या सदा रहेगी। हम नित्य जीवन में अनुभव करते हैं कि पग-पग पर इच्छा-विवेक, लोभ त्याग आदि के द्वन्द्व हमारे सम्मुख उपस्थित होते रहते हैं।

प्रश्न तो ठीक है और इसका उत्तर भी एक सीमा तक सही है परन्तु प्रस्तुत परिस्थिति दूसरी है। यह कोई नही कह सकता कि आंतरिक-संघर्ष-प्रधान साहित्य स्थायी नही होता, वह अवश्य स्थायी होता है, परन्तु गुञ्जन व ज्योत्स्ना की परिस्थति देखिए। इन रचनाओं में व्यक्त रचना सौन्दर्य व कल्पना के सौन्दर्य पर दो मत नही हो सकते परन्तु

प्रश्न यह तो नही होना चाहिए कि गुञ्जन व ज्योत्सना का क्या उपयोग होगा ? क्योंकि वह एक अलग प्रश्न है और इन सारी रचनाओं का सापेक्षिक महत्त्व है। परन्तु प्रश्न यह है और होना चाहिए कि जब कवि बुद्धि द्वारा समाज-कल्याण की समस्या को हल करना चाहता है तो क्या वह कोई ऐसी वात कहता है जिससे हमारे सघर्ष में सहायता मिले या कवि के इच्छित विश्व-कल्याण की स्थापना हो सके। उत्तर होगा, नही। कवि कल्पना द्वारा समाधान खोजता है, यथार्थ को एक ओर रख देता है और इसका प्रभाव कला के रूप पर यह होता है कि सामाजिक सङ्घर्ष के क्षणों मे भक्तिकाल की आत्म-निवेदन-प्रधान कविताओं का पुनरुद्धार होने लगता है जबकि ऐसी कविताएँ हमारे यहाँ कम नही हैं। हमारे साहित्य में कल्पना व भावना की समस्या के समाधान के लिए वैदिक युग से लेकर अब तक बराबर विना समझे-बूझे, अपनी ऐतिहासिक सीमाओं के कारण समय नष्ट किया गया है, अब सत्य के निर्णय में कल्पना व भावना का दुरुपयोग करने का समय नही रहा। अत मेरा लक्ष्य है कवि का 'बुद्धितत्त्व' जिसको पन्तजी के काव्य में सर्वदा कल्पना के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पडा है। गुञ्जन व ज्योत्स्ना में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। बुद्धितत्त्व के अभाव के कारण यद्यपि कवि की सहज सहानुभूति मनुष्य के उच्च आदर्शों को मिली है परन्तु केवल आदर्श-आदर्श रटने या ईश्वर के प्रति विश्वास को दुहराने से उन आदर्शों की प्राप्ति और भी अधिक अव्यावहारिक हो जाती है। क्योंकि वह मनुष्य के मन को एकान्तिक साधना मे निमग्न कर देता है और यथार्थ जीवन का महत्त्व एकांतिक साधकों के लिए रह ही नही जाता—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्शों का,
लगता अपूर्ण मानव-जीवन।

परन्तु अपूर्णता का अनुभव करने पर भी कवि कहता है—

जग जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव-अभिलाष मुझे
ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे।

चाहिए विश्व को नव जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन।

यह है परिणाम कल्पना द्वारा सामञ्जस्य खोजने का। जीवन की अपूर्णता को ईश्वर के प्रति चिर विश्वास ही दूर कर देगा, यही विश्वास भक्तों कवियों का था और यह चिंतन की असमर्थता थी। परन्तु पन्त जी उसी का पुनरुद्धार कर रहे हैं और वह भी चिंतन की वैज्ञानिकता के नाम पर, समन्वय के नाम पर, राष्ट्रीयता के नाम पर और साथ ही विश्व को एक मान कर भी अमुक दर्शन भारत की तपोभूमि पर उत्पन्न होने के कारण सर्वातिशयतावादी होने से अवश्य सारी समस्यायों को सुलझाने की शक्ति रखता है, चाहे वह कितना ही असामाजिक क्यों न हो, यह विश्वास पन्त जी से कभी दूर नही होता अत उसके साथ वह समन्वय की बात करने लगते हैं तथा केवल किसी दर्शन का जन्म रूस में हुआ है इसलिए वह भारतीयों के लिए अग्राह्य है क्योंकि वह विदेशी है (जबकि ज्ञान को वह स्वयं अखण्ड मानते हैं और विदेशी वस्तुओं का उपयोग करते हैं) यह विश्वास सदा उन्हें प्रेरित करता रहा है। यह "संस्कारवाद" ही उनके सामञ्जस्यवाद का आधार है और यह मूलतः गलत है।

'कल्पित सामञ्जस्यवाद' की स्वीकृति का प्रभाव देखिए कि पन्त जी किस प्रकार विश्वास को क्रिया का स्थान दे देते हैं—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता है रे सुखमय जीवन।
ज्यों सहज-सहज साँसों से चलता उर का मृदु कम्पन॥

यदि प्रथम पक्ति में "ही" की जगह "भी" होता और "विश्वासों" की जगह "कार्यों" होता तो उचित होता—

सुन्दर कार्यों, भावों से बनता रे सुखमय जीवन।

परन्तु छायावादी वृत्ति मूलत. रामानी सौन्दर्य बोध पर आधारित है जो रूढ़िवादी सामन्ती नियम-बद्धता का विरोध करके भी स्वतः "मधुप वृत्ति" पर आधारित है और मधुप तो पुष्प के अभाव में चुपचाप भी रहता है, छायावादी पुष्प के बिना भी सौन्दर्य देख लेने की शक्ति रखता है। वह अपने अत करण के सौन्दर्य से वस्तु को आवृत कर असुन्दर में भी सुन्दरता खोज लेता है अत चारों ओर सौन्द्रर्य ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है। सर्ववाद इसमें सहायता करता है। कहीं कुत्सितता नहीं, कहीं अमगल नहीं, कहीं कुछ खटकने वाली

बात नहीं, कहीं कुछ चुभता नहीं, रज का तन, सुख दुःख में झूलता मन, शैशव, यौवन, वाणी, कर्म (चाहे जैसा हो) दिशि, क्षण, प्राचीन, नवीन, सब कुछ सुन्दर है अर्थात् जब सब कुछ सुन्दर है और कर्म का प्रत्येक रूप सुन्दर है तो पुजारी भी सुन्दर और मूर्ति भी सुन्दर है, मूर्ति पर चढ़ने वाला भोग भी सुन्दर और उसे गटकने वाले तथा यात्रियों को लूटने वाले भँगेड़ी पण्डे भी सुन्दर! जमींदार और राजप्रमुख भी सुन्दर, और बेगार में पकड़े हुए पासी और चमार भी सुन्दर! हाकिमों की दावत में पानी की तरह शराब और दूध बहाने वाले भी सुन्दर और अजगरों के समान फूत्कार मारने वाले घृणित मुख भी सुन्दर, कोल्हुओं के क्रूर सञ्चालक भी सुन्दर और उनमें पिसने वाले भी सुन्दर! बदल बदल कर बोली बोलने वाले नेता भी सुन्दर और उनकी देहली पर माथा रगड़ने वाले तथा अपने घरों में एड़ियाँ रगड़ने वाले भूखे भी सुन्दर। सर्वत्र सौन्दर्य का साम्राज्य है, तटस्थ होकर देखो, दुनियाँ का सौन्दर्य तब नजर आता है—

सुन्दर मृदु-मृदु रज का तन, चिर सुन्दर सुख-दुख का मन।
सुन्दर शैशव यौवन रे, सुन्दर सुन्दर जग जीवन॥
सुन्दर वाणी का विभ्रम, सुन्दर कर्मों का उपक्रम।
चिर सुन्दर जन्म-मरण रे, सुन्दर सुन्दर जग जीवन॥

जब सौन्दर्य की ऐसी लूट हो रही हो, तब कहना होगा, बहुत सुन्दर! बहुत सुन्दर! परन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ सुन्दरता नहीं है। क्योंकि कविता सिद्धान्तों की घोषणा नहीं है और पल्लव-वीणा के पश्चात् कवि का स्वर काव्यात्मक कम, घोषणात्मक अधिक होता गया है। 'ग्राम्या' को छोड़कर जिसमें कवि ने घोषणा को एक ओर रखकर जीवन को देखा है, सुन्दरता की सृष्टि हुई है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि जब कवि पैगम्बर बनने की धुन में रहता है तब कविता, कविता न रहकर कुरान की आयत, वेद की ऋचा, बाइबिल की सूक्ति, योगी का अनहदनाद तथा पुरोहित की पुकार हो जाती है। और यह जाहिर है कि यह कविता नहीं है।

जिस आदर्शवाद ने मानव-मात्र के प्रति करुणा उत्पन्न की[1]

[1] देखिए 'मानव' शीर्षक कविता। —गुञ्जन

वह मानव को स्वयं भ्रम से आक्रान्त होने के कारण उसे (मानव को) दिग्भ्रमित करता रहा, इसे देख कर घोर ग्लानि होती है। दूर से तटस्थ होकर जीवन-सङ्घर्ष को देखने से सङ्घर्ष का यथार्थ रूप छिप जाता है और उसमें भी सुन्दरता दृष्टिगोचर होने लगती है। अत: पन्तजी इसी निरपेक्ष सौन्दर्य के गायक हैं। युद्ध-स्थल, अरण्य, तथा पर्वत दूर से देखने में सुन्दर लगते हैं। परन्तु जो युद्धस्थल मे स्वयं खड़ा होता है, जो जङ्गल मे घुसकर स्वयं रास्ता बनाता है। जो पर्वत के शृङ्गों पर चढ़कर पग-पग पर डगमगाता है परन्तु ऊपर ही की ओर देखता है उसका अनुभव भिन्न होगा और वह अनुभव पन्तजी का नही हो सकता। वह जीवन की सरिता को दूर से देखते हैं, डूबने के भय से पास नहीं जाते और समझते भी नही। वह समझते हैं कि केवल इसी दृष्टि से विश्व को देखने से उसका कल्याण हो जायगा—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में, रहती मछली मोती वाली।
पर मुझे डूबने का भय है, भाती तट की चल-जल-माली॥

छायावादी सौन्दर्य अपनी व्यक्तिगत रुचि से वस्तु को देखते समय उत्पन्न होता है, वस्तु के प्रकृत रूप से, उस सौन्दर्य का कोई सम्बन्ध नही है। इसी से इसे व्यक्तिवादी—विषयीगत सौन्दर्य कहा जाता है। यह सौन्दर्य कहाँ-कहाँ से आता है? इसे भी देख लीजिए—

दूर, उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार।
छिपा छाया-वन में सुकुमार, स्वर्ग की परियों का संसार॥
वही उन पेड़ों में अज्ञात, चाँद का है चाँदी का वास।
वही से खद्योतों के साथ, स्वप्न आते उड उड कर पास॥
इन्ही में छिपा कही अनजान, मिला कवि को निज गान।

गुञ्जन का बुद्धिपक्ष अत्यधिक दुर्बल और असामाजिक है।[1] चित्रण की दृष्टि से गुञ्जन की सुन्दर रचनाओं में अप्सरा, चाँदनी,

[1] गुञ्जन में कवि वस्तुतः जीवन के सुख-दुःखों को महत्व ही नहीं देता। वह योगियों की तरह उपदेश देता है—"अस्थिर है जग का सुख-दुख' परन्तु फिर भी जीवन शब्द का सयम या ब्रह्म के अर्थों में प्रयोग करके कहता है "जीवन ही नित्य, चिरन्तन" अतः तब क्या करना चाहिए? सुख-दुःख से मन को ऊपर रखकर हरिनाम की माला का जाप करना चाहिए—

सुख दुख से ऊपर, मन का जीवन ही रे अवलम्बन।

एकतारा, नौका विहार की गणना होती है। स्वयं पन्तजी के शब्दों मे गुञ्जन की कला सूक्ष्म हो गई है। पल्लव के स्वरों मे विविधता व गुञ्जन के स्वरो में चाहे भले ही एकता हो, परन्तु चित्रों की विविधता के लिए नौका-विहार पठनीय है। पन्तजी की चित्रण-कला का सुन्दरतम रूप यहाँ प्रस्तुत है। हिन्दी के लिए पन्त का सामञ्जस्यवाद नहीं, रूप-चित्रण, प्रकृति-प्रेम तथा शब्द-साधना उपयोगी है।

पल्लव व गुञ्जन के चित्रों में एक बहुत बड़ा अन्तर है 'सूक्ष्मता' का। 'भावी पत्नी के प्रति' तथा पल्लव की 'उच्छ्वास' में प्राप्त रूपाङ्कन के तुलनात्मक अध्ययन से दोनों युगों की कला का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। पल्लव के चित्र स्पष्ट, मूर्त, उभरे हुए तथा भावना के रङ्ग से रङ्गीन हैं। सचमुच पल्लवों से उनकी उपमा देना ठीक है। किसलयों के समान ही उनमें ताजगी है, परन्तु गुञ्जन में चित्रण-कला सूक्ष्म हो गई है। अतः कवि यहाँ चित्र को उभारने का प्रयत्न नही करता अपितु उनमें सांकेतिकता लाने का अधिक प्रयत्न करता है। 'पल्लव' और भ्रमर का 'गुञ्जन' ये वस्तुतः दो मानसिक स्थितियाँ हैं। प्रथम में ध्यान बाहरी रूप रङ्गों को अभिव्यक्त करने पर है, दूसरी मे वस्तु की ओर झाँककर मन की प्रतिध्वनि सुनने और उस गूँज को वाणी देने पर। यही कारण है कि गुंजन के 'नौका विहार' व 'एकतारा' के तटस्थ रूपाङ्कन के पश्चात् अन्त में एक परिच्छेद और जोड़ दिया गया है जैसे सुन्दर हरिण के पैर में चक्की का पाट बाँध दिया गया हो। पल्लव में प्रिया का रूप यह था—

सरलपन ही था उसका मन, निरालापन था आभूषण।
कान से मिले अजान नयन, सहज था सजा सजीला तन॥
सुरीले ढीले अधरों बीच, अधूरा उसका लचका-गान।
विकच-बचपन को, मनको खीच, उचित बन जाता था उपमान।

और भावी पत्नी का रूप यह है—

बचपन-अञ्चल मे झूल सकाल, मृदुल उर-कम्पन सी वपुमान।
स्नेह सुख में बढ़ सखि! चिरकाल, दीप की अकलुष-शिखा समान॥[1]
हृदय के पलकों में गतिहीन, स्वप्न संसृति सी सुषमाकार।
बाल भावुकता बीच नवीन, परी सी धरती रूप अपार॥[2]

[1] यह भावी पत्नी के शैशव काल का वर्णन है।
[2] यह किशोरावस्था का वर्णन है।

पाठक देखें कि कवि चित्र को उभार कर रखने का प्रयत्न नहीं कर रहा है और आगे देखिए—

मृदूर्मिल-सरसी में सुकुमार, अधोमुख अरुण-सरोज समान।
मुग्ध कवि के उर के छू तार, प्रणय का सा नव गान॥

चूँकि कवि इस कविता में अधिकतर स्थूल नायिका के शरीर के लिए सूक्ष्म भावनाओं को अप्रस्तुत विधान के लिए चुनता है, अत. चित्रण कला पल्लव से कहीं अधिक सूक्ष्म होगई है।

✓सूक्ष्मता का दूसरा कारण है मानसिक स्थितियों का चित्रण। 'पल्लव' मे जहाँ कल्पना का प्रयोग कम है, भावना का मुख खुल गया है। वहाँ उद्गारों का चित्रण अधिक है और प्रकृति को भी भावना का रूप पहनाया गया है. परन्तु गुञ्जन मे पल्लव की पद्धति पर नौका-विहार मे ही तटस्थ रूपाङ्कन अधिक मिलता है अन्यत्र दृश्यों के मन पर पड़े हुए प्रभावों का वर्णन होने लगता है तभी तो इसका नाम 'गुञ्जन' सार्थक हो गया है। "आज रहने दो गृह काज" मे पति के हृदय में सहसा उत्थित "काम भावना" का मनोहर चित्रण हुआ है—

आज रहने दो यह गृह काज।
प्राण! रहने दो यह गृह-काज॥
आज जाने कैसी वातास।
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास॥
प्रिये लालस-सरल वातास।
जगा रोओं में सौ अभिलाष॥
आज क्या प्रिये! सुहाती लाज?
आज रहने दो सब गृह-काज॥

इसी प्रकार "भावी पत्नी के प्रति" कविता में स्मृति या सम्भावना के रूप मे प्रिय-प्रेयसी मिलन का चित्रण हुआ है और इसीलिए रीतिकालीन काव्य से वह बाल-बाल बचता हुआ अलग हो गया है। इसी प्रकार "डोलने लगी मधुर मधु वात" शीर्षक कविता मे प्रेम भावना की अमूर्तता व सर्व व्यापकता का चित्रण हुआ है।

"गुञ्जन" में सूक्ष्मता का तीसरा कारण सर्ववादी भावना की अतिशयता है। पल्लव में गुञ्जन की अपेक्षा उसका प्रयोग कम है, यों वहाँ भी पहली कृतियों से अधिक है।

कबीर ने कहा था—

तन रति कर मै मन रति करिहौं, पाँचौ तत्त्व बराती।
राम देव मोहि ब्याहन आए, मैं जोबन मद माती॥

और पन्तजी कहते है—

मिले अधरों से अधर समान।
नयन से नयन, गात से गात॥
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण।
भुजों से भुज, कटि से कटि शात॥
आज तन-तन, मन-मन हों लीन।
प्राण! सुख दु ख, स्मृति चिरसात्॥
एक क्षण, अखिल दिशावधि-हीन।
एक रस, नाम रूप अज्ञात!

उपर्युक्त पंक्तियों में छायावादी कला की विशेषता उसे स्थूलतावादी कला से अलग कर देती है। कला में सांकेतिकता का आधार लचक भी है, ऐसी पद्धति का प्रयोग कि कविता अनेक पहलू वाले दर्पण के समान बन जाय। एक ओर से देखने मे 'लौकिक भावी पत्नी' तथा दूसरी ओर से देखने पर, उन्ही शब्दों से 'अलौकिक दिव्य प्रिया' का वर्णन हो जाय। शब्दों को यह दुहरा अर्थ देने की प्रवृत्ति छायावाद में बहुत मिलती है और यह तभी सम्भव है जब कवि का शब्द पर पूर्ण अधिकार हो।

सूक्ष्मता व सांकेतिकता की चरम सीमा 'रूप तारा तुम पूर्ण, प्रकाम' शीर्षक कविता में देखी जा सकती है। इस कविता में कवि एक भी स्पष्ट चित्र नही बनने देता। 'चाँदनी' शीर्षक कविता यदि पल्लव काल मे लिखी जाती तो उसका रूप दूसरा होता परन्तु यहाँ सूक्ष्मता की प्रवृति से उसका स्पष्ट रूप नही उभर सका। कवि प्रथम पद्य में सुन्दर रूप चित्रण करता है—

नीले नभ के शतदल पर, वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु करतल पर शशि मुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनि।

और फिर ऐसे उपमान प्रस्तुत करता है जिससे चाँदनी का मूर्तीकरण नही होता—

वह सोई सरित पुलिन पर,
साँसों में स्तब्ध समीरण,

मिलता मृदु-मृदु उर-स्पन्दन,
अपनी छाया मे छिप कर,
वह खड़ी शिखर पर सुन्दर॥
वह लघु परिमल के घन सी,
जो लीन अनिल मे अविकल।

और सूक्ष्मता का परिणाम यह होता है कि जिस चाँदनी को देखकर कवि विह्वल हो सकता था अब उसके सम्मुख चाँदनी शंकर के भ्रमात्मक ज्ञान का प्रतीक बन जाती है—

वह है, वह नही अनिर्वच
जग उसमें, वह जग मे लय
साकार चेतना सी वह
जिसमें अचेत जीवाशय।

रूप अङ्कन मे अत्यधिक सूक्ष्मता की परिणति इसी प्रकार 'अरूप सत्ता' मे होती है, परिणामत. वर्ण्यवस्तु का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। वस्तु से संकेत ग्रहण करना बुरा नहीं, परन्तु वस्तु को संकेत के रूप में ही बदल देना कवि का कार्य नही, दार्शनिक का कार्य है, जिसके अधिक स्पर्श से पल्लवकालीन सौन्दर्य की सजीवता गुञ्जन में कम हो गई है।

कल्पना, बारीक रूप चित्रण—सांकेतिकता, सूक्ष्मता, सभी यदि एकत्र देखने हों तो 'अप्सरा' शीर्षक कविता पठनीय है। स्वयं कवि ने "कल्पना व रहस्य" को यहाँ सृजन का मूल माना है और पीछे से 'अप्सरा' को वह इन्ही में छिपाकर मौन हो जाता है। कल्पनात्मक स्थिति में रची हुई कविता व भावनात्मक स्थिति में रची हुई कविता का अन्तर यदि देखना हो तो 'उच्छ्वास (पल्लव) व 'अप्सरा' को साथ-साथ पढ़ना चाहिए। मैंने पीछे कहा है कि छाया-वाद में कल्पना का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। कल्पना का कार्य रूप-निर्माण है। स्मृति पटल में पूर्व अनुभवों के कारण अनेक रूप सञ्चित रहते हैं। स्मृति जागृत हो जाने पर उन्हें सम्मुख लाया जा सकता है। कल्पना द्वारा उन्हे मिलाकर कुछ नया रूप भी गढ़ा जा सकता है। स्मृति के आधार पर जब कल्पना कार्य करती है तब तो देखे गए रूप ही सम्मुख आते हैं, परन्तु जब कल्पना स्मृति के द्वारा पूर्ववर्ती रूपों की सहायता से नए रूपों का निर्माण करती है तो वह

स्वतन्त्र हो जाती है और अदेखे रूप भी उपस्थित करती है। कल्पना का यह कार्य भावना की सहायता के लिए भी हो सकता है और भावना से अलग होकर केवल रूपों के सृजन में भी वह पाई जाती है। प्रथम स्थिति रसावस्था मे पाई जा सकती है और दूसरी स्थिति दिवास्वप्नों की स्थिति मे। "अप्सरा" भी एक प्रकार का दिवा स्वप्न है जिसका आधार कोरी कल्पना है। वस्तु को देख कर जो विस्मय उत्पन्न होता है वह स्थूलता यहाँ नही मिलती। 'अप्सरा' अदृश्य है परन्तु वह बच्चों की दन्त कथाओं में जीवित है। उसके पङ्ख हैं, चमकता हुआ उसका वर्ण है, वह स्नान करने सरोवरों में आती है, वह नृत्य करती है आदि। यह दन्तकथाओं की स्मृति नाना रूपों को जगा देती है यथा स्नान करती हुई, नृत्य करती हुई अप्सरा सामने खड़ी है—जिसके पैरों में नूपुर बँधे हुए हैं, नूपुर सुवर्ण के हैं, हार लहरा रहे हैं, उनमें जटित रत्नों पर कल्पवृक्ष की मञ्जरी पड़ी हुई है आदि-आदि। इन रूपों मे भावना का स्पर्श बहुत कम है, स्मृति पटल में सञ्चित रूपों से कल्पना द्वारा नए रूपों की स्वतन्त्र रचना (भावना जगाने के लिए नही, केवल रूपों के चित्र मन मे उतारने के लिए) की गई है। छायावाद के अतिरिक्त शुद्ध कल्पना का ऐसा प्रयोग अन्यत्र नही मिलता। कल्पना की निरपेक्षता के कारण, भावना से उसका सम्बन्ध सूक्ष्म हो जाने के कारण ही यह काव्य एक वर्ग विशेष का काव्य बनता गया। उसमे भावना, बुद्धि व कल्पना का सामञ्जस्य नही रहा।

इस प्रकार गुञ्जन की काव्य कला की विशेषताएँ हैं, कल्पना का सूक्ष्म प्रयोग, तटस्थ रूपाङ्कन, निजी भावना को दार्शनिक रूप देने की प्रवृत्ति, रहस्यमय संकेत तथा विचारधारा की सुधारक के स्वर मे घोषणा। इसीलिए कवि ने लिखा है "इसमें सभी तरह की कविताओं का समावेश है।" गुञ्जन की कला के सब से बड़े दोष हैं—भावना की उत्कटता का अभाव, बुद्धि-पक्ष की दुर्बलता तथा कवि दृष्टि का संकुचित क्षेत्र में पुन: पुनः निक्षेप। पल्लव के स्वरों में ही विविधता नहीं है, वहाँ दृश्यों में भी अपेक्षाकृत अधिक विविधता है (यद्यपि वहाँ भी क्षेत्र संकुचित है, केवल रमणीयता पर ही कवि का ध्यान है)। पल्लव में कम से कम 'रति' का सामान्य धरातल पर वर्णन अवश्य हुआ है परन्तु 'गुञ्जन' मे उसे भी संचारी से अधिक महत्त्व नही मिलता। तटस्थ रूपाङ्कनों

(नौका विहार, एकतारा आदि) को छोड़कर गुञ्जन मे मानसिक स्थितियों को चित्रित करने का प्रयत्न है परन्तु ये मानसिक स्थितियाँ कुछ तो असाधरण है और फिर जहाँ वे सामान्यता का स्पर्श भी करती हैं वहाँ कवि उन्हे स्थायी भावना का गौरव नही दे सका। परिणाम यह हुआ है कि कल्पना-गौरव अधिक होगया है। परन्तु चित्रण की बारीकी की दृष्टि से गुञ्जन का महत्त्व हिन्दी मे अखण्ड है।

गुञ्जन की भाषा मे समास-पद्धति को बचाया गया है, और छोटे-छोटे व्यञ्जनों से कार्य चलाया गया है। चूँकि कवि का ध्यान या तो चिन्तन के स्तर पर रहता है या कल्पना के स्तर पर। भावना के स्तर को वह कही-कही ही स्पर्श करता है—सो भी हलके ढङ्ग से। अत. भाषा मे प्रवाह के स्थान पर सचिक्कणता अधिक बढ़ गई है। कही भी खुरदरे शब्दों का प्रयोग गुञ्जन मे नही मिलता, पल्लव में प्रयुक्त भाषा की एकरूपता, एकरसता यहाँ चरम सीमा पर पहुँच गई है। भाषा में विविध आरोह अवरोह, भाव-जगत के आन्दोलित होने पर उत्पन्न होते हैं, परन्तु चित्त की अवस्था आन्दोलित न होने पर, चेतना के जड़ मूल से न हिलने पर, मन की क्षोभ रहित अवस्था में केवल रूप को देखकर उसके चित्रण करने की स्थिति मे या विचारों के तथावत् दान करने की दशा म भाषा भी धीरे-धीरे चलती, एक से पग उठाती, एक निश्चित अन्दाज को न छोड़ती हुई गतिमान होती है। परिणाम यह होता है कि उद्वेलनजन्य नाना मानसिक स्थितियों की दशा में अनेक प्रकार के अभिनय करती हुई भाषा का जो दृश्य उपस्थित होता है, वह गुञ्जन में दुर्लभ है। निराला की 'गीतिका' व पन्त के 'गुञ्जन' में इस दृष्टि से यही दोष उपस्थित हो जाता है।

सङ्गीतात्मकता के प्रति पल्लव की तरह कवि यहाँ भी जागरूक है। 'सा' का प्रयोग पल्लव में अधिक था, यहाँ 'र' की प्रधानता होगई है।

अलङ्कारों आदि के प्रयोग में पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ तथावत् मिलती हैं। सादृश्यमूलक अलङ्कारों व मानवीयकरण का प्रयोग अधिक है। परन्तु प्रतीकात्मकता पल्लव से यहाँ अधिक मिलती है। प्रतीक के रूप मे वस्तु का प्रयोग करना एक बात है और वस्तु का तटस्थ होकर यथा-तथ्य चित्रण कर पुन उससे सकेत ग्रहण दूसरी बात। गुञ्जन में दोनों पद्धतियों का प्रयोग मिलता है। पल्लव मे मात्र रूप चित्रण की प्रधा--नता थी—

सागर की लहर-लहर मे, है हास स्वर्ण किरणों का।

यहाँ सागर जीवन का प्रतीक है और स्वर्णकिरण सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त हुई है।

कँप कँप हिलोर रह जाती, रे मिलता नही किनारा।
बुद्बुद् विलीन हो चुपके, पा जाता आशय सारा॥

यहाँ 'बुद्बुद्' समर्पणकारी साधक के लिए प्रयुक्त है और हिलोर व्यर्थ की दौड़-धूप में मग्न व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुई है। यहाँ गृहीत सन्देश को स्पष्ट कहा गया है। और भी स्पष्ट रूप से सन्देश-ग्रहण की प्रवृत्ति देखिए—

हँसमुख प्रसून सिखलाते, पल भर है, जो हँस जाओ।
अपने उर की सौरभ से, जग का आँगन भर जाओ॥

यहाँ 'प्रसून' प्रतीक नहीं है। प्रसून को देखकर उससे यह तथ्य निकाला गया है।[1]

'प्रतीक' के उस स्वरूप की चर्चा हम भावपक्ष में कर चुके है जिसमें पूरी कविता किसी अलौकिक अर्थ को व्यञ्जित करने लगती है। रूप, तारा तथा भावी पत्नी के प्रति भी (एक सीमा तक) ऐसी ही कविताएँ हैं। एक सामान्य प्रतीक और देखिए—

लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल, लोगी मोल।

यहाँ नायिका 'प्रकृति' के लिए तथा 'फूल' आध्यात्मिक आनन्द के लिए प्रयुक्त हुआ है।

गुञ्जन के गीतों में सकेतित आध्यात्मिकता की मात्रा ज्योत्स्ना मे और भी अधिक बढ़ गई है। इस नाटक में कई प्रकार के गीत हैं।[2]

---

[1] जिगर ने एक स्थान पर इसी प्रकार पुष्प से यह सन्देश ग्रहण किया है—

गुंचा तेरी जिन्दगी पै दिल हिलता है।
बस एक तबस्सुम के लिए खिलता है॥
गुंचे ने कहा हँसकर ए बाबा।
ये एक तबस्सुम भी किसे मिलता है!

'जिगर' की कथन-पद्धति पन्तजी से कहीं अधिक मार्मिक है।

[2] किरणों का वर्णन देखिए—

हम स्वर्ण किरण, आलोक वरण, सुखकारी
छवि की अलकों सी, स्मिति की रेखाओं सी

पात्र, प्रकृति से चुने गये हैं अत कुछ गीत उन पात्रों का (छाया, ज्योत्स्ना आदि का) रूप वर्णन करते हैं जिनमे छायावाद की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का निर्वाह किया गया है। इस प्रकार के गीतों मे ध्वन्यर्थक-अलङ्कार का प्रयोग अधिक किया गया है। शब्दों की ध्वनि से अर्थ की व्यञ्जना करने का मोह अधिक है। शब्द-मैत्री, अनुप्रास, व चुन-चुनकर कोमल शब्दों की योजना की गई है। वस्तुत यहाँ भाषा एक निश्चित छायावादी साँचे में ढल गई है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक पक्ति, प्रत्येक उक्ति छायावादी रूप पा गई है। ओस बिन्दुओं का गायन देखिए—

सरस चटुल, विमल विपुल
हिम—शिशु हुलसाए
दल दल पर, झलमल कर
मोती मुसकाए।

इन शब्दों से ही बिन्दुओं की आकृति सम्मुख नाचने लगती है। दूसरे प्रकार के गीत वे हैं जिनमें विभिन्न विचार-धाराओं को वाणी दी गई है। इनमें भाषा विविध रूप अवश्य पागई है पर कवित्व कम है, घोषणाएँ अधिक—

है दास परिस्थितियों का नर
रहना उनके अनुसार उसे
जीता है योग्य सदा जग में
दुर्बल ही है आहार इसे।

पुनश्च

सब श्रम, उद्यम गौरव प्रधान
सब कर्मों का हो उचित मान
सब कठों में हो एक गान—
मानव मानव सब हैं समान।

'ज्योत्स्ना' के गीत शब्द-चित्रों की दृष्टि से सुन्दर है, उनमे प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं को एक ही शब्द में रूपाकित कर देने की क्षमता है।

जग-जीवन की झकारों सी सुखकारी।
आशीर्वाद सी झुकीं स्वर्ग की भू पर

अन्तिम पक्ति प्रसाद की 'भूमि पर झुकी प्रार्थना-सदृश' पक्ति से प्रेरित होकर लिखी गई है। प्रसाद जी की कविता भी 'किरण' पर है।

हम ज्योत्स्ना के बुद्धितत्त्व पर विचार कर चुके हैं। ज्योत्स्ना के गीत नाटक की परिस्थिति को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं अतः उनका उसी दृष्टि से ही अधिक महत्त्व है।

× × × ×

पन्त जी ने 'युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या' कालीन कविताओं के विषय में स्वयं लिखा है—"ज्योत्सना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने युगान्त में लिखा है—

वह एक असीम अखण्ड विश्व व्यापकता।
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता॥

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं खण्ड खण्ड रूप में संसार को, जग जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा।"

पन्त जी ने स्पष्टतः पल्लव-ज्योत्सना कालीन काव्य को पूँजीवादी काव्य कहा है।

"पल्लव काल में मैं उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यतः शैली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टैनीसन से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीन युग का सौन्दर्य बोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन युग की सौन्दर्य कल्पना ही में परिधानित किया है"[1]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पन्त जी का पल्लव-ज्योत्सना कालीन काव्य पूँजीवादी युग के सौन्दर्य बोध को अभिव्यक्त करता रहा है तथा उसमें ऐन्द्रिकता का चित्रण अधिक हुआ है। बुद्धि तत्त्व की दृष्टि से देखने पर कवि ने जगत को भावना की सहज दृष्टि से देखा है, अतः पल्लव, गुंजन व ज्योत्सना में विचार तत्त्व की प्रौढ़ता व वैज्ञानिकता के स्थान पर मध्यवर्गीय स्वप्नों का चित्रण अधिक हुआ है और इन स्वप्नों की अव्यावहारिकता व असामाजिकता का स्वरूप हम स्पष्ट कर चुके हैं।

[1] आधुनिक कवि की भूमिका।

'युगान्त मे कवि के अपने कथन के अनुसार भावना की सहज दृष्टि खोगई है और वह समग्र रूप से जगत पर विचार न कर खण्ड-खण्ड रूप में उसे समझने का प्रयत्न करने लगा है। हमे याद रखना चाहिए कि आधुनिक कवि की भूमिका वहुत वाद मे लिखी गई है, १६४१ में, जव कवि का परिचय अरविन्द दर्शन से होगया था, इसीलिए जिसे कवि "मध्यवर्गीय स्वप्न" कहता है या युगान्त की भूमिका के लेखक जिसे "काल्पनिक समाजवाद" ("ज्योत्सना" में प्रयुक्त) कहते हैं उसमें वैज्ञानिकता खोजने तथा मार्क्सवाद को अपूर्ण सिद्ध करने के लिए यहाँ "समग्र" शव्द का प्रयोग किया गया है। अरविन्द के अनुसार जगत जीव ब्रह्म आदि पर समग्र दृष्टि से विचार अंतर्चेतना के द्वारा ही सम्भव है, कोरी बुद्धि से नहीं। अत पन्त जी जिसे स्वयं "मध्यवर्गीय स्वप्न" कहते हैं उसे ही वह "समग्र दृष्टि से प्राप्त तथ्य" भी मानते हैं।

यह इसलिए हुआ कि यद्यपि पन्तजी ऐतिहासिक भौतिकवाद के अध्ययन के पश्चात् यह जान गए थे कि उनका पल्लव ज्योत्सना-कालीन काव्य पूँजीवादी चेतना व मध्यवर्गीय स्वप्नों का प्रतिनिधित्व करता है, उसका बौद्धिक-पक्ष असामाजिक व दुर्वल है, वह व्यावहारिक नही है, यूटोपिया है परन्तु पीछे से अरविन्द दर्शन के अनुसार जव उन्होंने पल्लव-ज्योत्सना कालीन काव्य की व्याख्या की तव उन्होंने यह लिखा कि पल्लव-गुञ्जन-ज्योत्सना काल में उनकी "समग्र दृष्टि" थी वह युगान्त-युगवाणी-ग्राम्या काल में लुप्त हो गई और उन्होंने खण्ड-खण्ड रूपमें जगत को समझने का प्रयत्न किया। अर्थात् ईश्वर-आत्मा मे विश्वास, प्रकृति के भीतर चेतना की खोज, नारी व ब्रह्म का एक साथ वर्णन ये सव वातें समग्र दृष्टि के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुई थी और युगान्त युगवाणी का काव्य खण्ड-दृष्टि का परिणाम है। एक वाक्य मे पन्तजी के इस दृष्टिकोण से अध्यात्मवादी काव्य (पल्लव-गुञ्जन-ज्योत्सना कालीन काव्य) पूर्ण व समग्र दृष्टि का परिचायक है और युगान्त कालीन मार्क्सवादी दृष्टि से लिखा गया काव्य विभाजित और इसलिए सकुचित दृष्टि का परिणाम है।

पाठक देखे कि एक ओर तो पन्तजी पल्लव-गुञ्जन कालीन काव्य को 'मध्यवर्गीय स्वप्न-प्रधान' काव्य मानकर उसकी ऐतिहासिक सीमा को निश्चित कर देते है और बाद में अरविन्दवादी दृष्टिकोण से

उसकी व्याख्या करने लगते हैं और तब यही काव्य शाश्वत व पूर्ण बन जाता है।

चूँकि युगान्त में मार्क्सवादी दृष्टि के सिवा अध्यात्मवादी दृष्टि भी सम्मिलित है अतः पन्तजी ने लिखा—

"जीवन के प्रति एक अन्तर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशा भ्रम के क्षणों में प्रकाश स्तम्भ का काम देने लगा जैसा कि मैंने युगान्त में लिखा है—

जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर
पार करो, विश्वास चरणधर

अर्थात् पन्तजी ने निश्चित रूप से युगान्त में बुद्धि से जगत व समाज को समझने का प्रयत्न किया परन्तु जब वे मार्क्सवादी व्याख्या को हृदयङ्गम नहीं कर सके या उसे गले के नीचे नहीं उतार सके (क्योंकि संस्कार बाधक थे) अतः वे कहने लगे कि युगान्त-काल में दिशाभ्रम के क्षणों में वे उसी सहज भावना से कार्य लेते थे जिसका प्रमुख रूप से प्रयोग पल्लव काल में हुआ था। अर्थात् 'युगान्त' युगवाणी व ग्राम्या में मार्क्सवाद व अध्यात्मवाद दोनों दृष्टियों का प्रयोग अलग-अलग मिलता है। बुद्धि व विश्वास का द्वन्द्व यहाँ भी उपस्थित है। मैंने पहले भी कहा है कि पन्तजी की बुद्धि को विश्वास के सम्मुख सदैव समर्पण करना पड़ा है। 'युगान्त' 'युगवाणी' व 'ग्राम्या' में बुद्धि की प्रधानता अवश्य है परन्तु यहाँ भी उसे विश्वास के सम्मुख समर्पण करना पड़ा है। अन्तर्विश्वास व बुद्धिवाद (मार्क्सवाद) के सम्बन्ध में कवि के इस दृष्टिकोण का युगान्त की कला पर भी अप्रतिम प्रभाव पड़ा है।

विश्वास से जहाँ व्यक्ति के मन की छिपी शक्ति वस्तु-विशेष पर केन्द्रित हो जाती है वहाँ विश्वास रूढ़ि को भी जन्म देता है। विश्वास के जिस रूप का सर्वप्रथम प्रयोग होता है, वह रूप आगे की परिस्थिति में रूढ़ि होता जाता है और तब बुद्धि को झटके से विश्वास का रूप बदलना पड़ता है। विश्वास इसके लिए प्रस्तुत नहीं होता तब बुद्धि व विश्वास का द्वन्द्व-युद्ध चलता है। किन्तु इसके साथ विश्वास व बुद्धि का एक और सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। सामान्य व्यावहारिक जीवन में जिन रूढ़ियों की असङ्गतता को बुद्धि घोषित कर देती है उन्हें पन्त

जी जैसे विचारक छोड़ने को तत्पर हो जाते हैं परन्तु ईश्वर, आत्मा जैसे प्रश्नो के वुद्धि द्वारा उचित उत्तर न मिलने पर उन्हे विश्वास की पुन शरण लेनी पड़ती है। इस परिस्थिति मे व्यक्ति के आत्म-वल की सच्ची परीक्षा होती है। यदि व्यक्ति सत्य का सच्चा अन्वेपक है तो वह इस स्थिति मे भी धैर्यपूर्वक वुद्धि का अञ्चल नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त खोजों को आगे वढ़ाता है और सत्य की खोज के सम्वन्ध मे शीघ्रता में ही कोई भावना के द्वारा निर्णय नहीं कर लेता परन्तु पन्तजी जैसे कवि कल्पना व विश्वास के वल पर जीवित रहते हैं। अत उनमे इतना धैर्य मिलना असम्भव है। अत जहाँ वुद्धि से काम नही चलता, वही भावना के भवन खडे होने लगते हैं और कल्पित मनोराज्य प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार विश्वास का व्यर्थ ही अपव्यय होने लगता है। न केवल पन्तजी अपितु अन्य दार्शनिकों की भी यही दशा रही है। वुद्धि जिसका निर्णय नही कर पाती उस वस्तु के सम्वन्ध मे कल्पना व विश्वास के अपव्यय के अनेक रूपों का नाम ही 'दर्शन' है।

इस प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि सामान्य रूढ़ियों का तो खण्डन होता है परन्तु असामान्य रूढ़ियों की रक्षा की जाती है यथा 'गा कोकिल वरसा पावक कण' में जीर्ण पुरातन को नष्ट-भ्रष्ट करने की चाह प्रवल है परन्तु कविता के अन्त में वह भावना के आधार पर आत्मवाद की घोपणा करने लगता है—'मानव दिव्य स्फुलिङ्ग चिरन्तन'। इसी प्रकार युगान्त में वुद्धि व विश्वास का द्वन्द्व वरावर मिलता है।

किन्तु मार्क्सवाद के प्रभाव के कारण कवि के सौन्दर्य-वोध का स्वरूप निश्चित रूप से वदल गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पल्लवकालीन प्रवृत्तियों का सर्वथा लोप हो गया। 'अल्मोड़े का वसन्त' में (युगान्त—पृष्ठ ७–८–६) पल्लवकालीन सौन्दर्यवोध की ही प्रधानता है—

पतझड़ के कृश, पीले तन पर पल्लवित तरुण लावण्य-लोक।
शीतल हरीतिमा की ज्वाला, दिशि-दिशि फैली कोमलालोक॥
पत्रों-पुष्पों से टपक रहा स्वर्णातप।
प्रातः समीर के मृदु स्पर्शों से कँप-कँप॥

शत कुसुमों में हँस रहा कुञ्ज उडु-उज्ज्वल
लगता सारा जग सद्य-स्मित ज्यों शतदल ॥

यह ऐन्द्रिकता पल्लवकालीन दृष्टिकोण के क्रोड़ मे ही विकसित हुई हैं परन्तु चूँकि युगान्त में बुद्धि से भी समझने का प्रयत्न हुआ, अत' जीवन की कुरूपता की ओर भी कवि का ध्यान आकर्षित हुआ—

लगती विश्री औ विकृत आज मानव-कृति ।
एकत्व-शून्य है विश्व मानवी संस्कृति ॥

पाठक युगान्त की 'मानव तुम सबसे सुन्दरतम' शीर्षक कविता से इस कविता को मिलाकर देखे तो स्पष्ट हो जायगा कि एक ही कृति मे आदर्शवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ यथार्थवादी दृष्टिकोण का विकास किस प्रकार हो रहा है।

पन्तजी की कविता की कल्पना के अतिरिक्त एक दूसरी प्रबल प्रवृत्ति है 'आशावाद'। वैज्ञानिक समाधान खोजने के रूप मे आशावाद निश्चित रूप से कल्पित मनोराज्य है। परन्तु कवि की मानव के प्रति सहानुभूति का भी अन्ततः उसी से पता चलता है। वह चाहता है कि मानव का कल्याण हो, उसकी कुरूपता व विकृति का नाश हो, परन्तु कैसे ? उपाय जानकर भी उस पर विश्वास नही करना चाहता, वह केवल मानव-कल्याण में आशा प्रकट करता रहता है और कवि की यह सहानुभूति आदरणीय है—

मानव गिरि में गिरि कारा सी, गत-युग की संस्कृतियाँ दुर्धर ।
वन्दी की हैं मानवता को, रच देश-जाति की भित्ति अमर ॥

कम से कम कवि की कल्पना आकाश से उतर कर पृथ्वी पर तो विचरण करने लगी। उसने कम से कम देश, जाति, समाज के सम्बन्धों को समझने का प्रयत्न तो किया।

वास्तविकता के प्रति इस बढ़ते हुए आकर्षण ने शब्दों, रङ्गों, रूपों, ध्वनियों तथा स्पर्शों की अनेक मुद्राओं को चित्रित करने के प्रयत्न के स्थान पर पन्तजी की कला को स्वाभाविक रूप दिया अर्थात् पच्चीकारी की प्रवृत्ति युगान्त मे कम होगई और युगवाणी में तो पूर्णतया लुप्त हो गई, वहाँ गद्यमयता आ गई। विचार का वहन ही वाणी का स्वभाव बनता गया। अलंकृति का मोह नष्ट हो गया। रमणीयता के ऊपर रीझने की, रमणीय वस्तु की प्राप्ति सम्भव न होने पर हाहाकार करने की जो प्रवृत्ति छायावाद में दिखाई पड़ती है, वह युगान्त में

नही मिलती। पन्तजी ने स्वयं अप्रत्यक्ष रूप से कहा है कि छायावाद में लुब्ध होने, लालायित होने और लुब्ध या लालायित होकर रह जाने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है, उसमे सामन्तकालीन कविता की तरह भोग की प्रवृत्ति नहीं है। भोग के प्रति आकर्षण व प्यास का वर्णन अधिक है। किन्तु युगान्त में इस मानसिक स्थिति के विरुद्ध कवि कहता है--

जीवन का फल, जीवन का फल
इसका रस लो—हो जन्म सफल।
तीखे, चमकीले दाँत चुभा
चाबो इसको, क्यों रहे लुभा ?

छायावाद रूप पर लुब्ध होना सिखाता है और उत्तरकालीन छायावाद—लूटना। युगान्त में इन दोनों प्रवृत्तियो की निन्दा है, स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा यहाँ मिलती है।

युगान्त में बुद्धि व विश्वास के द्वन्द्व के कारण यथार्थवादी कला का स्वस्थ रूप नही मिलता, मानव-कल्याण की कामना, गत संस्कृतियों का खण्डन आदि तो मिलता है और यह भी अपने में महत्वपूर्ण है परन्तु यथार्थवादी कला का रूप "बाँसों का झुरमुट" इस कविता मे जो दिखाई पड़ा वह अधिक कविताओं में नही मिलता। अतः "युगान्त" कोई युग प्रवर्तक काव्य संग्रह नही माना जा सकता। उसमे सब तरह की कविताएँ हैं कुछ पल्लव कालीन युग की और कुछ नवीन यथार्थवादी पद्धति पर रचित। कुछ मे सौन्दर्य की प्रशसा व उसके प्रति आसक्ति की व्यञ्जना है और कुछ मे जीवन के वास्तविक रूप को देखने की प्रवृत्ति है।

युगान्त मे आदर्शवाद व यथार्थवाद का मिश्रण है। अवशिष्ट छायावादी कला के लिए मिट्टी का ढेला, खोगई स्वर्ग की स्वर्ण किरण, सुन्दरता का आलोक स्रोत, नव हे, नव हे, बाँधो, छवि के नव बन्धन बाँधो, मंजरित आम्र वन छाया में,[१] छाया, शुक्र, सृष्टि, खद्योत, तितली, सध्या आदि कविताऐं द्रष्टव्य हैं और यथार्थवादी कला—

[१] इस कविता में (युगान्त-कविता न० २२) सयोग शृङ्गार वर्णन में जो स्थूलता दिखाई पड़ती है वह वस्तुतः जीवन के प्रति बदली हुई दृष्टि के कारण है, इसके लिए "जीवन का फल, जीवन का फल" कविता भी देखिए।

बाँसों का झुरमुट, द्रुतझरो जगत के जीर्णपत्र, गा, कोकिल बरसा पावक कण, गर्जन कर मानव केशरि, ताज, मानव, आदि कविताओं में विकसित हुई है। "ताज" युगान्त की अमर कविता है जिसमे पूर्णतया यथार्थवादी दृष्टि को वाणी मिली है। "बापू के प्रति" कविता में अध्यात्मवादी दृष्टि प्रमुख है।

युगान्त की छायावादी कविताओं में भी प्रथम व द्वितीय चरण की कविताओं जैसी अस्पष्टता व सांकेतिकता नहीं मिलती केवल छाया व संध्या में ये दोनों प्रवृत्तियाँ सुरक्षित मिलती हैं। संगीतात्मकता व शब्द-शिल्प पर भी कवि का उतना ध्यान नहीं है। सहज व्यावहारिक भाषा के प्रयोग की ओर कवि की अभिरुचि प्रकट होती है।

"बापू के पति" कविता में कवि की भाषा द्विवेदी युगीन रूप लेकर चलती है। 'मानव' मे ग्रन्थि की तत्समता का पुनरुद्धार मिलता है। भाषा के युगान्तकालीन रूप को समझने के लिए मैं दो पद उद्धृत करता हूँ एक युगान्त की 'छाया' से और एक पल्लव की 'छाया' से—

कौन-कौन तुम परहित वसना, म्लानमना भूपतिता सी।
वाह हता, विछिन्न लता सी, रति श्रान्ता, व्रज-वनिता सी।

(पल्लव से)

यह लेटी है तरु छाया में—सन्ध्या विहार को आया मैं,
मृदु बाँह मोड, उपधान किए, ज्यों प्रेम लाल सा पान किए॥
वह सुन्दर है, साँवली सही, तरुणी है—हो षोडषी रही।

प्रथम कविता मे शब्द के प्रति आकर्षण, आकर्षक अप्रस्तुत-विधान, लय व नाद के प्रति आसक्ति तथा तत्सम परन्तु मधुर शब्दावली के प्रति आग्रह झलकता है परन्तु द्वितीय कविता में तद्भव शब्दों की ओर बढ़ती हुई रुचि, चित्र को उभार कर रखने का प्रयत्न, स्थूल पद्धति का अपनाव, बात को सीधे रूप से कहने का प्रयत्न अर्थात् लक्षणा व व्यञ्जना के स्थान पर अभिधा का प्रयोग आदि प्रवृत्तियाँ अधिक हैं अत. युगान्त मे छायावाद की चिकनी शब्दावली, ध्वन्यात्मक व लाक्षणिक प्रयोगों के स्थान पर अभिधावादिता अधिक मिलती है, अत उसमें जन-जीवन के निकट आने का आग्रह दिखाई पड़ता है। कला का इन्द्रधनुषी रूप जो छायावाद मे दिखाई पड़ता है, वह यहाँ नहीं दिखाई पड़ता। युगान्त की कला की यही विशेषता है। निश्चित् रूप से युगान्त मे कवि ने युग की मनोवृत्ति को पहचानने का

प्रयत्न किया है, अर्थात् साम्यवादी विचार-धारा के प्रभाव से कवि ने कला को स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है परन्तु आदर्शवादी आग्रह अधिक होने तथा छायावादी कला से सहसा सम्बन्ध न तोड़ सकने के कारण युगान्त में दोनों प्रकार की कलाओं का मिश्रण दिखाई पडता है।

पल्लव की रङ्गीनी युगान्त मे कम हुई, युगवाणी में उसकी मात्रा बहुत कम रह गई और ग्राम्या मे उसका प्रायः लोप होगया। युगवाणी व ग्राम्या की कला मे विचारों का सौन्दर्य है। युगान्त-युगवाणी-ग्राम्या काल मे साम्यवादी चेतना का जन्म हुआ था अत उसके प्रति बढ़ते हुए आकर्षण के कारण कवि पन्त की कला कल्पना व भाव के स्थान पर विचारों को व्यक्त करने लगी। चित्रण व व्यक्तीकरण मे जो अन्तर है वह अन्तर छायावादी व युगवाणी की कला मे पाया जाता है। साथ ही जिस प्रकार 'पल्लव' की भाषा गुञ्जन की सूक्ष्म भाषा में बदल गई है उसी प्रकार युगान्त की भाषा भी युगवाणी की सूक्ष्म भाषा मे परिवर्तित हो गई है। युगवाणी के विचार तत्व की आलोचना हम कर चुके हैं अत उसे छोड कर हम कला पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। किन्तु यह स्मरणीय है कि दृष्टिकोण का प्रभाव कला पर अवश्य पडता है। युगान्त मे जिस बुद्धि व विश्वास का द्वन्द्व हमें दिखाई पड़ता है, युगवाणी मे उस द्वन्द्व के स्थान पर 'समन्वय' करने की ओर कवि अधिक सजग दिखाई पडता है, मानो कवि को अध्यात्मवाद व साम्यवाद के समन्वय के सम्बन्ध में कोई सन्देह न रहा हो।

कवि कही तो स्पष्टत गत संस्कृतियों के अवशेषों के लिए आवेश प्रकट करता है, कही समाजवादी भावनाओं का प्रचार करता है, कही उसकी जड़ता पर प्रहार भी करता है, और कही समन्वय की ओर मुड जाता है। इस प्रकार युगवाणी की कला में विचारों के विश्लेषण का सौन्दर्य है। स्वय पन्तजी ने कहा है—'युगवाणी को मैंने गीत गद्य इसलिए नहीं कहा है कि उसमे काव्यात्मकता का अभाव है। प्रत्युत उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचार भावना प्रधान है" जिस परम्परागत मधुवन को हम पल्लवों के मर्मर से लज्जारुण और फूलों के गुञ्जन से यौवन गर्वित देखते आए हैं उसकी दक्षिण पवन (काव्यप्रेरणा ?) शिशिर में ठण्डी उसासें भर, आज

ढेर-ढेर पीले पुराने पत्तों को युग परिवर्तन की आँधी मे उडा कर—जैसे, उन टूटते हुए स्वप्नों पर स्थिर चरण न रख सकने के कारण ही प्रलय नृत्य करती हुई—नई संस्कृति के बीज बिखेर रही है। युगवाणी मे आप टेढी-मेढ़ी, पतली, ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ वासांसि जीर्णानि विहाय सौन्दर्य देखेंगे, जिसमे नव-प्रभात की सुनहली किरणें बारीक रेशमी जालों की तरह लिपटी हुई हैं, जहाँ ओसों के झरते हुए अश्रु आगत स्वर्णोदय की आभा में हँसते हुए से दिखाई देते हैं[1]।

मतलब यह कि युगवाणी युग की विचारधारा को वास्तविक गद्यमय शैली में उपस्थित करती है, उसे अलंकृत या प्रतीकात्मक पद्धति पर व्यक्त नहीं करती, साथ ही यदि तटस्थ दृष्टि से देखे तो पल्लव की ऐन्द्रिकता के स्थान पर यहाँ गत-युग के विनाश का दृश्य उपस्थित है। फूलों मे ही केवल आकर्षण नहीं होता, पतझर व डण्ठलों में भी एक सौन्दर्य होता है। सुन्दर शब्द कुरूप का विरोधी नही है।

मुस्कान व आवाहन मे, मोती बरसाने व आग उगलने में—दोनों मं सौन्दर्य होता है। इसी प्रकार पल्लव के मधुवन में भी सौन्दर्य है और युगवाणी के गत-युग के विनाश-दृश्यों में भी। पल्लव की प्रेम-पुलक, आँसू व रोदन में भी सौन्दर्य है और युगवाणी के नव-निर्माण के लिए बौद्धिक आवेश मे भी। कोमल कला के कलेवर को छोड़कर कवि यहाँ यथार्थ जीवन की प्रतिलिपि उपस्थित करने में लग गया है, अत उसके स्वर में एक ओर तो सुधारक का उत्साह है और दूसरी ओर पैगम्बर की अन्तर्दृष्टि। आन्तरिक संघर्ष की जगह बाह्य संघर्षों व आन्दोलनों को ध्वनित करने का प्रयत्न युगवाणी में अधिक हुआ है। अत कला भी उत्तेजना, आवेश, स्थूलता, विचार-विश्लेषण तथा प्रत्यक्ष पद्धति-प्रधान होती गई है।

कुछ विचारक कविता मे बुद्धि, कल्पना व भावना को परस्पर विरोधी शक्तियाँ मान लेते हैं। आई० ए० रिचर्डस ने ऐसे विचारकों का खूब उपहास किया है। वह भावना (emotion) अन्तर्चेतना (intuition)[2] आदि शब्दों को प्रतीकों के रूप में व्यवहृत मानता

[1] युगवाणी की भूमिका।

[2] देखिए Principles of literary criticism page 31. P. I,

है, जिनसे एक मिश्रित मानसिक प्रक्रिया को संकेतित किया जाता है। यदि आप इतिहास व दर्शन का छन्दोबद्ध अनुवाद करदें तो वह काव्य नहीं होगा। इसीलिए हमारे यहाँ भाव का साधारणीकरण स्वीकृत हुआ है, स्थायीभाव का साधारणीकरण क्योंकि वह सर्व साधारण के हृदय में पूर्व से ही स्थित तत्त्व है। दार्शनिक विचारधारा व्यक्ति विशेष की बौद्धिक उपलब्धि का नाम है, वह पहले से ही स्थायीभाव की तरह हमारे हृदय में स्थित नहीं है, अत उसका ग्रहण भी काव्य-पद्धति से भिन्न पद्धति पर होता है। दर्शन, इतिहास व विज्ञान पढ़ते समय हमारी यही मानसिक स्थिति रहती है, परन्तु काव्य पढ़ते समय प्रक्रिया भिन्न हो जाती है क्योंकि कवि इस बात में तो स्वच्छन्दता ले सकता है कि वह किस विचार को स्वीकार करे परन्तु वह काव्य की पद्धति को नहीं वदल सकता। नूतन प्रयोग भले ही हो, पर वह होगा काव्य की पद्धति के अनुसार ही और यदि वह अनुकूल नहीं होगा तो वह काव्य न होकर कुछ और कहलाएगा। अत काव्य की पद्धति पर जब विचार व्यक्त होता है, जब कल्पना व्यक्त होती है, जब भावना व्यक्त होती है तो इनका रूप मिश्रित हो जाता है, विचार में आवेश आ जाता है कल्पना में भावना मिल जाती है और भावना में विचार व कल्पना दोनों। मतलब यह कि विचार का सर्वदा निरपेक्ष रूप, व्यक्त होकर काव्य नहीं हो सकता, वह 'दर्शन' आदि कहला सकता है। विचार विशेष को जब कवि व्यक्त करता है तो उसे अपनी पद्धति में ढाल कर व्यक्त करता है अत वह 'कवित्व' बन जाता है। कविता के अन्तर्गत कल्पना-प्रधान, बुद्धि-प्रधान, भाव-प्रधान ये जो विभाजन होते हैं, वे प्रधानता को ध्यान में रखकर। अतः बुद्धि प्रधान या विचार प्रधान कविता में देखना यह चाहिये कि क्या कवि केवल रटे रटाये विचारों का योंही उद्वमन करता गया है या उसे काव्यानुकूल बनाने की भी उसने चेष्टा की है, यदि उसने ऐसी चेष्टा की है तो वह काव्यकार की श्रेणी में आ जाता है चाहे वह बुद्धि प्रधान काव्यकार हो यथा युगवाणी का कवि या वह कल्पना प्रधान कवि हो यथा छायावादी कवि या वह भावना प्रधान कवि हो यथा तुलसी व सूर। अत "बुद्धि का साधारणीकरण" जैसे प्रयोग काव्य-शास्त्र के लिए न चमत्कारक हैं न विचारोत्तेजक। कोई व्यक्ति कुछ कहे और वह समझ में आ जाए, आप इसे भी बुद्धि का साधारणीकरण कह सकते हैं

परन्तु यह साधारण व्यवहार की बात है, काव्य क्षेत्र में ग्राह्य होना एक बात है और उसे दूसरे की भावनाओं के लिए ग्राह्य बनना दूसरी बात है, अतः बुद्धितत्त्व प्रधान काव्य में हम यह देखेंगे कि क्या कवि काव्य की स्वाभाविक भूमि पर रहता है। हमें याद रखना चाहिए कि हमारे यहाँ और दूसरों के यहाँ भी उक्ति की वक्रता को भी काव्य माना गया है, विचारों के व्यक्तीकरण में यदि वाग्वैदग्ध्य की पद्धति अपनाई जायगी तो काव्य की श्रेणी में उसकी भी गणना होगी। भावना का स्पर्श कम हो सकता है, कल्पना का प्रयोग भी कम हो सकता है परन्तु काव्य को अखण्ड अभिव्यक्ति मानने वाली परम्परा उस वाग्वैदग्ध्य के नीचे प्रेरक रूप में ही सही, पृष्ठभूमि में स्थित किसी भावना या कल्पना की खोज अवश्य कर लेगी और मनोविज्ञान के सिद्धान्त के विरुद्ध भी यह सिद्धान्त नहीं पड़ता। क्रोसे ने भी इसी बात पर जोर दिया है। इसी दृष्टि से अलङ्कारों को पन्त जी ने भी वाणी के अश्रु, पुलक और हाव-भाव कहा है। हमारे यहाँ 'हाव' व आभूषण की रुचि के पीछे व्यक्ति के उल्लास की स्थिति स्वीकार की गई है अतः 'युगवाणी' की विचार-प्रधानता यदि काव्य पद्धति के अनुकूल है तो वह काव्य की श्रेणी में आती है अन्यथा वह समाज सुधार या दर्शन की पुस्तक हो सकती है, काव्य की नहीं।

किन्तु पन्तजी के लिए यह असम्भव था कि युगान्त-युगवाणी-ग्राम्या आदि में वह विचारों को छन्दोबद्ध करके अपने कर्तव्य की इति समझ लेते। हम जब पल्लवकालीन कला के सम्मुख इस बुद्धिवादी कविता को निम्नकोटि की कविता ठहराते हैं तब हमारा मतलब यह होता है कि कवि बुद्धि भावना व कल्पना का सामञ्जस्य नहीं कर सका। छायावाद में कल्पनात्मक दृष्टि की प्रधानता हो गई और केवल उसी दृष्टि से पदार्थ को देखते रहने का परिणाम यह हुआ कि बदली हुई परिस्थितियों में वह केवल कैशोर प्रयत्न मात्र रह गया। कल्पना का आवरण चढ़ा कर वस्तु को देखते रहने से, परम्परागत काव्य से तो छायावाद अलग हो गया परन्तु वह अधिक कल्पनात्मक हो गया। परिणामतः उसमें मनमाने अप्रस्तुतों के ढेर लग गए जबकि कवि के पास कहने को बहुत कम रह गया। रूप का अङ्कन इसीलिए सूक्ष्म होता चला गया, वास्तविक जीवन से सम्बन्ध न रहने के कारण छायावाद अलंकृत काव्य बनता गया। परन्तु युगान्त व युगवाणी में कल्पना व

भावना के स्थान पर बुद्धिवाद का अतिरेक दिखाई पडने लगा। कबीर के पास विचारों का आकर्षण था, युगवाणी व युगान्त मे पन्तजी के पास भी है, किन्तु कबीर के नीति के दोहों की प्रशसा वही होती है, जहाँ कुरीतियों के प्रति तीव्र आवेश व्यक्त किया गया है, जहाँ कबीर का आक्रोश व्यञ्जित होता है, जहाँ उनके मन की सारी घृणा रूढ़ियों पर बिजली की तरह टूट पड़ती है, वहाँ उनकी उक्ति वज्रपात का कार्य करती है और रहस्यवादी भावनाओं के वर्णन मे तो स्पष्टत उन्हे प्रतीकात्मक पद्धति अपनानी पड़ी। अतः समयानुकूल विचारधारा का आकर्षण, काव्य-पद्धति का सहारा पाकर खिल उठता है। युगवाणी में भी विचारों का आकर्षण है और वह काव्य-पद्धति के क्रोड़ में ही व्यञ्जित हुआ है, परन्तु विचारतत्त्व की अत्यधिक प्रधानता के कारण बुद्धि, कल्पना व भावना का सन्तुलन नहीं निभ सका अत यह कला सुधारवाद व प्रचार के अधिक निकट है।

युगवाणी मे बुद्धि-प्रधान कविताएँ निम्नलिखित हैं—

बापू, युग-उपकरण, मूल्याङ्कन, भूत दर्शन, मार्क्स के प्रति, साम्राज्यवाद, गांधीवाद, सङ्कीर्ण भौतिकवादियों के प्रति, धनपति, श्रमजीवी, भूत जगत आदि-आदि।

बापू कविता में भावना का स्पर्श देखिए—

बापू! तुमसे सुन आत्मा का तेज राशि आह्वान।
हँस उठते हैं रोम हर्ष से; पुलकित होते प्राण॥

अतः यह कविता कवि के आत्म-निवेदन व श्रद्धा को व्यक्त करती है। "युग-उपकरण" में कवि का आवेश द्रष्टव्य है—

वह संस्कृति, नव-मानवता का जिसमें विकसित भव्य स्वरूप।
वह विश्वास, सुदुस्तर भव-सागर में जो चिर ज्योति-स्तूप॥

यहाँ भी दार्शनिक विचारधारा का अनुवाद नही किया है, 'मार्क्स' के प्रति कविता की प्रथम व अन्तिम पंक्तियों को देखिए—

दन्त कथा, वीरों की गाथा सत्य, नहीं इतिहास,
सम्राटों की विजय लालसा, भीषण-भ्रकुटि विलास।
धन्य मार्क्स! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रकट हुए प्रलयङ्कर।

प्रश्न होगा भूतदर्शन, साम्राज्यवाद, समाजवाद, गान्धीवाद आदि कविताओं में तो निश्चित रूप से विचारों का छन्दों में

बाँध भर दिया गया है, यहाँ न कवि के प्राणों की पुलक है, न आवेश, न आक्रोश, न अन्य कोई मानसिक स्थिति यहाँ व्यञ्जित होती है। केवल "बौद्धिक सजगता" को कवि उत्पन्न करना चाहता है और जहाँ मात्र बौद्धिक सजगता होती है वहाँ कविता नही हो सकती या बहुत कम होती है।

मेरा उत्तर होगा कि ऐसी कविताएं निश्चित रूप से विचार की दृष्टि से प्रौढ़ भले ही हों काव्य की दृष्टि से निम्नकोटि की हैं, क्योंकि यहाँ सन्तुलन बिगड़ गया है और सन्तुलन का ही नाम सौन्दर्य है। केवल आँख, केवल वर्ण को देख कर ही मुग्ध हो जाने वाले बहुत से मिल जाते हैं अत विचारों की ताजगी का आकर्षण बौद्धिक सजगता का उत्पादक है परन्तु यह कार्य कवि का नही है, सुधारक का है या विज्ञप्ति प्रकाशकों का है। यह काव्य नही पद्य अवश्य है क्योंकि विचार को छन्द में बाँध दिया गया है और जिस प्रकार छन्दोबद्ध "माधव निदान" काव्य नहो है उसी प्रकार ये पंक्तियाँ भी काव्य नहीं है।

साम्यवाद ने दिया विश्व को नवभौतिक दर्शन का ज्ञान।
अर्थशास्त्र "औ" राजनीति-गत विशद ऐतिहासिक विज्ञान॥

'युगवाणी' में इस प्रकार की बुद्धि तत्त्व प्रधान कविताएँ जो बौद्धिकस्तर को नही छोड़ती, संवेदनात्मकता उत्पन्न नही करती, निम्न-कोटि के काव्य की श्रेणी में आती है, बौद्धिकतत्त्व को संवेदनीय किस प्रकार बनाया जाता है, यदि इसे देखना हो तो "कामायनी" पढना चाहिए।

युगवाणी में विचार-प्रधान कविताओं के अतिरिक्त अन्य कविताएं भी हैं यथा 'पुण्यप्रसू', 'चींटी को देखा', 'पतझार', 'खोलो', 'धनपति', 'कर्षक', 'घननाद', आदि। इन कविताओं में सन्देश, संवेदना व कल्पना तीनों का एक सीमा तक सामञ्जस्य मिलता है। 'पुण्यप्रसू' से कवि के दृष्टिकोण का भी पता चलता है और कवि कल्पनावादी कवियों के हृदयों में आत्मग्लानि भी जगा देता है। इसी प्रकार 'धनपति' शीर्षक से कविता में देखिए—

शय्या की क्रीड़ा, कन्दुक है जिनको नारी।
अहंमन्य वे, मूढ, अर्थबल के अधिकारी॥

सुरांगना, सम्पदा, सुराओं से संसेवित।
नर पशु वे, भूभार, मनुजता जिनसे लज्जित॥

यहाँ कवि के मन मे स्थित पूँजीपतियों के प्रति घृणा की व्यञ्जना कितने आवेश के साथ हुई है। यह सिद्धान्तों या नुस्खों की मुनादी नहीं है, और जहाँ वह होती है वहाँ कविता नही होती। इसी प्रकार 'नारी' शीर्षक कविता मे भी विचार व उद्गार साथ-साथ हैं।

युगवाणी में कुछ कविताएँ चित्रण-प्रधान हैं। इनमे वस्तु का यथातथ्य चित्रण करने की ओर प्रवृत्ति पाई जाती है। 'दो लड़के' व 'झंझा में नीम' यथार्थवादी चित्रण है और 'गंगा की साँझ' में प्रथम व द्वितीय चरण की प्रवृत्तियाँ झलकती हैं। फिर भी नौका-विहार मे जिस प्रकार कवि का उद्देश्य मात्र रूप-अङ्कन था, वह यहाँ नही है। युगवाणी मे प्रकृति से सन्देश ग्रहण करने की इच्छा है। मनुष्य के बढ़ते हुए प्रेम ने कवि को यह कहने के लिए विवश कर दिया—

मधुर प्राकृतिक सुषमा यह, भरती विषाद है मन मे।
मानव की सजीव सुन्दरता, नही प्रकृति दर्शन में॥

पन्तजी को तीन वस्तुएँ अत्यधिक प्रिय हैं—(१) प्रकृति, (२) नारी, (३) मनुष्य और मनुष्य का कल्याण।

'ओस के प्रति' कविता युगान्त की 'मिट्टी के ढेले' की परम्परा मे है। वही सामान्य वस्तु में असामान्य सौन्दर्य-दर्शन की प्रवृत्ति यहाँ मिलती है।

युगवाणी में कवि का ध्यान मनुष्य पर केन्द्रित हो गया है। कवि अपनी दृष्टि से जिस विचारधारा को—समन्वित आदर्शवाद को मनुष्य कल्याण के लिए आवश्यक समझता है, उसे ही वह व्यक्त करता है। इस सन्देश के लिए वह प्रायः प्रेषणीयता का ध्यान न रख कर घोषणा का पथ अपनाता है। यह घोषणा-पद्धति आगे नूतन काव्य मे और भी अधिक बलवती हो जाती है जो काव्य के लिए घातक है। कवि यहाँ 'युगवाणी' मे वास्तविक भूमि पर उतरना चाहता है इसलिए ईश्वर का भी मानवीयकरण करना चाहता है (देखिए 'ईश्वर' शीर्षक कविता) वह कल्पना के आवरण को उतार कर वस्तु को सामान्य व्यक्ति की तरह देखने का प्रयास करता है परन्तु आदर्शवाद की ओस पलकों पर आवृत रहने

के कारण तथा स्वप्न की खुमारी तथा रूप की अत्यधिक प्यास पूर्णतया न मिटने के कारण न विचार की दृष्टि से ही युगवाणी किसी तथ्य पर पहुँचाती है न कला की ही दृष्टि से वह समग्र रूप में यथार्थवादी कला का आदर्श सम्मुख रखती है। सौन्दर्यवादी कला का यहाँ ह्रास दिखाई पड़ता है (गङ्गा का प्रभात तथा गुञ्जन का नौका-विहार तुलनीय) किन्तु यथार्थवादी कला के कुछ 'पैटर्न' यहाँ मिल जाते हैं जिनका आगे चलकर विकास हुआ। हिन्दी में यथार्थवादी काव्य में 'ताज' व 'दो लड़के', झंझा में नीम, घननाद, द्रुतझरो आदि कविताएँ एक स्वस्थ आदर्श प्रस्तुत करती हैं और यथार्थवादी काव्यकारों के लिए सदा प्रेरणा देती रहेंगी।

युगवाणी की भाषा में गद्यात्मकता है। पल्लव की भाषा की सुकुमारता, ललक, लालित्य, मोहकता, सज्जा तथा हाव-भाव यहाँ नही हैं। परन्तु फिर भी पन्तजी ने तत्सम शब्दावली का ही अधिक प्रयोग किया है, तद्भव शब्दों को भी वह कभी-कभी प्रयुक्त करते हैं अतः सन्तुलन बना रहता है। मुक्त छन्दों का भी प्रयोग यहाँ है, पर कम है। छन्दों को अपनी अभिव्यक्ति के अनुसार ढालना पन्तजी की कला की अपनी विशेषता है। झंझा में नीम आदि में नाद-सौन्दर्य भी चित्रित किया गया है। पन्तजी ने भाषा की गत्यात्मकता का भी सर्वत्र ध्यान रखा है। घोर बौद्धिकता के क्षणों में भाषा सघन व जकड़ी हुई सी रहती है और जब गतिमती भावना का चित्रण होता है तो शब्द भी स्फूर्तिमय हो जाते हैं—

नृत्य करो! नृत्य करो!
शिशिर समीर
मत्त अधीर
प्रलयङ्कर नृत्य करो
मृत्यु से न व्यर्थ डरो।

कोमलता के लिए ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग पन्तजी बराबर करते रहे हैं—

कलरव करते किलकार, रार,
ये मौन मूक—तृण तरु दल पर।

यहाँ 'रार' व 'किलकार' शब्द ब्रजभाषा के हैं।

'ग्राम्या' की कला यथार्थवादी है। सभी विरोधियों, अविरोधियों व समर्थकों ने 'ग्राम्या' की कला की प्रशसा की है। इसमें कवि ने ग्रामीणों को हार्दिक सहानुभूति नही दी, केवल बौद्धिक सहानूभूति दी है क्योंकि ग्राम ध्वस्त सस्कृति के अवशेप मात्र हैं। ग्रामों की दुर्दशा के अकन द्वारा ही उनकी यथार्थ स्थिति का पता हमें चल सकता है। मैथिलीशरण गुप्त आदि ने ग्राम जीवन को स्वर्ग के समान बताया है, यह गलत है। नागरिक जीवन की कुत्सितता को अनुभव करने वाली वृत्ति जब आधुनिक सभ्यता के प्रति अत्यधिक असहिष्णु हो जाती है तो वह मुक्त वातावरण वाले ग्रामों को स्वर्ग के समान बताने लगती है। परन्तु पन्त जी की दृष्टि ग्राम्या मे यथार्थ के अत्यधिक निकट है[१] अत ग्रामों की वास्तविक दशा का चित्रण ही उन्होंने किया। ग्राम्या यथार्थवादी कविता-कामिनी का अब तक शृङ्गार बनी हुई है। जन जीवन को कवि ने तीक्ष्ण दृष्टि से देखा है। साथ ही तटस्थ दृष्टि से देखकर वस्तु के सौन्दर्य का अङ्कन करना तो रोमांटिक कवियों का स्वभाव ही रहा है अत ग्राम्या में भी कही कही रोमानी प्रवृत्ति यथार्थवादी प्रवृत्ति से मिल जाती है। यही सम्भव भी था क्योंकि पूर्ण रूप से रोमानी दृष्टि का विलगाव पन्त जी के लिए कठिन था।

तीसरी विशेषता यह है कि ग्राम्या में आगामी युग का भी स्वप्नो के रूप में चित्रण हुआ है यह प्रवृत्ति नूतन कविता में अति की सीमा तक पहुँच जाती है। ग्राम्या की "स्वप्न-पट" कविता द्रष्टव्य है—

भविष्य का चित्रण—

> ग्राम नही वे, नगर नही वे
> मुक्त दिशा "औ" क्षण से
> जीवन की क्षुद्रता निखिल
> मिट गई मनुज जीवन से

"भविष्य मनोहर होगा, ये दुख द्वन्द्व न रहेगे, वर्तमान कितना कुत्सित है। मनुष्य किस स्तर तक पहुँच गया है। परन्तु भविष्य में यह नही रह सकता, तब सब कुछ अच्छा हो जायगा" इस प्रकार पन्त जी अधिक सोचते है अत भविष्य के मनोहर स्वप्नों

---

[१] देख रहा हूँ आज विश्व को मैं ग्रामीण नयन से।

को कल्पना के बल पर चित्रित करने का मोह अधिक हो जाता है। ग्राम्या में यह प्रवृत्ति कम है, पर है अवश्य।

रोमानी दृष्टिकोण से लिखी हुई कविताओं में 'ग्राम युवती' मुख्य है परन्तु इस रचना का समाहार यथार्थ में ही होता है—

रे दो दिन का उसका यौवन !
सपना छिन का रहता न स्मरण
दुःखों से पिस, दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन
ढह जाता असमय यौवनधन

यह बात नहीं कि कवि ने ग्राम्या में नागरिक जीवन की कुत्साओं का अतिरञ्जित चित्रण न किया हो और ग्रामीणों मे व्याप्त सहज मानवीयता को लक्ष्य न किया हो। ग्राम नारी मे पन्त जी ने नागरियों की खूब खबर ली है और ग्रामीणाओं के स्नेह, शील, सेवा आदि ममता की प्रशंसा की है और साथ ही नारी के प्रति अपने दृष्टिकोण की भी व्यञ्जना की है।[1]

युगान्त-युगवाणी ग्राम्याकाल में पन्त जी ने फ्रायड को पढ़ लिया था। सामन्तवादी—पूँजीवादी समाज में रति को गोपनीय, अपवित्र और अधमकर्म माना जाता है। ईसाई मत में भी मनुष्य पापी ही उत्पन्न होता है, हमारे दार्शनिकों ने 'रति' का स्वस्थ, सन्तुलित रूप न पहचान कर अधिकतर उस पर विजय प्राप्त करने का ही उपदेश दिया है, उसे इतना घृणित मान लिया गया कि उसकी चर्चा तक अश्लील कही गई। फ्रायडवाद ने इसीलिए दूसरी सीमा पर जाकर सर्वत्र प्रच्छन्न कामवासना के ही दर्शन किए और सारी सामन्तवादी, पूँजीवादी व्यवस्थाओं में रचित कला व साहित्य को दमित कामवासना का परिणाम बतलाया। अतः जिस रति-क्रीड़ा को 'धर्म' व 'दर्शन' पशु प्रवृत्ति कहलाता था या जिसे गुप्त रखना ही धर्म समझता था उसी की घोषणा होने लगी यह फ्रायडियन प्रभाव था—

---

[1] नारी की सुन्दरता पर मैं होता नहीं विमोहित,
शोभा का ऐश्वर्य मुझे करता अवश्य आनन्दित,
विशद स्त्रीत्व का ही मैं मन में करता हूँ नित पूजन,
जड़ आभा देही नारी आह्लाद प्रेम कर वर्षण।

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन।
अङ्कित कर सकते नहीं, प्रिया के अधरों पर,
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो, नारी से कायर

इस प्रकार यथार्थ जीवन दशा के अङ्कन की दृष्टि से ही नहीं अपितु नागरिक जीवन की कुत्साओं के चित्रण की दृष्टि से, ग्राम के मनोहर वा कुत्सित, प्राकृतिक वा सामाजिक, सहज वा विकृत सभी प्रकार के रूपों के अङ्कन की दृष्टि से, जीवन की विकृतियों को पहचान कर उनके प्रति घृणा जगाने की दृष्टि से तथा 'क्या होना चाहिए' इस दृष्टि से भी ग्राम्या यथार्थवादी काव्य है। केवल कवि का आदर्शवाद यहाँ भी साथ नही छोड़ता। आत्मा व परमात्मा को वह चिरधन यहाँ भी समझता है वह भौतिकवाद का विरोध करता है परन्तु यह अपने जन्म-जात संस्कारों तथा अपने को पूर्णतया वैज्ञानिक न बना पाने का परिणाम है। और सचाई यह है कि 'ग्राम्या' का सौन्दर्य इस भौतिकवाद-अध्यात्मवाद के द्वन्द्व व समन्वय में नहीं है वह तो ग्राम-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने मे ही दिखाई पड़ता है। कवि ने अपने को भाषा, के प्रयोगों के क्षेत्र में भी पूर्णतया बदल लिया है। तद्भव शब्दों का प्रयोग बराबर होने लगा है, केवल जहाँ वह अपनी ओर से ग्रामीण स्थिति पर विचार करता है वहाँ उसकी भाषा तत्सम प्रधान हो जाती है।

मिट्टी से भी मट मैले तन—अध फटे, कुचैले, जीर्ण वसन।
ज्यों मिट्टी के हों बने हुये, ये गँवई लड़के—भू के धन।

अथवा

खड़ा द्वार पर लाठी टेके—वह जीवन का बूढ़ा पिंजर।
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी—हिलती हड्डी के ढाँचे पर॥

दूसरे उद्धरण में एक भी तत्सम शब्द नही है (जीवन व पिंजर को छोड़कर) यदि कवि की चेतना बहक न जाती तो कवि ग्राम्या के पश्चात् ऐसी ही यथार्थ भूमि पर रहकर अपनी कला के स्पर्श से यथार्थवादी कला का विकास करता, परन्तु ग्राम्या के पश्चात् तो कवि का दृष्टिकोण ही बदल गया। अध्यात्मवाद से उतर कर सामाजिक भूमि पर कवि आ गया था, परन्तु सहसा अरविन्द दर्शन के हिन्डोले में बैठकर वह पुनः गगन विहार प्रारम्भ करने लगा। कवि साधक की

स्थिति में आगया परन्तु साधक होना तो कठिन था अतः कल्पना की डोर के सहारे ही कवि आगामी युगों की झाँकियाँ प्रस्तुत करने लगा, तथा भावना, कल्पना व बुद्धि के अतिरिक्त एक और नवीन शक्ति अंतश्चेतना के गीत गाने लगा। परिणाम यह हुआ कि कवि सामान्य मन की पहुँच के बाहर होता गया और उसकी कला केवल स्थित-प्रज्ञ लोगों के लिए ही मानों गढ़ी जाने लगी। बात साधारण सी थी, अरविन्द ने प्राचीन दार्शनिक विचारधारा को आधुनिक शब्दावली में एक नवीन व्याख्या देकर प्रस्तुत कर दिया था। कवि के भीतर ग्राम्या तक चूँकि विश्वास के अंकुर तो बराबर थे ही, एक दम अरविन्दीय मूसलाधार वर्षा से वे हरे भरे होगए और लहलहा उठे। अत. कवि ने पुनः यहाँ बुद्धि से कार्य नहीं लिया। अतः वह अब तक समस्या का समाधान करने मे असमर्थ रहा। अब तक एक ही प्रश्न उसके मस्तिष्क में रहता था—विशेष कर युगान्त-युगवाणी-ग्राम्या काल में, और वह यह कि क्या मार्क्सवादी व्यवस्था में आत्मा-परमात्मा के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। इन कोमल संस्कारों की रक्षा के लिए ही कवि भौतिक-वादियों को जब तब कोसा करता था। अरविन्द ने भौतिकवाद व अध्यात्मवाद का ऐसा घोल तैयार किया जिसमें मैटर व चेतना सम्बन्धी सारे झगड़े सुलझा दिए गए। केवल एक नवीन मानसिक शक्ति—अंतश्चेतना (intuition) की कल्पना के आधार पर और अपने सोपानवाद के द्वारा उन्होंने मैटर व चेतना के जगत् व ब्रह्म के दार्शनिक झगड़ों के लिए एक बौद्धिक समाधान दिया। यह कोई कमाल नहीं था। बर्गसाँ वगैरह पहले ही अतर्चेतना पर जोर दे चुके थे। परन्तु चूँकि अरविन्द ने प्राचीन भारतीय दर्शन की महत्ता भी साथ ही साथ सिद्ध करदी थी, अतः पन्त जी के सारे काम एक साथ बन गए—पुनर्जागरण के युग में पुनरुत्थानवादिता के तत्त्व भी इससे पुष्ट होते थे और मन के नाना संदेहों की निवृत्ति भी होती थी और मजे की बात यह कि साथ ही भौतिकवाद को निम्नतम सोपान के रूप में स्वीकार भी कर लिया गया था—ब्राह्मणों ने शूद्र को भी इसी प्रकार स्वीकार कर लिया था, परन्तु तब के शूद्र विवश थे और आज का भौतिकवाद समर्थ है, यही परेशानी है अन्यथा अरविन्द का समाधान अवश्य स्वीकृत हो जाता।

तो अरविन्द दर्शन ने पन्त जी के कोमल विश्वासों की रक्षा के

लिए बौद्धिक समाधान प्रस्तुत किया और रुग्णावस्था में जब भावना प्रबल रहती है और बुद्धि मन्द, तो यही स्वाभाविक हुआ कि अरविन्द को पूर्णतया स्वीकार कर लिया जाय। जिसका परिणाम है—स्वर्ण-किरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा और अतिमा तथा इनके अतिरिक्त कई काव्य रूपकों में भी पन्तजी ने इस दर्शन का प्रचार करना शुरू किया।

अरविन्द दर्शन का एक पक्ष क्रांतिकारी है, क्योंकि एक तो उसमें निषेधात्मकता नहीं है और दूसरे मध्यकालीन रूढ़ियाँ, रहस्य-वादी सम्प्रदायों की कठोर आलोचना की गई है। तथा इससे भी अधिक वह एक आशावादी दर्शन है परन्तु इसके साथ-साथ विश्वासों की रक्षा के प्रयत्न में कल्पना के आधार पर आधारित दर्शन वैज्ञा-निक बुद्धि के स्थान पर अंध-विश्वासमयी बुद्धि का प्रचार करने लग जाता है। पन्त जी के नवीन काव्य में इसी अरविन्द दर्शन का प्रचार व प्रसार मिलता है। साथ ही अरविन्द के सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से स्थापित मान्यताओं के परिणाम स्वरूप ऊर्ध्व-बौद्धिकता-प्रधान-काव्य का क्या स्वरूप हो सकता है, ऊर्ध्व-बौद्धिकता प्रधान काव्य की अभि-व्यक्ति कैसी हो सकती है, इसके लिए भी पन्त जी का नवीन काव्य पठनीय है। हम कवि के नवीन काव्य का विश्लेषण प्रस्तुत कर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि कवि अपने कार्य में कहाँ तक सफल हो सका है और उनके दार्शनिक काव्य की कलात्मक तथा सामाजिक देन क्या है?

पन्तजी का नूतन काव्य

पन्तजी के नूतन काव्य में अब तक प्रकाशित निम्नलिखित रचनाएँ परिगणित की जाती हैं—

१—स्वर्ण किरण।
२—स्वर्ण धूलि।
३—युगान्तर।
४—उत्तरा।
५—शिल्पी।
६—रजतशिखर।
७—अतिमा।
८—काव्य रूपक।

उपर्युक्त सभी कृतियों में समय-समय पर लिखी हुई रचनाओं का सङ्कलन किया गया है। काव्य-रूपकों में केवल काव्य की विधा बदल दी गई है यद्यपि उनका विषय वही है जो अन्य रचनाओं का। कवि का उद्देश्य है अरिविन्द की विचार पद्धति पर जन-जीवन का कल्याण और इसलिए अरविन्द की विचारधारा में कवि-मन अवगाहन करता रहता है। अत कभी वह शुद्ध बौद्धिक मानसिक स्थिति में रहता है तो कभी अरविन्द की विचारधारा को समझाता है—यथा "अरविन्द दर्शन" नामक कविता में (यद्यपि यह स्तुति प्रधान कविता है) और कभी कवि-मन कल्पना के द्वारा मन से ऊपर की स्थितियों की थाह लेने का प्रयत्न करता है। यह रहस्यात्मक स्थिति है परन्तु साधनात्मकता का स्पर्श मात्र होने से कवि साधना की स्थितियों का अनुमान के आधार पर वर्णन करता है। चूँकि इस प्रकार की स्थितियाँ साधना से सम्बन्धित हैं अत कवि इन स्थितियों में प्राप्त हो सकने वाले अनुभवों, सम्भावनाओं, शक्तियों, स्वरूपों तथा उनसे जन्य विस्मयादि भावका वर्णन करता है, स्वर्ण किरण की सम्मोहन, रजतातप, मत्स्य-

गन्धाएँ, भूप्रेमी, जिज्ञासा, प्रभात का चाँद आदि रचनाओं में तथा "उत्तरा" की उन्मेष, आगमन, मौन सृजन, मेघों के पर्वत, मनोमय, काव्य-चेतना, सम्मोहन हृदय-चेतना, भूस्वर्ग, द्योभाक्षण तथा अतिमा की ध्यान-भूमि आदि कविताओं में मन के गहरे अनुभवों का वर्णन किया गया है। कुछ प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ हैं जिनमे प्रकृति के अङ्गों को मन की अतल गहराइयों में उतरने से प्राप्त होने वाले अलौकिक अनुभवों का प्रतीक मान कर वर्णित किया गया है। 'स्वर्ण किरण' व 'उत्तरा' में ऐसी प्रतीकात्मकता अधिक पाई जाती है। स्वर्ण किरण की 'हिमाद्रि', स्वर्ण निर्भर, हिमाद्रि और समुद्र, पूषण, उषा, चन्द्रोदय, प्रभात का चाँद, कौवे के प्रति, स्वर्णोदय, उत्तरा की जगतवन, मेघों के पर्वत, जीवन कोंपल, शरदागम, शरद चेतना आदि तथा 'अतिमा' की चन्द्र के प्रति, ऊषाएँ सोनजुही आदि कविताएँ इस प्रवृत्ति की उदाहरण है। अन्य कविताओं में भी प्रकृति को प्रतीक के रूप मे बराबर प्रयुक्त किया गया है। कुछ कविताएँ स्तुति-परक काव्य की परम्परा में हैं—स्वर्ण किरण की "नोआखाली के महात्मा के प्रति, पण्डित जवाहरलाल नेहरू के प्रति, अरविन्द-दर्शन, युगान्तर मे कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की ७५ वी वर्ष गाँठ पर, मर्यादा पुरुषोत्तम के प्रति, अरविन्द के प्रति, नेहरू-युग अदि कविताएँ इस श्रेणी में आती हैं। कुछ शुद्ध प्रतीकात्मक कविताएँ हैं यथा अतिमा की प्रकाश, पतिंगे, छिपकलियाँ शीर्षक कविताएँ है जिनमें अरविन्द दर्शन नही है—यथा अतिमा की "आ धरती कितनी देती है" आदि कविताएँ। इस प्रकार विषय वस्तु की दृष्टि से नवीन काव्य के दो भाग हो सकते हैं—(१) –अरविन्दवादी रचनाएँ, (२) फुटकल रचनाएँ। अरविन्दवादी रचनाओं के भी कई भाग हो सकते हैं—(१) शुद्ध दार्शनिक कविताएँ, (२) रहस्यवादी कविताएँ (जिनमें मन की गहराइयों का प्रकृति के प्रतीकों के सहारे वर्णन किया गया है।) (३) प्रकृति-वर्णन प्रधान कविताएँ (इनमें प्रकृति का तटस्थ चित्रण भी है और अन्त में अरविन्द-दर्शन में उस चित्रण का समाहार भी।) (४) प्रतीकात्मक कविताएँ, (५) स्तुति परक कविताएँ, (६) स्वतन्त्र काव्य रूपक, (७) सामाजिक कविताएँ, (८) अनूदित रचनाएँ।

कृतियों की दृष्टि से विचार करें तो 'स्वर्ण किरण' में कवि का

रूप दार्शनिक व रहस्यवादी है तथा 'स्वर्णधूलि' में उसने अरविन्ददर्शन के द्वारा प्राप्त दृष्टि से समाज पर विचार किया है और वैयक्तिक गुणों को दैवी बनाने पर जोर दिया है। युगान्तर में स्तुतियाँ हैं और स्वर्णधूलि में कुछ अनूदित रचनाएँ है। अतिमा में वर्ण्यवस्तुओं की विभिन्नता होने पर भी कवि की आत्मा सर्वत्र एक ही रहती है। "आः धरती कितना देती है" मे भी उस अखण्ड दृष्टि का स्पर्श बराबर अज्ञात रूप से रहता है।

कवि की मानसिक स्थिति

हमने अरविन्द-दर्शन को पाठकों के सम्मुख रखा है, परन्तु 'दर्शन' विशेष के अनुशीलन से कवि की मनःस्थिति किस प्रकार, किस मात्रा में, किस दिशा में प्रभावित, उन्नत, अवनत तथा प्रधावित होती है यह दिखाना आवश्यक है। पाठक जानते हैं कि 'स्वर्ण-किरण' कवि की रुग्णावस्था के पश्चात् अरविन्द से प्रभावित रचनाओं में प्रथम है। अतः इसकी रचनाओं में एक दार्शनिक आशावाद ओतप्रोत मिलता है। आशा और विश्वास का संयोग रहता है। बुद्धि को जब किसी भी प्रकार से असन्तोष नही रहता तब पूर्ण विश्वास व आशा का जन्म होता है। हमें यह भी कहना चाहिए कि जिस मात्रा में जिस वस्तु के विषय में बौद्धिक सन्तोष जगता है उसी मात्रा में विश्वास भी उदित होता है। अत. बुद्धि व विश्वास में जैसा विरोध मान लिया जाता है वैसा विरोध होता नही। परन्तु यह तथ्य बुद्धिवादी विचारकों के साथ ही संयुक्त हो सकता है क्योंकि सर्वत्र प्रथम बौद्धिक क्रिया हो और तब विश्वास का जन्म हो ऐसा नहीं होता क्योंकि अन्तःप्रवृत्ति के कारण स्वभावतः शिशु किसी ऐसी माता पर भी विश्वास कर लेता है, जो उसे मार डालना चाहती है और शिशु ही क्यों शिशुओं के समान सरल हृदयवान् कितने ही लोग विश्वास के कारण ही छले जाते हैं। कभी-कभी मनुष्य किसी वस्तु-विशेष के सम्बन्ध में बौद्धिक रूप से सक्रिय ही नही होना चाहता, वह किसी परम्परा या आप्त व्यक्ति के कथन पर ही चलता रहता है। ऐसे विश्वास को हम अन्ध विश्वास कहते हैं किन्तु जब हम किसी वस्तु पर विचार करते हैं, बुद्धि जिन-जिन विकल्पों को उत्पन्न करती है उन्हें दूर-करने के लिए अपने विचार या वस्तु को बदलते हैं और इस

प्रकार अन्त में जब हमें कोई ऐसा तथ्य या विचार मिल जाता है जो हमारी बुद्धि को सब ओर से सन्तुष्ट कर देता है तो उस विचार के प्रति हमारा विश्वास जगने लगता है। तब हमें आशा होती है कि यही विचार वैज्ञानिक है। इसी विचार का प्रचार करना हमारा उद्देश्य है ताकि दूसरे लोग भी इससे लाभ उठा सकें? इसी विचार के द्वारा समाज का कल्याण सम्भव है क्योंकि यह विचार सभी शंकाओं का समाधान कर देता है, इस मानसिक स्थिति मे व्यक्ति मे अद्भुत आशा व उल्लास का सञ्चार होता है। वह सर्वत्र उसी विचार का प्रसार देखने के लिए विकल हो उठता है। वह उसके विरोधियों को समझता है। उनमे वही दृष्टि जगाना चाहता है जो दृष्टि उसमें है। पन्तजी की बुद्धि को अरविन्द दर्शन ने पूर्णतया संतुष्ट कर दिया अत' स्वर्ण किरण की रचनाओं में एक नवीन आशावाद का उदय होता है। यों पहले से भी कवि आशावादी था परन्तु तब स्वभाव से ही वह आशावादी था। अब सिद्धान्तत भी वह आशावादी बनता है। इसी आशावाद व उल्लास की स्थिति में 'स्वर्ण किरण' की रचना हुई है और इसमें कवि ने अपनी इष्ट विचार-धारा के द्वारा जो दृष्टि पाई है उस दृष्टि से जगत् व जीवन को देखा है, फलत उसकी रचना का रूप पहले से भिन्न हो गया है।

कहना न होगा कि किसी भी कला के लिए आन्तरिक आसक्ति या विश्वास आवश्यक है। कोरी बौद्धिक प्रक्रिया से प्राप्त तथ्यों को यदि बौद्धिक पद्धति पर ही आप व्यक्त करें तो वह उच्चकोटि की कला नहीं हो सकती। पन्तजी की बहुत सी रचनाओं में कोरी बौद्धिक प्रक्रिया व्यक्त हुई है परन्तु बहुत सी रचनाओं में कवि की बौद्धिक उपलब्धि हृदय का लक्ष्य बनकर भी व्यक्त हुई है। किन्तु जब कोई विचार हृदय का लक्ष्य बनता है तो उसके विभिन्न रूप दिखाई पड़ते हैं। एक ही ब्रह्म के प्रति अनेक रहस्यवादी कवियों की हार्दिक आसक्तियों के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। पन्त जी वस्तु की रमणीयता को पकड़ में अत्यधिक कुशल कवि हैं और यह हम देख चुके हैं कि छायावादी मनोवृत्ति रमणीयता की पहचान करने में तथा रमणीयता के सृजन में—दोनों क्रियाओं में कुशल रही है। रमणीयता की पहचान करते समय कवि तटस्थ हो जाया करता है, वह अपने को वस्तु से अलग रखकर वस्तु मे प्राप्त या दृष्ट सौन्दर्य को देखता, मुग्ध

होता और उसके प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है और तब वह पाठकों को भी सुलभ हो जाता है।

तब हृदय की आसक्ति और तटस्थता ये तो परस्पर विरोधी स्थितियाँ हैं। क्या इन दोनों का संयोग एक जगह पर होता है? उत्तर होगा, होता है। एक अत्यधिक क्रूर परन्तु वीर व्यक्ति की क्रिया के प्रति हमारे हृदय में घोर घृणा जग जाया करती है, होना यह चाहिए और कभी-कभी ऐसा होता भी है कि ऐसे व्यक्ति की प्रत्येक बात से हमारा ध्यान हट जाता है परन्तु वीरता का दुरुपयोग होने पर भी अत्याचारी व्यक्ति की दीप्ति, उसका प्रबल व्यक्तित्व हमारे आकर्षण का विषय बन सकता है। धार्मिकों में ऐसी तटस्थता चाहे न हो परन्तु कलाकारों में होती है। धर्म के कला पर अत्यधिक प्रभाव के कारण विरोधी परन्तु प्रबल व्यक्तित्व वाले खल नायकों का प्राचीन साहित्य में सर्वत्र उपहास ही मिलता है। अतः हृदय का संयोग तथा उसी संयोगावस्था में अपने को क्षणभर के लिए अलग रखकर वर्ण्यवस्तु का तटस्थ रूप-दर्शन दोनों सम्भव है। पूर्ण रहस्यवादी कवियों में तो साधना की गहराइयों का वर्णन अधिक होता है या संयोग-वियोग के विभिन्न अनुभवों का वर्णन अधिक होता है परन्तु रमणीयतावादी कलाकार रहस्यमय अनुभवों के साथ अपने हृदय की संयोगावस्था का भी वर्णन करते हैं और साथ ही तटस्थ होकर किस प्रकार उनका प्रिय रमणीय रहस्य चारों ओर प्रभाव बिखराता है इसका भी वर्णन करते हैं। इसीलिए छायावादी रहस्यवाद व मध्यकालीन रहस्यवाद में अन्तर पाया जाता है। मध्यकालीन रहस्यवाद में ऊब-डूब अधिक रहती है परन्तु छायावादी रहस्यवाद में रमणीयता के अङ्कन की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। वियोग के हाहाकार का स्वर उतना तीव्र नहीं होता क्योंकि आधुनिक काव्य-कला पर कल्पना का प्रभाव अधिक है। साधनात्मकता का अभाव होने से अलौकिक अनुभव जहाँ तक कल्पना के द्वारा जाने जा सकते हैं, वहाँ तक तो उनका परिचय दिया जाता है परन्तु कल्पना तो आगे बढ़ नहीं पाती और साधना के अभाव में तटस्थ होकर अलौकिक अनुभवों के प्रभाव का उनके सौन्दर्य का वर्णन होने लगता है यद्यपि उनके साथ हार्दिक संयोग थोड़ा बहुत रहता है। साधनात्मकता की दृष्टि से पन्त जी के नूतन काव्य में बहुत ऊपरी मानसिक स्थितियों का वर्णन मिलता है, यद्यपि

कवि ऊर्ध्व-चेतना की बार-बार पुकार मचाता चलता है परन्तु कल्पना के आधार पर ऊर्ध्व-चेतना का, चेतना की स्वर्णिम किरण के सौन्दर्य का, उसके जगत् पर प्रभाव का, उसकी विभिन्न भाव भंगिमाओं (मानवीकरण द्वारा) आदि का वर्णन 'स्वर्ण किरण' व 'उत्तरा' मे अधिक हुआ है।

चूँकि कवि अरविन्द के सोपानवाद व अंतश्चेतनावाद का विश्वासी है अत नवीन काव्य मे बहुत सी ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें कवि सौन्दर्य दर्शन की मानसिक स्थिति से नीचे उतर कर अविश्वासियों को कभी समझाता है, कभी उनके सम्मुख तर्क-पद्धति पर अपने विश्वास को प्रतिष्ठित करता है, और कभी उनकी विचारधारा का खण्डन करने लगता है। इस स्थिति मे कवि कभी खीझता है, कभी भयानक आक्रोश प्रकट करता है और कभी शाप देने तक को प्रस्तुत हो जाता है, कभी कभी विरोधियों के प्रति अपने मन को मृदुल बना कर उनके अज्ञान व दुराग्रह को भी अपने विश्वास के लिए आवश्यक मान लेता है क्योंकि वह जानता है कि अततः उसके विश्वास की ही विजय होगी। अत वह एक विशेष प्रकार की दया का भाव दिखाता हुआ अपने पर महत्ता का आवरण डालकर पुन अपने विश्वास को दुहराने लगता है। विश्वास को दुहराना व विरोधियों को दुरदुराना कवि कभी नही भूलता। जिन कविताओं में उच्च मानसिक स्थिति रहती है, उनमें भी प्रारम्भ या अन्त में कवि विरोधी पक्ष पर एक दो प्रहार किए बिना मौन नही होता। विरोधी पक्ष जब बहुत अधिक प्रबल होता है तो विचारक के हृदय पर आतङ्क का बोझ अधिक रहता है और इसलिए वह और भी उत्साह से अपने विश्वास की क्षमता, उसके प्रति ममता तथा उसकी व्यापकता को बार बार कहता हुआ तृप्त नहीं होता।

वर्ण्य वस्तु के प्रति विश्वास व तटस्थता की चर्चा के पश्चात् हमे 'स्वर्ण किरण' तथा 'उत्तरा' आदि की रचनाओं में सम्भावनाओं का चित्रण अधिक मिलता है। आदर्श, सम्भावना व कल्पित मनोराज्य ये सब एक ही अर्थ के वाचक हो सकते हैं। अरविन्द दर्शन ने भविष्य के अज्ञात अनेकशः अंतरिक्ष पटलों को खोल दिया है अतः कवि का आशावाद उसे सम्भावनाओं के चित्रण की ओर ले जाता है। सम्भावना में छलना चाहे भले ही हो, परन्तु व्यक्तिवादी कवि

सम्भावनाओं में जिस मनोहारिता व ममता के दर्शन करते हैं उसे देख कर हम उनकी अवैज्ञानिक बुद्धि को भले ही कोसें परन्तु उनकी विवशता पर, उनकी शिशु सरलता पर हमारे हृदय में कभी कभी सहानुभूति अवश्य जागृत हो उठती है। आपत्तियों से संकुल और संघर्षों से कटु जीवन के मरुस्थल में पाताल तोड़ कुएँ की तलाश को समस्या का समाधान न मानकर सम्भावनावादी कवि कल्पना के नखलिस्तानों की ओर तृषित मरु-वासियों का ध्यान आकर्षित करते रहते हैं और यह इन्द्रजाल कितना मनोहर होता है, चाहे उसका परिणाम कितना भयङ्कर क्यों न हो यह सब जानते है। इन्द्रजाल के खेल में दर्शकों मे जो विस्मय, जो मुग्धता, उपस्थित हो जाती है, वही विस्मय व मुग्धता की उपस्थिति पन्त जी के नूतन काव्य को पढ़कर उत्पन्न होनी चाहिए, ऐसी कवि की चाह है। परन्तु सामान्य ऐन्द्रिजालिक व पन्तजी में इतना अन्तर है कि जहाँ जादूगर मे केवल कौशल की प्रवृत्ति रहती है, दूसरों को ही चकित कर देने की भावना रहती है वहाँ पन्तजी स्वयं उस इन्द्रजाल में विश्वास करते हैं, अत. भविष्य की सम्भावना के अनेक चित्रों में व्यक्त होने वाला कवि-हृदय साफ दिखाई पड़ता है। यदि हृदय का इतना भी संयोग न होता तो इन कविताओं का रूप सर्वथा भिन्न और कोरा चमत्कारवादी होजाता।

सम्भावना विश्वास का ही एक स्तर है। सम्भावना की स्थिति में कवि एक सुख का अनुभव करता है, क्योंकि यथार्थ की कटुता सहन करने या उसका कड़ुआ घूँट पी लेने पर उसकी कटुता से अपनी जिह्वा खराब करने की आवश्यकता सम्भावनावादी को नही रहती। वह श्रान्त पलकों में स्वप्नों को सुलाता है और स्वय सो जाता है। जो स्वप्न देखने से इन्कार करता है, उस पर कवि को आश्चर्य होना ही चाहिए क्योंकि व्यर्थ आँखे फोडने से क्या लाभ? जागरण से नींद सर्वदा प्रिय है यदि नींद न भी आए तो भी तन्द्रा तो आ ही सकती है इसीलिए अनेक रचनाओं में तंद्रिल भावनाओं का चित्रण किया गया है।

'सम्भावना' और 'शङ्का' का भी साथ कभी-कभी हो जाया करता है, परन्तु तभी जब 'सम्भावना' स्वय आपके मन में जागृत होती है। परन्तु जब आप सम्भावना को उधार लेते हैं तो शङ्का की गुञ्जाइश नही रहती। पन्तजी की सम्भावना के नीचे अरविन्द के दर्शन का

पुष्ट आधार है, अतः भविष्य-निर्माण की सम्भावना मे उन्हे शङ्का नहीं दिखाई पड़ती। चूँकि अरविन्द-दर्शन मे सम्भावना के उदय के पीछे यह स्वीकृति है कि मन के उच्चस्तर नीचे के स्तरों को अपनी ओर खीचते हैं अत. इच्छा का कोई रूप अविश्वसनीय नही हो सकता। स्वयं अविश्वास भी अविश्वसनीय नही है क्योंकि दृढ़ विश्वास के लिए अरविन्द दर्शन के अनुसार प्रथम अविश्वास आवश्यक है क्योंकि विरोधी स्थिति में व्यक्ति जब किसी बात पर विचार करता है तो भी उसके गुण लुप्त नही हो जाते। अकबर जैसा व्यक्ति राणाप्रताप की प्रशसा करता था। भौतिकवाद की उन्नति के पीछे यही सम्भावना व दैवी इच्छा छिपी है कि आज का मनुष्य घोर विरोधी अनुभवों से गुजर रहा है परन्तु अन्ततोगत्वा वह अवश्य अपने गन्तव्य को पहचान लेगा जिसे द्रष्टा अन्तर्दृष्टि से, बिना गतिवान हुए ही जान लेते हैं। यदि द्रष्टा की बात कोई विरोधी नहीं मानता तो उसे अपने मार्ग पर चलते रहने देना चाहिए क्योंकि अविश्वास भी एक प्रकार का आत्मानुभव है और बिना आत्मानुभव के सत्य की पहचान नही होती। इसप्रकार 'सम्भावनावाद' के नीचे श्रद्धा का जो अतिरेक पाया जाता है वह पूरा-पूरा पन्तजी की रचनाओं मे मिलता है। संस्कार-प्रिय हृदय की पहचान ही यह है कि वह उनके विरुद्ध नही जाता, वह उसे ही वैज्ञानिक रूप दिया करता है। और पर-पक्ष को विरोधी मान लेने का अर्थ यह है कि भविष्य में स्व-पक्ष की विजय सम्भावित नही रह जाती। इसीलिए तत्त्वज्ञानी विरोधियों के तर्कों को चुपचाप पीकर उन्हें अज्ञानी कह कर क्षमा कर देते हैं। उन्हे यह सम्भावना बराबर रहती है कि आज नही कल अवश्य मेरे ही रास्ते पर आएगा। भारतवर्ष की यह मानसिक स्थिति शताब्दियों तक रही है, उसकी यथार्थता अयथार्थता पर हम विचार करने तक को प्रस्तुत नहीं हैं कि हमारा मार्ग सही है, और यदि आप मेरे इस भारतीय मार्ग पर नही चलते तो कोई बात नहीं, कल चलेंगे, यही एकमार्ग है। भारतीय आदर्शवादी विचारक शताब्दियाँ ही नही, युगों व कल्पों तक अपनी ऐसी ही व्यक्तिगत भावना की अन्तिम विजय में विश्वास रखता है। पन्तजी की सम्भावना का स्वरूप भी यही है। उनका विश्वास है कि सारा विश्व उन्ही के बताए लक्ष्य की ओर जारहा है और मजा यह है कि हरएक धार्मिक यही बात कहता है और हर एक देश का हरएक सम्प्रदाय

ऐसी सम्भावना को छोड़ना नही चाहता।

एक और मानसिक स्थिति है जिसकी वार-वार पुनरावृति पाई जाती है–'आवाहन' की स्थिति। पन्तजी के आवाहन के 'मृदुल आवाहन' कहना चाहिए क्योंकि इसके नीचे विश्वकल्याण की भावना निहित है। पाठक जानते हैं कि छायावादी कवि मानवतावादी हैं, स्वयं उनके निवन्ध इस तथ्य के साक्षी हैं। मानवतावाद वस्तुत: ममतावाद है। ममत्त्व-दृष्टि आज के युग मे कम दिखाई पड़ती है। ममतावादी कवि ममता के तार से प्राणीमात्र के हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं, वह हृदय से विश्वकल्याण चाहते हैं। उनकी 'नियत' पर कोई शङ्का नही हो सकती। अत विश्वकल्याण के लिए जो कवि वैयक्तिक नैतिक-स्तर को उच्च करने का समर्थक हो और उसके लिए विचार की उच्चता को ही एकमात्र उपाय मानता हो, वह वार-वार जनता को आमंत्रित करेगा कि "आओ हम अरविन्द-दर्शन में विश्वास करें, आत्मानुभव करें, हमारे भीतर जो प्रकाश भरा है उसे पहचानें, व्यक्तित्व के मूल की खोज करें और वाहरी सुधारों के साथ-साथ आन्तरिक सुधार की ओर वढ़ें, जाति व देश के वन्धनों के ऊपर उठे, जड़ भौतिकवाद चूँकि आत्मकल्याण का विरोधी है अतः उसका विरोध करें और इस प्रकार विश्वकल्याण करें।" इस आमन्त्रण या आवाहन से सम्वन्धित अनेक रचनाएँ हैं। आत्मवल वटोरने के लिए जनता से अरविन्दवादी विश्वकल्याणवादी होने की गुहार के नीचे कवि पन्त की जिस ममता के दर्शन होते हैं वह देखते ही वनती है। चर्च मे किसी धर्म-पुरोहित के मुख पर जिस पवित्रता का आभास रहता है वैसी ही धार्मिक पवित्रता के साथ कवि जनता को आमन्त्रित करता तृप्त नही होता। क्योंकि वह जानता है कि इसी प्रकार विचार करना राष्ट्र के हित मे है, विश्व के हित मे है, आत्मा के हित मे है।

पन्तजी के नूतन काव्य मे कोरे नैतिक उपदेश भरे पड़े हैं, धर्मसुधारकों की उद्देश-प्रवृत्ति भी यहाँ पूरी-पूरी है। विनोवा भावे तक ने कहा है कि उपदेश आतङ्क फैलाता है। जो हो, भले ही वह काव्य-पद्धति के विरुद्ध हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दृढ़ता के साथ नैतिक उपदेश देने से कम से कम कवि के मन की दृढ़ता तो प्रकट होती ही है और कही यदि वह नैतिकता समयानुकूल हुई तो उसका महत्त्व वढ़ जाता है। कवीर के नीति के दोहे व वृन्द के नीति के दोहों का अध्य-

यन इस बात का साक्षी है कि कबीर के उपदेश प्रधान दोहों के नीचे भी स्वर की दृढ़ता व सच्चाई की आँच छिपी हुई है, पन्तजी के उपदेशों मे एक सीमा मे सामयिकता भी है। वे उपदेश की पद्धति में प्रेरणा का स्वर मिलाते हैं सीधी चोट नहीं करते, जैसा कबीर करते थे। व्यक्तित्व के ओज के अभाव में पन्तजी के उपदेश ओजस्वी तो नही परन्तु वे कोमलता की पद्धति पर होने से आकर्षण रखते हैं। 'स्वर्ण धूलि' में इस प्रकार के उपदेश अच्छे बन पड़े हैं, अन्य रचनाओं में भी वे पर्याप्त संख्या में मिलते है।

नैतिक उपदेशों के प्रसङ्ग मे कवि की उस रुझान की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है जो बीज रूप में तो पिछली रचनाओं में भी मिलती है, छोटे से अंकुर रूप में भी वह कभी-कभी दिखाई पड़ती है परन्तु जिसका नई कविता मे अधिक विकास दिखाई पड़ता है। मेरा तात्पर्य अतीत पूजा से है। यहाँ भी वर्तमान के प्रति असंतोष ही मुख्य कारण है। असंतोष जब व्यावहारिक रूप से रचनात्मक लक्ष्य सम्मुख रखकर नही चलता तो वह या तो भविष्य की संभावना में डूबता है या अतीत पूजा मे। इसके साथ व्यक्तिगत जीवन की घटना भी अतीत पूजा में सहायक हुई है। अपनी रुग्णावस्था मे कवि मृत्यु के सन्निकट पहुँच चुका था अत अमरता की उस ओजस्विनी वाणी को जिसे वेदों, उपनिषदों में संकलित किया गया है, कवि अनूदित करने के लिए इधर अधिक तत्पर दिखाई पडता है। शब्द सङ्गठन तथा संहिति प्रधान पद योजना पर भी रचनाओं का प्रभाव दिखाई पडता है। तीसरा कारण यह है कि अरविन्द जिस प्रकार प्राचीन वेद वाणी को सुनकर मुग्ध होगए थे उसी प्रकार पन्त जी को उपनिषदों मे शाश्वत प्रकाश के दर्शन होने लगे हैं और उसे बार-बार दुहराते वे तृप्त नहीं होते। अमरत्व के प्रति कवि की यह प्यास नवीन काव्य में सर्वत्र दिखाई पडती है। डा० नगेन्द्र ने लिखा है, कि पन्त जी अतीतवादी अपने साथियों में सबसे कम मात्रा में हैं और भविष्यवादी सबसे अधिक मात्रा मे हैं। परन्तु भविष्य की कल्पना यदि अतीत पर आधारित है तो भविष्य को अतीत का पुनरुद्धार मानना होगा। यह ठीक है कि पन्त जी भविष्य का चित्रण ही अधिक करते हैं परन्तु आत्मवाद पर आधारित अरविन्दवाद भी अपने भविष्य की मूर्ति अतीत के उपकरणों से ही गढ़ता है और जहाँ स्वतन्त्र-कल्पना का

प्रयोग करता भी है वहाँ अतीत काल में प्रयुक्त शब्दावली का अर्थ बदल देता है अत पन्त जी को अतीत पूजा का उनके भविष्यवाद पर बहुत अधिक प्रभाव है। और उसका कारण हम ऊपर बता चुके हैं।

अतीतवाद के प्रभाव का आधिक्य यहाँ तक हुआ है कि कवि को ऋषियों, धर्म सुधारकों जैसी ही दृष्टि मिल गई है। यों योरोपीय ज्ञान की सहायता से कवि वर्तमान की अपूर्णता के लिए व्यवस्था को भी जिम्मेदार ठहराता है परन्तु नवीन कविता में उसका स्वर उन प्राचीन धार्मिकों जैसा है जो सर्वत्र कलुष और कलियुग का प्रभाव देखते थे और इसे दैव इच्छा कह कर अवतार के लिए प्रार्थना करते थे। पन्तजी ने नवीन काव्य में जगह जगह दम्भ, मत्सर, अत्याचार, हिंसा, कपट व कलह का एक धार्मिक की तरह वर्णन किया है। अपने अधिकारों के लिए यदि शोपित जनता लड़ती है; विप्लव करना चाहती है, यदि भूखे रोटी और नंगे वस्त्र माँगते हैं तो वे एक ओर इस दरिद्रता का भी वर्णन करते हैं और दु:खी भी होते हैं और दूसरी ओर उन्हे इस न्यायोचित माँग मे अधिकार-लिप्सा, दम्भ और सामूहिकता का आतङ्कवाद भी दिखाई पड़ने लगता है। यह मध्यवर्गीय भ्रम है जो पन्त जैसे संस्कारी व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है। ऐसा कवि सयम, तप, तितिक्षा, अपरिग्रह, त्याग, आदि का उपदेश देगा। इन महत्वपूर्ण गुणों को निरपेक्ष मान लेगा और उसे लगेगा कि आज चारों ओर जो क्रान्ति का कोलाहल हो रहा है, जिसमें मनुष्य राक्षस बन गया है। वह इन महत् गुणों की रक्षा न कर सकेगा, इसलिए उनकी रक्षा के लिए अलग से सॉंस्कृतिक मोर्चा खोलने की आवश्यकता है। वैयक्तिक निष्ठा, श्रद्धा व सयम का प्रचार मनुष्य को क्रान्ति के पश्चात् महान् उत्तरदायित्व के पद के लिए तैयार रखेगा परन्तु पन्तजी यह नही सोचते कि यह श्रमिक क्रान्ति, जिसका उन्हे इतना भय है, महत् गुणों के विकास का अवसर देने के लिए है। आज की व्यवस्था मे तो ये गुण विकसित हो नहीं सकते, यह पन्तजी भी मानते हैं। अत: गुणों के प्रति सापेक्ष दृष्टि रखनी होगी, कोई भी गुण तभी तक निरपेक्ष माना जा सकता है जब तक वह दूसरे गुण के विरोध में नहीं पड़ता, पन्तजी ऐसा न सोचकर व्यक्ति की पतितावस्था को देखकर पौराणिकों या योगियों की तरह अतीत कालीन मंगलमय वाणी की गुञ्जार भरने लगते हैं। कैशोर मुग्धता के स्थान पर ऐसी कविताओं मे अतीत के

सर्व दर्शी ज्ञान के सम्मुख वे अपनी श्रद्धा को बार बार प्रकट करते हुए तृप्त नही होते, प्रकृति की वस्तुओं को भी वह उसी प्राचीन दृष्टि से देखने लगते हैं। इसीलिए नवीन, काव्य में वेद उपनिपदों के मंत्रों का या तो शाब्दिक अनुवाद मिलता है या मंगलमय, प्राचीन प्रतीकों व अप्रस्तुतों के द्वारा पन्तजी वैदिक वातावरण काव्य के क्षेत्र में प्रस्तुत करना चाहते हैं। अत 'अतीत पूजा की भावना से उनकी कविता गुरु-गम्भीर, गहन, प्रतीकात्मक तथा अशिथिल तत्सम प्रधान शब्दा-वलो से युक्त होती गई है। चित्त में एक दार्शनिक स्थिरता के आ जाने से कला की चारुता, चांचल्य व किलक, कौतूहल के स्थान पर एक धार्मिक पवित्रता घनीभूत होकर असहनीय बोझिल शाब्दिक लबादे में बदल गई है।

वैयक्तिक अमरता को सामाजिक रूप देने के लिए पन्तजी अत्यधिक विकल दिखाई पड़ते हैं। परन्तु अमरता के अभ्यासी साधकों को साधना की ज्वाला में शुद्ध होते रहने से जो सहज अभि-व्यक्ति मिल गई थी, वह कल्पनावादी पन्तजी को नही मिल सकी। साधना द्वारा आत्म-परिष्कार न होने के कारण सशय व दुविधा की स्थिति को बौद्धिक रूप से नष्ट करने पर भी रहस्य को रमणीय रूप मे प्रस्तुत करने का प्रश्न जब कवि के सम्मुख उपस्थित हुआ तो कवि ने पुरानी छायावादी मनोवृत्ति से ही कार्य लेना चाहा। ब्रह्म पर नारी रूप का आरोप कर साधक रहस्यमय अनुभवों को उत्कट प्रेम-भावना के माध्यम से व्यक्त किया करते थे। चूँकि प्रेम भावना संयोग व वियोग दोनों स्थितियों में अत्यधिक तीव्र और मर्मस्पर्शी होती है अत रहस्यदर्शी कवि उसी के सम्बन्धों का ब्रह्म व जीव पर आरोप कर लेते थे और सामान्य व्यक्ति लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकि प्रेम का कम से कम अनुमान तो कर ही लेता था या वह एक सीमा तक उसे समझ लेता था। परन्तु पन्तजी दिव्य स्थिति को जब लौकिक सम्बन्धों के माध्यम से व्यक्त करने चले तो उन्होंने 'रूपांकन' की छायावादी वृत्ति को नही छोड़ा। छायावादी रोमानी वृत्ति में अव-चेतन में स्थित नारी के प्रति आकर्षण प्रबल था अत. उसी का आरोप छायावादी कवि प्रकृति की वस्तुओं पर किया करते थे। आरोपवाद पूर्ण विस्तार व विवरण के साथ आध्यात्मिक सत्यों व मानसिक स्थितियों के वर्णन करने में प्रयुक्त होने लगा। आतरिक व बाह्य

अविरोध दिखलाने के लिए लौकिक रति के रूप में वर्णन करने लगा तो कवि के मन की स्थिति विचित्र चाहे न रही हो परन्तु पाठक के मन की स्थिति विचित्र हो गई। यह बात दूसरी है कि विद्यापति के गन्दे से गन्दे पद को पढ़कर चैतन्य कृष्ण के ध्यान में तन्मय हो जाते थे क्योंकि चैतन्य चैतन्य थे। कवि भावनाओं का परिष्कार करता है, उन्हें धीरे-धीरे ऊर्ध्वता की ओर ले चलता है। परन्तु जहाँ एक ही समय ऊर्ध्व-स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया जाय कि पाठक सम्भोग-क्रिया के चित्रों का आनन्द लेता चले तो वह ऊर्ध्व स्थिति का आनन्द नहीं ले पाता। आनन्द ले पाने की बात तो दूसरी है वह वहाँ तक पहुँच भी नहीं पाता, और यदि वह ऊर्ध्वता की ओर बढ़ने का प्रयत्न भी करता है तो लौकिक रति के उद्दीपक उन्मादक चित्र उसका अञ्चल नीचे की ओर खीचने लगते हैं। प्राचीन साधक संयोग शृङ्गार के माध्यम से जहाँ आध्यात्मिक रति का वर्णन करते हैं वहाँ उस रति का पन्त जी की तरह विवरण प्रस्तुत नही करते और जहाँ विवरण प्रस्तुत किया गया है यथा सिद्धों की कविताओं में, वहाँ काम शास्त्र के शब्दों को प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है (यद्यपि हम उसका भी समर्थन नही करते) ऐसा नही किया गया कि पाठक में एक ही साथ लौकिक रति के लिए उत्तेजना जागृत हो जाय और आध्यात्मिक रति व वैराग्य की भावना भी जागृत हो जाय। मैंने कहा कि साधना के अभाव में कल्पनावादी व रमणीयतावादी कवि जब सत्य की रमणीयता दिखाने का प्रयत्न करेगा तो वह नारी के अङ्गों प्रत्यङ्गों व रति की क्रियाओं के रूप में उसको व्यक्त करेगा। परिणाम यह होगा कि या तो प्रकाश और प्यास, तितिक्षा और तृष्णा, विराग और अनुराग, स्थिरता और स्खलन बारी-बारी से अन्तस् में झलक मारने लगेंगे या फिर मन ऊर्ध्व स्थितियों—प्रकाश—विराग आदि के स्थान पर निम्न-भौतिक स्तरों की ओर प्रधावित हो जायगा। वस्तुतः रोमांटिक प्रवृत्ति से पन्त जी को मुक्ति कभी नही मिल सकती। अत उनके उपचेतन व ऊर्ध्वचेतन में सर्वदा द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। इस द्वन्द्व का परिणाम यह हुआ कि आध्यात्मिक कविताओं के बीच में कुछ पंक्तियाँ ऐसी मिलेंगी जो मोहक ही नहीं, उन्मत्त कर देने वाली हैं। मैंने पहले ही कहा है कि चैतन्य जैसे साधकों व सामान्य पाठकों में अन्तर होता है। उपनिषदों का ऋषि भी ब्रह्मानन्द की उपमा आलिंगन-जन्य आनन्द

से देता है, सिद्ध, सन्त व भक्त कवि भी लौकिक प्रेम को माध्यम बनाते हैं परन्तु उनकी उक्तियाँ बेलाग और निर्लेप होती हैं —यथा:—

तन रति कर मैं मन रति करिहौं पाँचों तत्त्व बराती,
रामदेव मोहि ब्याहन आए मैं जोबन मदमाती।—कबीर

उक्त पंक्तियों में जो निर्लेपता पाई जाती है वह पन्तजी की ऐसी रचनाओं में नहीं मिलती। पवित्र को मादक बनाने का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता, केवल साधक कवि ही ऐसी स्थिति में सन्तुलन रख पाते हैं। सूरदास जैसे कवियों में ऐसा अद्भुत सन्तुलन दिखाई पड़ता है परन्तु वहाँ साकार उपासना थी। साकार भगवान के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध पहले से ही स्वीकृत कर लिया गया था, फिर भी उसने रीतिकाल को जन्म दिया। पन्तजी को सूक्ष्म और रूपविहीन आध्यात्मिक सत्यों के मूर्तीकरण के लिए मानवीयकरण की पद्धति अपनानी पड़ी और मानवीयकरण के लिए उन्होंने नारी के मुख, केश, कपोल, पग, पायल आदि को ही नहीं लिया—जघन, नाभि और रजस्राव तक को लिया। परिणाम यह हुआ कि बार-बार उरोजों जघनों पर हाथ रखकर सोने वाले आध्यात्मिक सत्यों को देख-कर पाठक के सम्मुख लौकिक रति के उन्मादक चित्र उभर कर आजाते हैं। जिन संस्कारों को भुलाने की आवश्यकता थी वे और भी वेग से चेतना को झकझोरने लगते हैं और उसका परिणाम यह होता है शांत रस शृङ्गार में बदल जाता है परन्तु साथ ही वह शृङ्गार भी नहीं हो पाता क्योंकि आध्यात्मिक अनुभव फिर वर्णित होने लगते है अतः इन शांत व शृङ्गार रसों की आँख मिचौनी पन्त जी के अंतर्मन की स्थिति को स्पष्ट कर देती है और साथ ही कविता के प्रभाव के परि-णाम को भी वह बताती है।

ऊर्ध्व-चेतन व उपचेतन के अंतर्द्वन्द्व के साथ-साथ संयम—राग-भावना पर संयम, क्रोध और ईर्ष्या पर संयम, अधिकारों की माँग पर संयम, आवश्यकताओं आदि पर संयम की शिक्षा जब कवि देता है तो वह चित्त-वृत्ति के निरोध की शिक्षा देने वाले योग की परम्परा को निभाता है। पल्लविनी के भूमिका लेखक ने लिखा था कि पन्त जी में राग व विराग का संघर्ष सर्वदा विद्यमान रहा है। राग के क्षणों में एक प्रकार की रचनाएँ निकली हैं और विराग के क्षणों में दूसरे प्रकार की। कभी-कभी इनका मिश्रित रूप भी एक ही कविता में देखा जा

सकता है। विराग के क्षणों में बीच में राग की स्थिति जागृत हो जाने पर विराग का चित्रण उत्तेजक मादक भाव द्वारा होने लगता है और राग का चित्रण करते-करते कवि वैराग्य पूर्ण मानसिक स्थितियों का चित्रण करने लगता है। तथाकथित संकीर्णतावादी फौजी आलोचकों ने इस स्थिति को नहीं देखा, उन्हें पन्त जी की नई कविता में सर्वत्र वासना का भवसागर ही दिखाई पड़ा। संयम की शिक्षा के भी अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं, यथा अहं के विस्तार की शिक्षा, नैतिक स्तर की उच्चता का प्रयत्न, विरोधी के प्रति भी सहानुभूति की शिक्षा तथा अनेकता में एकता का प्रयत्न, समग्र दृष्टि से जीवन व जगत को देखने की प्रार्थना आदि। प्रसिद्ध कथाओं को लेकर (यथा अशोक वन) कवि ने उनसे आध्यात्मिक ध्वनि निकालने का प्रयत्न इसीलिए किया है। कवि का विश्वास है कि सभ्यता व संस्कृति का एकमात्र उद्देश्य संयम की शिक्षा है। संयम, समन्वय तथा समग्र दृष्टि ये तीन तत्त्व नूतन काव्य में प्रायः संग्रथित मिलते हैं।

कवि केवल व्यक्ति-मन की गहराइयों में उतरकर आंतरिक जगत की खोजबीन ही नहीं करता रहता, वह सारे आध्यात्मिक सत्यों का समाजीकरण भी खूब करता है। स्वर्ण किरण की कविताओं में यह प्रवृत्ति अधिक मिलती है। अरविन्द ने व्यक्तिगत साधना व सामाजिक व्यवहार के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया था, पन्तजी को भी वहीं से दृष्टि मिली है अतः वह भी 'उत्तरा' आदि कृतियों में साधना के अनुभवों का वर्णन करते हैं और तब उसका क्या उपयोग है, यह समझाने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि कवि को यह सदा भय रहता है कि कोई यह न कह दे कि ये सब आध्यात्मिक साधनाएँ व्यक्तिगत चीजें हैं और इन पर आज के युग में लिखना प्रतिगामिता है। चूँकि कवि प्रथम मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है और अब उसने ऐसे व्यक्तिवादी दर्शन को स्वीकार किया है जो यह दावा करता है कि वह वैयक्तिक नहीं है, अतः कवि प्रत्येक धारणा का, ध्यान का, विचित्र अनुभवों का सामाजिक उपयोग समझाता है, और इस की बार बार पुनरावृत्ति मिलती है। इसी प्रसंग में कवि बार बार मार्क्सवादियों को ललकारता है कि वे आएँ और देखें कि इन चीजों का कुछ उपयोग है या नहीं।

फ्रायड सभी क्रियाओं को उपचेतन अवचेतन से शासित मानता

है परन्तु पन्त-अरविन्द आत्मा की स्वतंत्र इच्छा शक्ति को मानते हैं अतः पन्त जी की रचनाओं मे उपचेतन की खिड़की को पीछे की ओर से खोल कर ऊर्ध्व-चेतन से आने वाले प्रकाश का विभिन्न प्रतीकों और अप्रस्तुतों द्वारा वर्णन हुआ है, जैसे कवि का सारा प्रयत्न ही यह है कि आओ और देखो कि उपचेतन के भी और भीतर चेतना के ऊर्ध्व-स्तरों से जो आध्यात्मिक स्वर्णिम किरणे आ रही हैं उनसे प्रेरणा लो, उपचेतन तक ही क्यों रुक जाते हो, मन को उसके भी ऊपर चढ़ने दो, तब चेतना का उच्चतम शिखर मिलेगा। 'रजत-शिखर' नाम से एक काव्य रूपकों के संग्रह की सार्थकता भी इसी प्रकार प्रमाणित की गई है।

इस प्रकार पन्तजी का नूतन काव्य फ्रायड-मार्क्स का खण्डन करता है और उनकी स्थूलता, यान्त्रिकता, एकांगिता तथा पूर्वाग्रहों की ओर अंगुलि निर्देश करता हुआ अपनी अनुभूति से आध्यात्मिक सत्य को साधना द्वारा जानने के लिए आमन्त्रण देता है और इस आमंत्रण को यदि कोई स्वीकार नही करता तो कवि राष्ट्रीयता व प्राचीन भारतीय संस्कृति की दुहाई देता है, जहाँ तक मार्क्स व फ्रायड कोई नही पहुँच सके थे। इसीलिए नूतन काव्य में उपनिषदों व वेदों के कई मन्त्रों के अनुवाद किए गए हैं, उनके नए अर्थ भी दिए गए हैं, उनसे मिलने वाले सकेतों को समझाया गया है और ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया गया है जैसे प्रकृति की प्रकृत-सुषमा व विरह-वेदना की आह, ऊह तथा प्रिया के गंगा के समान पवित्र ध्यान को छोड़कर कवि ऐसे स्थान पर जा पहुँचा है, जहाँ यज्ञ हो रहे हैं, सुगन्धित धूम्र उड़ रहा है। पारमार्थिक सत्यों की शोध हो रही है, जहाँ द्वन्द्व व संघर्ष को आत्मबल से जीत लिया गया है, जहाँ ऋचाओं की गुञ्जार सुनाई पड़ती है, जहाँ योगी ध्यानावस्थित होकर अवाङ्मनसगोचर सच्चिदानन्द के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं, जहाँ न राग है, न द्वेष है, न कटुता है, न कलुष है, जहाँ रोटी-रोटी चिल्लाने वाले लोगों को शान्त मन से वैराग्य का पाठ पढ़ाया जा रहा है, जहाँ जटाधारी, लगोटधारी साधक आन्तरिक, उच्च रहस्यमय स्तरों को भेद कर पुन. जगत की वस्तुओं को उस अनिर्वचनीय आनन्द से अभिमण्डित होते हुए देख-देख कर मुग्ध हो रहे हैं। कवि ने इस दृष्टि का अपमान करने वाले भौतिकवादियों को इस दृष्टि का सामाजिक उपयोग कई जगह बताया है। विशेषकर पन्त जी के अनुसार कलाकार को यही मर्म-भेदिनी दृष्टि

प्राप्त होनी चाहिए तभी वह मूर्तियों में, चित्रों में और काव्यों मे सामान्य रेखाओं में भी एक रहस्य भर सकता है। भारतीय मूर्तिकला व काव्य-कला का यही रहस्य है। सामान्य भौतिकवादी व्यक्ति बुद्ध, राम व कृष्ण की प्राचीन काल में निर्मित मूर्तियों को इस दृष्टि के अभाव मे नहीं समझ पाता. जिनसे अनन्त और अपरिमित आशा, विश्वास, संयम व शान्ति का सन्देश मिलता है। युद्धग्रस्त विश्व के लिए इस कला की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस प्रकार कवि पहले सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभवों का वर्णन करता है, जैसे कवि को उनका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा हो। उन अनुभवों के समय मन की स्थितियों का सूक्ष्म और विस्तृत विवरण होता है. इन अनुभवों के समय प्रकृति कैसी प्रतीत होती है. मनुष्य कैसे लगते हैं. वस्तुओं मे क्या आकर्षण आ जाता है, तथा स्वयं आध्यात्मिक अनुभवों का स्वरूप क्या है। इन सब का कवि विस्तार से वर्णन करता है, और तत्पश्चात् इन अनुभवों का उपयोग समझाता है, इसी कारण कविताओं के प्रारम्भिक व मध्य भाग सूक्ष्म और तरल. रहस्यमय अत कठिन होगए हैं और अन्तिम भाग प्राय. सरल हैं। उत्तरा की रचनाओं में यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है।

आध्यात्मिक अनुभवों के समाजीकरण के प्रसङ्ग में एक बात और स्मरणीय है। कवि ने योग सम्बन्धी अनुभवों और उनके समाजीकरण का वर्णन स्वर्णकिरण, उत्तरा आदि मे किया है, परन्तु 'स्वर्णधूलि' मे समाजीकरण को मुख्यता दी गई है। यथा 'पतिता' में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आततायियों के द्वारा भ्रष्ट नारी को अपनाने पर जोर दिया गया है और तर्क यह है कि रज अपवित्र है. उससे निर्मित शरीर अपवित्र है, अतः यदि वह भ्रष्ट हो जाय तो कोई चिन्ता नहीं। मन यदि पवित्र है तो सब पवित्र है, अतः प्रेम की पवित्रता के सिद्धान्त को आदर्शवादी ही समझता है और आदर्श प्रेम एक सामाजिक सत्य है। उसके प्रचार की आवश्यकता है।

पङ्किल जीवन में भी 'पंकज' के समान रहना भारतीय अद्वैतवाद ही बताता है, यह कवि का दावा है। विदेह जैसे राजा और कहीं नहीं मिलते, भारत में ही मिलते हैं परन्तु कवि यह भूल जाता है कि जहाँ व्यक्तिगत साधक में निर्लिप्तता एक अच्छा सिद्धान्त है वहाँ सामाजिक रूप में निर्लिप्तता के कारण भारतवर्ष के योगी व साधक तत्त्वदर्शी कहलाए जाने पर; अपनी पूरी पूरी त्रिकालदर्शिता के साथ

सामाजिक कार्यों से तटस्थ रहे हैं और जब जब उन्होंने समाज का सञ्चालन करना चाहा तो सामाजिक व्यवस्था को व्यक्ति के दुःख सुख का कारण न मानकर (यद्यपि वे त्रिकालदर्शी कहलाते हैं परन्तु व्यावहारिक सत्य को वे नहीं समझ सके) वे व्यक्ति के मन को संयम का पाठ पढ़ाते हैं या व्यक्ति के संतोष के लिए किसी बाह्य सत्ता पर विश्वास को ही दुहराकर परावलम्बन की शिक्षा देते हैं और उसी व्यक्तिवादी मानसिक निर्लिप्तता का पन्त जी समाजीकरण करना चाहते हैं। कार्य के परिणाम के प्रति निर्लिप्तता रखने से कार्य के प्रति आसक्ति भी कम होगी। कम से कम सामान्य प्राणियों की मानसिक स्थिति तो अवश्य ही ऐसी रहती है जिसमें कार्य के परिणाम पर सदा ध्यान रहता है। योगियों की बात दूसरी है परन्तु योगियों की स्थिति का समाजीकरण कर जिस प्रकार गांधीजी दूसरा गाधी उत्पन्न नही कर सके और गाधीवाद सामाजिक क्रान्ति में असफल रहा। उसी प्रकार पन्त के निर्लिप्ततावाद का भी वही परिणाम होगा। परन्तु विश्वास की स्थिति में बुद्धि काम करना बन्द कर देती है और पन्तजी को इसका अफसोस भी नही है। अत वह प्राणायाम करने के समय उड़ते हुए मन की स्थितियों को चित्रित कर शरीर व मन की समानान्तर अवस्थाओं को सार्वभौमिक सत्य का रूप देते हैं, इसीलिए 'नरक में स्वर्ग' का निर्माण परिस्थितियों का परिवर्तन किए बिना केवल मन को बदल देने से, मन को योग सिखा देने से, विश्व बधुत्व का उपदेश देने से अवश्य हो जायगा। क्रान्ति व्यर्थ है, ऐसा कवि का विश्वास है, और यह गलत है। 'स्वर्ण धूलि' में व्यक्तिवादी दर्शन से समाज की बुराइयाँ किस प्रकार दूर हो सकती हैं, यही समझाया गया है। गांधीवाद व समाजवाद का समन्वय भी वहाँ बताया गया है।

'स्वर्ण धूलि' का कवि ऐसा कवि है जो विश्व कल्याण भी चाहता है और यह भी चाहता है कि इस पवित्र कार्य के लिए संघर्ष की आवश्यकता भी न पड़े, केवल मंत्रोच्चार, शास्त्रानुशीलन, सांस्कृतिक प्रयत्न, और यौगिक साधनाएँ ही आवश्यक हैं। जनता के मन मे शुभ भावनाओं को जगाना ही काफी है, उससे हृदय-परिवर्तन अवश्य होगा और विदेशी बक्काल तथा उनसे भी अधिक खतरनाक देशी बनिएँ अपने आप अपने को जनता का ट्रस्टी घोषित कर देंगे। कोमलता की यह चरम सीमा है।

सर्प शरीर पर चढ रहा हो, उसकी फूत्कारों से शरीर की त्वचा झुलसी जा रही हो, विकराल, लपलपाती जिह्वाएँ बार-बार निकल निकल कर मृत्यु की पताका के समान लहरा रही हों, संज्ञा लुप्त होती जा रही हो और उस समय पन्तजी की तरह वैदिक ऋचाओं का शुद्ध खड़ी बोली में अनुवाद कर, पतलून की क्रीज सँभाल कर तथा मधुर स्वर मे, पूरे आरोह अवरोह के साथ उस शेषनाग की जैसे कोई अभ्यर्थना कर रहा हो और साथ ही शरीर में स्थित मन को यह शिक्षा दे रहा हो कि भय तो संशय से उत्पन्न होता है और संशयात्मना का नाश होता है [गीता] अत निर्भय रहो। देखो यह जो तुम्हें सर्प भय लग रहा है, यह मिथ्या है। सर्प व तुम्हारे शरीर में एक ही ब्रह्म का निवास है, मन को ऊर्ध्व-शिखरों की ओर ले चलो। अहा ! हा ! हा ! अंतश्चेतना के ऊर्ध्व-शिखरों से कितना दिव्य, रमणीय ऊर्ध्व-प्रकाश छन-छन कर आ रहा है। चराचर आपादमस्तक स्नात होकर चिर परिचित से लगने लगे ! हिमाद्रि व सागर, चन्द्र व चकोर, लहर और पवन सबसे वही एक संकेत, वही एक संगीत, वही एक आनन्द की किरण निकलने लगी ! सारी वस्तुएँ उसी सत्य को व्यक्त कर रही हैं, अब भय कहाँ है ? दुःख कहाँ है ? यह तो मनोकोप से उत्पन्न मिथ्या आशका मात्र है, इससे ऊपर 'सुपर माइंड' की ओर चलो, फिर सब अपने होगए। वेद व उपनिषद यही कह रहे है, सारी परम्परा तुम्हारे साथ है। प्राणायाम लगा कर देखो, सारा विश्व आँवले के समान कर-तलगत हो जायगा और यह उपदेश सर्प पर भी प्रभाव डाल रहा है। यह दंशन अब प्रेमालिंगन में बदलने ही वाला है। आत्मा का नाश नहीं, उसका वशीकरण सीखो, आत्म-वशीकरण के लिए अरविन्द का अध्ययन अनिवार्य है। मार्क्स की बात एकांगी है क्योंकि सर्प को मारने से रक्त बहेगा, इस यज्ञ वेदी पर, इस पवित्र भारत भूमि पर रक्त बहाना पाप है "सर्वे भवन्ति सुखिन सर्वे सन्तु निरामयाः" का स्मरण करो, अपने को सँभालो, सब सँभल जाएँगे, एक-एक करके घर भरता है, व्यक्ति को बदलो, समाज बदल जायगा, यह है कवि की मानसिक-स्थिति, जो स्वर्णधूलि में व्यक्त हुई है। सुसम दृष्टि की पुकार लगाने वाले भावुक व कोमल कवि की स्थिति कितनी 'करुण' हो सकती है इसके लिए 'स्वर्णधूलि' पठनीय है और केवल 'स्वर्णधूलि' ही नहीं किसी भी नवीन रचना मे आप कवि की इस मानसिक

दशा को देख सकते हैं। विश्वास दृष्टिकोण को वैयक्तिक रूप से कितना कोमल और सामाजिक रूप से कितना दारुण बना सकता है। यह पन्त जी के नूतन काव्य में देखते ही बनता है। कल्याण के लिए छटपटाती हुई कोमलता जीवन की कटुता से कटकर किस प्रकार अलग होने को ही 'समग्रता' का नाम दे देती है, किस प्रकार भावुकता अनाप शनाप दौड़ कर हाँफती हुई दौड़ने की प्रक्रिया पर विचार न कर अन्तर्यामी की गति पर विचार करने लगती है, गतिविधि पर मनन न कर गन्तव्य को ही रटती रहती है, यह स्पष्टत' पन्तजी के नूतन काव्य मे देखा जा सकता है। सभी व्यक्तिवादी सन्तों, वैरागियों, चिन्तकों व योगियों ने आत्मकल्याण की आवाज उठाई है और अन्तर्यामी पर अपने विश्वास को केन्द्रित करने के लिए कहा है। ईश्वर के माध्यम से ममता जगाने का भी उपक्रम किया है, परन्तु सामाजिक व्यवस्था की कठोर चट्टान से उनके चीत्कारों की प्रतिध्वनि तक उत्पन्न नही हुई, समाज के ऊपर लदी हुई चट्टानें चुपचाप उन निरीह आवाजों को पीती रही और शताब्दियों से जनता की छाती पर डटी रहीं। भावुकता के समुद्र सूख गए, पर चट्टानें न हिली, न डुली और पन्तजी उन चट्टानों पर अपनी श्रद्धा के अक्षत चढ़ा कर पूजने को कहते हैं, उसी प्राचीन करुण-क्रन्दन, पूजा और प्रार्थना को ही अचूक औषधि बताते हैं, परन्तु पाषाणों के लिए हथौड़े की चोट चाहिए। आह, कराह, छटपटाहट तथा वेदों के मन्त्रोच्चार से क्या होगा? परन्तु भावना तो अन्धी होती है, यदि पुकार से पर्वत कहना मान जाते तो पख काटने के लिए किसी 'पर्वतारि' की आवश्यकता क्यों पड़ती? पन्तजी की कोमलता इसी-लिए सार्वभौमिक सत्य के रूप स्वीकृत नही हो सकती परन्तु वह तो स्वीकार कराने पर ही तुले हुए हैं, काव्य-रूपकों में नए-नए तर्क देकर, कभी पुचकार कर, कभी फूत्कार कर और कभी चीत्कार कर वह जागृत सामाजिक चेतना को वैयक्तिक चेतना में बदल देने के लिए आतुर हो रहे हैं, उन्हें लगता है कि सामूहिकता का राग ही विनाश का मूलमन्त्र है अत. व्यक्तिवादी आन्दोलन ही शुद्ध आन्दोलन है। सङ्गठित जन-शक्ति आत्म-आराधना को भूलकर पुन आदिम प्रवृत्तियों का अभ्यास करेगी और नष्ट हो जायगी, अत. अध्यात्मवाद की शिक्षा परमावश्यक है, पन्तजी की यह आशङ्का इसलिए है कि क्रिया से दूर कवि केवल जनता के रोष को देखता है, वह यह नही देख पाता कि क्रान्ति केवल

सत्ता छीनने के लिए जनता को सङ्गठित नहीं कर रही अपितु जीवन व जगत के प्रति जो हमारा काल्पनिक दृष्टिकोण अब तक रहा है, उसे भी बदलती जा रही है। सङ्गठित व अनुशासित इन दो शब्दों में व्यक्तिवादी विरोध मानते आए हैं, उनकी समझ मे यही नहीं आता कि सङ्गठित जन-समुदाय अनुशासित भी रह सकता है और क्रान्ति के साथ-साथ निर्माण के उत्तरदायित्व को भी सँभाल सकता है। व्यक्तिवादी विजय-पराजय एक व्यक्ति की प्रतिभा या बल के ऊपर निर्भर रहकर होती है परन्तु 'क्रान्ति' जिसका पन्तजी विरोध करते हैं, क्षणिक असन्तोष का परिणाम न होकर, जीवन व जगत के प्रति शुद्ध ऐतिहासिक व वैज्ञानिक दृष्टिकोण के द्वारा होती है। अत सत्ता तो रक्तक्रान्ति के अलावा अन्य शान्तिमय मार्ग चुनावादि द्वारा भी मिल सकती है, परन्तु क्रान्ति तो विचारों, भावों, क्रिया पद्धतियों आदि सब में होनी चाहिए अन्यथा बलवा व क्रान्ति पर्यायवाची शब्द होंगे। अत. पन्तजी की आशङ्का मध्यवर्गीय आशङ्का है। कवि क्रान्ति चाहता है परन्तु कार्यक्रम से बचता है। तरह-तरह की कल्पित शङ्कायें खड़ी करता है, परम्पराओं की दुहाई देता है, राष्ट्रीयता का प्रश्न उठाता है। यह हमारे देश के प्रतिकूल है, हमारे संस्कार अनोखे हैं अत यहाँ अमुक सिद्धान्त नहीं चल सकता आदि-आदि बातें कहता है, परन्तु इतिहास ऐसे शङ्कालुओं की चिन्ता नहीं करता। मध्यकालीन शङ्काओं व आस्थाओं को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न व्यक्तिवादी विचारक बराबर कर रहे हैं, यहाँ तक कि साम्राज्यवादी वैज्ञानिक तक अन्ध-विश्वासों की वैज्ञानिकता सिद्ध कर रहे हैं उन्हीं को उद्धृत कर अरविन्द व पन्त जैसे स्वप्नवादी कल्पना के आकाश में बेतहाशा दौड़ने लगते हैं। इसीलिए हमने पन्तजी की कल्पना व कोमलता को मधुर परन्तु 'दारुण' कहा है।

पन्तजी ने काव्य रूपकों मे "क्रान्तिकारी मार्क्सवादियों" को विद्रोही तो कहा है परन्तु इन विद्रोहियों की मानसिक स्थिति का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण भी किया है। उनके अनुसार यह जो विद्रोह की आवाज उठाई जा रही है या यह मान लिया गया है कि अमुक वर्ग का व्यक्ति-प्राय. जन विरोधी होगा अत उसका नाश आवश्यक है, यह भावना मार्क्सवादियों में क्यों उत्पन्न हुई ? पन्तजी का मनोविज्ञान यह बताता है कि इसका कारण केवल ईर्ष्या

है, आधुनिक सभ्यता मे जो आदिम प्रवृत्तियाँ—लूट खसोट, ईर्ष्या, आदि मनुष्य के अवचेतन में जाकर दब गई थी, उन्हीं का विस्फोट इस "जनवादी क्रान्ति" मे दिखाई पड़ता है, अत· यह रास्ता पुन· आदिम युग की ओर लौटना है। जब आदमी आज इतना अधिक संस्कृत होगया है तो उसकी उपलब्धि का मार्ग भी संस्कृत होना चाहिए। यही पन्तजी गान्धीवाद की आवश्यकता अनुभव करते है जो हमारी बर्बरता को बिना उभारे हुए महान से महान लक्ष्य की प्राप्ति भी संस्कृत तरीकों से प्राप्त करता है। मार्क्सवाद इसके विरुद्ध बर्बर पद्धतियों को अपनाने पर जोर देता है। इसके उत्तर में मैं कह चुका हूँ और अवचेतनवादी मनोवैज्ञानिकों की अवैज्ञानिकता भी स्पष्ट हो चुकी है। किसी भी सिद्धान्त का प्रयोग व्यवहार में करके देखना चाहिए। विकलांग और बुभुक्षित जीवन का रोप सच्चा रोष होता है। वह अवचेतन से निकला रोष नही है। और मध्य वर्ग में जो असन्तोष घनीभूत हो रहा है उसका कारण भी उस वर्ग की ईर्ष्या नहीं है, यह सभी जानते हैं। कोई व्यक्ति विशेष जो हृदय से शून्य और बुद्धि से दिवालिया है यदि किसी उच्च वर्गीय व्यक्ति से ईर्ष्या करता है और 'साम्यवाद' की पुकार उठाता है तब तो पन्तजी का विश्लेषण सही हो सकता है, परन्तु जब दर असल जनता का जीवन दुरूह हो रहा हो तो उसे सचेत करना ईर्ष्यावश नही हो सकता, विश्वकल्याण की व्यावहारिक भावना द्वारा ही हो सकता है। अत· शोषकों के विरुद्ध खड़े होकर उन्हें ललकारने वाले ही सच्चे विश्वबन्धुत्ववादी हैं। कोरा स्वप्नवाद जो जनता को "करो या मरो" से विलग करता हो, सच्चा विश्वबन्धुत्ववाद नहीं है। हाँ हम आपकी भावना की कद्र करते हैं कि आप भी सब का कल्याण चाहते हैं परन्तु क्रियात्मक रूपमें न सोच पा सकने के कारण आप स्वयं क्रियावादियों का विरोध करने लगते हैं और उससे आपके चाहे हुए विश्वबन्धुत्ववाद का भी विरोध होने लगता है और इस प्रकार आप अज्ञात रूप से ही क्रान्ति विरोधी बन जाते हैं। जो वेदान्ती माया-माया की चिल्लाहट में जनता के चीत्कार को भूलता है और किसी भी क्रिया को महत्त्व नही देता, वह सेठों के द्वारा खरीदे गये अखबारों से भी ज्यादा खतरनाक बन जाता है, क्योंकि वह अपनी घोर व्यक्तिवादी विचारधारा से अनजाने ही जनता को भ्रम में डाल देता है। अत. घोर व्यक्तिवाद, सामूहिक कार्य

के लिए किस प्रकार विना जाने ही खतरनाक वन जाता है, यह स्पष्ट है।

डा० नगेन्द्र कहते हैं कि पन्तजी की मानसिक स्थिति यह है कि वह आत्मा को चेतना के सूक्ष्म रूप में मानते है और चेतना को सभी मानते हैं, उसका विकास चाहे जैसे हुआ हो। परन्तु अरविन्द दर्शन मूलतः मार्क्सवाद का विरोधी दर्शन है, वह मायावाद से अधिक व्यावहारिक है यह वात दूसरी है क्योंकि वह चेतना से ही जड का विकास मानकर जड़ को चेतना का अतिम व निम्नतम रूप स्वीकार करता है और इस प्रकार मार्क्सवाद को पुनः सिर के वल खडा कर देता है। अत आत्मा को चेतना के सूक्ष्म रूप मे मानने से कोई नवीन आश्चर्य उपस्थित नही होता।

डा० नगेन्द्र ने एक और दिलचस्प वात वतलाई है कि मृत्यु भौतिकवाद के लिए सवसे वड़ी ललकार है। यह ठीक है और इसीलिए यथार्थवादी मृत्यु पर विजय पाने के उपाय खोजने में सलग्न हैं परन्तु मृत्यु के वाद के जीवन की कल्पना कर, जन्म के पश्चात् व मृत्यु के पूर्व के जीवन की उपेक्षा करना व्यर्थ है। उससे न मृत्यु पर विजय होती है, न जीवन ही पूर्ण वनता है। मृत्यु को निश्चित समझ कर भोगवादी भोग मे निमग्न रहता है, यह चार्वाक मत है, मार्क्सवाद उसका पर्याय नही है। प्रकृति द्वारा मृत्यु निश्चित है। उस पर विजय पाना मनुष्य का कार्य है, उसे करना चाहिए परन्तु मन मे कल्पित आनन्द भर कर, जीवन की उपेक्षा प्रकृति भी नही चाहती। मुरझाने के लिए फूल खिलता हो, यह वात नही, वह फूलने के लिए भी खिलता है, अत पुष्प मुरझाने की तिथि निश्चित समझ कर भी मुस्कराता है, अपने भौतिक जीवन की वृद्धि करने मे सलग्न रहता है। इसी प्रकार मनुष्य जीवन को अधिकाधिक पूर्ण, शिक्षित, सस्कृत और समृद्ध बनाने के लिए जो प्रयत्न करता है तो संतुलित उपभोग सिखाता है, यथार्थ मार्ग वताता है, मृत्यु के ऊपर भी विजय प्राप्त हो, इसके लिए भी उपाय सोचता है और यदि यह सम्भव न भी हो, तो कल्पना के द्वारा प्राप्त आनन्द की खोज में, वर्तमान जीवन की कुत्सितता, दरिद्रता, अपूर्णता और जघन्यता के विरुद्ध लड़ता है। वही यथार्थ मार्ग है। परन्तु जीवन के प्रति इस यथार्थवादी दृष्टि से कल्पनाशील कवि को सतोप नही होता और वह जिस लोक की कल्पना करता है, उसमें जीवन के मग्न हो जाने के कारण वर्तमान जीवन की

उपेक्षा होने लगती है। भारत में सदा से यही होता रहा है। कृष्ण ने गीता में अवश्य कर्मयोग की शिक्षा दी थी, सो घोर व्यक्तिवादी दार्शनिकों ने उसके भी मनमाने अर्थ कर डाले और जीवन के प्रति सीधी दृष्टि को विकृत करके रख दिया। अत मृत्यु को देखकर भयभीत होकर सितारों की ओर उड़ चलने को ही आदर्श मानना भूल है। मृत्यु से जन्य असंतोष को हम आनन्द की कल्पना द्वारा भुला अवश्य सकते हैं परन्तु उससे भय तो रहता ही है। जीवन मे एक छलना का प्रवेश हो जाता है जिसको 'आदर्शवाद' कहा जाता है। यह छलना सीमित, अपूर्ण व सापेक्ष को देखकर अपरिमित, असीम, पूर्ण व निरपेक्ष की कल्पना कर उसी के ध्यान में जीवन को मग्न करा देना चाहती है। मृत्यु आने के पूर्व ही जीवन के पुष्प को विकसित नही होने देती, विकास को भ्रम बताती है, पाप बताती है, और इस प्रकार सारे सामाजिक जीवन को एक मृग-मरीचिका के मार्ग पर लाकर डाल देती है। अतः अमरत्व की प्यास तो स्वाभाविक है परन्तु उस प्यास के समय धैर्य की आवश्यकता है। मृग की तरह मरीचिका के पीछे भागना ही जीवन का पर्याय नही हो सकता। और मज़े की बात यह है कि निरपेक्ष की कल्पना मे निरपेक्षतावादी जीवन को मृगमरीचिका ही बताता है। नश्वर जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टि न रखकर वह उसको व्यर्थ व हानिकारक बताता है। परिणाम यह होता है कि यथार्थ व आदर्श दो विरोधी दृष्टियों का सृजन कर लेते हैं। आज साहित्य व कला का सबसे बड़ा उद्देश्य जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करने में है। यह आस्था चार्वाक मतवादियों की अत्यासक्ति नही है, यह जीवन की पूर्ण स्वीकृति का पर्याय है। आदर्शवादियों की ऐतिहासिक भूमिका पूरी हो चुकी, उनकी कल्पना के शतश. स्वरूप हमारे सम्मुख हैं। अनेक वाद व सम्प्रदाय हैं, अनेक तर्क व साधनाएं हैं। ये सब या तो सापेक्ष को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जैसे आर्यों ने शूद्रों को स्वीकार किया था या उसका पूर्ण निषेध करते हैं। अरविन्द व पन्तजी ने भी भौतिक जीवन को शून्य के रूप में स्वीकार किया है अत. उनके दर्शन को हम सच्चा समन्वयवाद नहीं कह सकते। अरविन्द जानते थे कि यदि निरपेक्षतावाद की पूर्ण विजय चाहते हो तो सापेक्षतावाद को भी किसी रूप में स्वीकार कर लो और उन्होंने ऐसा ही किया अत. सहज ही यह भ्रम हो जाता है कि पन्तजी 'समन्वय' चाहते हैं। परन्तु, जैसा मैंने

कहा कि जीवन के प्रति पन्त-अरविन्द की दृष्टि निरपेक्षतावादी ही है, अत उसके विरुद्ध लड़ना जनता का कर्त्तव्य है, क्योंकि जन जीवन के प्रति उपेक्षा दिखाने में आदर्शवादियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। अब नए-नए शब्दों में नई-नई व्याख्याओं में पुरानी बातों के रख देने से जनता को भ्रम हो जायगा, ऐसा समझना गलत होगा। आदर्श-वादी छलना का युग समाप्त हो गया। अब वही कल्पना काम देगी जो तथ्यों के आधार पर चले, जिस ओर तथ्य सकेत करते हों। कल्पना को तथ्य के रूप मे वदलना तभी सम्भव है जब आप तथ्यों को न भूल जाएँ। अतः राजनीति ने उन्हीं आदर्शों को लिया है जो तथ्यों के रूप में बदले जा सकते हैं। आदर्श की परीक्षा बुद्धि निर्मम रूप से करती रही है, गान्धी जी ने जिस कल्पना को स्वीकार किया था उसे वे तथ्य के रूप में नही वदल सके, कोई नही बदल सकता, क्योंकि उनका सिद्धान्त एकदम व्यक्तिगत था। उसमें जितना 'सम्भव' अंश था, यथा सुधार सम्बन्धी अंश, वह कार्यरूप में परिणत होगया। परन्तु अहिंसा व सत्य की निरपेक्ष-जय का स्वप्न अयथार्थ है। आज वह समय आगया है जब हम आदर्शों की बुद्धि के द्वारा परीक्षा करें और उसकी यथार्थता को पहचानें। मार्क्स की कल्पना तथ्यों के ऊपर अवलम्बित होने से क्रिया के रूप में परिणत की जा रही है परन्तु अरविन्द की कल्पना को स्वयं अरविन्द भी इस जीवन में पूरा नही कर सके। परन्तु अर-विन्द के उत्तराधिकारी पन्तजी अरविन्द का कार्य कैसे पूरा हो, इसके लिए अत्यधिक चिन्तित हैं। इसके लिए उनके सम्मुख एक ही मार्ग था कि वह मार्क्सवाद का विरोध करे, जीवन के प्रति बढ़ती हुई यथार्थ-वादी दृष्टि के स्थान पर कल्पनावादी दृष्टि की स्थापना करें। काव्य-रूपकों में कवि की यही मानसिक स्थिति है। अत कवि अरविन्द के द्वारा बताई हुई साधना की अनुभूतियों के सौन्दर्य को अनेक रूपकों व प्रतीकों के द्वारा हमारे सम्मुख रखना चाहता है। वह मन की गह-राइयों मे उतर कर आन्तरिक तथ्यों के उद्घाटन मे मग्न कराने के लिए कटिबद्ध है। अत नूतन काव्य मे कवि मार्क्सवाद के प्रति कटुता प्रकट करता है, 'सामूहिकतावाद' के भय को बढ़ा-चढ़ा कर कहता है, आशङ्का व भय फैलाता है, मार्क्सवादी पशुत्व व वर्बरता के विरुद्ध अरविन्द के अखण्ड-आनन्द व अजस्र सौन्दर्य को रखता है, सङ्घर्षों के कंटकाकीर्ण पथ से हट कर 'फूलों के देश' में या 'रजत शिखर' पर

'विद्यु त वसनाओं' व 'अप्सराओं' के साथ 'शुभ्र पुरुष' के अभिसार-जन्य सौन्दर्य को मुग्ध होकर गाता है। पल्लवों के रंग व भ्रमरों की गुञ्जन छोडकर अर्थात् बाह्य रूपों, रंगो, ध्वनियों व स्वर लहरियों के सौन्दर्य के स्थान पर निगूढ स्तरों से निकलने वाले सौन्दर्य को वाणी का विषय बनाता है, इन्द्रिय सौन्दर्य के स्थान पर अतीन्द्रिय सौन्दर्य का चित्रण करता है।

स्वर्णकिरण

कवि की सामान्य मानसिक स्थिति का उद्घाटन कर लेने के पश्चात् अब हम संक्षेप में प्रत्येक रचना की अलग-अलग समीक्षा प्रस्तुत करेंगे और तत्पश्चात् कवि की काव्य कला का स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न करेंगे।

'स्वर्ण किरण' मृत्यु के क्षणों मे जागृत अमरता का अभिवादन है। धीरे-धीरे मन में उतरते हुए विश्वास का गायन है। रहस्यमय प्रकाश का अभिनन्दन है। रुग्ण कवि की विपण्ण मानसिक स्थिति में सहसा रहस्यमय अनुभूतियों का स्पर्श उसे एक नवीन दृष्टि देता है और तब कवि चराचर को उसी दृष्टि से देखने लगता है। सर्वत्र स्वर्णिम किरण के दर्शन होने लगते हैं। पन्तजी का नूतन-काव्य इसी आध्यात्मिक मानसिक स्थिति का वस्तुसत्ता पर होने वाले प्रक्षेपण की अभिव्यक्ति है।

हमने छायावाद का विवेचन करते हुए कहा था कि विस्मय व वस्तु का तटस्थ दर्शन छायावादी कवियों में बहुत पाया जाता है। दर्शन से कवि को जो दृष्टि मिली उससे उसने आध्यात्मिक अनुभवों के सौन्दर्य का तटस्थ होकर अङ्कन किया और उन्हे 'विस्मय' की दृष्टि से देखा। अरे! इतना सौन्दर्य मेरे ही भीतर अवस्थित था! इतनी दिव्यता यहीं ओतप्रोत थी, जैसे सामान्य वस्तु की खोज मे तल्लीन किसी व्यक्ति को कोई असामान्य वस्तु कहीं अपने में ही मिल जाय तो वह व्यक्ति एक अलौकिक विस्मय-भावना से युक्त हो जाता है, उसी प्रकार की विस्मय भावना 'स्वर्ण किरण' में दिखाई पडती है और परिणाम यह होता है कि कवि रुग्णावस्था के सारे दु:ख को, सारी आशङ्का को भूल जाता है। मैंने बार-बार कहा है कि दर्शन निजी रूपमें आत्मसन्तोष का साधन है; मनुष्य मे आशा व विश्वास का सञ्चार करने के लिए 'दर्शन' का

बराबर प्रयोग हुआ है। भाग्यवाद, ब्रह्मवाद, आत्मवाद इन सबका इसी दृष्टि से उपयोग है। ये भावनाएँ व्यक्ति के मन को एक निराले लोक मे ले जाकर उसे थपकी देती हैं, उसके व्रणों को सहलाती हैं, जीवन की कटुता, नश्वरता व सङ्घर्ष को भुलाने के लिए मादक औषधि का कार्य करती हैं। इस प्रकार आशा व विश्वास के बल पर जीवन-ज्योति जगती रहती है—

निज जीवन का कटु सङ्घर्षण—
भूल गया यह मानव अन्तर।
जग जीवन के नव स्वप्नों की,
ज्योति वृष्टि में स्नान कर अमर॥

रुग्णता के पश्चात् कवि पन्त के मन पर 'दर्शन' का यह प्रभाव पड़ा है। कवि के निजी जीवन मे जो आस्था अवतरित हुई है जो दिव्य अनुभूति उसे हुई है, उसी को कवि ने 'स्वर्णकिरण' का नाम दिया है जिसने निराशा के तम को चीर कर रख दिया है।

इस 'स्वर्णिम किरण' की अनुभूति के कारण कवि सर्वत्र प्रत्येक वस्तु को उसी दिव्य प्रकाश से संयुक्त देखता है। कवि पहले भी 'सर्व-वादी' प्रवृत्ति का अभ्यासी रहा है अत नूतन काव्य में भी कवि ब्रह्म की सर्व व्यापकता का, स्वरूप में स्थित अरूप का, तथा सापेक्ष में स्थित निरपेक्ष का वर्णन करते हुए नहीं थकता। मैंने कहा है कि वस्तु मे जो प्राकृतिक सौन्दर्य है उसका पहचानना एक बात है और जहाँ सौन्दर्य नहीं है वहाँ सौन्दर्य का सृजन करना दूसरी बात है। पन्त में दोनों स्थितियाँ मिलती है, और दोनों को मिलाया भी गया है यथा नूतन काव्य मे कवि महान्, विराट व आकर्षक वस्तुओं को चुनता है और उनके स्वाभाविक सौन्दर्य की पहचान भी करता है और उन पर स्वर्णिम किरणों को डालकर सौन्दर्य का सृजन भी करता है। परन्तु कही कही सामान्य वस्तुओं में असामान्यता उत्पन्न करने का भी प्रयत्न है यथा "कौवे के प्रति" कविता मे। तो इस प्रकार वस्तु को देखने के ये दृष्टिकोण मिलते हैं—

(क) वस्तु का यथा तथ्य वर्णन।

(ख) असामान्य वस्तु में असामान्य सौन्दर्य-दर्शन।

(ग) सामान्य वस्तु में असामान्य सौन्दर्य दर्शन।

(घ) वस्तु से अवस्तु की प्राप्ति में सहायता व संकेत। ये इन्द्रियाँ कटुता व छुद्रता से ऊपर उठना सिखाती हैं—

जादू बिछा दिया इस भू पर।
तुमने सोने की किरणों की—
जीवन हरियाली को बोकर
फूलों से उड फूल, रँगों से
निखर सूक्ष्म रंग उर के भीतर
प्रणय दृष्टि दे दी नयनों को
प्राणों में सङ्गीत दिया भर
स्वर्णकामना का घूँघट नव
डाल धरा के मुख पर सुन्दर

इस प्रकार कवि को प्रणय, संगीत, कामना व सौन्दर्य पुन मिल जाते है। युगान्त-युगवाणी काल मे संघर्ष के पाश मे बद्ध हो जाने के कारण कवि प्रणय, संगीत, कामना व सौन्दर्य से विरत हो गया था। 'स्वर्णिम दृष्टि' से कवि को ये वस्तुये पुनः प्राप्त होगई हैं।

'स्वर्ण किरण' में 'हिमाद्रि' कविता उपर्युक्त दृष्टियों में से कई दृष्टियों को एक साथ समझने के लिए पठनीय है। प्रथम कवि 'हिमाद्रि' का यथा तथ्य चित्रण करता है—

"मानदण्ड भू के अखण्ड हे—पुण्यधरा के स्वर्गारोहण"
जिन शिखरों को स्वर्णकिरण नित, ज्योति मुकुट से करती मण्डित
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा, सिंधु ज्वार सी लगती स्तंम्भित॥

असामान्य वस्तु का असामान्य सौन्दर्य—'हिमाद्रि' व 'कौवे' मे अन्तर है। कुछ वस्तुएँ सामान्य व्यक्ति का भी ध्यान आकर्षित कर लेती हैं, शुभ्र हिमालय, लहराता हुआ सागर व अमृत वर्षा करता हुआ चन्द्र ऐसे ही पदार्थों में से है। कवि 'हिमाद्रि' की शोभा को देखकर मुग्ध हो जाता है और अपनी साधनात्मकता का स्मरण करता है क्योंकि 'हिमाद्रि' तपःपूत साधक जैसा अचल और अखण्ड प्रतीत होता है—

इन्दु स्फीत तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि से हिल्लोलित
ज्योत्सना में थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक से लगते मोहित!

इस असामान्य सौन्दर्य व सामान्य वस्तुओं के सामान्य सौन्दर्य में महान अन्तर है। कवि पन्त का ध्यान असाधारण की ओर अधिक रहा है, यह तो सभी जानते हैं।

असामान्य वस्तु में अति असामान्य सौन्दर्य—'हिमाद्रि' संसार की सामान्य वस्तुओं के सौन्दर्य की तुलना में विराट है परन्तु 'हिमाद्रि' को भी कवि ने अलक्षित सत्ता के सौन्दर्य से अभिमण्डित किया है। इसीलिए कवि हिमाद्रि को देख कर महाश्चर्य से विस्मित हो उठता है—

कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित
शुभ्र शांति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुन्दरता के भूभृत!
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
मेरी महाश्चर्य से विस्मित
वसुधा की महदाकांक्षा से
स्वर्ग क्षितिज से भी उठ ऊपर
अंतर आलोकित-से स्थित तुम
अमरों का उल्लास पान कर

वस्तु से अवस्तु की प्राप्ति में सहायता—हिमालय की महिमा, व सौन्दर्य का गान कर कवि जीवन की क्षुद्रता की हिमालय की विराटता के साथ, जीवन की अशांति की हिमाद्रि की अचल शांति के साथ तुलना करता है—

देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित

इस प्रकार 'वस्तु' का साधना की शिक्षा के लिए भी कवि वर्णन करता है।

इन दृष्टियों के साथ कवि 'वस्तु' को प्रतीक रूप में भी ग्रहण करता है; यथा—

वसुधा की महत्वाकांक्षा से
स्वर्ग क्षितिज से भी उठ ऊपर
अंतर आलोकित से स्थित तुम
अमरों का उल्लास पान कर

यहाँ हिमालय के सौन्दर्य का वर्णन है परन्तु साथ ही उसे प्रतीक रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। हिमालय जिस प्रकार उच्चादर्शों के समान जीवन की क्षुद्रताओं से ऊँचा है, आंतरिक उल्लास से जैसे वह प्रकाशित है, उसी प्रकार हमें भी हिमालय के समान क्षुद्रताओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

इन सभी दृष्टियों को संकेतित करने वाली कविता कई पहलू वाले शीशे के समान बन जाती है, यह बात कविता के क्षेत्र में वच-काने प्रयत्नों मे नहीं देख पडती। 'हिमाद्रि' इसीलिए 'स्वर्णकिरण' की कला की दृष्टि से उच्च कोटि की कविता है। कालिदास की शब्दा-वली उधार अवश्य ली गई है परन्तु 'स्मृति' के रूप मे—

संभव पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर मिथुनों से हों कूजित
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित

अत यह कहना कि 'हिमाद्रि' में कालिदास का अनुकरण है, गलत है। संकीर्णतावादी आलोचक पूरे सन्दर्भ को पाठक के सम्मुख नहीं रखते। अपने मतलब को सिद्ध करने वाले उद्धरण कहीं बीच से चुन लेते हैं। परन्तु इन लोगों से पाठक अब परिचित हो गए हैं।

वस्तु के सौन्दर्य-अङ्कन व सौन्दर्य-सृजन की दृष्टि से निम्न-लिखित कविताएँ एक श्रेणी में रखी जा सकती हैं—

हिमाद्रि, चिन्मयी, हिमाद्रि और समुद्र, भू-प्रेमी, ऊषा, चन्द्रो-दय, प्रभात का चाँद, कौवे के प्रति।

[इस विभाजन के सम्बन्ध में सदा यह स्मरण रखना होगा कि सौन्दर्य अंकन के साथ-साथ कवि वस्तु को प्रतीक रूप में भी अप-नाता है। अत· उपर्युक्त कविताओं में से कितने ही अंश प्रतीकात्मक कविताओं के भी मिल जाते हैं।]

यदि 'स्वर्णकिरण' में 'हिमाद्रि' जैसी ही कई कविताएँ होतीं

तो सौन्दर्य-अङ्कन की दृष्टि से यह संग्रह अत्यधिक मूल्यवान हो जाता। परन्तु इस संग्रह में कवि का ध्यान 'सत्य' की प्रामाणिकता सिद्ध करने तथा 'सत्य' का उपयोग बताने पर अधिक रहा है परिणामत कवि 'प्रकृति' की वस्तुओं का तटस्थ रूपदर्शन कम करता है और विचार-शीलता अधिक प्रारम्भ होने लगती है। वह समाज, संस्कृति, क्रान्ति, शान्ति व मानवता के विकास आदि पर व्याख्याता की पद्धति पर अपने विचार प्रकट करने लगता है और परिणाम यह होता है कि 'वस्तु' केवल बात कहने का बहाना बन जाती है। यथा 'इन्द्रधनुप' कविता को लीजिए—सर्वप्रथम कवि 'इन्द्रधनुप' का रूप वर्णन करता है—

स्वर्ग धरा के मध्य रश्मि वैभव से चित्रित।
स्वप्नों के रत्नस्मित सम्मोहन से ज्योतित॥

परन्तु इसके बाद ही कवि आत्मोत्कर्ष समझाने के लिए ऋषि की तरह पुकार उठता है—

देखो! इन्द्रधनुप से विश्व क्षितिज आलिंगित।
विजय केतु सा वह प्रकाश का तम पर शोभित।
असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृत गमय।

इस पद्धति मे 'इन्द्रधनुप' केवल ऊर्ध्व-चेतना के स्तर का स्मरण दिलाने भर के लिए रह गया है। जहाँ प्रकाश व प्रेरणा लेकर कवि मानव-जीवन का सिंहावलोकन करने लगता है, उन कविताओं मे विचारों का सौन्दर्य रहता है, वस्तु का अपना सौन्दर्य चित्रित नहीं हो पाता। कवि का ध्यान नवीन कविता में मानवता के उद्धार पर केन्द्रित हो गया है और चूँकि यह कल्याण केवल अरविन्दवाद से ही होगा अत उसे पाठकों के सम्मुख बार-बार रखकर भी वह तृप्त नहीं होता। 'इन्द्रधनुष' में इसीलिए विचारों का विश्लेपण, तार्किक-क्रम आदि देखने योग्य है। कवि की पद्धति यह है—

आओ, सोचें द्विपद जीव कैसे बन सकता मानव।
शक्तिमत्त होकर भूदेव न बन जाए भूदानव॥

कवि को दो बातों से अधिक खतरा प्रतीत होता है (१) वैज्ञानिकता (२) सामूहिकता। बढ़ते हुए विज्ञान से मानवता सर्वनाश की

ओर जा रही है और बढ़ती हुई सामूहिकता से (साम्यवादी व्यवस्था में) वह व्यक्तित्व के विनाश की ओर उन्मुख हो रही है। अतः दोनों का विरोध आवश्यक है। मनुष्य के सम्मुख उच्चादर्शों की आवश्यकता है ताकि मानव को दिव्य-प्रेरणाएँ मिलती रहें। साम्यवादी दर्शन मनुष्य के मन को केवल आर्थिक समता तक ही सीमित कर देता है। कवि विज्ञान व साम्यवाद को भी अधिकाधिक विश्व कल्याणकारी बनाना चाहता है, यथा—

(१) सर्वप्रथम जठराग्नि के लिए हवि दे श्रम की पावन।
शतपद हो, सहस्रकर, यन्त्रों से कर संयोत्पादन॥

और फिर

(२) युग्म प्रीति के लिए प्राण आहुति फिर करे निरूपित।

पुनश्च

(३) सर्वाधिक रे जन शिक्षा का प्रश्न महत् आवश्यक।

तथा

(४) शिलान्यास मानव शिक्षा का करना हमको नूतन।
आत्म ऐक्य औ व्यक्तिमुक्ति का स्वर्ग सौध रच शोभन॥

फिर

(५) ललित कलाओं से धरती का रूप बने मनुजोचित।

और फिर

(६) हमे विश्व संस्कृति रे भू पर करनी आज प्रतिष्ठित।

तथा अन्त में

(७) बहिर्चेतना जाग्रत जग में, अन्तर्मानव निद्रित।
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अंतर्जीवन मूर्च्छित, मृत!
भौतिक वैभव औ आत्मिक ऐश्वर्य नहीं सयोजित।
दर्शन औ विज्ञान विश्व जीवन में नहीं समन्वित॥

कवि की विचारधारा का विश्लेषण उसी के शब्दों में स्पष्ट है परन्तु उपर्युक्त पद्धति कलात्मक नहीं है, यह निश्चित है। विचारों के सम्बन्ध में हम लिख चुके हैं, परन्तु विचार कुछ भी हों यदि आपको विचारकला के माध्यम से व्यक्त नहीं करने तो गद्य में निबन्ध लिखिए और तब विचारों को समझने समझाने में आपको तथा आपके पाठकों को अधिक सुविधा मिलेगी। पन्तजी की नवीन कविता की एक बड़ी कमजोरी यह है कि कवि का इन रचनाओं में स्वर उपदेशात्मक हो

गया है और वह केवल विचारों को छन्द के लवादे में भर देना ही काव्य मान लेता है। साथ ही संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग करने से ऐसा विचार-प्रधान काव्य 'दुरूह छन्दोबद्ध गद्य' में परिणत हो गया है। विचारों का सीधी पद्धति पर कहना एक बात है और उनकी व्यञ्जना सर्वथा दूसरी बात है। प्रथम पद्धति निबन्धकार की है, और दूसरी पद्धति कवि की।

विचार-प्रधान कविताएँ भी उच्चकोटि की कला का रूप पा सकती हैं, यदि विचारों के साथ आवेग का संयोग हो, परन्तु पन्तजी की ऐसी कविताओं में आवेश व आवेग नहीं मिलता। कवि विचार प्रधान कविताएँ निबन्धकार के ठण्डे 'मूड' में लिखता है, अत. इन कविताओं में पन्तजी की कला का अति सामान्य रूप उपस्थित हो पाता है। भारी भरकम शब्दावली में 'दर्शन' विशेष को छन्दों में बाँध कर कह देना कविता के क्षेत्र से बाहर की बात है। सन्तोष की बात केवल इतनी है कि ऐसी कविताओं में भी जहाँ-तहाँ 'बिखरा काव्य वैभव' मिल जाता है, विशेषत. तब, जब कवि प्रकृति के ऐश्वर्य अथवा प्रकृति में व्याप्त सौन्दर्य की ओर संकेत करता है यथा 'इन्द्रधनुप' की ये पक्तियाँ सुन्दर हैं—

देखा हे, ऐश्वर्य प्रकृति का, उसका प्रति अणु जीवित,
नाच रही भू हरित यौवना ज्योति ग्रहों से वेष्टित।
बाहु पाश में बाँध धरा को वारिधि चिर उद्वेलित,
ज्योति चूड लहरें उठ उठ करती नित गोपन इंगित।
निखिल प्रकृति कहती रे उसमें अमृत सत्य अंतर्हित॥

चूँकि विकसित मानवता को सौन्दर्य व ऐश्वर्य की भी आवश्यकता है अत ऐश्वर्य व सौन्दर्य के स्रोत के लिए, मङ्गल भावना के लिए, आदर्शों की उच्चता के लिए, निरपेक्ष सत्य की स्वीकृति आवश्यक है। इस प्रकार उपयोगिता समझाकर बार बार कवि आध्यात्मिकता के प्रति आकर्षण बढ़ाने के लिए पाठकों को प्रेरित करता है। व्यक्तित्व की विराटता के लिए जब तक मनुष्य किसी अचिंत्य, असीम सत्ता को लक्ष्य नहीं बनाता तब तक आदर्शों का बौनापन स्वयमेव प्रकट होता रहेगा। इन सब तर्कों से पाठक ऊब उठता है परन्तु जब उस सत्ता के सौन्दर्य व उस सौन्दर्य से वेष्टित प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन—बीच बीच में कवि करने लगता है, तो विचारों की पुनरावृत्ति से उत्पन्न होने

वाली थकान में ऐसे स्थल शीतल उपवन का कार्य करते हैं। 'चिन्मयी' में एक शब्द चित्र देखिए :—

वह 'हिमाद्रि' की मुक्त ताप सी
मेरी चिर सहचरी, मानसी
शुभ्र हिमानी सा तन अंचल
आते जाते शत रँग पल पल
निश्चल अन्तर, चितवन चञ्चल
झरते अश्रु, अजस्र चिर हँसी!
वह हिमाद्रि की मुक्त तापसी

विचारों के 'अरण्य' में ऐसे स्थल पाठक का ध्यान अवश्य आकर्षित करते हैं। अन्यथा कवि प्राकृतिक वस्तुओं का नाम लेकर उपदेश देने में अधिक अभ्यस्त होता हुआ दिखाई देता है—

मैं पूषण हूँ, धरती का ज्योतिर्मय ईश्वर

और फिर

मेरा यह संदेश उठो हे, जागो, भूचर
तुम हो मेरे अंश, ज्योति, संतान तुम अमर।

ऐसी कविताएँ 'विनय-परक' काव्य में आती हैं और प्रकाश व आत्म कल्याण की प्रार्थनाएँ करना इनका उद्देश्य है।

'स्वर्ण किरण' की सर्वश्रेष्ठ रचनाओ में 'ऊषा' का स्थान अन्यतम् है। क्योंकि इस कविता में कम से कम विचार व कल्पना का एक ओर तथा विस्मय, श्रद्धा, ममत्व तथा आनन्द आदि भावनाओं का दूसरी ओर गुम्फन प्रस्तुत किया गया है। मैंने पहले भी कहा है कि निबन्धकार की पद्धति काव्य के लिए अनिष्टकारिणी है। 'ऊषा' में यह दोष नही मिलता। पन्तजी की कल्पना 'ऊषा' के सौन्दर्य में चमत्कार दिखाने में तल्लीन होगई है, साथ ही वाह्य रूपांकन को प्रतीक के रूप में बदलते चलने का भी उपक्रम किया है। कवि के अनुसार वस्तु मे सौन्दर्य देखते समय हमारे मन का स्तर जागरूक रहता है, मन में ही संकल्प व विकल्प उठते हैं, मनोमय कोष ही कामना का स्तर है, सामान्य वस्तुओं में मन ही अनुकूलता या प्रतिकूलता के कारण सौन्दर्य या असौन्दर्य खोजता है। अत हमारा कर्त्तव्य है कि दिव्य वस्तु को मन की आँखों से देखें और फिर मन की कामना-प्रियता की प्रवृत्ति को

संतुष्ट करके भी मन को कामना के स्तर से ऊपर उठाकर साधना में निमग्न कर दे। अतः कवि 'ऊषा' में—

१—ऊषा के वाह्य सौन्दर्य का वर्णन करता है।

२—ऊषा के आगमन के पश्चात् जो जो क्रियाएँ होती हैं, इन क्रियाओं को आंतरिक जीवन में होने वाले परिवर्तनों का प्रतीक बनाता है।

३—मानवीकरण के द्वारा ऊषा को साधिका के रूप में चित्रित कर 'मानवीय रति' का वर्णन करता है और उस 'सम्भोग' के वर्णन द्वारा आत्मा व परमात्मा के आत्यन्तिक मिलन की ओर संकेत करता है।

४—अन्तिम पक्तियों में स्वयं कवि 'प्रतीक' को स्पष्ट कर देता है और अपना उद्देश्य स्वयं बतलाता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि यदि कवि 'ऊषा' के सौन्दर्य का अङ्कन करना चाहता था तो प्रतीकात्मकता व रूपांकन इन दोनों प्रवृत्तियों को एक ही स्थान पर क्यों मिला देता है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि नयी कविता में प्रकृति के अङ्ग सत्य के साक्षात्कार के साधनमात्र हैं। प्रकृति स्वयं पुरुष का ही एक स्वरूप है, वह आभास मात्र नहीं है जैसा कि हीगेल आदि दार्शनिक मानते हैं। परन्तु वह ब्रह्म का सत्य स्वरूप है, अत जड़ प्रकृति में जो भी हरीतिमा, पुलक, गति, वेग, विराटता, विस्तार, उच्चता, गम्भीरता, सामञ्जस्य, रग व रूप दिखाई पड़ते हैं वे सब अतर स्थित सत्ता के ही रूप है अत. सौन्दर्य की वाह्य अभिव्यक्तियों का दर्शन अन्त'स्थित सौन्दर्य का दर्शन है। यह वाह्य सौन्दर्य आँखों के लिए छलना नही है। हीगेल के अनुसार पहले व्यक्ति इस वाह्य सौन्दर्य को देखता है जो सत्य का आभास मात्र है, और इस प्रकार सत्य की ओर बढ़ता है। जैसे जैसे वस्तु के पीछे छिपे सत्य की पहचान होती जाती है, वैसे ही वैसे आभास रूप में प्रतीत होने वाला वाह्य सौन्दर्य लुप्त हो जाता है, केवल "सत्य" ही रह जाता है। हीगेल के अनुसार वस्तु का वाह्य सौन्दर्य तभी तक रहता है जब तक विवेक उदित नही होता अर्थात् हमारे नेत्र वस्तु को देखते हैं—उसके रूप, रङ्ग व आकार-प्रकार में मग्न रहते है। उसके पीछे छिपे सत्य को नही देख पाते। अतः जब उस सत्य की पहचान किसी विवेकशील व्यक्ति को होजाती है तो वाह्य सौन्दर्य, जो आभास के रूप मे प्रतीत होता है,

वसुधा के उरोज शिखरों से, खिसका चल मलयांचल।
सरिता की जाँघों से सरका, लहरा रेशम सा जल॥

और सौन्दर्य की प्यासी धरती इस अन्तश्चेतना रूपी ऊषा के आगमन पर सौन्दर्य से मण्डित हो उठती है। कवि का अभिप्राय है कि यदि सौन्दर्य दर्शन करना है तो वस्तु को इस नूतन दृष्टिकोण से देखो, अन्यथा चारों ओर अव्यवस्था, कुरूपता, नियम विरुद्धता तथा निराशा के ही दर्शन होंगे। प्रकृति के तात्पर्य को समझने के लिए 'पुरुष' के अस्तित्व में विश्वास आवश्यक है, तभी प्रकृति के रहस्यों तथा रहस्यमय सौन्दर्य को हम समझ सकते हैं। अत कवि ने उसी सत्ता की संदेश-वाहिका ऊषा-किरण के स्पर्श से उत्पन्न सौन्दर्य का विस्तार से चित्रण किया है—

दिव्य उषा के मनोहास्य से दिशि आलोकित।
सूक्ष्म सृष्टि नीहार सृजन सुख से आन्दोलित॥

और पुन. 'ऊषा कामिनी' के 'प्रणय-अभिसार' पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है—

व्रीड़ा दौड़ी भू पर आ ऊषा के मुख पर

इसके पश्चात् कवि चित्र को अधिकाधिक स्थूल बनाने का प्रयत्न करता है। नखशिख वर्णन की परम्परा में भी आप इस कविता को रख सकते हैं—

लिपटी लता पदों से चल अलियों से गुञ्जित
स्वर्ण मञ्जरित कटि कांची झनकी पिक कूजित
मल्लिका बनी हृदय का हार
स्वर्ण गेंदा श्रुति भूषण स्फार
कचों में गुँथे वकुल सुकुमार
हँसे कंकण बन हरसिंगार

ऊषा आगमन पर धरती के सौन्दर्य को देख-देखकर कवि के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका भी 'ऊषा' में विस्तार से चित्रण किया गया है, किन्तु इस मानसिक स्थिति में कवि साधनात्मक मनःस्थिति का वर्णन करता है अतः दुरूहता का प्रवेश ऐसे स्थलों पर स्वाभाविक है। ऊषा के सौन्दर्य-दर्शन से द्रष्टा के आंतरिक जगत में सौन्दर्य व आनन्द का कोष खुल जाता है। इस सत्य, प्रीति, प्रतीति, आदि वृत्तियों का मानवीकरण कर, कवि सत्य व प्रतीति आदि के

मिलन को ऐन्द्रिकता के माध्यम से व्यक्त करने लगता है, मनोमय कोष को अधिकाधिक आकर्षित करने वाले सौन्दर्य का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

वृत्तियों का मानवीकरण—

आशा—आई आशा, शशि की रजत तरी पर चढकर।
रजत पल्लवों की ज्वाला से वेष्ठित प्रिय तन॥
चिर अधखुले उरोजों पर जलते थे उडुगन।
रजस्राव के अभ्रक से ज्योतित भू रजकण॥

वृत्तियों के मानवीकरण में कवि ने अपनी कल्पना का बड़ा अपव्यय किया है क्योंकि ऊषा के आगमन पर द्रष्टा के आंतरिक जगत् की दशा के वर्णन के लिए कवि को 'प्रभाव की एकता' का ध्यान रखना चाहिए था परन्तु इस कविता में वृत्तियों के अलग अलग सुन्दर और मादक चित्र अपने मे स्वतंत्र से प्रतीत होने लगते हैं, अतः पूरी कविता के समष्टिगत प्रभाव को इन स्वतंत्र चित्रणों से हानि पहुँचती है परन्तु यदि चित्रों को अलग-अलग कर के देखे तो कल्पना की मादक व मोहक चित्रशाला सी दृष्टिगोचर होती है। सौन्दर्य-के इस उपवन में किसी को स्मरण तक नहीं रह सकता कि यहाँ 'तपस्या' भी करनी पड़ेगी। उत्तेजक चित्र होने के कारण वे 'साधना' की ओर चाहे न ले जाते हों परन्तु वे हमारा ध्यान आकर्षित अवश्य करते हैं। परिणाम की दृष्टि से चाहे उनका मूल्य कुछ भी क्यों न आँक लिया जाय।

कवि ने वृत्तियों के चित्रण में शिवत्व का भी ध्यान रखा है, अर्थात् उसने यह ध्यान रखा है कि मादक चित्रों के साथ सन्तुलन के लिए वातावरण को पावन वनाए रखने के लिए शिवत्व का भी चित्रण हो। कवि इस कार्य के लिए धार्मिक वातावरण उपस्थित करता है। आप उसे सांस्कृतिक वातावरण भी कह सकते हैं। वेद मन्त्रों की पुकार तथा अन्य सांस्कृतिक वस्तुओं का स्मरण वह इसी समय करता है। ऊषा मे हो देखिए—

लहरों के पुलिनों से अचपल
जागे धैर्य, शौर्य उर सम्बल,
हिम शिखरों से उन्नत अविचल,
अन्तर पौरुष से अरुणोज्वल,

सेवापगा विरति शशि मस्तक,
उर में थी विनम्रता की स्रक,
शान्त गहन निशि नभ सा अपलक,
अथक कर्म रत, भव से अप्रथक्।

इस प्रकार कवि का चिंतन इस प्रकार चलता है—

(१) मानवता के लिए मानवीय गुणों की आवश्यकता है—धैर्य, क्षमा, दया, उत्साह, प्रेरणा, मङ्गल, कल्याण-कामना, ममत्व, सहानुभूति, समता, सयम, सौन्दर्य, सन्तोष आदि मनुष्य के लिए आवश्यक हैं।

(२) ये गुण उच्चादर्श को सम्मुख रख कर हमे मिल सकते हैं, यथा यदि हम यह मानलें कि हम सब एक ही प्रकाश से प्रकाशित हैं तो जिस प्रकार किरणे परस्पर द्वेष नही करती उसी प्रकार हमें भी आपस मे एक पिता की सन्तान की तरह—प्रेम, दया, ममता, समता आदि भावनाओं से युक्त हो कर रहना चाहिए।

(३) जो दर्शन इन मानवीय गुणों के स्थान पर दानवीय गुणों का अभ्यास करने के लिए प्रेरित करे उसका विरोध होना चाहिए। मार्क्सवाद ऐसा ही एकाङ्गी दर्शन है अत. आज आध्यात्मिक सत्यों की उपयोगिता समझा कर उपयोगितावादियों को भी सन्तुष्ट करना आवश्यक है और इस प्रकार सर्वत्र एकाङ्गिता को समाप्त कर एक समन्वित विचारधारा को स्वीकार कर लेना चाहिए।

आपको पन्तजी की सभी प्रमुख नूतन रचनाओं मे उपर्युक्त भावनाएँ संग्रथित मिलेगी, 'ऊषा' में भी वे स्पष्ट हैं—

मुक्ति, सत्य औ श्रेय अन्त में हुए अवतरित,
सृष्टि पद्म सी, मुक्ति हुई दश दिशि मे विकसित।
बन्धन हीन विविध बन्धन में, बँधती वह नित,
सूक्ष्म वाष्प से हिम, हिम से बन वाष्प अपरिमित॥

इस प्रकार भौतिक व आध्यात्मिक श्रेय व सत्य का समन्वय कर कवि अन्तिम साधना-भूमियों का वर्णन करता है—

मुक्ति पद्म पर धरे सत्य आलोक के चरण,
हँसता था, आनन से उठा हिरन्मय गुण्ठन।
सत्य सुदूर समीप, सत्य था भीतर बाहर,
एक अनेक सत्य, सत्य ही था केवल क्षर-अक्षर॥

'सूर्य के रथ' को 'सत्य' के प्रतीक रूप में इस प्रकार रखा गया है—

अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत,
अणु से भी लघु देह, ज्वलित गिरि शृङ्ग सी महत्।
दृष्टि रश्मि थी ज्योति पथिक, 'औ' स्वय ज्योति पथ,
चिर जाज्वल्यमान स्थिर धावित सत्य अश्व-रथ ॥

इस प्रकार 'सत्य' व सौन्दर्य के स्वरूप व उपयोग को समझा कर कवि, कविता को पूर्ण दार्शनिक बनाता हुआ, अर्थात् सौन्दर्य का सैद्धान्तिक रूप स्पष्ट करता हुआ समाप्त करता है—

समाधिस्थ था श्रेय, सत्य आरूढ़ निरन्तर,
धरे अङ्क में भू को, सुर जल स्रोत शीर्ष धर।
इस प्रकार चिर स्वर्ग चेतना हुई प्रतिष्ठित,
जीवन शतदल पर, मन के देवों से भूषित।
जड़ धरणी के ताप शाप दुख दैन्य अपरिमित,
काकों से पर खोल हुए, लय तमस में अचित् ॥

इस प्रकार कवि जड़ धरणी के ताप-शाप को नाश करने के लिए धरती पर 'ऊषा' की अवतारणा करके अन्तश्चेतना की ओर जगत का ध्यान आकर्षित करना चाहता है क्योंकि उसकी स्वीकृति से जीवन के वे अंश पूरे हो जायँगे जिन्हें 'मार्क्सवाद' नही भर सकता, क्योंकि आर्थिक समता बाहरी वस्तु है। कवि के अनुसार जीवन में उच्चादर्शों, सौन्दर्य के अनन्त स्रोतों के लिए इस अन्तश्चेतना-वाद के प्रचार की आवश्यकता है जो मृत्यु पर विजय पाना सिखाता है, जो अमरता का आश्वासन देता है, जो मानवीय गुणों का दाता है, जो भौतिकवाद का निषेध नही करता, जो निरपेक्ष को उपयोगी पदार्थ के रूप में उपस्थित करता है अत कवि के प्रिय 'दर्शन' को ही वाणी का विषय बनाना आज कलाकार का एक मात्र उद्देश्य है। अन्यथा "परमाणु बम के युग में क्षीण जीवन ज्योति यन्त्र बल से मदोन्मत्त युग के प्रहार को न सँभाल सकेगी।"

एकांगी सत्य के स्थान पर पूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा ही कलाकार का एक मात्र उद्देश्य है। ऊषा का यही सन्देश है। यहाँ सभी वस्तुएँ परस्पर विरोधी नहीं, एक दूसरे की पूरक हैं। अत. उस पूरकता की खोज करना ही चिन्तकों व कलाकारों का कर्तव्य है। वस्तुओं को विपरीत शिविरों में बाँट कर रख देने से स्रष्टा का उद्देश्य समाप्त हो जाता है।

'ऊषा' के सन्देश व सौन्दर्य दोनों पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर हमने देखा कि इस कविता में ऊषा तथा मानव की अन्तर्वृत्तियों का चित्रण मानवीकरण की पद्धति पर बहुत ही सुन्दर हुआ है। इस कविता की प्रतीकात्मकता, सूक्ष्मता व गहनता को जन्म देती है, जिसमें तत्सम शब्दावली उसके बोझ को और बढ़ा देती है। साथ ही जब कवि अपने को चित्रण से विरत कर 'सिद्धान्तवादी' के रूप में प्रस्तुत करता है वहाँ भी बोझिल शब्दावली को नही छोड़ता। अत 'ऊषा' का भार उठाना इस धरती के लिए कष्टकर प्रतीत होने लगता है। यदि हम कवि के सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति व अवैज्ञानिकता पर विचार न करें, केवल स्वतन्त्र चित्रण को देखें तो 'ऊषा' स्वर्णकिरण की श्रेष्ठ कविता मानी जा सकती है—शोभा, उल्लास, विस्मय, मुग्धता आदि भावनाओं की सुन्दर व्यञ्जना इस कविता में हुई है और अप्रस्तुत विधान तथा प्रतीकात्मकता तो बहुत ही आकर्षक है। चित्र कही-कही अधिक मादक हो गए हैं परन्तु वह एक अलग बात है। यदि इस कविता मे शब्दावली को किञ्चित भी सरल करने की प्रवृति होती (और यह बात केवल इस कविता के लिए नही अन्य कविताओं के लिए भी आवश्यक है) तो 'ऊषा' का सौन्दर्य और भी खिल उठता। मोहक कल्पनाओं व चित्रों को उभार कर रखने की कला मे दक्षता प्राप्त करने के लिए यह कविता पठनीय है।

'स्वर्णोदय'—'आयु का अनुरोध'

मैं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा सुमित्रानन्दन पन्त की इधर की कविताओं मे जब दार्शनिकता अधिक देखता हूँ तो बार-बार एक ही प्रश्न उत्पन्न हुआ करता है। क्या इन कवियों में आध्यात्मिकता के अधिक आग्रह के पीछे वर्गगत संस्कारों के अतिरिक्त कही 'आयु का अनुरोध' तो नही है? 'स्वर्णकिरण' की 'स्वर्णोदय' कविता पढ़कर यह धारणा पुष्ट हो गई कि कम से कम पन्त की दार्शनिकता के पीछे संस्कारों के अतिरिक्त आयु का अनुरोध अवश्य है। पन्तजी ने स्वय इस कविता में दार्शनिकता का सम्बन्ध वृद्धावस्था के साथ जोड़ा है। 'स्वर्णोदय' में मनुष्य जीवन के विकास के सोपानों को दिखाकर पन्त जी ने यह दिखाया है कि किस आयु में किस-किस प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। शिशु, किशोर, युवा तथा प्रौढ़ अवस्था की भाव-

नाओं व विचारों में अन्तर रहता है, जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण शैशवावस्था में होता है वह प्रौढ़ावस्था में नहीं रह जाता। जैसे-जैसे शिशु के मन, बुद्धि व हृदय का विकास होता है वैसे ही उसके अहं तथा बुद्धि का क्षेत्र विकसित होता जाता है। विभिन्न सोपानों से गुजरता हुआ मनुष्य का ज्ञान प्रौढ़ावस्था में परिपक्व होकर शाश्वत प्रश्नों की ओर स्वयं आकर्षित हो जाता है। इन शाश्वत प्रश्नों के उत्पन्न करने में एक तो जीवन के सङ्घर्ष, दु ख, द्वन्द्व आदि होते हैं और दूसरे जीवन के सहज सुखमय स्वरूप के लिए मृत्यु एक बहुत बड़ी चुनौती बन जाती है। मृत्यु को निश्चित समझकर, और कहना चाहिए निकट समझ कर, मनुष्य, जगत, जीवन व जीव की समस्याओं पर विचार करता है और किसी ऐसे समाधान की टोह मे रहता है जो उसके बुद्धि व हृदय को सन्तोष दे और मृत्यु के पूर्व उसके मन के क्षोभ को शान्त कर दे। यह निश्चित है कि इस अवस्था मे दो दशाएँ हो सकती हैं (१) वैज्ञानिक दृष्टि—इस दृष्टि से मृत्यु व जीवन स्वाभाविक प्राकृतिक व्यापार प्रतीत होते हैं अत. हमें अपनी मृत्यु भी सहज स्वाभाविक प्रतीत होती है और उसे इसी रूप मे हम ग्रहण करते हैं। (२) दार्शनिक दृष्टि—इस दृष्टि से हम जीवन के अनन्त घात-प्रतिघातों पर विचार कर कोई ऐसा समाधान खोजना चाहते हैं जिससे हम आश्वस्त हो जायँ कि हमारा जन्म क्यों होता है, अमुक कार्य हमारे जीवन का उद्देश्य है और मृत्यु के बाद हमारी यह गति होती है आदि। 'दर्शन' वैज्ञानिक पद्धति पर नहीं, कल्याण के आधार पर जीवन, जगत और जीव के सम्बन्ध में ऐसा समाधान खोजता है और इस समाधान को जब हम स्वीकार कर लेते हैं तो हम उसे 'जीवन दर्शन' कहते हैं। पन्तजी ने 'स्वर्णोदय' में 'अपने जीवन-दर्शन' के अनुसार जगत, जीवन व जीव की व्याख्या की है।

पाठक उनके जीवन दर्शन से तो परिचित हो चुके हैं अतः मै यहाँ उसका पिष्ट पेषण न करूँगा। अपने जीवन दर्शन को समझाना, उसकी उपयोगिता समझाना, उसके विरोधियों के सम्मुख उसकी पूर्णता का प्रदर्शन करना तथा उस जीवन दर्शन के अनुसार प्राप्त दृष्टि व भावना के अनुसार जगत को देख देख कर उत्पन्न होने वाले भावों व कल्पनाओं को छन्दोबद्ध करना ही पन्त जी की नई कविता का उद्देश्य है। इस 'स्वर्णोदय' कविता में जीवन के विकास

को कवि ने एक वृद्ध के दृष्टिकोण से देखा है, जीवन के संघर्षों में से गुजर कर अपनी वृद्धावस्था में जैसे कोई मनुष्य अपने विगत जीवन पर विहंगम दृष्टि डाल रहा हो, और जीवन के तात्पर्य को समझने का प्रयत्न कर रहा हो। कवि के अनुसार स्वयं चेतना जीवन के विभिन्न सोपानों में विकसित होकर आत्मोपलब्धि करना चाहती है, 'स्व' की उपलब्धि ही जीवन का ध्येय है, अतः उस उपलब्धि के लिए चेतना (आत्मा) शैशव, कैशोर, युवा तथा प्रौढ़ावस्थाओं में से गुजर कर अन्त में अपने को पहचान लेती है। अतः जीवन के विभिन्न अनुभव—ऐन्द्रिक, मानसिक, भावनात्मक तथा अन्त में आध्यात्मिक अनुभव आवश्यक हैं। एकांगी दर्शन आध्यात्मिक अनुभव को नहीं मानते परन्तु विहंगम दृष्टि से जीवन को देखने का परिणाम 'आध्यात्मिक परिणति' ही होनी चाहिए। अत. इन्द्रिय-मन-भावना आदि के कोषों से गुजरती हुई चेतना प्रौढ़ावस्था में समग्र दृष्टि के जागृत होने से प्रज्ञा के बल पर अपने स्वरूप में स्थित हो जाती है। शुद्ध प्रज्ञात्मक ज्ञान की उपलब्धि के लिए जीवन के पूर्व सोपान आवश्यक हैं। जीवन के लिए सीमित व असीमित एकांगी व समग्र दोनों दृष्टिकोण आवश्यक हैं परन्तु सीमित व एकांगी अवस्थाओं में यह नहीं सोचना चाहिए कि इस समय सोची जाने वाली बात ही सत्य है। मार्क्सवाद ऐसे ही एकांगी सत्य को देता है, असीमित व समग्र दृष्टि से देखने पर व्यापक जीवन दर्शन का जन्म होता है। अरविन्द दर्शन ऐसा ही दर्शन है, यह है 'स्वर्णोदय' का संदेश।

किन्तु 'सन्देश' तो हम कई बार सुन चुके हैं, प्रश्न यह है कि 'सन्देश' की अभिव्यक्ति की पद्धति क्या है, उसका प्रभाव क्या है ? मैंने पहले भी कहा है कि प्रज्ञात्मक काव्य के बीच बीच कल्पना-भावना प्रधान बिखरे हुए कुछ चित्रखण्ड पन्तजी के नूतन-काव्य में सुन्दर बन पड़े हैं। इस कविता में भी चार चित्र मिलते हैं–शैशव, कैशोर, युवा व प्रौढ़ अवस्थाओं के चार चित्र अलग-अलग कवि ने दिए हैं और अन्त में उन्हें 'दर्शन' के आधार पर मिलाया गया है। चूँकि कवि को प्रौढ़ावस्था में प्राप्त आध्यात्मिक दृष्टि की सत्यता सिद्ध करनी है अत उससे पूर्व के आवश्यक सोपानों के रूप में कवि मुग्ध होकर जीवन को चित्रित करता है, प्रश्न यह है कि स्वर्णोदय के ये कैशोर व युवावस्था के चित्र सुन्दर होने पर भी पल्लव-गुञ्जन कालीन उक्त चित्रणों से क्यों

अधिक सुन्दर नहीं बन पड़े ? इसका उत्तर यह है कि स्वयं एक स्थिति में रहकर उस स्थिति मे प्राप्त अनुभूतियों को उसी स्थिति में रखकर व्यक्त करने में स्वाभाविकता व सच्चाई रहती है, पल्लव कालीन स्थिति यही है। वहाँ कवि ने कैशोर व युवावस्था की सहज भावनाओं का जिस प्रकार अनुभव किया, उसी प्रकार लिखा, परन्तु 'स्वर्णोदय' में कवि उस स्थिति से ऊपर उठ गया है। यहाँ वह गत-जीवन की अनुभूतियों पर विचार अधिक करता है, अनुमान की प्रक्रिया आ जाने से विचार शीलता का तत्त्व इस कविता मे अधिक आ गया है। कवि प्रौढ़ावस्था की स्थिति में है अतः उसे जो आध्यात्मिक विश्वास मिला है, वह उसके लिए सच्चाई है और यह चिन्तन की स्थिति है। दीप-शिखा में जब दोलन रहता है तब तक दीपक की स्थिति कुछ और होती है और जब दीप-शिखा निष्कम्प होने लगती है तब दीपक की स्थिति कुछ और होती है। पहली स्थिति उद्वेगशील जीवन की स्थिति है, भावना-प्रधान कविता की स्थिति है, द्वन्द्वात्मक स्थिति है, दूसरी स्थिति क्षोभ रहित अन्तर्मन की स्थिति है, प्रज्ञात्मक—बौद्धिक—दार्शनिक कविता की स्थिति है, द्वन्द्व रहित स्थिर चित्र की स्थिति है। प्रथम स्थिति में पल्लव-वीणा की कविताएँ लिखी गई हैं, दूसरी स्थिति में स्वर्णकिरण व उत्तरा की कविताएँ। प्रथम स्थिति की कविताओं का धरातल मानवीय है दूसरी स्थिति की कविताओं का प्रज्ञात्मक। प्रथम युग की कविताएँ भावनाओं को उच्छ्वसित कर देती हैं। दूसरे युग की कविताएँ भावनाओं से ऊपर उठकर अलौकिक सौन्दर्य की चाह मे भटकाती हैं। प्रथम मे जीवन अधिक है, दूसरी में चेतावनी। प्रथम एक रोमानी कवि की कविता है, दूसरी एक 'दार्शनिक' बनने का अभ्यास करने वाले 'रोमानी दार्शनिक' की। यह अच्छा है कि इस दार्शनिक के साथ उसकी रोमानी भावनाएँ साथ लगी रहती हैं, अन्यथा कविता और भी अधिक बौद्धिक हो जाती। स्वर्णोदय में तद्भव पदावली में शिशु का चित्रण देखिए—

लोरी गाओ, लोरी गाओ
फूल डोल में उसे झुलाओ
निंदिया की चल, परियो आओ,
मुन्ना का मुख चूम, सुलाओ

कुछ चित्र बहुत आकर्षक बन पड़े हैं—

नलिनी उर मे लेटा हिम जल
बाल चेतना सा तारोज्वल
हँस मुख, निर्मल, चञ्चल

जहाँ कवि का ध्यान कल्पना के द्वारा चित्र को उभारने पर केन्द्रित हो जाता है, वही कला निखर उठती है परन्तु ऐसे अवसर कम आते है, उसी प्रकार जिस प्रकार कवि साधारण शब्दावली का बहुत कम प्रयोग करता है। नूतन काव्य कला की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि कवि के चितन, भाषा, अभिव्यक्ति, अप्रस्तुत विधान आदि सभी का एक स्तर है, उससे वह कभी नीचे नही उतरता। अत' चिंतन के क्षेत्र में विचारों की पुनरावृत्ति एवम् भाषा के क्षेत्र मे बोझिल तत्सम शब्दावली की एकरूपता, मिलती है, उसमे आरोह व अवरोह का अभाव है अत एकरसता आ जाती है। इसी प्रकार प्रतीक भी एक से ही हैं, और अभिव्यक्ति की पद्धति भी एक जैसी। एक ही संग्रह मे उक्त सभी प्रकार की एकरसता कला को स्वाभाविक गति से नही विकसित होने देती। इस एकरसता को भंग करने वाले "खण्ड चित्र" हैं जो इधर उधर बिखरे पड़े हैं यथा—

शिशु की मानसिक स्थिति का कलात्मक वर्णन—

अब चाँदी ने चन्दा को नैया में मोहन
बिठा लिया ज्यों लालन का मन
पलने में केवल हिलता डुलता मन

और फिर उसके बाद "सैद्धान्तिकता" की बौछार होने लगती है—

यह अनन्त यात्रा का रे पथ
शिशु अनन्त का यात्री शाश्वत
वह अनादि से नित्य नवागत
अपने ही घर का अभ्यागत
जनक जननि मे स्वयं विभाजित
वह अवतरित हुआ या विकसित ?

और फिर

देखो, देखो आँखें भर
कैसा रहस्यमय ईश्वर !

देखो हे आँखें भर
कैसा सुन्दर ईश्वर

तो कवि ने शिशु के जन्म व उसकी क्रीड़ा का वर्णन केवल इसलिए किया था कि उसे यह बताना था कि एक ही सत्ता स्वयं माता-पिता व शिशु में अवतरित होती है, अतः इस रहस्यमय ईश्वर को न मानना अधर्म है।

पन्तजी ने 'स्वर्णोदय' में मनोवैज्ञानिक पद्धति पर शिशु अवस्था के बाद यौवनावस्था तक के अनुभवों का सुन्दर वर्णन किया है।

उड़ते पत्ते बनते थे तब उड़ती चिड़ियाँ।
ओने कोने में छिपकर रहती थीं परियाँ॥
आस पास के ठूँठ सभी थे हौवा।
नित्य डाकिया बन आता आँगन का कौवा॥
और फिर
डम डम डमक कलन्दर आया।
संध्या बूढ़ा ने सूरज का गेंद छिपाया।
दादी ने आँगन भर में सेंदुर बिखराया॥

और इन बाल-लीलाओं के द्वारा उसका विकास दिखाकर कवि मार्क्सवादियों से प्रश्न करता है—

बोध निहित था क्या उर भीतर
अथवा व्याप्त विश्व में बाहर?
छिपा बिन्दु में था क्या सागर
बाह्य परिस्थितियों पर शिशु-विकास या निर्भर?
बढ़ते या वे बहिरंतर की प्रतिक्रियाओं से लोकोत्तर?

मार्क्सवादियो! बताओ! बच्चे के विकास में क्या बाह्य परिस्थितियाँ ही सब कुछ हैं? उसके भीतर की चेतना का क्या कुछ मूल्य नहीं? समान परिस्थितियों में तब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का विकास क्यों होता है? तुम उसे नहीं समझा सकते तब क्यों नहीं भारतीय 'आत्मवाद' का अपने एकांगी मार्क्सवाद के साथ समन्वय कर लेते? यही तो अरविन्द कहते थे। यह है पन्तजी की सोचने की पद्धति, वे क्षोभ रहित होकर ऐसी ही तार्किक पद्धतियों को अपनाते हैं और उसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी कविता बौद्धिक बनती गई है।

कवि पाठक की बुद्धि को झकझोरने का प्रयत्न अधिक करता है, और इसके लिए या तो किसी दिव्य-अनुभूति का वर्णन करता है और तब भौतिकवादियों को डाँटता है कि उन्हे यह मानसिक उपलब्धि प्राप्त नही है, वे मन की गहराइयों को नहीं जानते, (उत्तरा में यह पद्धति अधिक अपनाई गई है) और या प्रतीकात्मकता का आश्रय लेता है यथा अशोक वन मे या जीवन के विकास को समझा कर विकासवादी सिद्धांत की अपूर्णता समझाता है यथा "स्वर्णोदय" मे। जहाँ कवि के मन की यह दशा रहती है, देखो! मैं ईश्वर को मानता हूँ, मुझे कितना आनन्द मिल रहा है, अतश्चेतना का प्रकाश आ रहा है; सारी सृष्टि उसमे स्नान कर रही है, ये जो दिव्य अनुभव मुझे हो रहे हैं, जीवन मे वड़े उपयोगी है अत उपयोगितावादियो! यदि उपयोगिता की दृष्टि से भी तुम्हे ये प्रिय नहीं हैं तो तुम्हारा दुर्भाग्य है, तुम मानवीय चेतना की दिव्यता को नही जानना चाहते, तुम्हारी दृष्टि संकुचित है, केवल रोटी, रोटी चिल्लाने से क्या होगा? आओ, इस अतर्जगत की सैर करो, ऐसी उक्तियों में तो शुद्ध रहस्यवादी कविता का जन्म हो जाता है परन्तु जहाँ कवि शुद्ध तात्त्विक-पथ अपनाता है वहाँ कविता 'पद्यात्मक निवन्ध' बन जाती है।

आज कवि की मानसिक दशा यह है—

विधि ने ऐसा विषम विश्व, अह, किया क्यों सृजन
यह क्या प्रकृति विधान कि मानवकृत सङ्घर्षण

× × ×

कलुष कालिमा के भीतर हो रही चेतना विकसित
सामाजिक जीवन से कही महत् अन्तर्मन जीवन

और 'स्वर्णोदय' इसीलिए इस निष्कर्ष को पाठकों के सम्मुख रखकर अस्त हो जाता है—

आंशिक उसे लगा जीवन का
जड़ चेतन का बौद्धिक दर्शन
जड़ चेतन से परे अगोचर
जीवन के हैं मूल सनातन!

अन्न, प्राण, मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम
इन सब मे चिर व्याप्त ईश रे
मुक्ति सच्चिदानन्द चिरन्तन

इस प्रकार 'अरविन्दवाद' को पद्यात्मक रूप मे प्रचारित करने मे कवि अत्यधिक रुचि दिखाता है और इसके लिए गद्य में निबन्ध लिखना अधिक उपयुक्त है। ऐसी कविताओं से अधिक रोचक पन्तजी का गद्य है, जो उनकी भूमिकाओं में मिलता है, श्रद्धा के अतिरेक के कारण अरविन्द के निष्कर्षों को बार-बार दुहराकर भी पन्तजी को सन्तोष नहीं होता। ऐसी कविताओं और नारेबाज प्रगतिवादियों की कविताओं में कुछ भी अन्तर नहीं दीखता।

'दर्शन' को स्पष्ट कर कवि उसका नैतिक रूप हमारे सामने रखता है—

पश्चिम का जीवन सौष्ठव हो
विकसित विश्व तन्त्र मे विकसित
प्राची के नत आत्मोदय से
स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित।
बहिरंतर वैभव का हो जो विश्व समन्वय।
रूपांतरित जगत जीवन हो नव स्वर्णोदय॥

पन्तजी ने 'स्वर्णोदय' में साफ-साफ कहा है कि केवल बुद्धि को ही सन्तुष्ट करने से कुछ नहीं होगा, हमें गूढ रहस्यों की खोज करनी चाहिए। जीवन की गति चेतना के रहस्यों पर निर्भर हैं। पाठक जानते हैं कि अरविन्द की योग-साधना की शब्दावली का यह हिन्दी में पद्यानुवाद ही है, अन्य कुछ नहीं।

'स्वर्णोदय' स्वर्णकिरण की सबसे बड़ी कविता है, परन्तु इस कविता में कुछ चित्रों को छोड़कर व्यर्थ का ऊहापोह बहुत है अत. 'जीवन सौन्दर्य' को 'स्वर्णोदय' का पर्याय मान लेने पर भी कवि का ध्यान निगूढ़ भावनाओं में विश्वास करने के लिए वकालत करने पर अधिक रहा है, मैंने पहले भी कहा है कि यदि आवेशयुक्त नए-नए तर्कों व शङ्काओं को कवि रख पाता तो भी ये दार्शनिक कविताएँ अधिक आकर्षक हो सकती थीं।

"अशोक वन"

'प्रतीकों' से जहाँ अभिव्यक्ति में सूक्ष्मता और ध्वनि उत्पन्न हो जाती है, वही उद्गारों को दबाने की भी उनमें बड़ी शक्ति होती है। प्रतीकों का दो स्थितियों में प्रयोग दो प्रकार का दिखाई पड़ता है, प्रथम तो किसी वस्तु के वर्णन द्वारा उससे किसी गूढ़ सत्य की व्यंजना करने के लिए उस वस्तु को प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है और दूसरे किसी भावना को, प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया जाता है—

कँप कँप हिलोर रह जाती, मिल पाता नही किनारा।
बुद्बुद विलीन हो चुपके, पा जाता आशय सारा॥

उद्भ्रान्त जीवन के लिए लहर, तथा समर्पण-कर्त्ता के लिए बुद्बुद को यहाँ प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया गया है, ये भी पन्तजी की पंक्तियाँ है। इनमें केवल समर्पण रूपी सत्य की ही व्यंजना नही की गई है अपितु उद्भ्रान्त जीवन का भटकना, वार-वार आपस में टकराना, चीत्कार करना, आदि क्रिया व्यापार "कँप कँप हिलोर रह जाती" इस प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। जीवन की सारी असफलताएँ व संघर्ष सम्मुख आ जाते हैं, इसी प्रकार समर्पण की आनन्दमयी क्रिया भी अपने संश्लिष्ट रूप मे "बुद्बुद विलीन हो चुपके" इस प्रयोग से स्पष्ट हो उठती है।

ऐसी प्रतीकात्मकात्मक अभिव्यक्ति काव्य के लिए अधिक उपयोगी होती है परन्तु जहाँ केवल सत्य की व्यंजना हो, कोई क्रिया व्यापार सम्मुख न आता हो, अर्थात् केवल किसी कोरे सत्य की, सिद्धान्त की व्यजना मात्र हो—जीवन से उस सत्य का सम्बन्ध व जीवन की उस सत्य के प्रति जो क्रिया होती है वह स्पष्ट न होती हो तो 'प्रतीक' कविता को उलट बाँसी में परिवर्तित कर देता है। सिद्धों व कबीर आदि सन्तों के प्रतीकात्मक प्रयोग ऐसे ही होते हैं। इसका अर्थ यह नही कि सिद्धों व सन्तों ने प्रथम पद्धति नही अपनाई, जहाँ उसे अपनाया गया है, वहाँ वह आकर्षक है परन्तु जहाँ उसे नही अपनाया गया, वहाँ काव्य काव्य न रह कर पहेली मे बदल गया है जिस पर वार-बार सिर खपाने से भी संतोष जनक अर्थ नही निकलता।

प्रतीकात्मक प्रयोगों के लिए उर्दू व फारसी के कवि अधिक सौभाग्यशाली हैं, वहाँ कुछ चुने हुए प्रतीकों द्वारा सत्य की व्यंजना कराने मे उन कवियों को अद्भुत सफलता मिली है परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि उनकी पद्धति इस प्रकार की है कि उनके प्रतीकों से पारलौकिक सत्यों की व्यंजना करते समय जीवन नहीं छूट पाता, यही उनकी प्रतीकात्मकता को इतना आकर्षक बनाती है, यह बात दूसरी है कि दोनों पक्षों को एक साथ व्यक्त करने की चाह में जब संतुलन नही रह पाता तो कविता अश्लील शृङ्गार में डूब मरती है परन्तु कुशल कवियों मे वह संतुलन रहता है और इसीलिए आध्यात्मिक सत्यों की व्यंजना को उर्दू के कवि अत्यधिक मोहक बना सके हैं। इस प्रकार के प्रतीकों मे न तो जीवन के उद्‌गारों पर अनुशासन लादना पड़ता है न व्यंजना के मार्ग को अधिक चक्करदार बनना पड़ता है। परन्तु कोरे सत्य की व्यंजना में, जीवन के संवेदनात्मक पक्ष को किस प्रकार कड़े अनुशासन में रखा जाता है, और किस प्रकार किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र या परिस्थिति को सत्य के प्रतीक के रूप में ढाला जाता है इसके लिए पन्त जी का "अशोक वन" पठनीय है।

कवि का कहना है कि सच्चिदानन्द अपनी चित्-शक्ति के द्वारा इस जगत के रूप में विकसित होता है। जब-जब प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ इस जीवन को कलुषित करती हैं तो ब्रह्म कच्छ, वराहादि अवतार धारण कर उनका मर्दन करता है। जीवन के विरोधों व द्वन्द्वों को सहते हुए यह चित्-शक्ति निरन्तर विकास की ओर बढ़ती रहती है और अन्त मे देश, काल, पात्र के बन्धनों को तोड़ कर पुन. महाचेतना में मिल जाती है। अतः निराशा का इस जीवन में कोई स्थान नहीं है। कुछ लोग बढ़ते हुए भौतिकवाद को देख कर निराश हो गए हैं परन्तु चेतना का तो स्वभाव ही यह है कि वह विरोधों मे बराबर बढ़ती है। विश्वास को दृढ़ करने के लिए ही आज अविश्वास बढ़ रहा है, अविश्वास की स्थिति एक प्रयोग मात्र है, वह चेतना की स्थायी स्थिति नही है। जीवन निषेध पर चल ही नही सकता। वह अपने 'प्रयोग' के पश्चात् विश्वासी हो कर ही निकलेगा। भौतिकवाद केवल बीच के सोपानों को मानता है, चेतना के अन्तिम स्वरूप को नही मानता, जो प्रारम्भ के लिए

भी उत्तरदायी है, यही एकाङ्गिता है, इसका नाश अवश्यम्भावी है। कोई बात नही यदि कुछ दिनों के लिए वातावरण नास्तिक बन जाय। यह उपर्युक्त भावना उन लोगो के मन में उत्पन्न हुई है जिनकी चेतना जाग्रत है, जो द्रष्टा हैं। उनका विश्वास है कि प्रभु का अवतार अवश्य होगा। चेतना जब जग जाती है तो सत्य का स्वयमेव अवतार हो जाता है और तब प्रतिक्रियावादी शक्तियों (पन्तजी के यहाँ प्रतिक्रिया-वादी का अर्थ है—चेतना मे विश्वास न करना) का नाश होता है। आज का भौतिकवाद ऐसी ही प्रतिक्रियावादी असुर शक्ति है, वह रावण की लङ्का है, और उसमे चेतना-रूपिणी सीता बन्दिनी है परन्तु 'प्रभु' अवतार लेंगे और रावण को मार कर चेतना का उद्धार करेंगे, यह है 'अशोक वन' का सन्देश।

जगत के दुःखों का एक मात्र कारण पन्तजी राम (ब्रह्म) व जानकी (चेतना) के वियोग को बताते है—

राम जानकी को विलगा कर,
उमड़ रहा दुख से भवसागर।

परन्तु

लहराती कण-कण में आशा,
धर्म सेतु प्रभु बाँधेगे ही।

इस प्रकार पन्तजी का नूतन काव्य ब्रह्म की प्रेरणा से प्रेरित हो कर 'धर्म-सेतु' के निर्माण में सलग्न है। भौतिकवादरूपी आसुरी शक्तियाँ—रूस व चीन की जन-वादी शक्तियाँ (पश्चिम का विला-सितावाद भी इसमें शामिल है) रावण व मेघनाद बन गई है। 'ईश्वरवाद' रूपी सीता के लिए हनूमान, अङ्गद, नल, नील के समान भारतीय अध्यात्मवादियों का कर्तव्य है कि वे वेदोपनिषद् द्वारा स्थापित ब्रह्म रूपी राम की "धर्मसस्थापनाय सम्भवामि युगे युगे" घोषणा के लिए 'धर्मसेतु' में हाथ लगाएँ। यही प्रगतिशील शक्तियों का सब से मुख्य कार्य है—पन्तजी आज-कल यही कार्य कर रहे है।

'अशोकवन' में इसी उपर्युक्त धर्म स्थापना के व्यञ्जित करने पर अत्यधिक आग्रह होने का परिणाम यह है कि पन्तजी का ध्यान न तो सीता की भावनाओं के चित्रण पर ठहर सकता था न राम की भावनाओं पर। रावण के भी प्रबल व्यक्तित्व—

दर्प, दीप्ति, वल, पराक्रम के चित्रण का अवसर भी यहाँ नही था, मेघनाद व लक्ष्मण आदि के व्यक्तित्वों पर भी प्रकाश नही पड़ सकता था, यहाँ तो कवि इस प्रसिद्ध घटना द्वारा यही बता सकता था कि सीता चेतना का अवतार है और राम स्वयं ब्रह्म के। लक्ष्मणादि उसी की शक्तियाँ हैं, रावण अधोमुखी गति का उपासक है अतः वह स्वयं चाहता है कि मेरा वध प्रभु के हाथ हो और मैं 'भूभार' न बनकर यहाँ से हट जाऊँ। इस कोरे सत्य की व्यञ्जना के कारण 'अशोकवन' में सूक्ष्मता अवश्य है परन्तु यहाँ संवेदन विरहित सूक्ष्मता है जिसका रूप हमें कई अध्यात्मवादियों में वरावर मिलता है, अत. 'अशोकवन' कला की दृष्टि से उच्चकोटि की कृति नही मानी जा सकती। जिन स्थलों के वर्णनों में तुलसी हमारी संवेदना को अपने साथ रखते हैं, वहाँ उन स्थानों का पन्तजी 'अरविन्द-दर्शन' के प्रचार के लिए प्रयोग करते हैं—

'तुलसीदास' में निराला ने भी "स्मृति' के रूप में राम और सीता के पूर्वानुराग की ओर संकेत किए हैं परन्तु वे इतने सुन्दर क्यों हैं ? इसलिए कि राम के ऊपर युद्ध का सङ्कट है, और वह सङ्कटमय परिस्थिति, स्मृति में आए हुए कोमल चित्रों को और भी अधिक मधुर बना देती है और उन्ही चित्रों से राम को नवीन शक्ति भी मिलती है परन्तु पन्त जी 'प्रतीक' के लोभ मे परिस्थिति के गाम्भीर्य का अनुभव ही नही करते, पात्र की परिस्थिति से अपने मन मे स्थित विचारधारा की व्यञ्जना कराना चाहते हैं परिणाम यह होता है कि ऐसी पंक्तियाँ मिलने लगती हैं—

जगा मनोलोचन में तत्क्षण
विश्व श्याम तन आभा का घन!
दिखा, चेतना की छाया सा
दिशि पल मे चित्रित जग जीवन!

यहाँ तुलसी के 'स्थूल राम' का नही, पन्तजी के 'सूक्ष्म राम' का चित्रण है—

मींच लिए प्रभु ने लोचनमन
खुले दृष्टि के भौतिक वंधन

सूक्ष्म राम ने प्रथम ज्यों चरण
धरे, धरा पर किया अवतरण

तुलसी ने स्थूल सीता व राम के स्थूल सरूपों का चित्रण किया था, पन्तजी 'सूक्ष्म राम' के 'सूक्ष्म चरणों' के 'सूक्ष्म चिह्नों' का। परिणाम यह हुआ कि 'सूक्ष्मता' को छोडकर सौन्दर्य का कोई रूप इस कविता में नही दिखाई पडता जबकि इस प्रसङ्ग में प्रत्येक पात्र महान् है—उदात्तता मे भी और कुत्सितता मे भी। पन्तजी को तो यह चिन्ता है कि इस प्रसिद्ध आख्यान से किसी प्रकार अध्यात्मवाद के प्रचार मे सहायता मिल जाय, कविता का चाहे जो हो—

पृथ्वी की पुत्री यह सीता
पृथ्वी जिससे हुई पुनीता
वह क्या आदिम भू जीवन के
छाया तम को अपनाएगी ?

और स्वयं पन्तजी अपने प्रतीक को इस प्रकार स्पष्ट करते है—

रावण था युग वैभव प्रतिमा
अमित प्रताप, बुद्धि, बल, गरिमा
युग आकांक्षा से अविद्ध वह
जन मन शत्रु, मही थी भीता
जन आकांक्षा को था उठना
प्रभु को उतर मनुज था बनना
भू-ईप्सा को स्वर्ग-दया से
होना था जग हित परिणीता।

'अशोक बन' में स्वयं रावण का भी "हृदय परिवर्तन" करा दिया गया है। गान्धीवाद के घोर एकांगी पक्ष "हृदय परिवर्तन वाद" को रावण भी मानता था, और इस प्रकार—

अखिल ज्ञान, पूजन आराधन
रण कौशल, त्रिभुवन वैभव धन
मुझको लगता, सार हीन हैं
यदि वे नही, विश्व मङ्गल हित

स्वयं सीता 'रावण' के सम्मुख अरविन्द-दर्शन पर एक व्याख्यान देती है और रावण चुपचाप सुनता ही नही, समझता भी है। आगे शक्ति के आघात से लक्ष्मण आहत नही होते, अधोमुखी

जड़ शक्ति के पाश में वे बँध जाते हैं क्योंकि लक्ष्मण राम की तरह पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सके थे, उनमें क्रोधादि वृत्तियाँ शेष थी, अतः—

दानव माया से न पराजित
होंगे प्रभु के मनुज ऊर्ध्वचित्
अधोमुखी जड़ शक्ति पाश से
मुक्त शीघ्र होंगे जग लक्ष्मण!

पन्तजी को ही नहीं अन्य मायावादियों, शून्यवादियों, विज्ञानवादियों—पूँजीवादियों तक को विश्वास है कि भौतिकवाद का उन पर कोई प्रभाव नहीं होगा क्योंकि यहाँ दो वर्ग 'ऊर्ध्व चिदावस्था' हैं, पूँजीवादी और अध्यात्मवादी। प्रथम शोषण करता है, दूसरा जनता के असन्तोष को उभारने से डरता है।

अन्त में कवि जगत के कल्याण के लिए प्रार्थना करता है—

रिक्त पूर्ण हों, खण्ड हों सकल
जीवनाब्धि हो विन्दु, विन्दु जल
जय जय सीता राम, जयति जय,
जय लक्ष्मण, जय भरत शत्रुहन्

'अशोक वन' संश्लिष्ट प्रतीकात्मकता को न अपना कर सिद्धान्तवादी कविता का अच्छा उदाहरण है।

छोटी रचनाएँ

'स्वर्णकिरण' की छोटी कविताओं में सैद्धान्तिकता का प्रवेश कम हुआ है। कला वही मर्मस्पर्शिनी होती है जहाँ या तो चित्रण का सौन्दर्य हो (वस्तुओं के रुपाङ्कन का, उनमें व्यक्त सौन्दर्य का) या जहाँ कवि की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हो, उसके राग-विराग का, अनुभवों का चित्रण हो। जितना ही कवि अनुभूतियों से दूर होता जाता है, दुरारूढ़ कल्पना का मार्ग पकडता है, कला उसी अनुपात से कमजोर होती जाती है। पन्तजी की छोटी कविताओं मे अपेक्षाकृत अनुभूति का स्पर्श अधिक मिलता है। जिस प्रकार उत्तर-काण्ड में तुलसी ने कलियुग का चित्र उतारा है, उसी प्रकार पन्तजी स्वर्णकिरण की कुछ छोटी कविताओं में वर्तमान समाज में मानवीय गुणों के अभाव का करुण चित्र उतारते हैं। कवि की यह 'इच्छा'

सूक्ष्म राम ने प्रथम ज्यों चरण
धरे, धरा पर किया अवतरण

तुलसी ने स्थूल सीता व राम के स्थूल सद्रूपों का चित्रण किया था, पन्तजी 'सूक्ष्म राम' के 'सूक्ष्म चरणों' के 'सूक्ष्म चिह्नों' का। परिणाम यह हुआ कि 'सूक्ष्मता' को छोड़कर सौन्दर्य का कोई रूप इस कविता में नही दिखाई पड़ता जबकि इस प्रसङ्ग मे प्रत्येक पात्र महान् है—उदात्तता मे भी और कुत्सितता में भी। पन्तजी को तो यह चिन्ता है कि इस प्रसिद्ध आख्यान से किसी प्रकार अध्यात्मवाद के प्रचार मे सहायता मिल जाय, कविता का चाहे जो हो—

पृथ्वी की पुत्री यह सीता
पृथ्वी जिससे हुई पुनीता
वह क्या आदिम भू जीवन के
छाया तम को अपनाएगी ?

और स्वयं पन्तजी अपने प्रतीक को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

रावण था युग वैभव प्रतिमा
अमित प्रताप, बुद्धि,बल, गरिमा
युग आकांक्षा से अविद्ध वह
जन मन शत्रु, मही थी भीता
जन आकाक्षा को था उठना
प्रभु को उतर मनुज था बनना
भू-ईप्सा को स्वर्ग-दया से
होना था जग हित परिणीता !

'अशोक बन' में स्वयं रावण का भी "हृदय परिवर्तन" करा दिया गया है। गान्धीवाद के घोर एकांगी पक्ष "हृदय परिवर्तन वाद" को रावण भी मानता था, और इस प्रकार—

अखिल ज्ञान, पूजन आराधन
रण कौशल, त्रिभुवन वैभव धन
मुझको लगता, सार हीन हैं
यदि वे नही, विश्व मङ्गल हित

स्वयं सीता 'रावण' के सम्मुख अरविन्द-दर्शन पर एक व्याख्यान देती है और रावण चुपचाप सुनता ही नहीं, समझता भी है।

आगे शक्ति के आघात से लक्ष्मण आहत नही होते, अधोमुखी

जड़ शक्ति के पाश में वे बँध जाते हैं क्योंकि लक्ष्मण राम की तरह पूर्णता को प्राप्त नही कर सके थे, उनमें क्रोधादि वृत्तियाँ शेष थी, अतः—

दानव माया से न पराजित
होंगे प्रभु के मनुज ऊर्ध्वचित्
अधोमुखी जड़ शक्ति पाश से
मुक्त शीघ्र होंगे जग लक्ष्मण !

पन्तजी को ही नही अन्य मायावादियों, शून्यवादियों, विज्ञानवादियों—पूँजीवादियों तक को विश्वास है कि भौतिकवाद का उन पर कोई प्रभाव नही होगा क्योंकि यहाँ दो वर्ग 'ऊर्ध्व चिदावस्था' हैं, पूँजीवादी और अध्यात्मवादी। प्रथम शोषण करता है, दूसरा जनता के असन्तोष को उभारने से डरता है।

अन्त में कवि जगत के कल्याण के लिए प्रार्थना करता है—

रिक्त पूर्ण हों, खण्ड हों सकल
जीवनाब्धि हो विन्दु, विन्दु जल
जय जय सीता राम, जयति जय,
जय लक्ष्मण, जय भरत शत्रुहन्

'अशोक वन' संश्लिष्ट प्रतीकात्मकता को न अपना कर सिद्धान्तवादी कविता का अच्छा उदाहरण है।

छोटी रचनाएँ

'स्वर्णकिरण' की छोटी कविताओं में सैद्धान्तिकता का प्रवेश कम हुआ है। कला वही मर्मस्पर्शिनी होती है जहाँ या तो चित्रण का सौन्दर्य हो (वस्तुओं के रूपाङ्कन का, उनमें व्यक्त सौन्दर्य का) या जहाँ कवि की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हो, उसके राग-विराग का, अनुभवों का चित्रण हो। जितना ही कवि अनुभूतियों से दूर होता जाता है, दुरारूढ़ कल्पना का मार्ग पकड़ता है, कला उसी अनुपात में कमजोर होती जाती है। पन्तजी की छोटी कविताओं में अपेक्षाकृत अनुभूति का स्पर्श अधिक मिलता है। जिस प्रकार उत्तर-काण्ड में तुलसी ने कलियुग का चित्र उतारा है, उसी प्रकार पन्तजी स्वर्णकिरण की कुछ छोटी कविताओं में वर्तमान समाज में मानवीय गुणों के अभाव का करुण चित्र उतारते हैं। कवि की यह 'इच्छा'

कितनी स्पृहणीय है—

कब विश्वास, प्रेम, आशा
पुरुषार्थ उच्च अभिलाषा
कला सृष्टि, सौन्दर्य दृष्टि
होगी जीवन परिभाषा। —'चिंतन'
रँग दो मेरे उर का अञ्चल!
युग युग के आँसू से गीला
मेरे स्नेही का अन्तस्तल। —'निवेदन'

इन कविताओं में कवि की अनुभूति का उसके विचारों के साथ सामञ्जस्य मिलता है अत: ये पंक्तियाँ मार्मिक हैं। 'दर्शन' को काव्य की भूमि पर लाकर कैसे खड़ा किया जाता है, यह भी कवि जानता है, किन्तु इस कविता में उस पद्धति का प्रयोग कम करता है। बौद्धिकता के लोभ से विरत होकर यदि कवि इस पद्धति को अधिक अपनाता तो उसकी कला का रूप पूर्वरूप से भी अधिक आकर्षक बन जाता—

यह ओसों की डाल पिरोदी किसने जीवन के आँगन में?

कठिनाई यह है कि इस 'जिज्ञासा' नामक कविता में भी कवि इस कोमल जिज्ञासा को आगे चलकर बोझिल बना देता है। छोटी कविताओं को विषय के अनुसार इस प्रकार रख सकते हैं—

१—चिन्तन-प्रधान—चिन्तन, जिज्ञासा, व्यक्ति और विश्व, छायापट, कौवे के प्रति, नीलधार।

२—रूपाङ्कन-प्रवृत्ति-प्रधान—मत्स्यगन्धाएँ, चिन्मयी, स्वर्णिम पराग, नारीपथ।

३—राष्ट्रीय—ज्योति, भारत।

४—विनय-परक—महात्माजी के प्रति, नेहरू के प्रति, पूषण, आवाहन, सविता।

५—नैतिकता-प्रधान—अगुण्ठिता, संक्रमण।

६—प्रतीकात्मक—भू-प्रेमी, चन्द्रोदय, द्वासुपर्णा, हरीतिमा, भू-लता।

इनमें रूपाङ्कन-प्रवृत्ति-प्रधान, प्रतीकात्मक, चिन्तनात्मक ये तीन प्रवृत्तियाँ प्रायः मिली रहती हैं। अतः एक ही कविता रूपाङ्कन की

दृष्टि से एक वर्ग में तथा वही कविता अपनी चिन्तनात्मकता की दृष्टि से दूसरे वर्ग में भी रखी जा सकती है।

हम यह कह चुके हैं कि छोटी कविताओं मे कवि की जिज्ञासा उल्लास, आशङ्का, उत्साह आदि वृत्तियों की भी अभिव्यक्ति मिलती है, यद्यपि जगह-जगह पर नैतिकता का स्वर उसे दबा लेता है। इन कविताओं में सामान्य उल्लास, उमङ्ग आदि का कम, दार्शनिक के उल्लास को अधिक अभिव्यक्ति मिली है। अत. असाधारण अनुभूतियों के कई रूप यहाँ देखने को मिलते हैं—

१—अतीन्द्रिय सौन्दर्य जन्य उल्लास की व्यञ्जना—इसके लिए 'स्वर्ण-निर्झर' कविता पठनीय है। चित्र उत्तेजक होगए हैं। अनुभूति का रूप असाधारण रहस्यमय स्थिति तक पहुँच गया है। परन्तु इस स्थिति में भी कवि 'आत्म-विभोरता' का तथा सौन्दर्य के प्रभाव का अन्य रहस्यदर्शियों की भाँति वर्णन नही करता।

२—अनन्त जिज्ञासा—'जिज्ञासा' शीर्षक कविता मे यही भावना व्यक्त हुई है।

३—अन्तर्मन स्फुरणाजन्य विस्मय—इसके लिए चन्द्रोदय, हिमाद्रि व समुद्र पठनीय हैं।

४—एकाकार की भावना से उत्पन्न आनन्द—यथा 'व्यक्ति और विश्व' में, अहं के विस्तार की स्थिति में जब कवि देखता है कि मेरे प्राणों की हरीतिमा ही तृण, तरु, पुष्पों आदि मे विस्तार पा गई है, आकाश मे मेरी अनन्तता ही मूर्त हो रही है तो उसे विस्मय-जन्य आनन्द मिलता है।

५—विराट-भावनाजन्य आश्चर्य की भावना—

मेरे भीतर परिभ्रमित ग्रह—
उदित अस्त शशि दिनकर-
मैं हूँ सबसे एक, एक रे
मुझ से निखिल चराचर
सब से हो जग से विमुक्त
मेरा अन्तर था पीड़ित
आज खड़ा भाई बहनों के
सँग मैं चिर आनन्दित

६—आन्तरिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति—

मन जलता है
अन्धकार का क्षण जलता है—मन जलता है
मेरा मन तन बन जाता है
तन का मन फिर कट कर
छँट कर
कन कन ऊपर उठ पाता है

(७) श्रद्धा व गौरव की भावना—विनय परक कविताओं मे मिलती है।

उपर्युक्त अनुभूति-पक्ष के विश्लेषण से स्पष्ट है कि कवि की अनुभूतियाँ सामान्य भावनाओं से सम्बन्धित न होकर अधिकतर असामान्य जीवन-लक्ष्य से सम्बन्धित है। अर्थात् वे जीवन से सम्बन्धित न होकर जीवन के लक्ष्य से सम्बन्धित हैं। और वह लक्ष्य 'दर्शन' से प्राप्त एक तथ्य है। अत' स्वतः ही इन अनुभूतियों का स्तर साधारण भावनाओं से उच्च है, अतः यह कविता कवि की समान मानसिक स्थिति के पाठकों के लिए ही है। जिस प्रकार वैदिक कालीन ऋषि अनन्त अम्बर, विस्तृत धरणी, विराट सागर, प्रबल विद्युत, घनघोर बादल, प्रचण्ड वर्षा आदि को देखकर विस्मय व कारण की कल्पना करते करते 'जिज्ञासा' से भर उठते थे उसी प्रकार पन्तजी की अनुभूति में विस्मय और उससे जन्य आनन्द के कई रूप मिलते हैं। और इस-लिए वे कविताएँ मन्त्र द्रष्टाओं, दार्शनिकों व तार्किकों के अधिक काम की हैं उनका 'हृदय' ही (किन्तु कहते हैं कि उनके हृदय होता ही नही) यहाँ रम सकता है। हम सब मानवों के लिए पन्तजी अब बहुत ऊँचाई पर पहुँचे हुए लगते हैं, जैसे वे हमारे लिए आकाश के तारों को तोडने हमसे दूर चले गए हों।

शास्त्रीय दृष्टि से पन्तजी के भावना पक्ष को देखने पर दो स्थायीभाव तथा उनसे सम्बन्धित भावनाएँ अवश्य मिलती हैं :—

१—विस्मय (अद्भुत रस) २—निर्वेद (शात रस)

परन्तु शास्त्रीय रूप में इन भावनाओं की अभिव्यक्ति नही मिलती, मिल भी नही सकती। निर्वेद और रति का द्वन्द्व स्वय कवि के मन में रहने से न निर्वेद ही सफल हो पाया है न 'रति' ही।

किसी भी एक भावना का कुछ थोड़ी देर तक जब तक अनवरत प्रवाह नही बहता, तब तक पाठक उसमें तन्मय हो ही नही सकता।

पन्त जी 'निर्वेद' की स्थिति मे सत्य के साक्षात्कार करने के प्रयत्न में जब सत्य को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं, तब यह संतुलन नही रख पाते कि कब उनका सत्य 'निर्वेद' की भूमि त्याग कर रति के रोचक पक्ष को पुष्ट करने लगा अत. निर्वेद की शांत स्थिति में, भीतर से मादक भावनाएँ झलक मारती हुई चल पड़ती हैं अत शास्त्रीय दृष्टि से भी इन अनुभूतियों को महत्व नहीं मिल सकता। परन्तु 'विस्मय' की भावना स्वर्णकिरण में अवश्य सफल हुई है। दु:ख की बात यही है कि उसे कवि एक दार्शनिक स्तर से यदि नीचे उतरने देता तो उसे सहजता प्राप्त हो जाती। और सच्ची बात यह है कि कवि का विषय ही असाधारण है, अतः उससे जन्य या उसके सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाली अनुभूतियाँ यदि मानवीय भावनाओं के माध्यम से व्यक्त नहीं होतीं तो उनमें साधारणता आ ही नही सकती। मीरा, कबीर आदि कवि पति पत्नी के माध्यम से उसे व्यक्त कर लेते हैं क्योंकि वे 'प्रेम' जैसी प्रबल भावना को माध्यम चुनते हैं परन्तु पन्तजी नूतन काव्य में ऐसा नही करते, ये एक साधक की स्थिति में रहकर ही अपनी निराली अनुभूतियों को प्रतीकों के माध्यम से उतारते है अत. कविता दुरूह हो जाती है। कबीर की कविताओं का वह पक्ष दुरूह है जहाँ कवि कोरे चमत्कार को खड़ा करता है, 'सत्य' को चक्करदार शैली में व्यक्त करता है। स्वयं पन्त जी ने कहा है कि वह अपनी भावना का मुख नही खुलने देते तब उनकी कला में—विशेष कर नूतन काव्य-कला में कल्पना, विचारों व शैली का सौन्दर्य रह जाता है। निश्चित रूप से पन्त में कल्पना का सौन्दर्य मिलता है, परन्तु विचारों की घोषणाओं के प्रति अधिक जागरूक रहने से पन्त जी की चित्रण-प्रधान कविताओं में भी कल्पना संतुलित होकर नहीं चल पाती। हम छोटी कविताओं में 'रूपाङ्कन प्रवृत्ति प्रधान' कविताओं के सम्बन्ध में कल्पना का स्वरूप देखकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे —

मैंने पहले भी कहा है कि पन्तजी अब प्रकृति की वस्तुओं का प्रकृत रूप चित्रित न कर अपनी आध्यात्मिक चेतना से स्नात वस्तु में जो-जो छवियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें अधिक अङ्कित करते है। नूतन काव्य में प्रकृति पुरुष का ही एक रूप होने से उसका सौन्दर्य आभास मात्र नही है। वह केवल जड़ भी नहीं है, उसमें चेतना का अंश विद्यमान है। इस प्रकृति पर,

पन्तजी सर्वव्याप्त महाचेतना की स्वर्णिम किरणों को डालते हैं और तब उसके सौन्दर्य का अङ्कन करते हैं। अत' प्रकृति की सुन्दरता मात्रा की दृष्टि से भी बढ़ती है और गुण की दृष्टि से भी। प्रकृति स्वयं सुन्दर है परन्तु जब वह आध्यात्मिक चेतना से आवृत करके देखी जाती है तो और अधिक सुन्दर लगती है। इस प्रकार उस सुन्दरता की मात्रा बढ़ती है और स्वर्णिम किरण के वस्तु पर पड़ने से उसके मूल सौन्दर्य मे कुछ नवीनता भी आ जाती है। इस प्रकार सौन्दर्य में नवीन गुण उत्पन्न हो जाता है। 'हिमाद्रि' मे भी इन दोनों तत्त्वों को हम देख सकते हैं और 'ऊषा' मे भी और छोटी कविताओं में भी। इसके अतिरिक्त जिन वस्तुओं मे सुन्दरता नही है उनमे भी सुन्दरता का सृजन कवि कर लेता है क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से कोई भी वस्तु असुन्दर नही है। यथा 'कौवे' को एक नवीन आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया है। इस प्रकार की सुन्दरता के सृजन में व पूर्ववर्ती कविता में किए गए सौन्दर्य-सृजन मे थोड़ा सा अन्तर है। पल्लवकालीन सौन्दर्य-सृजन के पीछे 'विस्मय' की भावना ही मुख्य थी। शुद्ध कल्पना का आवरण डालकर ही कवि तब वस्तु को देखा करता था। सामान्य वस्तु को जब कवि इस दृष्टि से देखता है कि मानो उस वस्तु को कवि आज ही देख रहा है, एक 'विस्मय' को उत्पन्नकरता है और 'विस्मय' आनन्द को। यह 'विस्मय' कल्पना से सम्बन्धित होने के कारण सौन्दर्य-शास्त्र के भीतर ही रहता है परन्तु नूतन-काव्य मे वस्तु पर अलौकिक सत्ता के प्रकाश को डाल कर विभिन्न छवियाँ उत्पन्न की गई हैं। अत. सौन्दर्य-सृजन की दोनों प्रक्रियाओं के अन्तर को स्पष्टतः समझते रहना चाहिए। चेतना के स्पर्श से जो वस्तु में जादू उत्पन्न हो गया है उसका कवि नूतन काव्य में अधिक वर्णन करता है।

इसके अतिरिक्त 'सत्य' से नि.सृत प्रकाश-किरणों के सौन्दर्य का स्वतन्त्र रूप से भी कवि ने वर्णन किया है। अर्थात् १—जिस वस्तु में सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है उसका भी वर्णन है। २—और जो चेतना सौन्दर्य को उत्पन्न करती है उसका भी वर्णन है—

सौन्दर्य की कारणभूत-चेतना की स्वर्णिम किरण का तटस्थ अङ्कन—

हँसी लो स्वर्ण किरण
शिखर आलोक वरण
विचरती स्वर्ण किरण
धरा पर ज्योति चरण।
सरों में हँसी लहर
ज्योति का जगा प्रहर
चेतना उठी सिहर
स्पर्श यह दिव्य अमर
तुहिन के स्वर्णिम कण
वितरती स्वर्ण किरण।

तथा

ओ अरुण ज्वाल, चिर तरुण ज्वाल
मेघों मे भर स्वर्णिम मरन्द
रँग रश्मि तूलि से रज अमन्द
जग की डाली डाली में तुम
सुलगाती नव जीवन प्रवाल।

पीछे बताया गया है कि पन्तजी नूतन काव्य मे प्रकृत सौन्दर्य को केवल आभासमात्र नही मानते। हीगेल के लिए भले ही वस्तु की सुन्दरता एक कृत्रिम (Superficial view) दर्शन हो, भले ही वह यह कहे कि सौन्दर्य वस्तु में होता नहीं, उत्पन्न हो जाता है परन्तु पन्तजी के लिए वस्तु की स्वतंत्र सत्ता है और उसमे जो प्रकृत सौन्दर्य दिखाई पड़ता है वह कृत्रिम नही है। पहाड़ों की विराटता, विशालता, समुद्र का विस्तार तथा आकाश की अनन्तता आदि का बोध सभी व्यक्तियों को होता है, यह कृत्रिम नही है, वास्तविक है। परन्तु पन्तजी साथ ही यह भी कहते हैं :—

स्वर्णिम पराग, स्वर्णिम पराग
यह रे हिरण्य का अवगुंठन।
चेतना ढँके जिससे आनन

इन पंक्तियों का स्पष्ट अर्थ यही है कि सौन्दर्य सत्य के ऊपर का सुन्दर आवरण है। परन्तु तब तो इस सौन्दर्य को 'अशिव' मानना चाहिए क्योंकि सत्य की पहचान में जो बाधा है, वह मगलमय कैसे

होगा अत स्वर्ण-किरण का तब स्वागत क्यों, इसका उत्तर स्पष्ट है कि पन्तजी की सौन्दर्य-चेतना को उनके दर्शन के साथ रख कर देखना चाहिए, जिसके अनुसार अपनी लीला के लिए चेतना जड़ तत्त्व मे अपने को बाँधती है। परन्तु जड़ तत्त्व न तो अस्तित्व-विहीन है न वह सत्य की पहचान में बाधक है बल्कि चेतना का ही वह एक रूप है अत चेतना स्वय अपना आवरण है। चेतना का ही एक रूप होने से हिरण्यमय अवगुण्ठन भी सुन्दर है, सत्य है, सत्य की पहचान में सहायक है। अत उपर्युक्त पंक्तियों को हीगेल के अर्थों में नही लेना चाहिए अन्यथा अरविन्द दर्शन को हमे एक ओर फेंक देना होगा। इसीलिए तो कवि अन्त मे कहता है —

भीतर बाहर इससे रंजित
इसकी रज से जीवन निर्मित
कुंकुम के स्पर्शों से मोहित
खेलते चराचर प्रणय फाग
स्वर्णिम पराग ।

<u>सौन्दर्य का प्रतीक के रूप में प्रयोग</u> —"आकाश मे चन्द्रमा हँस रहा है और सागर नीचे उमड रहा है। इन्द्र नील मणि के समान लहरों पर मोतियों की उज्ज्वल ज्योत्स्ना विचरण कर रही है। जल मरकत के वर्ण का है," इस प्रकार के वर्णन का सांकेतिक अर्थ न ले तो यह सौन्दर्य चित्रण पूर्ववर्ती कविताओं में भी मिलेगा परन्तु इसके साथ ही कवि का यह अभिप्राय भी लेना होगा कि चन्द्र, सागर, लहरादि को देखकर संकेतित सत्य की व्यञ्जना हो। अतः चन्द्र चेतना के स्रोत की, ज्योत्स्ना अतर्चेतना की, तथा सागर व्यक्तिगत चेतना की क्रीड़ा-स्थली के रूप में भी गृहीत किया गया है, फलत. सौन्दर्य का प्रतीक के रूप मे प्रयोग नूतन काव्य में बराबर मिलता है।

(देखिए 'भू प्रेमी' कविता)

इस प्रकार स्वर्ण-किरण द्वारा विकीर्ण होते हुए सौन्दर्य की राशियों को चुन चुन कर कवि ने 'स्वर्ण-किरण' आदि कृतियों मे भर दिया है। मैंने पहले ही कहा है कि नूतन काव्य में कल्पना का चमत्कार अवश्य मिलता है यद्यपि उसे भी अतीन्द्रिय बनाया गया है। यह सौन्दर्य अंतर्मन के नेत्रों के द्वारा ही देखा जा सकता है, सामान्य इन्द्रिय-बोध से यह ऊपर की चीज है। यद्यपि रूपों, रङ्गों के चित्रण

हमारी इन्द्रियों को भी मोहित करते हैं परन्तु इस पर पल्लव काल में अधिक जोर दिया गया था। अब तो कवि का ध्यान उस अतीन्द्रिय सौन्दर्य-राशि की पहचान पर केन्द्रित हो गया है जहाँ से राशि राशि सौन्दर्य-स्वर्ण झर रहा है, जिसकी पहचान कर लेने पर हम सौन्दर्य के आदि स्रोत तक पहुँच सकते हैं। अतः जो कार्य विवेक करता है, सत्य के पहचानने का वही कार्य यह सौन्दर्य-दृष्टि भी करती है। सत्य व सौन्दर्य में इस प्रकार अविरोध स्थापित कर दिया गया है। अर्थात् आप इस सौन्दर्य को पहचान कर, इस पर मुग्ध होकर भी 'सत्य' का साक्षात्कार कर सकते हैं। इस सौन्दर्य से मानवीय गुण उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं (प्रीति, ममता, अनुराग, श्रद्धा, नम्रता, आदि) जिस प्रकार सत्य की पहचान कर लेने पर जन्म लेते हैं। इन गुणों के उत्पन्न हो जाने का अर्थ यह है कि शिव का जन्म हो जाता है। इस प्रकार सौन्दर्य भी मङ्गल व सत्य का साथी ही है। वह भी हमें अविरोध व समन्वय की ओर ले जाता है। अतः सौन्दर्य को अलग कर देने की बात गलत है। यह है कवि की मानसिक दृष्टि जो इस सौन्दर्य सृजन व सौन्दर्य-दर्शन के पीछे छिपी हुई है।

सौन्दर्य की बढ़ती हुई मात्रा, गुण तथा उसका परिणाम—

जादू बिछा दिया इस भू पर
फूलों से उड़ फूल, रँगों से निखर सूक्ष्म, रँग उर के भीतर।
बुनते स्वप्न मधुर सम्मोहन, स्वर्ण रुधिर से अंतर थर् थर्॥
स्वर्ण-ज्वाल में तुमने जीवन, दिया लपेट हृदय मे हँसकर।
मर्म-प्रीति का झरता अविरत, इन प्राणों में स्वर्णिम निर्झर॥

सौन्दर्य में शिवत्व का सन्निवेश—

सौ सौ ये लोल लहर
परियों के रत्न विवर
सौधों की स्वर्ण शिखर
× × ×
ये परियाँ, सतरँग पर
कहती आकर बाहर
जीवन के अणु उर्वर
पाल पोस पृथ्वी पर
लाईं हम, भू नभचर

तथा

वह शिखर शिखर पर स्वर्गोन्नत,
स्तर स्तर पर ज्यों अन्तर्विकास,
चढ़ सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ में,
करती हो शुचि शाश्वत विलास।

यहाँ सादृश्यमूलक अलङ्कारों की सहायता से सकेतित अर्थ को स्पष्ट कर दिया गया है परन्तु वस्तु और संकेत दोनों को साथ सञ्चालित करने की प्रवृत्ति नई कविता मे बराबर मिलती है।

सौन्दर्य-दर्शन से जन्य ममत्व—

यह नीला आकाश न केवल,
केवल अनिल न चञ्चल,
इनमें चिर आनन्द भरा,
मेरी आत्मा का उज्ज्वल।

प्रश्न होगा क्या यह ममत्व शुद्ध रागात्मक है? उत्तर होगा नही। यह अतीन्द्रिय तत्त्व से सम्बन्धित है क्योंकि कवि फिर कहता है—

मेरे प्राणों की हरीतिमा,
तृण तरु दल मे पुलकित,
मेरी प्रणय भावना से ही,
कली कुसुम नित रञ्जित।
मैं इस जग में नही अकेला,
मुझको तनिक न सशय,
वही चाह है कण कण मे,
जो मेरे उर में निश्चय।

इस प्रकार रूपाङ्कन-प्रवृत्ति के विभिन्न स्तरों व प्रकारों की ओर संकेत कर अब हम समग्र दृष्टि से उस पर विचार कर सकते है। स्वर्णकिरण में प्रकृति की विभिन्न मुद्राओं व छवियों का यथातथ्य अङ्कन जो पल्लव मे किया गया था, नही मिलता। यहाँ हिरण्यमयी प्रकृति की सुन्दरता को विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखा गया है और उसकी उपयोगिता पर बहुत कुछ कहा गया है। दूसरी ओर इस स्वर्णिम-विवरण के दर्शन से उत्पन्न मन पर पड़ने वाले प्रभावों का—

मन की कोमलता, दिव्यता, पवित्रता, मुग्धता तथा तन्मयता आदि का वर्णन है। तीसरी ओर प्रकृति को संकेत-विधायिका के रूप में चित्रित किया गया है। 'स्वर्णकिरण' की ऐसी कविताओं मे सूक्ष्म सौन्दर्य व निगूढ़ भावनाओं के संकेत मुख्य विशेषताएँ हैं परन्तु दार्शनिक दृष्टि के आधिक्य से उल्लास, कौतूहल, विस्मय, जिज्ञासा की जो स्वाभाविक अभिव्यक्ति पूर्ववर्ती काव्य में मिलती है, वह यहाँ नही मिलती। यहाँ तो सौन्दर्य का उद्‌घाटन कर कवि सत्य की पहचान करने में तल्लीन है। वह जिस प्रकार साधना की स्थितियों का समाजीकरण करता है, उसी प्रकार उन स्थितियों में 'प्रकृति कैसी प्रतीत होती है' इसका वर्णन करता है। दार्शनिक-प्रतीति सौन्दर्य को जो रूप देती है, वह सूक्ष्म व सांकेतिक है। निश्चित रूप से उसमें वह ताजगी व जीवन नही जो पूर्ववर्ती कविताओं मे है तथापि यदि केवल कल्पना के कौशल की दृष्टि से देखें, यदि इस दृष्टि से देखें कवि किसी भी मूल्य पर 'नवीनता' उत्पन्न कर सकता है या नही, या कवि कितनी दूर तक उड़ान भर सकता है तो निश्चित रूप से 'स्वर्ण-किरण' की रचनाओं में बिखरे हुए स्थल रमणीय भी हैं और जहाँ तहाँ उनमे अनुभूति का भी स्पर्श मिल जाता है। ऐसी रचनाओं का समग्र रूप से प्रभाव दार्शनिक होता है। वे विचार को ही प्राय. मन में जगाती हैं, परन्तु अपने खण्ड रूप में जब तब नाना रमणीय कल्पनाओं, सीमित अनुभूतियों तथा मनोहर चित्रों को भी मन के सम्मुख अवश्य प्रस्तुत करती हैं।

'स्वर्ण-किरण' की भाषा

'स्वर्ण किरण' की भाषा के सम्बन्ध मे प्रायः सभी ने यह कहा है कि उसमे तत्सम शब्दावली का आधिक्य है। अभिव्यक्ति की सहजता के लिए चुन चुन कर कठिन शब्दों से पदावली की रचना करने से जहाँ 'प्रौढ़ता' व 'अशिथिलता' आजाती है वही वह पैर में पड़े हुए पत्थरों के कारण जैसे लँगड़ाने भी लगती है। 'स्वर्णकिरण' की भाषा में आवश्यक उतार चढ़ाव का अभाव है। बात यह है कि भाषा बहुत कुछ वर्ण्य के अनुसार स्वयमेव रूप पा जाती है। चूँकि ये रचनाएँ चिन्तनात्मक मानसिक स्थिति मे लिखी गई हैं तथा कवि पर उपनिषद् आदि आर्य-दर्शन

का प्रभाव है अत. उसकी पदावली मे एक ओर तो वेग का अभाव है और दूसरी ओर सांस्कृतिक वातावरण उपस्थित करने की धुन में कवि ने स्वाभाविक भाषा न अपनाकर साँस्कृतिक पर्वों व उत्सवों की भाषा को अपनाया है। ऐसा लगता है जैसे यज्ञ-भवन में या योगियों की समाधि के पास कविता का पाठ हो रहा हो। परिणाम यह हुआ है कि कवि ने पद-विधान मे एक अत्युच्च स्तर पर रहने का प्रयत्न किया है। अत' उसे गगन चुम्बी-पद-स्तूप में बड़े बड़े शब्दों की ईंटें लगानी पडी हैं और चूँकि संस्कृत का अशिथिल समास विधान हिन्दी के लिए अति की सीमा तक ले जाने के कारण अनुपयोगी और हानिकर हो जाता है अत. स्वर्ण किरण में प्रौढ़ता के दर्शन तो होते है परन्तु उसमें पूर्वकालीन रचनाओं की कोमलता नहीं है। कवि यदि निगूढ़ भावनाओं को व्यक्त करते समय विह्वल हो उठता, यदि उसमें कविजनोचित झकझोरने वाला उद्वेग उत्पन्न हो जाता तो भाषा में भी वे गुण स्वत आजाते, किन्तु ठण्डे 'मूड' में लिखने के कारण भाव के अभाव को छिपाने के लिए यही आवश्यक था कि कवि पदावली को सघन व दृढ़ बनाता चलता। कवि ने यह किया है। अतः जिन भावनाओं को अन्य रहस्यवादी कवियों ने सहज ढङ्ग से व्यक्त कर दिया है उसे पन्तजी दीर्घ और दृढ़ समास विधान के बधन में जकड़ देते है अतः भाषा में 'लचक' कही नही दिखाई पडती। तत्सम शब्दों के बीच मे जहाँ तहाँ तद्भव शब्द डाले भी गए है परन्तु उससे शैली न तो सरल ही हुई है न उसके समग्र स्वरूप पर कोई प्रभाव ही पड़ा है। वे तद्भव शब्द स्थिति को और भी विचित्र बना देते हैं।

भाषा का निश्चित रूप के भाव से सम्बन्ध है। कोमलता की स्थिति मे कोमल शब्द स्वभावत' निकल पड़ते हैं और उग्रता की स्थिति में पदावली एक विशेष जोश से भर जाती है। पन्तजी इन बातों को अच्छी तरह जानते हैं परन्तु जो कवि वृत्तियों के आवेश को भाषा मे नही बाँधना चाहता, उसके पद-विधान मे वेग व प्रवाह कैसे उत्पन्न होगा ? अतः पूर्ववर्ती रचनाओं की भाषा अधिक कोमल व कलापूर्ण थी। तब कवि का इस ओर ध्यान भी अधिक था।

यदि वृत्तियों को कवि उद्वेग से नही भरना चाहता, वह केवल 'चिन्तन' को कविता में बाँधता है, परपक्ष का खण्डन करते हुए स्वपक्ष

की उपयोगिता समझने के लिए ही काव्य लिखता है तो एक वस्तु और ऐसी है जिससे भाषा में आकर्षण उत्पन्न हो सकता है—उक्ति की वक्रता। बात को चमत्कारक ढङ्ग से कहने की प्रवृत्ति उर्दू मे अधिक है। आप जानते हैं कि 'वक्रता' कल्पना व भाव की कमजोरी को भी छिपा लेती है और स्वयं अपने में एक आकर्षण बन जाती है। अनेक जीवन के अनुभवों को चिन्तन की स्थिति में रख कर भी 'वक्रोक्ति' के बल पर उर्दू के कवि उन्हे विलक्षण ढङ्ग से व्यक्त करते रहे हैं। क्रोसे भले ही यह कहे कि ऐसी उक्ति में आन्तरिक प्रक्रिया पूर्ण होने पर ही कवि को सफलता मिलती है, परन्तु वह एक अलग बात है। पन्तजी ने पूर्ववर्ती रचनाओं में जो अँगरेजी के अनुकरण पर ग्रन्थि से लेकर गुञ्जन तक लक्षणा का विकास किया था उसमें 'भणिति' की विभिन्न भङ्गिमाएँ मिलती है परन्तु इस नूतन काव्य मे वह वाग्वैदग्ध्य लुप्त हो गया है। अतः भाषा में इस प्रकार का भी आकर्षण (चाहे वह किसी कोटि का हो) नहीं मिलता। इसलिए जिस प्रकार कल्पना सूक्ष्म व गूढ़ हो जाने से, भावना मौन हो जाने से नूतन-काव्य मे पन्तजी की काव्य-कला की मर्मस्पर्शिता को आघात पहुँचा है, उसमे ज्ञान देने की प्रवृत्ति अधिक आगई है, अनुभूति को रमणीय बना कर, या मुग्ध होकर अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति कम हो गई है उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में 'जटिलता' के कारण पन्त की मनोरम काव्य-कला को आघात पहुँचा है। दार्शनिक जगत की घोषणाओं की अधिकता (मैं यहाँ समग्र रूप से कह रहा हूँ, बिखरे हुए काव्य-वैभव की बात अलग है—वे सुन्दर हैं) होने से काव्य की पद्धति का विकास एक ऐसी दिशा में हो गया है जिसमे स्वाभाविक काव्य का विकास असम्भव है। पन्तजी की इस काव्य-कला का मुख्य दोष गूढ़ता और जटिलता है।

भाषा की जटिलता का एक बड़ा कारण संस्कृत के तत्सम शब्दों को पक्ति के अन्त में रखने की प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिए यदि आप पंक्ति के अन्त में 'अपरिचित' शब्द रखे तो तुक के आग्रह के लिए इसी प्रकार के शब्दों को विवश हो कर रखना पड़ेगा और उसका परिणाम यह होगा कि भाषा में एक अवांछनीय तनाव उत्पन्न हो जायगा। किन्तु जब कवि पंक्ति के अन्त में चलते हुए तत्सम शब्दों या तद्भव शब्दों का विधान करता है तो इसमे यह दोष नही आता।

गुप्तजी की भाषा में प्रौढ़ता होने पर भी बोलचाल की भाषा के प्रति पन्तजी की भाषा से अधिक निकटता पाई जाती है। दोनों प्रकार के उदाहरण लीजिए—

(१) मानव का देवत्व केन्द्र हो,
परिधि जगत जीवन हो विस्तृत।
ऋत चित की आभा से चुम्बित,
मनुष्यत्व हो पूर्ण प्रस्फुटित॥

तथा

(२) कहाँ गया अब शैशव का घुटनो बल चलना,
वह चन्दा के लिए मचलना ?
कहाँ छिपा लकड़ी का तू तू,
कहाँ भगा लाठी का घोड़ा।
वह कागज की नाव,
जिसे शिशु ने जीवन सागर में छोडा॥

प्रथम उदाहरण में तत्सम शब्दों के आदि, मध्य व अन्त मे सब जगह प्रयोग होने के कारण कठिनता आगई है परन्तु दूसरे उदाहरण में शैशव, जीवन-सागर आदि तत्सम शब्द प्रचलित हैं और यदि कठिन भी होते तो भी पंक्ति के अन्त के शब्दों के आग्रह से सन्तुलन आ जाता। अत ,'स्वर्णकिरण' की भाषा जटिल हो गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को स्वयं 'स्वर्णकिरण' की भाषा के अधिक जटिल होने का ज्ञान था अत उसने 'स्वर्णधूलि' में सरलता की प्रवृत्ति को अपनाया है। अनूदित पद्यों में कठिनता तो आती ही थी और वह आई भी है परन्तु मौलिक रचनाओं मे अपेक्षाकृत सरलता है परन्तु पन्तजी प्रचलित भाषा की शक्ति का अपनी कविता मे प्रयोग कर ही नही सकते अत 'स्वर्णकिरण' की भाषा में भी सजीवता व शक्ति का अभाव है। 'उत्तरा' की भाषा में तत्सम शब्दावली का प्रयोग कम हुआ है, 'उत्तरा' की भाषा प्रथम दोनों कृतियों से अधिक उपयुक्त है।

सब से बडा अन्तर जो पूर्ववर्ती कवि। व नवीन-काव्य का भाषा मे दिखाई पड़ता है वह है नवीन कविता मे लाक्षणिक प्रयोगों

का कम प्रयोग। 'चिर' जैसे शब्दों पर चैं-चैं करने वाले आलोचक यह नही बता पाते कि नवीन कविता मे यदि पुरानी शब्दावली को ही उधार लिया गया है तो पूर्ववर्ती-कविता की अभिव्यक्ति भिन्न क्यों दिखाई पड़ती है? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि नई कविता में कवि यद्यपि कठिन शब्दों का प्रयोग करता है परन्तु स्वर घोषणात्मक रहने से 'अभिधा' का अधिक प्रयोग करता है, 'लक्षणा' का कम। जहाँ भाव के समझने में कठिनाई आती है वह वर्ण्यवस्तु की कठिनता तथा शब्दों की प्रतीकात्मकता के कारण आई है और जहाँ-जहाँ प्रतीकात्मकता नही है वहाँ केवल शब्दों की कठिनाई रह जाती है। भाव के समझने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

मैंने स्वयं कहा है कि घोषणात्मकता कविता के लिए खतरनाक चीज है परन्तु उसके अधिक प्रयोग ने तथा प्रतीकात्समता के प्रति आग्रह अधिक होने से नई कविता की भाषा ने एक भिन्न रूप धारण कर लिया है। 'वर्ण्यवस्तु' के 'दर्शन' से अधिक सम्बन्ध रहने के कारण कवि को प्रतीक-पद्धति अपनानी पड़ी और इससे अभिव्यक्ति का रूप भिन्न हो गया। पल्लवकालीन काव्य में 'रूप' पर अधिक आग्रह है, नई कविता में 'रूप' के द्वारा 'अरूप' की ओर ले जाने पर तथा सिद्धान्तों की घोषणा पर अधिक ध्यान होने से भाषा का रूप भिन्न हो गया है। इस मूल अन्तर को न समझ कर 'चिर' शब्द की पुनरावृत्ति दिखा कर कोलाहल खड़ा करना व्यर्थ है, क्योंकि उससे भाषा का रूप समझ में नही आ सकता, जब तक कि आप पूर्ववर्ती कविता व नई कविता की अभिव्यक्ति को अलग करने वाले मुख्य कारणों की खोज नही करते। मै यह नही कहता कि पाद-पूर्ति के लिए एक शब्द की पुनरावृत्ति करना कोई अच्छी वस्तु है परन्तु व्रज-भाषा का शृङ्गार करने वाले कवि भी पाद-पूर्ति के लिए 'सु' 'जु' आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग करते है—देव, पद्माकर व मतिराम जैसे समर्थ कवि भी। तब क्या मार्क्सवाद यह कहता है कि उस 'सु' शब्द को लेकर आप सिसकारियाँ भरें या सीठियाँ बजाएँ और यह कहे कि देखो! अब मत कहना कि मार्क्सवादी कला का विवेचन नही करते। मार्क्सवाद का इस भोंड़ी उखाड़-पछाड़ से कोई सम्बन्ध नही है। 'मार्क्सवाद' साहित्य के प्रति जो दृष्टि देता है वह व्यापक दृष्टि है उसमें सङ्कीर्णता लाकर, समग्र दृष्टि से कला का विवेचन न कर, उसे

बदनाम करने का हिन्दी में बहुत प्रयत्न हुआ है, तभी उसके विरोधियों को यह अवसर मिलता है कि देखो तुम्हारे अमुक मार्क्सवाद के पुरोहित इस प्रकार की सतही और कुत्सित उखाड़-पछाड़ को ही 'आलोचना' कहते हैं। ऐसी प्रवृत्तियों का बराबर विरोध हुआ है और उसका प्रभाव भी सङ्कीर्णतावादियों पर दिखाई पड़ता है परन्तु आदत धीरे-धीरे छूटती है और यह भी आवश्यक नहीं कि वह बिल्कुल छूट ही जाय। हर्ष की बात यह है कि पाठक अब जानने लग गए हैं कि सनसनीवाद, कुत्सित समाजशास्त्र, सङ्कीर्णतावाद से मार्क्सवाद का कोई सम्बन्ध नहीं है, किसी भी सिद्धान्त को आप अपनी धरोहर मान कर उसे सङ्कीर्ण बना सकते हैं परन्तु इससे उस सिद्धान्त की कमजोरी प्रकट नहीं होती। भण्डाफोड़ तो उस व्यक्ति का ही होता है जो उसे सङ्कीर्ण बनाता है।

राजनीति के नेताओं की निरकुशता कवियों की निरंकुशता से साहित्य के लिए अधिक खतरनाक होती है क्योंकि ऐसे लोग 'नारेबाजी' को ही कविता मान लेते हैं, ऐसे लोगों की दृष्टि से पन्तजी की 'आध्यात्मिक नारेबाजी' को सर्वश्रेष्ठ कविता मान लेना चाहिए। क्योंकि कम्यूनिस्ट पार्टी की दस्तावेजों को पद्यबद्ध कर देने पर यदि कविता हो सकती है तो अध्यात्मवाद के सिद्धान्तों को भी पद्यबद्ध कर देने से श्रेष्ठ कविता अवश्य हो सकती है। इस प्रकार संकीर्णतावादियों का तर्क उनके ही विरुद्ध पड़ता है। हम किसी प्रकार की नारेबाजी को कविता नहीं मान सकते। किसी भी सत्य या सिद्धान्त को कविता का रूप तभी मिलता है जब वह हमारी भावना या कल्पना का लक्ष्य बनता है। यह बात जहाँ जहाँ मिलती है, वहाँ उसे कविता कहेंगे, चाहे वह अध्यात्म के क्षेत्र में हो या भौतिकवाद के, अन्यथा हम मार्क्सवाद के आधार पर सारे साहित्य का मूल्यांकन नहीं कर सकते और साहित्य को परखने की हमारी कसौटी अत्यन्त सकीर्ण अतः अनुपयोगी हो जायगी और तब सतत जागरूकता की ओर उन्मुख जनता हमें वैसे ही धिक्कारेगी जैसे हम प्रतिक्रियावादियों को आज धिक्कार रहे हैं। इस बात को नजरन्दाज करके बहुत से साथियों ने मार्क्सवाद का घोर अहित किया है, उसके वैज्ञानिक सिद्धान्तों का गलत प्रयोग किया है और व्यर्थ ही जनता में यह भ्रम फैल गया है कि मार्क्सवादी घोर

संकीर्णतावादी होते हैं, हमने इसी प्रवृत्ति से बहुत से ऐसे कवि कलाकारों को अपना विरोधी बनाया है जो अध्यात्मवादी होने पर भी भी जनता से प्यार करते हैं, यदि हम अध्यात्मवादी कवियों की सीमाओं का निर्देश कर उनके प्रगतिशील अंशों को भी उसी उत्साह से प्रकाश में लाते, निषेधवादी प्रवृत्ति न अपनाते तो आज मार्क्सवादी आलोचना के प्रति पाठक का रुख कुछ और ही होता। रूस और चीन में भी संकीर्णतावाद का घोर विरोध हुआ है परन्तु हमारे देश में यह प्रवृत्ति उस गति से विकसित नहीं हो पारही है, अत. मैंने कहा कि कवि की निरंकुशता तो आलोच्य है ही, परन्तु पार्टी के नेताओं की शोचनीय निरंकुशता यदि आलोच्य नहीं होती तो साहित्य के मन्दिर में 'मार्क्सवाद' के नाम पर गाली गलौज, आपाधापी, व्यक्तिगत आक्षेप, विद्रूप और अखाड़ेबाजी का कूड़ा बराबर बढ़ता जाएगा और आलोचना व सस्ती अखबारनवीसी में कोई अन्तर न रह जायगा।

स्वर्णधूलि

'स्वर्णधूलि' का कवि के शब्दों में सामाजिक धरातल है अर्थात् 'दर्शन' ने जो दृष्टि कवि को दी है यदि उसका व्यावहारिक जीवन में प्रयोग किया जाय तो उसका क्या परिणाम होगा, उससे व्यवहार का क्या रूप होगा, यह दिखाना कवि का उद्देश्य है। आप जानते हैं कि मार्क्सवाद के अनुसार विचार का परीक्षण व्यवहार की शिला पर होता है। हम कवि की विचारधारा को पाठकों के सम्मुख रख चुके हैं यहाँ यह देखना है कि कवि सिद्धान्तों को व्यवहार के रूप में किस पद्धति पर व्यक्त करता है, उससे उसकी कला के रूप पर क्या प्रभाव पड़ता है, क्या वह हमें व्यवहार विशेष के लिए विवश कर देता है? आदि आदि।

अनूदित रचनाओं को छोड़कर 'स्वर्णधूलि' की रचनाओं को हम इस प्रकार रख सकते हैं :—

सामाजिक कविताएँ—पतिता, परकीया, ग्रामीण, गणपति उत्सव।

सैद्धांतिक रचनाएँ—सामञ्जस्य, आजाद, लोक सत्य, स्वप्न-निर्मल, मृत्युञ्जय, आशंका, चौथी भूख, पैगम्बर, छाया, अन्तर्विकास, मुक्तिबंधन।

राष्ट्रीय—जन्मभूमि, १५ अगस्त १६४७।

आवाहन व अभिवादन से सम्बन्धित—युगागम, जातिमन, भावोन्मेष, आह्वान, नववधू के प्रति, कुण्ठित,

प्रतीकात्मक—काले बादल, राजभवन।

आलोचनात्मक—क्षण जीवी, मनुष्यत्व।

प्रकृति वर्णन—सावन, तालकुल।

मानसिक स्थितियों का वर्णन—हृदय तारुण्य, छायादर्पण दिवास्वप्न, प्राणाकांक्षा, अन्तर्लोक, स्वर्ग-अप्सरी।

विनय परक—प्रणाम।

अनूदित—ज्योति वृषभ आदि।

काव्य रूपक—मानसी।

उपर्युक्त विभाजन से स्पष्ट है कि अनूदित रचनाओं को छोड़कर कवि ने अधिकतर सैद्धांतिक व सामाजिक कविताएँ लिखी हैं। सामाजिक कविताओं में पतिता, परकीया, व ग्रामीण मुख्य हैं। समाज की एक समस्या यह है कि नारी की पवित्रता तो स्पर्श से नष्ट हो जाती है, ऐसा हम मानते हैं, परन्तु पुरुष कभी किसी भी दशा में अपवित्र नहीं होता अत. क्या पतिता नारियों के अपनाने में अध्यात्मवाद सहायक हो सकता है? पन्तजी का उत्तर है, हो सकता है। शरीर पर अत्याचार होने पर भी यदि नारी का मन पवित्र है तो वह पवित्र है, अतः पतिता का उद्धार धर्म के भी प्रतिकूल नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि क्या कवि इस सिद्धांत को मार्मिकता से प्रेषणीय बना सका है? उत्तर होगा, नहीं। क्योंकि 'अबला' के ऊपर जिस बलात्कार का वर्णन कवि करता है, वह कवित्व पूर्ण नहीं है क्योंकि कवि बलात्कार की स्थिति में अबला के आत्म-संताप का वर्णन नहीं करता, भावना के इस पक्ष को कवि स्पर्श करके ही छोड़ देता है और 'केशव' के द्वारा "मनुष्य मन से कलङ्कित होता है, तन से नहीं, तन तो वैसे ही कलुषित है", यह सिद्धान्त कहलवा कर चुप रह जाता है। 'पतिता' में न केशव के अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन है, न अबला के क्रन्दन का। अतः कोई भावना पाठक के हृदय में नहीं जगती, कोरे सिद्धान्त से वह परिचित हो जाता है। यही प्रवृत्ति अन्य सामाजिक कविताओं में मिलती है अतः ये कविताएँ किसी भावना-विशेष को न जगा कर सिद्धान्त विशेष से हमारा परिचय कराती है, अत. कला की दृष्टि से ये रचनाएँ निम्न-

कोटि की रचनाएँ है। सन्देश को कवि हमारी भावना का विषय नहीं बना पाता, वह उसे हमारे ऊपर जबरदस्ती लादता है। यह पद्धति समाज सुधारकों व नारेबाजों की है। राजनीति में नारेबाजी का महत्त्व अक्षुण्ण है, साहित्य में यह प्रवृत्ति अनुचित है। पन्तजी में इस प्रवृत्ति का प्रयोग बहुत ही बढ़ गया है इसलिए उनकी काव्य-कला में ह्रास दिखाई पड़ता है।

सैद्धान्तिक कविताओं में सामञ्जस्य, लोक-सत्य आदि रचनाएँ आती हैं। मैंने बार-बार कहा है कि पन्तजी का स्वर नई कविता मे घोषणात्मक है, या तो कवि संवेदना का स्वर प्रबल रखे या कल्पना के बल पर सुन्दर चित्रण करे, नए-नए चित्र उतारे, कविता आकर्षक बनी रहेगी अथवा बात ही इस ढङ्ग से कहे कि उसमें सूक्ति जैसा आनन्द आए (उर्दू में अकबर जैसे कवि प्रतिक्रियावादी विचारों को भी अपनी वाग्विदग्धता से आकर्षक बना देते थे) तो भी पाठक का मन कविता में रमा रहता है परन्तु जब कवि इन पद्धतियों को न अपनाकर अभिधावादी पद्धति पर निबन्धकार की तरह तथ्य-निर्देश करता चलता है तो कविता निबन्ध बन जाती है—स्वर्णधूलि की सभी सैद्धान्तिक कविताएँ इसी कोटि में आती हैं अतः कला की दृष्टि से इनका स्थान भी महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। 'सामञ्जस्य' कविता के अन्त में कवि कहता है—

> पङ्ख खोल सपने उड़ जाते,
> सत्य न बढ़ पाता गिन-गिन पग,
> सामञ्जस्य न यदि दोनों में,
> रखती मैं, क्या चल सकता जग ?

इस सन्देश के लिए कवि ने वस्तु-सत्य व भाव-सत्य का लिङ्ग-विपर्यय कर के इन्हें सखियों के रूप में दिखाया है, परन्तु इससे कुछ भी मार्मिकता उत्पन्न नहीं हो पाई।

परन्तु क्या विचारों का सौन्दर्य महत्त्वहीन है ? इसका उत्तर यह है कि विचारों का महत्त्व तो है ही, परन्तु विचार तो गद्य द्वारा भी व्यक्त हो सकते हैं, आखिर उन्हें छन्दों मे बाँधने के लिए आप क्यों व्याकुल हैं ? और यदि छन्दों में ही बाँधना चाहते हैं तो...

भावना का रङ्ग भरिए। इस ढङ्ग से कहिए कि पाठक प्रभावित हो उठें, तब आपका उद्देश्य सफल होगा, अन्यथा तो गद्य ही अच्छा क्योंकि उसमें तार्किक क्रम तो रह सकता है जो कविता में नहीं रह पाता, कोरा निर्णय रह जाता है। अत: विचारों को जीवन मे उतारने के लिए कविता की पद्धति भुला देना हानिकर है।

'नर्क में स्वर्ग' नामक बड़ी कविता में भी यही उपर्युक्त दोष आता है यद्यपि 'दुर्ग' का चित्रण जहाँ-तहाँ आकर्षक है। कवि 'क्षुधा' व 'सुधा' की भावनाओं को खुलकर व्यक्त नहीं करता, ऐसा लगता है, ये नारियाँ यन्त्रवत् कार्य करती हैं, मानव-हृदय के पारखी कवि इस पद्धति पर कभी नहीं चलते। विचार-पक्ष की सारी कमजोरी रहते हुए भी 'नर्क में स्वर्ग' कविता आकर्षक हो सकती थी, यदि कवि क्षुधा, सुधा की मानसिक स्थितियों का मुक्त होकर वर्णन करता और दूसरी ओर जनता के विक्षोभ, दुर्ग-सौन्दर्य आदि का चित्रण मुक्त हो कर करता, परन्तु कवि कथा या पात्र की कल्पना केवल सन्देश को निचोड़ने के लिए करता है, जीवन के भीतर से—परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव में गुजर कर 'सत्य' को नहीं आने देता, अतः 'नर्क में स्वर्ग' का प्रतीक कमजोर है। यदि जायसी 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' हजार बार कहते, पद्मावती, नागमती, रतनसेन आदि को व्यक्तित्व नहीं देते, नाना परिस्थितियों में डाल कर उनकी हार्दिक दशाओं का वर्णन न करते तो सारी प्रतीकात्मकता एक व्यंग्य बन कर रह जाती और 'पद्मावत' में इतनी मर्मस्पर्शिता कभी न आ पाती। परन्तु जीवन के प्रति सच्चाई के कारण हम पद्मावत में व्यक्त सूफी-दर्शन में विश्वास न करके भी उसके कवित्व की प्रशसा करते हैं, इसी प्रकार 'नर्क में स्वर्ग' के सन्देश से मतभेद रख कर भी हम उसकी प्रशसा करते यदि उसमे सौन्दर्य का स्पर्श भी होता।

एक और प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है कि चूँकि यहाँ 'क्षुधा' और 'सुधा' आन्तरिक वृत्तियों की प्रतीक हैं अत: कथा के माध्यम से कवि इनके कार्यों के वर्णन में क्या सफल नहीं हुआ? उत्तर होगा नहीं, क्योंकि वृत्तियों का वर्णन 'कामायनी' मे भी किया गया है। चिन्ता व लज्जा आदि का वर्णन वहाँ पढ कर 'नर्क में स्वर्ग' की वृत्तियों के वर्णन से मिलाइए, 'प्रसाद' व 'स्वर्णधूलि' के पन्त का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। हिन्दी मे वृत्तियों को सजीव व्यक्तित्व देने

में 'प्रसाद' ही सफल हो सके हैं अत उनका रूपकत्व भी सफल है और चित्रण भी, बाह्य वर्णन व संकेतित सत्य वहाँ एकाकार हो गए हैं। हम 'प्रसाद' जी के निर्णयों से सहमत न भी हों, तो भी उनकी कला से हम अवश्य प्रभावित होंगे। डा० देवराज की बात दूसरी है जिन्हें कामायनी मे कोई सौन्दर्य नही दिखाई पड़ता या कोरे भावना के उद्‌गारों के चित्रण को ही जो कविता मानते हैं, अर्थात् सर्वत्र रस-वादी मापदण्ड को ही लागू करना चाहते हैं उन्हें भी कामायनी तन्मय नही करती परन्तु जैसा मैंने कहा कि कल्पना, भावना और विचार तीनों का सामञ्जस्य हमें देखना चाहिए। हो सकता है कहीं भावना का अंश कम हो, तब कल्पना के आधार पर किए गए चित्रण उसके अभाव को भर देते हैं। अत कामायनी में प्रतीकात्मकता के रहने पर भी आकर्षण रहता है। 'नर्क और स्वर्ग' में यह बात नही मिलती।

'स्वर्णधूलि' की चित्रण-प्रधान रचनाओं को देखने पर प्रतीत होता है कि कवि की इधर प्रवृत्ति कम हुई है और जहाँ हुई भी है वहाँ वह केवल परम्परा का निर्वाह करता है। 'सावन' शीर्षक कविता का चित्र स्वाभाविक प्रतीत होता है—

झम, झम, झम मेघ बरसते हैं सावन के,
छम, छम, छम गिरती बूँदें तरुओं से छन के,
आँधी हर हर करती, दल मर्मर, तरु चर् चर्,
दिन रजनी 'औ' पाख बिना तारे शशि दिनकर।
पंखों से रे, फैले फैले ताड़ों के दल।
लम्बी लम्बी अंगुलियाँ हैं, चौड़े करतल॥
नाच रहे पागल हो ताली दे दे चल चल,
झूम झूम सिर नीम हिलाती सुख से विह्वल।
हर सिंगार झरते, बेला कलि बढ़ती पल पल,
हँसमुख हरियाली में खग कुल गाते मङ्गल।

'सावन' का यह चित्र स्वाभाविक है, सुन्दर है, परन्तु 'विकृति-वादियों' की दृष्टि केवल नीचे की पंक्तियों पर ही पड़ी—

दादुर टर टर करते, झिल्ली बजती झन झन।
म्यॉउ, म्याँऊ रे मोर, पीउ पिउ चातक के गण॥

'वारि की धार पकड़ कर झूलते हुए' कवि-मन को न देखकर

म्याऊँ, म्याऊँ सुन कर जिन्हें केवल बिल्लियों की याद आती है, उनकी सहृदयता की दाद देने के अलावा और क्या चारा है! मैंने पहले भी कहा है कि 'कुत्सित समाजशास्त्री' अपने मन का उद्धरण बीच कविता से चुन लेते हैं, पूरी कविता पर विचार नहीं करते अत उनका ध्यान केवल बिल्ली की म्याऊँ, म्याऊँ पर ही जाता है। किसी को मोर की म्याऊँ प्रिय है किसी को बिल्ली की, यह अपनी-अपनी रुचि की बात है!

एक और कविता है 'तालकुल'। पन्तजी ने सामान्य वस्तुओं में सौन्दर्य खोजा है, परन्तु केवल गन्दगी को सूँघते रहने वालों को इस कविता मे केवल 'कुकड़ूँ कूँ' ही अच्छी लगी—

संध्या का गहराया झुटपुट,
भीलों का सा धरे सिर मुकुट,
हरित चूड़ कुकड़ूँ कूँ कुक्कुट,
एक टाँग पर तुले, दीर्घतर,
पास खड़े तुम, लगते सुन्दर,
नारि केलि के हे पादप वर!
चक्राकार दलों से संकुल,
फैलाये तुम करतल वर्तुल,
मन्द पवन के सुख से कँप कँप,
देते कर मुख ताली थप-थप,
धन्य तुम्हारा उच्च ताल कुल।

इस कविता में ताल के वृक्ष के ऊपरी भाग को भील के मुकुट से उपमा देकर, उसके आकार, पवन द्वारा उत्पन्न पत्तों की गति आदि का चित्रात्मक वर्णन है परन्तु इन बातों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किए बिना, यदि हम केवल कुकड़ूँ कूँ पढ़कर वैसी ही आवाज में दूसरों की नींद खराब करने लग जायँ तो उसका न्याय तो पाठक ही करेंगे। पन्तजी के साथ ऐसा अन्याय एक जगह नहीं, कई जगह हुआ है।

नई कविता में यद्यपि पूर्ववर्ती कविता की तरह सुन्दर व विशद चित्रण नहीं मिलते परन्तु छोटे-छोटे चित्र अच्छी संख्या मे बराबर मिलते हैं, कहीं-कहीं बड़े बड़े चित्र भी मिलते हैं। काव्य-रूपकों तक में कवि ने चित्रण-कला का साथ नहीं छोड़ा है, यदि इन चित्रणों को

नई कविता से निकाल दें तो वह केवल सिद्धान्तों की समष्टि रह जायगी अत: नवीन कविता में इन चित्रों का महत्व हमें विस्मृत न कर देना चाहिए। मैंने कहा है कि कवि प्रकृति को अब भी जब तब तटस्थ दृष्टि से देखकर उसके सौन्दर्य को अङ्कित करता है और आध्यात्मिक प्रकाश डाल कर उत्पन्न नवीन सौन्दर्य का चित्रण तो वह बराबर करता ही है। "स्वर्ण धूलि" में ऐसे चित्र कम हैं परन्तु स्वर्णकिरण, उत्तरा, अतिमा तथा काव्य-रूपकों मे ऐसे चित्रों की संख्या बहुत है।[1]

एक स्थान पर नारी के स्थूल शरीर का अङ्कन भी स्वर्णधूलि में मिलता है (देखिए नव वधू के प्रति) परन्तु पन्त जी के काव्य में पत्नी व वधू से सम्बन्धित कई कविताएँ हैं। उनके तुलनात्मक अध्ययन में 'स्वर्णधूलि' की इस कविता का महत्त्व नगण्य ही होगा, यह नि:संकोच कहा जा सकता है।

'उत्तरा' मे जिन मानसिक स्थितियों का अधिक गहराई से वर्णन हुआ है, उनमें से कुछ एक का "स्वर्णधूलि" में भी वर्णन मिलता है यथा "छाया-दर्पण" में—

यह मेरा दर्पण चिर मोहित।
जीवन के गोपन रहस्य सब
इसमें होते शब्द तरङ्गित

[1] कवि ने प्रकृति के सुन्दर प्रतीत होने का कारण भी बतलाया है।

विहगों का मधुर स्वर
हृदय क्यों लेता हर
क्यों चपल जल लहर
तन में भरती सिहर!
तुमसे
यह विरोध वारिधि मग
शूल फूल सँग प्रतिपग
लगता प्रिय-मधुर सुभग
तुमसे!

पूर्ववर्ती प्रकृति वर्णन में प्रकृति स्वतन्त्र रूप से भी सुन्दर प्रतीत होती हैं, परन्तु अब उस प्रवृत्ति के साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टि की प्रधानता हो गई है।

कितने स्वर्गिक स्वप्न शिखर
माया की प्रिय घाटियाँ मनोरम
इसमें जगते इन्द्र धनुष से
कितने रङ्गों के प्रकाश तम

अंतर्मुखी प्रवृत्ति के जागृत होजाने से कवि जब अंतस् की खोज बीन करता है और प्रकृति की महान कुशलता का परिचय पाता है तो विस्मित हो उठता है। प्रेरणा का यही स्रोत एक मात्र हृदय है, इसी में सहसा अप्रत्याशित विचार व भाव जन्म लेते हैं—(दीख रहा उगता इसमें, मानव भविष्य का आनन) अंतर्लोक मे भी इसी प्रकार के विस्मय की भावना के साथ अंतःकरण का वर्णन किया गया है।

विनय परक कविताओं मे कवि की श्रद्धामूलक अभिव्यक्तियाँ हैं अतः उन्हें हम छोड़ सकते हैं। कवि संसार के दु.ख से दुखी है इसमें किसी को संदेह नही हो सकता परन्तु उस दु.ख के दूर करने के लिए उपायों के चयन मे कवि गलती करता है। अत. साधनात्मकता को ही वह रोग-शोक का नाशकारक मान लेता है। परन्तु जगत के प्रति प्यार होने के कारण आर्द्र हो जाता है और स्वयं कहता है कि कवि को अध्यात्म का सम्बन्ध जीवन से जोड़ना चाहिए। 'मुक्ति-बन्धन' कविता की ये पंक्तियाँ देखिए और तब निर्णय कीजिए कि चुन चुन कर नई कविता के दोषों को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने वालों की दृष्टि से कैसी कैसी सुन्दर कविताएँ छूट गई हैं—

क्यों तुमने निज विहग गीत को
दिया न जग का दाना पानी
आज आर्त अन्तर से उसके
उठती करुणा कातर वाणी
शोभा के स्वर्णिम पिंजर में
उसके प्राणों को बन्दी कर
तुमने क्यों उसके जीवन की
जीव मुक्ति ली पल भर में हर
उड़ता होता क्या न गगन में
चुगता होता दाने भू पर

अपना उसे बनाने तुमने
लिए जीव के पंख ही कुतर।

इस प्रकार कवि की संवेदना, संदेश व सफल अभिव्यक्ति को उपस्थित करने वाली रचनाएँ भी 'स्वर्णधूलि' में मिलती हैं। यदि कवि एक ओर 'आओ प्रभु के द्वार' कह कर जनता को परावलम्बन सिखाता है तो दूसरी ओर वह स्वयं जीवन से कला का सम्बन्ध भी दिखाता है। अतः घोर अध्यात्मवादी कवि भी जब जीवन को देखता है तो उसका निषेध नही कर पाता, उसकी संवेदना ही उसे ऐसा उदार बनने के लिए विवश करती है तभी तुलसी बहुत से प्रतिक्रियावादी विचारों के रहते हुए भी अपनी सवेदना का, अपनी उदारता का भाग सभी को बाँटते हैं, यद्यपि वे जगत को मूलत' मायात्मक मानते हैं। इसी प्रकार पन्तजी जहाँ विचारक के रूप में आते हैं, हम उनका घोर विरोध करते हैं क्योंकि ज़गत के दु:ख से पीड़ित होने पर भी उनका निदान गलत है। परन्तु कवि अपने दृष्टिकोण से देखने पर हृदय की सहज उदारता वश जीवन का निषेध कर ही नही सकता। इसीलिए एक ओर 'आओ प्रभु के द्वार' जैसे गीत हैं, और दूसरी ओर जग से दाना पानी न लेने पर कवियों को फटकारा भी गया है। और सच्ची बात यह है कि 'आओ प्रभु के द्वार' आदि पंक्तियों के नीचे जनता का दर्द ही तो छिपा है। यह बात दूसरी है कि कवि अध्यात्मवाद के चश्मे के कारण उस दर्द की दवा नही खोज पाता और अध्यात्मवाद के कारण जो दवा बताता है उससे जनता का हित हो नही पाता। जनता के दु:खदाताओं के विरुद्ध जगने वाली जनता का असंतोष और कम हो जाता है और परिणाम यह होता है कि वह दर्द टलता जाता है, और दु:खदाता आनन्द करते रहते हैं। अतः पन्त जी के द्वारा बताई गई 'दवा' की कठोर से कठोर आलोचना आवश्यक है परन्तु इसका अर्थ यह नही कि पन्तजी के हृदय में वस्तुतः दु:ख दूर करने की भावना नही है। क्योंकि 'दर्द' का स्वाँगभर कर 'मुक्ति बन्धन' जैसी कविता नहीं लिखी जा सकती।

इस प्रकार 'स्वर्णकिरण' में सावन, मुक्ति बंधन आदि कुछ कविताएँ आकर्षक हैं परन्तु यदि हम समग्र दृष्टि से उस संग्रह पर विचार करे तो कुछ बहुत प्रीति कर प्रभाव हमारे मन पर नही पड़ता। 'स्वर्ण किरण' में कम से कम स्वर्ण-किरणे डाल डाल कर हिमाद्रि,

ऊषा आदि के सौन्दर्य को विशद चित्र पट पर अंकित तो भी किया गया है, वहाँ कल्पना की भव्यता अधिक है अत 'स्वर्ण किरण' की अभिव्यक्ति सरल और सीधी होने पर भी उसका स्थान स्वर्णधूलि, उत्तरा, अतिमा के बाद ही निर्धारित होना चाहिए।

उत्तरा

'उत्तरा' का प्रकाशन काल १६४६ व युगान्तर का १६४८ है। 'युगान्तर' में प्रार्थना-परक रचनाओं को छोड़कर कुछ नवीन कविताएँ भी हैं, जो 'उत्तरा' की रचनाओं से सादृश्य रखती हैं। अत 'उत्तरा' के गीतों के ही साथ उन पर विचार किया जा सकता है। विनय-परक रचनाओं पर एक साथ आगे हम विचार करेंगे।

'उत्तरा' शब्द से यह व्यंजित होता है कि इसमें उत्तर काल की रचनाएँ संग्रहीत हैं। पं० शान्ति प्रिय द्विवेदी ने विंश शताब्दी के उत्तरकाल की रचनाओं का सग्रह, ऐसा अर्थ लिया है। यह नाम बड़ा ही सार्थक है। पूर्ववर्ती काव्य-धारा के पश्चात् १६४० से जो प्रवृत्ति कवि ने अपनाई, उसका रूप वस्तुतः 'उत्तरा' में पूर्ण होता हुआ दिखाई पड़ता है। स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि और युगान्तर की अनेक रचनाओं के पश्चात् की रचनाओं को यदि कवि "उत्तरवर्ती" कहे तो उचित ही है। उत्तरवर्ती रचनाओं का 'उत्तरा' ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करती है।

'उत्तरा' का महत्त्व उसकी रचनाओं से इतना शायद न होता जितना उसकी "भूमिका" से हो गया है। पन्त जी ने इस भूमिका में विस्तार से अपनी विचारधारा के औचित्य और उपयोगिता पर विचार किया है और अरविन्द-दर्शन से प्राप्त दृष्टि से अपनी पूर्ववर्ती विचारधारा का विहगावलोकन किया है। हम उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट कर चुके हैं और उसके औचित्य अनौचित्य की भी चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हमें 'उत्तरा' की काव्य-कला पर विचार करना है और यह देखना है कि क्या 'स्वर्ण-किरण' का कवि इस कृति में बराबर विकास के पथ पर बढ़ा है, या प्रथम कृति में ही चरम सीमा उपस्थित होकर ह्रास की ओर अग्रसर होगया है। वस्तुत. इस कथन का अभिप्राय तो यही है कि अब तक लिखी जा चुकी रचनाओं में क्या कवि बराबर विकास करता गया है? हमारा यह तात्पर्य नहीं कि

भविष्य मे लिखी जाने वाली रचनाओं की चिंता न कर हम नई कविता मे प्राप्त चरम सीमा की खोज करने लगें। जब कवि अभी क्रियाशील है तो कौन कह सकता है कि उसके आगे की कृति का स्वरूप क्या होगा अत हम प्राप्त रचनाओं में ही अपने को सीमित रखेंगे। वैसे यह युग भविष्य-द्रष्टाओं का है। आज भविष्य के सम्बन्ध में जितनी घोषणाएँ होती हैं उतनी शायद आर्यभट्ट और वाराह मिहिर के समय भी शायद-ही होती हों। अस्तु

कवि के अनुसार उत्तरा में कुछ प्रतीकात्मक, कुछ युग जीवन सम्बन्धी, कुछ प्रकृति सम्बन्धी तथा कुछ वियोग शृङ्गार सबंधी रचनाएँ हैं। कुछ प्रार्थना-परक गीत हैं। कवि ने लिखा है "उत्तरा के छन्दों में मैंने उपयुक्त विचारों तथा प्रेरणाओं को वाणी देने का प्रयत्न किया है, जो मेरी भावना के भी अंग हैं" अर्थात् उत्तरा में विषय की दृष्टि से विशिष्टता चाहे न हो, भावनात्मकता एक ऐसा तत्त्व है जो उसमें अधिक है, किन्तु 'उत्तरा' की कविताओं मे भावना के अभाव की पाठक जब शिकायत करता है तब यह समझना चाहिए कि 'उत्तरा' मे केवल स्वर्ण किरण व स्वर्णधूलि से भावना अधिक मात्रा में मिलती है। ऐसा ही कवि का तात्पर्य भी है।

दूसरी विशेषता उत्तरा की भाषा के सम्वन्ध में कवि यह बताता है कि उसकी भाषा 'स्वर्णकिरण' की भाषा से सरल है। इतना मेरी ओर से कि उत्तरा की भाषा 'स्वर्णधूलि' की भाषा से जटिल है। कवि की इतनी बात आपके आगे रखकर अब मैं अपने विवेचन को प्रस्तुत करता हूँ—

उत्तरा के गीतों का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए—

प्रार्थनापरक—जगतघन, युगदान, जीवनदान, नमन, वन्दना, मानव, ईश्वर, स्तवन, प्रणति, रङ्ग-मङ्गल।

चिन्तनप्रधान—युग संघर्ष, नव-पावक, जीवन-कोंपल, सत्य, युगमन, फूलज्वाल, स्मृति।

आवाहान और प्रोत्साहन सम्बन्धी—नव मानव, जागरण-गान, उद्बोधन, मौनसृजन, भू वीणा, परिणय, आह्वान, अवगाहन।

प्रतीकात्मक—अन्तर्व्यथा, उन्मेष, आगमन, मेघों के पर्वत, जीवन-उत्सव, भू यौवन, भू जीवन, मौन गुञ्जन, निर्माण काल, आवाहन, प्रीति, ममता।

भाव-प्रधान—युगविषाद, प्रगति, उद्दीपन, अनुभूति, गीत-विभव, वैदेही, अभिलाष।

गूढ़ मानसिक स्थितियों का चित्रण—स्वप्नक्रांत, उन्मेष, मनोमय, काव्य-चेतना, सम्मोहन, हृदय चेतना, स्वर्ण विभा, भू स्वर्ग, शोभा क्षण, स्वप्न वैभव, छाया-सरिता, सवेदन, आभा-स्पर्श, प्रीति-समर्पण, प्रतीक्षा, अमर्त्य, मुक्ति क्षण।

प्रकृति वर्णन—शरदागम, शरद-चेतना, चन्द्रमुखी, शरदश्री, जीवन-प्रभात, वनश्री, वसंत।

उपर्युक्त विभाजन कविताओं के प्रकार को ध्यान में रखकर किया गया है। विषय वस्तु एक ही होने पर सैद्धातिक, भावात्मक तथा चित्रण-प्रधान ये तीन मोटे वर्गों में हम सारी कविताओं को रख सकते है और शैली की दृष्टि से प्रायः अधिकतर कविताएँ प्रतीकात्मक व अप्रतीकात्मक इन वर्गों में रखी जा सकती हैं। परन्तु प्रकारों की दृष्टि से उपर्युक्त विभाजन मुझे उपयुक्त लगता है। भाव प्रधान व मानसिक स्थिति प्रधान यह विभाजन इसलिए है कि भाव प्रधान कविताओं में मुक्त होकर कवि किसी भाव के उद्गारों का वर्णन करता है, परन्तु जहाँ कवि मन की अतल गहराइयों में उतरता है, योगियों जैसे अनुभवों का वर्णन करता है, उसे न स्थायीभाव कहा जा सकता है, न सञ्चारी। अत. उसे मैंने अलग रखा है, और उत्तरा मे जैसा कि उपर्युक्त विभाजन से स्पष्ट है, ऐसी ही कविताओं की प्रधानता है। 'उत्तरा' प्रतीक पद्धति पर गूढ़ मानसिक स्थितियों व आध्यात्मिक अनुभवों का चित्रण करती है। प्रकृति वर्णन हो या प्रार्थना, आवाहन हो या प्रोत्साहन, या उपदेश देने की प्रवृत्ति हो, सर्वत्र आपको दो बातें उत्तरा में मुख्य मिलेंगी—प्रतीकात्मकता और मन की गहराइयों का चित्रण। स्वर्ण किरण की सिद्धांतवादिता यहाँ कम हो गई है, यद्यपि वह है अवश्य। स्वर्ण धूलि की तरह कवि यहाँ अपना समय इधर उधर की बातों में नष्ट नहीं करना चाहता। यहाँ वह भावना के जगत में अपनी प्रेरणाएँ व अनुभव उतारना चाहता है, वह चाहता है कि पाठक उसके आराध्य को उसकी इष्ट अनुभूतियों को अपना लें, अपने जीवन का अग बनालें। उस अंतर्जगत की ओर ध्यान दे, जिसे हम चेतन-मन की वाधा के कारण अब तक नही जानते

थे। उस सौन्दर्य की ओर ध्यान दें, जो इस नूतन दृष्टि को स्वीकार कर लेने से उत्पन्न होता है। 'उत्तरा' का संक्षेप में यही उद्देश्य है।

चिंतन प्रधान रचनाएँ—मैंने कहा है कि पन्तजी की नूतन काव्य कला में सिद्धान्तवादिता अधिक आगई है, 'स्वर्ण किरण' में वह सबसे अधिक मात्रा में दिखाई पड़ती हैं। 'इन्द्र धनुष' 'ऊषा' जैसे विषयों पर लिखते हुए कवि चित्रण को छोड़कर तथा आंदोलित चेतना के आरोह, अवरोह, घात प्रतिघात की उपेक्षा कर, व्याख्याकार या दार्शनिक की पद्धति अपनाता है। 'उत्तरा' में सिद्धान्तवादिता उतनी मात्रा में तो नहीं मिलती परन्तु वह पर्याप्त मात्रा में यहाँ विद्यमान है। यहाँ कवि ये पद्धतियाँ अपनाता है-(१) प्रत्यक्ष पद्धति पर सिद्धान्तों की व्याख्या करता है, (२) प्रतीक-पद्धति को अपनाकर अपनी विचारधारा को व्यंजित करता है, (३) वर्तमान युग की दशा का वर्णन कर, अपनी प्रिय विचारधारा की अनिवार्यता की ओर संकेत करता है। प्रतीकात्मकता को हम आगे स्पष्ट करेंगे परन्तु प्रथम व तृतीय पद्धतियाँ अलग अलग एक ही रचना में संयुक्तावस्था मे भी दिखाई पड़ती हैं। उदाहरण के किए "युग-संघर्ष" में आज की वस्तु स्थिति बताकर कवि अपने सिद्धान्त को व्यक्त करता है। व्यक्ति जब समाज के उत्थान-पतनों को तटस्थ होकर घटनाओं के आधार पर देखता है तो निर्णय एक प्रकार के मिलते हैं (यथा मार्क्स के) तथा जब वह अपनी वर्तमान मानसिक स्थिति के अनुसार इतिहास को देखता है, तो उसके निर्णय दूसरे प्रकार के हो जाते हैं (यथा अरविन्द के)। मजदूर-धनिक द्वन्द्व में तटस्थ इतिहासकार वर्ग-संघर्ष को देखता है, व्यक्तिगत लोभ लालच नही परन्तु सांसारिक स्तर से ऊँचे उठे हुए योगी उस संघर्ष का मुख्य कारण केवल राग-द्वेष को ही मानते हैं—

उसका जागृत मन करता दिग् घोषण
अंतर्मानव का यह युग संघर्षण
शोषक हैं इस ओर, उधर हैं शोषित
वाह्य चेतना के प्रतीक जो निश्चित
धनिकों श्रमिकों का स्वरूप धर वाहर
ह्रास शक्तियाँ आत्म नाशहित तत्पर

यह सिद्धान्त एक योगी का है जो अपनी मानसिक स्थिति के अनुसार तथ्यों की व्याख्या करता है, तटस्थ होकर घटनाओं का

निर्णय नहीं देता। इस प्रकार की व्याख्याएँ आपको यत्र-तत्र उत्तरा में अनेक मिलेंगी। इस प्रकार की कविताओं में कवित्व इतना ही है कि वस्तु स्थिति का चित्रण जहाँ तहाँ सिद्धान्तों के साथ साथ ही साथ मिलता चलता है परन्तु सिद्धान्तवाद का स्वर इन कविताओं में इतना अधिक है और एक सिद्धान्त की इतनी अधिक पुनरावृति होती है कि पाठक के मन में विरक्ति जागृत हो जाती है। अतः ऐसी कविताओं में "पद्यबद्ध तथ्य-निर्देशन" अधिक होता है और इसलिए अपेक्षित प्रभाव नहीं उत्पन्न हो पाता। किन्तु सिद्धान्तों के बीच-बीच में ऐसी पंक्तियाँ कुछ संतुलन अवश्य ला देती हैं—

महा सृजन की तड़ित टूटती दु:सह
अन्धकार भू का विदीर्ण कर दुर्वह।
युग युग की जड़ता कँप उठती थर थर
आज स्वप्न प्रज्वलित चकित रे अन्तर।

मैंने पहले भी कहा है कि पन्त के नूतन काव्य की नीरस रचनाओं में भी कुछ सरस पक्तियाँ बराबर मिलती हैं।

प्रश्न यह है कि उत्तरा की रचनाओं में सिद्धान्तों की व्याख्या तो कवि पग-पग पर करता चलता है, पर विभिन्न विचारों व व्याख्याओं में कवि सबसे अधिक ध्यान किस बात पर देता है, कवि के चिन्तन का केन्द्र विन्दु क्या है ? क्या कवि 'उत्तरा' में प्रश्न उठाकर उनके समाधान में अपने तर्क देता है, या विचारधारा में से एक बात या कुछ एक बातों पर ध्यान केन्द्रित करता है ? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि कवि 'अंतश्चेतना' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है, 'स्वर्णकिरण' में यह केन्द्रीकरण उस मात्रा में नहीं मिलता; जितना उत्तरा में मिलता है। 'स्वर्णकिरण चूंकि प्रथम रचना थी अत' कवि वहाँ अपने दर्शन के कई पक्षों को समझाता है, 'उत्तरा' में उन सारे पक्षों की ओर केवल संकेत मिलते है। मतलब यह है कि 'उत्तरा' को समझने के लिए आप उन सब सिद्धान्तों से यदि परिचित हों तो अधिक अच्छा है, परन्तु 'उत्तरा' में कवि अपना ध्यान 'अन्तश्चेतना' पर अधिक केन्द्रित करता है अत. सर्वत्र वह अन्तश्चेतना की स्थिति, उसके स्रोत, ऊर्ध्व-चेतन से उतर कर पार्थिव मन में आने की उसकी गति व प्रक्रिया, उसके आभास, उसकी अनुभूति के पश्चात् उत्पन्न होने वाले विभिन्न अनुभव, उसकी प्रतीति के पश्चात् मन के स्थूल धरातलों

व बाह्य पदार्थों को एक नूतन दृष्टि से देख-देखकर अनेक भावनाओं का वर्णन अधिक करता है अत: सिद्धान्तों की घोषणाओं को एकता के सूत्र में बाँधने वाली डोरी अन्तश्चेतना है। इस अन्तश्चेतना के ही आस-पास रह कर कवि विभिन्न प्रेरणाओं, स्फुरणाओ तथा भावनाओं का वर्णन करता है और जो विचारक इसे नही मानते उनके प्रति क्षोभ प्रकट करता है। इसी अन्तश्चेतना के स्तर पर रह कर, वह प्रकृति की वस्तुओं को देखता है। जागृत मन की अवस्था मे पदार्थ का जो स्वरूप हम देखते हैं, वह उस स्वरूप से भिन्न होता है जिसे हम अन्तश्चेतना के स्तर से देखते हैं। मानसिक स्थिति के अनुसार पदार्थ का रूप बदल जाता है अत. गूढ़ और अव्यक्त मानसिक स्तरों में उतर कर वही से कवि जगत, जीवन व संघर्षों पर विचार करता है । यदि उस प्रकार की मानसिक स्थिति की कल्पना आप नही कर सकते तो 'उत्तरा' की कविताएँ दुर्बोध हो जाती हैं। पन्तजी की पूर्ववर्ती कविताओं के सौन्दर्य के लिए केवल कल्पना की आवश्यकता है परन्तु 'उत्तरा' की कविताओं के लिए विभिन्न व्याख्याओं, तथा सिद्धान्तों में एकता उत्पन्न करने वाली अंतश्चेतनात्मक मानसिक स्थिति (Intuitive Mentality) की आवश्यकता है। कवि कही भी इस मानसिक स्थिति से नीचे उतर कर किसी तथ्य पर विचार नही करना चाहता, सत्य की पहचान करने के लिए वार वार वह इसी मानसिक स्थिति पर आने के लिए निमंत्रण देता है। यही मानसिक स्थिति उसे विरोधों में अविरोध, अनेकता में एकता, द्वन्द्वों मे निर्द्वन्द्वता, अस्थिरता में स्थिरता, ऐन्द्रिकता में अतीन्द्रियता की शिक्षा देती है। यही मानसिक स्थिति उसे उत्तेजित नही होने देती, उसे चिन्तनात्मक मुद्रा में रखती है, और इसलिए 'उत्तरा' में इसी अतश्चेतना के अभिवादन आमंत्रण के गीत भरे पड़े हैं। इसी मानसिक स्थिति में रहकर कवि जिन विचित्र अनुभवों को प्राप्त करता है उन्हें भी व्यक्त करता है। स्पष्ट है इस प्रकार के अनुभवों को स्पष्ट नही कहा जा सकता अतः कवि प्रतीकों को अपनाता है, आंतरिक जगत को समझाने के लिए वाह्य जगत का प्रयोग करता है। 'उत्तरा' की रचनाओं में इसीलिए गूढ-मानसिक स्थितियों का चित्रण अन्य सब रचनाओं से अधिक हो गया है।

हमने 'उत्तरा' के केन्द्रीभूत तत्त्व को पहचान लिया परन्तु अब यह देखना है कि जब अन्तश्चेतना का स्तर चेतन व अवचेतन मन के ऊपर का स्तर है और कवि अपनी उद्भट कल्पना से उस स्थिति की कल्पना करके अपना काम चला लेता है तो काव्य-कला के साथ अंतश्चेतना द्वारा उत्पन्न सौन्दर्य से उसका विरोध तो नहीं होता ? मैंने पहले भी कहा है कि अरविन्द ने योग-साधना में मन की जिन गहराइयों का पता लगाया है, पन्तजी उन तक कल्पना के द्वारा पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। यह ठीक है कि पन्तजी उन स्थितियों का साक्षात् अनुभव नहीं कर पाते जिनका अनुभव योगियों को होता होगा और इसीलिए उनकी कविता में मन से कुछ ही ऊपर की स्थितियों का वर्णन मिलता है। इस कमी को तब पन्तजी अन्तश्चेतना के प्रभाव के वर्णन के द्वारा पूरा करते है परन्तु फिर भी वह जिस स्थिति में रह कर कविता लिखते हैं वह सामान्य भाव-भूमि से ऊपर की चीज है तब क्या उससे विरोध तो नहीं उत्पन्न होता ? क्या उन विचित्र अनुभवों का सामान्य भावनात्मक अनुभवों से कोई सम्बन्ध हो सकता है ? उत्तर होगा कि कवि यदि मन के ऊपरी सोपानों के अनुभवों का वर्णन करता है तो उनका सामान्य भावनाओं से मुख्य सम्बन्ध नहीं होता, गौण सम्बन्ध हो सकता है परन्तु यह गौण सम्बन्ध भी सामान्य व्यक्ति का नहीं हो सकता इसीलिए रहस्यवादी कवि सामान्य भावनाओं से असामान्य अनुभवों का साक्षात और मुख्य सम्बन्ध जोड़ने के लिए सामान्य भावनाओं में से प्रबलतम 'रति भावना' को कथन का माध्यम बनाते थे। आत्मा के विरह को सभी अनुभव नहीं करते परन्तु जब आत्मा का विरह या आराध्य के आभासों का रहस्यदर्शी कवि लौकिक प्रेम के द्वारा पूर्णत लौकिक रीति से वर्णन करते थे तो विचित्र व असामान्य अनुभवों का साधारणीकरण हो जाता था। इसीलिए आस्तिक-नास्तिक सभी पाठकों को रहस्यदर्शी कवियों के अध्यात्मवादी काव्य में आज भी आनन्द मिलता है। उनकी कविता में ब्रह्म, जीव, जगत के दार्शनिक द्वन्द्वों व विवादों के चित्रण प्रभावित नहीं करते अपितु 'कवि-साधक' के आन्तरिक जगत के मन्थन का।पूर्ण अनुभव हमे प्रभावित करता है, कबीर, मीरा आदि कवियों की रचनाएँ इसीलिए हमारे जीवन का अङ्ग बन गई है। खेद है कि पन्तजी यह पद्धति इन रचनाओं में नहीं

अपनाते। वे मन के ऊपर के सोपानों पर खड़े हो कर वहीं से जीव और जीवन का, जगत और उनके सङ्घर्षों का विहगावलोकन करते हैं और तथ्यों की घोषणा भी करते हैं जो या तो दार्शनिक का कार्य है या सुधारक का। अत पन्तजी की चिन्तन व मानसिक स्थिति प्रधान रचनाओं में सामान्य व असामान्य भावनाओं का गौण सम्वन्ध साक्षात् नहीं वन पाया, इसीलिए उनकी रचनाएँ दार्शनिक, घोपणात्मक अधिक होगई हैं, भावनात्मक कम। अत. उनका काव्य रहस्यवाद चिन्तनात्मक है, और तभी वह मर्मस्पर्शी नहीं वन सका।

परन्तु फिर भी एक प्रश्न उठता है कि यदि पन्त जी चिन्तनात्मक रहस्यवादी हैं तो सर्वत्र तो वे तथ्यों की घोषणा नहीं करते, अनेक रचनाओं में वे प्रतीक पद्धति भी अपनाते हैं और प्रतीकों के द्वारा सूक्ष्म सत्य की व्यंजना होने पर पाठक की कल्पना जागृत होजाती है क्योंकि मन में आने वाले प्रकाश को यदि कवि इस प्रकार कहे कि "मेघों में विजली चमक रही है" तो शीघ्र ही पाठक उसे हृदयंगम् कर सकता है। अत. प्रतीकात्मक कविताएँ तो कवित्व की दृष्टि से भी उच्च कोटि की होनी चाहिए। इसका उत्तर मैं दे चुका हूँ कि प्रतीक में संश्लिष्टता होनी चाहिए, ताकि आतरिक मन की स्थिति स्पष्ट हो सके, किन्तु यदि कवि सत्य की ओर संकेत करने के लिए संवेदना जगाने वाली प्रतीकात्मकता को न अपना कर, 'कवीर' के रूपकों के समान पहेली खड़ा करता है तो सारी प्रक्रिया जटिल हो जाती है। यह प्रसन्नता की वात है कि पन्त जी ने 'उत्तरा' में "पहेली-पद्धति" को कम अपनाया है यद्यपि उसका प्रयोग मिलता है। अत जहाँ मन की स्थिति की कल्पना में सहायक प्रतीकों को ग्रहण किया गया है और इनमें सवेदना भरी गई है वहाँ कवि की रहस्यवादी कविताएँ सफल हुई हैं।

तीसरे प्रकार की कविताओं मे प्रकृति वर्णन सम्बन्धी कविताएँ हैं। इनमे पूर्ववर्ती व परवर्ती दोनों प्रवृत्तियाँ साथ-साथ मिलती हैं। वस्तु को उसके सारे आकर्पण के साथ वस्तु के रूप में, प्रतीक के रूप में, तथा सत्य निर्देशिका के रूप में भी अपनाया गया है। इस प्रकार की कविताएँ उत्तरा मे अत्यधिक सफल हुई हैं।

चतुर्थ प्रकार की रचनाएँ आत्म निवेदन से सम्बन्धित हैं। वे हमारी भावना से सीधा सम्बन्ध रखती हैं, परन्तु इस प्रकार की रचनाएँ कम हैं। अधिकतर रचनाएँ दर्शन व रहस्यवाद से सम्बन्धित हैं। हमने सैद्धांतिक रचनाओं के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर दिया है। अब उन रचनाओं को ले जिनमें कवि ने केन्द्रीभूत अंतश्चेतना की स्थिति मे विभिन्न गूढ अनुभवों को व्यक्त किया है। इसके साथ-साथ हम प्रतीकात्मक रचनाओं का भी अध्ययन साथ-साथ प्रस्तुत करें तो अधिक सुविधा होगी। अत हम सर्व प्रथम कवि के प्रतीकों को स्पष्ट करेंगे और उसके बाद कवि की गूढ़ मानसिक स्थितियों पर। कहना न होगा कि अत्यधिक गूढ़ स्थितियों से कवि हमारा साक्षात् सम्बन्ध नही स्थापित कर पाता अत इस प्रकार की कविताएँ केवल कुछ पाठकों के लिए ही आनन्ददायिनी हो सकती हैं। हाँ, भविष्य में यदि भावना के स्थान पर बुद्धि ही रह जाय, तो बात दूसरी है।

उत्तरा में प्रयुक्त प्रतीकों का स्पष्टीकरण

उत्तरा—शूल—सांसारिक कष्ट
फूल—आन्तरिक आनन्द
युग-विषाद—मेघ—स्थूल ऐहिक इच्छा-जगत
ज्वाला—अन्तश्चेतना
युग छाया—शोणित—अन्तश्चेतना से जन्य आन्तरिक अनुराग की लालिमा
स्वप्न क्रान्ति—स्वप्न—आध्यात्मिक अनुभव, भविष्य में आगामी आध्यात्मिक युग की कल्पनाएँ
बादल—भौतिक जगत, (Surface-mind) द्वन्द्वों से युक्त बाह्य मन का स्तर
सांझ—स्वप्न
स्वर्ण—अन्तश्चेतना से जन्य सौन्दर्य-वैभव
जगतघन—जगतघन—बाह्य मन का स्तर
तम—भौतिक जीवन, सशय, कोरा बुद्धिवाद, नास्तिकता, भोगवादी प्रवृत्तियाँ, केवल बाह्य समता आदि

अन्तर्व्यथा—ज्योति—अन्तश्चेतना का प्रकाश
गर्जन—तृष्णा
विद्युत—ममत्व
उन्मेष—लहरें—आध्यात्मिक भावनाएँ
वालुका—अन्तश्चेतना से जनित अनुभव [1]
शिखर—अन्तश्चेतना की कल्पना शिखर के रूप में की गई है जिसके नीचे का स्तर पार्थिव मन प्राण व जड़ जगत में है और जिसका ऊपरी भाग ऊर्ध्व-चेतन (Super mind) है।
चूड़—चोटी—ऊर्ध्व-चेतन
सुमन-स्रक—आध्यात्मिक सत्य व सौन्दर्य सम्बन्धी अनुभव
आगमन—मन के भीतर का मन—अव्यक्तमन (Subliminal mind)
पुलिन—सीमित भौतिकवाद द्वारा निर्धारित सत्य
असुर—कुत्सित भावनाएँ
अमर—आध्यात्मिक भावनाएँ
मौन सृजन—मधुवन—शाश्वत आध्यात्मिक सौन्दर्य
मेघों के पर्वत—मेघ—भौतिक जगत का स्तर
उनचास पवन—द्वन्द्व, युद्ध, सङ्घर्ष, आदि
गत छायाएँ—मध्यकालीन अवांछनीय तत्त्व
तम—अवचेतन (फ्राइड के अर्थ में)
प्रगति—ज्योतिमेघ—स्थूल व सूक्ष्म से समन्वित जीवन-अनुभव
भू-प्रांगण—शर—आध्यात्मिक रहस्य
रुधिर— ,, ,,
जीवन-उत्सव—स्वर्णोदय—आध्यात्मिक जीवन—समन्वित जीवन—बाह्य व सूक्ष्म दोनों प्रकार की समता से युक्त जीवन=सर्वोदय

---

[1] स्वर्ण बालुका किसने बरसादी, जगती के मरुस्थल मे ?
सिकता पर स्वर्णाङ्कित कर, स्वर्गिक आभा जीवन मृग-जल मे ?
"स्वर्णधूलि"

रूपान्तर—अवगुण्ठन—स्थूल मन का स्तर
प्रभात—आगामी जीवन
भू-यौवन—चोली—स्थूल-सौन्दर्य
प्ररोह—आध्यात्मिक अनुभव
भू-जीवन—वेणी—भौतिकवादी भावनाएँ
हृदय-चेतना—चन्द्र-ज्वाल—ज्योत्स्ना, अन्तश्चेतना
निर्माण-काल—झरोखों—मन के रंध्र
देवदूत—आध्यात्मिक भावनाएँ
सुरधनु—सौन्दर्य
शृङ्ग—अन्धःविश्वास
आवाहन—तरु-तम—हरीतिमा, सौन्दर्य
छाया-वाष्प—सूक्ष्म भावनाएँ
स्वर्ग-विभा—भू-मानस—बाह्यमन का स्तर
छायाएँ—दिव्य-अनुभव
उपचेतन—अव्यक्त मन का स्तर
सागर—चेतना
आलोक-ज्वार—दिव्य-प्रकाश का आधिक्य
भू-स्वर्ग—आकाश—अनन्त दिव्य-अनुभवों का क्षेत्र
रजत-नीहार—दिव्य-अनुभव
तडित-स्पर्श—रजत-नीहार, स्थूल मन से ऊपर का स्तर है, उसके भी ऊपर से आते हुए अन्तश्चेतना के प्रकाश को तड़ित कहा गया है।
हरित-तिमिर—सौन्दर्य
शोभा-क्षण—फूल—हर्ष
अम्बर—अन्तर्मन
निर्जर—देवत्व
अतचेतन—फ्रायड के अर्थ में
जीवन-कोंपल—कोंपल—सहसा ही उदित दिव्य अनुभव
तरु—जीवन
जीवन-दान—पावक कण—दिव्य अनुभव

मांसल आकांक्षा—स्थूल सौन्दर्य[1]
स्वप्न-वैभव—वाष्प—सूक्ष्म भावनाएँ
सत्य—तड़ित—अन्तश्चेतना
घन—स्थूल मन
वाष्प—सूक्ष्म भावनाएँ=भाप
छाया-सरिता—छाया—ब्रह्म का आभास
अतल—गम्भीर, दिव्य
तम—प्रकाश का ही एक रूप यथा जड़ तत्त्व
चेतना का ही एक रूप है
स्वर्ण-माँस—स्थूल सौन्दर्य
मुकुल—स्वप्न (दिव्य)
मधुवन—शाश्वत सौन्दर्य

संवेदन—सीता, छाया—सत्ता का आभासजन्य अनुभव
वैदेही—मांसल शिखर—स्वप्नजन्य सौन्दर्य
प्रीति—मेघ—स्थूल भावनाएँ
तम-कपाट—स्थूल जीवन
वाष्प—सूक्ष्म भावनाएँ
इन्द्र जलद—दिव्य भावनाओं के स्थूल आकारधारी
बादल।
तारक—ज्ञान, अनुभव, प्रकाश
चेतना-तीर्थ—ऊर्ध्व-चेतन
रवि लोक— ,,
नीहार—ज्ञान की शीतलता
आनन्दधाम—सच्चिदानन्द
शशिरेख—शीतलता

[1] नवीन कविता में कवि स्थूल सौन्दर्य को, सूक्ष्म सौन्दर्य का बाह्य रूप मानता है, अपनी लीला के लिए सत्य+शिव+सुन्दर, इन तीनों गुणों से युक्त सच्चिदानन्द बाह्य वस्तुओं का रूप धारण करता है अतः जीवन की बाहरी इच्छाएँ, सुन्दरताएँ आदि आन्तरिक सत्य का रूप आवृत तो कर लेती हैं परन्तु वे सत्य की प्राप्ति में सहायक भी बन जाती हैं यदि साधक यह समझ ले कि वे आन्तरिक सत्य से भिन्न नहीं हैं

प्रासाद—प्रीति

शरदागम—शरद=अन्तश्चेतना—कामिनी के रूप में चित्रित

शरद-चेतना—छाया—दु:ख, ताप

प्रकाश—सुख, आनन्द

घन—भौतिक सङ्घर्ष

अङ्गार—ताप

चन्द्रमुखी—चन्द्रमुखी शरद—अन्तश्चेतना

ममता—ममता—ममत्व के सूक्ष्म, स्थूल सभी रूप

फूल-ज्वाल—फूल-ज्वाल—बाह्य सौन्दर्य[1]

स्मृति—वैदेही—उपेक्षित आध्यात्मिक-भावना।

अभिलाषा—एक कली—कवि-हृदय।

आभा-स्पर्श—क्षितिज—संकीर्णता, सीमा।

शशि लेखा—दिव्य-अनुभव।

परिणति—धरा— बंधन

स्वर्ग—मुक्ति

मुख्य मुख्य प्रतीकों को स्पष्ट कर लेने के पश्चात् अब गूढ़ भावनाओं के स्वरूप पर विचार करना सहज हो जायगा। कवि की मानसिक स्थितियों को हम इस प्रकार समझ सकते हैं :—

हमारे मन के कई स्तर हैं। इन्हें जागृतमन, अवचेतन या उपचेतन, अव्यक्त मन तथा ऊर्ध्व चेतन इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं। मन के नीचे प्राण का स्तर है उससे नीचे जड़ तत्व का। एक ही चित् शक्ति ऊर्ध्व-चेतन, अव्यक्त मन, मन, प्राण, जड़ तत्व का रूप क्रमश: धारण कर लेती है। उत्तरा में, कवि-अव्यक्त मन तक पहुँच जाता है जो स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से प्राप्त हो सकता है क्योंकि फ्रायडियन उपचेतन पर हमारा अधिकार नहीं है, जागृत अवस्था में हम उस पर अनुशासन रखते हैं, परन्तु वह प्रमाद, स्वप्न, व्यंग्य आदि में व्यक्त होता रहता है, कवि का दावा है कि उसकी कविता अवचेतन से नि:सृत नहीं है यद्यपि मनोवैज्ञानिक इसे नहीं मानेंगे। वे यही कहेंगे कि पन्त की सारी नवीन कविता अवचेतन का ही विस्फोट है। कवि

[1] बाह्य सौन्दर्य आन्तरिक सौन्दर्य की ओर ले जाने में सहायक है, बाधक नहीं। क्योंकि वह आतरिक सौंदर्य का व्यजक है।

के अनुसार वह अवचेतन से जरा एक कदम और आगे अव्यक्त मन के स्तर पर रहता है, सम्भव है कि वह अव्यक्त मन से और भी आगे अव्यक्त मन व ऊर्ध्व-चेतन के बीच में किसी सोपान तक अपनी कल्पना द्वारा पहुँच जाता हो परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि बस इसके आगे वह नही बढ़ पाता क्योंकि ऊर्ध्व चेतना के सोपान का तथा अन्तिम एकाकार स्थिति का वर्णन कवि प्राय. नही करता, संकेत मात्र करके रह जाता है अत' 'उत्तरा' अव्यक्त मन व ऊर्ध्व-चेतन के बीच के सोपान पर खड़े होकर मन, प्राण व जगत के विहगावलोकन का प्रतिफल है। यही नहीं कवि इसके साथ साथ ऊपर से उतरती हुई अंतश्चेतना के प्रकाश से जो मन, प्राण व जगत में परिवर्त्तन होजाते हैं, उनका भी विस्तार से वर्णन करता है। परन्तु इसके आगे वह नहीं जाता। सिद्धों व सन्तों ने अंतिम अवस्था का भी वर्णन किया है। पन्तजी इस कमी की पूर्ति को आध्यात्मिक अनुभवों की उपयोगिता समझाने के द्वारा कर लेते हैं क्योंकि उन्हे यह भय सदा रहता है कि कोई यह न कहने लगे कि अंततः इस रहस्यवाद का आज क्या उपयोग हो सकता है।

चेतना के ऊर्ध्व स्तरों से जगत का विहगावलोकन—

बदल रहा स्थूल धरातल
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल
विस्तृत होता बहिर्जगत अब
विकसित अन्तर्जीवन अभिमत

यदि आप बुद्धिवादी हैं तो आप कहेंगे कि भावना का अन्ध-विश्वास के स्थान पर बुद्धि का विकास हो रहा है। प्राचीन युगों मे विश्वास के आधार पर स्वर्ग-नर्क, ईश्वर, आत्मा की कल्पनाएँ की गई, 'दर्शन' मृत्युभय से उत्पन्न स्वप्न-निर्माण व जगत व जीवन की ऐसी कल्पित व्याख्या है जो बुद्धि को अधिक से अधिक सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करती है परन्तु कर नही पाती परन्तु पन्तजी की मानसिक स्थिति दूसरी है, आस्तिकता के चश्मे के कारण उन्हें यह प्रतीत हो रहा है कि मनुष्यता का विकास एक ऐसे युग की ओर जा रहा है जिसमे आस्तिकता व नास्तिकता का समन्वय हो जायगा। बाह्य व आन्तरिक साम्य का, जड़ व चेतन के समन्वय का युग आ रहा है।

इसी की ओर इतिहास द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। इस मानसिक स्थिति को बताने वाली बहुत सी पंक्तियाँ 'उत्तरा' मे मिलती है—

जड़ चेतन के चक्र निरन्तर
घूम रहे चिर प्रलय सृजन कर
जयध्वनि हाहारव में बढ़ता
युग पथ पर मानवता का रथ

× × ×

कहाँ बढ़ाते भीत जन चरण
हुआ समापन बाहर का रण
स्वर्ग चेतना के शोणित से
लथपथ आज मर्त्य भू का मन
मरते जड़, जग नव चेतन मे

(२) वस्तु-स्थिति का चित्रण—

जब कवि ऊर्ध्व स्तरों से निम्न स्तरों की ओर देखता है तो निम्न स्तरों तक ही अपने को सीमित रखने वाले क्षुद्र जीवों के सघर्षों, आपाधापी, नास्तिकता, कोरी बुद्धिवादिता आदि को देखकर क्षुब्ध हो उठता है, आप इस क्षोभ को, मन की इस दुःखमय अवस्था को "युग विषाद" कविता में देख सकते हैं—

गरज रहा उर व्यथा भार से गीत बन रहा रोदन
आज तुम्हारी करुणा के हित, कातर धरती का मन

× × × ×

दारुण मेघ घटा घहराई
युग संध्या गहराई
आज धरा प्रांगण पर भीषण
झूल रही परछाई

× × +

जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जन का
सदाचार शोषक मन के निर्धन का
स्वार्थी पशु मुख पहने मानवपन का

× × ×

घृणा, घृणा वह करती मन में नर्तन
घृणा, घृणा हँसती आनन पर प्रति क्षण

चेतना के निम्न स्तरों का ऊर्ध्व-स्तरों से सम्बन्ध दिखाना—

'उत्तरा' में इस प्रकार की अनेक पंक्तियाँ है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि कवि कल्पना के नेत्रों से ऊर्ध्व-चेतना-पटलों का उद्घाटन करता हुआ चलता है। अनेक प्रतीकों द्वारा निम्न-स्तरों से उच्च-स्तरों के साथ सम्बन्ध दिखाता है। इसी वर्ग की पंक्तियाँ पहेलियों के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं, जिनका अर्थ लगाना भी कठिन हो जाता है क्योंकि कवि एक ही प्रतीक को दो परस्पर विरोधी अर्थों में प्रयोग कर देता है, साथ ही बार-बार उनकी आवृत्ति से पाठक का मन खिन्न हो उठता है। तीसरे प्रतीकों की ही पुनरावृत्ति नहीं है, चेतना के स्तरों की भी पुनरावृत्ति है। जब एक बार समझ लिया कि अन्तश्चेतना व स्थूल मन का बिजली व बादल का सम्बन्ध है तब आप बार-बार उसी को क्यों दुहराते हैं? या तो नए स्तरों का परिचय दीजिए या नवीन-नवीन प्रतीकों का प्रयोग कीजिए। कथन-पद्धति में परिवर्तन करिए, एक ही बात बार-बार न कह कर कुछ नया कहने के लिए प्रस्तुत रहिए अथवा इस "सोपान-सम्बन्ध-परिचय" के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले उद्गारों का वर्णन कीजिए—जैसा कि अन्य रहस्यवादी करते हैं परन्तु पन्तजी यह सब नही करते। प्रतीकों, कथन पद्धति तथा चेतना स्तरों की पुनरावृत्ति होने से तथा मन के आन्दोलन व उद्गारों का चित्रण न होने से 'उत्तरा' को आप देर तक पढ़ते नही रह सकते। फिर एक बार पढ़ कर दुबारा पढ़ने की इच्छा नही होती। पढ़ते समय, बुद्धि पर जोर लगाना पड़ता है, कल्पना की भी आवश्यकता पड़ जाया करती है परन्तु भावना का स्पर्श मात्र ही होता है। अत: आप स्वयं इस सोपानवादी कला के सम्बन्ध में मूल्यांकन करते समय कोई बहुत उच्च कोटि की राय नही बना सकते। कुछ रचनाएँ आपको प्रिय हों यह दूसरी बात है। पुनरावृत्ति के उदाहरण लीजिए :—

(१) जलता मन, मेघों का सा घर
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर

(२) नाचेगा जब शोणित चेतन

(३) ज्वालगर्भ शोणित का बादल
लिपटा धरा शिखर पर उज्ज्वल

नीचे छाया की घाटी में
जगता क्रन्दन मर्मर
(४) जब जब घिरें जगत-घन मुझ पर
ज्योति द्रवित हो, हे घन !
(६) उमड़ रही लहरों पर लहरें
घिरते घन पर फिर घन
यह प्राणों की वेला दुर्धर
स्वर्ण चूड़ शिखरों में उठकर
(७)यह मेघों की चल भूमिघोर
(८) तुम रजत वाष्प के अम्बर से—बरसाती शुभ्र सुनहली झर,
शोभा की लपटों में लिपटा, मेघों का माया कल्पित घर !
(९) अब मेघ मुक्त होगा कविमन
(१०) मन के वाष्पों का सूक्ष्म जगत—बन रहा स्थूल जीवन का घन।
(११) मेघों के उड़ते स्तम्भ खड़े—लिपटी जिनसे विद्युत ज्वाला
भीतर वाष्पों के कौश मसृण, नव इन्दु जलद लटके कम्पित।

उपर्युक्त उदाहरण चेतना-सोपानों का परिचय देते समय प्रतीकों की पुनरावृति दिखाने के लिए पर्याप्त हैं। कवि स्थूल अंतश्चेतना के लिए मेघ व विद्युत के प्रतीकों को अनेकों बार दुहराता है। क्या कारण है कि-कवि ऊर्ध्वचेतना व स्थूल मन के बीच के स्तरों का गहराई से अवलोकन नही कर पाता ? क्यों बार बार दो स्तरों का ही परिचय देकर उनकी उपयोगिता पर भाषण देता रहता है ? कवि ने जिस प्रकार "प्रीति" मे चेतना के चार स्तरों का वर्णन किया था, उसी प्रकार अन्य रचनाओं में क्यों नही हो सका ? यदि वह वस्तुत. चेतना में विश्वास करता है तो क्या अन्य रचनाओं में इन स्तरों की सधियों पर व बीच से होने वाले अनुभवों का वर्णन नही कर सकता था ? उत्तर होगा कि ऐसा सम्भव नही था क्योंकि कवि का रहस्यवाद कल्पना व चिंतन पर आधारित है, अत. वह सोचने की मुद्रा को नही छोड पाता या अरविन्द की बताई हुई स्थितियों को अपनी शब्दावली में रटता रहता है। परन्तु अरविन्द साधक थे, उन्होंने यह भी कहा था कि अन्य अनेक अनुभव भी हो सकते है। पन्तजी साधना के अभाव मे उनसे अपरिचित हैं। मेरा दृढ़ विश्वास

है कि रहस्यवाद तभी सफल होता है जब आप में साधना का अंश होता है, जितनी अधिक मात्रा में आप साधना का विकास करेंगे। आपकी कल्पना को सामग्री मिलती जायगी अन्यथा पुनरावृति अवश्यं-भावी है अतः पन्त जी के स्वप्नों में विविधता व अनेकता नहीं मिलती, नवीन काव्य में "एकरसता" का एक बड़ा कारण यह भी है। आप इसी प्रसङ्ग में छाया-सरिता" कविता को पढ़ कर देखें उसमें सोपानों का परिचय नहीं है, सत्ता के आभास का वर्णन है। यदि कवि सोपानों की पुनरावृत्ति के स्थान पर इसी प्रकार के आभासों का विविध प्रतीकों के द्वारा वर्णन करता अथवा सीमित अनुभवों को यदि मेघ-बिजली के सिवा अन्य प्रतीकों द्वारा कहता जाता तो 'उत्तरा' का रूप कुछ और होता।

चेतना के ज्ञात अज्ञात सोपानों का परिचय देते समय कवि के सम्मुख दो विचार सर्वदा उपस्थित रहते हैं—१—आंतरिक मन के इन स्तरों का उद्‌घाटन ही कविता का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए क्योंकि आतरिक-वैभव व सौन्दर्य हम अन्त करण से ही अनुभव करते हैं। २—इन आंतरिक मन के स्तरों की टोह लेते समय जब आंतरिकता अधिक बढ़ जाती है तो अज्ञात स्थान से एक नूतन प्रकाश का हम वस्तुतः अनुभव करते हैं और इस अनुभूति से हमारे जागृत मन तथा प्राण के स्तर भी प्रभावित होते हैं और उनमें सांसारिकता से उत्पन्न जो कटुता, निराशा, स्वार्थ, द्वेप, दम्भ या पशुत्व से सम्बन्धित जो भाव-नाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, नष्ट हो जाती हैं और एक अलौकिक पवित्रता का अनुभव होने लगता है। एक वाक्य मे हम कह सकते हैं कि उत्तरा मे आंतरिक मन की टटोल तथा तज्जन्य प्रभाव का वर्णन अधिक हुआ है। चेतना-स्तरों के परिचय का स्वरूप व उसकी सीमाएँ हम देख चुके, अब तज्जन्य प्रभाव को देखिए—

प्रतीति-जन्य प्रभाव

जब कवि कल्पना की उद्दिप्तावस्था मे अज्ञात ऊर्ध्व-शिखरों से अवतरित अतश्चेतना को देखता है तो उससे कवि के ज्ञात चेतना के स्तरों पर पड़ने वाले प्रभावों के कई रूप 'उत्तरा' मे वर्णित हुए हैं। सामान्यत उन्हें हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

(१) निश्चित प्रतीति से उत्पन्न सम्भावनाओं का वर्णन

(२) रमणीय साक्षात्कार से उत्पन्न आनन्द व विस्मय की व्यंजना
(३) स्वरूपासक्ति
(४) एकाकारिता की स्थिति
(५) प्रकृति के प्रति नूतन दृष्टिकोण
(६) स्तवन-आराधना तथा पूजा-भावना

(१) सम्भावनाओं का वर्णन—कवि को इसमें कोई संदेह नही रह गया है कि क्या होने जारहा है, परन्तु अन्य विचारकों की दृष्टि से यह एक सम्भावना ही है, अतः मैंने इसे सम्भावना कहा है। 'उत्तरा' में सम्भावना का वर्णन भावना से अधिक हुआ है, परन्तु आप कह सकते हैं 'सम्भावना' के पीछे कवि की दृढ़ आस्था होने से वह सम्भावना कवि की चित्तवृत्ति की ही व्यंजक है। वह कवि की चेतना का अंश बन चुकी है, बाहर से लादी गई प्रतीत नही होती।

रक्त पूत अब धरा, शांत संघर्षण
धनिक श्रमिक मृत, तर्कवाद निश्चेतन
सौम्य शिष्ट मानवता अंतर्लोचन
सृजन-मौन करती धरती पर विचरण
विद्युत अणु उसके सम्मुख अब नत फन
बसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन
आज चेतना का गत वृत्त समापन

सम्भावना तभी प्रारम्भ होती है जब उसके पीछे की चिंतन-आधार-शिला दृढ़ होती है। पूर्ण रूप से आश्वस्त होकर ही व्यक्ति भविष्य के चित्र खीच सकता है अन्यथा शंका व संदेह से दोलित चित्तवृत्ति सम्भावनावाद को छोड़कर "सदेहवाद" में ग्रस्त होजाती है। चूँकि कवि कल्पना के नेत्रों से ऊर्ध्व-चेतना की स्थिति के संबध को स्पष्ट समझ चुका है, उसे किसी प्रकार की कोई शंका इस सम्बन्ध में नही रही। वह भविष्य की ओर देखता है, इसीलिए वह कहता है—

मैं नव मानवता का संदेश सुनाता
स्वाधीन देश की गौरव गाथा गाता
मैं मन क्षितिज के पार मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिर्वाह बन आता

युग के खण्डहर पर डाल सुनहरी छाया
मैं नव प्रभात के नभ में उठ, मुस्काता
मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता

काव्य-रूपकों में भविष्य की सम्भावित रूप-रेखा अधिक खींची गई है।

सम्भावित-सत्य की प्राप्ति के लिए प्रेरणा

सम्भावनाओं और संकेतों के साथ, आंतरिक जगत के परिचय के बल पर, पाठकों के हृदयों में शाश्वत प्रकाश, अनन्त सौन्दर्य, व विक्षोभ रहित आंतरिक अपरिमित शांति के लिए बार-बार प्रेरणा उत्पन्न करता हुआ कवि नहीं थकता। प्रेरणावादी कवि निराशावादी नहीं होता, पन्त जी में कहीं निराशावाद के दर्शन नहीं होते। यह अच्छा है कि कवि को प्रकृति से कल्पना अधिक और बुद्धि की बारीकी कम मिली है, अन्यथा नाना-विकल्प खड़े कर वह आंतरिक उथल-पुथल को किंचित् भी महत्व न देकर उसे सनक कहकर टाल देता। 'उत्तरा' में बार-बार इस आंतरिकता के विकास की प्रार्थना की गई है। स्थूल समूहवाद के बढ़ने से व्यक्तित्व के विकास में सामूहिकता एक सीमा तक बाधक भी बनती जा रही है अत. समन्वय के लिए जनता का ध्यान मन के भीतर के उस जगत की खोज की ओर आकर्षित करना है जिसकी खोज मनुष्य सर्वदा से करता आया है और जिसकी उपलब्धि विज्ञान से भी सिद्ध होने जा रही है। कवि इस आंतरिक साधना की अनिवार्यता को राष्ट्रीय परम्परा से मिला देता है और कहता है—

ग्रहण करो फिर असिधारा व्रत, भारत के नव यौवन
धरा-चेतना में अब फिर से छिड़ा तुमुल आन्दोलन
यह रण क्षेत्र-पुरातन रे चिर नूतन
बड़ा विकट जड़ चेतन का संघर्षण

मतलब यह है कि बढ़ते हुए जड़वाद से हमें आर्थिक स्वतन्त्रता मिलने जा रही है, वर्ग व वर्ण भी नष्ट हो जाने जा रहे हैं, परन्तु साथ ही साथ अन्तःकरण में स्फुरित सत्यों का निषेध भी हो रहा है। और मनुष्य की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति होकर ही यदि रह गई,

आंतरिक भूख की उपेक्षा की गई तो सच्ची समता लुप्त हो जाएगी क्योंकि जब जब वाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति पर जोर दिया गया है, आंतरिकता की उपेक्षा हुई है। सूक्ष्म, सुन्दर आदर्शों को हँस कर टाला गया है, तब दानवी वृत्तियों का अवश्य बोलबाला हुआ है। अत भौतिकवाद के युग मे खतरे में पड़े हुए अध्यात्म-वाद के उद्धार की आवश्यकता है। यह राष्ट्रीय उपलब्धि है, बुद्धिवाद विज्ञानवाद इसके शत्रु बन रहे हैं अत ऋषियों, महिर्षियों के अनुभूति-गम्य आदर्शों की रक्षा के लिए असिधाराव्रत पुन ग्रहण करो, यह है पन्तजी के सोचने की प्रवृत्ति। मैं यहाँ इस प्रवृत्ति का खण्डन नही करना चाहता क्योंकि वह किया जा चुका है। देखना यह है कि उत्तरा की कविताओं के पीछे जो मन है, जो मस्तिष्क है, जो हृदय है, उसका स्वरूप क्या है। उसमें कैसी-कैसी लहरे उठती हैं, किस स्थिति मे वह क्या कहता है। कविता की कला को समझने के लिए यह विश्लेषण कवि के स्वरूप को हमारे सम्मुख रखता है। उसकी आशा, आकांक्षा से, उसकी खीझ और रीझ से हम परिचित हो जाते हैं और इस प्रकार उसके काव्य की कुंजी हमें मिल जाती है।

तो कवि परम्परा से प्राप्त अंतर्विश्वासों की रक्षा व प्रचार के लिए जनता का आवाहन करता है—

धीर, करो भू-जन हिताय व्रत धारण
सार्थक हों युग युग के जप तप साधन
बाँधो मानव की बाँहों में जड़ चेतन का जीवन
तुम खोलो जीवन बन्धन, जन मन बंधन
लहराए प्राणों का सागर, रीति नीति के पुलिन डुबाकर
घुमड़े वाष्पों से उर अंबर, जीवन भू को कर उर्वर
तुम कड़को भर युग गर्जन, झरें अनल कण
खोलो हे मन का अवगुंठन!
ओ अग्नि चक्षु, अभिनव मानव
संपर्कज रे तेरा पावक
चेतना शिखा में उठा धधक
इसको मन नही सकेगा ढक
लो गूँज रहा है अम्बर मे रव

रमणीय-साक्षात्कार से उत्पन्न कौतुक, कुतूहल तथा आनन्द की व्यञ्जना—

'उत्तरा' में रहस्यमय सोपानों के परिचय स्वरूप तथा पूर्ण आश्वस्त हो जाने के कारण कवि जब अन्तर्जगत का निरीक्षण करता है तो उसका कुतूहल देखने योग्य ही होता है। इस आनन्दमयी स्थिति के भी अनेक स्वरूप मिलते हैं।

आत्मविस्मरण की अवस्था :—

स्वप्नभार से मेरे कंधे—झुक झुक पड़ते भू पर।
क्लांत भावना के पग डगमग, कँपते उर में नि स्वर

कला की दृष्टि से ये पंक्तियाँ अच्छी हैं। कला उस स्थान पर सर्वदा सफल होगी जब आप अपने मन पर पड़े प्रभावों का वर्णन करेंगे, परन्तु यदि उधार लिए गए तथ्यों का निर्वाचन करेंगे तो कला की हानि होगी। परन्तु 'उत्तरा' की कई कविताओं में मन पर पड़े प्रभाव का वर्णन तो किया गया है परन्तु उस प्रभाव की, स्थिति को छोड़ कर कवि शीघ्र ही उसकी उपयोगिता बताने की स्थिति मे आ जाता है, अत. पाठक का मन केन्द्रित होते होते फिर दोलित हो उठता है। 'उत्तरा' की कला में ये दोप भी हैं—

१—कवि प्रथम रहस्यमय सत्य को कल्पना की आँखों से देख कर अपने मन पर पड़े प्रभावों की व्यंजना प्रारम्भ करता है, यथा उक्त पक्तियों में

२—उस आनन्दमय स्थिति के चिह्न व चित्र अधिक गहरे व सघन होने देने के पूर्व ही उस प्रभाव की उपयोगिता बतलाने लगता है, या अन्य बातें करने लगता है, अर्थात् कवि मनोवैज्ञानिक स्थिति से राजनीति या अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आ जाता है। वह जानता है कि पाठक उपभोक्ता है, साधक नहीं अतः वह उपयोगिता को अपनाता है।

इस प्रवृत्ति को हम "शीघ्र स्थिति परिवर्तन" कह सकते हैं। वह युग तो शायद गया जब आचार्य कहते थे कि अनेक संचारियो से एक ही भावना को पुष्ट करो और यह कार्य तब तक करते रहो जब तक तादात्म्य की स्थिति न आ जाय। पन्त जी ऐसा नही चाहते उनके झट पहलू बदल देने से तथा पाठक की चित्तवृत्ति को एक स्थान

पर-केन्द्रित न रहने देने से वृत्ति में स्थायित्व नही आ पाता, यही कारण है कि आनन्दमयी स्थितियों को कई बार कई कविताओ मे प्रारम्भ करके भी कवि इधर उधर मुड गया है और इससे हानि ही अधिक हुई है। यथा उपर्युक्त पंक्तियों के वाद 'प्रभाव' का वर्णन न कर कवि "सोपान परिचय" देने लगता :—

ज्वालगर्भ शोणित का वादल
लिपटा धरा शिखर पर उज्ज्वल
नीचे छाया की घाटी मे
जगता कुन्दन मर्मर
और फिर
आने को अब वह रहस्य क्षण
तुम नव मानव मन कर धारण
पीस रहे दंष्ट्रा कराल वन
युग युग के कटु अन्तर

चूँकि उपयोगिता समझाने की पद्धति को वार-वार दुहराया गया है अत दो-चार कविताओं को पढ़कर कोई भी पाठक कह सकता है कि इस कविता में रहस्य की उपयोगिता समझाते समय यह कहा जायगा। रहस्य में आनन्द लेने वाला कवि पाठकों के लिए इसीलिए रोचक नही रह पाता। जिन रचनाओं में यह दोष नही है उनमें चित्त-वृत्ति की स्थिरता मिलती है यथा 'अनुभूति' मे तथा प्रकृति वर्णनों में। प्रार्थना सम्वन्धी कविताओं में 'शोभा-क्षण' एक सुन्दर कविता है, परन्तु इसमें भी स्थिरता का अभाव मिलता है—

फूलों से लद गए दिशा क्षण
भरता अम्बर गुञ्जन
पुलकों में हँस उठा सहज मन
निर्झर करते गायन

और इसके पश्चात् यद्यपि कवि प्रभाव का ही वर्णन करता है परन्तु मनोविज्ञान की शव्दावली अपनाकर मन के सहज आनन्द की अभि-व्यक्ति छोड़ कर अन्य पथ अपना लेता है—

अवचेतन मे लीन पुरातन
स्वप्न वृष्टि अब करता नूतन

तन्मय हुआ अहं युग-युग का
बाँहों मे बँध चेतन
धरा-शिखर का रे यह मधुवन
भू-मन अहरह करता क्रन्दन

पाँचवें पद्य-खण्ड में फिर प्रथम पद्यखण्ड की पद्धति पर लौटता है—

रजत घण्टियाँ बजती छन छन
स्वर्णिम पायल झंकृत झन झन
स्वप्न-मांस के इन चरणों पर
करो प्राण मन अर्पण

इसी प्रकार 'जीवन कोंपल' मे कवि रहस्य-जन्य प्रभाव का वर्णन प्रारम्भ कर भटक जाता है—

'क्या एक रात ही में सहसा
ये हरित शुभ्र कोंपल फूटे

इस पंक्ति को पढ़कर कोई भी पाठक कवि को दाद दिए विना नही रह सकता, सुन्दर पंक्ति है। परन्तु आगे फिर वही सिद्धान्त-वाचन—

यह मानवीय रे सत्य अखिल
आधार चेतना, कला कुशल

प्रकृति-वर्णन करते समय कवि प्रत्यक्ष पद्धति पर उल्लास की व्यञ्जना करता है तथा उसकी वन्दनाओं में भी आस्था, पवित्रता व सहजता झलक उठती है परन्तु फिर भी ऐसा वरावर प्रतीत होता है कि कवि भीतर से उड़ने वाली आनन्द की कल्लोल को गले में ही रोक लेता है और इसलिए एक पद्य खण्ड के वाद उसकी वाणी हिचकियाँ लेती सी दिखाई पड़ती है। भाव व प्रभाव की धारा कुछ अधिक दूरी तक नही चलती, अत पाठक का मन उस आनन्द की ओर जैसे ही उन्मुख होता है, जैसे ही वह उस आनन्द-सागर की ओर वढ़ता है, पन्तजी उसे पकड कर न जाने क्या-क्या समझाने लगते है और तव प्यासे व्यक्ति की तृषा वितृष्णा मे वदलने लगती है। भावना की झलक तो कुछ रचनाओं में मिलती है परन्तु छलक नहीं मिलती है।

प्रतीति-प्रभाव-जन्य अन्तर्मन के स्पन्दन का चित्रण

ऊर्ध्व-सोपानों से अवतरित प्रकाश से कवि-मन में जो

आनन्दमय कम्पन, उद्वेलन, या स्पन्दन उत्पन्न हो जाता है उसका वर्णन भी कवि करता है यह आत्म-विस्मृत कर देने वाले आनन्द से तनिक भिन्न स्थिति है। विस्मरण की अवस्था मे आती हुई रहस्यमय निद्रा में कवि जगत को भूलने लगता है परन्तु इस स्पन्दन की स्थिति में उन्मेष होता है, कमल के बन्द होने की स्थिति आत्म-विस्मृत होने की स्थिति है, अपने में ही स्थित हो जाने की स्थिति और पखुरियों के खुलने की, वायु के संचरण से कम्पित होने की, भ्रमरों की गुञ्जार से संयुक्त होने की स्थिति सर्वथा दूसरी स्थिति है। इस स्थिति में कवि तटस्थ होकर मन में हो रही आध्यात्मिक क्रियाओं को देखकर उनका अंकन करता है—

उमड़ रही लहरों पर लहरे
घिरते घन पर फिर घन
रजत स्वर्ण बालुका पुलिन से
टूट रहे मन के प्रण
टकराते शत स्वप्न निरन्तर
रहस ध्वनित कर आकुल अतर
सशय भय के कूलों पर भर
नव प्रतीति का प्लावन
और तब
सहज हर्ष से पुलकित अबमन
विश्व रूप से विस्मित लोचन
श्रद्धानत हो जाता मस्तक
पा भव छाया दर्शन

इस स्थिति मे दानवीय वृत्तियों का शनैः शनैः हटते जाना और उनके स्थान पर नीचे से दिव्य-वृत्तियों का उदित होना कवि वर्णित करता है। अतर्मन के इस आन्दोलन को कवि स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है—

आज आ रहीं लहर पर लहर
डूब रहे युग युग के अन्तर
यह अन्तर्मन का आन्दोलन
असुर जूझते, जीतते अमर
भरा-चेतना के प्रांगण में

अन्तर्मन की इसी स्थिति मे कवि प्रायः वाह्य जगत के द्वन्द्व की व्याख्या करता है और जिस प्रकार आंतरिक जगत में सद् असद् वृत्तियों में संघर्ष हो रहा प्रतीत होता है, वैसे ही वाह्य जगत में कवि को संघर्ष हो रहा प्रतीत होता है। अत वह वाह्य जगत को आंतरिक जगत का प्रतिविम्व मान वैठता है जो एक भूल है परन्तु यह एक अलग वात है, यहाँ तो कवि की मानसिक दशाओं का उद्घाटन ही इष्ट है।

अन्तर्मन के रहस्यों और उनके प्रभाव से जन्य आन्दोलनों का वर्णन ही 'उत्तरा' का उद्देश्य है। यह वात दूसरी है कि वह उन रहस्यों को कवित्वमय नही वना पाया और उसका कारण भी हम जान चुके हैं। वैयक्तिक मानसिक स्थिति को—घोर वैयक्तिक मानसिक स्थिति को सर्व साधारण के स्तर पर उतार लाने के लिए जिस हार्दिकता की आवश्यकता होती है वह पन्तजी के पास नही है। योगी होना एक वात है और कवि होना विल्कुल दूसरी वात है। इसी प्रकार राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक, दार्शनिक होना एक वात है और इनके विचारों को भावना का माध्यम वनाना सर्वथा दूसरी वात है। नूतन काव्य मे योगी व प्रवचन-कर्त्ता का मिला जुला व्यक्तित्व कवि पर हावी होगया है अत जिस कल्पना का प्रयोग नूतन-रूप-विधान के लिए होता था उसका प्रयोग चेतना के ऊर्ध्व-स्तरों पर प्राप्त हो सकने वाले अनुभवों के अनुमान के लिए होगया है और यह निश्चित है कि अनुमान तर्क-पद्धति में तो कार्य करता है परन्तु केवल आनन्द का अनुमान करके आनन्दित होने में उसका उच्छलन सम्भव ही नही है। उस स्थिति में भविष्य वाणी हो सकती है क्योंकि उसके लिए अनुमान समर्थ है। उसमें इतिहास की गलत व्याख्या को सही, और सही व्याख्या को गलत कर देने की भी शक्ति है परन्तु अनुमान आनन्द का साक्षात् अनुभव नहीं कर सकता, यही कारण है कि शकुक' जैसे आचार्य भावना को नही समझ सके। उसी प्रकार पन्त जी अनुमित-आनन्द से यथार्थ रूप में प्राप्त आनन्द के अभाव में कला का रूप मण्डित नही कर सके —

आंतरिक आन्दोलन का क्रमिक विकसित रूप देखिए—

भू की ममता मिटती जाती
मेघों की छाया सी चञ्चल

सुख सपने सौरभ से उड़ते
झरते उर के रङ्गों के दल
पुँछती जाती पट रेखाएँ
धुलते जाते सुख दुख के क्षण
चेतना समीरण सी वहती
बिखरा ओसों के संचित कण
वह रही राग में नही जलन
कुछ बदल गया उर के भीतर
खो गया कामना का घनत्व
रीते घट सा अब जग बाहर

वृत्ति अन्तर्मुखी होजाने पर जगत के बाह्य सौन्दर्य में जो "कामनामय आकर्षण" पूर्ववर्ती कविता में मिलता है वह यहाँ कहाँ ? अब तो आध्यात्मिक आकर्षण अवश्य रह गया है और चेतना के निम्न स्तर साधन के रूप में रह गए हैं—

यह रे विराग की विजन भूमि
मन प्राणों के साधन के स्तर
तुम खोल स्वप्न का रहस द्वार
जो आते भीतर आज उतर

"विराग की विजन भूमि" के प्रति अत्यधिक आकर्षण से उत्पन्न स्पन्दन का रूप हमने देखा, अब यह देखें कि कवि स्वर्गिक प्रकाश से चेतना के निम्न धरातलों में जिस स्पन्दन को जगाता है उस तक पाठक को पहुँचाने के लिए अन्तर्द्वंद्व का चित्रण क्यों नही करता। गेटे ने 'फाउस्ट' में सत् असत् वृत्तियों के भयकर अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है जिस सत्य को आप जोवन मे उतारना चाहते हैं यदि उसे ऊपर से लादना नही चाहते तो अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण को छोड़ कर अन्य कोई पद्धति कलाकार के लिए नही है। पन्तजी आज की वस्तु-स्थिति का तो चित्रण करते हैं परन्तु पाठक के हृदय के सघर्ष का चित्रण नहीं करते, काव्य-रूपकों में कहीं-कहीं ऐसा प्रयत्न किया गया है, परन्तु वह नाम मात्र को ही है। स्वयं पंतजी अरविन्द दर्शन को स्वीकार करने के पूर्व बडी द्वन्द्वात्मक स्थिति मे रहे हैं। क्या 'उत्तरा' या अन्य काव्यों मे इस विकल्प मय स्थिति का कहीं वर्णन मिलता है ? उत्तर होगा, नहीं मिलता। अत. मैंने कहा है कि पन्तजी सदेह

व विकल्प की स्थितियों में होते हुए पाठक को निर्णीत सत्य तक नहीं ले जाते। अतः पाठक पन्त के निर्णयों को अपने ऊपर आरोप समझ सकता है, और आरोप विचिकित्सा को उत्पन्न करता है। वर्तमान परिस्थितियों में पतित सामाजिक व्यवस्था के कारण अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न हो गए हैं। हमारे सम्मुख एक ओर तो अतीतकाल में निर्णीत समाधान है, सुख कल्याण के लिए सुझाए गए मार्ग हैं, जीवन के लक्ष्य की व्याख्याएँ हैं, दूसरी ओर व्यवस्था-जन्य दैन्य है; तीसरी ओर विज्ञान-कृत प्रकृति-विजय के अभियान हैं, तथा चौथी ओर हमारी इन सब विरोधी विचारधाराओं के तूफान में खड़ी हुई बुद्धि है, तथा पाँचवीं ओर हमारा हृदय है—भावना है जो अपना आधार खोजना चाहती है। इस परिस्थिति में बुद्धि जो मार्ग सुझाती है यह व्यावहारिक व वैज्ञानिक मार्ग ही हो सकता है, परन्तु संस्कारी हृदय विद्रोह करता है। हृदय व बुद्धि, आदर्श व यथार्थ का यह संघर्ष प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है। पन्तजी भी इसे जानते हैं, स्वयं वह भी इस द्वन्द्व से पीड़ित रहे हैं। विभिन्न मार्गों में भटकती हुई भावना व बुद्धि जब परस्पर विरोधी तत्वों को स्वीकार करती है तो अजीब उलझन खड़ी हो जाती है। यह सम्भव है कि इस उलझन को गम्भीर रूप में चित्रित किए बिना कलाकार अपना प्रिय समाधान पाठकों के सम्मुख रखदे या यह भी सम्भव है कि कलाकार इस उलझन का चित्रण करे और तब समाधान प्रस्तुत करे, या न भी करे। यथार्थवादी कलाकार का मार्ग दूसरा है। इस दूसरे मार्ग में समाधान यदि आदर्शवादी भी हो तो भी वस्तु-स्थिति के पूर्ण चित्रण के कारण कवि यथार्थ के निकट रहेगा। गेटे, शेक्सपियर, मिल्टन ने व्यक्ति के आंतरिक-संघर्ष का जो गम्भीर उद्घाटन किया है, सद् असद् वृत्तियों की क्रूर टकराहट का जो वर्णन वहाँ किया गया है उसे पढ़ कर हमारी सद् वृत्तियों को कितना महान सम्बल प्राप्त होता है, यह सहज ही अनुमेय है। अत इन कलाकारों के निर्णय बाहर से आरोपित प्रतीत नहीं होते, चाहे भले ही हम उनसे सहमत न हों परन्तु पन्तजी व्यक्ति की उस अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति का गहराई से चित्रण नहीं करते। वह गंतव्य का चित्रण करते हैं, गन्ता के मन में उठने वाले आन्दोलन का नहीं। अत पाठक कवि के निर्णयों को आरोपित अनुभव करता है।

गति की विषमताओं व गन्ता के मन के विकल्पों की आश्वस्त दार्शनिक की तरह निन्दा करके, उनके ऊपर उठने का उपदेश देते हुए कवि केवल उन हलचलों का वर्णन करता है जो तब उत्पन्न होती हैं जब चेतना के निम्न स्तरों पर अन्तश्चेतना की फुहार पड़ने लगती है। अन्तश्चेतना की वर्षा का प्रभाव तो कवि बताता है परन्तु उसमे विश्वास करने की स्थिति आने के पूर्व व्यक्ति के मन में जिस भीषण ताप का अनुभव हो रहा है, उसके चेतना-क्षितिज पर जो सन्देह के बादल एकत्रित होते हैं उन्हें उनके पूरे विस्तार व गहराई से चित्रित नही करता। नॉवल पुरस्कार प्राप्त उपन्यास 'सिद्धार्थ'[1] मे जिस प्रकार का अंतर्द्वन्द्व चित्रित है वैसा पन्तजी के अध्यात्मवादी काव्य में नही मिलता, यहाँ सम्भावनाओं का चित्रण अधिक मिलता है। परन्तु चूँकि पाठक का मन उसके लिए तैयार नही किया जाता अतः उसका निर्णय ऊपर से आरोपित प्रतीत होता है। 'कामायनी' को ही लीजिए—कामायनी के अन्तिम सर्ग में कवि ने समाधान प्रस्तुत किया है, वहाँ कवि का प्रिय सत्य अपने पूरे सौन्दर्य के साथ चित्रित है। गन्तव्य कैसा होगा, वहाँ पहुँचने पर क्या प्राप्त होगा, यह सब "आनन्द" सर्ग में चित्रित है परन्तु आनन्द सर्ग अन्तिम सर्ग है, उस तक पहुँचने के पूर्व 'प्रसाद' ने मनु को जो मन का प्रतीक है कितनी चिन्ताओं, आशाओं, कामनाओं, विकल्पों तथा सङ्घर्षों में तपाया है। मनु को सोचने का, समझने का, गलती करके सबक सीखने का अवसर दिया है, और इस प्रकार सहज ही उपलब्ध पतन के मार्ग पर अग्रसर हो जाने का परिणाम मनु के सम्मुख प्रस्तुत किया है। जो सत्य मनु के सम्मुख कवि उपस्थित करना चाहता है, उसके विरोधी तत्त्वों का परिचय यदि मनु न पा लेता तो आनन्द सर्ग पाठक पर एक आरोप हो जाता। परन्तु 'प्रसाद' ने मानवीय मन को ऊर्ध्व-स्तरों की आवश्यकता का बोध पहले कराया तब उसके स्वरूप, साधन और उपलब्धि का वर्णन किया। यह ठीक है कि मुक्तक कविताओं में वृत्तियों के परस्पर घात प्रतिघातों का तथा फिर उन्हें एक दिशा विशेष में ले चलने का कार्य उतनी सफलता से नही हो सकता है परन्तु पन्तजी लम्बे-लम्बे रूपकों व कथानकों को भी तो चुनते हैं तथा लम्बे गीतों में तार्किक

---

[1] हरमन हेस—अनु०—महावीर अधिकारी

पद्धति अपना कर सब कुछ समझाने का भी प्रयत्न करते हैं। यदि इन रचनाओं में उक्त पद्धति अपनाई गई होती तो नूतन काव्य का रूप कुछ और ही होता और कवि का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता, पुनरावृत्ति के लिए गुञ्जायश कम रहती। इस पद्धति के अभाव में कवि अंतश्चेतना के प्रकाश पड़ते ही पार्थिव मन क्या अनुभव करता है, यह बतलाता है परन्तु यह गति की विषमता का चित्रण छोड़ कर गन्तव्य के चित्रण की बात हुई है। आध्यात्मिक स्पन्दनों के चित्रण अधूरे रह गये हैं, वे ऊपर से आरोपित से प्रतीत होते हैं। कुत्सित पक्ष के प्रति घोर घृणा जब तक स्वयमेव आपके मन मे जागृत नही होती तब तक उज्ज्वल पक्ष की मनोरमता हमारे लिए कोरा विस्मय ही उत्पन्न करती है, एक जादूगर का विस्मय ! वह हमारे जीवन का लक्ष्य तभी बन सकती है जब उसके लिए मन में घनघोर चाह हमारे ही अनुभवों से हमें प्राप्त होगई हो। यदि आप उन परिस्थितियों का वर्णन नहीं करते जिनमें हम किसी सत्य का अनुभव करते हैं और यदि उस 'सत्य' के केवल सौन्दर्य व वैभव का वर्णन आप करते हैं, उसका हमारे ऊपर जो प्रभाव पड़ता है उसका भी वर्णन करते हैं तो वह सत्य हमारा सत्य कैसे होगा ? वह तो हम पर आरोपित होगा। यह कसौटी केवल आदर्शवादी कवियों के लिए ही उचित नही है मार्क्सवादी कवियों के लिए भी है क्योंकि बहुत से मार्क्सवादी कवि पन्तजी की तरह "सवेरा हो रहा है, पूर्व में सूरज निकल रहा है, प्रकाश आ रहा है, लाल रंग फैल गया है" ऐसे वर्णन तो बहुत करते हैं अथवा उपन्यासकार पात्रों के मुखों से साम्यवादी-विचार कहलवाते चले जाते हैं परन्तु वे जीवन को उसके सारे आयामों में चित्रित न कर अनेक अनुभवों को सामने न रखकर न्यायाधीश की तरह निर्णयों को पाठकों के ऊपर लाद देते हैं। ऐसे अनेक पात्र मिलेंगे जो यान्त्रिक गति से बिना थके हुए साम्यवादी विचारों की वैज्ञानिकता व उपयोगिता पर भाषण देते रहते हैं, परन्तु यदि लेखक ऐसी स्थितियों का चित्रण करें जिनमे उन विचारों की उपलब्धि पात्र अपने लिए अनिवार्य समझने लग जाय तो पाठक के मन पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। सिद्धान्तों को जीवन के चित्रण द्वारा व्यञ्जित कराने पर अधिक से अधिक जोर सभी विचारकों ने दिया है परन्तु यह काम मुश्किल है। उसके लिए धैर्य पूर्वक जीवन का अध्ययन करना पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों

पर दृष्टि रखनी पड़ती है, व्यक्ति के मन को समझना पड़ता है तब कला सार्थक हो सकती है। यदि आप किसी बात से आश्वस्त हैं तो यह तो एक सरल बात है परन्तु उसी बात के लिए दूसरों को आश्वस्त कर देना उच्च कोटि की कला का कार्य है। विचार को विश्वास में बदलना सबसे कठिन कार्य है, उसे जीवन का प्रेरक तत्त्व जो समूचे जीवन को बदलने के लिए प्रेरणा जगा दे, बनाना उच्चकोटि के कलाकार का ही कार्य है। आप जिस वस्तु में विश्वास करते हैं यदि उस विश्वास की कोरी प्रशंसा ही करते रहे तो आपका विश्वास सम्प्रदाय बनता जायगा और प्रत्येक सम्प्रदायवादी अपने-अपने विश्वास की तारीफ करता है अतः आपको अपने विश्वास को परिस्थिति व व्यक्ति की मानसिक स्थिति के चित्रण के साथ रखना होगा और यदि परिस्थिति का विश्लेषण सही है तो आपका विश्वास संक्रामक हो जायगा। पन्तजी अपनी आध्यात्मिक-प्रेरणा को 'सम्पर्कज' कहते हैं परन्तु वह वस्तुतः 'सम्पर्कज' बन नहीं सकी क्योंकि एक तो सम्पर्कज बनने के लिए वह प्रेरणा स्वयं अपने मे समर्थ नहीं है। कोई भी प्रेरणा जो बुद्धि का सहारा छोड़ देती है, अन्ध-विश्वास का सहारा पकड़ती है, 'सम्पर्कज' नही बन सकती। फिर दूसरे उपर्युक्त पद्धति के अभाव होने से, उसकी अभिव्यक्ति तो सफल हो ही सकती थी चाहे वह स्वीकृत होती या नही, परन्तु वह भी सम्भव न हो सका।

प्रतीति की अवस्था सन्देह-विरहित अवस्था का नाम है, इस अवस्था में कोई ऐसी वस्तु अवश्य होनी चाहिए जिस पर व्यक्ति का मन अपना नीड़ बनाकर निवास करने लगता है, अथवा उस वस्तु का साक्षात् सहवास प्राप्त करता है। कवि 'उत्तरा' में ब्रह्म के साक्षात् सहवास की ओर तो संकेत ही करता है या प्रार्थना करता है जो सदा दूरी प्रकट करते हैं परन्तु 'अन्तश्चेतना' की गतिविधियों का वह साक्षात अनुभव करता है। इसीलिए मैंने इसे सारे विचारों का सूत्र कहा है, अन्तश्चेतना की प्रतीति साक्षात् दर्शन एवं प्रकाश्य ज्ञान से ही होती है, जो कल्पना से अधिक उच्चकोटि की वस्तु है। जो वस्तु सतत परिश्रम से एक व्यक्ति को प्राप्त नही होती वही वस्तु कभी-कभी सहसा ही प्राप्त हो जाती है। मानसिक क्षितिज पर विद्युत-लहर की तरह कभी-कभी सहसा किसी विचार की उपलब्धि हमें हो जाती है। वस्तुतः इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि की

व्याख्या ही न हो सके ऐसा नही है, क्योंकि सहसा ही जो सूझ हमें प्राप्त होती है वह उसी दिशा मे होती है जिस दिशा में हम अपनी मानसिक शक्तियों को केन्द्रित करते हैं। परिस्थिति के परिपक्व हो जाने पर, सतत प्रयत्न होते रहने पर कभी-कभी हमें अप्रत्याशित सत्य का साक्षात्कार हो जाता है, यदि स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान किसी भी दिशा में कुछ भी बता पाता तो जिन युगों में इसका पूर्ण-विकास हो चुका था अर्थात् अरविन्द के अनुसार इस बुद्धिवादी युग के पूर्व के युगों में—वैदिक उपनिषद् युगों में स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान का विकास हो चुका था, उन युगों मे वे सब वस्तुएँ व नियम भी आविष्कृत हो जाने चाहिए थे जिनको आज के युग मे खोजा गया है। ऋषियों के स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान ने उन्हें अपनी बर्बर व्यवस्था को बदलने का परामर्श नही दिया, क्योंकि वे इतिहास की सीमाओं को परिवर्तित नही कर सकते थे, चाहे वे कितने ही तत्त्वदर्शी क्यों न रहे हों, परमतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले द्रष्टाओं को अन्य क्षेत्रों का कुछ भी ज्ञान न था या बहुत कम था। अतः स्पष्ट है कि जिस स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान की अरविन्द व पन्तजी प्रशंसा करते हुए नही थकते वह विचार, संस्कार, क्षेत्र, देश, काल, पात्र आदि की सीमाओं के भीतर ही काम करता रहा है। अन्ततः वह भी एक मानसिक शक्ति है और कोई भी मानसिक शक्ति निरपेक्ष नही हो सकती, ज्ञान के विकास का इतिहास इस बात का गवाह है।[1]

[1] स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान बौद्धिक प्रक्रिया के अभाव में ब्रह्म की खोज तो कर सका परन्तु सामान्य तथ्यों के विषय में वह कुछ भी सहायता नहीं कर सका—

They (Mystics) have been disposed to ignore the intellect. The accumulated results of centuries of thought and scientific investigation have been neglected. Accordingly, they have had but a meagre conception of the universe, and their ideal of perfection has been hazy. Of the grandeur and sublimity of the starry universe, as revealed by recent astronomy, they have been as ignorant as the ant is of the majesty of the Himalayan mountain on which it is crawling, of the exceeding min-

अरविन्द, बर्गसाँ क्रोसे आदि स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान के विश्वासियों ने इस ज्ञान को निरपेक्ष मानकर निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति को सम्भव सिद्ध कर दिया और अन्धविश्वास पर वैज्ञानिकता की मुहर लगा दी। पन्तजी इसी स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान से अंश्चेतना का साक्षात् दर्शन करते हैं। आप इसे कल्पना का ही रूप कह सकते हैं अथवा इसे स्वतन्त्र मानसिक शक्ति-मान कह सकते हैं। इस शक्ति के द्वारा जब कवि चेतना के ऊर्ध्व-स्तरों की ओर उन्मुख होता है तो उसे प्रतीत होता है कि ऊर्ध्वतम् सोपानों से निम्नतम सोपानों को एक ही अतश्चेतना ग्रथित किए हुए है। इस अतश्चेतना का प्रकाश ऊर्ध्व-मन से उतरता हुआ साफ नजर आता है। जो देखना चाहे वह अपने स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान का विकास करके देख सकता है। पन्तजी ने उत्तरा में इस उतरते हुए दिव्य-प्रकाश का बार-बार वर्णन किया है, और इन वर्णनों में कही प्रत्यक्ष-वर्णन पद्धति को अपनाया गया है तो कही प्रतीकात्मक पद्धति को। इस अतश्चेतना का चित्र उतारते समय कवि के मन में कभी तो विस्मय जन्य आनन्द उत्पन्न होता है, कभी मुग्ध हो हो कर उसी ऊर्ध्व-चेतना को देखते रह जाने की भावना उत्पन्न होती है, कभी तटस्थ होकर उसका यथातथ्य रूप अकन की प्रवृत्ति जाग उठती है और कभी उसका मानवीयकरण कर कवि विभिन्न छवियों का अकन करता है। 'उत्तरा' में इस प्रकार के चित्रण पूर्ववर्ती चित्रणों के साथ ही रखे जा सकते हैं। जिस प्रकार सध्या छाया आदि का कवि पूरी तटस्थता के साथ चित्रण किया करता था उसी प्रकार कवि यहाँ 'अंतश्चेतना' की गतिविधियों का अंकन करता है। "पल्लव" आदि में तो स्वरूप को ही विशिप्ट रूप दे देकर अंकित किया गया है और यहाँ अरूप वस्तु को विशिष्ट रूप देकर चित्रित किया गया है, दोनों स्थानों पर मानवीयकरण की पद्धति का प्रयोग किया गया है। अतश्चेतना का यह चित्रण रोमानी प्रवृत्तियों के पुनर्जागरण में बड़ा सहायक हुआ है। रोमानी प्रवृत्ति ही यह है कि कवि वस्तु को जिस रूप में देखना चाहता है उस रूप में

---

uteness of the parts, and the intricate interplay of their relationship, they had as little knowledge as the elephant has of the eye of a midge.

—(Modern Mystics—by Francis young Husband)

चित्रित करता है अत वस्तु आकार आदि का चित्रण मुख्य न होकर वह विशिष्टता मुख्य हो जाती है जो उस वस्तु को कवि द्वारा मिल जाती है। वस्तु को भावना का रँग देकर रोमानी कवि उसमें विशिष्ट छवियाँ उत्पन्न कर देते हैं। अतः जिस प्रकार पूर्ववर्ती कविताओं में छाया, नक्षत्र आदि को कवि ने विशिष्ट रूप दिया था, उसी प्रकार अंतश्चेतना को भी भावना के रँग में रँग कर देखने से उसकी अनेक रूप राशियों को कवि अंकित करता है। कहना न होगा पन्तजी की इस प्रकार की रचनाएँ प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण सफल हुई हैं।

काव्य-चेतना के रूप में अंतश्चेतना का एक चित्र देखिए :—

तुम रजत वाष्प के अम्बर में—बरसाती शुभ्र सुनहली झर
शोभा की लपटों में लिपटा, मेघों का माया कल्पित घर !
सुषमा की पंखड़ियाँ खुलती, फैला रहस्य स्पर्शों के दल
भावों के मोहित पुलिनों मे, छाया प्रकाश बहता प्रतिपल
सतरंगे शिखरों पर उठ कर, उड़ता शशि सूरजसा उज्ज्वल
चेतना ज्वाल सी चन्द्र विभा, चू पड़ती, प्राणों में शीतल
तुम रहसद्वार से मुझे कहाँ, गीते ले जाती हो गोपन
शोभा में जाता हृदय डूब, पा स्पर्श तुम्हारा सुर-चेतन

मैंने पहले ही कहा है कि पन्तजी चित्रण-कला में कुशल हैं। सिद्धान्त-वादिता का यदि दुराग्रह न होता तो उनकी कला में जो अवरोध आगया है वह न आ पाता। यहाँ चेतना के गत्यात्मक-सौन्दर्य का एक सजीव व्यक्तित्व पाठक के सम्मुख खडा हो जाता है। अंतश्चेतना का एक और रूप लीजिए :—

तुम चन्द्र-ज्वाल सी सुलग रही
जीवन लहरों में चिर-चंचल
स्वर्गिक स्पर्शों में अंत:स्मित
कँप कँप उठता चल मानस जल

अन्तश्चेतना की शोभा पर स्वप्निल गुंजन भरने के लिए तथा उस शोभा के वितरण के लिए ही कवि अपनी कला को सार्थक मानता है। प्रकृति के वर्णन मे कवि शरद् ऋतु को अंतश्चेतना का ही प्रतीक मानकर वर्णन करता है अतः शरद् के स्थूल सौन्दर्य का अंकन करके कवि अपनी समास-शक्ति के बल पर सारे वर्णन को साथ-साथ अंतश्चेतना के वर्णन के रूप में बदल देता है। अंतश्चेतना के रूप में

कवि प्रकृति को देखता है, चूँकि यहाँ सर्ववादी प्रकृति जागृत हो जाती है अत वस्तु, हृदय, मन सर्वत्र स्तरों में अतश्चेतना जनित सौन्दर्य व वैभव ओत-प्रोत प्रतीत होता है। अंतश्चेतना सामान्य वस्तु में असामान्य सौन्दर्य उत्पन्न करने मे भी समर्थ है, वस्तु की रूप वृद्धि के साथ साथ उसके सौन्दर्य में नूतन विशेषताएँ भी वह उत्पन्न कर सकती है। यह चेतना कवि को वस्तु के प्रति एक नूतन दृष्टि देती है, चारों ओर सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई देता है'—

कैसी दी स्वर्ग-विभा उड़ेल
तुमने भू मानस मे मोहन
मैं देख रहा मिट्टी का तम
ज्वाला वन धधक रहा प्रति क्षण
ज्यों उषा प्रज्वलित सागर में
डूबता अस्तमित शशि मंडल
चेतना क्षितिज पर आभा-स्थित
भूगोल उठ रहा स्वर्णोज्वल
लिपटी फूलों से रग ज्वाल
गूँजते मधुप, गाती कोयल
हरिताभ हर्ष से भरी धरा, लहरों के रश्मि ज्वलित अंचल।

अंतश्चेतना के साक्षात्कार से कवि के मन मे उल्लास थिरक उठता है। ऐसी ही रचनाओं के विषय में कवि का यह कहना सार्थक हो उठता है कि 'उत्तरा' में उसने भावना का भी स्पर्श किया है क्योंकि सिद्धान्तवादी व प्रतीकवादी रचनाओं में भावना का प्रायः अभाव मिलता ही है। अंतश्चेतना को मानसिक क्षितिज पर उतार कर जब कवि अपने चारों ओर देखता है, तो लगता है सारा विषाद, दैन्य दुख, संघर्ष धुल रहा है, आप इसे पलायन कह सकते हैं, आशावाद कह सकते हैं, परन्तु यह निश्चय है कि कवि-कला यहाँ कुंठित नही दिखाई पड़ती। यही कवि की पूर्ववर्ती कुशलता देखने को मिलती है। ऐन्द्रिक-बोध को तीव्र करने के लिए इन रचनाओं का बराबर उपयोग होता रहेगा। कवि ऐसे वातावरण में हमें रख देता है जहाँ आनन्द व सौन्दर्य के ही दर्शन होते हैं, जिस कौतूहल को हम वीणा व पल्लव में देखते हैं वैसा ही विस्मय यहाँ देखने को मिलता है। सौन्दर्य के

स्नेहमय वक्षस्थल में कवि मुख छिपा कर विषण्ण जीवन से मुक्ति पाने का अवकाश यही पाता है—

यह शोभा का प्रिय वक्षस्थल
जिसका संगीत, हृदय स्पन्दन
चेतना स्वयं जो स्वर्ण गौर
कोमल उर कलियों मे पुंजित
उल्लास अमर साँसों में वह
रखता इनको आभा-दोलित

कवि का स्पष्ट कथन है कि सत्य के साक्षात्कार से ही वह सौन्दर्य मय दृष्टि प्राप्त होती है। वस्तुओं के रँग, रूपों, ध्वनियो तथा सुगंधियों मे तब और भी आकर्षण बढ़ जाता है जब कवि अंतश्चेतना को उनसे संयुक्त कर उन्हें देखता है, अत. निरपेक्ष सत्य व वस्तु-सत्य का विरोध शांत हो जाता है। दूसरे सौंदर्य को जो केवल इन्द्रिय-बोध तक ही सीमित कर देते है, उनको कवि स्वीकार नहीं करता। वह उस सौन्दर्य को सौंदर्य ही नही मानता जो कि ऐन्द्रिकता का उत्तेजक होता है। सत्य की पहचान के पश्चात् वस्तु का सौंदर्य-दर्शन अतीन्द्रियता की ओर उन्मुख करता है। अत. मंगल, प्रीति, आनन्द आदि पवित्र भावनाओं को जगाता है। वस्तु सत्ता का सौंदर्य अंकित करते समय कवि सत्य के स्पर्श का अनुभव करता है। इस प्रकार सौंदर्य व सत्य का सम्बन्ध कवि इस प्रकार स्थापित करता है—

प्रज्ञा—बुद्धि— सत्य के स्वरूप का ज्ञान।
सत्य की प्रतीति— वस्तु सत्ता व निरपेक्ष सत्य में अविरोध।
अविरोध-प्रतीति—वस्तु सत्य का वाह्य रूप, वाह्य सौन्दर्य, आंतरिक सौन्दर्य के अवगुंठन रूप में।
वस्तु-सौन्दर्य दर्शन—अवगुंठन का अनावरण—सत्य की प्राप्ति।
सौन्दर्य और सत्य का संयोग—प्रीति, उदारता, अहं का विकास, मधुरता, मुग्धता तथा आनन्द आदि दिव्य गुणों का विकास अर्थात् सत्य, सौन्दर्य व शिवत्व का संयोग।

इस प्रकार अन्तश्चेतना का साक्षात्कार कवि को उपर्युक्त नूतन-दृष्टि देता है और कवि इस प्रकार दर्शन, धर्म तथा सौन्दर्य-शास्त्र का

समन्वय प्रस्तुत करता है। अतः इस दिव्य-साक्षात्कार से प्राप्त सौन्दर्य-दर्शन को कवि चूँकि मानवीय गुणों का जनक मानता है अतः वह इसे पलायन नहीं मानता।

भू को स्वर्ग बनाने के लिए वह इस सौन्दर्य-अङ्कन को बहुत उपयोगी बताता है। परन्तु वह यह जानता है कि सामाजिक दृष्टि से विषण्ण सामाजिक व्यवस्था में ये स्वप्निल गीत इसी दृष्टि से उपयोगी माने जायेंगे कि उनमें आदर्श और उच्च जीवन प्राप्त करने की कामना है, कवि चाहता है कि बस सृष्टि पर सौन्दर्य ही सौन्दर्य की वर्षा हो। यह भावना तो प्रिय है परन्तु यह कामना तो कल्पना के नन्दन वन में विचरने वाले कवि की ही कामना है। निरपेक्ष सौन्दर्य के प्रति अधिक आसक्ति का परिणाम यह हुआ है कि सापेक्ष्य सौन्दर्य के प्रति कवि की दृष्टि संकुचित हो उठी है। कवि कर्म के सौन्दर्य की ओर ध्यान न दे कर जब प्रीति, मधुरता, करुणा, विश्वमैत्री आदि पवित्र भावनाओं को निरपेक्ष रूप में अपने संकुचित सौन्दर्य से प्राप्त करना चाहता है तो हम उसके निरपेक्ष सौन्दर्य-अङ्कन को रमणीय कह कर भी संकुचित और एक सीमा तक खतरनाक भी मानते हैं क्योंकि जो कवि समन्वय की पुकार लगा कर भी निरपेक्षता का प्रचार करता है उसकी रमणीयता यथार्थ और मूर्त सौन्दर्य की ओर से जनता का ध्यान विरत कर देती है और ऐसे स्वर्गीय-सौन्दर्य में किसी को भी सन्तुलन दृष्टि का अभाव दिखाई पड़ सकता है। पारलौकिक सौन्दर्य कितना ही भव्य व आकर्षक क्यों न हो यदि वह अभावात्मकता का सृजन करता है, जीवन को उसके वास्तविक रूप से हटा कर देखता है तो उस सौन्दर्य को हम 'समन्वित' सौन्दर्य नहीं मान सकते, स्वयं कवि ने भी अपने सौन्दर्य के पलायनवादी स्वर को स्वीकार किया है—

फूलों की ज्वालाएँ भरती,
मेरे अन्तर में उद्दीपन,
जीवन के शोभा तम के प्रति,
मेरे मन में चिर आकर्षण,
मिट्टी के तन्द्रिल मानस में,
जगते उज्ज्वल फूलों के पल,

मैं शोभा स्रष्टा, ज्ञात मुझे,
ज्वाला का उसका अन्तस्तल।
× × ×
इनमे न भले ही आएँ फल
जग का मग सतत करें कुसुमित
सौरभ से भर न सकें नभ को
दृग अपलक कर ये, उर पुलकित
मैं स्वप्नों का प्रेमी, मुझको
करता न सत्य जग का मोहित

कवि स्पष्ट कहता है कि वह स्वप्नों का प्रेमी है और जग का 'स्थूल सत्य' उसे अब मोहित नही करता अत. "समन्वय" "समन्वय" की पुकार लगाने पर भी उसका एकांगी रूप यहाँ स्पष्ट है। रहस्यवादी कवियों का क्षेत्र संकुचित होता है। वे कल्पना के क्षितिज पर जो रङ्गीन फूल खिलाते हैं, उनमें निश्चित रूप से रङ्ग व रूप होता है, परन्तु जीवन का फल उनमें नही लगता। पन्त जी जानते हैं कि उनके सौन्दर्य-पुष्प में जीवन के फल नही लग सकते परन्तु जीवन के लिए कठोर संघर्ष करने वालों के लिए वे शोभा का दान देकर झर जाने में अवश्य गौरव अनुभव करते हैं। शताब्दियों से दार्शनिक व धार्मिक व्यक्ति जिस कल्पित मनोराज्य की कल्पना करते आए हैं उसी प्रकार का कल्पित मनोराज्य पन्तजी भी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं जो रमणीय तो है परन्तु वास्तविक नही है। और इसीलिए वह संकुचित और एकांगी है।

यदि केवल "कल्पना-शक्ति" पर विचार करें तो कवि सर्वथा नूतन रूप राशियों का ढेर लगा देता है। पाठक का मन न जाने किन आकाशों में पहुँच जाता है, आंतरिक आभा ज्वलित हो उठती है, स्वप्न कलियाँ मुस्कराने लगती हैं, हृदय कम्पित होने लगता है, तड़ित स्पर्श लगते हैं और चेतना-सागर हर्ष से हिल्लोहित हो उठता है, अंतर्मन के शिखर पर रङ्गीन छाया निर्झर छूट पड़ते हैं, जिन्हे देखकर सुषमा, प्रीति और मधुरिमा थिरक उठती हैं, पृथ्वी पर जादू बिछ जाता है, पृथ्वी कामिनी की तरह अँगड़ाई भरती हुई दिखाई देने लगती है, पुष्प उरोज-शिखर से प्रतीत होते हैं, पृथ्वी की हरियाली

चोली बन जाती है और फूलों की शैय्या पर लेटी धरती के अधरों पर अरविन्द जी के सच्चिदानन्द चुम्बन धर देते हैं, धरती काँपने लगती है, और भूरज के परिरंभण में स्वर्ग का वैभव भर उठता है '।

यह कल्पना का अभिसार है जो कही-कही तो कुत्सित भी हो उठा है परन्तु जैसा कहा गया है कि यह अधिक स्थानों पर कुत्सित नही हुआ है तो भी यह चित्रण कल्पना का अभिसार ही कहा जायगा। निरपेक्ष की पूजा का सर्वदा यही परिणाम हुआ है, इतिहास साक्षी है। मैंने कहा है कि पन्तजी कल्पना-प्रिय कवि हैं, यथार्थ की पद्धति पर वह चल ही नहीं सकते अत. अरविन्द के दर्शन को स्वीकार कर उन्हें भविष्य व आध्यात्मिक स्वप्नों के चित्रण करने के लिये कल्पना का जी खोलकर प्रयोग करने का अवसर मिल गया है, अत. कल्पना का इन्द्रजाल खड़ा करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

एकाकारिता की स्थिति

व्यक्तिगत चेतना जब महाचेतना के साथ सयोगावस्था का अनुभव करती है तो एकाकारिता की स्थिति आती है और इस स्थिति को प्राचीन रहस्यवादियों ने बराबर संकेकित किया है, उस असीम, अप्रत्याशित और विचित्र आनन्द से सिक्त होकर रहस्यवादियों की वाग्सरिता स्वत. प्रवाहित हो उठती है, परन्तु इस स्थिति का वर्णन वह कवि नही कर सकता जो सत्ता के साथ नैकट्य का अनुभव कोरी अनुमान प्रक्रिया पर करता है। साधक ही उस साक्षात्कृत अनुभूति का वर्णन कर सकता है। पन्तजी कल्पना व अनुमान की प्रक्रिया पर चलते हैं (जिसे एक लेखक ने God guessed by brain कहा है) अतः तन्मयता, व तदाकारिता का वर्णन 'उत्तरा' में प्राय. नही मिलता। सौभाग्य से इस विषय से सम्बन्धित 'शीर्षक' भी है—"परिणति" परन्तु इसमें भी दिव्य-प्रतीति के सामान्य प्रभाव का ही वर्णन किया गया है। पन्तजी ईश्वर के माध्यम से जड़ व चेतन में अविरोध स्थापित करना चाहते हैं। यही कार्य उनके गुरु अरविन्द ने भी किया था। अविरोध खोजने के लिए बार-बार वह ईश्वर के उपयोग की चर्चा करते हैं परन्तु व्यक्तिवादिता के कारण व्यक्तित्व का विलीनीकरण उनमें कहीं नही मिलता। यह भी एक कारण है कि कविता में मर्मस्पर्शिता नही आ पाती। जिन चिन्तन श्रेणियों पर कवि खड़ा होता

है वहाँ से चिंतन, गुंजन, प्रवचन, अवलोकन व आराधन तो होता है परन्तु स्पन्दता की स्थिति नही आती। पुष्प को कल्पना की आँखों से देखकर दूर ही दूर गूँजने की स्थिति तो मिलती है परन्तु उसमें बन्द होकर अपना सब कुछ समर्पित कर देने की प्रवृत्ति न होने से एकाकारिता की स्थिति के दर्शन यहाँ नही होते। 'परिणति' को देखिए—

तुम बस हृदय मे
धरती निज ज्वाला लिपटाती
तन में—
स्वर्ण किरण आभा बरसाती
मन में—
मति स्वप्नों से रँग रँग जाती
क्षण में
आज नम्र-निर्भय मैं

यहाँ तन, मन तथा मति पर अंतश्चेतना के प्रभाव का वर्णन किया गया है। इन स्तरों की अपनी-अपनी ओर स्वतन्त्र खींच तान तो बन्द होगई है, अविरोध की स्थिति आगई है, चेतना के निम्न-सामान्य स्तरों में जो व्यावहारिक जीवन में विरोध दिखाई पड़ता है, वह तो यहाँ नही दिखाई पड़ता परन्तु जब तक स्वप्न की सुधि रहती है तब तक एकाकारिता कहाँ ? अतः उपर्युक्त तीनों स्तरों पर पड़े हुए प्रभावों का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि कवि आशा, स्फूर्ति दम्भ-हीनता ,तथा निर्भयता का अनुभव करता है परन्तु यह तो नैतिक गुणों का लाभ मात्र हुआ। यहाँ वह 'आत्यंतिक स्थिति' कहाँ है जिसका वर्णन कवियों ने बराबर किया है और जिसमें पृथकता तिरोभूत हो जाती है। पन्त जी स्वयं इसका कारण भी बताते हैं और वस्तुतः ये पंक्तियाँ गम्भीर आत्म-स्वीकृति की प्रतीक हैं—

धरती की वेदना, कामनाओं की छाया,
स्वर्ग-चेतना मृत्यु-भीत स्वप्नों की माया।

वस्तुतः स्वर्ण-काव्य में मृत्यु से भयभीत कवि के आशाप्रद अतः सुखप्रद स्वप्नों की माया से ही उसकी स्वर्गिक-चेतना का जन्म हुआ है, जिसे धरती के अनुभवों के साथ संयुक्त करने में, उसका अविरोध स्थापित करने में अरविन्द को भी बड़ा कष्ट हुआ है, और पन्त को भी।

स्वर्ग व स्वप्न की मनोरमता के ध्यान व आराधन पर कवि का ध्यान अधिक है। स्वप्निल-मानसिक-स्थिति में प्रकृति की मनोरमता की पहचान पर भी उसका ध्यान अधिक है परन्तु कवि उस सत्ता के रूप में परिणत होने की कल्पना कर के भी कल्पना नही कर पाता, कोई नही कर सकता क्योंकि यह मानवीय कल्पना की सीमा है। कल्पना नाना रूपों का सृजन तो कर सकती है जैसा कि कवि ने किया भी है परन्तु वह तभी तक जब तक आप अपने अस्तित्व को अलग बनाए रहे। एकाकारिता के लिए ब्रह्म व जीव के बीच संवेदना का तार जुड़ना चाहिए। भावना के तार के हिलने पर भी साधक की चेतना एकाकारिता की स्थिति का अनुभव कर पाती है। कवि इसके अभाव मे कल्पना द्वारा प्राप्त कुछ रहस्यमय अनुभवों के क्षणों को गीतों में बाँधता रहता है। किसी गीत में जिज्ञासा का वर्णन है, किसी में ऊर्ध्व-चेतना-स्तरों के अवलोकन का, किसी मे तज्जन्य प्रभाव का, किसी में आशा व विश्वास का आदि। परन्तु ये सब स्थितियाँ एकाकारिता की स्थिति से भिन्न हैं। पन्तजी अपने 'मूड' का स्वय वर्णन करते है—

यह कामना रहित रहस्य-क्षण,
केवल निश्छल आत्मसमर्पण,
तुम्हें हृदय मन्दिर में पाकर,
प्रीति मधुर सकुचाई।

यहाँ आत्म-समर्पण की भावना का वर्णन है, परन्तु उस स्थिति को उपलब्धि यहाँ व्यञ्जित नही है। इसीलिए इन कविताओं मे चेतना की गूँज व गुनगुनाहट का वर्णन तो बार-बार होता है, स्पर्श व आभासों का भी वर्णन होता है परन्तु तदाकारिता की स्थिति सकेतित नही हो पाती। हाँ, तन्मय होने की विकल इच्छा कही कही अवश्य मिल जाती है—

अङ्ग-अङ्ग में हृदय छलकता,
रोम रोम में प्राण सिसकता,
तुम मे तन्मय होने को उर,
करता क्रन्दन गायन।

और मजा यह है कि इस प्रतीक्षा को ही कवि ईश्वर की सत्ता

सिद्ध करने में प्रमाण बनाता है, उसे बराबर यह आशंका रहती है कि कहीं कोई अविश्वास न कर उठे—

अमर प्रतीक्षा से ही सुन्दर,
ज्ञात मुझे, वह मानव अन्तर। —'प्रतीक्षा'

प्रकृति और प्रतीति का परस्पर सम्बन्ध

अलक्षित सत्ता में इस प्रकार विश्वास करने से कि यह प्रकृति भी उसी सत्ता का एक वाह्य स्वरूप है, प्रकृति के प्रति कवि के दृष्टिकोण में एक महान परिवर्तन दिखाई पड़ता है। प्रकृति, पुरुषोत्तम का निवास-स्थान भी है। क्योंकि वह अन्तर्यामी है और उसका वाह्य स्थूल रूप भी है। जब कवि प्रथम दृष्टिकोण से प्रकृति को देखता है तब ब्रह्म के सर्व-व्यापकत्व का वर्णन होता है। प्रकृति के प्रति सर्ववादी कवि यही दृष्टिकोण रखते आए हैं, प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में चिरन्तन सत्ता की विद्यमानता का वर्णन इसीलिए होता है। किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से जब कवि प्रकृति को देखता है तो स्थूल वस्तु सूक्ष्म सत्य को आवृत करने वाली भी बन जाती है। यहाँ दो प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं; प्रथम यह कि नित्य सत्ता को ही सत्य मान कर अनित्य प्रकृति में सत्य व सौन्दर्य की अवस्थिति न मानना, प्रकृति के सौन्दर्य को अन्तस्थित सत्ता के सौन्दर्य का आभास मात्र मानना; वस्तु में अपना सौन्दर्य न मानना, यह दृष्टिकोण हीगेल आदि आदर्शवादियों का है। वस्तु के प्रति दूसरा दृष्टिकोण अरविन्द व पन्तजी का है जिसमें आन्तरिक सौन्दर्य ही वाहर प्रकाशित होता है। अत: नश्वर व अनित्य प्रकृति में जो सौन्दर्य दिखाई पड़ता है वह पूर्णतया सत्य है, परन्तु उनके नीचे दृश्यमान सौन्दर्य का कारणभूत सौन्दर्य छिपा रहता है। हीगेल कारण-भूत मूल सौन्दर्य को ही सत्य मानते हैं, जब कि पन्तजी कारणभूत व वाह्य दृश्यमान सौन्दर्य को भी सत्य मानते है, क्योंकि वाह्य सत्य व सौन्दर्य आन्तरिक सत्य व सौन्दर्य का ही प्रकाशन है। परन्तु सौन्दर्य इन्द्रियों से गृहीत होता है और केवल मन के निम्न स्तरों को ही प्रभावित करता है। यदि हम ऊर्ध्व-स्तरों से परिचित नहीं होते तो यह सौन्दर्य हमे निम्न-स्तरों तक ही रोक लेता है और प्राणमय, मनोमय कोशों तक ही रह कर ऐन्द्रिक सौन्दर्य की प्यास को बुझाता रहता हैं। फलतः शब्द, स्पर्श, रूप और रस का आनन्द हमारी इन्द्रियों को

इतना विभोर करता रहता है कि हम इन्द्रियातीत आनन्द की ओर उन्मुख नहीं हो पाते जो जीवन का मुख्य उद्देश्य है और जहाँ असीम और सच्चा सौन्दर्य अवस्थित है। कविता मे प्राय: कवि इसी ऐन्द्रिक आनन्द का वर्णन करते हैं जो स्पष्टत: 'रस' रूप ग्रहण नहीं करता क्योंकि रस का सम्बन्ध ब्रह्म से है, उसका आनन्द अलौकिक होता है। जो कवि प्रकृति को उद्दीपन के रूप में ही वर्णित करते हैं वे विषयानन्द को जगाते हैं। वस्तु का बाह्य सौन्दर्य सत्य को ढक लेता है परन्तु यदि हम प्रकृति व पुरुषोत्तम का उपरोक्त सम्बन्ध समझ लें तो शब्द, रूप, रसादि का वर्णन आन्तरिक सत्य के उद्घाटन में सहायक हो सकता है, और यही कवि का कार्य भी है। आगामी युग में ऐसी ही कविता होगी जिसमें विषयानन्द को न जगा कर कविता ब्रह्मानन्द को जाग्रत करेगी।

पन्तजी इसी अतीन्द्रिय सौन्दर्य का उद्घाटन करने के लिए अब प्रकृति-वर्णन करते है—

१—वह प्रकृति की बाह्य-मनोरमता का चित्रण करते हैं परन्तु कम।

२—प्रकृति के आन्तरिक सत्य के उद्घाटन का प्रयत्न करते हैं।

३—प्रतीकों व उपमान विधान के रूप में उसे प्रयुक्त करते हैं।

४—प्रकृति के संकेतों को पहचानने का प्रयत्न करते हैं।

प्रकृति के प्रति कवि के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

फूलों की ज्वालाएँ भरतीं,
मेरे अन्तर में उद्दीपन,
जीवन के शोभा-तम के प्रति,
मेरे मन मे चिर आकर्षण,
इस धरती के उर से लिपटे,
कितने प्रकाश के रङ्ग चपल,
मेरी इच्छाओं से उपमित,
किरणों में, प्राणों में ओझल,
मिट्टी के तन्द्रिल मानस में,
जगते उज्ज्वल फूलों के पल,

मैं शोभा स्रष्टा ज्ञात मुझे,
ज्वाला का उसका अन्तस्तल।

अन्तश्चेतना में विश्वास के कारण जब कवि चारों ओर प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा को देखता है तो उसमें एक नूतन आध्यात्मिक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। अन्तश्चेतना और ज्योत्सना के संयोग से प्रकृति में एक नूतन सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है। यह एक बात हुई। अब दूसरी दृष्टि से देखिए—

ये नि स्वर, सहज मधुरिमा से,
अन्तरतम कर देते झंकृत,
मैं वाणी का सुत, विदित मुझे,
रमणीय अर्थ व्यञ्जित, अकथित।

अर्थात् प्रकृति से रमणीय अर्थों की व्यञ्जना भी पन्तजी कराते हैं। प्रथम दृष्टि से प्रकृति में पन्तजी को कहीं कुरूपता के दर्शन नहीं होते। सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है और दूसरी दृष्टि से प्रकृति जीवन के दिव्य-सत्यों को चुपचाप व्यञ्जित करती है, जिसे द्रष्टा कवि ही समझ पाता है। तीसरी दृष्टि देखिए—

देवों को पहना रहा पुनः,
मैं स्वप्न माँस के मर्त्य वसन,
मानव आनन से उठा रहा,
अमरत्व ढँके जो अवगुण्ठन।

इस दृष्टि से प्रकृति का वाह्य सौन्दर्य आन्तरिक सौन्दर्य को अपने में छिपाए हुए है। इसका यह अर्थ कदापि न होगा कि वाह्य-सौन्दर्य की सत्ता ही नहीं है। अत उस वाह्य सौन्दर्य तक ही रुक जाना उचित नहीं होगा। यह सौन्दर्य द्वारा सौन्दर्य उद्‍घाटन की प्रवृत्ति है।

प्रतीकों के सम्बन्ध में हम विचार कर चुके हैं। चूँकि प्रतीक किसी अन्य वस्तु या भावना को व्यञ्जित करने के माध्यम मात्र होते हैं अतः उनके सौन्दर्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जिन्होंने प्रतीकों के सौन्दर्य का भी ध्यान रखा है, उन कवियों का काव्य अमर रहेगा।

पूर्ववर्ती कविताओं के ऐन्द्रिक चित्रणों को अब कवि स्वीकार नहीं करता। नारी व प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म सौंदर्य का अंकन अब नहीं होता। अतृप्ति व लालसा को अब वाणी ग्रहण नहीं करना चाहती—

वह रुद्ध वद्ध लालसा नही
जो नारी प्रतिमा में मूर्तित
यह देवों के उर में वसती
श्रद्धा प्रतीति से अभिषेकित

तथा

अब प्रेमी मन वह नही रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल
प्रेयसि स्मृति भी वह नही रही
भावना रह गई विरहोज्ज्वल

तब प्रेमी मन प्रकृति को सुख दुःख की सहचरी बनाता था। "उच्छ्वास और आँसू" की कहानी कहता था, अब कवि प्रकृति के सौन्दर्य के अवगुंठन का चित्रण कर उसके माध्यम से आंतरिक सत्य के साक्षात्कार का प्रयत्न कर रहा है। कवि के इस दृष्टिकोण से "सौन्दर्य-शास्त्र" में एक नूतन अध्याय जुड़ता है और दर्शन-शास्त्र में भी। प्रेम से ही नही सौन्दर्य-आराधन से भी हम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। यह कहना गलत है कि जो हमारी भावनाओं के अनुकूल है, वही सुन्दर है, यह वात अवश्य है कि वह भी सुन्दर होता है परन्तु 'सुन्दरत्व' हमारी चित्त की दशा की चिन्ता न करता हुआ भी वस्तु मात्र में अवस्थित है। हमे चाहिये कि उस सत्य व सौन्दर्य की पहचान करें, उसके संकेत को पहचान लें तब अतीन्द्रिय सौन्दर्य की प्राप्ति मे ऐन्द्रिक सौन्दर्य सहायक हो जायगा। यह दृष्टि सर्वथा नवीन है। जिस प्रकार अरविन्द ने भौतिक अनुभवों व आध्यात्मिक अनुभवों को एक दूसरे का पूरक बनाया है वैसे ही इन्होंने पार्थिव सौन्दर्य व अपार्थिव सौन्दर्य को एक दूसरे का पूरक बना दिया है अत. इसी दृष्टि से 'उत्तरा' में प्रकृति को देखा गया है, विना चिरन्तन सत्ता में विश्वास हुए इस प्रकार की दृष्टि नही मिल सकती।

उपर्युक्त दृष्टिकोण के कारण प्रकृति की नाना छवियों का अंकन, कवि नही करता। उत्तरा में शरद ऋतु का वर्णन ही अधिक हुआ है, एक चित्र वसन्त का है। कुछ स्वतन्त्र चित्र हैं। शरद ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह अन्तश्चेतना की मूर्ति सी जान पड़ती है:—

आज प्राण चिर चंचल।

यह मन की दशा हुई, अब प्रकृति के व्यापारों को लीजिए :—

नवल शरद ऋतु ओस धुला मुख
धूप हँसी सी निश्छल
गौर वक्ष शोभा सी उज्ज्वल
दिन की कोमल आभा मांसल
स्वप्नों की स्मृतियाँ उकसाती
पुलकित कर अन्तस्तल

वर्षा भौतिकवाद के समान समाप्त हो गई है और अन्तश्चेतना की प्रतिमूर्ति शरद इस प्रकार हमारे सम्मुख साकार हो गई है—

ओझल तुम खोल देह, मन के बंधन-चेतना बन गई फिर उज्ज्वल—
उमगा प्राणों का मेघ, लिपट निखरी तुम अब वादल?

अब प्रकृति द्वारा संकेतित सत्य लीजिए —

खोल निसर्ग रहा निज अन्तर
मधुर संतुलन में खिल सुन्दर
फैलाती कामना प्रकृति की
रँग रँग के चंचल दल

प्रतीति के कारण प्रकृति का यह रूप-दर्शन तथा तज्जन्य प्रभाव का वर्णन उत्तरा में अधिक मिलता है :—

कौन भेजता मौन निमन्त्रण
मुझे निभृत देने हृदयासन
स्वप्नों के पट में लपेट कर
तन मन करता शीतल

प्रकृति में स्वत सौन्दर्य का निवास नही हो सकता। प्रकृति के भीतर भी उस दिव्य सत्ता से मिलने की भावना विद्यमान है—

मूलभूत—कामना एक ज्यों
पत्रों मे कंप उठती मर्मर
प्रिय निसर्ग ने अपने जग में
खोल दिया फिर मेरा अन्तर

इस प्रकार सौन्दर्य को, संकेतों को, उसके भीतर अवस्थित कामना को पहचानने का कवि प्रयत्न करता है। उसका उद्देश्य वस्तु का कोरा चित्रण नही है। अवरोधों व विरोधों में सामञ्जस्य खोजने के

कारण समन्वय का मूलभूत तत्त्व शशि-लेखा के समान कवि के हृदय में उदित हो गया है अत॰ अब यह सुन्दरता बंधनकारिणी नही रही।

मैं सुन्दरता में स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण
वह बने न बन्धन

कवि रमणीयता व विश्वास को साथ साथ चाहता है। वह जानता है कि विश्वास रहित रमणीयता कोरी कल्पना का विलास है।

मत दो केवल मधु स्वप्नों का सम्मोहन
मैं अमर प्रीति में, स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण!
वह हृदय नहीं जो करे न प्रेमाराधन
मैं चिर प्रतीत मे, स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण

विराट व दीर्घ चित्रों के स्थान पर 'उत्तरा' में छोटे चित्र अधिक मिलते हैं, इसका भी एक मनोवैज्ञानिक कारण है। लम्बे चित्रों में एक स्थिर मानसिक दशा की आवश्यकता है परन्तु विद्यु त की कौंध की तरह जब चिर-सत्ता कवि के मन में आभासित हो जाती है तो वह साधना के अभाव में देर तक स्थिर रहती ही नहीं अत॰ छोटे चित्र ही सम्भव हो सकते हैं।

ऊषा आज लजाई
रेशमी जलद से अधर रेख मुसकाई

स्तवन और आराधन

विनय की स्थिति केवल पन्तजी में ही नही, ऋग्वेद से लेकर निराला तक बराबर वर्णित होती रही है। इस युग में शान्त व नम्र चित्त-वृत्तियों का सामञ्जस्य नही बनता अतः सम्भव है कि तुलसी व पन्त की आत्म-निवेदन सम्बन्धी कविताओं में हम रुचि न ले परन्तु तुलसी के सच्चे उद्गार बड़े ही मर्म-स्पर्शी हैं, यह सब जानते हैं। निराला, पन्त, महादेवी, प्रसाद व्यक्तिवादी कवि हैं। निराला मे व्यक्तिवादिता अपेक्षाकृत पन्तजी से कम है, अत. उनकी अर्चना में सीधे उद्गारों का चित्रण मिल जाता है, उसमें व्यक्तिवादी तत्त्व कम हैं। पन्तजी की स्तुतियों व आत्म-निवेदनों में 'अभिलाषा' कविता सर्वश्रेष्ठ मानी जा सकती है। कवि का सारा व्यक्तित्व हमारे सम्मुख उतर आता है—

एक कली यह मेरे पास,
तुम चाहो, इसको अपनालो,

कर दो इसका पूर्ण विकास,
यह हँसते-हँसते झर जावे,
जग में निज सौरभ भर जावे,
भूरज को उर्वर कर जावे,
नव बीजों से, हो न विनाश।

कोमल भावनाएँ जगाने में पन्तजी की कला अद्वितीय है। सिपाही समीक्षक लोग ऐसी कविताओं को भी स्वीकार नहीं करते। उन्हें सर्वत्र चीत्कार व चिंघाड़ना ही पसन्द है यद्यपि उसका भी महत्त्व है, परन्तु मनुष्य की कोमल भावनाओं—शान्ति, सहानुभूति, स्नेह, विनीतता आदि को जो कला स्फुरित करती है उसका अपनी सीमा में मूल्य अवश्य है, अन्यथा सारे आत्म-निवेदन सम्बन्धी साहित्य को जला देना होगा। शास्त्रकारों ने मन को द्रवित कर देने वाली इसी पद्धति को 'कान्ता सम्मित' कहा था। ऐसी कोमलता तो जीवन के लिए वांछनीय है ही, इस सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। गड़बड़ी तब होती है जब इसी कोमलता को कवि सब दशाओं में उपयुक्त मानने पर जोर देता है और अपने जीवन-दर्शन को संकुचित कर लेता है। जीवन में सब कुछ है, उसमें उपरोक्त कोमलता भी है तथा ललकार और चीत्कार भी। अपने में प्रत्येक महत्त्वपूर्ण है यथा उपर्युक्त भावना, परन्तु एक ही भावना का जीवन की सारी स्थितियों में प्रयोग नहीं हो सकता। निष्काम कर्मयोगियों तक को युद्ध का उपदेश देना पड़ा था, यद्यपि आन्तरिक रूप से उनमें शायद कोमलता ही कोमलता थी।

वैयक्तिक रूप से आदमी को आदमी बनाए रखने के लिए मधुर व कोमल भावनाओं के वर्णन की सदा आवश्यकता बनी रहेगी क्योंकि ये वृत्तियाँ अधिक समय तक रह सकती हैं। परन्तु दरिन्दों के बीच आप कोमलता व मधुरता का अभ्यास देर तक नहीं करते रह सकते। अतः मनुष्य को 'वज्रादपि कठोर' का भी पाठ पढ़ाना पड़ता है। केवल सुरक्षा व सुव्यवस्था तथा क्रान्ति के लिए ही नहीं, जीवन की समृद्धि के लिए भी साहस, कठोरता, दृढ़ता, क्रोध उत्साहादि की आवश्यकता पड़ती है और अरविन्द के ऊर्ध्व-चेतन युग में भी पड़ती रहेगी। यदि उस युग में केवल मधुर-वृत्तियाँ ही रहेंगी तो मनुष्य का सच्चा देवता हो जायगा। विनय की स्थितियाँ—

१—आराधना—भक्तों की तरह कवि आध्यात्मिक चेतना से अवतरित होने की प्रार्थना करता है—

तुम अन्तर के पथ से आओ,
चिर श्रद्धा के रथ से आओ,
जीवन अरुणोदय सङ्ग लाओ,
युगप्रभात का नव क्षण।

२—सत्ता के साथ सम्बन्ध भावना की स्थापना—

नींद घनेरी भरी दृगों में,
पलकें झप-झप जातीं,
सुख-दुख की स्मृतियाँ मानस में,
मा, कॅप-कॅप लहरातीं।

यहाँ माता के रूप मे शक्ति को देखा गया है। शिशु के समान ही कवि का स्नेह व्यक्त हुआ है।

३—अपनी क्षुद्रता व हीनता का वर्णन—

मैं मर्त्य वेणु का शून्य बाँस,
तुम दिव्य साँस,
मैं छिद्र भरा निःस्वर निराश,
तुम गीति लास।

इसे देख कर निरालाजी के "तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग" का स्मरण हो आता है।

आराध्य को ही आराधना का महत्व समझाना :-

जैसे किसी व्यक्ति से कोई अन्य व्यक्ति "पुस्तक ले जाए और उसे पढ़कर लौटाते समय वह व्यक्ति उस पुस्तक के महत्व को समझाए" उसी प्रकार पन्त जी आराध्य के द्वारा प्राप्त विश्वास व सौन्दर्य की भावनाओं का महत्व तथा उसके प्रभाव को अपने आराध्य के सम्मुख कई स्थानों पर उपस्थित करते हैं।

याचना—

चुम्बन दो, मधु चुम्बन
अपलक नव मुकलों का मधुबन
वहता रहस परस मलयानिल
प्राणों को कर लालसा शिथिल

शुभ्र अरुण कलियों में खिल खिल
रंग उठता पुलकित तन !

और भी

मैं सुन्दरता मे स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण
वह हृदय नहीं, जो करे न प्रेमाराधन
मैं चिर प्रतीति में स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण

इस प्रकार मानवीय गुणों के लिए कवि सदा अपने आराध्य से प्रार्थना करता है।

'युगान्तर' में कवि ने रवीन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, मर्यादा पुरुषोत्तम तथा अरविन्द की स्तुतियाँ लिखी हैं। इनमें अरविन्द शीर्षक कविता में सैद्धांतिकता और दुरूह शब्दावली के कारण मार्मिकता नहीं आ पाई परन्तु 'रवीन्द्र' के प्रति कविता में कवि की कला देखते ही बनती है। 'रवीन्द्र' स्वर्ग में ऊब रहे होंगे और पुन. भारत की पवित्र भूमि पर श्रम, सुख और शोभा का आनन्द लेना चाहते होंगे :—

क्षमा करें गुरुदेव, आप जो भू जीवन के
रसोल्लास के प्रति सदैव जीवित जाग्रत थे
जो रस सिद्ध कवीश्वर बन विचरे पृथ्वी पर
आज आप भी वहाँ ऊबते होंगे निश्चय
अमरों के उस अनाद्यन्त आनन्द लोक में
और, चाहते होंगे फिर से मर्त्य धरा पर
आकर, जीवन के श्रम के शोभा सुख को वरना।

स्वर्णधूलि में नेहरुजी तथा अतिमा में नेहरू-युग की अभिवंदना है। नेहरू व नेहरू-युग का मूल्यांकन कवि ने अपने स्वभाव व रुचि के अनुसार किया है। पन्तजी को वहाँ जो कुछ भी प्रिय व रुचिकर लगता है उस का सम्बन्ध अध्यात्मवाद व समन्वय से जोड़ देना उनका सहज स्वभाव है। आस्थाशील कवि के पास न तो देश की वास्तविक दशा में नेहरूजी के प्रयत्नों का ऐतिहासिक मूल्य आँकने का अवकाश है न वास्तविक स्थिति के चित्रण का। सम्भावना, आदर्श, कोमलता, प्रेम, सद्भाव, विश्वप्रेम व सांस्कृतिक समन्वय के सभी प्रिय-रूप नेहरू-युग में उन्हें दिखाई पड़ते हैं।

बदल रहा लो गोल छंद भी द्वन्द्व तर्कमय
बाह्य परिस्थितियों का, दुर्जय

बदल रही खूँटी चौकोर—विराट समन्वय
बदल रहा युग रुद्ध भू हृदय
भौतिकता—आध्यात्मिकता का
मानवता—सामूहिकता का
यह महान परिणाम
प्रज्ञा—विज्ञान का उभय

ऐसा प्रतीत होता है कि ऊर्ध्व-चेतना का युग आज ही आगया है, देश में सच्चिदानन्द का अवतार हो गया है, कहीं कोई कष्ट व संकट नहीं है, आनन्द ही आनन्द है। अध्यात्मवादी व व्यक्तिवाद सर्वत्र शुभ, मगल व सुन्दर पर ही दृष्टि डालता है। वह कुरूप व कुत्सित को देखना ही नहीं चाहता क्योंकि वह असन्तोष व विद्रोह से डरता है। वह नैतिकता के आग्रह मे—शाति व अहिंसा के जोश मे इन गुणों की सापेक्षता को भी भूल जाता है। यही आदर्शवाद की सीमा है। यह सीमा पन्तजी की उन सब वन्दनाओं में मिलती है, जिनमें नेहरू रवीन्द्र आदि जैसे प्रमुख व्यक्तियों की वन्दना की गई है। निरपेक्षता तक प्रत्येक वस्तु को पहुँचाए बिना आदर्शवादी कलाकार रह ही नहीं सकता, इसीलिए यथार्थवाद की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु वह पन्तजी के संस्कारों व स्वभाव के विरुद्ध है, उसी प्रकार जिस प्रकार नेहरू के लिए पूरी तौर पर क्रान्ति करना उसके स्वभाव के विरुद्ध है किंतु जिस प्रकार नेहरू का शांति का नारा महान है उसी प्रकार पन्तजी की शान्ति कामना, विश्वकल्याण की भावना आज के विनाश के युग में शांति के स्वर को मजबूत करती है। कुत्सित समाज शास्त्री पन्तजी के इस उज्ज्वल पक्ष पर भी ध्यान नहीं दे पाए।

'उत्तरा' के स्रष्टा की मानसिक स्थितियों तथा तदनुसार निर्मित दृष्टिकोण पर विचार कर लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि इस स्वर्ण-काव्य का परम्परागत रहस्यवाद से सम्बन्ध दिखाया जाय क्योंकि अन्य विचारक भी इस नूतन काव्य को 'रहस्यवाद' की संज्ञा देते हैं और मैंने भी इसे "चिन्तनात्मक रहस्यवाद" (contemplative mysticism) अथवा "कल्पनात्मक रहस्यवाद" (imaginative mysticism or intuitive mysticism) कहा है।

सामान्यत किसी अज्ञेय वस्तु के विषय में जिज्ञासा, लालसा व विरह-मिलन की अभिव्यक्ति को रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है।

मनुष्य सृष्टि के प्रारम्भ से ही अपनी स्वाभाविक ज्ञान पिपासा के परिणाम स्वरूप अलक्षित स्रष्टा के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ करता रहा है परन्तु रहस्यवाद के लिए सत्ता के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की स्थापना अनिवार्य है तभी वास्तविक रहस्यवाद की संज्ञा उसे मिल पाती है। भावनात्मक सम्बन्ध की स्थापना हो जाने के पश्चात् पुनः पुनः व्यक्त होने वाली जिज्ञासाएँ, चिन्तनात्मक मुद्राएँ, अभिव्यक्त भाव-राशियाँ सभी को व्यापक रूप से रहस्यवाद की संज्ञा मिल जाती है परन्तु भावात्मक सम्बन्ध की स्थापना के अभाव में कोरा चिन्तन व जिज्ञासा-वस्तुतः रहस्यवाद के नाम से तभी अभिहित हो सकती है जब रहस्यवाद को बहुत व्यापक रूप में गृहीत किया जाय। वस्तुतः हम लोग रहस्यवाद शब्द का प्रयोग करते समय सावधानी नही वरतते, रहस्यवाद में प्रायः बहुत सी बाहरी बातों को भी घसीट लाते हैं। अत. पहले हमें 'रहस्यवाद' के वास्तविक और व्यापक दोनों रूपों से परिचित हो लेना चाहिए।

मनोविज्ञान जिस अवचेतन पर बहुत जोर देता है वह अब हमारे लिए अज्ञेय नही रह गया। अनेक सिद्धान्त हमें वताए गए हैं जिनके अनुसार अवचेतन से उत्पन्न दुर्व्यवस्थाओं और कठिनाइयों को हम अनुशासन में ला सकते हैं। उन्माद के रोगियों का एक सीमा तक इलाज भी इससे हो जाता है। दैनिक जीवन में भी हम अपनी दमित वृत्तियों को रेचन या उन्नयन के द्वारा अनुशासन मे ला सकते हैं, उनके हानिकर प्रभाव से वच सकते है। अत. अवचेतन के रहस्योद्घाटन को हम रहस्यवाद नहीं कह सकते। स्वयं पन्तजी व अरविन्द ने वताया है कि अवचेतन व उपचेतन से ऊपर अनेक स्तर विद्यमान हैं। योग साधना द्वारा उनकी खोज हो सकती है यथा ऊर्ध्व-चेतन का स्तर योगियों को मिल गया है अत' उसका वर्णन जव काव्य में होगा तो योगियों की दृष्टि से उसे भी रहस्यवाद नही कहना चाहिए, क्योंकि योगियों के लिए तो ब्रह्म अपरिचित वस्तु नही होती, उनके लिए तो वह भी अज्ञेय नही है। परन्तु सामान्य मानव के लिए तो ऊर्ध्व-चेतन व ब्रह्म दोनों अज्ञेय हैं। योग-साधना करने पर भी अनेकों के लिए ये दोनों अज्ञेय वने रहते हैं। कोई कोई योगी ही उस अज्ञेय को ज्ञेय बना पाते हैं अत ऊर्ध्व-चेतन व ब्रह्म का वर्णन 'रहस्यवाद' की श्रेणी में आता है।

परन्तु वर्णन व विवरण तो दर्शन का कार्य है, रहस्यवाद का तो नहीं। तब यह मानना होगा कि अज्ञेय के साथ भावात्मक सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। वास्तविक रहस्यवाद का जन्म तभी होता है। बुद्धि व कल्पना से ब्रह्म का जानना दर्शन है और प्रेम से पहचानने व प्राप्त करने का नाम रहस्यवाद है।

भौतिक बन्धनों में पतित आत्मा जब प्रेम के माध्यम से अज्ञेय को अपना बनाती है तब रहस्यवाद का जन्म होता है, इसीलिए प्रेम मार्गी ही रहस्यवादी कहे गए हैं। कोरी बौद्धिक दौड़ दर्शन है, कोरी कल्पना की उड़ान छलना है, परन्तु भावना के प्रधान हो जाने पर इनकी सहायता ली जा सकती है और स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान की पूर्णरूप से सहायता ली जाती है। सिद्धों, सन्तों, सूफियों व योरोप के मध्यकालीन रहस्यवादियों की यही एक पद्धति रही है। स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान के बल पर जिन अनुभवों का ज्ञान होता है, उन्हे प्रेम की पद्धति पर व्यक्त कर देना ही सूफियों का कार्य रहा है, प्रेम की भावना और स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। तर्क करते समय यह ज्ञान लुप्त रहता है, कल्पनाओं के समय भी यह स्पष्ट नही होता, परन्तु बौद्धिक पद्धति छोड़ देने पर भावना में तन्मयता की अवस्था में सहसा अनेक रहस्य-पटल खुलने लगते हैं, तभी रहस्यवादी विरह-मिलन के अनेक अनुभवों का वर्णन करते रहते हैं।

परन्तु पन्तजी अज्ञेय को जानने के लिए अलौकिक अनुभवों के लिए स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान की उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं परन्तु प्रेम को, उन्माद व मस्ती को, बौद्धिक लापरवाही और भावना में डूबने का विकास नही होने देते। वह स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान या दुरारूढ़ कल्पना द्वारा प्राप्त अनुभवों का वर्णन व विवरण देने लगते हैं। यह पद्धति स्पष्टतः रहस्यवादी की नही है। अत इसे रहस्यवाद ही यदि हम कहें तो व्यापक अर्थों में रहस्यवाद कहना होगा। रहस्यवाद में वे कविताएँ ही आ सकती हैं जिनमें भावना का सूत्र दृढ़ रहता है या साधनात्मक स्थितियाँ स्पष्ट होती हैं। सिद्धान्तों का प्रवचन रहस्यवाद नही कहला सकता, जिसका बहुत अधिक अंश नूतन-काव्य में मिलता है।

प्राचीन विचारकों ने चेतना को इच्छा, बुद्धि व भावना मे विभाजित किया था। आज के मनोवैज्ञानिक उसे एक ही शक्ति-स्रोत मानकर 'लिबिडो' नाम देते हैं। बाह्य वस्तुओं व अनुभवों को प्राप्त कर भी हमारी 'साइकी' (आत्मा) और भी अधिक जानना चाहती है, प्रेम करना चाहती है। उसका विश्वास है कि कोई अज्ञेय-सत्ता ऐसी है जिसे जानना चाहिए, जिसे प्यार करना चाहिए क्योंकि सांसारिक वस्तुओं का प्यार सन्तोष नही देता। दर्शन व विज्ञान बुद्धि के द्वारा केवल जानने का प्रयत्न करते हैं और नही जान पाते परन्तु भावना स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान के सहारे उस तत्त्व को प्राप्त करती है। साधकों का रहस्यवादी साहित्य यही घोषणा कर रहा है कि तुम बुद्धि द्वारा चाहे जितना प्रयत्न करो, अज्ञेय को कभी नहीं समझ सकते उसके जानने का मार्ग दूसरा है। प्रेम से पहचान करो, प्रेम से प्राप्त करो, यही एकमात्र मार्ग है। अरविन्द व पन्त स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान को अपनाते हैं परन्तु प्रेम को स्वीकार कर भी अपनी रचनाओं में स्वयं प्रेम-भावना मे नही घुलते। वे गहराई की सैर तो कराते हैं परन्तु उनका व्यक्तित्व भावना को लेकर आत्म-विस्मरण व एकाकारिता की ओर नहीं बढ़ता।

भावना की अपरिहार्यता सिद्ध कर लेने के बाद हम किञ्चित चिन्तन-पद्धति पर विचार करें कि रहस्यवाद में चिन्तन का जो स्वरूप मिलता है वह पन्तजी की चिन्तन-पद्धति से कहाँ तक मिलता है। रहस्यवादी कविता में जो चिन्तनात्मक तत्त्व मिलते हैं वे दार्शनिकों व तार्किकों के चिन्तन से भिन्न प्रकार के हैं। रहस्यवादी-चिन्तन-क्रिया वह पद्धति है जिसके द्वारा साधक एक चेतना स्तर से दूसरे चेतना स्तर तक जाता है। पन्तजी के 'सोपान-परिचय' में यह पद्धति देखी जा सकती है इसमें कवि या साधक प्रत्यक्ष ऐन्द्रिक ज्ञान को छोड़ कर आन्तरिक ज्ञान—स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान को अपनाता है परन्तु यह ज्ञान भावना, बुद्धि और इच्छा से जुड़ा रहता है परन्तु यह भावना बुद्धि व इच्छा साधारण व्यक्ति की भावना, बुद्धि व इच्छा का प्रायः अति-क्रमण कर जाती है। प्लोटिनस ने इसे एक विशेष प्रकार की बुद्धि, इच्छा और भावना कहा है कि इसका कार्य अतीन्द्रिय-सौन्दर्य व दिव्य सत्ता का दर्शन है। इसे ही आत्मा की आँख कहा गया है, इसे ही गजाली सहसा स्वयं-प्रकाशित-ज्ञान कहता है। सन्त बर्नाड ने इसे

ात्मा का 'प्रत्यक्ष ज्ञान' कहा है। इस स्थिति में चेतना के स्तरों से लौकिक अनुभव प्राप्त होते हैं। उन्हें देखकर रहस्यवादी विस्मय से ागल हो उठता है, वह उसमें एक अजीब आकर्षण देखता है, वह ुग्ध होता है, उसके लिए छटपटाता है, उसे तरह तरह के लौकिक तीकों से कहना चाहता है पर कह नही पाता। यह आत्म-विह्वलता । विकलता पन्तजी में बहुत कम मिलती है। मुग्धता का वर्णन जहाँ-हाँ मिलता है अतः 'सोपान-परिचय' के समय वह आवेश-उन्माद रहित चेतना स्तरों के रटे-रटाए विवरण देते देते इतनी अधिक पुनरावृत्ति करते हैं कि मन ऊबने लगता है। जहाँ कल्पना के बल पर अन्तश्चेतना के जादू का वर्णन वह करते हैं वहाँ भी रहस्यवादियों जैसी मस्ती व आत्म-विस्मरण उनमें नही आ पाता। इसीलिए इसे मैंने 'चिन्तनात्मक रहस्यवाद' कहा है। पन्तजी का रहस्यवाद दार्शनिक व चिन्तक का रहस्यवाद है, साधक का नही, इसीलिए उसमें भावना व क्रियाहीनता बहुत मिलती है।

और उसका परिणाम यह होता है कि एक बौद्धिकता का आग्रह बराबर अरविन्द व पन्त की रचनाओं में मिलता है। कल्पना व बुद्धि की पूरी पूरी ऊँचाई व गहराई भी वहाँ मिलती है एक मर्म-भेदिनी दृष्टि जैसे बाह्य स्तरों को चीरती हुई सत्य को जानने के लिए अतल को स्पर्श करने जा रही हो ऐसा भी प्रतीत होता है, परन्तु इतना ही रहस्यवाद के लिए काफी नही है। जो लोग यह कहते हैं कि प्रेम करना भी तो केवल जानना ही है, क्योंकि प्रेम के द्वारा प्रिय के रहस्यों का परिचय हमें मिल जाता है परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि प्रेम में जो उत्साह, आत्म-त्याग व तन्मयता प्राप्त होती है वह "बौद्धिक पहुँच" में प्राप्त हो ही नही सकती। अरविन्द व पन्त मे बौद्धिक महात्वाकांक्षा बहुत अधिक दिखाई पड़ती है, उससे संवेदना का पक्ष दुर्बल हो जाता है। अंडरहिल ने स्पष्टतः जीवन के दो रूपों को अलग-अलग बताया है १—शक्तिपूर्ण प्रेम, २—क्रिया रहित ज्ञान। प्रेम का सम्बन्ध इच्छा, क्रिया से है। प्रेम में कुछ न कुछ करने की इच्छा होती है। शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक क्रियाओं का कारण इच्छा या भावना है। इसे ही मनोवैज्ञानिक conation कहते हैं जो केवल जानने की प्रक्रिया cognition से भिन्न है। यह 'कोनेशन' भावना से संयुक्त इच्छा का

व्यापार है। क्योंकि इच्छापूर्ण व्यापार चाहे वह बौद्धिक ही क्यों न दिखाई पड़े, किसी न किसी दिलचस्पी की वजह से होता है और दिलचस्पी भावना जगत की वस्तु है। हम क्रिया करते हैं क्योंकि हम ऐसी इच्छा का अनुभव करते हैं। विश्व के महान से महान मनुष्यों की विजयों व अन्य उपलब्धियों का एक मात्र कारण "कोनेशन" है न कि कोरा ज्ञान। बुद्धि केवल अपने द्वारा हमें प्रेरित नहीं करती।[1] अतः रहस्यवादी सामान्य ज्ञान व तर्क-बुद्धि को छोड़ कर इच्छा व भावना का मार्ग अपनाता है। और इस मार्ग में उसकी आत्म-शक्ति स्वयं प्रकाशित होकर तत्त्व का साक्षात्कार करा देती है। इसीलिए भावना की बुद्धि पर विजय रहस्यवाद के क्षेत्र में बराबर देखी जाती है। तभी कहा जाता है कि ईश्वर हृदय से जाना जाता है, बुद्धि द्वारा नहीं। इसका तात्पर्य यही है कि स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान तर्कात्मक ज्ञान से कहीं अधिक विश्वसनीय है। रहस्य-वादी कवि व प्रेमी की मानसिक स्थिति व पद्धति यही है। स्पष्ट है कि पन्तजी की पद्धति अधिक बौद्धिक होने से उनका रहस्यवाद वास्त-विक रहस्यवाद से किंचित अलग पड़ता है।

अज्ञेय को लक्ष्य बना कर उस पर अपनी चेतना को केन्द्रित करना, व्यक्तिगत चेतना के स्तरों पर विचरण करना, अपनी आभ्यं-तरिकता की स्थिति में हिमशृङ्ग पर अधिष्ठित योगी की तरह नीचे के कोलाहल का निरीक्षण करना और उस कोलाहल को शान्त करने के लिए कोलाहलकर्त्ताओं को ऊर्ध्वता की ओर आमन्त्रित करना, उसकी उपयोगिता समझाना, चेतना के शान्त, निर्मल नभ में कोटर के द्वन्द्वों से पीड़ित पक्षी की तरह उन्मुक्त उड़ान भरना, अंतरिक्ष में अपनी ही कल्पना से निर्मित उपवनों में विहार करना, यह सब तो नूतन काव्य में बहुत मिलता है, परन्तु एक सच्चे रहस्यवादी की तरह प्रेम में आवेश, उत्ताप, उन्माद, मूर्च्छा, जागरण, पश्चाताप, आनन्द और तल्लीनता का वर्णन नहीं मिलता। आमोद, मुग्धता व कौतूहल पन्त जी की प्रिय वृत्तियाँ हैं जो कुछ कविताओं में अभिव्यक्त हुई हैं परन्तु

[1] The intellect by itself moves nothing—

Aristote.

ये रोमानी भावनाएँ पिछले काव्य मे भी अधिक मिलती हैं। आवेशों के ज्वर से प्रकम्पित व द्वन्द्वों के पक्षाघात से पीड़ित भौतिक जीवन को देखकर भविष्य के जीवन की मधुर कल्पना में उसका मन अधिक लगता है। दारुण यातनाओं की ऊष्मा से उबाल खाती उनकी चेतना बूँद के समान महासागर के अङ्क में शयन नही करती दीखती। अपितु ऊँचे कगार पर खड़े होकर महा-चेतना की हिल्लोलित रमणीयता, गरिमा, महानता तथा पूर्णता को वह कल्पना की आँखों से देखकर जीवन की क्षुद्रता पर विचार करते रह जाते हैं। सागर की लहरों के आरोहण व अवरोहण को देखकर अनन्त विचार-भगिमाएँ उनके मन मे उत्पन्न हो जाती हैं परन्तु उनकी स्थिति वही रहती है, जिसका संकेत हमे कामायनी में मिलता है—मैं दौड़ उदधि में मिल न सका । निर्धारित लक्ष्य की पूर्णता, रमणीयता व उपयोगिता का वर्णन करना एक बात है और उसमे अपनी बौद्धिक सजगता को खोकर मिल जाना दूसरी बात है। प्रथम प्रवृत्ति चिन्तनात्मक या कल्पनात्मक रहस्यवाद में मिलती है और द्वितीय प्रवृत्ति प्राचीन व मध्यकालीन रहस्यवाद में। इसीलिए 'ऐसा होगा' 'ऐसा होना चाहिए' यह स्थिति तो हमे पन्त में बहुत मिलती है जो एक पैगम्बर के उपदेशों मे मिलती है परन्तु 'ऐसा हो रहा है' इसका वर्णन बहुत कम मात्रा में मिलता है। रहस्य-वाद की अनुभूति साक्षात्कृत और वर्तमानकाल मे वर्णित होती है। सम्भावनावाद की भविष्यतकाल में। सम्भावनावादी झाँकी व झलक का वर्णन करके ही रह जाते हैं, आराधना व स्तवन का अवसर ही उन्हें मिल पाता है जबकि वास्तविक रहस्यवादी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सम्भावनावादी हमें एक जादू के देश में ले जाता है और रहस्यवादी स्वय उस जादू को पाकर निहाल हो उठता है।

वास्तविक रहस्यवाद में व्यक्तित्व विलयन सबसे बड़ी शर्त है और यह विलीनकरण भावनात्मक पद्धति से ही हो सकता है। चिन्त-नात्मक पद्धति पीछे रह जानी चाहिए पर जहाँ वह नही छूटती वहाँ रहस्य की प्राप्ति नही हो सकती। रहस्यवादी वह व्यक्ति नहीं है जो रहस्य के विषय में वार्तालाप करता है, रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो रहस्य को प्राप्त करता है केवल सिद्धान्तों को घोषित नहीं करता रहता! पन्तजी के रहस्यवाद में खोज की प्रवृत्ति अधिक है, उसे प्रेम का विषय बनाने की कम।

रहस्यवाद और प्रतीक

कवि के रहस्यवाद को स्पष्ट कर लेने के पश्चात् अब यह देखा जाय कि 'उत्तरा' में जिन प्रतीकों का प्रयोग हुआ है उनका स्वरूप क्या है। हमने यह तो बताया है कि 'उत्तरा' तथा अन्य कृतियों के प्रतीकों का प्रयोग चेतना के सोपान-परिचय के लिए प्रायः हुआ है। रहस्य की प्राप्ति के समय अनुभूत आनन्द की व्यंजना के लिए प्रतीकों की मार्मिक योजना 'उत्तरा' में नहीं मिलती। बहुत से उत्तरा के गीत इसीलिए 'कबीर' की कठिन रूपक परम्परा में जा पहुँचते हैं, जिनमें यह बताना पड़ता है कि मेघ क्या है, बिजली क्या है, शृङ्ग क्या है और वायु, पुष्प और भ्रमर क्या हैं, वे किन-किन स्तरों के प्रतीक हैं। आनन्द की अनुभूति के समय मन की दशाओं को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त न होकर अधिकतर रचनाओं में उत्तरा के प्रतीकों का प्रयोग मन की गहराइयों के मानचित्र स्पष्ट करने के लिए किया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त शुद्ध रहस्यवादी की दृष्टि से प्रतीक-विधान पर और भी कुछ विचार शेष है।

यह तो सही है कि प्रतीक का प्रयोग रहस्यवादी के लिए अपरिहार्य है। क्योंकि अलौकिक अनुभव, क्रिया तथा विवरण को भी प्रकट करने के लिए प्रतीकों को छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। गहराई में उतर कर जो अनुभव साधक प्राप्त करता है उसे सामान्य मन के लिए प्रेषणीय केवल प्रतीक द्वारा ही बनाया जा सकता है। रहस्य-वादियों ने सत्ता की प्राप्ति की स्थिति में तथा उसके वर्णन करने की स्थिति में अन्तर बताया है। शुद्ध दिव्य अनुभूति प्रतीकों, मूर्तियों (images) आदि से परे होने के कारण प्रतीकों द्वारा भी संकेतित ही हो सकती है। परन्तु आनन्द की अवस्था में स्वयं ऐसे प्रतीक मिल जाते हैं जिनसे पाठक की सुप्त चेतना जागृत हो उठती है, यदि ऐसा नहीं होता तो सारा विधान आरोपित सा प्रतीत होने लगता है। अनुभूति की अपूर्णता या दुर्बलता की स्थिति में प्राय ऐसा ही होता है और ऐसी स्थिति में संकेत कुलटा के संकेतों की तरह कुत्सित और कुरुचि उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं।

प्रतीकों के सम्बन्ध में उपर्युक्त मापदण्ड चित्रण, भाषा तथा शैली पर भी लागू होता है। अनुभूति के स्वरूप तथा भाषा-शैली

में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अनुभूति के अभाव में संगीत, भाषा, प्रतीक सब अपूर्ण लगते हैं। इस अनुभूति को व्यञ्जित करने के लिए शब्दों व प्रतीकों का प्रयोग होना चाहिए। प्रत्यक्ष-कथन पद्धति रहस्यवाद में पूर्णतया असफल होती है क्योंकि दिव्य-अनुभव का कथन नहीं हो सकता। अतः प्रतीक-विधान में व्यञ्जना का गुण जितना ही अधिक होगा, उतनी ही कवि व साधक को सफलता मिलेगी।

The greater the suggestive quality of the symbol used, the more answering emotion it looks in those to whom it is addressed, the more truth it will convey A good symbolism, therefore will be more than mere diagram or mere Allegory, it will use to the utmost the resourses of beauty and passion its appeal will not be to the clever brain, but to the desirous heart, the intuitive sense of man

—E Underhill, Page 126.

प्रतीक कल्पना व भाव-जगत को आन्दोलित करें, उनमें व्यञ्जकता हो, ऐसे प्रतीक प्रयुक्त होने चाहिए। ऐसे रूपक बाँधना जिनमें सत्य को चक्करदार शैली से वर्णित किया जाय, अनावश्यक है। प्रतीकों का हृदय पर प्रभाव पड़ना चाहिए। उन्हे स्पष्ट करने के लिए यदि बुद्धि के तेज से तेज नाखून भी दर्द करने लगें तो ऐसा प्रतीक-विधान आरोपित ही मानना चाहिए—पन्तजी का प्रतीक-विधान इसलिए असफल नही कहा जा सकता क्योंकि वह कल्पना को कम से कम अवश्य जगाता है परन्तु वे प्राय दुरूह होगए हैं और भावना को नही जगाते। उदाहरण के लिए कुछ पक्तियाँ देखिए—

मेघों के उड़ते स्तम्भ खड़े
लिपटी जिनमें विद्युत ज्वाला
भीतर वाष्पों के कौश मसृण
नव इन्द्र जाल लटके कम्पित
चल जलदों के पट के भीतर
दिखते उड़ते तारक अगणित

प्रथम उद्धरण में सरिता को अतश्चेतना का प्रतीक माना गया है परन्तु अभिव्यक्ति धुँधली और लँगड़ी है "क्या दारुण

सुन्दर" कहने से असुन्दरता और सुन्दरता का बोध स्पष्ट नहीं हो पाता। इसी प्रकार दूसरे उद्धरण में मेघ, बिजली, वाष्प, तारक आदि क्रमशः स्थूल जगत, अंतश्चेतना, सूक्ष्म भावनाओं व आंतरिक प्रकाश के प्रतीक हैं परन्तु "प्रीति" कविता को समझने में बुद्धि को बहुत कुछ खरोंचना पड़ता है जैसा कि कबीर के बहुत से पद पहेली बनाकर रखे जाते हैं ऐसी पहेलियाँ 'उत्तरा' में बहुत हैं। इनके खुल जाने पर कल्पना अवश्य उत्तेजित हो उठती है परन्तु पाठक का धैर्य उसी प्रकार जवाब दे जाता है जैसे गणित की किसी समस्या के सामने आने पर होता है, और समस्या के हल हो जाने के बाद जैसा कौतूहल-जन्य आनन्द मिलता है, वैसा ही आनन्द इन पहेलियों के खोलते समय मिला करता है। जो प्रतीक संवेदना को जागृत नहीं करते वे इसी प्रकार गणित की प्रक्रिया को अपनाते हैं। इसीलिए 'उत्तरा' को पढ़कर वह आनन्द नहीं मिलता जो अन्य रहस्यवादियों की कविता में मिलता है। प्रतीकों के तीन प्रकार बतलाए गए हैं—

१—ऐसे प्रतीक जो पाठक को उस यात्री के रूप में परिवर्तित कर देते हैं जो उसे दिव्य-सत्ता को खोजने की ओर उन्मुख कर दें। पन्तजी की नूतन कविता में प्राय ऐसे प्रतीक ही अधिक मिलते हैं, जो पाठक की कल्पना जगाकर चेतना की गहराइयों में उतरने का निमन्त्रण देते हैं।

२—ऐसे प्रतीक जो सार्वभौमिक, शाश्वत हृदय की खोज का वर्णन करते हैं। प्रिय के विरह व मिलन की सामान्य स्थितियों का वर्णन इनमें होता है। पन्तजी के नूतन काव्य में प्रिय के आभासों को देख कर मुग्धता व विस्मय का वर्णन तो मिलता है परन्तु 'प्रतीक्षा' आदि शीर्षकों से लिखी गई रचनाओं में भी प्रतीक्षा की स्थिति में स्वाभाविक विह्वलता की व्यञ्जना नही मिलती।

३—तादात्म्य की अवस्था को व्यञ्जित करने वाले प्रतीक। पन्तजी की कविता मे अन्तिम स्थिति का वर्णन ही नही हो पाया अत. इस प्रकार के प्रतीक भी नही मिलते।

पन्तजी प्रेमी व प्रेमिका के प्रतीकों को अपनाते अवश्य हैं परन्तु उनमें पवित्रता का सञ्चार चाह कर भी नही कर पाते। अमूर्त-भावनाओं के मिलन का पन्तजी ने लौकिक प्रेमी प्रेमिकाओं की रति-क्रीड़ा के रूप मे बार-बार वर्णन किया है—"शोभा के रहस

में मस्तिष्क में चिन्तन-परम्परा चल उठेगी और उसके बीच-बीच में भावनात्मकता आती चलेगी। इसका परिणाम यह होगा कि शब्दावली स्वतः प्रवाहित न होकर गढ़ी जायगी, प्रयत्नपूर्वक उसको एक विशेष रूप दिया जायगा। जबकि भाव या प्रवृत्ति को प्रेषणीय बनाते समय इस प्रकार की प्रयत्न-प्रियता प्रेषणीयता के लिए खतरनाक होती है। चूँकि 'उत्तरा' में तन्मयता की स्थिति के स्थान पर अनुमानों, सम्भावनाओं, सिद्धान्तो तथा प्रवचनों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है, और अनुभव असाधारण और दार्शनिकता से बोझिल हैं अतः 'उत्तरा' में पूर्ववर्ती कविता की तरह भाषा का स्वतः प्रवाह नही बनता। शब्दावली का निर्माण एक जागरूक कारीगर की तरह किया गया है। इसलिए 'उत्तरा' मे इधर-उधर स्वाभाविक पंक्तियों तथा कुछेक गीतों को छोड़कर भाषा का निश्छल, स्वाभाविक रूप प्राप्त नही होता। वास्तविक बात यह है कि जहाँ अनुभूति का स्वाभाविक रूप रहता है वहाँ भाषा भी स्वत. शालीन व भावानुरूप होजाती है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'उत्तरा' में भाषा व शैली के निर्माण में कवि जागरूक होकर उसे एक विशेष रूप देता है। चित्त की द्रवीभूत अवस्था में स्वत निःसृत पदावली में जो स्वाभाविकता मिलती है, वह इसीलिए 'उत्तरा' में नही मिलती।

तुम खोलो जन मन बन्धन
जन मन बन्धन!
जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जन का
सदाचार शोषक मन के निर्धन का
स्वार्थी पशु
मुख पहने मानव पन का—
तुम छेड़ो अंतरण,
मन हो प्रांगण
घृणा, घृणा वह करती मन में नर्तन
घृणा, घृणा, हँसती आनन पर प्रतिक्षण
तुम मनुज प्रीति में उसे करो परिवर्तन
फिर हरो धरा का प्राक्तन
अथवा

अभय तुम्हारी जय में अग जग
खिलते सुमन विजय स्रक् हित रँग
प्रकृति विकच फूलों से सज अँग
करती प्रिय अभिवादन

प्रथम उद्धरण प्रवचन-प्रधान शैली का है अतः उसमें सरलता है, परन्तु दूसरा कवि की गूढ़ मानसिक स्थिति से सम्बन्धित है जिसमें कवि विहार तो करता है परन्तु व्यक्तित्व मे घुलनशीलता के अभाव से भाषा गढ़नी पड़ी है, वह हृदय से स्वत नि.सृत नही प्रतीत होती और उसका कारण यही है कि आई ए रिचिर्डस् जिसे अचेतन-पद्धति (Unconscious process) कहता है, वह पन्त मे नही आ पाती। मुख्य वस्तु भावना में तन्मय होना है, तन्मयता की स्थिति में प्रेषणीयिता का कार्य गौण होना चाहिए परन्तु जब तक आन्तरिक वृत्तियाँ अपने में निमज्जित नही होजाती तब तक कवि अभिव्यक्ति को जानबूझ कर एक विशेष रूप देता है, यही चेतन-पद्धति (Conscious process) है और यही पन्त जी की नूतन काव्य में अधिक मिलती है। अतः भाषा में शब्द, लय, भाव व शब्द-सज्जा मिलकर एक रूप नही हो पाते।

मतलब यह है कि पतजी में अनुभूति पक्ष प्रधान है। प्रेषणीयता का प्रश्न गौण है (इसका यह अर्थ कदापि नही है कि अभिव्यक्ति की उपेक्षा होनी चाहिए) क्योंकि प्रबल अनुभूति की स्थिति में माध्यम उसी के अनुरूप स्वतः बन जाता है।

परन्तु एक और प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। यह तो ठीक है कि अनुभूति स्वतः अपना मार्ग खोजती है, कवि को अनुभूति को छोड़कर अलग से भाषा को जान बूझ कर असाधारण नही बनाना चाहिए परन्तु चूँकि पन्तजी की अनुभूति का स्तर ऊँचा है, उनकी चिन्तनात्मक व कल्पनात्मक या कहना चाहिए अतर्चेतनात्मक प्रवृत्तियों (Intuitive Attitudes) को अभिव्यक्त करने के लिए स्वर्ण-काव्य की अभिव्यक्ति सर्वथा विषयानुरूप है। अतः उपर्युक्त नियम के विरुद्ध 'उत्तरा' आदि की भाषा नही जाती। परन्तु हमने अनुभूति के स्वरूप पर विचार किया है। यह ठीक है कि उसमें सत्य के साक्षात्कार के लिए प्रेम की परम्परागत रहस्यवादी पद्धति न अपना कर चिन्तनात्मक पद्धति अपनाई गई है। अच्छा होता कि प्रेम की पद्धति

के द्वारा ही अलौकिक अनुभवों को व्यक्त किया जाता परन्तु कवि जो कुछ भी कहना चाहता है यदि उसी मे वहता और विषय के साथ अपने को तन्मय करता तो यह कठिनाई ही प्रस्तुत न होती। ऐसा कोई सत्य नहीं हो सकता जो सहज बना कर नही कहा जा सकता, सत्य तो सर्वदा सहज ही होता है। साधक के लिए सत्य जब सहज बन जाता है तब उसकी कथन पद्धति स्वय सहज हो जाती है अन्यथा कथन पद्धति में कष्ट-साध्यता रहती है। पन्तजी सत्य का परिचय कराते व उसकी उपयोगिता पर भाषण अधिक देते हैं, उसे वह अपने लिए सहज नही बना सके, इसीलिए कथन-पद्धति में उन्हे प्रयत्न करना पड़ता है। उसमें तत्सम शब्द भरने पड़ते हैं। अनुभूति की मार्मिकता के अभाव को बड़े-बड़े अशिथिल पद-विधान मे छिपाना पड़ता है और इसीलिए शैली के प्रति अधिक जागरूकता निभानी पडती है। तभी हम यह कहते हैं कि यह कला ह्रासोन्मुख हो गई है। तूलिका का एक स्पर्श जहाँ राशि-राशि सौन्दर्य को व्यञ्जित कर देता है, वहाँ शब्दों व प्रतीकों व रङ्गों के अम्बार लगा देने पर भी व्यञ्जकता नही आ सकती। कलाकार का हाथ जैसे अन्तरस्थित चित्र के अनुसार स्वतः घूमता है, उसका ध्यान आन्तरिक मूर्ति पर अधिक रहता है बाह्य रङ्ग, रेखाओं पर कम। उसी प्रकार कवि आन्तरिक अभिव्यञ्जना की उपेक्षा कर जब शब्द-निर्माण पर ध्यान देने लगता है तब कला की दुर्बलता झलक उठती है।

पन्तजी ने शब्द-चयन के लिए एक विशेष स्तर निश्चित कर लिया है, उसके नीचे वे नही उतरना चाहते। भावना से उनके शब्द नहीं बहते, जैसे बड़े-बड़े हिमखण्डों के नीचे से पानी की धारा कराहती हुई निकलती है, उसी प्रकार कसी हुई तत्सम शब्द-संहिति में अनुभूति कराहती हुई प्रतीत होती है। आवेग की निविड़ता के अभाव में शब्दों की सघनता पर कवि का ध्यान जाना स्वाभाविक था और यही हुआ भी है। मैं यहाँ प्रत्येक कृति से भाषा का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। इससे भाषा का एक निश्चित स्तर स्पष्ट हो जायगा, साथ ही 'उत्तरा' की भाषा के तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो जायगी—

अन्तर्जीवन के वैभव से आज अपरिचित भू-जन
मध्यम अधम वृत्तियों से, कल्पित उनका भव जीवन

सत्य ज्योति से वंचित भेदों से कुंठित मानव-मन
अन्तर्मुख प्रेरित हो उसका पाना जीवन-दर्शन

—स्वर्णकिरण

तुम प्रणय कुञ्ज में जब आई
पल्लवित हो उठा मधु यौवन
मञ्जरित हृदय की अमराई
चिर विरह-मिलन में भर लाई

—स्वर्णधूलि

मैं रे केवल उन्मन मधुकर
भरता शोभा स्वप्निल गुञ्जन
कल आएँगे उर तरुण भृङ्ग
स्वर्णिम मधुकण करने वितरण

—उत्तरा

तभी अगोचर अन्तरिक्ष में, अन्तर्जग के भीतर
नए शिखर थे निखर रहे शत सूक्ष्म विभव के भास्वर
जिन पर नूतन युग प्रभात था, उदय होरहा गोपन
रजत नील स्वर्णारुण शृङ्गों पर भर स्वर्गिक प्लावन

—अतिमा

न बहुत कठिन, न बहुत सरल कविताओं से मैंने ये उद्धरण लिए हैं। कुछ कविताओं में सरल और वेगमयी भाषा भी है परन्तु वे कम हैं, अतः आप इन्हें प्रतिनिधि उद्धरण मान सकते हैं। अधिकतर रचनाओं में भाषा का यही स्तर रहता है। स्वर्णधूलि में भाषा कुछ अधिक सरल है परन्तु वहाँ अनुभूति पक्ष सबसे अधिक दुर्बल और गद्यात्मकता अधिक है। अत. यदि प्रतिनिधि मान कर उपर्युक्त उदाहरणों की भाषा पर विचार करें तो स्पष्ट होगा कि इनमें भाषा एक उच्च स्तर पर रहती है, पद बन्ध अशिथिल है, प्रौढ़ है, परन्तु गद्यात्मकता अधिक है। व्यंजकता उसमें कम है, अतः यह शैली काव्योचित कम है। विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न इसमें अधिक है। भावनाओं को स्फुरित करने, चेतना को थपकी देने या उसे उत्तेजित करने, उसे एक प्रवाह में डाल कर बहा ले जाने, उसे द्रवित करने, झकझोरने या बहलाने का प्रयत्न नहीं है, कवि के धड़ के ऊपर पैगम्बर की कलम लग जाने से काव्यात्मक पद्धति कम एक धर्मो-

द्धारक, प्रचारक, व व्याख्याता की गद्यात्मकता व प्रत्यक्ष कथन पद्धति का प्रयोग यहाँ अधिक हुआ है। जहाँ प्रतीक आए हैं—वहाँ विवरण की प्रधानता हो गई है।

जब कवि के चेतना-सिंधु मे आरोहण, अवरोहण नही होता, तब भाषा मे लोच नही आती। उसका शरीर पक्षाघात के रोगी की तरह जकड़ जाता है और सर्वत्र सब स्थितियों में वही एक जकड़ा सा रूप दिखाई देता है। पन्त की स्थिति एक द्रष्टा की स्थिति रहती है अतः अवलोकन अधिक और द्रवण कम मिलता है। बिना चित्त की द्रवणशीलता के शब्द के शरीर के जोड़ अकड़ जाते हैं। भावना की ऊष्मा से यदि उन्हें पिघलाया नही जाता तो उनकी गति में विभिन्न मुद्राएं देखने को मिल ही नही सकती और कवि प्रतिज्ञा-बद्ध होकर इस भाषा के इस "गतिहीन उच्च स्तर" को कहीं भी गिरने नही देता। इसीलिए नूतन काव्य की स्थिति प्रौढ़ता व अशिथिलता की दृष्टि से भले ही सराहनीय हो परन्तु उसमें गति-हीनता व जडता अवश्य आगई है। उसमें स्फूर्ति व विविधता प्राय' नही के बराबर है। कामायनी की भाषा में भावानुरूपता बराबर मिलती है, उसमें कवित्व अधिक है, चिन्ता व "लज्जा"—सर्ग की भाषा से पन्तजी के नूतन-काव्य की भाषा की तुलना करके कोई भी देख सकता है।

अब मैं कुछ नए कवियों के (प्रयोग वादियों को छोडकर) कुछ उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ। पाठक देखें कि पन्तजी की इस उच्च स्तरीय भाषा का भविष्य कितने अन्धकार में है। पन्तजी अपने दर्शन की तरह भाषा को भी आगामी युग में पठनीय व प्रशंसनीय मानते प्रतीत होते हैं :—

दल के दल बादल ये
पावस ऋतु पावन कर
उनये हैं नए नए
दल के दल बादल ये—मेघगीत

—आरसीप्रसादसिंह
(अवन्तिका, अगस्त अङ्क १९५५)

तुम हो वैभव के रथ पर गीतों के समीर
स्वर मिल जाते सूनेपन में आकाश चीर

मेरे गीतों में चीख रहे रथ के पहिए
मैं चला जिधर से बनती धरती पर लकीर—

—रूपनरायण त्रिपाठी
(कल्पना, सितम्बर ५५)

फिर आसमान के दीपक जलने लगे
नयन से आँसू ढलने लगे
दिन भर सोए सपनों ने पलकें खोलीं
अपनी अपनी भाषा में सुधियाँ बोलीं
"मत भारी दिलसे जलता सूर्य निहारो
तम बोला—हम भी तो तेरे हमजोली"
अभिलाषाओं के मेघ पिघलने लगे।
नयन से आँसू ढलने लगे।

—दुष्यन्त कुमार
(साहित्यकार, अगस्त १९५५)

मेरे रोम रोम में फूटे लाज भरे मुसकान
तुम ही मंगल गीत मिलन के
मैं सुहाग की वेला
उमड़ रहा मेरी आँखों में
मुस्कानों का मेला
तुम मेरे आँचल के दीपक, मैं स्नेह की धार

—नर्मदेश्वर उपाध्याय
(कल्पना, दिसम्बर ५५)

इन उदाहरणों के अतिरिक्त मैं पन्तजी की ही एक कविता का अंश उद्धृत करता हूँ जो 'अतिमा' में संग्रहीत "आ धरती कितना देती है" कविता का एक अंश है। इस कविता की भाषा का भविष्य ही उज्ज्वल माना जा सकता है। पन्तजी की उन प्रतिनिधि रचनाओं का नहीं, जिनमें उच्चस्तरीय एवम् प्राणहीन भाषा का प्रयोग किया गया है—

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोए थे
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ बनेंगे
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी
और फूल फलकर, मैं मोटा सेठ बनूँगा

मैं अबोध था, मैंने गलत बीज बोए थे
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था

× × ×

मैंने कौतूहल वश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिए मिट्टी के नीचे
रज के अञ्चल में मणि माणिक बाँध दिए हों
देखा आँगन के कोने में कई नवागत
छोटी छोटी छाता ताने खड़े हुए हैं
छाता कहूँ कि विजय पताकाएँ जीवन की
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्हीं, प्यारी

आप कहेंगे कि यह तो वर्णनात्मक कविता है, यद्यपि है नहीं, क्योंकि इसमें चित्रण प्रधान है। परन्तु हम प्रतीकवादी कविता से एक और उद्धरण देते हैं इससे स्पष्ट हो जायगा कि भाषा का रूप क्या होना चाहिए और सत्य को सहजरूप में उपस्थित करने के लिए कैसी भाषा प्रयुक्त होनी चाहिए—

वह प्रकाश, ये मुग्ध पतिंगे
ये भूखी, लोभी छिपकलियाँ
प्रीति—शिखा, उत्सर्ग मौन
स्वार्थों की अन्धी चलती गलियाँ

× × ×

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत् कर्म के लिए चाहिए
महत् प्रेरणा बल भी भीतर— —अतिमा

अन्य कवियों की भाषा के नमूनों को एक ओर रखकर यदि पन्त जी से यह पूछें कि आप जब "प्रकाश, पतिंगे, छिपकलियों"
को सकते हैं और भाषा में सरलता, प्रवाह व व्यञ्ज-
। सकते हैं ही भाषा-शैली को बाणभट्ट की परम्परा
जाते भाषा लिखने में समर्थ होकर भी
गद्य में विचारों का स्तर ऊँचा
निभ जाते हैं। पर्यायवाची

शब्दों की भी गद्य में कठिनाई रहती है परन्तु कविता मे तो विचार के अतिरिक्त मार्मिकता उत्पन्न करने की आवश्यकता है, सत्य की प्रेषणीयिता के लिए सौन्दर्य को माध्यम वनाना है, कविता तो तभी सफल हो सकती है, अन्यथा गद्य ठीक है। परन्तु पन्तजी जान-बूझ कर भाषा को ऊर्ध्व-शिखर पर चढा कर स्वयं भी वहीं जा वैठते हैं। फिर आप कहीं वैठें-उठें, किंतु जव कहने का प्रश्न आता है तो समाज सम्मुख आजाता है और तव स्वत अभिव्यक्ति मे सहजता का ध्यान रखना पड़ता है। अंतत तुलसी, सूर ने भी तत्सम शव्दावली का प्रयोग किया है परन्तु उनकी भाषा का लचीलापन ही उनके काव्यों को धरती की वस्तु वनाये रखता है। कवि को चिंतन व साधना का अधिकार तो है परन्तु उसे वोलना कवि की ही तरह पड़ता है। यदि वह कवि की तरह न वोलकर गद्यकार का पथ अपनाता है तो कविता कविता न रह कर सिद्धान्तों की दुरूह पोथी वन जाती है—

युग संध्या यह, अस्तमित एक इतिहास वृत्त,
ढलने को ब्रह्म अहन् वुझने को कल्प सूर्य
मुँदने को मानस-पद्म, उदित ज्योतिर्मय कवि
घूमता विवर्तन चक्र, आज संक्रान्ति काल

इस पद्य को पढ़ कर यदि कोई कहे कि इस भाषा पर आप क्यों आक्षेप करते हैं जवकि 'परिवर्तन' में इससे अधिक कठिन पदावली मिलती है। मेरा निवेदन यह है कि प्रौढ़ पदावली जव आवेश के साथ आती है यथा निराला के "तुलसीदास" मे या पन्त के 'परिवर्तन' में, तो वह एक सीमा तक उपयुक्त हो जाती है परन्तु मात्र कथन को, विचारों के विश्लेषण को कविता कहलवाने के लिए जव कवि तत्समता लाता है तो कवित्व उत्पन्न हो ही नही सकता। उसमें गद्यमयता अवश्य आजाती है।

'अतिमा' 'उत्तरा' आदि की भाषा में प्रयत्न की अधिकता स्पष्ट करने के पश्चात् अव यह देखे कि 'उत्तरा' की भाषा व अन्य काव्यों की भाषा में क्या अन्तर है ? स्वर्ण किरण की भाषा की जटिल समास-पद्धति तथा 'स्वर्ण धूलि' की भाषा की गद्यमय सरलता की चर्चा हम कर चुके हैं। काव्य रूपकों की भाषा स्वत स्वतंत्र रचनाओं से अपेक्षाकृत सरल प्रतीत होती है, यह एक सर्व विदित तथ्य है। पन्तजी के काव्य-रूपकों की भाषा का प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है जिस

मैं अबोध था, मैंने गलत बीज बोए थे
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था

× × ×

मैंने कौतूहल वश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिए मिट्टी के नीचे
रज के अञ्चल में मणि माणिक बाँध दिए हों
देखा आँगन के कोने में कई नवागत
छोटी छोटी छाता ताने खड़े हुए हैं
छाता कहूँ कि विजय पताकाएँ जीवन की
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्ही, प्यारी

आप कहेंगे कि यह तो वर्णनात्मक कविता है, यद्यपि है नही, क्योंकि इसमें चित्रण प्रधान है। परन्तु हम प्रतीकवादी कविता से एक और उद्धरण देते हैं इससे स्पष्ट हो जायगा कि भाषा का रूप क्या होना चाहिए और सत्य को सहजरूप में उपस्थित करने के लिए कैसी भाषा प्रयुक्त होनी चाहिए—

वह प्रकाश, ये मुग्ध पतिंगे
ये भूखी, लोभी छिपकलियाँ
प्रीति—शिखा, उत्सर्ग मौन
स्वार्थों की अन्धी चलती गलियाँ

× × ×

उच्च उड़ान नही भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत् कर्म के लिए चाहिए
महत् प्रेरणा बल भी भीतर— —अतिमा

अन्य कवियों की भाषा के नमूनों को एक ओर रखकर यदि हम पन्त जी से यह पूछें कि आप जब "प्रकाश, पतिंगे, छिपकलियों" में प्रतीक को निभा सकते हैं और भाषा में सरलता, प्रवाह व व्यंजकता ला सकते हैं तो व्यर्थ ही भाषा-शैली को बाणभट्ट की परम्परा में क्यों ले जाते हैं, क्यों लचीली भाषा लिखने में समर्थ होकर भी प्रसाद गुण पूर्ण भाषा नही लिखते। गद्य में विचारों का स्तर ऊँचा होने पर तार्किक क्रम रहने से कठिन शब्द निभ जाते हैं। पर्यायवाची

शब्दों की भी गद्य में कठिनाई रहती है परन्तु कविता में तो विचार के अतिरिक्त मार्मिकता उत्पन्न करने की आवश्यकता है, सत्य की प्रेषणीयता के लिए सौन्दर्य को माध्यम बनाना है, कविता तो तभी सफल हो सकती है, अन्यथा गद्य ठीक है। परन्तु पन्तजी जान-बूझ कर भाषा को ऊर्ध्व-शिखर पर चढ़ा कर स्वयं भी वहीं जा बैठते हैं। फिर आप कहीं बैठें-उठें, किंतु जब कहने का प्रश्न आता है तो समाज सम्मुख आजाता है और तब स्वतः अभिव्यक्ति मे सहजता का ध्यान रखना पड़ता है। अंतत तुलसी, सूर ने भी तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है परन्तु उनकी भाषा का लचीलापन ही उनके काव्यों को धरती की वस्तु बनाये रखता है। कवि को चिंतन व साधना का अधिकार तो है परन्तु उसे बोलना कवि की ही तरह पड़ता है। यदि वह कवि की तरह न बोलकर गद्यकार का पथ अपनाता है तो कविता कविता न रह कर सिद्धान्तों की दुरूह पोथी बन जाती है—

युग संध्या यह, अस्तमित एक इतिहास वृत्त,
ढलने को ब्रह्म अहन् बुझने को कल्प सूर्य
मुँदने को मानस-पद्म, उदित ज्योतिर्मय कवि
घूमता विवर्तन चक्र, आज संक्रान्ति काल

इस पद्य को पढ़ कर यदि कोई कहे कि इस भाषा पर आप क्यों आक्षेप करते हैं जबकि 'परिवर्तन' में इससे अधिक कठिन पदावली मिलती है। मेरा निवेदन यह है कि प्रौढ़ पदावली जब आवेश के साथ आती है यथा निराला के "तुलसीदास" में या पन्त के 'परिवर्तन' में, तो वह एक सीमा तक उपयुक्त हो जाती है परन्तु मात्र कथन को, विचारों के विश्लेषण को कविता कहलवाने के लिए जब कवि तत्समता लाता है तो कवित्व उत्पन्न हो ही नही सकता। उसमें गद्यमयता अवश्य आजाती है।

'अतिमा' 'उत्तरा' आदि की भाषा में प्रयत्न की अधिकता स्पष्ट करने के पश्चात् अब यह देखें कि 'उत्तरा' की भाषा व अन्य काव्यों की भाषा मे क्या अन्तर है? स्वर्ण किरण की भाषा की जटिल समास-पद्धति तथा 'स्वर्ण धूलि' की भाषा की गद्यमय सरलता की चर्चा हम कर चुके हैं। काव्य रूपकों की भाषा स्वत स्वतंत्र रचनाओं से अपेक्षाकृत सरल प्रतीत होती है, यह एक सर्व विदित तथ्य है। पन्तजी के काव्य-रूपकों की भाषा का प्रश्न एक स्वतन्त्र प्रश्न है जिस

पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ स्वर्ण-किरण, स्वर्णधूलि, युग पथ, उत्तरा व अतिमा की भाषा का ही प्रश्न रह जाता है। पन्तजी ने स्वयं 'उत्तरा' की भाषा को सरल बताया है और वह स्वर्ण-किरण की भाषा की अपेक्षा सरल है भी, परन्तु प्रश्न तो कवित्व पूर्ण भाषा का भी है। क्या 'उत्तरा' की भाषा कवित्व पूर्ण है ?

भाषा की दृष्टि से 'उत्तरा' की भाषा के दो प्रकार दिखाई पड़ते हैं—(१) प्रथमार्ध की भाषा (२) उत्तरार्ध की भाषा। इनमें उत्तरार्ध की भाषा में स्तवन व आत्म निवेदन अधिक मिलता है अत कल्पना की अतिशय उड़ान, सोपान-परिचय, चिन्तन-परकता का इन रचनाओं में अपेक्षाकृत अभाव मिलता है। आस्थाशील कवि आराध्य के सम्मुख अपनी पूजा-भावना को प्रकट करता है अत भाषा में यहाँ सहजता मिलती है। इन्हीं रचनाओं में प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ हैं। उनमें भी भाषा कवित्व पूर्ण मिलती है—

क्या समीर ने लिपट, विटप को
किया पल्लवों में रोमांचित ?
अँगडाई ले बाँह खोलता
सिखलाया डालों को कम्पित

अथवा

ऊषा आज लजाई
ओसों के रेशमी जलद से
अधर रेख मुसकाई

भाषा का यह रूप प्रशंसनीय है परन्तु पूर्वार्ध की रचनाओ में कवित्व का भी अभाव है और गद्यमयता अधिक है—

यह मनुष्यत्व से मनोमुक्त
देवत्व रहा रे शनैः निखर
भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग
फिर विचरण करने को भू पर

इस प्रकार की गद्यमय शैली में कवि अपने सिद्धान्तों को कहता चलता है, स्पष्ट है कि यह पद्धति कवि की पद्धति नही है।

कोमलता का ह्रास—पन्तजी की पूर्ववर्ती रचनाओं मे जो कोमल, सङ्गीतमय पदावली मिलती है, उसका उत्तरा में अभाव है।

जहाँ पृथ्वी, अन्तश्चेतना आदि को नारी के रूप में देखा गया है वहाँ कोमलता अवश्य आगई है। पदावली की अकड यहाँ भी लुप्त नही होती—

उसकी पृथु श्रोणी में सोए
शत ज्वाल गर्भ निश्चल भूधर
जीवन का छायातप ओढे
लेटे जिन पर भूजन सिरधर

"वाले ! तेरे वाल जाल में कैसे उलझा लूँ लोचन" जैसा प्रवाह, लचक, संगीतमयता तथा आकर्षण यहाँ नही मिलता, यह उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है।

अनगढ़ पदावली—पूर्ववर्ती रचनाओं में शब्द के कोने घिस-घिस कर कवि उनका प्रयोग करता था परन्तु अव विचारों के प्रचार पर अधिक ध्यान रहने के कारण वह शब्द-संस्कार व शब्द-शिल्प 'उत्तरा' मे नही मिलता।

छायावादी सस्कार यद्यपि 'उत्तरा' मे हैं परन्तु छायावादी पदावली का जैसा अनुप्रास-युक्त, सुगठित रूप पहले की रचनाओं मे मिलता है, वह यहाँ कहाँ ?

छायावादी पद्धति—पूर्ववर्ती रचनाओ मे लक्षणा का प्रयोग अधिक मिलता है। "मर्मपीड़ा के हास" आदि प्रयोग 'उत्तरा' में नही मिलते। प्रतीकों के प्रति प्रेम होने के कारण कवि लाक्षणिक मूर्तिमत्ता को नही अपनाता। अभिधा शक्ति का प्रयोग उत्तरा में अधिक मिलता है। इसीलिए रूपक, उपमा व प्रतीक ये तीन पद्धतियाँ ही यहाँ अधिक मिलती हैं। विशेषण-विपर्यय जहाँ तहाँ मिलता है पर वहुत कम। मानवीकरण की पद्धति वरावर प्रयुक्त हुई है परन्तु उसका प्रयोग अन्तश्चेतना व पृथ्वी के ही साथ हुआ है। मन की नानाभाव-भूमियों का मानवीकरण यहाँ नही होता, केवल प्रतीकों द्वारा उनका परिचय दिया जाता है। सत्य, प्रेम, प्रीति, शोभा, धरती, अन्तश्चेतना, शरद का मानवीकरण अवश्य हुआ है परन्तु उसमें भी एक वहुत वड़ी कमी यह है कि इन मानवीय सत्यों की विभिन्न भङ्गिमाओं व अनुभूति के समग्र चित्रवृत्तियों का मानवीकरण नही किया गया, केवल धरती व अन्तश्चेतना के भोग-व्यापार का ही मानवीय-

करण अधिक हुआ है, अतः वह रूढ़िगत व अश्लील हो गया है। नौका-विहार, उच्छ्वास, परिवर्तन का कल्पना-वैभव यहाँ नहीं दिखाई पड़ता है, हाँ चेतना स्तरों पर कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान अवश्य यहाँ मिलती है।

उपमाएँ—

मेघों का सा घर, तड़ित ज्वलित निर्झर सा युग परिवर्तन,
रोती भू झिल्ली सी झनझन, रजत झाँझ से बजते तरुदल
स्वप्नों की कलियों सा कोमल, खोल वक्ष शोभा का उज्वल
तुम चन्द्र ज्वाल सी सुलग रही, जीवन लहरों में चिर चञ्चल
बज रहे घण्टियों से तरुदल, छाया सीता सी आ चुपके।
चन्द्रातप सा मृदु सूर्यातप, अब शरदमेघ सा मेरा मन
परित्यक्ता वैदेही सी, अब हृदय कामना उठी निखर

रूपक—

खुलता बाहर तम कपाट, भीतर प्रकाश का तोरण
क्या न करोगे तुम विद्युत अणु अश्वों पर आरोहण
अग्नि—गर्भ, युग—शिखर विकट, फटने को है, छोड़ो डर
छाया सशय का तम, तृष्णा भरती गर्जन
स्वर्ग—रुधिर मृन्मांस से बहे, उर में हो चेतना गहन व्रण
फूलों की चोली में कस दो, आज धरा उर यौवन
क्या एक रात ही में सहसा, ये हरित शुभ्र कोंपल फूटे
स्वप्नों के माँसल शिखरों मे, मैंने निज छिपा लिया आनन
तुम विद्युत प्रभ कर पलक पात।

मानवीकरण—

शोभ के रहस उरोजों पर, कब प्रीति धरेगी उपकृत कर
तुम आती हो, नव अंगों का, शाश्वतमधु विभव लुटाती हो।
बजते निः स्वर नूपुर छमछम, सांसों में थमता स्पन्दनक्रम
तुम आती हो अन्तस्तल में, शोभा ज्वाला लिपटाती हो
तुम रजत वाष्प के अबर से, बरसाती शुभ्र सुनहली झर
शोभा की लपटों में लिपटा, मेघों का माया कल्पित कर
फूलों की शय्या पर लेटा, मधु से
गुंजित उसका यौवन

तुम उसके कंपित अधरों पर, धर दो प्रकाश
का चिर-चुम्बन।
उसके जघनों के पुलिनों में—
सोई शत झरनों की मर्मर
उनके प्राणों की बेला में—
लहरा दो चन्द्र ज्वलित सागर।

अप्रस्तुत विधान की एक झलक उपर्युक्त उदाहरणों में मिल सकती है। मैंने कहा है कि 'उत्तरा' में कल्पना का प्रयोग गूढ चेतना-स्तरों की टोह लेने तथा अनुमान और सम्भावनाओं में अधिक उपयुक्त हुआ है अथवा अतश्चेतना व स्थूल मन का समन्वय स्पष्ट करने के लिए प्रतीकों की खोज में उसका प्रयोग हुआ है। उपमाओं, रूपकों के उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि कल्पना के वैभव का जो रूप पूर्ववर्ती कविताओं में हम देख चुके हैं, उनका दशमांश भी यहाँ नही मिलता। अमूर्त अनुभूतियों के विवरण देने व उपयोगिता घोषित करने के स्थान पर यदि कवि विभिन्न उपमानों से उनके मूर्तीकरण का प्रयत्न करता, तो चित्रण-कला सुन्दर हो जाती। काव्य-चेतना हृदय चेतना तथा शरद् के वर्णन मे भव्यता आगई है परन्तु वह परिमाण को देखते हुए बहुत कम है। फिर मानवीकरण करते समय भोग-लिप्सा की पिष्ट-पेष्टित पद्धति अपना कर कवि ने कुछ नवीन मार्ग नही खोजा। एक ही चित्र-वृत्ति का मानवीकरण अनेक प्रकार से हो सकता था परन्तु वह नही हो सका। 'उत्तरा' में तटस्थ चित्रण या तो अतश्चेतना का हुआ है या 'शरद ऋतु' का, किन्तु अतश्चेतना के चित्रण मे सूक्ष्म व उलझी हुई संवेदनाओं का मूर्तीकरण बहुत कम हुआ है, उनका परिचय देने की प्रवृत्ति अधिक रही है। अत चित्रण विवरण मे बदल दिए गए हैं। मन पर पड़े आध्यात्मिक अनुभवों को भी कल्पना द्वारा लाए गए नए-नए रूपों से मूर्त नही किया गया अपितु उन्हें कहा गया है या फिर उन दिव्य अनुभवों से भविष्य में लाभ उठाने की प्रार्थनाएँ की गई हैं जिनमें अभिधेयता अधिक है, व्यंजकता का अभाव है। अत 'उत्तरा' में न तो 'स्वर्ण किरण' की तरह 'हिमाद्रि', 'उषा' जैसे विराट भव्य चित्रण हैं, न विस्मय-कौतूहल के सूत्रों को विस्तृत रूप देकर कल्पना का ताना बाना बुना गया है। मनमे सहसा स्फुरित अनुभवों को लघु चित्रों में व्यक्त कर पुनः सिद्धान्तवादिता

अपना लेने के कारण 'उत्तरा' में विशद व विविध चित्र नही मिलते, जिन वस्तुओं को चित्रण में बाहर से लिया गया है, वे गिनती में बहुत थोड़ी है; अत बार बार मेघ, बिजली, भाप, चन्द्र, आतप, किशलय आदि की पुनरावृति से चित्रण में एकरसता आगई है। इसके साथ ही 'काव्य-चेतना' जैसी एक दो और रचनाओं को छोड़कर गत्यात्मक सौन्दर्य का वर्णन कही नही मिलता। क्रिया के साथ-साथ अनुभूति के वर्णन करते समय ही गत्यात्मक सौन्दर्य का वर्णन सम्भव हो सकता है। क्रियाएँ भी दो प्रकार की होती हैं :—

१—जीवन-संघर्षों का चित्रण और विभिन्न परिस्थितियों मे पात्र की मुद्राओं का चित्रण।

२—क्रिया-हीन पदार्थों की स्वाभाविक गतियो का वर्णन।

जीवन-सघर्षों का चित्रण करने वाले पन्तजी जैसे कवि जिस प्रकार 'पर्वतप्रदेश', 'नौका विहार', 'वादल' आदि मे प्राकृतिक वस्तुओं में होने वाली स्वाभाविक गतियों का वर्णन करते है, वैसा गत्यात्मक वर्णन 'उत्तरा' में नही मिलता, यथा वादल, पर्वत व वायु की क्रीड़ाओं का वर्णन अथवा 'नौका विहार' में लहर, चन्द्र, आदि की नाना मुद्राओं का वर्णन। 'उत्तरा' में विषय अध्यात्मिक होने के कारण यह पूर्ववर्ती चित्रण-कला प्रयुक्त नही हो सकी। अत कवि पैगम्बरी मुद्रा में प्रवचन करने लगा। उसने ऐन्द्रिक चित्रणों के स्थान पर काव्य में पवित्रतावादी प्रवृति को अपनाया, सास्कृतिक पर्व जैसा पवित्रतम वातावरण उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। वह समय गया जब प्रिया का स्पर्श उसे गगा स्नान के समान लगता था। अब कवि 'स्वर्ण-किरण', 'उत्तरा' आदि में प्रकृति को साधिका के रूप में देखता है और उसके बाह्य सौन्दर्य में पवित्रता के चित्रण का अधिक प्रयत्न करता है।

चित्रण में पवित्रतावादी प्रवृत्तिः—

"परित्यक्ता वैदेही सी अब हृदय कामना उठी निखर"
ऐसा क्यों हुआ ? कवि साफ-साफ कहता है—

"अब प्रेमी मन वह नही रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल"

अर्थात् अब "ध्रुव-प्रेम" के कारण जान-बूझ कर वस्तुओं के बाह्य सौन्दर्य के विशद अंकन में समय क्यों नष्ट करें ? या बात दूसरी

है कि अनजाने ही ऐन्द्रिकता मानवीयकरण करते समय आजाये जैसा कि प्रायः हुआ है। पवित्रतावादिता का प्रकृति-चित्रण पर प्रभाव देखिए—

"हेम चूड़ पर स्वर्ण रश्मि प्रभ
ज्योति मुकुट जाज्वल्य शीष धर
शत सूर्योज्वल, कुवलय कोमल
स्फुरत किरण मंडित मुख सुन्दर
नयन अकूल क्षमा गरिमामय
ज्योति प्रीति के अतल सरोवर
अधर प्रवालों पर चिर गुंजित
मौन मधुर स्मिति के मुरली स्वर"

चित्रण की यह भव्यता 'स्वर्ण-किरण' में अधिक मिलती है। अब प्रकृति को लीजिए—

"फिर वसन्त की आत्मा आई
मिटे प्रतीक्षा के दुर्वह क्षण
अभिवादन करता भू का मन
फूलों में मृदु अंग लपेट कर
किरणों के सौ रंग समेट कर
गुंजन कूजन से जग को भर
फिर वसन्त की आत्मा आई"

पहले कवि वसन्त के सौन्दर्य के हर पहलू को देखता था, अब वह वसन्त की आत्मा के सौन्दर्य को देखता है परन्तु वसन्त की आत्मा तो वसन्त में व्याप्त आंतरिक सौन्दर्य का ही नाम है अतः कवि उसे मूर्त करने को प्रस्तुत नही, वह केवल प्रकृति को पूजा-भावना से देखकर मन में धार्मिकता जगाना चाहता है और बस, इसलिए चित्रण-कला का इतना ह्रास दिखाई पड़ता है।

इस प्रकृति-चित्रण में पूर्ववर्ती वैभव व संश्लिष्टता न मिलने का कारण प्रकृति के प्रति नूतन दृष्टिकोण भी है—

प्रकृति के अन्तःकरण में पुरुष से मिलन-आकांक्षा—यह प्रवृत्ति तो प्राचीन है, परन्तु इसमें इतनी नवीनता फिर भी मिलती है कि जहाँ प्रकृति की वस्तुओं को प्रत्यक्ष विरह ज्वाला से प्रपीड़ित

'उत्तरा' मे दूसरी स्थिति का लघु चित्र दे देकर प्रकृति के अंतस् का तथा संकेतित सत्य पर केन्द्रित कवि मन की मनुहारों का ही चित्रण अधिक हुआ है। अतः पूर्ववर्ती युग से उसका प्रकृति-चित्रण आकार-प्रकार दोनों मे भिन्न हो गया है। वह ऐन्द्रिकता की ओर पुन. नहीं लौटना चाहता —

"मलयानिल दे भले निमन्त्रण
पंख खोल उड़ना चाहे मन
तोड़े यह न प्रणय (आध्यात्मिक) का बंधन"

प्रकृति के प्रेम का तथा प्रकृति को देखकर, सत्य पर केन्द्रित हो जाने के पृथक् पृथक् रूप देखिए .—

प्रकृति प्रेम—

"हर सिंगार की वेला हँसती
तुम पर कर शृङ्गार निछावर
कँप-कँप उठता फूलों का तन
उड़-उड़ वहता सौरभ का मन
शोभा से भर अपलक लोचन
पथ में बिछ जाने को तत्पर"

सत्य पर केन्द्रित चित्त वृत्ति—

"नभ वैसा ही नीला निर्मल
धरती भी वैसी ही श्यामल
प्रिय, केवल तुम्ही हुए ओझल
अह, हुआ न विश्व व्यथित पल भर"

इस दशा मे कवि प्रकृति को केवल माध्यम के रूप में स्वीकार करता है।

ऐसी स्थिति में "अह, हुआ न विश्व व्यथित पल भर" जैसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं—अनुभूति से ओत-प्रोत परन्तु पूरी कविता मे एक पंक्ति। तभी तो मैं कहता हूँ कि नूतन काव्य में सत्य के प्रति प्यास अधिक है। सौन्दर्य का आंतरिक रूप "सत्य" होता है इस दृष्टि से सौन्दर्य के वाह्य रूप का अंकन पूर्ववर्ती रचनाओं में ही सम्भव हो सकता था। यहाँ तो अलौकिक सत्य व अलौकिक-सूक्ष्म सौन्दर्य ही अधिक है। अत चित्रण-कला का क्षेत्र यहाँ उतना विशद हो ही नही सकता था। इसलिए विखरे हुए लघु चित्रों मे ही कवि की चित्रण-कला दिखाई पड़ती है। 'स्वर्णकिरण' मे चित्रण विशद रूप से हुआ है।

'उत्तरा' में मानसिकता अधिक आगई है। कवि का मन अपने 'स्व' की टोह में अधिक लग गया है। यदि इस स्थिति में टोह व उपलब्धि की स्थितियों का भावना के माध्यम से वर्णन होता तो कला का ह्रास न दिखाई पड़ता। तब प्रतीक भी व्यंजक हो जाते, वे परिचय-दाता मात्र न रह जाते परन्तु ऐसा नहीं हो सका। 'स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान' की कौंधती हुई विद्युत, वस्तु को जिस प्रकार कुछ काल तक ही देखने का अवसर देती है और फिर जैसे द्रष्टा उस कौंध, घनगर्जन, पवन-विस्फूर्जन आदि पर ही विचार करता रहता है, उसी प्रकार वस्तु-चित्रण की अधिक गुंजाइश 'उत्तरा' में नहीं थी। जिस प्रकार लम्बे झूले में पूरा वेग आजाने पर वस्तुओ का रूप परस्पर मिल जाता है, उनकी अलग-अलग छविमान मुद्राएँ नहीं दिखाई पड़ती या बहुत कम दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार कल्पना या कहें स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान के झूले पर वेग से झूलते हुए कवि-मन में वस्तु के अवयव देखने का अब समय नहीं रह गया अब तो वस्तु की समग्रता, एकता पहचानने का ही कार्य वह कर सकता है। अवयव का नहीं, अग की समग्र भावना का चित्रण वह अपेक्षाकृत अधिक कर सकता है। 'उत्तरा' में 'समग्रता' व 'एकता' खोजने की प्यास अधिक होने से वस्तु की बाह्य सावयवता, आकार व रङ्गों आदि के सामञ्जस्य खोजने की प्रवृत्ति इसीलिए कम होगई है। निरपेक्ष की चिन्ता में सापेक्ष को या तो निरपेक्ष से रंग कर देखा जा सकता है या सापेक्ष को माध्यम बनाया जा सकता है या उसकी उपेक्षा हो सकती है। उत्तरवर्ती कविता में उपेक्षा तो नहीं परन्तु प्रथम दो स्थितियाँ ही अवश्य अधिक हो गई हैं, अतः उत्तरवर्ती कला की चित्रण-कला भिन्न होगई है।

प्रकृति-चित्रण तथा अनुभूतियों की व्यंजना में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व "कल्पना" है। अत अनुभूति, चित्रण, भाषा व कल्पना इन चारों को साथ-साथ देखना भी आवश्यक है।

पन्तजी को कल्पना का कवि माना जाता है। कल्पना की प्रमुखता के आधार पर ही ऐसा विभाजन होता है। कल्पना, स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान, भावना, विचार ये सब मानसिक शक्तियाँ हैं। जब इनमें से किसी एक शक्ति की कहीं प्रमुखता हो जाती है और अन्य शक्तियाँ लुप्त सी रहती हैं या पीछे पड़ जाती है तो उसी शक्ति विशेष को हम एक स्वतन्त्र नाम दे देते हैं और समझते हैं कि यह शक्ति अन्य शक्तियों

से सर्वथा स्वतन्त्र है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। फिर भी मानसिक क्रिया के समय प्रमुखता को देखकर हम उन्हे सुविधा से विवेचित कर सकते हैं। पन्तजी की कविता मे परम्परागत भावनाओं के सीधे उद्‌गारों के स्थान पर, कल्पना द्वारा जागृत या कल्पना युक्त भावों का वर्णन पूर्ववर्ती कविता में मिलता है। आवेग व कल्पना को ही रोमांटिक काव्य के मूल मे स्वीकार किया जाता है। हमारे यहाँ शास्त्रीय आलोचना में कल्पना को भाव का सहायक मात्र माना गया है। इसका अर्थ यह नही है कि जहाँ कल्पना का स्वतन्त्र रूप दिखाई पड़ता है, अर्थात् जहाँ भावना पीछे पड़ जाती है, वहाँ कवित्व को स्वीकृत नही किया गया। ऐसा सोचना गलत होगा क्योंकि अलङ्कारों में यथा रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में कल्पना नाना रूपों की अवतारणा व सृष्टि करती है और ऐसी कविता के पीछे 'आनन्द' भावना बराबर छिपी रहती है। चित्रण करते समय वस्तु को देखकर आनन्द की भावना बढ़ जाने पर उसे कवि चित्रित करना चाहता है और उसको सम्मूर्त करने के लिए नाना रमणीय रूपों को हमारे सम्मुख लाता है। कल्पना द्वारा लाए गए या सृष्ट आकर्षण (यथा सूर व पन्तजी में) अपना एक स्वतत्र आकर्षण बना लेते हैं। अत यहाँ भी भावना का सूक्ष्म सूत्र प्रेरक के रूप मे साथ-साथ चलता है और आगे चलकर प्रेरणा फल के रूप में बदल जाती है। उदाहरण के लिए वस्तु को देखकर आनन्द हुआ, आनन्द से प्रेरित होकर आपने वस्तु के उस रमणीय रूप का चित्रण करना चाहा, इसके लिए नए-नए रूप सामने आगए और उन्हें देखकर तथा वर्ण्य वस्तु की रमणीय छवियों को देखकर आपको आनन्द प्राप्त हुआ, अत जो आनन्द प्रेरक बना वही कल्पना की क्रिया के फल में प्राप्त होगया। यह तो कल्पना का एक रूप हुआ।

भावना के वर्णन करते समय भी आप कल्पना का प्रयोग करते हैं। नाना मानसिक दशाओं को आप कल्पना के द्वारा ही मूर्त करते हैं। मानसिक दशाएँ तो वस्तुओं, घटनाओं, विचारों की टकराहट, आंतरिक व बाह्य दशाओं के असामञ्जस्य आदि से उत्पन्न होती हैं, उन्हें कवि कल्पना की सहायता से व्यक्त करता है। कल्पना का यह रूप सभी भावनावादियों में मिलता है। जिन्होंने

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन नहीं भी किया वहाँ भी भावना के सम्मूर्तन में कल्पना का प्रयोग मिलता है।

छायावादी कविता व्यक्तिवादी के 'उस असन्तोष की अभिव्यक्ति है जो उनमे वाह्य परिस्थितियों के साथ भावनाओं व दृष्टिकोण के असामञ्जस्य के कारण उत्पन्न हुआ था। अपूर्ण जीवन को पूर्ण करने के लिए एक ओर तो शाश्वत सत्ता की अभीप्सा कविता में व्यक्त होने लगी, दूसरी ओर उसमे यथार्थ जीवन के असौन्दर्य को कल्पना की सुन्दरता से पूर्ण किया जाने लगा। कल्पना सदा मनोरम होती है, तटस्थ प्रकृति के अचल में कवि अपनी असंतुष्ट व विक्षुब्ध मानसिक स्थितियों को रखता रहा है। जीवन की कुत्साओं से कतरा कर, विषण्ण वदन कवि अपनी गम्भीर निराशा, वेदना, प्रेमिल भावनाओं की रंगीनी तथा असफलता के कारण पूर्ण व व्यवस्थित, विशद व अनन्त, प्रकृति-कामिनी के सौन्दर्य पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की,' "प्रकृति सौन्दर्य और अपना क्षुब्ध हृदय" जैसे एक दूसरे के पूरक व माध्यम वन कर छायावादी कविता में अवतरित हुए। यहाँ तक कि विस्मय, वेदना, आनन्द, कौतूहल, क्रीड़ा, विक्षोभ व अवसाद के रूप में कल्पना व भावना की आँखमिचौनी वरावर छायावादी कविता में चलती रही, किसी मे कम किसी में अधिक। पन्तजी मे विक्षोभ व घोर वैयक्तिक स्थितियों की व्यंजना अपेक्षाकृत कम हुई उनमें कल्पना का सर्वलयकारी रूप दिखाई पड़ा। ऐसी कल्पना के पीछे भावना केवल 'प्रेरक' रूप में—हलके—अस्फुट, विस्मय के रूप में अवस्थित रहकर, कल्पना के बल पर लाए गए नाना रूपों व मूर्तियों के सौन्दर्य मे छिप सी गई। कल्पना ने भाव को दवा दिया, चित्रण प्रधान होगया—'नक्षत्र', 'स्याही की बूंद' आदि में यही प्रवृत्ति मिलती है।

पन्तजी कविता में भावना को पृष्ठ भूमि मे रखकर, कारण के रूप मे रखकर कल्पना की क्रीडा करने लगे परन्तु आगे एक और द्वन्द्व खड़ा होगया। वस्तु के नाना रूपों में रमती हुई वृत्ति स्थायी नही हो सकती, विशेषत वैज्ञानिक अभीप्सा के युग मे। अत वस्तु के साथ विक्षुब्ध जीवन में सामञ्जस्य खोजना आवश्यक था। व्यक्तित्व मे असन्तोष से जो तनाव उत्पन्न हो जाता है वह या तो सक्रिय क्रान्ति में परिवर्तित होता है या पलायनवाद के रूप मे अथवा

सामञ्जस्यवाद के रूप में। क्रियात्मक रूप जब मानसिक असन्तोप को प्राप्त न हो सका तो पन्तजी ने सामञ्जस्य का मार्ग अपनाया—सभी छायावादियों ने अपनाया, यही सम्भव भी था—व्यक्तिवादी दृष्टि-कोण को न त्याग सकने के कारण और सामञ्जस्य खोजने के लिए विवेक की आवश्यकता पड़ी। पन्तजी को विवेक पहले अपने संस्कारों के अनुकूल पड़ने वाले शिविरों से मिला, पुन प्रतिकूल पडने वाले शिविरों से अत फिर द्वन्द्व उपस्थित हुआ। कवि ने इसमें भी सामञ्जस्य खोज लिया जिसमें संस्कारों की भी रक्षा होगई और और बुद्धि को भी सन्तोप मिला। इस सामञ्जस्य के तीन रूप दिखाई पड़े। प्रथम–गु जन व ज्योत्सना में, द्वितीय–युगवाणी मे, तृतीय–नूतन-काव्य मे। गु जन मे व्यक्तिगत सुख-दुख का समन्वय, ज्योत्सना मे पूर्व व पश्चिम अर्थात् अध्यात्मवाद व भौतिकवाद का, युगवाणी-युगान्त मे भारत व रूस का अर्थात् अध्यात्मवाद व मार्क्सवाद का तथा अन्त में सर्व समन्वय का रूप अरविन्द मे मिला। इस 'समन्वय' ने कवि को बहुत से ऐसे तत्त्व दिए जिनसे वह अपरिचित था। उसने नत मस्तक हो सब स्वीकार किया, बुद्धि का समर्पण हो गया। कवि ने इस बौद्धिक उपलब्धि को बड़े ही विस्मय से देखा, उसी विस्मय से जिनसे कवि पल्लवों व पक्षियों को देखा करता था, वारिदों व विद्युतों को। किन्तु कवि को जो बौद्धिक उपलब्धि मिली, वह उसकी हृदय की धरोहर तभी बन सकती थी जब कि या तो वह स्वय उसे प्राप्त हुई होती अथवा पीछे से उसको अपनी अनुभूति बनाने के लिए, साधना करता, परन्तु ऐसा सम्भव नही था। अत पूर्ववर्ती काव्य जैसा द्वन्द्व यहाँ पुन खडा हो गया जिसने उसकी कला के स्वरूप को यह विशेष रूप दिया—भाव व कल्पना का द्वन्द्व। मैंने कहा है कि निरपेक्ष को निरपेक्ष के ही रूप में रखकर, केवल कल्पना व बौद्धिक बारीकी का परिणाम बता कर आप उच्चकोटि की कला को जन्म नही दे सकते। अरविन्द में जो प्रवाह मिलता है वह उनके बौद्धिक जोश के कारण है। उन्होंने बराबर भाव की अनिवार्यता पर जोर दिया परन्तु चित्त की शाति, प्रकाश तथा काल्पनिक उड़ान मिलने पर भी ये वस्तुएं सामान्य मानव हृदय के साथ साक्षात् सम्बन्ध न रखने के कारण, जिस काव्य की जनक बनी वह स्वत दार्शनिक बनता गया, बौद्धिकता मानसिक स्थिति आदि तत्त्व इतनी सघनता के साथ छा गए कि वही पूर्ववर्ती द्वन्द

और भी उग्र रूप में हमारे सम्मुख आया—भाव व कल्पना का द्वन्द्व। यदि काव्य-कला का कार्य केवल कल्पना से चल जाता, मतलब यह कि समग्र कोरी कल्पना स्थायी व मार्मिक साहित्य की सृष्टि कर पाती अथवा यदि कोरी बुद्धि ही इस कार्य में सफल हो पाती तो पन्तजी का नूतन काव्य भी पूर्ण हो जाता। चूँकि पन्तजी मे द्वन्द्व पहले था अतः वह फिर आगे आया और जिस प्रकार पूर्ववर्ती कविता में कल्पना का आधिक्य होने पर भी भावनाओं से कल्पनाएँ संवलित हो जाया करती थी, वह नूतन काव्य मे सम्भव न हो सका। अत' युग-वाणी में जो दशा हुई, वही दशा नूतन काव्य की हुई, अन्तर मात्रा का है और उसे पहचानना समालोचक का मुख्य कार्य है। प्रकार व साँचों को तो सभी समझते हैं। युगवाणी व नूतन काव्य में भावना की मात्रा में अन्तर आया कल्पना मे भी। मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि युगवाणी युगान्त की कविताओं से नूतन काव्य में कल्पना व भाव दोनों का अधिक काव्योचित रूप मिलता है। परन्तु युगवाणी युगान्त में एक विशेषता भी थी—विचारों की ताजगी, जो नूतन काव्य में नही मिलती। युगवाणी में कवि युग के साथ था परन्तु नूतन-काव्य में निरपेक्षता बहुत बढ़ गई। परिणाम यह हुआ कि अतिवादिता के घोर विरोधी पन्तजी, भाव व अनुभूति के द्वन्द्व से सदा पीड़ित रहने पर भी, संतुलन न खोज सके और नूतन काव्य में कल्पना ने भाव को पुन' ग्रसित कर लिया।

सूक्ष्म तत्त्व जब हमारी भावना का विषय नही बनता तब या तो कल्पना के बारीक डोरों मे मन कवि-सूत्रधार के संकेत पर नट की तरह डगमगाता हुआ चढने लगेगा, हताश होगा, खीझ उठेगा। कुछ जो सफल खिलाडी होंगे उनकी बात दूसरी है परन्तु कविता कुछ की नही हो सकती है, अधिक से अधिकतर की। कोरी कल्पना के साथ पाठक सदा आशंकित होकर चलता है, जिस प्रकार विचित्र प्रदर्शिनी देखते समय एक जो विशेष कौतूहल हम में जगता है, उससे भी अधिक विचित्र कौतूहल यह नूतन काव्य हम में जगाता है यदि कहो कि "अद्‌भुत" भी तो एक भावना ही है, परन्तु तभी जब महनीयता, गरिमा के साथ उसका संयोग हो अन्यथा दिवा-स्वप्न भी बड़े विचित्र होते हैं बड़े अद्‌भुत, परन्तु वे उस आश्चर्य को जन्म नही देते जिसमें हम अपने को भुला सकें। अतः अद्‌भुत अतिवाद की

सीमा तक पहुँच कर, हमारी भावना की परिधि से वाहर होकर, एक दम हमारी वृत्तियों को झूठी उत्तेजना से भर देता है जो कभी स्थायी नहीं होती; अपनी नही वनती। अतः नूतनकाव्य में कल्पना का 'अतिविचित्र' रूप मिलता है, वहाँ दृश्यों की नुमाइश भी होती तो गनीमत थी, वहाँ या तो आकाश में उड़ने का प्रदर्शन है, ऊपर ही ऊपर जाने की शक्ति का अथवा नीचे अतल में जाकर हमसे कहने का "देखो हम यहाँ तक जा सकते हैं, आओ तुम भी आओ" और पाठक चकित रह जाता है परन्तु इस गहराई व ऊँचाई का ऊपर के स्तरों से परिचय मात्र करा कर—कवि ऊपर के स्तरों व सामान्य स्तरों के अतर को नही भर पाता, क्योंकि कल्पना तो स्वैरिणी होती है, जहाँ भी ले जाय सब अच्छा लगता है परन्तु क्या आप वहाँ अधिक समय तक ठहर सकते हैं? नही, और यदि ठहरना चाहे तो वस एक ही तरकीव है, यथार्थ व कल्पना के वीच के शून्य को भाव से भरिए, यदि मसूर ने ब्रह्म को केवल कल्पना से सोचा भर होता, यथार्थ जगत व कल्पित ब्रह्म के बीच के शून्य को भाव से न भरा होता तो 'सूली पर भी मुस्कराते हुए—शत्रुओं पर भी अमित करुणा वरसाते हुए, "अनअलहक" कैसे कहता? मीरा हालाहल से भरे प्याले के अधरों पर अपने अधर कैसे रख पाती? सत्य के लिए ईसा व गांधी में वह दिव्य निष्ठा कैसे उत्पन्न होती? अत जो सत्य केवल हलके विस्मय मात्र को जगाकर अलग हो जाता है, हमारी चेतना को रुई की तरह धुन कर उसके वासनात्मक अंश को छाँटकर 'भाव' में नही बदल देता, तव तक काव्य पूर्ण कैसे हो, अपूर्ण जीवन के लिए 'पूर्ण की कल्पना कोई नई बात नही, प्रश्न तो पूर्ण को जीवन में उतार सकने की शक्ति का है, कोई भी सिद्धान्त, विचार, सत्य, अनुमान, सम्भावना व उपदेश की पद्धति पर महाकाव्य कैसे होगा?

प्रायः महाकवित्व के मूल कारण, उपकरण व प्रक्रिया को समझना, समझाना ही आलोचकों का कार्य कर रहा है। उनके आधार पर किसी कृति की परीक्षा करना उतना कठिन नही जितना यह वताना कि काव्य का आनन्द कहाँ रहता है, वह क्यों उत्पन्न होजाता है, वह एक के लिए है या अनेक के लिए, कौनसी वस्तु आनन्द के रूप में वदल जाती है, उसमें कौन कौन से तत्त्व सहायक होते हैं,

आदि। यहाँ अन्य बातें तो अप्रासंगिक हैं। केवल देखना यह है कि कल्पना व भाव के सम्बन्ध में विचारकों ने जो तथ्य दिए हैं तथा उनमें से भी उन विचारकों का जो कल्पना को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं क्या पन्तजी अनुगमन करते हैं। आप जानते हैं कि पन्तजी पर भारतीय रस-शास्त्र का प्रभाव कम रोमानी-कवियों का प्रभाव अधिक है—रवीन्द्र, शैले, कीट्स आदि का। दार्शनिक व रहस्यवादी रचनाओं की भी एक परम्परा रही है उनमें भी कल्पना, भावना व बुद्धि के प्रयोग को हमें देखना चाहिए। इसमें रहस्यवादियों के सम्बन्ध में हम चर्चा कर ही चुके हैं, दार्शनिक रचनाओं व रोमांटिक विचारकों के साथ पन्तजी के इस नूतन काव्य को रखकर देख लेना शेष है और तब नूतन काव्य के सम्बन्ध में हमारा मत पूर्णतः निष्पक्ष और निर्भ्रान्त हो सकता है।

योरोप में प्लेटो से लेकर आज के आलोचकों तक साहित्यिक सिद्धान्तों का महान ऊहापोह होता रहा है। यहाँ केवल यह देखना है कि कल्पना अंतर्चेतना, फैंसी आदि का काव्य के साथ सम्बन्ध दिखाने में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार होने पर भी काव्य के आदर्श रूप के सम्बन्ध में विरोध तो नहीं खड़ा हो जाता। आदर्शवादी आलोचना का विकास युगों से होता आरहा है और उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि वह बिना किसी कल्पित सत्ता की सहायता के किसी भी तथ्य पर स्वतन्त्र रूप से विचार नही करती। यथार्थवादी लेखकों व मनोवैज्ञानिकों ने इधर स्वतंत्र रूप से भी सोचा है परन्तु मनोवैज्ञानिकों में आदर्शवादिता व वर्ग-चेतना के कारण विचित्र सिद्धान्त हाथ लगते हैं। यथार्थवादी शिविरों में भी गहराई से इन समस्याओं पर विचार हुआ है। सचाई यह है कि अनेकों विभिन्नताओं के होते हुए भी काव्य के वास्तविक रूप के सम्बन्ध में एक सर्व ग्राह्य सिद्धान्त मिल जाता है, जिसमें भाव का स्थान मुख्य व कल्पना का गौण है। यहाँ भाव को प्रत्येक प्रकार की मानसिक स्थिति के रूप में लेना चाहिए, शास्त्रीय ३३ संचारी व ६ स्थायी भावों के अर्थ में नही, यद्यपि वे भी इसी में शामिल हैं। इधर अंतश्चेतनावादियों ने घोषित किया कि भावना व कल्पना सामान्य स्तर की वस्तुएँ हैं, इनकी सहायता ली जा सकती है, परन्तु भविष्य मे तो अंतर्चेतनात्मक कविता ही होगी जिसमें काव्य का स्वीकृत स्तर कई डिग्री

ऊपर उठ जायगा और ऐन्द्रिक काव्य के ऊपर अतीन्द्रिय काव्य होगा।

आप जानते हैं कि स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान भी हमारे सामान्य-ज्ञान से ही सम्बन्धित है। हम जिस दिशा में काम करते हैं, उसी दिशा मे पूर्व-अनुभवों व संस्कारों के आधार पर ही जो नई सूक्ष्म या अंतर्दृष्टि हममे जाग जाती है, उससे भिन्न कोई अलौकिक प्रकार का या अलौकिक की ओर ले जाने वाला स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान नहीं होता। किन्तु आदर्शवादियों ने इसी स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान की शरण लेकर प्राचीन व मध्यकालीन अध-विश्वासों की प्रामाणिकता सिद्ध करने की नीति अपनाली है। अरविन्द व पन्त जी का इस दिशा मे विशेष हाथ है। इन विचारकों के अनुसार काव्य में अव अंतर्चेतना का ही प्रयोग होना चाहिए। सामान्य कल्पना व भावना को इसकी सहायता करनी चाहिए। इस तर्क से सिद्ध यह होता है कि भविष्य की कविता प्रायः अतर्चेतनात्मक होगी क्योंकि सारी सामाजिक समस्याओं का हल हो जाने के वाद, ब्रह्मानन्द व काव्यानन्द का द्वैत मिट जायगा। सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक काव्य ने इतनी उन्नति करली है कि वह विषयानन्द से एक डिग्री ऊँचा चढ़ गया है, अर्थात् वह भावजन्य आनन्द होकर काव्यानन्द वन गया है अव वह अपने अन्तिम रूप ब्रह्मानन्द की ही व्यंजना करेगा। इस हवाई चिंतन के पीछे जो महत्त्वाकांक्षा है उसकी प्रशंसा करनी ही चाहिए।

परन्तु प्रसन्नता की वात यह है कि हमें जिस काव्य का मूल्यांकन करना है, वह अभी ब्रह्मानन्द के सृजन का नही, उसकी ओर संकेत करने का दावा करता है और साथ ही वह यह भी मानता है कि मानव के प्राण व मन के स्तर अभी अदिव्य ही हैं। यदि हम यह मान भी लें कि काव्यानन्द ब्रह्मानन्द वनने जा रहा है तो आज आप हजारों वर्ष वाद के रचे जाने वाले काव्य के स्वरूप के लिए धीरे-धीरे प्रयत्न क्यों नही करते। यदि आप चाहते हैं कि आपके ब्रह्मानन्द में ही सव अनुरक्त हो जायँ तो आप कृपा कर, अभी जव तक मन व प्राण के स्तर अपना काम कर रहे हैं, तव तक उन्ही के माध्यम को क्यों नहीं अपनाए रहते। यदि आप उनकी उपेक्षा करेंगे और उनसे ऊपर के स्तरों पर खड़े होकर कविता लिखते समय मन व प्राण के स्तरों का उनके साथ सामञ्जस्य न वैठा पाएँगे तो आपका ही उद्देश्य

सफल नहीं होगा। अतः यह तो पन्तजी के ही पक्ष की बात है कि वे अपने काव्य को अभी कम से कम अपने इस जन्म में भावात्मक बनाए रहें और धीरे-धीरे पाठक को उड़ा कर ले चलें अन्यथा आपके इस नूतन काव्य को पढ़कर तो दम फूलने लगता है। हाँ, यदि आप कुछ लोगों को ही उड़ा कर ऊर्ध्व-गह्वरों की ओर ले जाना चाहते हों तो देखिए, आप समन्वयवादी नहीं रह सकते।

क्रोसे ने तो काव्य की आन्तरिक प्रक्रिया को समझाने के लिए अन्तर्चेतना का प्रयोग किया था, यद्यपि वह भी धार्मिक था और शाश्वत सत्ता को ही काव्य का विषय मानता था। यदि आप उसे अभिव्यञ्जना या कला-कौशल का ही प्रशंसक मानलें यथा शुक्लजी ने उसे वक्रोक्तिवादी ही माना तो और भी अच्छा क्योंकि तब भी वह इसी युग की कविता के एक रूप का प्रशंसक माना जायगा। वक्रोक्ति का भी महत्त्व है, हाँ वह भावात्मक काव्य से अधिक महत्त्वपूर्ण न हो यह बात दूसरी है। यहाँ पन्तजी के साथ तो समस्या ही दूसरी है। यहाँ तो काव्य के स्वरूप को ही बदल देने की बात है। अत इस समस्या को गाली देकर आप नहीं टाल सकते। ज्ञान को ज्ञान से ही काट करते हैं। गाली देने से यदि कहीं आपको क्षमा कर दिया गया और गांधीवादी या अध्यात्मवादी ऐसा ही करते हैं तो आपकी दशा विपन्न हो जाती है क्योंकि प्रतिक्रियावादी विचारधारा का नाश ही हमारा लक्ष्य है, यथार्थ दृष्टि के विकास ही हमारा लक्ष्य है और वह तब होगा जब आप अपना सन्तुलन न खो दें।

घबड़ाने की बात नहीं, कविता व दर्शन का यह पुराना द्वन्द्व है। प्लेटो ने इसे कविता व दर्शन का पुराना झगड़ा कहा है[1]। वही द्वन्द्व-युद्ध आज हिन्दी में पन्तजी ने खड़ा कर दिया है—अन्तर्चेतना के नाम पर कल्पना के निरपेक्ष महल खड़े करके। प्लेटो ने सीधी बात कही थी कि क्या कविता आत्मा के गुणों का वर्णन करेगी या अनगढ ऐन्द्रिक संवेदनों का? प्लेटो ने कविता को चूँकि प्रथम गुण से सहमत न मानकर उसे अपने आदर्श राज्य से निकाल दिया। पन्तजी भी यही करना चाहते हैं और सो भी सन्तुलन व समन्वय

[1] The old quarrel between philosophy and poetry —Plato

के नाम पर और मजा यह है कि भाव चुपचाप अपने अश्लील रूप में अज्ञात रूप से ही उनकी दार्शनिक सृष्टि में घुस आता है।

प्लेटो की दृष्टि में कविता विचार (Idea) या वस्तु के सत्य का वर्णन नही करती, वस्तु की अनुकृति करती है और वस्तु छाया मात्र है तो कविता छाया की छाया हुई अतः कविता "थर्डरेट" वस्तु है।[२] प्लेटो यह नही समझ सका कि सत्य की पहचान के लिए बुद्धि के अतिरिक्त कोई और भी साधन हो सकता है।

Lucretius ने भी कहा था कि कला का कार्य शिक्षा देना ही है। प्लोरिनस ने कला व सौन्दर्य का सम्बन्ध भाव (passion) से जोड़ा और यह भी कहा कि आत्मा की उन्नति में भी यह साधक होते हैं परन्तु उसके लिए वस्तु में सौन्दर्य नही होता, आत्मा में सौन्दर्य होता है जो सारे सौन्दर्य का स्रोत है। अत यहाँ भी समस्या नही सुलझती क्योंकि इनसे वस्तु के सामान्य स्वीकृत सौन्दर्य की समस्या हल नही होती। अरस्तू भी प्लेटो का साथ नही छोड़ना चाहता अतः कला को अनुकृति, पुनरुपस्थिति (representation) या सैद्धातिक तथ्य (theoretic fact) माना जाय तो इतिहास व दर्शन से काव्य को कैसे अलग करेंगे। पाठक देखें कि जो समस्या अरविन्द ने उत्पन्न करदी है वह कितनी प्राचीन है? दर्शन व काव्य के लक्ष्य एक हों, यह एक बात है परन्तु उनकी पद्धति भी एक हो, यह दूसरी बात है। कला का अपना क्षेत्र है, भावना व कल्पना का क्षेत्र, परन्तु पन्त व अरविन्द उसकी पद्धति पर ही आघात करते हैं।

अरस्तू उपर्युक्त प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नही दे सका उसने कहा कि कला रद्दी (absurd) व असम्भव वस्तु का वर्णन करती है अतः वह बुद्धि-सङ्गत (rational) नही हो सकती, केवल अनुकृति ही हो सकती है। इस प्रकार शिष्य गुरू से आगे बढकर भी फिर गुरू की गलती को दुहराने लगा।

१७ वी व १८ वी शताब्दी में पुनः इसी प्रश्न को उठाया गया। १७ वी शताब्दी में बेकन ने ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से, इतिहास का स्मृति से तथा कविता का कल्पना से दिखाया।

[२] Art, then, is but a shadow of a shadow, a thing of third-rate degree. —Aesthetics, page 354

१८ वीं शताब्दी के एक इटालियन लेखक Giambattista vico ने प्लेटो के ठीक विरुद्ध मत का प्रवर्तन किया। उसका मत यह है कि कविता दर्शन की ही तरह सत्य को जानने का साधन है। कविता प्रज्ञा के समक्ष आती है परन्तु भाव के पश्चात्। प्लेटो ने इसे केवल भाव मानकर स्वीकार नहीं किया था। वीसो ने लिखा है कि मनुष्य निरीक्षण के पूर्व ही भावना के पाश मे रहता है, तत्पश्चात् आत्मा के पूरे आवेग के साथ वस्तु को देखता है और अन्त में शुद्ध प्रज्ञा के पास आ जाता है, भावना पीछे छूट जाती है। वीसो महाशय इस सिद्धान्त की स्थापना में साफ कह गए कि कविता व दर्शन परस्पर विपरीत हैं। ज्ञान के अभाव में ही कविता का युग रहता है। होमर व वर्जिल अज्ञान के युग में उत्पन्न हुए थे। अज्ञान भी ज्ञान के विकास का पूर्व रूप है। इसी प्रकार कला सत्य को जानने का प्रथम रूप है। अब आप ही सोचे कि दार्शनिकों के हाथों में पड़ कर काव्य की कैसी दुर्दशा होती रही, परन्तु इससे एक लाभ यह हुआ कि कला व दर्शन के सङ्घर्ष में अनेक भ्रम धीरे-धीरे दूर होते गये। स्वयं वीसो ने कहा कि दर्शन व काव्य की पद्धति भिन्न है। कला विशेष पर बल देती है और दर्शन सामान्य पर। यदि दार्शनिक को कला मे दर्शन उतारना है तो कल्पना का पथ अपनाना होगा। इससे दर्शन व काव्य की पद्धति तो अलग-अलग मान ली गई परन्तु 'कल्पना' शब्द का यहाँ व्यापक अर्थों मे प्रयोग हुआ है क्योंकि कल्पना व अनुभूति का द्वन्द्व यहाँ भी अस्पष्ट है। वीसो ने कहा था कि कविता विकसित बुद्धिवाद के युग में उतनी महान कभी नहीं हो सकती जितनी अज्ञान के युग में। परन्तु इतिहास इसका विरोधी है जबकि शैले, गेटे, प्रसाद व रवीन्द्र जैसे कवि वीसो के बाद उत्पन्न हुए, अत. वीसो के सिद्धान्त में त्रुटि है। बॉमगार्टन ने इसीलिए कविता की परिभाषा की कि कविता पूर्ण संवेदना-पूर्ण अभिव्यक्ति का नाम है। यह परिभाषा डगलस ऐन्सिली (Douglas Ainslei) के अनुसार आज तक की परिभाषाओं में सर्वश्रेष्ठ है। स्पष्ट है कि इस परिभाषा में अनुभूति प्रधान है और कल्पना उसकी सहकारिणी। परन्तु तात्त्विक विवेचन अब भी स्पष्ट न हो सका। दार्शनिकों को तो जवाब मिल गया परन्तु हमें तो कल्पना व भावना की मात्रा व स्वरूप निश्चित करना है क्योंकि कल्पना की उड़ान व संवेदनशीलता दो प्रकार की कविताओं

का जन्म देती है पन्तजी की नूतन कविताओं को जन्म देती है और पन्तजी की नूतन कविता में संवेदनशीलता का पक्ष कमजोर है—बहुत कमजोर। कांट जिस प्रकार एक आवेग रहित रहस्यवाद में विश्वास करता था उसी प्रकार पन्तजी भी आवेग रहित काव्य में विश्वास करते हैं, और यहां कविता के स्वरूप पर प्रहार होता है।

हीगेल ने समन्वय का सिद्धान्त खोज निकाला। दर्शन व बुद्धि से तथा ऐन्द्रिकता (Senses) तथा भाव से समन्वय पर उसने जोर दिया। शिलर ने कला के सोपान व उसकी सीमा पर बड़े वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किए। कला ऊर्ध्व-चेतना के स्तर की वस्तु नहीं वह चेतना की सामान्यमात्र भूमि मन व प्राण के सोपानों पर ही रहती है और फिर भी मनुष्य को पवित्र करती है, ऐन्द्रिकता से ऊपर उठाती है परन्तु अतीन्द्रिय जगत से उसका साक्षात सम्बन्ध नहीं है। शिलर भाव व विचार के मध्य एक प्रकार की क्रीडा शक्ति को बीच की कड़ी मानता है। कला में बुद्धि, प्रकृति, वस्तु व रूप मिलकर एक हो जाते हैं। जब हम तटस्थ होकर विश्व की वस्तुओं को सौन्दर्यात्मक दृष्टि से देखते हैं तो हम कलापूर्ण पद्धति से देखते हैं परन्तु जब हम वस्तु का ज्ञान कर रहे होते हैं तो कला क्षेत्र से अलग होकर जानकारी के क्षेत्र में चले जाते हैं। कला की सहायता से आप तटस्थ होकर वस्तु को देखते व उसकी छिपी हुई छवियों को अङ्कित करते हैं अत आप सामान्य ऐन्द्रिकता से ऊपर उठ जाते हैं। शेर की दहाड़ का सामना करना या रति क्रीडा में आसक्त होने की स्थिति मे जो ऐन्द्रिक अनुभव होते हैं उन्हीं को कला मे कलाकार तटस्थ होकर उतार देता है तथा ऐन्द्रिकता से ऊपर उठ जाते हैं। कला के इन क्षणों मे आप भावना व चिन्तन के आनन्द का योग कर सकते हैं। इस स्थिति में भावना, कल्पना, वस्तु, रूप, बुद्धि सब मिल कर 'कला' को जन्म देते है। इस सामञ्जस्य मे जरा भी गड़बड़ी हुई, तो कला विकलांग हो जाती है।

यद्यपि शिलर ने सामञ्जस्य पर जोर दिया था परन्तु रोमानी कवि कल्पना की सीमा को दूर तक खींच ले गए क्योंकि कल्पना उनके लिए एक अलौकिक शक्ति थी। रोमानी कला का शास्त्र शीलिङ्ग, हीगेल व सोलगर पर ही आधारित था।

इन विचारकों ने जो दृष्टि दी वही अरविन्द की भी प्रेरक

वनी परन्तु दूसरी पद्धति पर। शीलिङ्ग के अनुसार वस्तु में सत्य का आभास रहता है। जब कलाकार शाश्वत "आइडिया" को किसी वस्तु में देखता है तो वह उस वस्तु को स्वतन्त्र क्षेत्र में ले जाता है, एक शाश्वत 'आइडिया' में वदल देता है। कविता व दर्शन आदर्श की अभिव्यक्ति है, यथार्थ जगत इसमें लुप्त हो जाता है।

सच्ची कला में मात्र अनुकृति नहीं होती परन्तु अनन्त जीवन की अभिव्यक्ति होती है (अब आप अरविन्द के निकट आ लगे हैं)। इसमें अतीन्द्रिय स्वयं प्रकाश्य-ज्ञान मूर्त होता है। वह समय आएगा जब दर्शन कविता के पास आजाएगा जो इसका मूल था और तब एक नूतन दर्शन पर एक नई पौराणिकता का जन्म होगा। दर्शन यथार्थ वस्तुओं का चित्रण नही करती, वस्तु के "आइडिया" को चित्रित करती है यही कला भी करती है। शाश्वत "आइडिया" ही कविता में मूर्त होता है वस्तुएँ तो इस 'आइडिया' की ही प्रतिलिपियाँ हैं। अत' कला दर्शन के निकट है और दर्शन 'आइडिया' के निकट है, अतः कला सत्य के ही साथ है।

तब प्रश्न होगा कि कला व दर्शन मे क्या अन्तर है? केवल अपनी विशेपता के कारण (by specialization)। अन्यथा सत्य, शिव व सुन्दर तीनों यहाँ मिलते हैं। असीम के ससीम में मूर्त होने के कारण ही सौन्दर्य दृष्टि गोचर होता है और ये तीनों ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं या स्वयं ब्रह्म हैं। शीलिंग ने कल्पना व फैंसी को अलग वताया और "फैंसी" को ही स्वयं प्रकाश्य ज्ञान का ही एक रूप माना और इस को ही कला का आधार माना।

इस प्रकार सौन्दर्य तो 'आइडिया' मे वता दिया गया और 'फैंसी' को अंतर्चेतना के साथ मिलाया गया और यथार्थ जगत का निपेध होगया। कला का काम असीम को ससीम मे उतारना रह गया। अरविन्द ने यथार्थ जगत को मान कर भी कला का सम्बन्ध असीम से जोड़ दिया और फैंसी का नाम न लेकर कल्पना फैंसी आदि सवको एक ही चेतना के रूप मान कर अंतर्चेतना या स्वयं प्रकाश्य ज्ञान को ही कला का आधार माना। अतीन्द्रिय जगत सौन्दर्य का क्षेत्र होगया और भाव को सहायक रूप में स्वीकार किया परन्तु प्रयोग वहुत कम किया अत' भावना का दम निकल गया।

कला, धर्म, दर्शन सब एक, सत्य शिव-सौन्दर्य एक होकर आकाश पाताल मिल गए।

हीगेल व शिलिंग व सोलगर तीनों रहस्यवादी सौन्दर्य शास्त्री थे, अरविन्द भी इन्हीं जैसे हैं। शिलिंग ने प्लेटो के सर्ववाद को कला में भरा। हीगेल ने 'मूर्तता' (concrete) का सिद्धान्त निकाला जो उपयोगी साबित हुआ। परन्तु आदर्शवादी कुछ तो इस तरह दिखावा ही अत इन्होंने इस "मूर्त" को कला द्वारा मूर्त' वस्तु का निम्नतम रूप, धर्म का दूसरा तथा दर्शन को उच्चतम रूप दिया। हीगेल के लिए भी सत्य व सौन्दर्य "आइडिया" में एकत्र है। सौन्दर्य की परिभाषा हुई कि विचार की संवेदन शील प्रतीति ही कला है। "असीम" व "अन्तर्चेतना" अरविन्द के सौन्दर्य शास्त्र के भी दो मुख्य आधार हैं जिनका परिणाम आप पन्तजी के नूतन काव्य में देख रहे हैं।

हीगेल मानता है कि कला के द्वारा सत्य का कुछ अंग व्यक्त हो सकता है, धर्म के द्वारा उससे अधिक और दर्शन के द्वारा पूर्ण रूप से सत्य की अभिव्यक्ति हो सकती है। अरविन्द इसे इस रूप से मानते हैं कि जहाँ इन्द्रियों के आनन्द का वर्णन हो, समझ लेना होगा कि चेतना के निम्नतम रूप का वर्णन यहाँ हो रहा है अत पन्तजी जैसे अच्छे कवि का काम यह है कि वह चेतना के इस पतन को रोके और कला के द्वारा शाश्वत सत्यों का वर्णन करे, भविष्य में ऐसा ही होगा। हीगेल तो स्पष्ट कला का शत्रु था। कला के मर जाने पर दर्शन उसकी जीवनी लिखेगा यह उसके वचन थे। परन्तु अरविन्द कला का जो रूप आगामी युग में बताते हैं उसमें निरपेक्ष कल्पना का ही रूप अधिक होने से उनके यहाँ भी कला महत्वहीन हो जायगी। कम से कम वह चिंतन-शीलता की अधिकता से अपनी प्राणवता व संवेदनशीलता अवश्य खो बैठेगी जैसा कि पन्तजी के साथ हुआ है। भावना व बुद्धि का स्तर खो देने से तथा अनिश्चित स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान के प्रकाश से अन्ध-नयन होकर योगियों व अन्ध-विश्वासियों को केवल रहस्यवाद के गह्वर ही शरण दे सकते हैं। स्वप्न, अंतश्चेतना, श्रद्धा व अंध विश्वास, इन चारों का सदा संयोग रहा है।

दार्शनिकों के द्वारा कला व कविता की क्या दशा हुई यह आपने देखा अब साहित्यिकों को देखें। इंग्लैंड में सर्व प्रथम सिडनी ने १६ वी

शताब्दी में 'कविता के लिए क्षमा-याचना' में बताया कि कविता दर्शन व इतिहास दोनों का कार्य एक साथ करती है। दर्शन विचार से और इतिहासकार उदाहरण से काम करता है परन्तु कविता में दोनों रहते हैं। रोमन जनता में कवि को vates कहा जाता था जिसका अर्थ था द्रष्टा (fore-seer) उसे पैगम्बर तक कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि कवि भी दार्शनिक की तरह सम्मान का पात्र है।

बेकन-सिडनी, एडीसन आदि ने कविता का क्षेत्र बीसो व बूमगार्टन की तरह स्वतंत्र घोषित तो किया परन्तु आदर्शवादी होने के कारण उसे दर्शन के मेल में ही रखा। यही सम्भव भी था। एडीसन ने बताया कि कविता कुत्सित नही हो सकती क्योंकि उसकी अपील इन्द्रियों के प्रति नही होती, कल्पना के प्रति होती है। प्रकृत वस्तु का कवित्वमय वर्णन हमारे संवेदनों को जगा देता है। विषाद पूर्ण घटनाएँ व कटु अनुभवों का कवितामय रूप आनन्ददायक हो जाता है क्योंकि उनकी अपील इंद्रियों को नही, कल्पना को होती है। आप देखें कि एडीसन का मस्तिष्क यहाँ दर्शन के झगड़े से अलग होकर मानव मन की परीक्षा कर रहा है और तभी कला की व्याख्या भी वैज्ञानिक हो रही है। 'कल्पना के आनन्द'[१] नामक लेख में एडीसन ने स्पष्टतः कल्पना व भाव के अन्तर की ओर संकेत किया। एडीसन ने यह भी बताया कि यथार्थ को देखते समय जो आनन्द होता है वह प्रथम आनन्द है परन्तु कविता करते समय यह स्मृति में सुरक्षित होकर तथा नए नए रूपों से मुक्त होकर जब व्यक्त होता है तब 'द्वितीय आनन्द' प्राप्त होता है जो मानसिक होता है—अतः यही कला का आनन्द है।

कला का यही क्षेत्र है, इसके आगे कुछ नही। हमारे यहाँ भी 'काव्यानन्द' की स्थिति ब्रह्मानन्द से भिन्न बताई गई है यद्यपि दोनों मनुष्य को ऊपर उठाते हैं परन्तु अरविन्द दोनों मे अन्तर नही रखना चाहते। सर्वत्र अन्तर्चेतना का मापदण्ड लागू करने के प्रयत्न का ही यह परिणाम है। एडीसन ने कला का मर्म पकड़ लिया था उसके विवेचन से स्पष्ट है कि कला का मार्ग मध्यम मार्ग है, जीवन का चित्रण, वासनाओं का उन्नयन, भावनाओं की व्यञ्जना यही कला

[१] Essay on the pleasures of imagination.

है कि उसमे एक तो सिद्धान्तों व चेतना के स्तरों की घोषणाएँ हैं फिर जहाँ चित्रण है वहाँ अधिकतर भाव का स्पर्श बहुत कम मात्रा में है, अतः नूतन काव्य पन्तजी की प्रतिभा के ह्रास का सूचक है। पल्लव कालीन चित्रणों मे भाव का स्पर्श नूतन काव्य से अधिक मिलता है।

कालरिज के इसी सत्य को हैजलिट ने भी नहीं छोड़ा। उसने भी कविता को कल्पना व भावना की भाषा कहा है (poetry is the language of imagination and passion तथा poetry is the high wrought enthusiasm of fancy and feeling) आई० ए० रिचर्डस ने भी कविता में भावना को सबसे अधिक प्रमुखता दी। प० रामचन्द्र शुक्ल इसीलिए उससे प्रभावित थे और यह बात भारतीय काव्य-शास्त्र के भी अनुकूल पडती है। भारतीय विद्वानों की दृष्टि कल्पना व भावना के सम्बन्ध मे निर्भ्रान्त थी। काव्य का प्राण भाव है, कल्पना उसकी सहायक है। कल्पनात्मक या दार्शनिक काव्य जितनी अधिक मात्रा में भाव से सयुक्त रहता है या कालरिज के शब्दों में भाव के द्वारा जब कल्पना व विचार जागृत हों तब उतनी ही अधिक मात्रा मे कविता मर्म-स्पर्शिनी होगी। काव्य का क्षेत्र कल्पना व भावना का जगत है। अंतश्चेतना व फैसी अपने संतुलित रूपों में कल्पना के ही रूप हैं और इसलिए नवीन नवीन विचारों व रूपों के जगाने में सहायक मात्र हैं। उनके सूत्र को ऐन्द्रजालिक की तरह आकाश में फेंक कर उस पर दौड़ लगाने को भविष्य की कविता का लक्षण नही माना जा सकता क्योंकि भविष्य सम्बन्धी धारणाओं के पीछे भी इसी कल्पना का दुरारूढ़ रूप विद्यमान है, आप इसे चाहे जो नाम दे ले। अतश्चेतना व फैंसी का आधार भी हमारे गत-अनुभव रहते हैं। यह बात मनोविज्ञान भी बताता है अन्यथा स्वय-प्रकाश्य-ज्ञान से कुछ भी पता लगाया जा सकता था। अत पन्त व अरविन्द की धारणाओं से-कविता के वास्तविक स्वरूप का कुछ भी नही बनता बिगड़ता। अरविन्द इस दिशा में अतिवाद की ओर चले गए हैं। साम्प्रदायिकता का परिणाम सदा ही यही हुआ है।

पूर्वी व पाश्चात्य सभी देशों में काव्य शास्त्र के विचारकों ने काव्य को जीवन के क्रियात्मक रूप से अलग रखकर विचार किया है। काव्य का जन्म सामूहिक क्रियाओं के समय सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति के रूप में हुआ। उसमें कल्पना का जो प्रयोग होता था

वह जीवन की छिपी हुई इच्छाओं की ही अभिव्यक्ति थी जिनका उद्देश्य जीवन को अधिक पूर्ण व सुन्दर बनाना था। किन्तु यह सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति, समाज के शोषक व शोषित वर्गों में बँट जाने के कारण दो रूपों में विभक्त हो गयी। तब उच्च वर्गों की कविता तथा उत्पादक वर्ग की कविता में अन्तर पड़ गया। उत्पादक वर्ग की कविता में जो आज भी लोक-साहित्य में सुरक्षित है, क्रियात्मक जीवन की उपेक्षा नहीं हुई इसका सम्बन्ध जीवन से बराबर बना रहा। उसका प्रेरणा-स्रोत भी जीवन ही रहा परन्तु उच्चवर्ग की कविता में क्रिया व विचार समानान्तर रेखाओं में दौड़ने लगे। अत. जमीन आस्मान के कुलावे मिलाए जाने लगे, सिद्धान्तों व दिवास्वप्नों, कोरी कल्पनाओ, शाब्दिक चमत्कारों व वक्रोक्तियों का बाजार गरम हो उठा। पूँजीवादी युग के पूर्व तक उसमें सामान्य भावनाओं का स्पर्श किसी प्रकार बना भी रहा परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्तिवादिता बढ़ने लगी, प्रत्येक कवि अपनी निजी कल्पनाओं व निजी शैलियों का आविष्कार करने लगा। कविता तन्मय होने, सब कुछ भूल जाने, क्रिया करते समय मन को उसमें रमाने, क्रिया के समय मन को नाना सुखद चिन्तनाओं में रमाकर फिर दूने वेग से क्रिया में लग जाने की प्रवृत्ति कम हो जाने, संगीत व लय में तल्लीन होने का अभाव हो जाने से काव्य का केवल पठन होने लगा और वह भी प्राय मौन पठन। इन प्रवृत्तियों के उदय होने से कविता अपने स्वाभाविक स्वरूप को छोड़ बैठी और उसमें सिद्धांतों व दुरारूढ़ कल्पनाओं की भरमार हो गई। फलत इस प्रकार की कविता की व्याख्या के लिए नए नए सिद्धांतों का आविष्कार हुआ किन्तु आलोचकों ने कविता के प्रेरणा स्रोत व उसके प्रारम्भ को, उसके विकास को सामाजिक क्रियाओं से अलग करके देखा अत कोई अन्तर्चेतना पर ही जोर देता है, कोई कल्पना को कविता का सर्वस्व समझता है तो कोई वाग्वैदग्ध्य ही को। अतः कविता का मूल स्रोत कहाँ है, उसकी आत्मा क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें लोक साहित्य का अध्ययन करना चाहिए।

प्राचीन युगों में जब समाज का विषम वर्गों में विभाजन नहीं हुआ था, कविता का संगीत से नित्य सम्बन्ध था। तब तक सितार, वीणा (Instrumental music) आदि का आविष्कार नहीं हुआ

क्षोभ उत्पन्न हुआ था, जो जो कल्पनाएँ उठी थीं, वे व्यक्त होने लगती हैं, वैसा क्षोभ अन्य लोगों के जागृत मन में भी अवश्य उठता है परन्तु वे उन्हे व्यक्त नहीं कर पाते। इसीलिए कवि को 'द्रष्टा' कहा गया है। वह देख लेता है कि सचाई क्या है, क्या अप्रिय व प्रिय है, क्या हित कर है क्या अहितकर है, क्या देखने योग्य है क्या भुला देने योग्य, किसके प्रति श्रद्धा प्रकट करनी चाहिए किसके प्रति घोर घृणा। इस प्रकार कवि ही मानों कोटि कोटि व्यक्तियों के हृदय की बात अपने मुख से कहता है और इसीलिए उसका इतना आदर होता है परन्तु जो कवि इस 'द्रष्टा' का अर्थ कुछ और लेते हैं, उनसे और कविता से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। कविता को ऐसे लोग केवल अपने सिद्धान्तों का साधन मानते हैं।

अनुभूति व तन्मयता की स्वप्निल अवस्था को जङ्गली लोग भी ईश्वरीय दशा मानते हैं और दार्शनिक भी, यह अजब संयोग है। जिसकी व्याख्या हम न कर सकें, उसके लिए "ईश्वर" ही अशरण-शरण है, अत' ईश्वरवाद व्याख्या न करने की असमर्थता में स्वत' स्वीकृत होजाता है और मजा यह है कि यदि इन ईश्वरवादियों से कहो कि भले ही हम आज किसी वस्तु की व्याख्या न कर सकें, हमें प्रयत्न करना चाहिए, इस ईश्वरवाद का आश्रय लेने से ज्ञान का विकास समाप्त हो जायगा, हम प्राचीन दार्शनिकों की कल्पनाओं को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि अनुभव व प्रयोग उसके विरुद्ध हैं, तो ये ईश्वरवादी रूठ जाते हैं।[१]

---

[१] In one of plato's dialogues a Homeric ministrel describes the effect of this recitals on himself and his audiance —

"When I am narrating something pitiful, my eyes fill with tears, when something terrible, my hair stands on end and my heart throbs And whenever I glance down from the platform at the audience, I see them weeping, with a wild look in their eyes, lost in rapture at the words they hear . when such poets are questioned about the

उच्छृङ्खल कल्पना,[१] भावना रहित रहस्यवाद, गूढता, सैद्धान्तिकता के आधिक्य से पन्तजी की नूतन कला के सम्बन्ध में अब आप स्वयं ऊँची राय नही बना सकते। सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नही, प्रभाववादी दृष्टि से भी नूतन काव्य कला हमें द्रवित नहीं करती। वह व्यर्थ ही गहराइयों में हमें पटकने का प्रयत्न करती है या उपदेश देती है। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि कवि जगत की भावनाओं में हिस्सा न बँटा कर जगत के सिर पर खड़े होकर उपदेश देने लगता है। रहस्यवादियों की यह पद्धति नही थी, यह पद्धति दार्शनिकों की है और इसका परिणाम कभी अच्छा नही होता। काडवेल ने कहा था कि कविता मनुष्य की क्रमशः अंकुरित होने वाली आत्म-चेतना है, जो वैयक्तिक रूप मे नही बल्कि सारे विश्व के सामान्य भाव के अन्य-जनों द्वारा भोग मे एक साथी के रूप में रहती है। पन्तजी इसी सामान्य भाव-भूमि से दूर रहने का प्रयत्न करते है। चेतना के मनमाने स्तरों की आरामकुर्सी पर बैठकर देखने से उन्हे मनुष्य के सामान्य सुख दु खों की भावनाओं में आध्यात्मिक पतन दिखाई पड़ता है बिना इन भावनाओं को कला का रूप दिए मानवीय-भावना-जगत की उन्नति नहीं हो सकती, चाहे ऊपर से अन्तश्चेतना के हजारों बिजलीघरों का निर्माण कर लिया जाय। भावना-जगत की समृद्धि वैयक्तिकतावादी (चाहे वह समन्वय की घोषणा करता भी रहे) कलाकार नही कर सकता। निराली मानसिक स्थितियों के विचित्र वर्णनों को महान् काव्य की उपाधि कभी नही मिल सकती।

समग्र दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो गया कि स्वर्ण-किरण, उत्तरा आदि में कल्पना का अतिरेक, सिद्धांतवादिता, दार्शनिक गूढ़ता तथा प्रवचन-प्रियता आदि के कारण नूतन काव्य कला पन्तजी की कला के ह्रास को प्रकट करती है परन्तु असामान्य स्तरों

---

nature of their art, they all give the same answer. They all claim to be inspired in the literal sense of the word filled with the breath of God.

[१] हमारे यहाँ कल्पना को "अपूर्व वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा" कहा गया है (अभिनवगुप्त) प० राज ने शब्द व अर्थ की उपस्थिति कल्पना के द्वारा ही बतलाई है।

हैं यह आप अच्छी तरह जानते हैं। वस्तुत पन्तजी नहीं जनता के सच्चे शत्रु वे लोग ही हैं जो नाना रूप बदल-बदल कर महीतल पर "कौलमार्ग" का प्रचार करते है। प्रयोगवाद के पीछे तान्त्रिकों की तरह नारकीय भूख छिपी हुई है, पन्तजी उसके विरोधी हैं। पन्तजी नूतन-कला में वाह्य भडकीले प्रयोगों के द्वारा कविता को कुत्सित नहीं बनाते। वह अब भी बिखरे काव्य-वैभव, कल्पना के सम्मोहन, स्पष्ट अभिधा-प्रधान अभिव्यक्ति से पाठक में हिन्दी-कविता के प्रति निराशा उत्पन्न नहीं करते। अभिधा-प्रधान कविता के विकास के लिए उन्होंने एक बार फिर पथ प्रदर्शन किया है।

'अतिमा'

'उत्तरा' तक के स्वर्ण-काव्य का मूल्याकन कर लेने के पश्चात् अब पन्त जी की नवीनतम कृति 'अतिमा' पर विचार करना उपयुक्त होगा। 'अतिमा' को मैंने जानबूझ कर 'उत्तरा', स्वर्ण-किरण व स्वर्ण-धूलि के साथ इसलिए नही लिया क्योंकि इस सग्रह मे कुछ कविताएँ स्वर्ण-काव्य में नहीं रखी जा सकती—वे सर्वथा स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। उदाहरण के लिए—'आः धरती कितना देती है' मनसिज, सोनजुही आदि रचनाएँ। इसके अतिरिक्त कवि मन पर काव्य-दुरुहता व कल्पना की क्लिष्टता के सम्बन्ध मे हुई आलोचनाओं का भी प्रभाव पड़ा है अत "स्वर्ण-काव्य" सम्बन्धी रचनाओं मे भी कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। प्रथम रचनाओं का विभाजन देखिए —

(१) चिन्तन-प्रधान रचनाएँ :—
अ—निजी दृष्टिकोण की उपयोगिता—नव अरुणोदय गीतों का दर्पण, आत्म-बोध,
ब—सैद्धांतिक—शांति, क्रांति,
स—उपदेश प्रधान—आत्म-दया,

(२) अ—मानसिक स्थितियों का वर्णन :—नव जागरण, जिज्ञासा, बाहर-भीतर, ऊषाएँ, प्राणों की द्वाभा, अंतर्मानस, प्राणों की सरसी, दिव्य करुणा, ध्यान-भूमि
ब—प्रतीकात्मक—कौए, बतखें, मेंढक, प्रकाश, पंतिगे, छिपकलियाँ, कैंचुल, स्वर्णमृग, दीपक जलना,

(३) वर्णनात्मक—जन्म-दिवस, अतिमा, जीवन-प्रवाह, युग-मन के प्रति, नेहरू-युग संदेश, लोक-गीत,
(४) प्रार्थना-परक—रश्मि चरण धर आओ, आवाहन, स्वप्नों के पथ से आओ, प्रार्थना, अभिवादन,
(५) स्वतन्त्र—मनसिज, आ.धरती कितना देती है, सोनजुही,
(६) प्रकृति वर्णन—चन्द्र के प्रति, गिरि-प्रान्तर, पतझर, स्फटिक वन, कूर्माचल के प्रति।

उक्त विभाजन को देख कर आप कह सकते हैं कि जव स्वतन्त्र रचनाएँ वहुत कम हैं तव पिछले स्वर्ण-काव्य से इस संग्रह को अलग रख कर क्यों देखा गया ? मेरा निवेदन यह है कि एक तो 'उत्तरा' का "सोपान-परिचयवाद" यहाँ वहुत कम मिलता है, दूसरे इस संग्रह में वेलाग कहने की प्रवृत्ति वढ़ी है। तीसरे वर्णनात्मकता की ओर कवि इस संग्रह में अत्यधिक अग्रसर हुआ है, चौथे कथाओं की पृष्ठभूमि पर मानसिक स्थितियों व सिद्धान्तों को व्यक्त करने की ओर कवि अधिक वढ़ा है, जिसमें वर्णनों का सौन्दर्य है। फिर लेखक ने भाषा को अधिक सचिक्कण वनाने का प्रयत्न किया है। यहाँ प्रौढ़ता के साथ साथ चिकनी पदावली का भी प्रयोग हुआ है अत चित्रणों की दृष्टि से 'अतिमा' स्वर्ण-किरण के अधिक निकट है, 'उत्तरा' के नही अर्थात् कवि ने स्वर्ण-काव्य की सामान्य प्रवृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए भी अपने को वदलने का प्रयत्न किया है और इसका कारण यह है कि 'अतिमा' के युग में कवि ने कई काव्य-रूपक भी लिखे हैं जिन्हें हम आगे देखेंगे, इनमें वर्णनात्मकता का प्रयोग अधिक है। अत' वह वर्णनात्मकता 'अतिमा' में भी आगई है और यह अच्छा ही हुआ है। 'उत्तरा' में जिस प्रकार कवि की कई रचनाएँ पहेलियाँ वन गई हैं, उस प्रकार 'अतिमा' की नहीं वनती। मुझे आशा है कि पन्तजी की नई कृतियों में 'अतिमा' से भी अधिक सहजता व प्रत्यक्षता के दर्शन होंगे और "आः धरती कितना देती है" जैसी रचनाओं की और भी अधिक वृद्धि होगी और उससे लाभ यह होगा कि सिद्धों व साधकों को जहाँ 'ध्यान-भूमि' (अतिमा) की ओर जाने की प्रेरणा मिलेगी, वहाँ सामान्य मानव-हृदय को भी पन्तजी की ममता का वरदान मिलेगा, "आ' धरती कितना देती है" जैसी रचनाएँ "धुआँधारवादी तथाकथित प्रगतिवादियों" में

से कितने लिख सकते हैं? उसके लिए आंतरिकता की आवश्यकता भी है।

चिंतन-प्रधान कविताएँ:—'अतिमा' में कवि सैद्धांतिक कम, वर्णनात्मक अधिक है, क्योंकि कवि पिछली कृतियों में बार बार अपने दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट कर चुका है। अब उसे अपने प्रतिपक्षियों से दो-दो बातें कर लेने का अवसर मिल गया है—

तुम कहते उत्तर बेला यह
मैं संध्या का दीप जलाऊँ?
तुम कहते, दिन ढलने को अब
मैं प्राणों का अर्ध्य चढ़ाऊँ?
मेरा पंथ नही, मैं कातर
ज्योति क्षितिज निज खोजूँ बाहर
रहा देखता भीतर, अब क्या,
तथ्यों का कटु तम लिपटाऊँ
कभी न निज हित सोचा क्षण भर!
मैं प्रभात का रहा दूत नित
नव विकास पथ में मुड़ मैं अब
क्यों न भोर बन मिट मुस्काऊँ

इस प्रकार कवि अपनी अंतर्मुखी प्रवृत्ति के प्रति आग्रह व्यक्त करता है:—

प्रतिपक्षी कहेगा कि यह तो ठीक है कि आपने अपना सुख-दुःख नही जाना। परन्तु बहुत से, आप जैसे वैयक्तिनावादी अपने खतरनाक सिद्धांतों के लिए मर मिटते हैं परन्तु आपके त्याग की प्रशंसा करते हुए भी आपके सिद्धान्तों का विरोध होने पर आप क्यों क्रोधित होते हैं, आप सापेक्ष दृष्टि से क्यों नहीं सोचते? तथ्यों को तम समझ कर 'प्रभात का दूत' बनना आसान है परन्तु अन्धकार को दूर करने के लिए दीपक, बाती सँजोना कठिन है, तुलसी ने इसीलिए कहा था—

वाक्य-ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई
निसि गृह मध्य दीपिकी बातन, तम निवृत्त नहिं होई

परन्तु पन्तजी आत्म-असंतोष को जनता का असंतोष—युग का असंतोष बताकर "निपुण-वाक्य ज्ञान" को ही साधना समझ लेते हैं। पन्तजी को महादेवी की "कह दे माँ मैं क्या देखूँ" कविता का

पाठ करना चाहिए, स्पष्ट हो जायगा कि उन्हें क्या करना चाहिए।

काव्य-उपयोगिता की घोषणा

यदि मरणोन्मुख वर्तमान से ऊब गया हो कटु मन
उठते हों न निराश लौहपग
रुद्ध श्वास हो जीवन
रिक्त बालुका; यंत्र, खिसक हो-
चुके सुनहले सब क्षण
तर्कों वादों में बन्दी हो
सिसक रहा उर स्पन्दन!
तो मेरे गीतों में देखो नव भविष्य की झाँकी।
निःस्वर शिखरों पर उड़ता, गाता सोने का पाँखी॥

पाठक देखें कि पन्तजी जाने अनजाने क्या उपदेश दे रहे हैं। भविष्य की झाँकियाँ प्रस्तुत करना उतना बुरा नहीं जितना वर्तमान के प्रति नफरत फैलाना। वर्तमान मरणोन्मुख है, क्यों? पन्तजी उस मूल कारण का नाश न कर वर्तमान से जनता को भगा ले जाने पर तुल गए हैं। आदर्शों के सीखचों में बन्द हो जाने से यही होता है, तर्क मत करो, उससे चिढ़ो, तड़पते जीवन को ठोकर दो और साधकों की सेना मे शामिल हो जाओ, पन्तजी की इस विचार धारा को तभी हमने "दारुण" कहा है। यदि आपके गीतों की यही उपयोगिता है कि वह तथ्यों से भगा दे तो हम कहेंगे कि कवि हमें पलायनवादी बनाता है। सिसकता हुआ जीवन जब राह नही खोज पाता तो कोरे आश्वासन कितना दाह उत्पन्न करते हैं इसे पन्तजी तो नहीं, भुक्त भोगी ही समझ सकता है।

सैद्धांतिक रचनाओं में कुछ कविताओं के पिछले अंशों को ले सकते हैं, कुछ स्वतन्त्र रचनाओं को भी यथा 'जन्म-दिवस' वर्णनात्मक कविता है परन्तु अन्त में कवि सिद्धान्तों को भरने लगता है। 'कूर्मांचल के प्रति' में भी यही प्रवृत्ति है[1]। स्वतन्त्र रचनाओं में 'शांति क्रान्ति' जैसी रचनाएँ हैं। इनमें भी वस्तु स्थिति का चित्रण साथ-साथ चलता है, अतः सिद्धांत वादिता उतनी नही अखरती—

[1] जिस प्रकार "नौका-विहार" में पीछे से सिद्धान्त भरे गए हैं उसी प्रकार इन रचनाओं में किया गया है।

स्वयं, युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब
निश्चेतन, उपचेतन, अतश्चेतन के जग
परिवर्तित हो रहे, नए मूल्यों में विकसित
आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
आत्मा के गोपन तम अन्तर में प्रवेश कर
मानव मन, हो अधिक पूर्ण, खुल रहा बहिर्मुख

मैं ऐसी रचनाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह चुका हूँ अतः पिष्ट-पेषण व्यर्थ है।

मानसिक स्थितियों का वर्णन

'अतिमा' में गुह्यतम चेतना-स्तरों का परिचय देने की जगह भिन्न-भिन्न स्तरों पर कवि जो अनुभव करता है उसको अधिक व्यक्त किया गया है—

यह प्राणों की चञ्चल सरसी
रवि शशि तारात्रों से गुंजित
स्वर्गङ्गा सी स्वप्न प्रज्वलित
वहती भीतर ही भीतर निज
स्वर्णिम पावक के निर्झर सी

यह 'प्राणों के स्तर' की दशा है, इसमें लहरों के नव लोक हैं, बुल्लों के लय-कल्प हैं, भू-स्वर्ग यही मचल रहे हैं। इसी को तैर कर पार करना है।

ध्यान भूमि में साधनात्मक स्थिति में उडते हुए मन के अनुभवों का वर्णन किया गया है परन्तु इन्हें मूर्त करने में कवि ने चित्रण-कला को अपनाया है, यद्यपि अप्रस्तुत-विधान पिष्ट-पेष्टित ही हैं। इस प्रकार की रचनाओं में यदि यह चित्रण न मिलता तो योग व कविता में कुछ भी अंतर न रहता—

आ यह ऊपर छाया स्वर्णिम ज्वाला का घन
दीप्र प्रेरणा! तड़ितों में लिपटा अति चेतन

ऊर्ध्व-प्रसारों में कवि अपने मन को अधिक देर तक ठहराने की जगह फिर धरती की ओर लौट आता है, इतनी ही गनीमत है अन्यथा यह काव्य पूर्ण साधना-परक हो जाता।

उत्तरा में अंतश्चेतना को क्रम-क्रम से उतरते हुए देखकर कवि

उसके चित्रण का प्रयत्न करता था, यहाँ कवि आंतरिक-प्रकाश के मानवीकरण का प्रयत्न कम करता है, उस प्रकाश से उत्पन्न अनुभवों का वर्णन अधिक करता है। चेतना के स्फुरण का वर्णन यहाँ अधिक है, अवतरण व स्फुरण में अंतर यह है कि भौतिक अनुभवों के कुहासों, व घनच्छायाओं में विद्युत की लौ के समान आध्यात्मिक ज्योति जब कौंध उठती है तो कभी तो वह स्थिर रहकर प्रकाश देती है, कभी शीघ्र ही विलीन हो जाती है, अथवा अविकसित पुष्प जब सहसा खिल उठता है तो आंतरिक जीवन बहिर्विकास में बदल जाता है।

घिरा रुपहला अंधकार !
संध्या के झुटपुट से निःस्वर
मधु स्मृतियों के मुखर चरण धर
जग उठता मानस में सोया
स्वप्नों का संसार।

यहाँ "स्फुरण" की स्थिति स्पष्ट है।

तदाकारिता की स्थिति की ओर 'अतिमा' मे भी संकेत अधिक मिलते हैं परन्तु उस स्थिति का 'तन्मयता' के साथ वर्णन कम मिलता है। पन्तजी न धरती के तम को छोड़ पाते हैं, न ऊपर देर तक उड़ पाते हैं परिणामत उपदेश की ओर लौट पड़ते हैं यह दुविधा की स्थिति नही, एक विचारक की स्थिति है। विचार-मुद्रा में रहकर साधना के पगों को नापा ही जा सकता है, तन्मय नहीं हुआ जा सकता। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण भ्रम का निराकरण कर लेना आवश्यक है। पन्तजी कहते हैं कि हमें आत्यन्तिक-स्थिति में तन्मय नहीं होना चाहिए। इसके दो अर्थ हैं, प्रथम यह कि अध्यात्मवाद को सामाजिक-कार्यों के विरोध मे मत जाने दो। दूसरे अन्तिम सत्ता मे साधकों की तरह निमग्न होकर मत रह जाओ, अन्यथा मध्यकालीन सन्तों की तरह जीवन व जगत का निषेध अवश्य होगा। अब यह देखिए कि काव्य-कला पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है—

आदर्श कविता भाव-विगलित चित्त की अभिव्यक्ति है, विचार-मुद्रा व कल्पना की उड़ान की स्थिति मे भाव विरहित चित्तावस्था जो पन्तजी की स्थिति है, महान काव्य को जन्म नही दे सकती वह या तो पहेली-प्रतीकवाद में परिणत होगा या कोरे सिद्धान्तवाद में या चित्रणात्मक काव्य मे। इसमे तृतीय स्थिति काव्य के लिए आवश्यक

तर्कमयता की रक्षा करना चाहते हैं तो पाठक की बुद्धि भले ही संतुष्ट हो जाय परन्तु हृदय का क्या होगा, वह तो प्यासा का प्यासा ही रहेगा। जिसे प्राप्त करने के लिए उद्दाम वेग नही, जिसकी आहट सुनने के लिए अकुलाहट नहीं, जिसे प्राप्त करने के लिए रोम रोम आतुर नही, वह सत्य चाहे पार्थिव हो या अपार्थिव कविता का विषय बन कर भी कविता का रूप धारण नही कर सकता। कविता की यही सर्वमान्य कसौटी है, पन्तजी इसे जानते हैं परन्तु जो वस्तु उनके पास नही, उसका अभाव तर्क तो नही भर सकता। तर्क से समाधान होता है, परन्तु आनन्द तो भावनाओं में ही है। यह सत्य पुराना होने पर भी नया ही है चाहे वह भविष्य मे न रहे परन्तु इस संक्रान्ति-काल में तो है ही।

प्रतीकात्मक कविताएँ

'कौए, बतखे व मेंढक' मे कवि भावनात्मक जगत से उठ कर अतीन्द्रियता के स्फुरण की ओर ले जाने के लिए 'कौए' से कहता है कि चोंचे मढ़ाने व प्रेमिकाओं के संदेश ले जाने का युग समाप्त होगया अब तो पौ फट गई है और सुनहला युग क्षण उपस्थित हो गया है अतः अब सोचने का कार्य होना चाहिए। इसी प्रकार बतखों को चेतना की झील मे चेतन जल की ओर ले जाना है और मेंढकों को अवचेतन से उठकर अति-चेतन की ओर ले जाने का कार्य करना है। मेढकों की बात तो ठीक है परन्तु कौओं को प्रेमी-कवियों ने भावना की परिधि में समेट लिया था पन्तजी आज काकभुशुण्डि बना देने पर तुल गए हैं और मैं सिद्ध कर चुका हूँ कि कवि का यह क्षेत्र नही है। राम-चरितमानस से काकभुशुण्डि को निकाल देने से हानि न होगी परन्तु यदि भायप-भगति के प्रतिनिधि भरत, लक्ष्मण आदि तथा अनुरागिणी सीता व वात्सल्यमयी कौशल्या के अयोध्या-काण्ड को निकाल दे तो मानस सूख जायगा। और सच्चाई यह है कि तुलसी के काकभुशुण्डि कोरे चिन्तक नहीं हैं। दशरथ के कनक-अजिर में राम के कर-कञ्जों से पूर्पों को खाने वाले वात्सल्य से ओत-प्रोत काक-मुनि हैं। अतः वह हमें प्रभावित करते हैं। सूर ने भी उद्धव का तभी सत्कार कराया था क्योंकि वह भावना के विरोधी थे। अतः कविता द्वारा सोचने का कार्य पन्तजी की काव्य-कला को ह्रासोन्मुख कर देता है, यह स्पष्ट है।

प्रकाश पतिंगे और छिपकलियों मे पतिंगों को भावनावादियों व छिपकलियों को भौतिकवादियों के रूप में प्रस्तुत किया है और भद्दे-से-भद्दे आरोप किए गए हैं। व्यञ्जना की दृष्टि से कविता अच्छी है परन्तु यह अच्छाई कितनी मँहगी है, यह कोई भी जान सकता है। डॉट के स्वर में कवि कहता—

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ वाहरी चमकीले पर
महत् कर्म के लिए चाहिए
महत् प्रेरणा वल भी भीतर

'प्रकाश' आत्मा का प्रतीक है, पतिंगे मन का व छिपकलियाँ देह का। देहवादियों को चाहिए वे आत्मा का आदर करें, यह है कवि का उद्देश्य और इस वहाने सामाजिक चेतना का उपहास करना, यह है महत् उद्देश्य। मनको चाहिए कि वह अतिमन की ओर चले, छिपकलियों को चाहिए वे हिंसा छोड दें, देह के परे की सत्ताओं को स्वीकार करें। वाहरी चमकीले परों से वाहरी उन्नति से आंतरिक उड़ान नही भरी जा सकती, और विना इस उड़ान के लक्ष्य की उच्चता का अभाव होगा और लक्ष्यहीनता में मानवता का नाश हो जायगा। परन्तु ऐसी वाते वहुत कही जा चुकी हैं, अव इनमें क्या नवीनता है। चील की तरह उड़ने का जी चाहे, तो खूव उड़िए और चीखिए परन्तु मार्क्सवाद जिससे आपको इतना भय है वह देहवाद का पर्याय नही है, देहवाद पवित्र भारत भूमि पर उगा हुआ दर्शन था जिसे 'चार्वाक दर्शन' कहते हैं। जिस समन्वय के लिए आप चीख रहे हैं यदि उसके द्वारा मार्क्सवाद के मुख्याधार को अध्यात्म के कुठार से काटना ही प्रकाशवाद है तो हमें जनता को उससे सावधान करना ही पड़ेगा क्योंकि न जाने किन-किन वेषों मे महात्मागण विचरा करते हैं। अपनी वैयक्तिक सनक में उनकी यही समझ में नही आता कि अंततः क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य है ?

'केंचुल' नामक कविता मे कवि ने गत संस्कारों को केंचुल के रूप में प्रस्तुत किया है। मृत सिद्धांतों के केंचुलों में सभी अच्छे वुरे सिद्धांतों का वड़ी सफलता के साथ विद्रूप किया गया है। 'स्वर्ण-मृग' मे भी इसी प्रकार मानव-मन की दुर्वलताओं का चित्रण है।

'उत्तरा' के प्रतीकों में चेतना के स्तरों का क्रम बतलाने का प्रयत्न था यहाँ कवि सांकेतिक पद्धति पर अपनी विचारधारा को बड़ी कुशलता के साथ व्यंजित करता है, इसमें संदेह नही है—दुश्मन की तलवार के अच्छे दाँव की भी प्रशंसा करनी चाहिए।

चित्रण-प्रधान व वर्णनात्मक रचनाएँ

'अतिमा' में वर्णनात्मक कविताएँ अधिक हैं और काफी बड़ी हैं। 'जन्म-दिवस' में कवि ने अपने यौवन-निदाघ बीत जाने पर संस्मरण के रूप में अपने जन्म दिवस का वर्णन किया है। शैली देखिए—

विजन पहाड़ी प्रान्त, हिमालय का था अञ्चल
स्नेह क्रोड़ शैशव का, गिरि परियों का प्रिय स्थल
नव प्रभात बेला थी, नव जीवन अरुणोदय

इस कविता में स्थानीय रङ्ग दिया गया है। लोक-गीतों का मिठास, नौकरों का वार्तालाप, बच्चों की कबड्डी, हिमालय का ज्योतिर्मय रूप, सभी कुछ इस कविता में वर्णित है। ऐसा लगता है कि मानो पन्तजी अपने जन्म की सार्थकता सिर्फ अरविन्दवाद के प्रचार में ही मानते हैं यदि आध्यात्मिकता का आग्रह न होता तो इस कविता मे स्थानीय रंग के साथ, माता के स्नेह, पिता के प्यार, बन्धु-बान्धवों के उल्लास तथा ऐसे ही भावनात्मक स्पर्श भी रहते परन्तु कवि हिमालय पर ही दृष्टि केन्द्रित कर गया और पिरामिड शैली में हिमालय को साधक के रूप मे प्रस्तुत करता रहा। ऐसा लगता है जैसे कविता के अन्त मे विचारों की शिलाएँ बाँध देने से काव्य शिशु हाँफ कर बैठ गया हो। भावना को छोड़कर चित्रणों में वह जाने की प्रवृत्ति पल्लव के उच्छ्वास, पर्वत-प्रदेश आदि मे भी मिलती है, वही प्रवृत्ति यहाँ भी मिलती है।

'मनसिज' कविता 'अनग' की परम्परा मे है, रूप-चित्रण व मानवीकरण पूर्णतया सफल हुआ है। मनसिज के प्रभाव और उसकी आत्मवाद में अंतिम परिणति को भी कुशलता से निभाया गया है। 'गिरि-प्रान्तर' कविता में कई चित्र बड़े कोमल और भव्य हैं—

घन नीहार ढली पीठों पर
साँझों की पग चाप बिछलती

दिन में, धरती की सिलवट सी
मसृण घनों की छाया चलती
भुजगों सी कंधों पर लटकीं
रज की रश्मि रज्जु वल खातीं
मन्त्र मुग्ध पट बीजन झमका
जादू की कन्धरा लुभाती॥

इसी चित्रण-कला के कारण नूतन काव्य की गरिमा अक्षय है। 'पतझर' में पिरामिड शैली पुनः अपनाई गई है।

स्वल्प, अकृत्रिम कला शिल्पता के ध्वनि गूढ़ निदर्शन
रंगों की रुचि के स्तर करते दृष्टि सरणि को विस्मित।
रूप चयन, अवयव संयोजन, शक्ति, व्यञ्जना, इंगित
सूक्ष्म मितव्ययिता करते अद्भुत प्रभाव संवर्धन।

यह है पिरामिड-शैली। 'पतझर' वेचारे का पता नही, शब्द व्यय वहुत, अर्थ सौष्ठव कुछ नही। मैं इसे विविधता नही मानता। सामान्य स्तर पर ही रहकर नूतनता उत्पन्न करना विविधता की वृद्धि करता है। केवल तरह तरह की शब्दावली जोड़कर "हरिऔधी प्रयत्न" करना अब आज की स्थिति में व्यर्थ है। भाषा नही, विवरण देने में भी हरिऔध का सफल अनुकरण किया गया है और कविता के अन्त में मानसिक स्फीति चरम सीमा पर पहुँच जाती है जहाँ कवि पतझर को सम्बोधित कर कहता है—

'हे अपरूप, दिगम्बर, दारुण सुन्दर, चिरतांडवरत' आप इस पंक्ति को राशन कार्ड से लेकर सॉंड़ व संन्यासी तक किसी के लिए भी लगा सकते हैं। शब्द-शक्ति का यह दुरुपयोग है। हमारे यहाँ इसे कभी महत्व नही मिला।

"वेणु कुंज व ऊषाएँ" में चित्रण न होकर इधर उधर की बातों से पाठकों को उलझाए रखने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

'सदेश' में कवि ने विषण्ण मानसिक स्थिति में अद्भुत प्रेरणा प्राप्त करने की कहानी कही है। 'किरण' को देखकर वस कवि पुनः अरविन्दवाद के गीत गाने लगता है यद्यपि बीच बीच में चित्रणकला कमाल दिखाती चलती है देखिए: —

खिडकी की चौखट को कुछ लम्बी तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े सी

पिघली चाँदी के थक्के सी छलकी चौड़ी।
जाजिम पर थी बन गई तलैया मोती की
जिसमें स्वप्नों की ज्वालाएँ लहराती थीं।
दूधिया भावना में उफान उठ आया हो।

इन्ही चित्रों ने 'अतिमा' को 'उत्तरा' से उत्कृष्ट बना दिया है। इसीलिए मैंने इसे अलग छोड दिया था। 'अतिमा' को देखकर पुनः आशा बँधती है कि कवि भटक जाने पर भी शाम को घर पर अवश्य आ जायगा—वह अध्यात्मवादी रहे, सदा रहा ही है, परन्तु गाली-गलौज कम हो जाय, आक्षेपों व व्यंग्यों से कवि-मन में जो खीझ व तिलमिलाहट उत्पन्न हो गई है वह काव्य-रूपकों में व्यक्त न होकर सहजमन की सहज स्फुरणा व्यक्त होने लगे तथा भाषा व शैली में गद्यमयता कम हो जाय, सिद्धान्तवादिता के स्थान पर संवेदना का पक्ष प्रवल हो जाय तथा चित्रण-कला स्वतन्त्र होकर चली चले तो पाठक सन्तोष कर लेगा। सुरुचि व संवेदना का परिष्कार कवि करता चले, चाहे वह हमें उपदेश न भी दे तो भी हमारा काम चल जायगा क्योंकि उपदेश देने वाले और बहुत से लोग हैं। निश्चित रूप से 'अतिमा' में कवि अपनी प्रकृत-भूमि की ओर अग्रसर हुआ है।

'कूर्माचल के प्रति' में कवि ने स्वर्णकिरण के पश्चात् पुन हिमालय का विस्तृत वर्णन किया है। 'जन्मभूमि' के हिमालय व 'कूर्माचल' के हिमाचल को मिला दें तो एक अच्छी भव्य रूप-राशि हमे मिल सकती है। शोभा का गायक कवि यदि शोभा का चित्रण ही करता चले, यदि वह हिमालय से लेकर खेत खलिहान तक विस्तृत असीम सौन्दर्य का अङ्कन करता चले, उद्गारों का चित्रण न भी करे तो भी बड़ा उपकार हो परन्तु भटका हुआ कवि रह-रह कर भूल जाता है, भटक जो गया है। जो यह कहते हैं कि मार्क्सवादी प्रभाव के युग मे कवि भटका था, वह गलत कहते हैं। मैं जब भटकने शब्द का यहाँ प्रयोग करता हूँ तो मुख्यत काव्य-पद्धति को ध्यान में रखकर। क्योंकि कवि सदा आदर्शवादी रहा है, और भविष्य में भी रहे, यदि वह चाहे, परन्तु काव्य की भूमि को न छोड़े, यह मेरी इच्छा है। क्योंकि अनेक उदार अध्यात्मवादियों में गहरी संवेदना, जनता के प्रति प्रेम तथा विश्व-कल्याण की सच्ची भावना है। हम वर्ग के खूँटे से बाँधकर कला-कृतियों का अध्ययन करना पाप समझते हैं और अब यह बात साफ

हो चुकी है। कलाकार मे स्वाभाविक 'सदिच्छा' अवश्य होती है यदि वह कलाकार है। उसके अन्तर्विरोधों को हम स्पष्ट करें यह एक बात है और उसकी सहज हार्दिकता से इन्कार करें यह सर्वथा दूसरी बात है। पन्तजी की कविता में शान्ति का जो स्वर है वह सामान्य जीवन मे नही, राजनीति के क्षेत्र मे भी कितना सहायक है यह हम कह चुके हैं। क्योंकि कवि मानवतावादी है वह विश्व का विनाश नही देख सकता। मृत्युवाद का गायक 'नीरज' भी 'एटम बम' शीर्षक कविता में जनता के दुश्मनों के विरुद्ध भीषण उद्घोष करता है परन्तु पन्तजी की ही तरह साथ ही साथ वह अपने खोल में बन्द होकर भी गाता है। यही तो आज की व्यवस्था का अन्तर्विरोध है जो एक साथ पन्त व नीरज जैसे कवियों में सशय, पीड़ा, निराशा, अध्यात्म, आत्म-हनन आदि प्रवृत्तियों में दिखाई पड़ता है।

'कूर्मांचल के प्रति' कविता में सहज भावुकता देखिए—

बालप्रवासी शिशु घर लौटा, वह भी क्या अभ्यागत ?
स्नेह उच्छ्वसित, हेमज पुलकित अञ्चल का शरणागत
तेरी नैसर्गिक सुषमा में जननि, सदा से लालित
क्या न खगों ने मृदु कलरव भर प्रथम लोरियाँ गाईं
पखों से बरसाकर सतरँग, किरणों की परछाईं ?
स्मरण नही क्या तुमको ?

काव्य की यही स्वाभाविक पद्धति है। इस कविता में मेषों के शिशुओं के समान बादल, गरजती हुई गुहाएँ, भरी दुपहरी में ऊँघते पथिक सा ग्रीष्म, मोती के रङ्ग के धूम-पटल, मरकत मणि की हरियाली में फेनों के हीरे, स्वर्ग की हँसी के समान गिरता हुआ हिम, स्फटिक शान्ति में रङ्गों के बादशाहों से लोमश हिम खग, आप यदि सभी को एक साथ देखना चाहें—ग्रीष्म, पावस व शरद में कूर्मांचल की बदलती हुई छवियों को यही बैठ कर देखना चाहे तो कूर्मांचल को पढ़िए। कवि का प्रकृति-प्रेम जैसे चरमसीमा पर पहुँचता दिखाई पड़ता है। 'पल्लव' की उद्दीपन की शैली का प्रयोग यहाँ नहीं हुआ। यहाँ तो कवि ने हिमानी को ध्यानावस्थित योगी के रूप में देखा है परन्तु इससे उसके सौन्दर्य वर्णन पर कोई प्रभाव नही पड़ता। राष्ट्रीय गरिमा व सांस्कृतिक भव्यता को देखना हो तो कूर्मांचल में देखिए—

त्रयम्बक के अट्टहास के समान बिखरे हिमाचल की भव्यता तो कालिदास को भी मोहित कर चुकी थी, तभी तो कवि कहता है—

कौन तुम्हारी शोभा शब्दों में कर सकता चित्रित
तुम निसर्ग सम्राट, रूप गरिमा प्रतिपल परिवर्तित

कूर्माचल में पहाड़ी जीवन का भी चित्रण है, प्रकृति व मानव के सम्पर्क से ही प्रकृति के प्रति इतनी ममता मनुष्य के हृदय मे घर कर गई है—

सुघर कृषक बधुएँ नित खेतों में सोना उपजाती
कण्ठ मिला जन के सँग कृषि के गीत हुड़ुक पर गाती
त्यौहारों मे नाच-गान रङ्गों के रच बहु उत्सव।

हिमालय में भीषणता, विराटता, पावनता, शुभ्रता, सुरङ्गता, उच्चता व भव्यता आदि जितने गुण सौन्दर्य के हो सकते हैं, सभी विद्यमान हैं। कवि ने पूरी तटस्थता से हिमालय को देखा है—

उग्र कराल शिलाएँ भरती मन में विस्मय विभ्रम।
घोर अँधेरी गहरी दरियों में बसता आदिम तम॥
निविड़ गहन में सहसा जगमग जल उठते पट बीजन।
हिंस्र व्याघ्र के विस्फारित हरिताभ भयावह लोचन॥
सँकरी घाटी में सर्पों से स्रोत सरकते सरमर।
झीने कंपित नील कुहासों से परिवृत हो सत्वर॥
बृहत् गरुत् सा धँसता नभ में पंख मार गिरि प्रांतर।
भ्रू विलास करती चपलाएँ, मन्दहास कर प्रतिक्षण॥

यहाँ सौन्दर्य की पकड़ देखिए, चित्र को भव्य बनाने व चित्र-चयन की शक्ति देखिए। चित्रों के वैविध्य व सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का अन्दाजा लगाइए। देखिए और मुक्त होकर प्रशंसा कीजिए। यह ठीक है कि अन्त में कवि अपने प्रिय 'अरविन्दवाद' पर आ जाता है-परन्तु इससे उपर्युक्त सौन्दर्य पर कोई कुप्रभाव नही पड़ता। अङ्कन अलग है और उपदेश अलग।

काव्य-रूपक

'अतिमा' पन्तजी का नवीनतम संग्रह है। 'खादी के फूल' में पन्तजी ने गांधीजी पर एक लम्बी कविता लिखी है और 'मधु ज्वाल' में खैयाम की रुबाइयों का भावानुवाद किया है। गाँधी पर कविता का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है और अनुवाद का विषय हमारे विषय से बाहर है अत: हम काव्य-रूपकों का विवेचन कर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

काव्य-रूपक एक नवीन विधा है। रेडियो से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दी में काव्य रूपक बहुत नही लिखे गए और जो लिखे गए हैं वे अभी विकास चाहते हैं। अलबत्ता काव्य-नाटक हमारे यहाँ लिखे जाते रहे हैं परन्तु उसका शिल्प काव्य रूपकों से किंचित भिन्न होता है। अंगरेजी मे टी० एस० इलियट, क्रिस्टोफर फ्राइ, ईशरवुड तथा लुई मैकनीस आदि ने अनेक काव्य नाटक लिखे हैं।

परन्तु प्रश्न यह है कि गद्य नाटक और पद्य-नाटक में क्या अतर है ? पद्य नाटक में कवित्व पूर्ण वातावरण रहता है, शेष सब वही तत्त्व रहते हैं। उदाहरण के लिए कथा व कथोपकथन, दोनों का विधान दोनों प्रकार के नाटकों के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार गल्प या गीति में कोई न कोई विचार (idea) या भाव मुख्य रहता है और उसी की ओर गल्प व गीति वेग से भागती है, उसी प्रकार काव्य-रूपक भी किसी न किसी विचार या भाव के लिए ही लिखे जाते हैं परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लेखक मे कथोपकथन तथा वातावरण उत्पन्न करने की शक्ति वाञ्छनीय है। शिथिल, बोझिल, दुरूह कथोपकथन काव्य रूपकों मे सफल नहीं हो सकते क्योंकि श्रोता अपने धैर्य की परीक्षा मे प्रायः असफल हो जाते है अत' विस्तृत दुरूह कथोपकथन हानिकर हैं। साथ ही कथोपकथनों मे आरोह, अवरोह तथा वाग्विदग्धता की अधिक आवश्यता है। सैद्धांतिकता या उपदेश काव्य-रूपकों को बोझिल बना देते हैं। इसी प्रकार कथन की

कुशलता के बिना विवरणात्मक कथोपकथन नीरस हो जाते हैं। हाँ रस-संचार के लिए भावुक स्थलों में वाग्वैदग्ध्य को बचाया जा सकता है परन्तु वहाँ घटनाओं के घात प्रतिघात या मानसिक दशाओं के आरोह व अवरोह के समय मानवीय हृदय को तरंगित करने के लिए आवेगमय कथोपकथन श्रेष्ठ प्रमाणित होते हैं।

इसी प्रकार काव्य-रूपकों में वातावरण का सृजन होना चाहिए। जिस मानसिक स्थिति का वर्णन हो रहा हो उसके अनुकूल ध्वनियों का प्रयोग करके, वैसा ही वातावरण उत्पन्न करने के लिए वैसी ही शैली व भाषा की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए उद्वेग के चित्रण के लिए उद्वेगमय शब्दावली की आवश्यकता है, जिससे घबराहट व अज्ञात आशंका व्यक्त होती हो। आशा व उल्लास के चित्रण में शांत, निर्मल व कोमल शब्दावली का प्रयोग आवश्यक है। मतलब यह है कि जिस घटना या मानसिक स्थिति का वर्णन हो रहा हो, श्रोताओं की मानसिक स्थिति यदि तदनुकूल नहीं बदलती चलती तो काव्य-रूपक असफल अभिनय की तरह उपहासास्पद हो जाते हैं।

गद्य-नाटक को पद्य नाटक से अलग करने के लिए पद्य-नाटक को छन्दोबद्ध भाषा में लिखा जाता है। काव्यमय वातावरण गद्य-नाटक में भी हो सकता है यथा पन्तजी के "ज्योत्सना" नामक नाटक में है परन्तु वह गद्य में है, केवल बीच-बीच में कविता का प्रयोग कर दिया गया है। अतः पद्य नाटक या काव्य-रूपक का नाम ही अन्य विधाओं से उसका विभेदक लक्षण है। अबरकाम्बी ने रूपकों में काव्य के स्वरूप के विषय में लिखते हुए गद्य नाटक व पद्य नाटक का भेदक लक्षण काव्य रूपक की काव्यमयता को ही माना है,[१] परन्तु काव्यमय नाटक जिसमें काव्यमय चरित्र भी हों, काव्यमय शैली हो, गद्य में भी लिखा जा सकता है (यथा 'ज्योत्सना'), तब 'काव्यमयता'

---

[१] The kind of play I mean is one which you feel that characters themselves are poetry, and were poetry before they began to speak poetry, it would be a wrench for them not so to utter themselves. (The Function of poetry in the Drama) देखिए सृष्टि की साँझ तथा अन्य काव्य नाटक—सिद्धनाथ कुमार।

को गद्य-नाटक व पद्य का भेदक लक्षण नहीं माना जा सकता, परन्तु अवर-काम्बी के मस्तिष्क में काव्य-रूपक का लक्षण करते समय "ज्योत्सना" जैसा नाटक नहीं था अपितु सामान्य नाटक थे जिनमें सर्वत्र काव्यमयता नही होती। नाटक यथार्थ जीवन की प्रतिकृति है, नाटक की विशेषता ही यह है कि जैसा जीवन में दिखाई पड़ता है वैसा ही मंच पर दिखाई पड़े। यह गुण काव्य-रूपक में रहने पर भी पात्रों व संवादों की काव्य-मयता निश्चित रूप से काव्य-रूपक को सामान्य गद्य-नाटकों से अलग कर देता है।

काव्य-रूपक व गद्य नाटक का अन्तर समझ लेने के पश्चात् यह देखना चाहिए कि क्या नाटक के मुख्य आकर्षण संघर्ष की काव्य रूपक के लिए भी कुछ आवश्यकता है। उत्तर होगा, काव्य रूपक के लिए भी संघर्ष की आवश्यकता है चाहे वह आंतरिक संघर्ष हो या बाह्य सघर्ष क्योंकि पाठक या दर्शक के सम्मुख कोई न कोई समस्या अवश्य रहनी चाहिए। भावुकता व आवेग परिस्थितियों की टकराहट से उत्पन्न क्षोभ का नाम है अतः आंतरिक आन्दोलनों का चित्रण किसी न किसी समस्या के आधार पर ही होना चाहिए अन्यथा काव्य रूपक नीरस हो जायगा। अवर-काम्बी काव्य रूपकों के लिए बाह्य संघर्ष को आवश्यक नही मानता परन्तु यह गलत है। काव्य रूपकों में दोनों प्रकार का संघर्ष दिखाया जा सकता है। वस्तुतः सच्ची नाट्य-कला के लिए लेखक को आंतरिक व बाह्य संघर्ष को विरोधी नही मानना चाहिए। कोरा आन्तरिक सघर्ष हवाई सघर्ष है, अपने प्रेत से लड़ना है, उसमें जीवनहीन सिद्धांतों की उपल-वर्षा होती है। इसी प्रकार कोरी बाह्य घटनाएँ चित्रित होकर यदि मानवीय हृदयों में उथल-पुथल नही मचा देती और यदि लेखक परिस्थिति व हृदय के द्वन्द्व को नही दिखाता तो काव्य-रूपक क्या कोई भी कला सफल नही हो सकती। हमारे यहाँ "प्रबोध चद्रोदय" आदि सैद्धांतिक काव्य रूपक लिखे गए हैं जो मार्मिक नही बन सके क्योंकि उनमें परिस्थिति-जन्य अंतर्द्वन्द्व नही है। अत: परिस्थितियों से पलायन काव्य रूपकों में भी सम्भव नहीं है।

काव्य रूपक की क्या उपयोगिता है, यह भी एक विचारणीय विषय है। श्री सिद्धनाथ कुमार का तर्क यह है कि कविता के इस ह्रास युग में काव्य रूपकों की आवश्यकता निश्चित है। परन्तु कविता का

चार हो रहा है इसका अर्थ काव्य का ह्रास नहीं है सिर्फ कथा साहित्य ने उसका प्रभाव कुछ समय के लिए कम कर दिया है, इस युग में भी अच्छे-अच्छे काव्य लिखे जा रहे हैं और उपन्यासों के साथ साथ पाठक अब भी कविता को गुनगुनाते हैं चाहे कविता की पुस्तक को खरीद कर भले ही न पढ़ते हों, कवि सम्मेलनों व मुशायरों में कवि व श्रोताओं की स्पर्धा व माँग बराबर बढ़ती जा रही है। कविता कुछ हतप्रभ अवश्य होगई है, अतः काव्य को अपना रूप बदलना पड़ेगा, उसे जनता के और अधिक निकट लाना पड़ेगा। काव्य के सम्बन्ध में पुरानी "रईसी-रुचि" नही चल सकती। कवि इस दिशा मे जागरूक हो रहे हैं और वह दिन दूर नही है कि जब कविता का गौरव फिर वही होगा, आज भी कवि का सम्मान उपन्यासकार से कम नहीं है। प्रसाद व पन्त के उदाहरण सम्मुख हैं।

अत. कविता के ह्रास-युग की बात कह कर हम काव्य-रूपकों की उपयोगिता प्रमाणित नही कर सकते। वस्तुतः रेडियो के कारण कविता के इस स्वरूप विशेष के प्रयोग की आवश्यकता उत्पन्न होगई है। काव्य की अनेक विधाओं मे इस विधा के लिए अवसर मिल रहा है अतः काव्य-रूपक आवश्यक हैं, उनमें काव्य व नाटक दोनों का आनन्द श्रोता को मिल जाता है।

पन्तजी के काव्य रूपकों पर यहाँ मै शिल्प की दृष्टि से बहुत ही संक्षेप मे विचार करूँगा क्योंकि इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य अरविन्द दर्शन के प्रभाव का अनुसंधान तथा कवि की काव्य कला का विवेचन है।

पन्तजी के काव्य रूपकों की प्रथम विशेषता है, आंतरिक संघर्षों को काव्यमय रूप देना। वस्तुतः कवि का अपना अंतर्द्वन्द्व ही इन काव्य रूपकों में व्यक्त हुआ है। कवि अपने मन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं को प्रस्तुत करने के लिए कथाएँ गढ़ता है, परन्तु कथा-वस्तु शिथिल व वाह्य संघर्ष से रहित है। सैद्धांतिक संघर्ष व सैद्धांतिक समाधान प्रस्तुत करना इन काव्य रूपकों (रजत शिखर, शिल्पी में संग्रहीत) की विशेषता है।

कथावस्तु की दुर्बलता को वातावरण के सृजन तथा काव्यमय कथोपकथनों के द्वारा दूर किया गया है परन्तु सुसम्बद्ध कथा-विधान तथा वास्तविक संघर्ष का अभाव होने से ये दोनों तत्त्व अधिक सफल

नहीं हो सके। जहाँ तक वातावरण के सृजन का प्रश्न है वहाँ तक ये काव्य रूपक आदर्श हैं। इनमें कल्पना का भव्यतम रूप मिलता है। विशेष रूप से अपने प्रिय कल्पना के स्वर्ग का व आगामी युग का चित्रण मोहक है। सम्मोहन पन्तजी की कला की मुख्य विशेषता है। पाठक को ऐसे दृश्यों में निमग्न कर देने की शक्ति यहाँ पूर्ण रूप से मिलती है। कल्पना के द्वारा लाए गए चित्रों के विरोध में वर्तमान काल का यथार्थ चित्रण भी कवि ने विस्तार से यत्र तत्र किया है। इनमें भी वातावरण को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने की शक्ति मिलती है परन्तु चूँकि वर्तमान का चित्रण सिद्धान्त विशेष की सिद्धि के लिए किया गया है अत: उसमें वास्तविकता पूर्ण रूप से नहीं अवतरित हो सकी। इस प्रकार के चित्रणों में लेखक अपने विरोध को पूरी कटुता के साथ व्यक्त करता है अत: वे आकर्षक हो गए हैं।

कथोपकथनों की दृष्टि से जहाँ तक शुद्ध काव्य का सम्बन्ध है, इन काव्य रूपकों के कथोपकथन बिखरे हुए काव्य सौन्दर्य को ही प्रस्तुत-करते हैं क्योंकि कवि का ध्यान यहाँ सिद्धान्त के प्रचार और विरोधी मत का खंडन करना है। यदि काव्य-रूपक की दृष्टि से सवादों पर विचार करे तो इन काव्य रूपकों के कथोपकथन संस्कृत की तत्सम शैली के कारण सफल नही हो सके। काव्य रूपकों मे प्रचलित भाषा का प्रयोग अनिवार्य है। शुद्ध पाठ्य काव्य रूपकों की दृष्टि से विचार करने पर भी पन्तजी के संवाद उबाने वाले होते हैं क्योंकि उनमे न तो भावुकता ही है न नाटकीयता। सैद्धांतिक विवेचन का आधिक्य है। हाँ दृश्य उपस्थित करते समय उनके संवाद आकर्षक बन जाते हैं।

अब हम कुछ काव्य रूपको का विश्लेषण कर उपर्युक्त विवेचन की सार्थकता प्रमाणित करते हैं—

'शिल्पी' नामक काव्य-रूपकों के सग्रह मे शिल्पी, ध्वंस शेष व अप्सरा ये तीन काव्य-रूपक है। 'शिल्पी' में शिल्पी एक मूर्ति बनाता है। कला के लिए आस्था आवश्यक है। आस्थाहीन शिल्पी घोर परिश्रम करने पर भी मूर्ति-निर्माण मे सफल नही होता, तब उसके हृदय मे ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न होती है और सहसा ही मूर्ति सजीव हो उठती है—

ईश्वर ! अब जाकर पाषाण सजीव हुआ कुछ"
युग-विप्लव की पृष्ठभूमि साकार होगई॥

ईश्वर के प्रति आस्था क्यों उत्पन्न हुई ? क्योंकि भौतिकवाद के इस युग में उपेक्षित चेतना पुन. जागृत हो रही है। इसी चेतनावाद से जनता का उद्धार होना निश्चित है। कला में सजीवता इसी अन्तर्चेतना से आएगी। सरकारी आदेशों पर रचित कला निष्प्राण हो जायगी।

शिल्पी आस्थाशील मन से गांधी, पटेल, गौरीशङ्कर, राधाकृष्ण आदि की मूर्तियाँ बनाता है। इन मूर्तियों के चित्रों के वर्णन काव्य के सौन्दर्य से ओत-प्रोत हैं। एक सेठजी कुछ खरीदते भी हैं।

द्वितीय अङ्क में कला-सम्बन्धी विवाद प्रस्तुत किया जाता है जो सैद्धान्तिक है। जिसमें भौतिकवादी युग में कला का पतन हुआ है, उसकी उन्नति तभी होगी जब अध्यात्मवाद का कला से स्पर्श होगा, यह बताया गया है। भू-जीवन की निर्मम वास्तविकता मनुज आत्मा के वैभव को कभी भी बाँध नही सकती। अगले दृश्य मे मार्क्सवादी जन नेताओं व श्रमिकों का दल शिल्पी की चित्रशाला में आजाता है और कलाकार की भर्त्सना होती है कि वह पलायनवादी है, स्वप्नों का चित्रण करना है, यथार्थ जगत का चित्रण नहीं करता—

आज यहाँ स्वप्नों के सुन्दर नीड में छिपे
मौन महत् निर्माण कर रहे जनगण के हित!
मध्य वर्ग की या अतृप्त वासना ! पूर्ति के
अर्धनग्न, कुत्सित, शृङ्गारिक चित्र गढ़ रहे!

किन्तु शिल्पी कहता है कि उसकी कला शुद्ध जनवादी है। अन्त में मार्क्सवादी जन नेता आश्वस्त हो जाते हैं और अरविन्दवादी कला को 'जन मन का दर्पण' मान लिया जाता है और आगामी युग का अवतरण घोषित कर काव्य-रूपक समाप्त हो जाता है।

मैंने कहा था कि कवि सिद्धान्त व समस्या को लेकर नाटक लिख रहा है अत इनमे सङ्घर्ष का दार्शनिक रूप ही मिलता है। कला के प्रति मार्क्सवादियों के सङ्कीर्णतावाद की निन्दा होनी चाहिए परन्तु किसके लिए ? अरविन्दवाद की स्थापना के लिए ? पन्तजी ने मार्क्सवाद को सङ्कीर्णतावाद का पर्याय मान लिया है और यह भूल है। वस्तुत पन्तजी को मार्क्सवादी 'सङ्कीर्ण' आलोचना व कुत्सित समाजशास्त्रियो के आक्षेप सहने पड़े हैं जो बड़े ही निन्दनीय थे।

अतः पन्तजी समन्वय के नाम पर दूसरे सिरे पर जा पहुँचे और चेतनावाद को ही सारी समस्याओं का समाधान सिद्ध करने लग गए। यदि यह कहें कि पन्तजी को जानबूझ कर यथार्थवादी शिविर से निकाला गया तो यह गलत होगा क्योंकि पन्तजी अपने विचार-परिवर्तन के लिए स्वयं ही उत्तरदायी हैं परन्तु इसमे सन्देह नही कि उन्हे कुत्सित समाजशास्त्र का शिकार होना पड़ा और इसीलिए अपने काव्य-रूपकों में उनका आक्रोश 'कुत्सित समाजशास्त्र' पर नही, सीधा मार्क्सवाद पर ही व्यक्त हुआ है। उन्होंने कुत्सित समाजशास्त्रियों की निन्दा के बदले मार्क्सवाद की निन्दा करने का कार्य बड़ी तत्परता से किया है। विशेषकर काव्य-रूपकों में उनका स्वर बहुत उग्र है। इस स्थिति मे हम न तो पन्तजी का समर्थन कर सकते हैं न कुत्सित समाजशास्त्र का। क्योंकि भद्दे आक्षेपों के लिए मार्क्सवाद उत्तरदायी नही था, तथा-कथित उसके व्यापारी उत्तरदायी थे, जो आज रूस में उदारता आ जाने से धीरे-धीरे स्वयं भी अपने को बदल रहे हैं। अवसरवाद कुत्सित समाजशास्त्र की आवश्यक शर्त है और सो भी ऐसा अवसरवाद जिसे जनता नही समझ पाती क्योंकि भूल को स्वीकार कर लेना 'कुत्सित समाजशास्त्र' में कही लिखा ही नही गया और अपने शास्त्र के विरुद्ध वे भला क्यों जाएँगे ?

अतः पन्तजी को कुत्सित समाजशास्त्र का दिवालियापन प्रकट करना चाहिए था न कि मार्क्सवाद को गालियाँ सुनाना। परन्तु चूँकि उनके गुरु अरविन्द ने जड़वाद का पर्याय मान कर मार्क्सवाद की निन्दा करदी थी अत 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' से उत्तेजित होकर पन्तजी ने भी गुरु-परम्परा का अनुगमन किया, अतः उनका मार्क्सवाद विरोधी रूप सर्वाधिक रूप से काव्य-रूपकों में व्यक्त हुआ है। फलत. काव्य रूपकों में कवि का ध्यान अरविन्दवाद की प्रशसा व मार्क्सवाद की निन्दा को ही उद्देश्य मान लेने से न तो काव्य का उच्च रूप मिल पाता है न नाटक का। सैद्धान्तिक ऊहापोह अवश्य मिलता है और इसीलिए ये काव्य-रूपक अधिक सफल नही हो पाए।

शुद्ध काव्य की दृष्टि से शिल्पी में कुछ चित्र बड़े ही मोहक बन पड़े हैं—

प्रस्तर के उर मे युग जीवन का समुद्र ही
हिल्लोलित हो उठा, क्षुब्ध जन आवेशों मे

मेघों मे विद्युत सी, तरुवन मे झंझा सी
अन्धकार को चीर, नई चेतना शिखा ज्यों
दौड़ रही जन मन में, दीपित कर शत आनन !

कृष्ण की मूर्ति का एक वर्णन देखिए—

अहा, इधर शोभित हैं मनमोहन मुरलीधर,
मैं इनको ही खोज रहा था ! कैसी स्वर्गिक
भव्य मूर्ति है ! शिल्पकला भी धन्य हो उठी !
मोर-मुकुट मस्तक पर, श्रवणों में मकराकृत
प्रिय कुण्डल, जो झाँक रहे कुञ्चित अलकों में
सुघर नासिका, अधर मधुर स्मिति रेख-से खिंचे
वृषभ स्कन्ध, पीताम्बर से भूषित नीरद तन
करुणा विस्तृत उर में झूल रही वनमाला
मधु ज्वाला ने रोमाञ्चित गलबाही दी हो !

बहिरंतर की जटिल समस्याओं के ऊहापोह में उपर्युक्त चित्रों का सौंदर्य ही वस्तुत' इन काव्य-रूपकों को आकर्षक बना देता है। कवि का ध्यान प्रवचन पर यदि कम गया होता, वह यदि केवल सौन्दर्य के शिल्प में ही मग्न रहा होता तो न तो कवि की अस्वस्थ मानसिक स्थिति की व्यंजना ही हो पाती और न कवित्वहीन असम्बद्ध वार्तालाप ही सुनने को मिलते।

पन्तजी के काव्य-रूपकों की एक विशेषता है "स्वप्नों का चित्रण"। कल्पना की भव्यता के लिए ये दृश्य दर्शनीय हैं। 'ध्वंसशेष' काव्य की दृष्टि से अत्यधिक सफल काव्य-रूपक है। धर्म, राजनीति दर्शन, वर्ग सघर्ष के ऊपर आधारित दर्शन आदि का ध्वंसावशेष यहाँ चित्रित है। विज्ञान की चरम उन्नति के युग की विकृतियों को कवि ने सफलता के साथ चित्रित किया है। प्रकृति के ऊपर विजय के मद में मदान्ध मनुष्य के प्रयत्नों से प्रकृति क्रुद्ध है। ध्वंसावशेष यान्त्रिक सभ्यता का अन्त में अरविन्द दर्शन के अनुसार निर्माण के युग मे प्रवेश कराया गया है।

यान्त्रिक युग मे महाविनाश के जो बादल आज उमड़ रहे हैं, उनका बड़ा ही विराट व मार्मिक चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है, कामायनी के "चिन्ता" शीर्षक सर्ग से इस प्रलय वर्णन की तुलना की जा सकती है।

प्रलय वलाहक सा घिर घिर कर विश्व क्षितिज मे
गरज रहा संहार घोर मंथित कर नभ को
महाकाल का वक्ष चीर निज अट्टहास से
शत शत दारुण निर्घोषों से प्रतिध्वनित हो।
महानाश किटकिटा रहा, कटु लौह दन्त निज
विकट धूम, वाष्पों के श्वासोच्छ्वास छोड़कर
रँग रँग के लपटों की जिह्वाएँ लपका कर
हरित, पीत, आरक्त नील ज्वालाओं के घन
घुमड़ रहे विद्युत घोषों के पख मार कर

इसी प्रकार प्रलय का वर्णन चलता है, कवि ने पूरी शक्ति से विनाश के इस चित्र का अंकन किया है। लोमहर्षक विनाश के इस वर्णन को पढ़कर युद्ध-पिशाच केवल हँसकर ही रह जाएँगे किन्तु शान्ति-प्रिय जनता के लिए युद्धो का यह विरोध पन्तजी के महत्व को निश्चित रूप से वढाता हैं । जैसे नेहरू की विश्व शान्ति की नीति वावजूद अतर्विरोधों से ग्रस्त गृह नीति के भी प्रशंसनीय है उसी प्रकार पन्त का यह शांतिवाद अभिनन्दनीय है यद्यपि युद्ध का दायित्व पन्त जो भौतिक वादियों पर ही मानते है, उनके लिए अमेरिका से भी शाति के लिए खतरनाक रूसी लोग हैं।

शत शत तड़ित प्रपातों सा वह टूट व्योम से
रौंद रहा जन भू को, निर्मम लौह पदों से,
विद्युत शूलों से विदीर्ण कर धरा वक्ष को
ध्वस भ्र श कर निखिल सृष्टि को महावेग से
खौल रहा अणु विगलित जड़ द्रव्यों का सागर
सूर्य खण्ड ज्यों टूट धँस गया हो धरती में
गूँज रहा अह ! महामृत्यु सगीत चतुर्दिक,
चकाचौंध मे विखर रहे नक्षत्र पुंज हों।

यह है भौतिकवाद द्वारा प्रलय का आवाहन, जिसे युद्ध के नाम पर किया जा रहा है। और इस प्रलय के बीच मानव के प्रति कवि की सारी करुणा जाग पड़ती है—

कैसे हाय, रहेगा विद्युत ताड़ित भू पर
कोमल मासल, शोभा देही दुर्बल जीवन

जिसके मुख पर खेला करती मुकुलों की स्मिति
चितवन में पलती ओसों की मौन सजलता

दोनों चित्र कितने मार्मिक हैं। नाश के समय उससे बचने के लिए कोमल कामना कितनी दिव्यता से चित्रित हुई हैं। परन्तु पुन: अध्यात्मवाद का आक्रमण होता है और कवि इस सारे प्रलय वर्णन को "भूत प्रलय यह नही, मात्र यह मनः क्रांति है" कहकर रूपक में बदल देता है और परिस्थिति का गांभीर्य नष्ट हो जाता है अतः काव्य रूपकों को प्रतीक में परिवर्तित उसकी वास्तविकता से स्वयं इनकार किया गया है और पाठक उसे आंतरिक हलचलों का कल्पित चित्रण समझ कर छोड़ देता है।

अरविन्द के अनुसार आज के युद्ध और अशांति किसी व्यवस्था विशेष के परिणाम नही बल्कि आज का युग भौतिकवादी है वह मन तक ही रुक जाता है, आत्मा की ओर उन्मुख नही होता और अनात्मवादिता की स्थिति में आसुरी मन: क्रान्ति युद्धों के रूप में फूट पड़ती है। इसी को कहते है इतिहास व समाजशास्त्र को सिर के बल खड़े कर देना। जैसे शीर्पासन करते समय वस्तुएँ उलटी दिखाई पड़ती हैं वैसे ही पन्त व अरविन्द की मुद्रा, शीर्षासनी मुद्रा बन गई है, वे कभी परिस्थिति को ठीक ठीक नही समझ पाते। वे आकाश पर खड़े होकर नही, वहाँ सिर के बल खड़े होकर धरती को देखते हैं अत उन्हें सब कुछ उलटा ही दिखाई पड़ता है। उन्हें लगता है कि युद्ध आत्मवादी युग के आगमन के पूर्व का विनाश है, क्योंकि युद्ध में अपनी अनात्मवादी आसुरी महत्वाकांक्षाओं का विनाश देखकर जनता अरविन्दवाद को अवश्य स्वीकार कर लेगी।

इस प्रकार प्रभाव की सृष्टि और उसका अपने हाथों ही विनाश देखकर पाठक स्तब्ध रह जाता है। वही पुराना प्रवचन—

शोषक शोपित में विभक्त अब युग मानवता
जाति-पाति मे, वर्ग श्रेणि में शतश: खण्डित
धनिकों का, श्रमिकों का, धन-बल का जन-बल का
यह अन्तिम दुर्धर्ष समर है विश्व विनाशक
सामूहिक संहार तिक्त विपफल है जिसका!

पन्तजी को युद्ध का मूल कारण वर्ग-संघर्ष में विश्वास के कारण ही दिखाई पड़ता है। कितना विचित्र है!

और विनाश में भी तो एक सौन्दर्य है, कवि ने पूर्ण अनासक्त भाव से उसे देखा है—

देखो प्रिये, विराट भीष्म सौन्दर्य नाश का,
अद्भुत, श्री शोभा है दारुण महाध्वंस की
महा व्याल सा शत सहस्र फन तान गगन में
महानाश फूत्कार भर रहा वज्र घोष कर!
गरल फेन के उगल लहकते धूमिल बादल
महामृत्यु के कुण्डल मार दिशाओं में वह
झाड़ रहा युग केंचुल भीषण अंधकार की

एक ओर यह कल्पना शक्ति व काव्य प्रतिभा और दूसरी ओर शीर्षासनी मुद्रा में देखी गई वस्तु स्थिति, कितना प्रबल अंतर्विरोध है। काव्य रूपकों में पूरा प्रयत्न करने पर भी कवि न तो अपनी काव्य-प्रतिभा ही छिपा सका है और न वस्तु स्थिति को ठीक ठीक समझ सकने की अयोग्यता को ही। काव्य-प्रतिभा विचार की दरिद्रता के समय भी अपना जादू दिखा जाती है—

फट फट पड़ती ज्वालामुखियाँ विकट घोष कर
द्रवित रक्त मज्जा उड़ेलती धरा उदर से
हृदय क्षोभ ज्यों उगल उबालों में, वमनों मे
थूक रही हों नभ के मुख पर घोर घृणा से
महामृत्यु मुँह फाड़ भयानक नरक गुहा सा
निगल रही भू को, साँसों में खींच मशक सी

इस प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ एक नहीं, अनेक हैं। और कामायनी के 'प्रलय वर्णन' से किसी भी दृष्टि से कम महत्त्व इस 'ध्वंस शेष' काव्य रूपक को नहीं दिया जा सकता। ऐसे वर्णनों में जिस आवेग की आवश्यकता पड़ती है वह भी पूरी मात्रा में यहाँ मिलता है। यदि कहीं इस 'भयानक रस' के साथ-साथ जनता के शोक का भी चित्रण होता तो ये चित्र कामायनी के प्रलय वर्णन से भी श्रेष्ठ हो जाते। परन्तु दृश्योद्घाटन मे पन्तजी जितने कुशल हैं, उतने भावना के अङ्कन में नहीं, यह सभी जानते हैं।

प्रलय के पश्चात् कवि ध्वंसावशेष रूप में इतिहास, साम्यवाद, दर्शन आदि की मूर्तियों को खोजकर उनकी सीमाओं का वर्णन करता है और अन्त में ऊर्ध्व-चेतनावाद के आधार पर समन्वय

जिसके मुख पर खेला करती मुकुलों की स्मिति
चितवन में पलती ओसों की मौन सजलता

दोनों चित्र कितने मार्मिक हैं। नाश के समय उससे बचने के लिए कोमल कामना कितनी दिव्यता से चित्रित हुई हैं। परन्तु पुनः अध्यात्मवाद का आक्रमण होता है और कवि इस सारे प्रलय वर्णन को "भूत प्रलय यह नही, मात्र यह मनः क्रांति है" कहकर रूपक में बदल देता है और परिस्थिति का गांभीर्य नष्ट हो जाता है अतः काव्य रूपकों को प्रतीक में परिवर्तित उसकी वास्तविकता से स्वयं इनकार किया गया है और पाठक उसे आंतरिक हलचलों का कल्पित चित्रण समझ कर छोड़ देता है।

अरविन्द के अनुसार आज के युद्ध और अशांति किसी व्यवस्था विशेष के परिणाम नही बल्कि आज का युग भौतिकवादी है वह मन तक ही रुक जाता है, आत्मा की ओर उन्मुख नही होता और अनात्मवादिता की स्थिति में आसुरी मन' क्रान्ति युद्धों के रूप में फूट पड़ती है। इसी को कहते है इतिहास व समाजशास्त्र को सिर के बल खड़े कर देना। जैसे शीर्षासन करते समय वस्तुएँ उलटी दिखाई पड़ती हैं वैसे ही पन्त व अरविन्द की मुद्रा, शीर्षासनी मुद्रा बन गई है, वे कभी परिस्थिति को ठीक ठीक नही समझ पाते। वे आकाश पर खड़े होकर नही, वहाँ सिर के बल खड़े होकर धरती को देखते हैं अत. उन्हें सब कुछ उलटा ही दिखाई पड़ता है। उन्हें लगता है कि युद्ध आत्मवादी युग के आगमन के पूर्व का विनाश है, क्योंकि युद्ध में अपनी अनात्मवादी आसुरी महत्वाकांक्षाओं का विनाश देखकर जनता अरविन्दवाद को अवश्य स्वीकार कर लेगी।

इस प्रकार प्रभाव की सृष्टि और उसका अपने हाथों ही विनाश देखकर पाठक स्तब्ध रह जाता है। वही पुराना प्रवचन—

शोषक शोषित में विभक्त अब युग मानवता
जाति-पांति मे, वर्ग श्रेणि में शतश. खण्डित
धनिकों का, श्रमिकों का, धन-बल का जन-बल का
यह अन्तिम दुर्धर्ष समर है विश्व विनाशक
सामूहिक संहार तिक्त विषफल है जिसका!

पन्तजी को युद्ध का मूल कारण वर्ग-संघर्ष में विश्वास के कारण ही दिखाई पड़ता है। कितना विचित्र है!

और विनाश में भी तो एक सौन्दर्य है, कवि ने पूर्ण अनासक्त भाव से उसे देखा है—

देखो प्रिये, विराट भीष्म सौन्दर्य नाश का,
अद्भुत, श्री शोभा है दारुण महाध्वंस की
महा व्याल सा शत सहस्र फन तान गगन में
महानाश फूत्कार भर रहा वज्र घोष कर!
गरल फेन के उगल लहकते धूमिल बादल
महामृत्यु के कुण्डल मार दिशाओं में वह
झाड़ रहा युग केंचुल भीषण अंधकार की

एक ओर यह कल्पना शक्ति व काव्य प्रतिभा और दूसरी ओर शीर्षासनी मुद्रा में देखी गई वस्तु स्थिति, कितना प्रबल अंतर्विरोध है। काव्य रूपकों में पूरा प्रयत्न करने पर भी कवि न तो अपनी काव्य-प्रतिभा ही छिपा सका है और न वस्तु स्थिति को ठीक ठीक समझ सकने की अयोग्यता को ही। काव्य-प्रतिभा विचार की दरिद्रता के समय भी अपना जादू दिखा जाती है—

फट फट पड़ती ज्वालामुखियाँ विकट घोष कर
द्रवित रक्त मज्जा उड़ेलती धरा उदर से
हृदय क्षोभ ज्यों उगल उबालों में, वमनों में
थूक रही हों नभ के मुख पर घोर घृणा से
महामृत्यु मुँह फाड़ भयानक नरक गुहासा
निगल रही भू को, साँसों में खींच मशक सी

इस प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ एक नही, अनेक हैं। और कामायनी के 'प्रलय वर्णन' से किसी भी दृष्टि से कम महत्त्व इस 'ध्वंस शेष' काव्य रूपक को नही दिया जा सकता। ऐसे वर्णनों में जिस आवेग की आवश्यकता पड़ती है वह भी पूरी मात्रा में यहाँ मिलता है। यदि कहीं इस 'भयानक रस' के साथ-साथ जनता के शोक का भी चित्रण होता तो ये चित्र कामायनी के प्रलय वर्णन से भी श्रेष्ठ हो जाते। परन्तु दृश्योद्घाटन में पन्तजी जितने कुशल हैं, उतने भावना के अङ्कन में नही, यह सभी जानते हैं।

प्रलय के पश्चात् कवि ध्वंसावशेष रूप में इतिहास, साम्यवाद, दर्शन आदि की मूर्तियों को खोजकर उनकी सीमाओं का वर्णन करता है और अन्त में ऊर्ध्व-चेतनावाद के आधार पर समन्वय

स्थापित कर भविष्य सुख की कल्पना करता है। सच्चे लोक तंत्र की स्थापना होती है और पन्तजी को जो सबसे बड़ा खतरा 'सामूहिकता' से था, वह ऊर्ध्व-चेतनावादी प्रजातंत्र में समाप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तर युग से लेकर पूँजीवादी-मार्क्सवादी युग तक का युग बाह्य या आंतरिक युद्ध में नष्ट हो जायगा और तब सच्चे लोक तंत्र की स्थापना होगी। यह है पन्तजी की अन्तर्दृष्टि जो सर्पिणी के समान स्पर्श-सुखदा व मनोहरा तो है परन्तु जिसका दंशन भयङ्कर है क्योंकि मार्क्सवाद व वर्ग-संघर्ष का विरोध करने से पूँजीवादी साम्राज्यवादी शिविर मजबूत होता जायगा और पन्तजी आनन्द के साथ ऐसे ही स्वप्नों को सत्य समझते हुए आजीवन भ्रम का पोषण ही करते रहेंगे। यों अनासक्त योगी भ्रम में भी सौन्दर्य खोज ही लेते हैं।

'अप्सरा' रूपक में कल्पना का सम्मोहन चित्रित है। मनः-क्षितिज की द्वाभा चेतना में, हृदय सरोवर के तट पर, कलाकार ध्यान मौन बैठा है। सामने भावनाओं की शुभ्र श्रेणियाँ विचारों के रजत कुहासे को चीर कर, निखर रही हैं। आकाश से प्रेरणाओं की लह-रियों द्वारा मन्द-मधुर स्वप्न-वाहक सङ्गीत गुञ्जरित हो रहा है। यह है कवित्वपूर्ण पृष्ठभूमि जिसमें 'कलाकार' (रूपक का पात्र) दन्तकथा के अभिशप्त राजकुमार सा अप्सरा के लोक में भटक गया।

अप्सरा अन्तर्चेतना के प्रकाश व सौन्दर्य की वाहिका है अतः उसका चित्रण सम्मोहक है। इसी अप्सरा के सौन्दर्य में मग्न हो कर ही मध्यवर्ग सृजन कर सकता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है क्योंकि धरती की सौन्दर्य चेतना का वही प्रतिनिधि है। अतः वह ऐसे स्वप्नों का निर्माण करे जो पङ्किल, द्वेष, दम्भ, वर्ग-सङ्घर्ष शापित धरित्री के लिए प्रेरक हों, ये स्वप्न ही अवचेतन के अन्धकार से तप्त मार्क्सवाद को अपनी आसुरी शक्तियों से ऊपर उठा सकते हैं। अधिमन व अतिमन के स्तरों पर नृत्य करती हुई पराशक्ति के दर्शन कर ही कलाकार कृतकृत्य हो सकता है। व्यर्थ ही वर्ग-सङ्घर्ष को तीव्र करने से अमङ्गल की ही वृद्धि होगी। यह है रूपक का सन्देश।

कलाकार का अन्तर्द्वन्द्व व सौन्दर्य चेतना (अप्सरा) का चित्रण इस रूपक में पूर्ण सफल हुआ। यदि कला कला के लिए है तो यह रूपक उसका आदर्श है।

छम छम चल कल पायल,
बजती प्रतिपल।
नित नीरव नभ से रव,
झरता प्रतिपल।
जीवन के आँगन में,
ऊषा की स्मिति निश्छल।
छायातप से कँप कँप,
सन्ध्या में जाती ढल।

यह है 'अप्सरा' का गीत॥तभी मैंने कहा है कि कल्पना का सम्मोहन इन काव्य-रूपकों की मुख्य विशेषता है।

रजत-शिखर

'रजत-शिखर' में ६ काव्य-रूपक संग्रहीत हैं—१—रजत-शिखर, २—फूलों का देश, ३—उत्तर शती, ४—शुभ्रपुरुष, ५—विद्युतवसना, ६—शरद चेतना।

पन्तजी के इन काव्य-रूपकों में प्रतीकात्मकता व सूक्ष्म आन्तरिक अनुभूतियों का वर्णन होने से काव्य में दुरूहता आगई है जो शुद्ध-काव्य की दृष्टि से उतनी नहीं अखरती जितनी काव्य-रूपकों में वह असहनीय हो जाती है।

'रजत-शिखर' में दार्शनिक और साधनात्मक अनुभवों की अधूरी और भ्रान्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या का खण्डन किया गया है अत. इस नाटक में तर्क का सौन्दर्य है। एक मनोवैज्ञानिक जो आध्यात्मिक अनुभवों को अतृप्त लालसाओं की पूर्ति मानता है अन्त में आराधक बन जाता है और अरविन्दवादी युवक (नाटक का पात्र) की विजय होती है। युवक के जीवन में शतशः काम लालसाएँ उदित होती हैं जिनका भव्य वर्णन यहाँ मिलता है। पन्तजी मनोवृत्तियों को चित्र रूप में मूर्त करने में परम प्रवीण हैं।

हास अश्रु की घाटी यह : हँसमुख फूलों की,
पलकों से झरते रहते मोती के आँसू
धरती का चातक प्रेमी आकाश कुसुम का,
अन्ध चकोर अँगारे चुग निज तृषा बुझाता,
गन्ध मधुप गाता काँटों में फूल के लिए!

× × × ×

मुग्धा चपलाएँ स्मिति कटाक्ष से पुलकित कर देतीं तन चंचल
ज्वालाओं के स्पर्शों से प्राणों को उकसा।
शरद चाँदनी दुग्ध फेन सा कम्पित उर ले,
स्वप्नों की गुञ्जित चापों से निशा कक्ष को,
मुखरित कर देती सहसा जब नव बसन्त श्री।

कनक भुजङ्ग के समान मन की दुर्गम घाटियों में सरकने और सहर उत्पन्न करने वाली अभिलाषाएँ किस प्रकार साधना के मार्ग में विघ्न बनती हैं, इसका सुन्दर वर्णन यहाँ मिलता है। युवक और युवती के वार्तालाप में श्रद्धा व मनु के वार्तालाप का स्मरण हो आता है—

तुम्हें ज्ञात है, मेरे जीवन के निकुञ्ज में,
तुम्ही प्रथम मधु ऋतु आई थी, जब प्राणों के,
पल्लव, मर्मर भर, स्वप्नों से सिहर उठे थे!
मदिरारुण लपटों मे उर की आकाक्षाएँ,
फूट पडी थी, सहसा तुमको घेर चतुर्दिक,
मौन मुकुल को घेरे रहते ज्यों नव किशलय!

अंतर्द्वंद्वों का वर्णन कला में जहाँ सूक्ष्मता लाता है वही यदि उसका रूप नैतिक हो उठता है तो उसकी मार्मिकता समाप्त हो जाती है। एक उदाहरण लीजिए :—

बहुत सुन चुका अध' प्राण सदेश तुम्हारा
निश्चय ही अब नरक द्वार है खुलने वाला
निश्चेतन के अन्धकार में युग का भू मन
भटक रहा है, नैतिक मूल्यों का प्रकाश खो!
अधः पतन में मुक्ति नही है! ऊर्ध्व गमन ही
मुक्ति द्वार है! मोहमुक्त हो गया आज मन।

नैतिकता का यह स्वर इन काव्य-रूपों में सर्वत्र भरा पड़ा है और इससे काव्य की हानि ही अधिक हुई है। एक ही बात को सैंकड़ों वार पैंतरे वदल वदल कर कहा गया है और वह बात भी कवि की अपनी नही है, अरविन्द से उधार ली गई है। कवि ने चेतना के ऊर्ध्व आरोहण की मधुर कल्पनाएँ व ऊर्ध्व देश के सुन्दर चित्र भी दिए हैं और उसका मन व प्राण के स्तरों से सम्बन्ध भी जोड़ा गया है

यही नही वह आंतरिक साधना को बाह्य संघर्ष के लिए सहायक भी बताता है परन्तु बाह्य संघर्ष मे जनता की सफलता के लिए प्राचीन वैष्णवीय पद्धति को अपनाता है जिसमें अपीलों से उदार बनाने की प्रवृत्ति होती है अतः अंतर्विरोध उत्पन्न हो जाता है और आंतरिक साधना बाध्य संघर्ष के विरोध में जा पड़ती है। यह अंतर्विरोध काव्य कला पर भी प्रभाव डालता है और कवि का स्वर उन अत्याचारों की उपेक्षा करता है जिसके विरुद्ध जनता संघर्ष कर रही है, यही नही उस संघर्ष में भाग लेने वालों की संकीर्णता के कारण उस संघर्ष को ही कवि लांछित करने लगता है। एक दूसरे प्रकार के समझौतावादी संघर्ष की अपील से—हृदय परिवर्तन वाले संघर्ष की वकालत करता है अतः वाणी में सिद्धान्तों की प्रमुखता हो जाती हैं और जो ओज व उद्वेग उत्पन्न होना चाहिए वह नही हो पाता । परिणामत नैतिक उपदेशों की दुहाई प्रारम्भ हो जाती है—

आओ हम अंतः प्रतीत को धर्म बनाऍ
आओ, हम निष्काम कर्म को वर्म बनाऍ
हम आत्मा की अमर प्रीति के धरा स्वर्ग में
सब मिलकर जीवन स्वप्नों का नीड़ सजाऍ
आओ, हम सब मानव का घर द्वार बसाऍ

"फूलों का देश"

इस काव्य रूपक में भी आदर्शवादी, वस्तुवादी संघर्ष को वाणी देकर व्यापक समन्वय की चेष्टा है। इसमें कवि के रूप में स्वय पन्तजी ने अपनी विचारधारा को स्पष्ट किया है।

अरुण वसंत मदन सा ! पत्ती सा एकाकी
कलाकार हूँ मैं, पर जीवन संघर्षण से
विरत नही हूँ, देखो, मेरी स्वप्न निमीलित
आँखों में भावी का स्वर्णिम बिम्ब पड़ा है

कवि का विश्वास है कि वह इन्द्र धनुप को छीनकर धरा की वेणी में गूँथ देगा और जन-भू के उपचेतन की विकृतियों को अपनी वाणी से दूर कर उसे ऊर्ध्व-चेतन की ओर उन्मुख कर देगा। सुन्दर विचार है। परन्तु पन्तजी की यह समझ में नहीं आता कि उन जैसे करोड़ों उपदेशकों से देश का दुःख दूर नही हुआ। उपचेतन की

विकृति का सम्बन्ध उस व्यवस्था से है जिसमें उस प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं परन्तु व्यवस्था को बदलने के प्रयत्न से तटस्थ रहकर, उसका विरोध कर उपचेतन की विकृति मात्र उपदेश से कैसे दूर होगी ? अतः इन काव्य रूपकों में कवि की "सदिच्छा" तो अवश्य व्यक्त होती है परन्तु जितना ही वह अपने वैयक्तिक निरपेक्षतावादी प्रयत्नों को जनवादी सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, उतना ही पिष्ट पेषण बढ़ता जाता है और परिणाम कुछ भी नही निकलता।

फूलों के देश में विचारों की स्पष्टता पर्याप्त रूप से मिलती है और संकीर्णतावादियों पर भयानक प्रहार हैं परन्तु साथ ही बड़े चातुर्य से पन्तजी अपने अध्यात्म के लवादे में अपनी जन-वाद विरोधी विचारधारा को छिपा कर उसे ही सच्चा जनवाद सिद्ध करना चाहते हैं, यह एक विचित्र द्वन्द्व है।

परन्तु विचार कुछ भी हों, कवि के वार्तालाप कवित्व पूर्ण रहते हैं—

यद्यपि अब भी लहरों की रुपहली पायलें
बजतीं छम छम, खेतों में हसमुख हरियाली
सोना उगला करती है, नव मुग्धाओं की
चल चितवन से स्वर्ग झाँकता, नव शिशुओं को
घेर स्वर्ग की परियाँ मँडराती लुक छिप कर।

उत्तर-शती

सन्देश, स्वप्न व सम्मोहन पन्तजी की अपनी विशेषताएँ हैं जो इन काव्य-रूपों में भी बराबर मिलते हैं। बीसवी सदी के उत्तर भाग में नवीन युग का समारम्भ होगा, कवि का यह अखण्ड विश्वास है। अतः उस नवीन युग के समारम्भ के पूर्व जो सङ्घर्ष चल रहा है वह उसी नवीन युग की तैयारी है। सङ्घर्ष व भावी स्वप्नों का चित्रण पूर्ण सफलता के साथ हुआ है।

टकराती हैं नव्य चेतना की हिल्लोलें
युग मन की निश्चेष्ट वधिर पाषाण शिला पर
हाहाकारों से, जयघोषों से समुच्छ्वसित
विश्व-क्रान्ति की ओर सतत आरोहण करती॥

इस रूपक में तीसरे विश्व-युद्ध के सम्बन्ध में बड़े ही करुण स्वर मिलते हैं जो अभिनन्दनीय हैं। इस भाग को पढ़ कर लगता है कि कवि ही वस्तुतः अपने नैतिक प्रभाव से युद्ध को कम से कम टाल तो सकता ही है—

पूँजीवाद उठा हिंसा का धूम्रकेतु ध्वज
लिए लोक संहार घोर अणु मुष्टि में विकट
फिर ललकार रहा धरती की हरित शान्ति को

और फिर कवि पुकार उठता है—

कौन सुनेगा पर मेरे ये तूती के स्वर
इन भीषण तर्जन, गर्जन, कटु चीत्कारों में

शान्ति का यह प्रबल स्वर अपने में कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है परन्तु कुत्सित समाजशास्त्रियों को पन्तजी में केवल लालसा का भवसागर ही दिखाई पड़ा।

'शुभ्र पुरुष' में गान्धीजी का स्तवन है। प्रार्थनापरक कविताओं में पन्तजी की स्तुतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु इनमें कवि के व्यक्तित्त्व के मूल्याङ्कन की प्रवृत्ति अधिक है। आर्द्र भावुकता की अभिव्यक्ति कम। अतः विनयपरक काव्य में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण होने पर भी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

'प्राकृत जन गुन गान' में भी पन्तजी प्रवीण हैं। मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर तथा पन्तजी ने राजनीति के नायकों की वन्दना बड़ी सावधानी से की है। पन्तजी की वन्दनाओं में एक विशेषता यह है कि ये ऊर्ध्व-सञ्चरण में सहायक होने वाले तत्त्वों को ध्यान में रखकर की गई हैं। शायद इसीलिए कि 'शारदा' सिर धुन-धुन कर पश्चाताप न करे। यों सरस्वती को इन कविताओं से अफसोस होगा या नहीं, यह तो उन्हीं से पूछा जा सकता है।

"विद्युत-वसना" स्वाधीनता का काव्य-रूपक है यहाँ भी स्वाधीनता का समाहार ऊर्ध्व-चेतनवाद में कर दिया गया है—

दुर्निवार कामना! कौन सी महाशक्ति यह
जन समुद्र को है ढकेलती युग तोरण से
नव प्रभात के सद्य प्रज्वलित नव प्रदेश में—
जीवन का सौन्दर्य धरा का स्वर्णिम वैभव
जहाँ हँस रहा दिग्, दिगन्त में जन जन के हित।

उपदेशों, संबोधनों, संदेशों को स्वयं कवि मन्त्र-युग की परम्परा में रखकर देखता है। जिस प्रकार वेद में "तुम सब एक हो जाओ, एक होकर सोचो, एक होकर कार्य करो" की गुंजार सुनाई पड़ती उसी प्रकार पन्तजी यह समझते हैं कि उनकी वाणी उसी आर्य-वाणी की परम्परा है। और चूँकि अरविन्द इसी मन्त्र-युग की कविता को श्रेष्ठ कविता मानते हैं अतः काव्य-रूपकों की इस कविता को कविता मान लेने में तब किसे संदेह हो सकता है? परन्तु जैसा हमने मन्त्र युग की आलोचना करते समय कहा था कि वस्तुतः मन्त्र-युग की वाणी साधनात्मक, प्रवचनात्मक तथा धार्मिक-वृत्ति से युक्त होने के कारण गौण रूप से ही कविता के क्षेत्र में आती है उसी प्रकार काव्य-रूपकों के प्रवचन तथा सिद्धान्तों के निर्घोष गौण रूप से ही कविता के क्षेत्र में आते हैं। जहाँ दृश्योद्घाटन है या सूक्ष्म मानसिक वृतियों व हृत्कम्पों का वर्णन है वहाँ काव्य उत्पन्न हो गया है और ऐसे उदाहरण हमने पीछे एकत्र कर दिए हैं।

'शरद चेतना' प्रकृति सौन्दर्य का कल्पना प्रधान रूपक है अतः यह शुद्ध काव्य के क्षेत्र में आता है और कवि का यह बहुत समय से प्रिय विषय रहा है अत' प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण यहाँ अपने चारु रूप मे मिलता है। परन्तु साथ ही उस सारे चित्रण को प्रतीक के रूप में बदल देने की प्रवृत्ति से वह अंतःप्रकृति का भी वर्णन हो जाता है। अतः यह कला पहलदार शीशे के समान 'दुरंगी झलक' देती है। इस काव्य रूपक में ऋतुओं का संक्षिप्त वर्णन है, कवि बीच बीच में वर्णन छोड़कर यदि सिद्धान्तवादिता पर न उतर आता तो यह रूपक और अधिक आकर्षक बन गया होता अतः काव्य की दृष्टि से शिल्पी ही सर्वश्रेष्ठ काव्य-रूपक है।

'शरद चेतना' के कुछ चित्र देखिए—

सर्व प्रथम हेमन्त कर रहा आत्म निवेदन
भरा झुर्रियों से आनन, सकुचाया सा तन
काँप रहे मृदु अधर, वाष्प से आर्द्र हैं नयन
घने कुहासे में मा लिपटा उसका यौवन

× × ×

छोड़ श्वास फूत्कार धूलि के साँप नचाता
जरा जीर्ण जगती के पीले पात उड़ाता

ध्वंस भ्रंश करता सा क्रुद्ध शिशिर अब आता
झंझा पर चढ़, थर-थर कँपता, ओंठ चबाता
× × ×
नव वसन्त आता अब अधरों में भर गुञ्जन
सौरभ से पुलकित मन, फूलों से रञ्जित तन
नव भू यौवन सा, स्वर्गों से अपलक लोचन,
कुहू कुहू गा, प्राणों का सुख करता वर्षण
× × ×
अह, निदाघ बरसाता चितवन के पावक कण
जग के प्राण तपाता, झुलसाता भू जीवन
× × ×
लो वर्षा की घनश्यामल वेणी लहराई
धरती को रोमाञ्च हुआ, हरियाली छाई
इन्द्र-धनुष में हँसा गगन का सूना प्रांगण
बहिर्भार में खुला रङ्ग चञ्चल भू जीवन!
× × ×
अब शुभ्र गगन में शुभ्र चन्द्र
नव कुन्द धवल तारावलि री,
अब शुभ्र अवनि मे शुभ्र सरसि,
सरसी मे श्वेत कमल दल री!

हेमन्त, शिशिर तथा शरद के चित्र निश्चित रूप से आकर्षक हैं इनमें स्वच्छता व स्पष्टता अधिक है। बारीक चित्रण नही हैं। कम से कम प्रयोगवादियों की विकृत मानसिक स्थिति में लिखी हुई प्रकृति सम्बन्धी कविताओं से ये कविताएँ अधिक आकर्षक हैं।

उपसंहार

सांस्कृतिक महत्व

काव्य का क्षेत्र संस्कृति का क्षेत्र है। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में प्रायः कहा जाता है कि वह सनातन संस्कृति है, अविनाशी और अखण्ड है। विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में चीन व भारत जैसे देशों की संस्कृतियाँ ही अब भी अवशिष्ट हैं अतः इनमें कुछ ऐसे तत्त्व अवश्य होंगे, जिनके कारण इनमें अपने को बचा ले जाने की शक्ति बनी रही है। यहाँ हमारा विषय पन्तजी का नूतन काव्य और दर्शन है अतः हमें केवल यह देखना है कि क्या पन्तजी के नूतन काव्य में वे तत्त्व हैं जो भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं, भारतीय संस्कृति की सनातनता की परम्परा को वे किस प्रकार आगे बढ़ाते हैं तथा उन तत्त्वों का मानव के कल्याण से किस प्रकार का सम्बन्ध है ?

काव्य मनुष्य के मर्म को स्पर्श कर उसे भीतर से बदलने का प्रयत्न है। राजनीति, नैतिक शिक्षा, अर्थशास्त्र आदि शास्त्र उसे बाह्य विधि-निषेध सिखाते हैं परन्तु काव्य मनुष्य के हार्दिक तत्त्व की टोह में रहता है कि विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य का हृदय क्या क्या अनुभव करता है। काव्य इसके साथ ही मनुष्य की भावना के लक्ष्य को भी बदलता है, प्रश्न यह है कि पन्तजी का काव्य क्या सामान्य भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है ? क्योंकि छायावादी काल में कवि के अंतर्मानस मे घनीभूत लोक की वेदना भी नाना स्वप्नों के माध्यम से व्यक्त हुई थी। यद्यपि छायावाद में वैयक्तिक अंश पर्याप्त मात्रा में मिलता है फिर भी नारी, प्रकृति, जाति, समाज, राष्ट्र, स्वतंत्रता, विश्व कल्याण, सांस्कृतिक समन्वय आदि प्रश्नों पर छायावादी कवियों के विचार व भाव आदरणीय हैं। पल्लव, गुंजन, गीतिका, तुलसीदास तथा कामायनी जैसी रचनाओं में कवियों के वैयक्तिक

तत्त्वों को छोडकर मनुष्य को अधिकाधिक स्वतन्त्र व महान बनाने की प्रेरणायें हैं। प्रश्न यह है कि क्या यह परम्परा पन्तजी के नूतन काव्य में मिलती है।

इस प्रश्न के उत्तर के लिए पन्तजी के काव्य से ही प्रश्न पूछना होगा ? सामान्य भावनाओं के स्थान पर नूतन काव्य को पढ़कर पाठक को क्या मिलता है ? उत्तर अनेक होंगे परन्तु इस सम्बन्ध मे दो मत कम से कम मुझे नही मिले कि यह कविता आत्म-विस्मृत नहीं करती, विभोरता नही लाती। तब क्या करती है ? मैंने पीछे लिखा है कि कविता यदि भाव प्रधान न हो तो कल्पना का आनन्द तो देही सकती है। अतः इस काव्य में कल्पना का सौन्दर्य मिलता है, परन्तु कल्पना का वह सहज रूप नहीं जो वीणा व पल्लव मे मिलता है अपितु साधकों व दार्शनिकों की कल्पनाओं व अनुभूतियों को चित्रात्मक रूप में उपस्थित करने का यहाँ प्रयत्न किया गया है। अथवा जीवन व जगत को दार्शनिक दृष्टि से देखकर संतुलन खोजने के लिए पाठकों को प्रेरित किया गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जगत व जीवन को इस दृष्टि (अरविन्दवादी) से देखो, फिर सब द्वन्द्व समाप्त हैं, सर्वत्र आनन्द व सौन्दर्य है, सर्वत्र संतुलन है। अर्थात् यह कविता दृष्टि विशेष के दान का प्रयास करती है और चूंकि कवि प्रतिभाशाली है अत वह यत्र-तत्र 'रमणीय चित्र विधान' द्वारा विचारों व सिद्धान्तों को पाठकों के लिए अधिक से अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न करता है।

अतः इस कविता में कल्पना का वैभव, रमणीय चित्र-विधान तथा सिद्धान्तों के लम्बे प्रवचन मिलते हैं। कला की दृष्टि से कल्पना का सौन्दर्य भी अपने में आकर्षक है यदि भाषा व शैली को वैदिक शब्दावली मे परिवर्तित न कर दिया गया होता। परन्तु फिर भी यह काव्य जैसा मैंने कहा है, प्राचीन शैली में लिखा जाने पर भी प्रयोग-वादी कविताओं से अधिक आकर्षक है क्योंकि पन्तजी की सैद्धान्तिक स्थिति तो स्पष्ट है ही, उनके चित्रों व मानसिक स्थितियों में रुग्णता नही मिलती। कुछ अधिक कमनीय और कोमल क्षणों मे प्रतीक विधान अधिक स्फुट एवं उत्तेजक अवश्य होगया है परन्तु ऐसे स्थल कम हैं। संदेश, स्वप्न, आंतरिक साधनात्मक अनुभव तथा कल्पना की सज्जा ने इस काव्य में "सम्मोहन" की प्रवृत्ति उत्पन्न होते होते

रह गई है। 'सम्मोहन' मिलता अवश्य है क्योंकि चेतना की गहराइयों में मानसिक वृत्तियों का मानवीकरण उसी सधी हुई तूलिका से कवि करता है, जो हमें कामायनी में मिलती है परन्तु उसमें पूर्ण सम्मोहन इसलिए उत्पन्न नही हो सका कि हम दार्शनिक उच्चता को देखकर विस्मय विमुग्ध होकर भी, कवि की भावना को सहृदयसंवेद्य नही पाते। हम अलग खड़े होकर उच्च मानसिक स्थितियों की चित्रावली को दर्शक की दृष्टि से देखते और आगे बढ़ जाते हैं अतः कविता स्वप्नों की नुमाइश सी जान पड़ती है।

किन्तु संदेश, स्वप्न व सम्मोहन की इस कविता में बुद्धि की स्थिरता व आस्था की शीतलता होने के साथ-साथ प्रयोगों की भी स्थिरता है। यह ठीक है कि प्रतीक पुराने हैं, पुनरावृत्ति अधिक है, शैली में न वाग्वैदग्ध्य है, न सामान्य सत्यों की पकड़ (जो कहावतों के रूप में चल पड़ती हैं), न मुहावरों का प्रयोग है, न आंतरिक आन्दोलन की ऊष्मा, परंतु प्रयोगवादी कविता तो प्रयोगों की नुमाइश मात्र है, स्वप्नों की नुमाइश में मन एक ऐसी दुनियाँ में पहुँच जाता है जहाँ हम यथार्थ जगत को भूल जाते है, यद्यपि पन्तजी के स्वप्न-चित्रण हमें यथार्थ की कटुता का विस्मरण नही करा पाते, पर बिखरा हुआ काव्य वैभव तो उसमें मिलता ही है, वह दृष्टि को रोक नही रख पाता तो दृष्टि को खींचता अवश्य है। अनन्त और अपरिमित आनन्द की प्यास का स्वप्न, प्रयोगवादी कलुषित, दमित और आत्मघाती मानसिकता से अधिक आकर्षक है, इससे संदेह नहीं। अपने पूर्व युग की अपेक्षा पन्तजी की इस कला में ह्रास दिखाई पड़ता है यह तो स्वयंसिद्ध है परन्तु फिर भी पन्तजी के काव्य की प्रयोगवादी क्षुद्रता से तुलना करना पन्तजी का अपमान करना है।

पन्तजी में उच्चवर्ग के आदर्शवाद की परम्परा में पोषित आदर्शवाद मिलता है, उसमें मनोहरता है परन्तु यथार्थ से दूर ले जाने वाली है। यह आदर्शवाद उसी प्राचीन भारतीय आदर्शवाद की अन्तिम शृंखला है जिसकी व्याख्या शंकर, कुमारिल, रामानुज, वल्लभ से लेकर राममोहन राय व अरविन्द ने की है। पन्त के आदर्शवाद के पीछे एक लम्बी चिंतन-परम्परा है जो अपनी सीमाओं के साथ साथ मानवता का ऊँचा स्तर उपस्थित करती है, जिसमें सभी अन्य सम्प्रदायों से आवश्यक तत्त्व ले लिए गए हैं और इसलिए

इतिहास के धक्कों को सहती हुई जो आज भी किसी कदर लड़खड़ाती हुई चलती चली जा रही है। प्रयोगवाद के पीछे न तो स्पष्ट विचार धारा है, न वह वैयक्तिक गरिमा ही जो एक कवि के लिए अनिवार्य है। वह प्रयोगों की वैसाखी पर चलना चाहती है। वह काव्य कभी नही चल सकता जिसके पीछे कोई सम्बद्ध विचारधारा न हो, चाहे वह विचारधारा कोई भी क्यों न हो। अतः प्रयोगवादी कविता मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक किसी भी दृष्टि से वांछनीय नहीं है। भारतीय चिंतन-परम्परा के लिए ऐसे गन्दे नाले क्षण भर के लिए भले ही यात्रियों का जी मिचलाने की धृष्टता करें किन्तु कालान्तर में वह इस महा समुद्र के अतलगर्भ में विलीन हो जाएँगे। भारतीय ज्ञान की भागीरथी का यही स्वभाव रहा है। वह चार्वाक तक को अपने में समेट कर उन्हे मिटा देने के लिए ही ऋषि की उपाधि देती है। अतः प्रयोगवादी रचनाओं को भारत चुपचाप वरदाश्त कर रहा है और प्रयोगवादी समझते हैं कि हमारी विजय होगई है।

यदि हम पन्तजी के संदेश का सांस्कृतिक मूल्यांकन करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि वावजूद अपनी अपरिमित ऊँचाई व वारीकी के इसमें वही अंतर्विरोध मिलता है जो भारतीय सस्कृति का एक प्रमुख गुण है।

पाठक परिचित हो चुके हैं कि अरविन्द-पन्त दर्शन जगत को सत्य मानता है, और शंकर के मायावाद, वौद्धों के विज्ञानवाद व शून्यवाद का भयङ्कर खण्डन करता है। तर्क की दृष्टि से अरविन्द-दर्शन की कमजोरियों की ओर हम संकेत कर चुके हैं परन्तु जो व्यक्ति कुछ देना चाहता है, वह तार्किक क्रम से ही दान करे, यह तो आवश्यक नही अतः अरविन्द-पन्त दर्शन रामानुज परम्परा को पुनर्जीवित करता है जिसमें सव कुछ नारायण का ही स्वरूप है। जगत को सत्य मानने का साहस आज के युग में लघु साहस नहीं है क्योंकि पूँजीवादी वैज्ञानिक इसी वात पर तुले हुए हैं कि विज्ञान से भौतिकवाद का खण्डन हो जाय और प्राचीन अन्ध-विश्वासों से भरे आदर्शवाद की रक्षा हो जाय। अतः पन्तजी की कविता का स्वर इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय परम्परा को दृढ़ करता है। वह संन्यास प्रधान मायावादियों के विरुद्ध एक दृढ़ अस्त्र है और अरविन्द जैसे मेधावी विचारक की

व्याख्याएँ साथ होने से मायावाद के प्रभाव को कम करने के लिए रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क व मध्वाचार्य की परम्परा को आगे बढ़ाता है।

हम कह चुके हैं कि अरविन्द दर्शन एक पुनरुत्थानवादी प्रयत्न था जिसमें योरोपीय ज्ञान मे दीक्षित एक नवयुवक की उस प्रतिक्रिया का वर्णन है जो उसमें सहसा प्राचीन भारतीय दर्शन को देखने से उत्पन्न हो गई थी। अतः वेद-उपनिषद गीता तथा तंत्रों की वैदिक साधना का मनोवैज्ञानिक व योग सम्बन्धी महत्त्व स्पष्ट कर अरविन्द ने उसे योरोपीय ज्ञान से श्रेष्ठ प्रमाणित किया और आगामी युग का पैटर्न भी प्राचीन भारतीय साधना के आधार पर निर्मित किया। इतने साहसी विचारक को हम यों ही नही टाल सकते उसका उचित ऐतिहासिक महत्त्व हमें देना ही होगा। भारतीय संस्कृति के अनेक आदर्शवादी व्याख्याकारों मे अरविन्द का महत्त्व स्थायी है।

अरविन्द दर्शन समन्वयवादी दर्शन है किन्तु यह समन्वय आदर्शवादी पृष्ठभूमि पर खोजा गया है अत. सच्चे समन्वय के स्थान पर उसमें 'समझौता' की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है। विश्व के सारे ज्ञान की व्याख्या भारतीय ज्ञान से ही हो सकती है, यह अरविन्द का लक्ष्य रहा है। परन्तु अन्य ज्ञान को वह निम्न श्रेणियों पर रखकर उच्चतम धरातल पर भारतीय रहस्य साधना को ही रखते हैं जिसमें यौगिक साधना मुख्य है। अन्य साधनाओं व पूजा पद्धतियों का उसी योग-साधना में या तो अतर्भाव कर दिया गया है या उसे सहायक या प्रतीक के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। इसी प्रकार विश्व के विविध ज्ञान को विविध चेतना स्तरों की उपज मानकर स्वीकार कर लिया गया है और ज्ञान का अन्तिम और उच्चतम स्थान भारतीय साधना को दिया गया है। जिसमें अरविन्द के अनुसार विकास अपनी अतिम मञ्जिल पर पहुँच जाता है और जिस अतिम स्थिति में जीवन के निम्न व उच्च धरातलों में समन्वय हो जाता है। ऐसे ही पूर्ण विकास के आगामी युग की कल्पना अरविन्द के लिए भविष्यवाणी मात्र नही है, वह उनका सहज विश्वास है, क्योंकि इतिहास व समाजशास्त्र का विकास भी उनके अनुसार इसी आगामी युग की ओर सकेत करता है।

भारतीय साधना की गौरव गरिमा की बात तो स्पष्ट होगई

परन्तु अरविन्द व पन्त ने योरोपीय मनोविज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र, इतिहास, भौतिकवाद आदि सभी को स्वीकार कर लिया है किन्तु वह इन क्षेत्रों की खोजों को अंतिम नही मानते, इनमें केवल सत्य के एक ही पक्ष को देखकर उसी को सब कुछ मान लिया गया है, ऐसा अरविन्द का विचार है। अतः उनकी दृष्टि से मनोविज्ञान व इतिहास व विज्ञान के निर्णयों की उपलब्धि की सीमाओं को समझाया गया है। अरविन्द ने इन क्षेत्रों की सीमाओं को बताकर भारतीय योग-साधना के महत्त्व को अपने गौरव के चरम शिखर पर प्रस्थापित कर दिया है। यह उनकी महान मेधा का परिचायक है।

सांस्कृतिक दृष्टि से मनोविज्ञान के निर्णयों का विरोध आवश्यक है। यह ठीक है कि अरविन्द ने फ्रायडवादी मनोविज्ञान का विरोध सामाजिक पद्धति पर न कर आध्यात्मिक पद्धति पर किया है परन्तु काव्य, उपन्यास, आलोचनादि मे फ्रायड को 'सिद्ध' मानकर चलने वाले लेखकों व विचारकों के विरुद्ध अरविन्द का स्वर हमारी सहायता करता है। अत. मानवीय सस्कृति को पुन. वाममार्ग की ओर उन्मुख करने वाले मनोविज्ञान के अतिवादी निर्णयों का विरोध जनवादी शिविर को दृढ़ करता है।

अरविन्द-पन्त साहित्य के प्रगतिशील पक्षों मे एक और पक्ष बहुत प्रबल है जिसमे मध्यकालीन जर्जर रूढ़ियों का विरोध किया गया है। आज व्यावहारिक जगत की समस्याओं के समाधान मे क्षुद्र राष्ट्रीयता, कुत्सित रीतिरिवाज, दम्भ व स्वार्थ पूर्ण प्रान्तीयता, अहम्मन्यता व वर्गवादिता से ओत प्रोत तथा मदान्धता से मत्त वैज्ञानिकता का दुरुपयोग बहुत बड़ी बाधाएँ हैं। भारतीय समाज में जीवन के प्रति निषेधवादी दृष्टिकोण का प्रचार करने वालों मे 'मायावाद' का प्रबल हाथ रहा है। जो जाति महत्त्वाकांक्षी नही होती, जिसमे पराजय की भावना बद्धमूल हो जाती है, जिसमें सामाजिक सम्बन्धों को समझने का विवेक नही रहता उसमें 'माया वाद' जैसे दर्शन उत्पन्न होते हैं, और 'मायावाद' के कल्याणकारक पक्ष को (उदाहरण के लिए 'विश्वात्मवाद' का, तथा मानसिक समता का, जिसका प्रचार विवेकानन्द ने १९ वीं शताब्दी मे किया था) प्रोत्साहित न कर उसके उस स्वरूप पर बल दिया जाता है जो समाज की आवश्यकताओं, समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित समस्याओं

की ओर से उदासीनता उत्पन्न कर दे और एक ऐसी मानसिक स्थिति को जन्म दे जिसमें व्यावहारिक जीवन की पूर्ण उपेक्षा करने की शक्ति आ सके और फिर भी आनन्दित रह सके। जीवन के प्रति इस निषेधवादी दृष्टिकोण का विरोध अरविन्द व पन्त कठोर से कठोर भाषा में करते हैं। भारतवर्ष में आज जो समाज के प्रति इतनी उपेक्षा दिखाई पड़ती है, इसी लोक में उच्चतम व्यावहारिक-उपलब्धियों के प्रति उपेक्षा व तिरस्कार का जो भाव मिलता है, उसका एक बहुत बड़ा कारण जीवन के प्रति यही निषेधवादी दृष्टिकोण है। पन्त जी इसके विरोधी हैं।

काल व देश पर बहुत बड़ी विजय हो जाने के पश्चात् विश्व संस्कृति की एकता का प्रश्न है। राजनीति, इतिहास, काव्य, दर्शन सभी कुछ तो मनुष्य के कल्याण के लिए किए गए प्रयत्न हैं। मुख्य समस्या यही है कि अतत. किस प्रकार हम सारे विश्व को एक परिवार के रूप में बदल सकते हैं तथा उस भावना को किस प्रकार स्थायी वना सकते है। भारतीय विश्व बन्धुत्व की भावना तो इस विषय में सर्व प्रसिद्ध है ही, अहिंसा व सत्य की प्राप्ति आदि पर जो भारत इतना जोर देता रहा है वह भी इसीलिए कि इन गुणों के अभ्यास से ही विश्व को न केवल एक परिवार में बदला जा सकता है अपितु उस भावना की अनंतकाल तक रक्षा भी की जा सकती है।

इस महान आदर्श के सम्बन्ध मे ससार की सभी विचारधाराएँ एक हैं। किन्तु पन्तजी के अनुसार इसमें योरोपीय विचारधारा ने बाधाएँ उत्पन्न करदी हैं। योरोपीय दृष्टि "जीवन के प्रति मोह" को नही छोड़ना चाहती, वह इसी मोह को जीवन का लक्ष्य समझती है, इस विचारधारा में जीवन को अधिकाधिक सुन्दर, स्वस्थ, संतुलित वनाना तो प्रशंसनीय है परन्तु जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शोषण व साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति निन्दनीय है। योरोप व अमेरिका के वैभव को अन्य राष्ट्रों के रक्त से चमकदार बनाया गया है यह निश्चित है कि यदि गोरी जाति शोषण को छोड़ती है तो उसे अपनी आवश्यकताओं को कम करना ही होगा तथा स्वय अपने देशों मे शोषित जनता के लिए अपने अधिकार अर्पित करने होंगे। जब तक ऐसा नही होता तब तक विद्रोह का स्वर तीव्र होता जायगा, चाहे वह हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक सत्याग्रह। अधिकारों के प्रति

जागरूक जनता अब चुपचाप नहीं बैठ सकती। पन्तजी इसका समर्थन करते हैं।

किन्तु पन्तजी के अनुसार अधिकार मत्त शासक वर्ग के अधिकार छीनने के प्रयत्न में प्रमुख पद्धति साम्यवादी दल की है जिसमें शोषक वर्ग के विरुद्ध सामूहिक रूप से घृणा उत्पन्न कर सुप्त जनता को वर्ग संघर्ष के लिए प्रस्तुत किया जाता है। इसमें पन्तजी के अनुसार खतरा यह है कि अधिकारों के लिए जागरूक जनता के नेता एक ओर अधिकार मिलते ही मदांध व निरंकुश हो सकते हैं क्योंकि जीवन के प्रति अत्यधिक मोह साम्यवादी संस्कृति में कम नहीं है, दूसरी ओर स्वयं जनता भी सुविधा भोगी होते होते अपने शासकों के दुर्गुणों की शिकार होती जाती है, अधिकार-लोलुपता साम्यवाद के लिए बहुत बड़ा खतरा है।

इसके साथ ही कुछ शोपक वर्गों व व्यक्तियों को अपदस्थ करने के लिए साम्यवादी सिद्धान्त "सामूहिकतावाद" का लक्ष्य के रूप मे प्रचार करता है किन्तु सबल और विकसित समाज, सबल व विकसित व्यक्तियों की समष्टि का नाम है। अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व का महत्व कम होता जाता है पार्टी व दलगत भावना को लक्ष्य के रूप में मान लेने के कारण व्यक्तित्व के विकास मे बाधा पड़ती है। सामूहिकता के स्वर में व्यक्ति का स्वर दब जाता है, चाहे वह उस सारे समूह मे सबसे अधिक मेधावी क्यों न हो। अत. सामूहिकतावाद विश्व-संस्कृति की स्थापना भले ही करले, उसकी रक्षा वह बहुत समय तक नही कर सकता। पुन राष्ट्रों, दलों व जातियों के विद्रोह का भय बराबर बना रहेगा, क्योंकि विश्व-संस्कृति, निष्कामता, आत्मत्याग, अहिंसा, सत्य तथा विश्वास के आधार पर ही स्थिर रह सकती है। पन्तजी के अनुसार भारतीय संस्कृति के उस महान रूप के पुनरुद्धार की आवश्यकता है जिस पर मध्यकाल की धूलि चढ़ चुकी है, जो व्यावहारिक सफलता के साथ-साथ आंतरिक विकास को महत्व देती है और उसी आंतरिक साधना के द्वारा विश्व-सङ्गठन, विश्व-शासन, विश्व संस्कृति को स्थायी बनाया जा सकता है, अन्यथा इस वर्ग-सङ्घर्ष के बाद अन्य प्रकार के वर्ग बन जायेंगे और जिस सन्तुलन लाने के लिए असन्तुलन का अभ्यास जनता को कराया जा रहा है, वह स्वयं अनेक कुचक्रों व दलबन्दियों में विकसित होकर पुनः हमें खण्डता की ओर उन्मुख कर

देगा और मानवता की इतनी बड़ी साधना जो साम्यवाद के रूप में हो रही है, समाप्त हो जायगी। अत. सामूहिक सफलता की स्थिरता के लिए आन्तरिक साधना को लक्ष्य बनाना आवश्यक है। इसीलिए कवि के अनुसार भौतिकवाद में अध्यात्म का समन्वय आवश्यक है।

पन्तजी के लिए इस समन्वय में सबसे बड़ी बाधा है—भौतिकवादियों की बुद्धिवादिता, जिसने भारत के मध्यजीवी समाज को ग्रस्त कर लिया है। परन्तु बुद्धि का स्वभाव तो विश्लेषण है, वह सत्य के एक ही स्वरूप को, एक समय में देखकर, उसको खण्डों मे बाँट कर देख सकती है। अतः बुद्धि के साथ-साथ अन्तर्चेतना (intuition) के द्वारा जीवन का लक्ष्य स्थिर होना चाहिए। और अन्तर्चेतना के लिए वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों की शरण मे जाना पड़ेगा तथा अन्तर्चेतना के द्वारा उनके निर्णयों को स्वीकार करना होगा। अथवा यदि वे निर्णय स्वीकृत न हों तो उनकी जाँच बुद्धि द्वारा नही, अन्तर्चेतना द्वारा करनी होगी।

पन्तजी का मत है कि संघर्ष के इस युग में भावी मनुष्य के व्यक्तित्व-निर्माण की समस्या विचारकों के सम्मुख बड़ी ही गम्भीर बन गई है। अब इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। हम आदमी को क्या बनाना चाहते हैं, यदि यह स्पष्ट नही होता तो वह विचार स्वीकृत होने योग्य नही होना चाहिए। चूँकि भावी मनुष्य की कल्पना भारतीय दर्शन के अनुसार सबसे अधिक सन्तुलित है और इस सम्बन्ध में चार्वाक को छोडकर सभी एकमत हैं। अत. पश्चिम को भी हम इसी 'भावी मनुष्य' की कल्पना सिखा सकते हैं और उन महान आदर्शों की प्राप्ति के लिए भारतीय संस्कृति का प्राचीन रूप प्रस्तुत कर सकते हैं। वेदों, उपनिषदों के ऋषियों, बौद्धों व जैनियों आदि सभी मतों के साधकों ने सत्य का साक्षात्कार अन्तर्चेतना के द्वारा ही किया था। उसे समझाते समय बुद्धि का आश्रय उन्होंने अवश्य पकडा परन्तु सचाई की पहचान के लिए भारतीय संस्कृति एक और अविभाज्य है। इसी सत्य को परखने के साधन की अर्थात् स्वयं-प्रकाश्य-ज्ञान को हम शास्त्रों की सहायता से प्राप्त कर सकते हैं। मानव की मुक्ति का यही एकमात्र उपाय है। अन्यथा बुद्धि द्वारा किए गए प्रयत्नों से यदि वर्गों के कारण उत्पन्न दु ख समाप्त हो गए तो फिर दूसरे प्रकार के दुःख उत्पन्न हो जायँगे। दुःख का स्वरूप भले ही बदल जाय, दु.ख की समाप्ति तो हो

नहीं सकती, जिनकी सभी बाह्य आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं उनको भी मानसिक असन्तुलन के कारण अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, अतः सच्ची शान्ति के लिए भारतीय संस्कृति ही एकमात्र औषधि है। अतः श्रद्धा व ईश्वर में विश्वास, योगसाधना व अमरता की खोज ये ही उपाय भारतीय संस्कृति के अनुसार सच्ची शान्ति दे सकते हैं।

पाठक कामायनी के सांस्कृतिक महत्त्व से परिचित हैं। कामायनी में विश्व की समस्याओं के समाधान से पन्तजी के उपर्युक्त सांस्कृतिक समाधान को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजी भी भारतीय संस्कृति के श्रद्धा, भक्ति, विश्वास व सभी प्रकार की समरसता के ही उपदेशक थे। उनका सन्देश पन्त अरविन्द सन्देश से यहाँ मिल जाता है। कामायनी का मनु भी आनन्द की उसी भूमि में आनन्द पाता है जो विकास के विभिन्न सोपानों से गुजरता हुआ आगे बढ़ गया है, जो बुद्धि के द्वारा ज्ञान, क्रिया व इच्छा को अलग अलग रखकर अनेकों उलझनों की वृद्धि करके पछताया है। आप कह सकते हैं कि चाहे हम आध्यात्मिक साधना को न भी स्वीकार करें परन्तु ज्ञान, क्रिया व इच्छा में सामरस्य होना चाहिए, यह तो स्वीकार्य होगा ही क्योंकि व्यक्तित्व में सन्तुलन ही मुख्य-रूपेण देखा जाना चाहिए, सभी प्रवृत्तियों का सन्तुलित उपभोग और उसी उपभोग के द्वारा शान्ति की प्राप्ति, यही जीवन का लक्ष्य है। यह ठीक है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तन्त्रों का यह सिद्धान्त अखण्ड है परन्तु प्रश्न तो यह है कि ज्ञान, इच्छा क्रिया तो साधन मात्र है, इनमें अविरोध उत्पन्न करने वाली वस्तु तो आन्तरिक आस्था ही हो सकती है, जिसका नाम श्रद्धा है और जो अन्तर्चेतना से सम्बन्ध रखती है। विश्वास पहले करो, सत्य बाद में ज्ञात होगा। यह है श्रद्धा का मूल मन्त्र और यही अरविन्द का मूलमन्त्र है।

आज का युग बुद्धि से सत्य की खोज में निरत है यह एक एकाङ्गी कार्य है। प्रसाद व पन्त के अनुसार प्रथम विश्वास तब समर्पण, और तब आस्था की स्थिति आनी चाहिए तब हमारी चेतना स्वयं प्रकाशित हो उठेगी और ज्ञान, क्रिया व इच्छा के पाश कट जायँगे। अतः 'भावी मनुष्य' के निर्माण के लिए भारतीय पद्धति के प्रयोग पर प्रसाद व पन्त दोनों जोर देते हैं। जहाँ तक आन्तरिक साधनाओं द्वारा सामञ्जस्य खोजने का प्रयत्न है वहाँ प्रसाद व पन्त दोनों एक ही स्वर के

ह्यामी हैं। प्रसाद भी जीवन का निषेध नही करते; संन्यासियों व मायावादियों का घोर विरोध करते हैं, वैदिक आनन्दवाद की दुहाई देते हैं; प्रमोद को आनन्द का विरोधी नही मानते, भोग को योग का माध्यम मानकर ग्रहण करते हैं और पन्त जीवन के इन प्रमोद, भोग आदि तत्त्वों को निम्न श्रेणी के रूप मे स्वीकार कर लेते हैं। अत' प्रसाद व पन्त के यहाँ जीवन के वाहरी आनन्दों व क्रियाओं को दिए गए महत्त्व में मात्रा का अन्तर है, मौलिक अन्तर नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से भी प्रसादजी ने उपनिषद व शैवागमों का सहारा पकड़ा है। वहाँ अरविन्द ने वेद, उपनिषदों के साथ-साथ तंत्रों की शक्ति का सिद्धान्त भी स्वीकृत किया है। सम्पूर्ण विश्व को एक ही सत्ता का स्फुरण मानने में तन्त्रों से ही सबसे अधिक सहायता मिल सकती थी। अत. इस प्रकार भारतीय संस्कृति का निष्ठावादी रूप दोनों कवियों मे प्रचारित हुआ है।

प्रसाद व पन्त के नवीन-काव्य का मूल स्वर यही 'निष्ठावाद' है जिसके आगे बुद्धि, तर्क, विज्ञान, वाह्य-सङ्घर्ष, महत्वाकांक्षा की पूर्ति आदि सव तुच्छ हैं। प्रसाद के यहाँ इस निष्ठा की प्रतीक नारी है। नारी के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, यह कामायनी मे बहुत ही वैज्ञानिक पद्धति पर स्पष्ट किया गया है और आज के वासना-मूलक अस्थिर प्रेम की भर्त्सना की गई है। पन्तजी के यहाँ निष्ठा की शिक्षा व प्रयोग योग-साधना द्वारा ही सम्भव है। पन्तजी अपने निष्ठावाद को प्रसाद की तरह आकर्षक ढङ्ग से प्रस्तुत नही कर सके। पन्तजी अरविन्द के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को ही छन्दोबद्ध करने लग जाने के कारण, अथवा काव्य-रूपकों व फुटकल कविताओं में मनोवृत्तियों के द्वन्द्वों का चित्रण करने के कारण सिद्धान्त व सन्देश को प्रेरणा मे नहीं वदल सके। अत' कामायनी का महत्त्व स्वत. स्पष्ट है। परन्तु भारतीय संस्कृति के द्वारा विश्व-समस्याओं का समाधान खोजने के कार्य में दोनो कवि समान रूप से प्रयत्नशील हैं।

इस पुनरुत्थानवादी प्रयत्न में पूर्ण सफलता तो मिल नही सकती क्योंकि प्रसाद व पन्त दोनों सारे प्रश्नों के समाधानों के लिए पूर्वजों द्वारा खीचे गए वृत्त से वाहर नही जाते। दोनों प्राचीन व्यवस्था विशेष मे जन्म लेने वाले सिद्धान्तों की परीक्षा करने को तैयार नही होते, उन सिद्धान्तों की नवीन-नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत कर उन्हें आज के

अनुकूल बनाना चाहते हैं, और इन नवीन व्याख्याओं का आधार 'आस्था' को बनाते हैं, जिससे न केवल वेद व उपनिषद् के सिद्धान्त प्रमाणित होते हैं अपितु, इस्लाम, पारसी, ईसाई, आदि सभी मतों की सभी बातें प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। परन्तु इन विवेचनों से भारतीय संस्कृति के प्रति जनवादी विचारकों का ध्यान अवश्य आकर्षित होता है और जनवादी चिन्तन में भारतीय संस्कृति कहाँ तक सहायता कर सकती है इसके अनुसन्धान को बल मिलता है। पन्त व प्रसाद तो आदर्शवादी विचारक हैं, वह प्राचीन विचार-धारा के सभी अंशों को ग्राह्य बनाने के लिए प्रयत्न करते हैं परन्तु इतिहास व समाजशास्त्र की आधार-शिला पर संस्कृति की व्याख्या करते समय इन आदर्शवादी विचारकों की ये व्यख्यायें हमारे लिए चुनौती बन-कर सामने आती हैं कि जब तक भारतीय संस्कृति का वैज्ञानिक व्याख्या नहीं होगी तब तक किसी भी सिद्धान्त को यहाँ स्वीकृति नहीं मिल सकती, अत. भारतीय संस्कृति के सबल व दुर्बल अंशों का उद्घाटन आवश्यक है। कुत्सित समाजशास्त्रियों का इस विषय में यह दृष्टिकोण है कि वे भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का विवेचन करने से कतराते हैं और जिन कवियों को जनता ने स्वीकार कर लिया है, उन कवियों की विचार-धारा का वैज्ञानिक विश्लेषण करते समय भयभीत हो जाते है कि यदि रामचन्द्र शुक्ल या प्रसादजी के आदर्शवादी दृष्टिकोण के दुर्बल अंशों पर प्रकाश डाला गया तो जनता का विश्वास वे खो देंगे। यह अपने सिद्धान्त का दिवालियापन है। यदि शुक्लजी का वर्ण-वाद, कठोर और संकुचित लोक-संग्रहवाद, उनके द्वारा किए गए सन्त कवियों का विरोध तथा 'प्रसाद' जी का कामायनी में विवेचित अव्या-वहारिक सर्वातीतवाद आलोच्य नहीं हो सकते तो जनवादी संस्कृति की वैज्ञानिकता कैसे स्पष्ट होगी? वर्गों व वर्णों के द्वन्द्व व समाज के आर्थिक आधार को बिना स्पष्ट किये हुए जो सिद्धान्त आदर्शवादियों द्वारा प्रचारित हो रहे हैं, उनको आलोचना का विषय बनाये बिना आप क्या यह सिद्ध करने जा रहे हैं कि वस्तुत. सत्य के निर्णय में बुद्धि असमर्थ है, अन्तर्चेतना व आस्था के द्वारा सामाजिक कार्य हो सकते हैं, तब तो वर्ग-समझौता-वाद का समर्थन हो जायगा और इसका अर्थ होगा जनवादी विचार-धारा का सर्वनाश।

अत. पन्तजी के द्वारा मायावाद, जाति-योनि, रक्त, वर्ण, अन्ध-

राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता, मनुष्य की क्षुद्रता, अभद्रता, तथा फ्रायडीय मनोविज्ञान आदि के विरोध की हम प्रशंसा करते हैं (यद्यपि कुत्सित समाजशास्त्रियों के अनुसार पन्तजी में केवल वासना का भवसागर ही है और कुछ नही) परन्तु साथ ही भारतीय संस्कृति की व्याख्या कर जनवादी सिद्धान्तों का विरोध उनकी आज की रचनाओं की मुख्य विशेषता बनती जा रही है। 'प्रसादजी' इस सम्बन्ध मे मौन रहते थे, स्वपक्ष का पूरी शक्ति से आकर्षक स्थापन ही वह परपक्ष के खण्डन के लिए आवश्यक मानते थे परन्तु पन्तजी अपने अन्तश्चेतनावाद के मिशन का धर्म यही समझते हैं कि एक ओर तो भारतीय संस्कृति के आधार पर अपने पक्ष का मण्डन करो तथा साथ ही जनवादी विचारधारा का विद्रूप भी करते चलो क्योंकि आजकल राष्ट्रीयता का युग है और पुनरुत्थानवाद अभी समाप्त नही हुआ है। (दिनकर की पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' इस पुनरुत्थानवाद का ही परिणाम है) अतः जिस युग म देश आत्मरक्षा व आत्मनिर्माण में लगता है उस समय इतना कह देने से ही काम चल जायगा कि हम विदेशी विचारधारा को कैसे स्वीकार कर सकते हैं। जिनके पूर्वजों ने ज्ञान को कभी विदेशी नही माना उनकी काग्रेसी सन्तान अपने पूर्वजों की परम्परा के विरुद्ध जाकर भी यह समझती है कि हम भारतीय संस्कृति के अनुसार ही यह कार्य कर रहे हैं। ज्ञान को हमारे यहाँ अखण्ड व सार्वभौमिक माना गया है। उसका यही अर्थ है कि देश, जाति, रङ्ग आदि में उसे सीमित नही माना जा सकता परन्तु पन्तजी अपील करते है कि मध्य-वर्ग पर विदेशी चिन्तन का प्रभाव है इसीलिए वे भौतिकवाद के दलदल मे ग्रस्त हो गए हैं। भारतीय सस्कृति के तप. पूत मुखमण्डल को नही देखते। हमारा पक्ष यह है कि हम भारतीय सस्कृति के तप. पूत मुख-मण्डल को भी देखते हैं परन्तु हमारे बुजुर्ग कभी गलती नही करते थे, यह मान लेने को हम तैयार नही हैं और यही पन्त, प्रसाद आदि आदर्शवादी कवियों की सास्कृतिक व्याख्याओं का हमे विरोध करना पड़ता है।

सस्कृति की वैज्ञानिक व्याख्या समाजशास्त्र व इतिहास के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि सस्कृति—काव्य, साहित्य, दर्शन आदि युग-विशेष व व्यवस्था विशेष की उपज हैं। संस्कृति का जन्म शून्य से नही

होता। उसके पीछे एक सामाजिक व्यवस्था होती है जो चिन्तन-प्रक्रिया को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया करती है। पूर्वजों को त्रिकालज्ञ मानने वाले इतिहास की इस धारणा को स्वीकार नही करते, पन्तजी भी उन्ही मे से एक हैं।

अरविन्द ने भारतीय सस्कृति के मध्यकालीन रूप का तो विरोध किया है परन्तु वेद उपनिषद युग को वे आदर्श मान कर चले हैं। वेदों की व्याख्या कई प्रकार से हुई है। अरविन्द के अनुसार वेद प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं। किन्तु प्रतीकात्मक अर्थ स्वीकृत कर लेने पर हम किसी भी सम्प्रदाय के ग्रन्थ का अर्थ कुछ भी कर सकते हैं और इस प्रकार सदा के लिए उसकी ऐतिहासिक व्याख्या की जड़ काट देते हैं क्योंकि जहाँ शब्द, दृष्टान्त, इतिवृत्त शाश्वत सत्यों की ही व्यञ्जना करते हैं, किसी बाह्य जीवन की ओर संकेत नही करते तब हम उस साहित्य का सम्बन्ध समाज से कैसे दिखा सकते हैं? अत. अरविन्द व पन्त इतिहास विरोधी विचारक हैं और उनकी इतिहास-परक व्याख्याएँ इसीलिए काल्पनिक हैं।

इतिहास के अनुसार आर्य-सस्कृति भारत के मूल निवासियों के विजेता आर्यों की संस्कृति थी जिसमें अनार्यों व दस्युओं पर राज-नैतिक व सास्कृतिक विजय की गई। विजय का कारण आर्थिक था, दार्शनिक नहीं और वैदिक साहित्य मे इन जातियों के विरुद्ध घृणा की व्यञ्जना दार्शनिक नहीं, व्यावहारिक पद्धति पर की गई है। विजित जातियों में से, उत्पादन में सहायक दलों को शूद्र रूप में स्वीकार कर लिया गया और उनके धार्मिक विश्वासों को भी अथर्ववेद मे प्रत्यक्ष पद्धति पर तथा अन्य वेदों मे अप्रत्यक्ष रूप मे स्वीकार कर लिया गया।

विजित जातियों में 'टाटेम' उपासना प्रचलित थी। नाग, निषाद, शबर, कोल जिनके वंशज हैं उनके पूर्वज 'टाटेम' के उपासक थे। 'टाटेम' व 'टैबू' का सम्बन्ध जङ्गली जातियों के आर्थिक जीवन से था साथ ही अन्ध-विश्वास का भी उसमें हाथ था। टाटेम व टैबू के आधार पर इन कबीलों के यौन-सम्बन्ध, खान-पान तथा अन्य रीति-रिवाज बनते थे। भारत व बर्मा की सीमा पर बसी हुई खासी

राष्ट्रीयता, प्रान्तीयता, मनुष्य की छुद्रता, अभद्रता, तथा फ्रायडीय मनोविज्ञान आदि के विरोध की हम प्रशंसा करते हैं (यद्यपि कुत्सित समाजशास्त्रियो के अनुसार पन्तजी में केवल वासना का भवसागर ही है और कुछ नही) परन्तु साथ ही भारतीय संस्कृति की व्याख्या कर जनवादी सिद्धान्तों का विरोध उनकी आज की रचनाओं की मुख्य विशेषता वनती जा रही है। 'प्रसादजी' इस सम्बन्ध मे मौन रहते थे, स्वपक्ष का पूरी शक्ति से आकर्षक स्थापन ही वह परपक्ष के खण्डन के लिए आवश्यक मानते थे परन्तु पन्तजी अपने अन्तश्चेतनावाद के मिशन का धर्म यही समझते है कि एक ओर तो भारतीय संस्कृति के आधार पर अपने पक्ष का मण्डन करो तथा साथ ही जनवादी विचारधारा का विद्रूप भी करते चलो क्योंकि आजकल राष्ट्रीयता का युग है और पुनरुत्थानवाद अभी समाप्त नही हुआ है। (दिनकर की पुस्तक 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' इस पुनरुत्थानवाद का ही परिणाम है) अतः जिस युग म देश आत्मरक्षा व आत्मनिर्माण में लगता है उस समय इतना कह देने से ही काम चल जायगा कि हम विदेशी विचारधारा को कैसे स्वीकार कर सकते हैं। जिनके पूर्वजों ने ज्ञान को कभी विदेशी नही माना उनकी कांग्रेसी सन्तान अपने पूर्वजों की परम्परा के विरुद्ध जाकर भी यह समझती है कि हम भारतीय सस्कृति के अनुसार ही यह कार्य कर रहे हैं। ज्ञान को हमारे यहाँ अखण्ड व सार्वभौमिक माना गया है। उसका यही अर्थ है कि देश, जाति, रङ्ग आदि में उसे सीमित नही माना जा सकता परन्तु पन्तजी अपील करते हैं कि मध्य-वर्ग पर विदेशी चिन्तन का प्रभाव है इसीलिए वे भौतिकवाद के दलदल में ग्रस्त हो गए है। भारतीय सस्कृति के तपः पूत मुखमण्डल को नहीं देखते। हमारा पक्ष यह है कि हम भारतीय सस्कृति के तप. पूत मुख-मण्डल को भी देखते हैं परन्तु हमारे बुजुर्ग कभी गलती नही करते थे, यह मान लेने को हम तैयार नही हैं और यही पन्त, प्रसाद आदि आदर्शवादी कवियों की सास्कृतिक व्याख्याओं का हमे विरोध करना पड़ता है।

सस्कृति की वैज्ञानिक व्याख्या समाजशास्त्र व इतिहास के द्वारा ही सम्भव है क्योकि सस्कृति—काव्य, साहित्य, दर्शन आदि युग-विशेष व व्यवस्था विशेष की उपज हैं। संस्कृति का जन्म शून्य से नही

होता। उसके पीछे एक सामाजिक व्यवस्था होती है जो चिन्तन-प्रक्रिया को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया करती है। पूर्वजों को त्रिकालज्ञ मानने वाले इतिहास की इस धारणा को स्वीकार नहीं करते, पन्तजी भी उन्हीं में से एक हैं।

अरविन्द ने भारतीय संस्कृति के मध्यकालीन रूप का तो विरोध किया है परन्तु वेद उपनिषद युग को वे आदर्श मान कर चले हैं। वेदों की व्याख्या कई प्रकार से हुई है। अरविन्द के अनुसार वेद प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं। किन्तु प्रतीकात्मक अर्थ स्वीकृत कर लेने पर हम किसी भी सम्प्रदाय के ग्रन्थ का अर्थ कुछ भी कर सकते हैं और इस प्रकार सदा के लिए उसकी ऐतिहासिक व्याख्या की जड़ काट देते हैं क्योंकि जहाँ शब्द, दृष्टान्त, इतिवृत्त शाश्वत सत्यों की ही व्यञ्जना करते हैं, किसी बाह्य जीवन की ओर संकेत नहीं करते तब हम उस साहित्य का सम्बन्ध समाज से कैसे दिखा सकते हैं? अत. अरविन्द व पन्त इतिहास विरोधी विचारक हैं और उनकी इतिहास-परक व्याख्याएँ इसीलिए काल्पनिक हैं।

इतिहास के अनुसार आर्य-संस्कृति भारत के मूल निवासियों के विजेता आर्यों की संस्कृति थी जिससे अनार्यों व दस्युओं पर राजनैतिक व सांस्कृतिक विजय की गई। विजय का कारण आर्थिक था, दार्शनिक नहीं और वैदिक साहित्य में इन जातियों के विरुद्ध घृणा की व्यञ्जना दार्शनिक नहीं, व्यावहारिक पद्धति पर की गई है। विजित जातियों में से, उत्पादन में सहायक दलों को शूद्र रूप में स्वीकार कर लिया गया और उनके धार्मिक विश्वासों को भी अथर्ववेद में प्रत्यक्ष पद्धति पर तथा अन्य वेदों में अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार कर लिया गया।

विजित जातियों में 'टाटेम' उपासना प्रचलित थी। नाग, निषाद, शबर, कोल जिनके वंशज हैं उनके पूर्वज 'टाटेम' के उपासक थे। 'टाटेम' व 'टैबू' का सम्बन्ध जङ्गली जातियों के आर्थिक जीवन से था, साथ ही अन्ध विश्वास का भी उसमें हाथ था। टाटेम व टैबू के आधार पर इन कबीलों के यौन-सम्बन्ध, खान-पान तथा अन्य रीति-रिवाज बनते थे। भारत व बर्मा की सीमा पर बसी हुई खासी

जातियों में आज भी हम इन प्रवृत्तियों को देख सकते हैं।[1]

इसी टाटेम उपासना को कालान्तर में पौराणिक मतों में स्वीकार कर लिया गया[2]। आवागमन के सिद्धान्त की खोज आर्यों ने अंतश्चेतना के द्वारा नही की, मूल निवासियों से उधार लिया था।[3] और इन सिद्धांतों की उपज शुद्ध व्यावहारिक जीवन के संदर्भ मे हुई थी। जातियों की अतर्भुक्ति तथा आर्य-वृत्त से बाहर के जन-समूह को एक ही व्यवस्था में लाने के लिए शूद्र-सिद्धांत को स्वीकार किया गया और विशाल जन-समूह के विभिन्न वर्गों को देखकर विराट की कल्पना हुई।

अरविन्द के अनुसार वेदों मे आंतरिक साधना मुख्य थी, ऊर्ध्व-चेतन वैदिक युग में साक्षात्कृत हो चुका था। वैदिक युग अरविन्द के अनुसार बुद्धिवादी युग न था, वह अंतर्चेतनावादी युग था, जिसमें सत्य का साक्षात्कार बुद्धि द्वारा नही होता था। इतिहास के अनुसार यह कल्पना गलत है। यह ठीक है कि रहस्य-साधना से सम्बन्धित कुछ मंत्र मिलते हैं उनमें ऊर्ध्व-चेतन का ज्ञान भले ही वैदिकों को हो गया हो, यद्यपि इसे प्रमाणित नही किया जा सकता, तथापि अधिकतर मत्रों के अनुसार विजेता आर्य जाति का व्यावहारिक जीवन ही वेदों मे व्यक्त हुआ है तथा प्रकृति के सहायक पदार्थों की विह्वल उपासनाएँ वेदों में सग्रहीत हैं। विजेता जाति के सभी गुण वेदों में सुरक्षित हैं। वे पुरुषार्थ, भोग, विजय, शत्रुनाश मे विश्वास करते हैं और इसके लिए देवताओं से प्रार्थना भी करते हैं।

---

[1] देखिए Studies in Ancient Greek society
—George Thomson

[2] The Submerged totemism of the Proto-Australoids possibly was the oldest and most powerful source of influence The vedic Age. Volu I, Page 163 (Bhartiya Itihas Samiti)

[3] Some notions of future life (survival of the soul after death, and the germs of the idea of transmigration appear to have come from the same source (from Austric-Speaking proto-Australoid people) —The Vedic Age, page 150

यज्ञ के सूक्ष्म प्रतीकात्मक अर्थ तो बाद मे पेशेवर ब्राह्मणों ने किए किन्तु वैदिक युग मे यज्ञों को रहस्य साधना के अर्थों मे नहीं लिया गया था।

जाति को संगठित रखने, अन्न व धन का समान वितरण करने, देवताओं को प्रसन्न करने तथा आनन्द मनाने के लिए यज्ञ होते थे, ऊर्ध्व-चेतन की प्राप्ति के लिए नहीं—

As the Rigvedic Aryans were full of the *Joie de vivre* they were not particulary interested in the life after death, much less had they any special doctrine about it We can therefore glean only a a few notices of the life beyond, that are scattered throughout the Rigveda

—The Vedic Volu I, Page 382

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वैदिक युग के आर्यों को दार्शनिकता मे बहुत कम व मूल निवासियों की लूट खसोट, उन्हे दास बनाने, उनके दुर्ग व धन को छीनने और सोम रस पीकर रथ दौडाने, युद्ध करने व यज्ञ करने में अधिक आनन्द आता था परन्तु अपने पूर्वजों का यह रूप देखकर जनता में अश्रद्धा न जग जाए इसलिए दार्शनिकता का चोला पहनाना पीछे के चिंतकों के लिए आवश्यक होगया। दार्शनिकता यथार्थ को कुहासे मे लपेटने का कार्य सदा मे करती आई है, उसके आधार पर भारतीय सस्कृति की व्याख्या नहीं हो सकती। इतिहास स्पष्ट घोपणा करता है—

On the whole a very optimistic outlook on life is revealed in the hymns of the Rigveda the joys and pleasures of this world interest them deeply Thus the Rigveda is full of prayers for long life, freedom from desease, heroic progeny, wealth, power, abundance of food and drink, the defeat of rivals, etc There is no trace of pessimism in the thought of the Rigvedic Sages Whether life was a reality or illusion, substance or shadow

they want to enjoy it to the full They do not seem to subscribe to the doctrine that life is a misry, which can only be ended by eradicating desire or Vasana, the cause of the ever recurring cycle of births and deaths—a doctrine developed later by Buddhists and found in the Vedanta The religious thought, therefore betrays a practical Streek. The worship of the powers of Nature is Sincere but utilitarian

अर्थात् ऋग्वेद के मन्त्रों मे आर्यों का दृष्टिकोण आशावादी है। जीवन के आनन्दों में वे दिलचस्पी लेते हैं। ऋग्वेद में दीर्घ जीवन, रोग से बचने, वीर सन्तान, धन, शक्ति, अनापशनाप भोजन व सोम (सुरा), शत्रु की पराजय के लिए प्रार्थनाएँ हैं। यहाँ निराशावाद नही है। जीवन चाहे सत्य हो या भ्रम, आर्य उसका भोग करना चाहते हैं। जीवन को वे दुःखमय नही मानते जैसा कि आगे चलकर बौद्ध व वेदान्ती मानते हैं और जिनके अनुसार दु ख का नाश इच्छा या वासना के नाश से ही सम्भव है। इच्छा ही बौद्धों व वेदान्तियों के अनुसार आवागमन का कारण है। इसी बौद्ध-वेदान्त सिद्धान्त से व्यावहारिक जीवन की उपेक्षा होने लगी। वेद में प्रकृति पूजा सच्चाई के साथ उपयोगिता की दृष्टि से की गई है।

जब आर्यों ने श्रम के विभाजन को दैवी सिद्ध कर दिया और 'विराट' के रूप में समाज की कल्पना कर उसे सदा के लिए चार भागों में बाँट दिया तो यह स्वाभाविक था कि "कर्म के सिद्धांत" की कल्पना की जाती क्योंकि इसी सिद्धांत से, जो जिस वर्ण में उत्पन्न हुआ है उसे उसी में रहना चाहिए, वैसा ही कार्य करना चाहिए, इस भावना की रक्षा की जा सकती थी। जीवन में भी हम बुरे कार्य का परिणाम बुरा व भले का परिणाम भला पाते हैं अत कर्म सिद्धांत व्यवहार से भी पुष्ट होता है इस प्रकार वर्णवाद की रक्षा के लिए कर्मवाद मानना पड़ा। परन्तु फिर भी जगत में देखा जाता है कि कुछ को कर्मों का दण्ड मिलता है, कुछ पाप करने पर भी मौज करते हैं, कुछ लोग कुछ भी न करने पर आनन्द से रहते हैं, सहसा ही वैभव या यश पा जाते हैं, इसका भी समाधान हो जाना चाहिए इसके

लिए "आवागमन" का सिद्धांत स्वीकार किया गया। जिसे इस जन्म में नहीं मिला, उसे फिर मिलेगा, परन्तु पुण्य या पाप उस जन्म तक कैसे पहुँचे, इसके लिए आत्मा के सिद्धांत को मानना पड़ा क्योंकि शरीर तो यहीं रह जाता है, तब जन्म किसका होता है, इस जन्म के संस्कार स्वतः उस जन्म तक कैसे पहुँच सकते हैं, अतः 'आत्मा' की सत्ता माननी पड़ी, अन्यथा कर्मवाद व आवागमनवाद असंगत हो जाते। इस प्रकार शुद्ध व्यावहारिक जीवन की समस्याओं ने कर्मवाद आवागमनवाद, आत्मवाद की कल्पनाओं के लिए मार्ग प्रशस्त किया। समाज के प्रश्नों को इसी प्रकार समझाया जा सकता था। इनसे सभी अपना-अपना कर्म दण्ड भोग रहे हैं, अत' आध्यात्मिक शांति की खोज ही जीवन का उद्देश्य है। भौतिक जीवन तो पूर्व जन्म के कर्म के अनुसार निश्चित है, उसमें परिवर्तन असम्भव है, अगले जन्म में यह दुःख न रहे, यही इस जन्म का लक्ष्य है, यही चिन्तन प्रधान हो गया। परन्तु अरविन्द के अनुसार ये सिद्धांत "सुपरमाइन्ड" से स्वतः ब्रह्म की प्रेरणा से टपक पड़े, और पन्त उसे आँख मूँदकर स्वीकार करते हैं।

यह तो आर्य-संस्कृति का रूप अपने वृत्त के भीतर रहा। श्रम-विभाजन के लिए चातुर्वर्ण्य व अनेक जातियों व वर्गों के बीच एकता खोजने के लिए बाद मे आर्यों ने देवताओं के पीछे एक सत्ता की खोज की। यहाँ भी व्यावहारिक जगत चिन्तन को प्रेरित कर रहा था। आर्य जिधर देखते थे, उधर विभिन्नताएँ व विविधताएँ ही दृष्टिगोचर होती थी। अत एकता का सूत्र खोजते-खोजते 'एकसत्तावाद' की कल्पना की गई जिसका विकास उपनिषदों मे हुआ।

यज्ञ, देवता, ईश्वर, आत्मा, वर्णवाद, राजा, सम्राट आदि तत्त्वों की प्रमुखता को लेकर आर्य संस्कृति का विस्तार होने लगा। किन्तु साथ ही अन्य जातियों के सिद्धान्तों को भी वह इस प्रकार अपनाती गई जिसमें मुख्य रग तो अपना रहे किन्तु अन्य जातियों के कुछ तत्त्व अपना लेने पर उन्हें आर्य संस्कृति के स्वीकार कर लेने में अड़चन न हो। नए देवताओं की कल्पना का मूल-निवासियों की कल्पना पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यथा शैव-साधना को आर्यों ने अपनी लपेट में ले लिया। आर्य संस्कृति के विकास का केन्द्र मध्य देश रहा जहाँ वेदों का अधिकांश भाग रचा गया था।

मध्यदेश की इस संस्कृति के विरुद्ध इस देश से दूर पड़ जाने अथवा सम्भवतः प्रथम प्रवाह में आने वाले आर्यों ने विद्रोह किया। इन्हे "व्रात्य" कहा जाता था और संस्कारों के बाद, आर्य अपनी संस्कृति में व्रात्यों को भी ग्रहण कर लेते थे । उपनिषदों का चिंतन वैयक्तिक रूप से चलता रहा, वह न तो यज्ञों की हिंसा को ही मिटा सका, न जाति की कठोरता को, न जन-सामान्य के लिए आर्यों के पास कोई धर्म रह गया था अतः शासक व उच्च वर्ग के द्वारा पोषित यज्ञवाद तथा आत्मा ब्रह्म के द्वन्द्वों में ग्रस्त परिव्राजकों के ब्रह्म-वाद के विरुद्ध व्रात्यों ने विद्रोह किया। ब्राह्मणों ने अब तक समाज में अपने बौद्धिक चमत्कार से शीर्ष स्थान प्राप्त कर लिया था, जो कथन व कर्त्तव्य में सर्वदा अंतर मानकर चलते थे। आत्मा व ब्रह्म की एकता की घोषणा करने पर भी व्यवहार में आर्य वर्ण व जातिवाद का कठोरता से पालन करते थे क्योंकि ब्राह्मण-युग से उपनिषद युग तक आते-आते चिन्तन का कार्य सुविधा भोगी वर्ग के हाथ में आ चुका था जिसका जीवन के व्यावहारिक पक्ष से लगाव न था । अतः क्रिया व विचार समानान्तर रेखाओं में दौड़ने लगे। फलतः विचार के क्षेत्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पनाएँ की गईं परन्तु समाज वर्णों व वर्गों की पीड़ा से कसकता रहा[1]। उपनिषद युग विचार के अलगाव को चरम सीमा को प्रकट करता है जिसमें विचार अपनी सूक्ष्मता की उच्चतम सीमा पर दिखाई देता है, और व्यवहार अपने निम्नतम स्तर पर। बुद्धिवादी वर्ग ने अपने को पूर्णतया समाज के कार्यों से पृथक कर लिया और जितने ही वे उससे दूर रहते थे, अपने जीवन की उपेक्षा करते थे, अत्याचारों की उपेक्षा करते थे, उतने ही उच्च वर्ग के मुखिया उनका आदर करते थे। जनता ने उनके ज्ञान की बारीकी को देखकर उन्हे वस्तुतः महिदेव स्वीकार कर लिया अतः देवों व महिदेवों की इस संस्कृति के विरुद्ध गौतम व महावीर ने विद्रोह किया जो गणतन्त्रों के विचारक थे, और आर्य संस्कृति से पर्याप्त दूर जा पड़े थे, इसीलिए बहुत से विद्वान उन्हे "व्रात्य" मानते हैं।

व्रात्य भी ब्राह्मणों व क्षत्रियों की तरह मेधावी थे । उन्होंने

---

[1]उपनिषद युग में स्वय याज्ञवल्क्य अपनी दोनों पत्नियों में अचल सम्पत्ति के साथ चल सम्पत्ति के रूप में दासों का भी वितरण करता है।

ब्राह्मणवादी क्षत्रियों व ब्राह्मणों के ब्रह्मवाद, यज्ञवाद, जातिवाद, वर्णवाद, वेदवाद सभी को चुनौती दी। समाज के दुःख से गौतम विचलित हो उठे थे, यही पहला दार्शनिक था जिसने विश्व को दुःखमय माना। प्रमोदवादी आर्यों के वर्णवाद, जातिवाद, राज्यसत्तावाद, तथा कठोर ब्राह्मणवाद ने समाज में विषम वर्गों को काफी ऊँचा पहुँचा दिया था और भोक्ता वर्ग ने नाना सिद्धांतों से दुःखी जनता को आवागमन व आत्मवाद से संतुष्ट कर रखा था परन्तु न तो "सोऽहं सोऽहं" की रट से मनुष्य का दुःख दूर हो सकता था, न यज्ञों में बकरे काटने से और न जगत को छोड़ देने से। जीवन में एक अजब विरोधाभास आगया था परन्तु सारे विरोधों में सामञ्जस्य खोजनेवाली ब्राह्मणवादी प्रतिभा के लिए यह कुछ भी न था क्योंकि उसके लिए यह सब जो कुछ भी है, वह सब पहले से ही निश्चित है। तब असन्तोष कैसा? [1] समाज के अंतर्विरोधों को मिटाने का प्रयत्न ब्राह्मणों ने कभी नहीं किया वे केवल दार्शनिक समाधान खोजने में तल्लीन रहते थे।

इन सब में जो कमी रह गई थी, वह "मुक्ति" की कल्पना से पूर्ण हो गई। मुक्ति की कल्पना बडी ही मनोहर थी, इसने सभी वर्णों व वर्गों को मोह लिया, मुक्ति की चाह में मुक्ति तो मिली नहीं, इस जीवन के बन्धनों को केवल संन्यास द्वारा

---

[1] It is needless to point out that all these theories of Karma, transmigration of the soul, and heaven and hell are not proved by logic or by reason They were mere speculations to satisfy the curiosity of the primitive mind, to satisfy the vanity of the priestly class and to preserve society against disruptive forces. The Brahmans wanted others take these as divine mandates, wanted the people to regard the authority of the Vedas as absolutely unquestionable and the existence of God as a matter fully established.

An introduction to Buddhist Esoterism — by B. Bhatta charyya, Page 7.

छोड़ने की प्रथा चल पड़ी और जीवन व समाज को अधिक से अधिक अच्छा बनाने की उपेक्षा होती गई। भारतीय संस्कृति का यह रूप कितना उच्च और कितना दुर्बल है जिसमें अमरता की तलाश मे जीवन बराबर तृषा से तड़पता रहा। कुछ विचारकों ने संतुलन भी लाना चाहा परन्तु मुख्य प्रवृत्ति वैयक्तिक साधनाओं द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की हो गई अत. एक ओर तो विचारकों के जीवन में महानतम गुणों की कल्पना दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर क्रिया में कथन की महत्ता लुप्त हो जाती है। यह अंतर्विरोध उपनिषद् युग तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था अतः व्रात्यों के विद्रोह के रूप में जैसे आर्य संस्कृति के अंतर्विरोधों का ही विस्फोट हुआ था।

गौतम व महावीर चूँकि उच्च वंश व उच्च वर्ग के विचारक थे तथा समाजशास्त्र से अपरिचित थे अतः आत्मा, ब्रह्म, यज्ञ, वेद, ब्राह्मण व राज्य सत्तावाद का विरोध करने पर भी यह स्वीकार न कर सके कि आवागमन व कर्म के सिद्धांत कोरी कल्पनाएँ हैं और तत्कालीन व्यवस्था को न समझ पाने के कारण मन समझाने के रूप में उत्पन्न हुई हैं। अतः जीवन के दुःखों से 'पीड़ित होकर भी उन्होंने सन्यास आवागमन व कर्म के सिद्धांतों को वैसे का वैसा ही स्वीकार कर लिया, फलतः समाज के उत्पादक वर्ग की समस्या को सदा के लिए छोड़ दिया गया। संघों की स्थापना केवल वैयक्तिक साधना द्वारा वैयक्तिक मुक्ति पाने के लिए ही की गई। गौतम व महावीर ने रक्ताभिमानी गण-तन्त्रों की व्यवस्था को आदर्श मानकर उसी पैटर्न पर संघों की स्थापना की। अतः बौद्ध व जैन पौरोहित्य ब्राह्मण पौरोहित्य के समानान्तर खड़ा हो गया जो परस्पर प्रभाव वृद्धि के लिए विभिन्न कुचक्रों में तल्लीन होगया। चिन्तन व क्रिया में यहाँ भी वैसा ही अन्तर रहा। अत' कठोर साधनाओं व ऊँचे आदर्शों के कारण धनी वर्ग ने बौद्ध पौरोहित्य को उसी प्रकार पोषित किया जिस प्रकार ब्राह्मण पौरोहित्य को अपनी सुविधा के लिए क्षत्रिय राजाओं ने पोषित किया था। क्षत्रिय व ब्राह्मण दोनों शासक वर्ग के दल थे और दोनों को उसी प्रकार एक दूसरे की आवश्यकता बराबर बनी रही जिस प्रकार वैश्यों को बौद्धों की आवश्यकता बनी रही। ब्राह्मण राजाओं पर तभी क्रोधित होते थे जब राजा रक्षा व ब्राह्मणों के धर्म के संरक्षण मे असफल सिद्ध

होता था अन्यथा राजा को विलास, वैभव, शोषण, अत्याचार व कुछ भी करने की छूट थी। उधर बौद्धों के आवागमन व कर्मवाद से गणतन्त्रों के उत्पादक व दास वर्ग पर वैश्यों व उच्च वंश के क्षत्रिय शासकों का पूरा पूरा आधिपत्य रह सकता था, क्योंकि कर्मवाद को न मानने का अर्थ उत्पादक वर्ग में असन्तोष का सृजन होता जो किसी को भी इष्ट न था अत. वैयक्तिक मुक्ति के लिए बौद्धों व जैनियों ने कठोर से कठोर साधनाएँ कीं और जाति-प्रथा व यज्ञवाद से पीड़ित जनता को वहाँ अधिक उदारता दिखाई पड़ने के कारण कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि विषमतावादी ब्राह्मणधर्म सर्वदा के लिए नष्ट हो जायगा।

परन्तु ब्रह्मणधर्म का संन्यासवाद अधिक व्यावहारिक था। आश्रम व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण-धर्म में गृहस्थ-धर्म के निर्वाह पर भी जोर दिया गया था अतः उसमें संतुलन रह सकता था। शताब्दियों तक एक ही साथ रह कर बौद्ध मठों में भिक्षु-भिक्षुणियों में संयम नही रह सका और देश तान्त्रिक साधनाओं में डूब गया। जैनी किसी प्रकार अपनी कठोरता के बल पर अपने को बचा ले गये। ब्राह्मणों के विरुद्ध सङ्गठित बौद्धधर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त होकर बिखर गया उधर स्वयं ब्राह्मण-धर्म ने आत्मरक्षा के लिए अपना नया चोला बदला और वह प्राचीन वैदिक धर्म के स्थान पर वैष्णवधर्म के रूप में अधिक उदारता का समावेश कर हिन्दू राजाओं व जनता पर अपना प्रभाव जमाने में सफल हो गया।

भारत में एक बार राज्यसत्तावाद आकर अचल हो गया, कृषि-व्यवस्था शताब्दियों तक एक और अखण्ड रही अतः व्यवस्था में परिवर्तन न होने से धार्मिक सङ्गठन बनते बिगड़ते रहे, आक्रमण होते रहे, अन्य थोड़े बहुत परिवर्तन होते रहे परन्तु समाज में धर्म क्रान्तिकारी परिवर्तन न ला सका। अतः शिथिल व गतिहीन समाज में बारीक सिद्धान्तों का ऊहापोह चलता रहा और सुधारवादी प्रवृत्तियों के बल पर कभी कोई सम्प्रदाय अपना प्रभाव बढा लेता कभी कोई। बौद्धों के बाद अँगरेजों के आने के पूर्व तक सम्प्रदायों व सिद्धान्तों का यही ऊहापोह होता रहा। नई योरोपीय शिक्षा के आने के पश्चात् इसी साम्प्रदायिक ऊहापोह को पश्चिमी सभ्यता के सम्मुख अपने अस्तित्व की रक्षा के प्रयत्न में शाश्वत मान लिया गया और अपनी

श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का यही एक मार्ग रह गया कि हमारे पूर्वजों ने कितना बारीकी से सोचा था।

अरविन्दवाद भी इसी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के प्रतिपादन का एक प्रयत्न था और चूँकि वह प्रवृत्ति अब भी चल रही है क्योंकि राजनीति, विज्ञान, शिक्षा व समझ में पिछड़े होने के कारण योरोप के लोग जब हमें हीन समझते हैं तब हम केवल इसी 'भारतीय संस्कृति' के सहारे अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित कर सकते हैं।

वैयक्तिक मुक्ति के लिए जिस आध्यात्मिक पद्धति की खोज यहाँ की गई, उसकी सिद्धि के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्क प्रणाली का यहाँ विकास हुआ। जगत, जीव, ईश्वर के सम्बन्ध मे जिस प्रतिभा का परिचय दिया गया, वह निश्चित रूप से चमत्कारक है। शताब्दियों तक भारत ने इसी वैयक्तिक साधना का अभ्यास किया और उस साधना के प्रचार के लिए विपुल साहित्य की रचना में वह निमग्न रहा। राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पत्ति की दृष्टि से इस सबका मूल्य है और उसका अनुशीलन भी आवश्यक है क्योंकि वह मेधावी विद्वानों व विचारकों का सञ्चित ज्ञान-कोष है परन्तु वह मेधा गतानुगतिकता से सदा पीड़ित रही, जो कह दिया गया सर्वदा उसी की रक्षा के लिए नाना तर्क-पद्धतियों का आविष्कार होता रहा। भारत में साहसी विचारक इसीलिए उत्पन्न नही हुए। स्थिर सामाजिक व्यवस्था में एक बार स्थापित सत्यों को त्रिकाल के लिए स्वीकार कर लिया गया। नवीन युग में भी जब कि हम पूर्वजों के कृतित्व को तटस्थ दृष्टि से देख सकने के योग्य हो गए हैं, जब हम एक विचार की उसकी सारी पृष्ठभूमियों के साथ परीक्षा कर सकते हैं, तब भी कर्मवाद, आवागमनवाद, ब्रह्मवाद, आत्मवाद आदि सिद्धान्तों को आदर्शवादी सनातन कह कर स्वीकार करा लेने पर तुले हुए हैं यद्यपि हम उनकी स्वीकृति के परिणामों की कहानी भी इतिहास मे पढ़ चुके हैं।

सत्य के निर्णय के लिए बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी कारण को यदि स्वीकार किया जायगा तो उसके परिणाम भयावह होंगे। क्योंकि हम कह चुके हैं कि मनुष्य की आस्था, श्रद्धा व अंतर्चेतना व्यक्तिगत हो सकती है, वह रुचि, इच्छा व विश्वास की वस्तु है परन्तु किसी भी सिद्धांत की परीक्षा व्यवहार के द्वारा ही हो सकती है और यह परीक्षा केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकती है। अत. भारतीय

संस्कृति का अनुशीलन आस्था द्वारा नहीं बुद्धि द्वारा ही होना चाहिए अन्यथा विभिन्न संस्कृतियों के विभिन्न विश्वासी कभी भी किसी एक मत पर नहीं पहुँच सकते। बुद्धि से सोचने पर जो निर्णय मिलेंगे, वे निश्चय ही पन्त—अरविन्द दर्शन के विपरीत होंगे। (मैंने इसीलिए भारतीय संस्कृति के विकास का अति संक्षिप्त चित्र देने का ऊपर प्रयत्न किया है।)

श्रद्धा का स्वभाव है कि वह दूसरों के द्वारा भी अपने प्रिय सिद्धान्त पर श्रद्धा चाहती है, और उसके लिए युगानुसार नई तर्क-पद्धति गढ़ती है। उपनिषद् की अनुभूतियों की प्रामाणिकता के लिए वेदान्त-सूत्रों ने एक नई तर्क-पद्धति अपनाई तो पीछे के दार्शनिकों ने अपने-अपने युग की मानसिकता के अनुसार भिन्न-भिन्न तर्क-पद्धतियाँ स्वीकार की। शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क सभी मत अपनी ही तर्क-पद्धति को ठीक मानते हैं और यह कभी निश्चित नहीं हो पाया कि वेद व उपनिषदों का निश्चित मत क्या है। अरविन्द की तर्क-पद्धति अपनी है, उन्होंने देखा कि इस युग में विचार व व्यवहार के अन्तर को पसन्द नही किया जाता। तर्क पतले से पतला हो परन्तु यदि वह व्यवहार के विरुद्ध पड़ता है तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञान की सच्चाई क्रिया है, कोरा वितण्डावाद नहीं। अरविन्द ने सोचा कि इस मानसिकता (Mentality) का सारा आधार बुद्धि है, तो उन्होंने बुद्धि को ज्ञान का साधन मानने से ही इन्कार कर दिया और भारतीय संस्कृति को समझने के लिए 'अन्तर्चेतना' को सहायक माना।

वैयक्तिक योग-साधना अनुभूति की वस्तु है उससे मनुष्य की मनोवैज्ञानिक उन्नति हो सकती है परन्तु वैयक्तिक साधनाएँ पागे की खत्ती के समान होती हैं, उनमें डूब मरने पर व्यवहार की उपेक्षा अवश्य होगी और व्यवहार की उपेक्षा का परिणाम समाज पर पड़ेगा। जब स्वयं अरविन्द विचार व व्यवहार में सन्तुलन न रख सके तो साधारण जन कैसे रख सकते हैं। अतः इस प्रकार की साधनाओं से अन्धविश्वास को ही प्रश्रय मिलता है, और सन्तुलन रखना असम्भव हो जाता है। अत. भारतीय संस्कृति के इसी अंश को सर्वस्व मान लेने पर जोर देना अन्याय है। इतिहास से शिक्षा लेना ही संस्कृत होने का प्रथम लक्षण है।

श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का यही एक मार्ग रह गया कि हमारे पूर्वजों ने कितना बारीकी से सोचा था।

अरविन्दवाद भी इसी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के प्रतिपादन का एक प्रयत्न था और चूँकि वह प्रवृत्ति अब भी चल रही है क्योंकि राज-नीति, विज्ञान, शिक्षा व समझ मे पिछड़े होने के कारण योरोप के लोग जब हमें हीन समझते हैं तब हम केवल इसी 'भारतीय संस्कृति' के सहारे अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित कर सकते हैं।

वैयक्तिक मुक्ति के लिए जिस आध्यात्मिक पद्धति की खोज यहाँ की गई, उसकी सिद्धि के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्क प्रणाली का यहाँ विकास हुआ। जगत, जीव, ईश्वर के सम्बन्ध में जिस प्रतिभा का परि-चय दिया गया, वह निश्चित रूप से चमत्कारक है। शताब्दियों तक भारत ने इसी वैयक्तिक साधना का अभ्यास किया और उस साधना के प्रचार के लिए विपुल साहित्य की रचना में वह निमग्न रहा। राष्ट्र की सांस्कृतिक सम्पत्ति की दृष्टि से इस सबका मूल्य है और उसका अनुशीलन भी आवश्यक है क्योंकि वह मेधावी विद्वानों व विचारकों का सञ्चित ज्ञान-कोष है परन्तु वह मेधा गतानुगतिकता से सदा पीड़ित रही, जो कह दिया गया सर्वदा उसी की रक्षा के लिए नाना तर्क-पद्धतियों का आविष्कार होता रहा। भारत में साहसी विचारक इसीलिए उत्पन्न नही हुए। स्थिर सामाजिक व्यवस्था में एक बार स्थापित सत्यों को त्रिकाल के लिए स्वीकार कर लिया गया। नवीन युग मे भी जब कि हम पूर्वजों के कृतित्व को तटस्थ दृष्टि से देख सकने के योग्य हो गए हैं, जब हम एक विचार की उसकी सारी पृष्ठभूमियों के साथ परीक्षा कर सकते हैं, तब भी कर्मवाद, आवागमन-वाद, ब्रह्मवाद, आत्मवाद आदि सिद्धान्तों को आदर्शवादी सनातन कह कर स्वीकार करा लेने पर तुले हुए हैं यद्यपि हम उनकी स्वीकृति के परिणामों की कहानी भी इतिहास मे पढ़ चुके हैं।

सत्य के निर्णय के लिए बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी कारण को यदि स्वीकार किया जायगा तो उसके परिणाम भयावह होंगे। क्योंकि हम कह चुके हैं कि मनुष्य की आस्था, श्रद्धा व अंत-र्चेतना व्यक्तिगत हो सकती है, वह रुचि, इच्छा व विश्वास की वस्तु है परन्तु किसी भी सिद्धांत की परीक्षा व्यवहार के द्वारा ही हो सकती है और यह परीक्षा केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकती है। अत. भारतीय

रक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी भर स्वार्थी लोगों का विश्वव्यापी षड्यन्त्र चल रहा है, तब आत्मा व योगसाधना के उपदेश उसकी आत्मरक्षा की शक्ति को कुण्ठित करने के लिए अचूक बाण का ही काम करेंगे अतः भारतीय संस्कृति के उस उज्ज्वल अंश को सामने रखिए जो मनुष्य जीवन को स्वस्थ, सुन्दर, सबल और सन्तुलित बना सके, जिसके अनुशीलन से मनुष्य में परिस्थितियों पर विजय की दुर्दमनीय आकांक्षा जागृत हो उठे और युग-युगों से पीडित जनता को मुक्ति की साँस मिल सके। भारतीय व्यक्ति ने सब कुछ करके देख लिया है उसने श्वास चढ़ा कर त्रिकुटी में ध्यान स्थित कर युग गुजार दिये हैं, उसने नाना चक्रों को भेदकर अमृत रस का पान करना सीखा है और अनहद नाद सुना है, उसने छापा, तिलक, कण्ठी पहन कर कीर्तन करते हुए और नृत्य करते हुए न जाने कितनी रातें गुजार दी हैं और न वह खुद सोया है न पड़ोसियों को सोने दिया है, उसने खोपड़ियों में रक्त भरकर जलती हुई चिताओं के सम्मुख नग्न खड़े होकर सुरापान किया है, उसने वामाओं, ललनाओं और अवधूतियों की अनवरत रूप से योनि-पूजा कर महासुख का आनन्द लिया है, उसने काशी में "करवट" ले-ले कर हँसते-हँसते प्राण छोड़े हैं, उसने अपने शरीर को कितनी यातनाएँ देकर नही देख लिया परन्तु वह मुक्त नही हो सका, मनुष्य समाज का दुःख दूर नही हो सका, तब कौन सी ऐसी साधना है जो करने को रह गई है? यह साधना लोक साधना है, लोक के आगे अपने व्यक्तित्व का विलयन, अब यही साधना शेष है। लोक-सङ्गठन, बस यही एक मार्ग अवशेष है, सङ्गठित जीवन ही मुक्ति का द्वार है, अकेले रह कर महान मे महान साधना हमें मुक्त नहीं कर सकती।

अब सङ्गठित होने का समय है और भारतीय संस्कृति का व्यक्तिवादी पक्ष इसमें बाधक है क्योंकि वह हमें पलायनवाद का पाठ पढ़ाता है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन साधकों की परम्परा का वैसा ही रूप अब नहीं चल सकता। हम तो उस अरविन्द को चाहते हैं जो जनता को सङ्गठित करता था, वह नहीं जो अनेक वर्षों तक कोठरी में बन्द हो गया था। अरविन्द ने तो साहित्य-सृजन फिर भी किया, अन्य योगी तो उससे भी विरत रहते हैं क्योंकि रहस्य का प्रकाशन उनके यहाँ अक्षम्य है। इस मूर्खता से भारतीय संस्कृति व साहित्य की कितनी

जब कोई राष्ट्र शताब्दियों तक अनेक प्रकार के विचारों, अनुभूतियों तथा घटनाओं से होकर गुजरता है तो उसमें कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, कुछ सिद्धान्तों का जन्म हो जाता है क्योंकि परस्पर टकराते हुए विचार कहीं न कहीं समझौता खोज ही लेते हैं, नाना परिस्थितियों में गुजर कर मनुष्य कुछ बातों की वांछनीयता के विषय में आश्वस्त हो जाता है, उसके विषय मे किसी को कोई विरोध नहीं रह जाता, ऐसी ही सामान्य विशेषताओं व गुणों के पुञ्जीभूत रूप को उस देश की संस्कृति कहा जाना चाहिए। संस्कृति के लिए सर्वस्वीकृति आवश्यक है, अन्यथा भारतीय संस्कृति शब्द का उच्चारण करते समय अनेक सम्प्रदाय व मत सामने आकर खड़े हो जाते हैं।

आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का मूलाधार है, यह ठीक है किन्तु आध्यात्मिकता ने समाज को हानि भी कुछ कम नहीं पहुँचाई। और आध्यात्मिकता के लिए ईश्वर व आत्मा पर विश्वास अनिवार्य भी नही, क्योंकि बौद्धमत इन दोनों को नही मानता अतः आध्यात्मिकता का अर्थ मानवीय गुणों का अभ्यास होना चाहिए, जिसे उपनिषद्, त्रिपिटक आदि सभी मानते हैं। "मानवतावाद" ही सच्चा आध्यात्मिकतावाद है जो मानव के श्रेय के लिए हो, वही ग्राह्य होना चाहिए अतः यदि ईश्वरवाद या आत्मवाद उसमें बाधक बन कर आते हों तो उन्हें अस्वीकार करने का नैतिक साहस भी आवश्यक है, बुद्ध ने हमें यही सिखाया था।

आकाश-पातालभेदी आध्यात्मिकता ने, जो शताब्दियों से जीवन से कट कर अलग होगई थी न केवल लाखों साधू-संन्यासियों को भ्रम में डाल रखा है, अपितु करोड़ों गृहस्थों को भी इस लोक के प्रति विमुख कर दिया है, यही नही शताब्दियों से शापित और शोषित जनता-जनार्दन में जीवट और पुरुषार्थ का लोप हो गया है अतः मनुष्य के श्रेय के लिए अन्ध-विश्वासों को छोड़ कर केवल अहिंसा, सत्य, सहिष्णुता, विनय, उदारता, धैर्य, अपरिग्रह आदि मानवीय गुणों के अभ्यास के लिए सबको अवसर मिल सके, ऐसे समाज की रचना का प्रयत्न करना चाहिए। विषम समाज में, वर्गों, वर्णों, जातियों, अन्ध-विश्वासों से पीडित जनता मे इन गुणों को परखने की शक्ति नही रहती और आज तो जनता के सम्मुख आत्म-

रक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी भर स्वार्थी लोगों का विश्वव्यापी षडयन्त्र चल रहा है, तब आत्मा व योगसाधना के उपदेश उसकी आत्मरक्षा की शक्ति को कुण्ठित करने के लिए अचूक वाण का ही काम करेंगे अतः भारतीय संस्कृति के उस उज्ज्वल अंश को सामने रखिए जो मनुष्य जीवन को स्वस्थ, सुन्दर, सबल और सन्तुलित बना सके, जिसके अनुशीलन से मनुष्य में परिस्थितियों पर विजय की दुर्दमनीय आकांक्षा जागृत हो उठे और युग-युगों से पीड़ित जनता को मुक्ति की साँस मिल सके। भारतीय व्यक्ति ने सब कुछ करके देख लिया है उसने श्वास चढ़ा कर त्रिकुटी में ध्यान स्थित कर युग गुजार दिये हैं, उसने नाना चक्रों को भेदकर अमृत रस का पान करना सीखा है और अनहद नाद सुना है, उसने छापा, तिलक, कण्ठी पहन कर कीर्तन करते हुए और नृत्य करते हुए न जाने कितनी रातें गुजार दी हैं और न वह खुद सोया है न पड़ोसियों को सोने दिया है, उसने खोपड़ियों में रक्त भरकर जलती हुई चिताओं के सम्मुख नग्न खड़े होकर सुरापान किया है, उसने वामाओं, ललनाओं और अवधूतियों की अनवरत रूप से योनि-पूजा कर महासुख का आनन्द लिया है, उसने काशी में "करवट" ले-ले कर हँसते-हँसते प्राण छोड़े हैं, उसने अपने शरीर को कितनी यातनाएँ देकर नहीं देख लिया परन्तु वह मुक्त नहीं हो सका, मनुष्य समाज का दुःख दूर नहीं हो सका, तब कौन सी ऐसी साधना है जो करने को रह गई है? यह साधना लोक साधना है, लोक के आगे अपने व्यक्तित्व का विलयन, अब यही साधना शेष है। लोक-सङ्गठन, बस यही एक मार्ग अवशेष है, सङ्गठित जीवन ही मुक्ति का द्वार है, अकेले रह कर महान से महान साधना हमें मुक्त नहीं कर सकती।

अब सङ्गठित होने का समय है और भारतीय संस्कृति का व्यक्तिवादी पक्ष इसमें बाधक है क्योंकि वह हमें पलायनवाद का पाठ पढ़ाता है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन साधकों की परम्परा का वैसा ही रूप अब नहीं चल सकता। हम तो उस अरविन्द को चाहते हैं जो जनता को सङ्गठित करता था, वह नहीं जो अनेक वर्षों तक कोठरी में बन्द हो गया था। अरविन्द ने तो साहित्य-सृजन फिर भी किया, अन्य योगी तो इसमें भी विरत रहते हैं क्योंकि रहस्य का प्रकाशन उनके यहाँ अक्षम्य है। इस मूर्खता से भारतीय संस्कृति व साहित्य की कितनी

रक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी भर स्वार्थी लोगों का विश्वव्यापी षडयन्त्र चल रहा है, तब आत्मा व योगसाधना के उपदेश उसकी आत्मरक्षा की शक्ति को कुण्ठित करने के लिए अचूक बाण का ही काम करेंगे अतः भारतीय संस्कृति के उस उज्ज्वल अंश को सामने रखिए जो मनुष्य जीवन को स्वस्थ, सुन्दर, सबल और सन्तुलित बना सके, जिसके अनुशीलन से मनुष्य में परिस्थितियों पर विषय की दुर्दमनीय आकांक्षा जागृत हो उठे और युग-युगों से पीड़ित जनता को मुक्ति की साँस मिल सके। भारतीय व्यक्ति ने सब कुछ करके देख लिया है उसने श्वास चढ़ा कर त्रिकुटी में ध्यान स्थित कर युग गुजार दिये हैं, उसने नाना चक्रों को भेदकर अमृत रस का पान करना सीखा है और अनहद नाद सुना है, उसने छापा, तिलक, कण्ठी पहन कर कीर्तन करते हुए और नृत्य करते हुए न जाने कितनी रातें गुजार दी हैं और न वह खुद सोया है न पड़ोसियों को सोने दिया है, उसने खोपड़ियों में रक्त भरकर जलती हुई चिताओं के सम्मुख नग्न खड़े होकर सुरापान किया है, उसने वामाओं, ललनाओं और अवधूतियों की अनवरत रूप से योनि-पूजा कर महासुख का आनन्द लिया है, उसने काशी में "करवट" ले-ले कर हँसते-हँसते प्राण छोड़े हैं, उसने अपने शरीर को कितनी यातनाएँ देकर नहीं देख लिया परन्तु वह मुक्त नहीं हो सका, मनुष्य समाज का दुःख दूर नहीं हो सका, तब कौन सी ऐसी साधना है जो करने को रह गई है? यह साधना लोक साधना है, लोक के आगे अपने व्यक्तित्व का विलयन, अब यही साधना शेष है। लोक-सङ्गठन, बस यही एक मार्ग अवशेष है, सङ्गठित जीवन ही मुक्ति का द्वार है, अकेले रह कर महान से महान साधना हमें मुक्त नहीं कर सकती।

अब सङ्गठित होने का समय है और भारतीय संस्कृति का व्यक्तिवादी पक्ष इसमें बाधक है क्योंकि वह हमें पलायनवाद का पाठ पढ़ाता है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन साधकों की परम्परा का वैसा ही रूप अब नहीं चल सकता। हम तो उस अरविन्द को चाहते हैं जो जनता को सङ्गठित करता था, वह नहीं जो अनेक वर्षों तक कोठरी में बन्द हो गया था। अरविन्द ने तो साहित्य-सृजन फिर भी किया, अन्य योगी तो उससे भी विरत रहते हैं क्योंकि रहस्य का प्रकाशन उनके यहाँ अक्षम्य है। इस मूर्खता से भारतीय संस्कृति व साहित्य की कितनी

रक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी भर स्वार्थी लोगों का विश्वव्यापी षड्यन्त्र चल रहा है, तब आत्मा व योगसाधना के उपदेश उसकी आत्मरक्षा की शक्ति को कुण्ठित करने के लिए अचूक बाण का ही काम करेंगे अतः भारतीय संस्कृति के उस उज्ज्वल अंश को सामने रखिए जो मनुष्य जीवन को स्वस्थ, सुन्दर, सबल और सन्तुलित बना सके, जिसके अनुशीलन से मनुष्य में परिस्थितियों पर विजय की दुर्दमनीय आकांक्षा जागृत हो उठे और युग-युगों से पीडित जनता को मुक्ति की साँस मिल सके। भारतीय व्यक्ति ने सब कुछ करके देख लिया है उसने श्वास चढ़ा कर त्रिकुटी में ध्यान स्थित कर युग गुजार दिये हैं, उसने नाना चक्रों को भेदकर अमृत रस का पान करना सीखा है और अनहद नाद सुना है, उसने छापा, तिलक, कण्ठी पहन कर कीर्तन करते हुए और नृत्य करते हुए न जाने कितनी रातें गुजार दी हैं और न वह खुद सोया है न पडोसियों को सोने दिया है, उसने खोपड़ियों में रक्त भरकर जलती हुई चिताओं के सम्मुख नग्न खड़े होकर सुरापान किया है, उसने वामाओं, ललनाओं और अवधूतियों की अनवरत रूप से योनि-पूजा कर महासुख का आनन्द लिया है, उसने काशी में "करवट" ले-ले कर हँसते-हँसते प्राण छोड़े हैं, उसने अपने शरीर को कितनी यातनाएँ देकर नहीं देख लिया परन्तु वह मुक्त नहीं हो सका, मनुष्य समाज का दुःख दूर नहीं हो सका, तब कौन सी ऐसी साधना है जो करने को रह गई है? यह साधना लोक साधना है, लोक के आगे अपने व्यक्तित्व का विलयन, अब यही साधना शेष है। लोक-सङ्गठन, बस यही एक मार्ग अवशेष है, सङ्गठित जीवन ही मुक्ति का द्वार है, अकेले रह कर महान से महान साधना हमें मुक्त नहीं कर सकती।

अब सङ्गठित होने का समय है और भारतीय संस्कृति का व्यक्तिवादी पक्ष इसमें बाधक है क्योंकि वह हमें पलायनवाद का पाठ पढाता है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन साधकों की परम्परा का वैसा ही रूप अब नहीं चल सकता। हम तो उस अरविन्द को चाहते हैं जो जनता को सङ्गठित करता था, वह नहीं जो अनेक वर्षों तक कोठरी में बन्द हो गया था। अरविन्द ने तो साहित्य-सृजन फिर भी किया, अन्य योगी तो उससे भी विरत रहते हैं क्योंकि रहस्य का प्रकाशन उनके यहाँ अक्षम्य है। इस मूकता से भारतीय संस्कृति व साहित्य की कितनी

जब कोई राष्ट्र शताब्दियों तक अनेक प्रकार के विचारों, अनुभूतियों तथा घटनाओं से होकर गुजरता है तो उसमें कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, कुछ सिद्धान्तों का जन्म हो जाता है क्योंकि परस्पर टकराते हुए विचार कहीं न कहीं समझौता खोज ही लेते हैं, नाना परिस्थितियों में गुजर कर मनुष्य कुछ बातों की वांछनीयता के विषय में आश्वस्त हो जाता है, उसके विषय में किसी को कोई विरोध नहीं रह जाता, ऐसी ही सामान्य विशेषताओं व गुणों के पुञ्जीभूत रूप को उस देश की संस्कृति कहा जाना चाहिए। संस्कृति के लिए सर्वस्वीकृति आवश्यक है, अन्यथा भारतीय संस्कृति शब्द का उच्चारण करते समय अनेक सम्प्रदाय व मत सामने आकर खड़े हो जाते हैं।

आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का मूलाधार है, यह ठीक है किन्तु आध्यात्मिकता ने समाज को हानि भी कुछ कम नहीं पहुँचाई। और आध्यात्मिकता के लिए ईश्वर व आत्मा पर विश्वास अनिवार्य भी नहीं, क्योंकि बौद्धमत इन दोनों को नहीं मानता अतः आध्यात्मिकता का अर्थ मानवीय गुणों का अभ्यास होना चाहिए, जिसे उपनिषद्, त्रिपिटक आदि सभी मानते हैं। "मानवतावाद" ही सच्चा आध्यात्मिकतावाद है जो मानव के श्रेय के लिए हो, वही ग्राह्य होना चाहिए अत' यदि ईश्वरवाद या आत्मवाद उसमें बाधक बन कर आते हों तो उन्हें अस्वीकार करने का नैतिक साहस भी आवश्यक है, बुद्ध ने हमें यही सिखाया था।

आकाश-पातालभेदी आध्यात्मिकता ने, जो शताब्दियों से जीवन से कट कर अलग होगई थी न केवल लाखों साधू-संन्यासियों को भ्रम में डाल रखा है, अपितु करोड़ों गृहस्थों को भी इस लोक के प्रति विमुख कर दिया है, यही नहीं शताब्दियों से शापित और शोषित जनता-जनार्दन में जीवट और पुरुषार्थ का लोप हो गया है अत', मनुष्य के श्रेय के लिए अन्ध-विश्वासों को छोड़ कर केवल अहिंसा, सत्य, सहिष्णुता, विनय, उदारता, धैर्य, अपरिग्रह आदि मानवीय गुणों के अभ्यास के लिए सबको अवसर मिल सके, ऐसे समाज की रचना का प्रयत्न करना चाहिए। विषम समाज में, वर्गों, वर्णों, जातियों, अन्ध-विश्वासों से पीडित जनता मे इन गुणों को परखने की शक्ति नहीं रहती और आज तो जनता के सम्मुख आत्म-

रक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी भर स्वार्थी लोगों का विश्वव्यापी षड्यन्त्र चल रहा है, तब आत्मा व योगसाधना के उपदेश उसकी आत्मरक्षा की शक्ति को कुण्ठित करने के लिए अचूक बाण का ही काम करेंगे अतः भारतीय संस्कृति के उस उज्ज्वल अंश को सामने रखिए जो मनुष्य जीवन को स्वस्थ, सुन्दर, सबल और सन्तुलित बना सके, जिसके अनुशीलन से मनुष्य में परिस्थितियों पर विजय की दुर्दमनीय आकांक्षा जागृत हो उठे और युग-युगों से पीड़ित जनता को मुक्ति की साँस मिल सके। भारतीय व्यक्ति ने सब कुछ करके देख लिया है उसने श्वास चढ़ा कर त्रिकुटी में ध्यान स्थित कर युग गुजार दिये हैं, उसने नाना चक्रों को भेदकर अमृत रस का पान करना सीखा है और अनहद नाद सुना है, उसने छापा, तिलक, कण्ठी पहन कर कीर्तन करते हुए और नृत्य करते हुए न जाने कितनी रातें गुजार दी हैं और न वह खुद सोया है न पड़ोसियों को सोने दिया है, उसने खोपड़ियों में रक्त भरकर जलती हुई चिताओं के सम्मुख नग्न खड़े होकर सुरापान किया है, उसने वामाओं, ललनाओं और अवधूतियों की अनवरत रूप से योनि-पूजा कर महासुख का आनन्द लिया है, उसने काशी में "करवट" ले-ले कर हँसते-हँसते प्राण छोड़े हैं, उसने अपने शरीर को कितनी यातनाएँ देकर नहीं देख लिया परन्तु वह मुक्त नहीं हो सका, मनुष्य समाज का दुःख दूर नहीं हो सका, तब कौन सी ऐसी साधना है जो करने को रह गई है? वह साधना लोक साधना है, लोक के आगे अपने व्यक्तित्व का विलयन, अब यही साधना शेष है। लोक-सङ्गठन, बस यही एक मार्ग अवशेष है, सङ्गठित जीवन ही मुक्ति का द्वार है, अकेले रह कर महान से महान साधना हमें मुक्त नहीं कर सकती।

अब सङ्गठित होने का समय है और भारतीय संस्कृति का व्यक्तिवादी पक्ष इसमें बाधक है क्योंकि वह हमें पलायनवाद का पाठ पढ़ाता है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन साधकों की परम्परा का वैसा ही रूप अब नहीं चल सकता। हम तो उस अरविन्द को चाहते हैं जो जनता को सङ्गठित करता था, वह नहीं जो अनेक वर्षों तक कोठरी में बन्द हो गया था। अरविन्द ने तो साहित्य-सृजन फिर भी किया, अन्य योगी तो उससे भी विरत रहते हैं क्योंकि रहस्य का प्रकाशन उनके यहाँ अक्षम्य है। इस मूर्खता से भारतीय संस्कृति व साहित्य की कितनी

जब कोई राष्ट्र शताब्दियों तक अनेक प्रकार के विचारों, अनुभूतियों तथा घटनाओं से होकर गुजरता है तो उसमें कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, कुछ सिद्धान्तों का जन्म हो जाता है क्योंकि परस्पर टकराते हुए विचार कही न कही समझौता खोज ही लेते हैं, नाना परिस्थितियों में गुजर कर मनुष्य कुछ बातों की वांछनीयता के विषय में आश्वस्त हो जाता है, उसके विषय में किसी को कोई विरोध नही रह जाता, ऐसी ही सामान्य विशेषताओं व गुणों के पुञ्जीभूत रूप को उस देश की संस्कृति कहा जाना चाहिए। संस्कृति के लिए सर्वस्वीकृति आवश्यक है, अन्यथा भारतीय संस्कृति शब्द का उच्चारण करते समय अनेक सम्प्रदाय व मत सामने आकर खड़े हो जाते हैं।

आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का मूलाधार है, यह ठीक है किन्तु आध्यात्मिकता ने समाज को हानि भी कुछ कम नहीं पहुँचाई। और आध्यात्मिकता के लिए ईश्वर व आत्मा पर विश्वास अनिवार्य भी नहीं, क्योंकि बौद्धमत इन दोनों को नही मानता अतः आध्यात्मिकता का अर्थ मानवीय गुणों का अभ्यास होना चाहिए, जिसे उपनिषद्, त्रिपिटक आदि सभी मानते हैं। "मानवतावाद" ही सच्चा आध्यात्मिकतावाद है जो मानव के श्रेय के लिए हो, वही ग्राह्य होना चाहिए अतः यदि ईश्वरवाद या आत्मवाद उससे बाधक बन कर आते हों तो उन्हे अस्वीकार करने का नैतिक साहस भी आवश्यक है, बुद्ध ने हमें यही सिखाया था।

आकाश-पातालभेदी आध्यात्मिकता ने, जो शताब्दियों से जीवन से कट कर अलग होगई थी न केवल लाखों साधू-संन्यासियों को भ्रम में डाल रखा है, अपितु करोड़ों गृहस्थों को भी इस लोक के प्रति विमुख कर दिया है, यही नही शताब्दियों से शापित और शोषित जनता-जनार्दन मे जीवट और पुरुषार्थ का लोप हो गया है अतः मनुष्य के श्रेय के लिए अन्ध-विश्वासों को छोड़ कर केवल अहिंसा, सत्य, सहिष्णुता, विनय, उदारता, धैर्य, अपरिग्रह आदि मानवीय गुणों के अभ्यास के लिए सबको अवसर मिल सके, ऐसे समाज की रचना का प्रयत्न करना चाहिए। विषम समाज में, वर्गों, वर्णों, जातियों, अन्ध-विश्वासों से पीडित जनता में इन गुणों को परखने की शक्ति नहीं रहती और आज तो जनता के सम्मुख आत्म-

रक्षा का प्रश्न है। मुट्ठी भर स्वार्थी लोगों का विश्वव्यापी षड्यन्त्र चल रहा है, तब आत्मा व योगसाधना के उपदेश उसकी आत्मरक्षा की शक्ति को कुण्ठित करने के लिए अचूक बाण का ही काम करेंगे अतः भारतीय संस्कृति के उस उज्ज्वल अंश को सामने रखिए जो मनुष्य जीवन को स्वस्थ, सुन्दर, सबल और सन्तुलित बना सके, जिसके अनुशीलन से मनुष्य में परिस्थितियों पर विजय की दुर्दमनीय आकांक्षा जागृत हो उठे और युग-युगों से पीड़ित जनता को मुक्ति की साँस मिल सके। भारतीय व्यक्ति ने सब कुछ करके देख लिया है उसने श्वास चढ़ा कर त्रिकुटी में ध्यान स्थित कर युग गुजार दिये हैं, उसने नाना चक्रों को भेदकर अमृत रस का पान करना सीखा है और अनहद नाद सुना है, उसने छापा, तिलक, कण्ठी पहन कर कीर्तन करते हुए और नृत्य करते हुए न जाने कितनी रातें गुजार दी हैं और न वह खुद सोया है न पड़ोसियों को सोने दिया है, उसने खोपड़ियों में रक्त भरकर जलती हुई चिताओं के सम्मुख नग्न खड़े होकर सुरापान किया है, उसने वामाओं, ललनाओं और अवधूतियों की अनवरत रूप से योनि-पूजा कर महासुख का आनन्द लिया है, उसने काशी में "करवट" ले-ले कर हँसते-हँसते प्राण छोड़े हैं, उसने अपने शरीर को कितनी यातनाएँ देकर नहीं देख लिया परन्तु वह मुक्त नहीं हो सका, मनुष्य समाज का दुःख दूर नहीं हो सका, तब कौन सी ऐसी साधना है जो करने को रह गई है? यह साधना लोक साधना है, लोक के आगे अपने व्यक्तित्व का विलयन, अब यही साधना शेष है। लोक-सङ्गठन, बस यही एक मार्ग अवशेष है. सङ्गठित जीवन ही मुक्ति का द्वार है, अकेले रह कर महान से महान साधना हमें मुक्त नहीं कर सकती।

अब सङ्गठित होने का समय है और भारतीय संस्कृति का व्यक्तिवादी पक्ष इसमें बाधक है क्योंकि वह हमें पलायनवाद का पाठ पढ़ाता है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन साधकों की परम्परा का वैसा ही रूप अब नहीं चल सकता। हम तो उस अरविन्द को चाहते हैं जो जनता को सङ्गठित करता था, वह नहीं जो अनेक वर्षों तक कोठरी में बन्द हो गया था। अरविन्द ने तो साहित्य-सृजन फिर भी किया, अन्य योगी तो उससे भी विरत रहते हैं क्योंकि रहस्य का प्रकाशन उनके यहाँ अक्षम्य है। इस संकीर्णता से भारतीय संस्कृति व साहित्य की कितनी

बड़ी हानि हुई है ? हम शून्य में अपने व्यक्तित्व का बलिदान कर सकते हैं। लोक के आगे बलिदान नहीं कर सकते, यह कैसी विडम्बना है।

भारतीय संस्कृति तो समुद्र है उसमें सब कुछ है—महान् से महान् और कुत्सित से कुत्सित सभी कुछ यहाँ विद्यमान है। चरम उन्नति व चरम पतन दोनों रूप यहाँ देखने को मिलते हैं। अतः अब हम वैयक्तिक चिन्तन को भारतीय संस्कृति के नाम पर ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं हैं। हम बुद्ध की तरह मनुष्य को महान् बनाने के लिए मानवीय गुणों को ही स्वीकार कर सकते हैं। व्यक्तिगत अन्तर्चेतना की घाटियों में उतर कर टटोलने के स्थान पर यथार्थ जगत की खुली धूप में काम करने का अच्छा अवसर है। यदि इस अवसर पर हमने फिर इतिहास को नही समझा तो जो भूल गौतम बुद्ध से हो गई थी, वही फिर होगी और इतिहास हमें कभी क्षमा नही करेगा। हम इतिहास के मोड़ पर खड़े हुए हैं। विश्वव्यापी सङ्घर्ष में यदि हम योग-साधना में उलझ कर रह गए या भविष्य के खतरों के लिए तैयारी में ही समय नष्ट करते रहे तो एक ही झटके से टूट जाने वाली जनता की बेड़ी फिर युगों के लिए टल जायगी। अत' भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को, ऊँचे आदर्शों की शपथ ले कर जीवन को जगाने की आवश्यकता है। ऊर्ध्व-चेतना के शिखरों पर सैर करने का यह समय नही है, इसके लिए भविष्य में बहुत समय मिलेगा और तब मनुष्य इससे अधिक अच्छी तरह सोच सकेगा कि उनका अभ्यास उचित है या नही। परन्तु पन्त-अरविन्द इसी जनता के सङ्घर्ष को मन्द कर देना चाहते हैं, वेग से भागती हुई जनता को 'स्वर्ग के सेव' दिखाकर उसका ध्यान बटा देना चाहते हैं, यह उचित नही हैं। अत' हम उनकी आदर्श-पूजा की अतिशयता व समन्वय की पुकार को अवैज्ञानिक, असामयिक, अस्वाभाविक और अनैतिहासिक कहते हैं। परन्तु साथ ही अरविन्द व पन्त के स्वप्निल आदर्शों के पीछे उनकी मानव-कल्याण-कामना का, उनके सहज ही विश्वासी मन की लोक-कल्याण की लालसाओं का हम आदर करते हैं। यह अरविन्द व पन्त की ऐतिहासिक सीमा है कि वह मध्यवर्ग के पुरातन संस्कारों पर विजय नही पा सके और उन्ही संस्कारों की वैज्ञानिकता सिद्ध करने में लवलीन हैं और सो भी भारतीय संस्कृति के नाम पर। भारतीय संस्कृति अपने अन्धविश्वासों के साथ-साथ राष्ट्रीय विशेषताओं का समूह है जिसमें

मनुष्य को महान् बनाने के लिए नाना विधि-विधान हैं। बहुत से त्याज्य हैं, बहुत से ग्रहणीय। वह महानतम गुणों की कल्पना करती है और उन गुणों की प्राप्ति के लिए अवसर बनाने का काम हमारे भाग्य में आ पड़ा है। अतः हम अवसर का पूर्ण उपयोग करने को तैयार हैं। वेदों का आशावाद तथा सङ्गठित होने की कामना, उपनिषदों का समानता का स्वर, गीता का कर्मयोग, बौद्ध जैन मतों की अहिंसा, नागार्जुन व शङ्कर की मेधा, सूर-तुलसी की भक्ति, सूफियों का प्रेम, राम, कृष्ण व अर्जुन की वीरता तथा गाँधीजी की सङ्गठन-शक्ति, यह है भारतीय संस्कृति का सार तत्त्व, जिससे नए विश्व का निर्माण होगा। पता नहीं पन्तजी नई कविता में समन्वय के नाम पर वैयक्तिक साधनाओं की ओर राष्ट्र को उन्मुख कर इतिहास को पुनः प्रतिशोध लेने के लिये क्यों प्रोत्साहित कर रहे हैं?

पन्त-अरविन्द दर्शन का आधार वस्तुत. 'अन्तर्चेतना' नहीं, कल्पना है। सूक्ष्म कल्पनाओं के द्वारा दार्शनिक पूर्वाग्रहों व पक्षपातों को सिद्ध करने के लिए अरविन्द ने इतिहास की गलत व्याख्या कर अपने निजी विश्वासों को वैज्ञानिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अतः पन्तजी के सांस्कृतिक महत्त्व को निश्चित करने के लिए भारतीय संस्कृति का जो द्वन्द्वात्मक विकास हुआ है, उसे ध्यान में रखना होगा अन्यथा अन्ध-राष्ट्रीयता के नाम पर आदिम कालीन अन्ध विश्वासों व मनमानी कल्पनाओं का समर्थन करना होगा जिनकी अभिव्यक्ति पन्तजी के काव्य में हुई है।

पन्तजी के काव्य का सांस्कृतिक महत्त्व यह है कि उसमें मनुष्य को उच्चातिउच्च लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है भले ही वह लक्ष्य प्राप्तव्य नहीं। कवि की कल्याण-कामना काव्य में व्यक्त होने के कारण इस कविता का स्वर सैद्धान्तिक दृष्टि से अवैज्ञानिक होने पर भी आकर्षक लगता है। कवि समझता है कि मेरे दृष्टिकोण से सोचने से ही विश्व का कल्याण होगा। प्राचीन भक्त, रहस्यवादी, योगी भी इसी प्रकार अपनी-अपनी कल्पनाओं के द्वारा ही सोचते थे। उनके दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होने पर भी, उनके द्वारा बताए गए मार्ग अव्यावहारिक होने पर भी, उनके द्वारा की गई समाज की कल्पना मनगढ़न्त होने पर भी चूँकि उनकी कविता में 'मनुष्य के प्रति प्रेम' की व्यञ्जना हुई है, ये हृदय से मनुष्य के दुःखों को देख

कर दु:खी हैं अत. उस कल्याण-कामना के कारण उनके काव्य आज तक मार्मिक बने हुए हैं। हम उनकी विचारधारा को नही मानते, परन्तु उनके काव्य में उनकी 'सदिच्छा' की अभिव्यक्ति के कारण, हमारा हृदय भावना से अभिभूत हो उठता है। पन्तजी के इस काव्य में जहाँ जो कुछ भी मार्मिक है वह भी इसीलिए मार्मिक बन पड़ा है क्योंकि उसमें मनुष्य को उच्चतर प्राणी बनाने की चाह छिपी हुई है। कवि मनुष्य की अवांछनीय मनोवृत्तियों, घृणा, द्वेप, द्वन्द्व, क्षुद्रता, प्रतियोगिता, उत्पीड़न, अत्याचार, निराशा आदि से क्षुब्ध है, अतः वह एक ऐसे युग की कल्पना करता है जिसमें मनुष्य इन सब से परे हो जायगा। यही 'ऊर्ध्व-चेतन-युग' है। मनुष्य के इस उज्ज्वल भविष्य के विषय में कवि अत्यधिक 'आशावादी' है। यह आशावाद उसी भारतीय संस्कृति के सर्वसामान्य सस्कृति के अनुकूल है। जिसके अनुसार भविष्य सदा सुखमय माना गया है। भारत में इसीलिए निराशा वाद नही मिलता। यहाँ तक कि बौद्धों की निर्वाण की कल्पना भी प्रथम शताब्दी (A D) के बाद आर्यों की प्राचीन 'अमरत्व' की कल्पना के साथ एकाकार होगई है। मुक्ति केवल इच्छा का विनाश (निर्वाण) मात्र नही है अपितु आनन्द की प्राप्ति है। इसी आनन्द की खोज करना ही मनुष्य का सच्चा ध्येय है। यह आनन्द एक विशेष मानसिक स्थिति बना लेने पर यहाँ भी प्राप्त हो सकता है और भविष्य में तो वह अमरता व आनन्द अवश्य प्राप्त होंगे क्योंकि न जाने कितने जीवन सिर्फ उसी की प्राप्ति के लिए बिताए गए हैं। मुक्ति के लिए जिस मानसिक स्थिति-विशेष की कल्पना भारत में हुई है उसमें मनुष्य की क्षुद्र मनोवृत्तियों से ऊपर उठने का उपदेश दिया गया है और विरोधी अविरोधी परिस्थितियों से 'अप्रभावित' रहने तथा उस 'निर्द्वन्द्व मानसिक स्थिति विशेष' में तन्मय रहने की साधना पर बल दिया गया है। जीवन के नाना सङ्घर्षों में रत रहकर भी इस क्षोभ-रहित मानसिक स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। जनक, कृष्ण व अर्जुन ऐसे ही कर्मयोगी साधक थे। अतः उन्होंने इसी जन्म में 'जीवन-मुक्ति' प्राप्त करली थी।

जीवन-मुक्ति का अर्थ यह है कि जीवन के कर्त्तव्यों को अपरिहार्य समझ कर, तटस्थ होकर करते रहना, बाह्य उलझनों में मन को न फँसाकर, अपने में रमण करना। इस प्रकार

की 'जीवनमुक्ति' अव्यावहारिक भले ही हो, परन्तु जीवन के बाह्य सङ्घर्षों से भागने का उपदेश नहीं देती, गीता का कर्मयोग इसका प्रमाण है। गीता का आदर ही इसीलिए है कि उसमें यथार्थ जीवन का निषेध नहीं है तथा साथ ही आनन्द व अमृतत्त्व की प्राप्ति को भी सुलभ बताया गया है। पन्तजी के काव्य में इसी अमरता की प्राप्ति का प्रयत्न प्रतिबिम्बित हुआ है जो मनुष्य की उच्चमानसिक स्थिति के द्वारा ही सम्भव है, पन्तजी बाह्य सङ्घर्षों पर नवीन काव्य में जोर कम देते हैं, यह गीता के विरुद्ध है परन्तु वह उस उच्च 'मानसिक स्थिति' को प्राप्त करने के लिए मानवता को प्रेरित करते हैं जहाँ मनुष्य अपनी क्षुद्रताओं से ऊपर उठ जाता है, इसीलिए पन्तजी साधन के रूप में भी क्षुद्र मनोवृत्तियों—क्रोध, घृणा आदि के प्रयोग करने के विरुद्ध हैं अर्थात् इस प्रकार वह साधकों, सन्तों व भक्तों की परम्परा को अपनाते हैं अतः जहाँ तक मनुष्य को महान् बनाने की प्रेरणा का प्रश्न है, कवि राष्ट्रीय परम्परा को आगे बढ़ाता है जिसमें मनुष्य की महानता का एक बहुत ऊँचा स्तर ऋषियों, साधकों व सन्तों ने निश्चित कर रखा था (भले ही वह अव्यावहारिक हो) वह अपने में प्रेरक अवश्य है, इसीलिए आज भी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर का मूल्य है क्योंकि बावजूद अपने अन्तर्विरोधों के प्राचीन भारतीय ज्ञान चाहता यही है कि मनुष्य किसी प्रकार आनन्दित रह सके। यही कल्याण कामना मूल में रहने पर भारतीय संस्कृति आकर्षक लगती है और इसी कल्याण कामना के लिए की गई महान् आदर्शों की कल्पनाएँ अव्यावहारिक होने पर भी मनोहर व एक सीमा तक मार्मिक हो जाती हैं। पन्तजी के स्वप्नों व आशाप्रद सन्देशों का सांस्कृतिक व सामाजिक पक्ष यही है कि वे मनुष्य को उच्चतर जीवन के लिए प्रेरणा देते हैं परन्तु स्वप्न अन्ततः स्वप्न ही रहते हैं उनमें व्यावहारिकता नहीं होती, उनमें सङ्घर्ष से थक कर विराम लेने के लिए आप भले ही रुक जायें परन्तु उनमें तल्लीन हो जाने से (जैसे कि अरविन्द ने किया था) मनुष्य के जीवन की उपेक्षा होने लगती है अतः वैयक्तिक स्वप्न प्रेरक होने पर भी साथ ही साथ मनुष्य को पलायनवादी भी बनाते हैं। पन्तजी में 'प्रेरणा' व 'पलायनवाद' दोनों के दोनों प्राचीन भारतीय संस्कृति के अवशिष्ट तत्त्व हैं और पन्त अरविन्द पूरी सावधानी के साथ, पूरी निष्ठा व

जागरूकता के साथ उसी प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्तर्विरोध ग्रस्त-रूप का प्रचार कर रहे हैं जिसका एक पक्ष प्रेरक है, उदात्त आदर्शों से ओत-प्रोत है, जहाँ मनुष्य को इतना महान् बनाने का रहस्य छिपा हुआ है कि वह स्वयं विधाता बन सकता है, जहाँ मानवता के विकास की अनन्त सम्भावनाओं की मनोहर कल्पनाएँ मनुष्य का स्वागत कर रही है परन्तु साथ ही दूसरी ओर अपनी उच्चता व प्रेरणा के बावजूद जहाँ यथार्थ जीवन व आदर्शों के उच्च शिखरों के बीच डरा देने वाली चौड़ी खाई है और इसी खाई को भारतीय संस्कृति क्या कोई भी आदर्शवादी सस्कृति कभी भी नही पाट सकी। जनवादी संस्कृति ही इसे पाट सकती है व्यक्तिवादी संस्कृति तो इस खाई को और भी अधिक विस्तृत करती रहती है।

जनवादी संस्कृति आदर्शवादी भारतीय संस्कृति के उन सभी उदात्त आदर्शों, विकसित मानवीय भावनाओं व गुणों का आदर करती है और महान किन्तु अव्यावहारिक आदर्शों की प्रेरक-शक्ति को स्वीकार करती है वह यह भी स्वीकार करती है कि आदर्श एकांगी होने पर भी कोई न कोई आदर्श जीवन के लिए आवश्यक है यदि यह निश्चित कर लिया जाय कि कौनसा आदर्श कहाँ तक कार्य रूप में परिणत किया जा सकता है।

क्रिया व प्रयोग के आधार पर ही जनवादी विचारधारा भी अपने सम्मुख एक आदर्श रखती है क्योंकि आदर्श का धर्म ही प्रेरणा का दान होता है परन्तु वह आदर्श इसलिए एकांगी नही है क्योंकि उसे मनुष्य मिलकर, अपने रास्ते के रोड़ों को हटाकर प्राप्त करने के लिए विश्व व्यापी प्रयोग करने में तल्लीन हैं। पन्तजी का आदर्श इसके विरीत पड़ता है क्योंकि पन्तजी का आदर्श भारतीय संस्कृति की परम्परा से आया है जहाँ तक क्रिया व प्रयोग द्वारा नही पहुँचा जा सकता अत' जनवादी आदर्श एक हकीकत है, कोरी कल्पना नहीं है, उसका रूप अधिक सास्कृतिक है क्योंकि संस्कृति का अर्थ विकास है। गुण, द्रव्य, क्रिया सभी के विकास का नाम संस्कृति है और इन सबके विकास के लिए ही विश्व-व्यापी प्रयोग हो रहा है। पन्तजी का आदर्श इसके विपरीत सच्ची संस्कृति का विरोधी है क्योंकि वह गुण, द्रव्य, क्रिया मे वह क्रिया का विरोधी है। वह आसमान के सूरज को छूना तो चाहता है परन्तु सूर्य से निकलने वाले ताप से पङ्ख जले हुए

'सम्पाती' की तरह यह मानने को तैयार नहीं है कि जहाँ वह गया था वहाँ जाना मूर्खता थी क्योंकि वहाँ तक पहुँचना न इष्ट था न सम्भव था।

भारतीय संस्कृति की कल्पनावादी, विषमतावादी, संस्कृति का प्रचार जिन 'सम्पातियों' के द्वारा हो रहा है उन्हें दूर की दृष्टि तो सम्पाती से भी अधिक मिली है और वह प्रेरक भी है परन्तु उस प्रेरणा का उपयोग जनवादी संस्कृति "सम्पातियों" को सूर्य के ताप में भस्म होने के लिए नहीं होने दे सकती क्योंकि सम्पाती उड़ने की धुन में यह भूल जाता है कि वह किधर जा रहा है और उसका परिणाम क्या होगा ? अतः कल्पित व हानिकारक (भले ही वे मनोहर हों) लक्ष्यों के प्रति जो अनुराग पन्तजी की कविता में मिलता है उस अनुराग को हम केवल इसी दृष्टि से सांस्कृतिक मान सकते हैं कि उसमें उड़ने की प्रेरणा अवश्य है और लक्ष्य प्राप्ति के प्रति अटूट आशा है परन्तु हम इस खतरे के प्रति पूर्णतया सावधान हैं कि यह उडान यदि पन्तजी के "पैटर्न" पर हुई तो निश्चित रूप से "सम्पाती-संस्कृति" का विकास होगा। उड़ान की प्रेरणा तो हम मनुष्य मे भरना चाहते हैं परन्तु हम उसे सम्पाती न बनाकर 'हनूमान' बनाना चाहते हैं। जनता हनुमान की तरह अपना बल भूल गई है अतः उसके बल को जगाने की आवश्यकता है, हनुमान भी उड सकते थे, उन्होंने भी कभी सूरज निगलने की कोशिश की थी परन्तु उससे उनका सदा के लिए मुखविकृत होगया था, जनता ने आदर्श के तप्त गोले को अपने बचपन में अवश्य निगलना चाहा था परन्तु उससे उसे कितनी पीड़ा का अनुभव हुआ है, इतिहास इसका गवाह है। परन्तु साथ ही जनता ने अनुभव भी प्राप्त किया है कि मुक्तिरूपी सीता की खोज के लिए जो उडान होगी वह कल्याणकारिणी होगी अथवा सङ्घर्षरत जनता के लक्ष्मण के आहत होने पर जो औषधि लेने के लिए उड़ान होगी वह स्पृहणीय होगी अतः उड़ान का क्रिया के साथ अटूट सम्बन्ध होना चाहिए। भारतीय संस्कृति में ऐसा कभी नहीं हो सका, तब पन्तजी की कविता व अरविन्द दर्शन में वह कैसे सम्भव हो जाता ?

वस्तुतः उड़ते-उड़ते हमारा देश इतना थक गया है कि वह धरती पर सीधा चल भी नहीं पाता, उसमें आध्यात्मिक शैथिल्य आगया है, कल्पनाओं के पीछे दौड़ते रहने से उसे वायवीपन (Abstraction) ने

अब भी ज्यादा मजा आता है, इसीलिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म होना भारत के लिए अब भी आकर्षक बन जाता है। राष्ट्र की उस जीवन-शक्ति को इन उड़ानों ने जाने कितनी क्षति पहुँचाई है। कृतयुग की मानवता की उच्च आदर्श-भावना, त्रेता व द्वापर की जीवन-शक्ति जो (अन्याय के प्रतीक) रावणों व दुर्योधनों के विरुद्ध शंखनाद करती थी, अब कहाँ है और मजा यह है कि 'उड़ानवादी' कवि भारतीय संस्कृति के उन सामान्य तत्त्वों को न पकड़कर साम्प्रदायिक उड़नखटोलों पर हिचकोले खाने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं, जबकि देश को हिचकियाँ आरही हैं, रोते-रोते उसका गला बैठ गया है और श्वास अवरुद्ध हो गई है। अन्तर्चेतनावादी जनता के सन्निपात के घर्रे को उड़नखटोला की घर्र-घर्र में सुन ही नहीं पाते और सुन भी पाते हैं तो बौद्धिक सहानुभूति दिखाकर अब आध्यात्मिक सहानुभूति दिखाने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। जनता की रोगग्रस्त कराह में समाधिग्रस्त अध्यात्मवादी सङ्गीत का अनुभव करते हैं। इसका कारण वही काल्पनिक उड़ान है जिसके कारण ये चाहते तो यह हैं कि जनता का उपकार हो परन्तु उनकी उड़ानों से उलटी हानि ही होती है।

काव्य जनता के लिए औषधि का कार्य करती है जो मस्तिष्क के रोगों या चेतना की बुराइयों को दूर करती है।[1] पन्तजी की कविता जाति-जीवन की बुराइयों को दूर तो करना चाहती है परन्तु वह ऐसी औषधि है जिसमें कुछ अच्छे तत्त्वों के साथ अफीम भी मिली हुई है और जो हमें आत्म-विस्मृत कर सामाजिक चेतना के सच्चे स्वरूप को नही समझने देती। आगामी युग भ्रमों का युग नही है, भ्रमनाश (Disillusionment) का युग होगा। अतः भ्रमों का पोषण सच्चा सांस्कृतिक प्रयत्न नही हो सकता परन्तु कल्पनावादी कवि पन्त को भ्रम मनोहर लगते हैं। भ्रमों का अपना कलात्मक सौन्दर्य भी होता है। सीप भी चाँदनी में चाँदी बन जाती है अत. आध्यात्मिकता की चाँदनी में भ्रमों में निमग्न जनता के सम्मुख सीपियों को चमका-चमका कर रजत-हास को मुक्ति समझना, समझाना न सच्चा काव्य है न सच्चा सांस्कृतिक प्रयत्न है।

[1] Art is the community's medicine for the worst disease of mind, the corruption of consciousness—The Principles of Art—R. G Collingwood, P. 336.